अनुवादक की ओर से

प्रस्तुत पुस्तक एफ० एच० ब्रेडले के ग्रन्थ 'एपियरेन्स एन्ड रियलिटी' का हिन्दी अनुवाद है। कुछ विद्वानों ने 'एपियरेन्स एण्ड रियलिटी' का अनुवाद 'प्रतीति और सत्य' अधिक पसन्द किया होता, परन्तु गम्भीरतापूर्वक विचार करने पर इसको स्वीकार करने में कई कठिनाइयाँ उपस्थित होती हैं। वस्तुतः इस पुस्तक का निष्कर्ष शंकराचार्य के निष्कर्ष से इतना मिलता-जुलता है कि कुछ लोग यह समझने की भूल कर बैठते हैं कि दोनों का दृष्टिकोण भी सर्वत्र समान है। परन्तु दोनों की दृष्टियों में मौलिक भेद यह है कि शंकराचार्य की दृष्टि यदि अन्तर्मुखी है, तो ब्रेडले की दृष्टि को वहिर्मुखी कहा जा सकता है। अतः शंकराचार्य की दृष्टि से जो प्रतीति है वह ब्रेडले की दृष्टि से आभास है। इसके अतिरिक्त यदि इस पुस्तक के शीर्षक में प्रयुक्त अंग्रेजी शब्द रियलिटी का अनुवाद यदि सत्य किया जाए, तो ब्रेडले की दूसरी पुस्तक 'रियलिटी एण्ड ट्रुथ' का अनुवाद फिर क्या होगा ? स्वयं इस पुस्तक में लेखक ने रियलिटी और ट्रुथ में अनेक बार भेद किया है और पचासों बार दोनों शब्द साथ-साथ प्रयुक्त हुए हैं। अतः मैंने रियलिटी के लिए सत् शब्द का प्रयोग अधिक अच्छा समझा।

रियलिटी के लिए सत् का व्यवहार भी कुछ कठिनाई उपस्थित कर सकता है। वेद से लेकर परवर्ती संस्कृत साहित्य में सत् और असत् का जोड़ा प्रायः मिलता है, जिससे यह प्रकट होता है कि सत् कोई सापेक्षिक वस्तु है। इसी दृष्टि से आपत्ति की गयी कि ब्रेडले की रियलिटी के लिए सत् शब्द का प्रयोग न किया जाए। परन्तु गहराई में जाने से यह बात बिलकुल स्पष्ट हो जाती है कि ब्रेडले स्वयं रियलिटी शब्द का प्रयोग सापेक्षिक अर्थ में भी करता है, और जब उसका अभिप्राय निरपेक्ष वस्तु से होता है तो वह उसके लिए 'एब्सोल्यूट रियलिटी' शब्द का प्रयोग करता है जिसके लिए हमने भी हिन्दी में परम-सत् शब्द का प्रयोग किया है। जहाँ ब्रेडले ने केवल एब्सोल्यूट शब्द का प्रयोग किया है वहाँ हिन्दी में परम-तत्त्व या चरम-तत्त्व रखा गया है।

यहाँ पर पुस्तक की क्लिष्टता के विषय में कुछ शब्द कहना आवश्यक है। जब यह पुस्तक सन् १८९३ ई० में पहली बार प्रकाशित हुई, तो स्वयं योरप में इस पुस्तक

को इतना अस्पष्ट, क्लिष्ट तथा भ्रामक समझा गया कि आलोचनाओं की बहुत भयंकर बाढ़ ब्रेडले के सामने उपस्थित हो गयी, जिसका सामना करने के लिए ब्रेडले ने जो भगीरथ प्रयत्न किया उसका अनुमान उस सफाई से लगाया जा सकता है जो उन्होंने द्वितीय संस्करण के परिशिष्ट में लगभग ४० पृष्ठों की भूमिका लिखकर दी। इस सफाई से भी जब लेखक को सन्तोष न हुआ, तो उसने व्याख्यात्मक टिप्पणियों में, पुस्तक के विभिन्न पृष्ठों पर आये हुए विषय की जो आलोचना हुई थी उसका उत्तर अलग-अलग देने का प्रयत्न किया। इस सब के पश्चात् भी, मूल अंग्रेजी पुस्तक आज भी अधिक नहीं तो कम-से-कम उतनी ही दुर्बोध और दुर्गम बनी हुई है, जितनी कि पहले थी। कहीं-कहीं तो ब्रेडले के वाक्यों में इतने सूक्ष्म भेद प्रस्तुत किये गये हैं कि अनुवादक का कार्य असम्भव-सा लगने लगता है। उदाहरण के लिए अंग्रेजी शब्द कन्टरेरी, कान्ट्रडेक्टरी तथा अपोजिट का भेद।

पुस्तक की दुर्बोधता का सबसे बड़ा कारण ब्रेडले ने अपने आमुख के प्रथम अनुच्छेद में भली भाँति स्पष्ट कर दिया है। उन्होंने कहा है कि पुस्तक को व्यवस्थित रूप से प्रस्तुत न करने के कई कारण हैं, परन्तु इस अभाव से पाठकों का कार्य अवश्य दुरूह हो गया है। कुछ भी हो, तत्त्वविज्ञान के क्षेत्र में आधुनिक प्रयत्नों को हिन्दी में प्रस्तुत करने के लिए, इस पुस्तक का अनुवाद अत्यन्त आवश्यक था। अतः जैसा-कुछ बन पड़ा वैसा अनुवाद प्रस्तुत करते हुए मुझे बहुत हर्ष हो रहा है। आशा है विद्वान इसको बाल-प्रयत्न मान कर, इसकी त्रुटियों को सुधारने के लिए उदारतापूर्वक सुझाव देंगे।

—अनुवादक

आमुख

मैंने प्रस्तुत कृति को तत्त्वविज्ञान का एक निबन्ध कहा है। न तो आकार में ही और न प्रकार में ही इसमें किसी तंत्र या व्यवस्था की कल्पना है। इसका विषय वस्तुतः इतना महत्त्वपूर्ण है कि इसके भीतर प्रत्येक समस्या का विस्तृत विवेचन किया जा सकता है, परन्तु मैंने जोकुछ किया है वह अधूरा है, और जोकुछ छोड़ दिया गया है, वह प्रायः जानबूझकर। यह पुस्तक तत्त्वविज्ञान के प्रमुख प्रश्नों का संभवतः न्यूनाधिक रूप में एक नीरस विवेचन-मात्र है। बहुत-से कारण थे जिनसे मैंने किसी व्यवस्थित ग्रन्थ को लिखने का प्रयत्न नहीं किया, और जो-कुछ मैंने करने का प्रयत्न किया वही मेरी शक्ति के लिए पर्याप्त सिद्ध हुआ। मैंने इस पुस्तक को १८८७ के शरत्काल में आरम्भ किया, और बारह महीनों में दो पंचमांश समाप्त करने के बाद, मुझे शेष को पूरा करने में तीन महीने लगे। कई बार मेरा काम अनिवार्य आलस्य के लम्बे अन्त-रालों के बीच रुका रहा, और जब, जिस प्रकार भी इसकी समाप्ति हुई, उससे मुझे प्रसन्नता ही हुई। यह बात जानबूझकर प्रकाशित एक पुस्तक पर आलोचना से बचने के लिए मैं नहीं कहता। परन्तु यदि मैंने और अधिक लिखने का प्रयत्न किया होता, तो शायद मैं कुछ भी न लिख पाता।

और मुख्य रूप से मैंने अपने क्षेत्र-विशेष के सभी विषय को पूरा कर लिया है। इस पुस्तक का ध्येय प्रथम-सिद्धान्तों अथवा मूल-तत्त्वों का एक आलोचनात्मक विवेचन प्रस्तुत करना है, और इसका उद्देश्य जिज्ञासा तथा सन्देह को जागृत करना है। किसी और अर्थ में मौलिकता का दावा इसमें नहीं है। यदि पाठक को ऐसा लगे कि किन्हीं बातों पर उसको एक बार पुनः सोचना पड़ रहा है तो, यथासम्भव मैं मौलिक होने में असमर्थ नहीं रहा हूँगा। परन्तु मैं इतना और कह दूं कि मेरी पुस्तक उन लोगों के लिए नहीं है जो विषय में प्रविष्ट ही हो रहे हों। सामान्यतः इसकी भाषा अत्यधिक पारिभाषिक नहीं है, परन्तु कभी-कभी मैंने ऐसे शब्दों का भी प्रयोग किया है जिनको तत्त्वज्ञान का विद्यार्थी ही समझ सकता है। जो अनुक्रमणिका लगायी गयी है वह अनुक्रमणिका नहीं अपितु कुछ सन्दर्भ-सूत्रों की एक सूची मात्र है।

मेरी पुस्तक स्थायित्व के लिए नहीं लिखी गयी है, और जब तक निषेधात्मक शब्द से सक्रिय जिज्ञासा का दृष्टिकोण अभिप्रेत हो, तब तक वह निषेधात्मक होने में सन्तुष्ट रहेगी। मेरे विचार में इंगलिश-दर्शन की प्रमुख आवश्यकता मूल तत्त्वों का एक सन्देहवादी अध्याय है, और मैं ऐसे किसी ग्रन्थ को नहीं जानता जो इस आवश्यकता की पूर्ति पूर्णरूप से करता हो। सन्देहवाद से मेरा अभिप्राय किसी सिद्धान्त के विषय में अविश्वास अथवा सन्देह से नहीं है। उससे मेरा आशय एक ऐसे प्रयत्न से है जो सभी पूर्व-कल्पनाओं को जाने तथा उन पर शंकाएँ करे। ऐसा सन्देहवाद केवल परिश्रम और शिक्षा का ही परिणाम हो सकता है, परन्तु यह एक ऐसा प्रशिक्षण है जिसको करने की धृष्टता नहीं की जा सकती। और मुझे ऐसा कोई कारण नहीं मालूम होता जिससे इंगलिश मस्तिष्क इस शास्त्र में दीक्षित होकर किसी दिन मूल तत्त्वों की एक तर्क-संगत तंत्र-व्यवस्था को प्रस्तुत न कर सके। यदि मैं इस परिणाम को आगे बढ़ाने में कुछ भी सहायता कर पाया हूँ, जिसका रूप कुछ भी क्यों न हो, तो मेरी महत्त्वाकांक्षा पूरी हो जाएगी।

जिस कारण से मैं ऐतिहासिक आलोचना तथा प्रत्यक्ष शास्त्रार्थ से इतना बचता रहा हूँ, उसको मैं यहाँ संक्षेप में बता दूँ। मैंने इंगलिश पाठकों के लिए लिखा है, और उनको, जर्मन लेखकों के साथ मेरा जो सम्बन्ध है, उसको जानने से कुछ भी सहायता नहीं मिलेगी। इसके अतिरिक्त सच बात तो यह है कि मैं उस सम्बन्ध को ठीक-ठीक नहीं जानता। और, यद्यपि इंगलिश मस्तिष्क की तत्त्वज्ञानीय प्रतिभा के विषय में मेरी बहुत अच्छी सम्मति है, फिर भी मैंने मूल तत्त्वों के विषय में व्यवस्थित विवेचन के लिए कोई गम्भीर प्रयत्न इंगलिश भाषा में नहीं देखा। परन्तु हम लोगों में वस्तु-स्थिति अब वैसी नहीं है जैसी कुछ वर्ष पहले थी। ऐसी कोई स्थापित प्रतिष्ठा नहीं है जिससे दर्शनशास्त्र को हानि पहुँच सके। और लिखते समय यह अनुभव करने की आवश्यकता नहीं पड़ती कि हमारे सामने किसी मूर्खतापूर्ण परम्परा तथा पैतृक पूर्वानुगत पूर्वाग्रह की सघन संहति विद्यमान है। यद्यपि कट्टरपंथी व्यक्तिवाद ने फलना-फूलना बंद नहीं किया है, परन्तु अब इसको विकसित-विचारणा का सर्वमान्य स्थान नहीं प्राप्त है। वर्त्तमान पीढ़ी अब यह समझने लगी है कि आदमी को शिक्षा प्राप्त करने के लिए एक से अधिक सम्प्रदाय में दीक्षित होना चाहिए। अब दर्शन में भी, एक सर्वथा अज्ञात लेखक की आलोचना को यथार्थ रूप में समझा जाने लगा है। यह सुधार अधिकांश उन लोगों के कारण हुआ है, जो मेरे समय से कुछ पहले हो चुके हैं, और जिन्होंने संभवतः अनजाने, कांट तथा हीगल के महत्त्व पर बहुत कुछ जोर दिया है। परन्तु अन्य किसी भी प्रभाव ने सहायता क्यों न की हो, लक्ष्य की पूर्ति सुरक्षित हो

विषय-सूची

परिशिष्ट

भूमिका

तत्त्वविज्ञान के क्षेत्र में जो लेखनी उठाता है, उसे अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। यह एक ऐसा विषय है जिसके लिए, आन्तरिक शान्ति, अन्य सभी विषयों की अपेक्षा, अधिक चाहिए। लेखक जब ऐसे विषय में प्रवृत्त होता है तो उसे, अपने क्षेत्र-विशेष के विवादग्रस्त प्रश्नों पर आने से पूर्व ही, एक प्रकार के युद्ध-क्षेत्र में उतरना पड़ता है। वहाँ उसे ऐसे पूर्वाग्रहों का सामना करना पड़ता है, जो उसके अध्ययन के विरुद्ध पड़ते हैं, और इसलिए उसे अपने तथा अपने साथियों के कुछ ऐसे पूर्वाग्रहों का सहारा भी लेने की इच्छा हो जाती है जो उक्त पूर्वाग्रहों के विरोधी हों। इस भूमिका में, मैं कुछ ऐसी ही पूर्वकल्पनाओं की चर्चा करना चाहता हूँ जो तत्त्वविज्ञान के सामान्य विषय से विरोध रखती हैं। संभवतः यह मानने में हम एकमत हैं कि तत्त्व-विज्ञान से हमारा अभिप्राय कोरे आभास के विपरीत यथार्थता को जानने के प्रयत्न से है। दूसरे शब्दों में वह मूल तत्त्वों या चरम सत्यों का एक अध्ययन है। अथवा यों कहिए कि तत्त्वविज्ञान विश्व को समझने का एक ऐसा प्रयास है जो उसे न केवल खण्डशः जानने को उत्सुक है अपितु येन-केन-प्रकारेण पूर्णतः भी जानना चाहता है। ऐसी किसी भी प्रवृत्ति को अनेक आपत्तियों का सामना करना पड़ेगा। आपत्ति की जा सकती है कि जो ज्ञान तत्त्वविज्ञान का लक्ष्य है उसे प्राप्त करना पूर्णतया असंभव है; अथवा कहा जा सकता है कि यदि उसे प्राप्त करना कुछ अंश तक संभव भी है, तो भी वह व्यावहारिक दृष्टि से व्यर्थ है; या कोई आक्षेप करेगा कि इसकी उपादेयता स्वीकार भी कर लें, तो भी हमें प्राचीन दर्शनों के अतिरिक्त अब और नयों की आवश्यकता नहीं है। मैं क्रमशः इन्हीं आक्षेपों पर कुछ कहूँगा।

(क) जो यह कहे कि तत्त्वविज्ञानीय ज्ञान पूर्णतया असंभव है, तो उसको यहाँ उत्तर पाने का कोई अधिकार नहीं है। उससे तो यही कहा जाएगा कि वह अपनी संतुष्टि के लिए इस पूरे ग्रंथ को पढ़कर देखे। और ऐसा करना वह कठिनाई से अस्वीकार कर सकता है, क्योंकि उसने स्वयं ही, संभवतः अनजाने ही, इस विवाद के क्षेत्र में प्रवेश कर लिया है, और अब वह एक ऐसा साथी तत्त्वविज्ञानी बन चुका है, जिसका मत मूल

सिद्धान्तों के विषय में हमारे मत से होड़ करता है। यह बात इतनी स्पष्ट है कि इस विषय पर मैं अब अधिक कुछ न कहूँगा।

यदि कोई यह कहे कि सत् हमारे ज्ञान की पहुँच से बाहर है, तो इसका अर्थ यह है कि वह सत्को जानने का दावा करता है, यदि यह आग्रह हो कि हमारा ज्ञान आभास की परिधि से परे नहीं जा सकता, तो स्वयं इस आग्रह में ही आभास से परे पहुँचने की संभावना निहित है क्योंकि यदि किसी 'परे' की कल्पना ही हमारे मन में नहो तो यह निश्चित है कि हम उसकी प्राप्ति में होने वाली सफलता या असफलता की भी कोई चर्चा नहीं कर सकते। और फिर इन दोनों में जब भेद करते हैं, तो हमारे पास कोई कसौटी भी तो होनी चाहिए जिसकी सहायता से हम एक को सफलता और दूसरी को असफलता कह सकें; यह कसौटी और क्या होगी सिवाय लक्ष्य के स्वरूप की किसी पहचान के। केवल यही नहीं, अपितु जो भावी संदेहवादी हमारे विचारों के अन्तर्विरोधों पर विशेष बल देते हैं वे वस्तुतः अपनी ही कट्टरता का परिचय देते हैं, क्योंकि, यदि सत् का स्वरूप इन अन्तर्विरोधों के विपरीत या भिन्न सिद्ध नहीं होता, तो ये ही अन्तिम तथा चरम सत्य बन जाएँगे। परन्तु इस भूमिका में ऐसे आक्षेपों की चर्चा नहीं की जा सकती जो, चाहे हम पसन्द करें या न करें, तत्त्वविज्ञानीय मत हैं और जिनका निराकरण विषय के साधारण ज्ञान से भी संभव हो सकता है। यदि आवश्यकता हुई तो इनका विवेचन यथास्थान किया जाएगा; इसलिए अब मैं तत्त्वविज्ञान के विरुद्ध जो दूसरे आक्षेप हैं उन पर आता हूँ।

(ख) इस आक्षेप में बहुत बल है यह अस्वीकार करना व्यर्थ है। इसका आग्रह यह है कि सिद्धान्त रूप में, और यदि आप चाहें तो किसी हद तक व्यावहारिक रूप में भी, तत्त्वविज्ञानीय ज्ञान संभव भी हो तो भी वस्तुतः यह कोई ज्ञान कहलाने योग्य नहीं है। इस आक्षेप के कई आधार संभव हैं। मैं इनमें से कुछ का उल्लेख करूँगा और मुझे इनके जो उत्तर ठीक जँचेंगे उनको भी प्रस्तुत करूँगा।

तत्त्वविज्ञान के क्षेत्र में जो प्रवेश करना नहीं चाहते उनके द्वारा सर्वप्रथम कारण यह दिया जाता है कि तत्त्वविज्ञान में अस्पष्टता तथा निरर्थकता का बोलबाला है। प्रायः कहा जाता है—तत्त्वविज्ञान में बार-बार वही समस्याएँ, वैसे ही झगड़े और उसी तरह की कोरी असफलताएँ हाथ लगती हैं, क्यों न इसको छोड़-छाड़ कर निकल भागो? क्या अन्य कोई ऐसा काम नहीं जो आपके परिश्रम के लिए अधिक उपयोगी हो? इस आक्षेप का उत्तर अधिक विस्तार के साथ मैं शीघ्र ही दूँगा, परन्तु इतना मैं अभी कहे देता हूँ कि यह बात बिलकुल ग़लत है कि तत्त्वविज्ञान की समस्याएँ बदली ही नहीं हैं। यह कथन लगभग उतना ही सच तथा लगभग उतना ही झूठ है जितना

यह कथन कि मनुष्य का स्वभाव बदला नहीं है। और, यह कथन उस समय तो निरा-
धार-सा ही प्रतीत होता है, जब हम यह सोचते हैं कि इतिहास में तत्त्वज्ञान पर न
केवल सामान्य विकास का प्रभाव पड़ा है, अपितु उसने प्रभाव डाला भी है। परन्तु
यहाँ पर ऐतिहासिक प्रश्नों की अनुपयुक्तता को स्वीकार करने के कारण, मैं उनको
न उठाकर केवल व्यापक संभावनाओं को ही अपना आधार बनाऊँगा—यदि यह कार्य
असंभव नहीं है और यदि यह दुस्साहस एवं मूर्खताजनक प्रतीत होता है, तब फिर
क्या आप कहते हैं—मेरी अपेक्षा कहीं अधिक योग्य व्यक्ति असफल हो चुके हैं। परन्तु
सफल होने वाला व्यक्ति वास्तवतः सदा योग्यतम व्यक्ति ही नहीं होता। और दर्शन
के दोलक जगत् में भी संभवतः कुछ सफलताएँ वरदान-स्वरूप मिल जाती हैं। जब
तक कोई प्रयत्न न करे, तब तक वह कैसे जान सकता है?

परन्तु इस प्रश्न का कि क्या मैं सचमुच सफलता की आशा रखता हूँ, निस्संदेह
मैं उत्तर नकारात्मक ही दूँगा। मैं यह नहीं समझता कि सन्तोषप्रद ज्ञान सम्भव है।
सत् के विषय में निश्चयपूर्वक कितना जाना जा सकता है, इसकी चर्चा इस पुस्तक में
होगी, परन्तु मुझे बहुत ही अधिक सन्तुष्टि की आशा है। मैं इतना विश्वास करने का
तो साहस करता हूँ कि हमें चरम तत्त्व के निश्चित तथा वास्तविक रूप का ज्ञान है,
यद्यपि यह पक्की बात है कि हमारा यह ज्ञान बहुत अधूरा है। परन्तु मैं इस निष्कर्ष
के नितान्त विरुद्ध हूँ कि अधूरा होने के कारण ही यह ज्ञान निरर्थक है। यह आक्षेप
करनेवालों को मेरा सुझाव है कि वे आँखें खोलकर मानव-स्वभाव पर विचार करें।
क्या मनुष्य के लिए यह संभव है कि वह विश्व के विषय में विचार करना छोड़ दे?
इससे केवल मेरा यही अभिप्राय नहीं है कि प्रत्येक मनुष्य को, जाने या अनजाने, समस्त
वस्तु-समूह के विषय में किसी-न-किसी प्रकार से विचार करना ही पड़ता है। मेरा कहना
यह है कि अनेक कारणों से एक साधारण व्यक्ति को भी विस्मय तथा विचार करने
के लिए विवश होना पड़ता है। उसके लिए यह जगत् तथा उसमें उसका अपना भाग
एक स्वाभाविक विचारणीय विषय प्रतीत होता है। और संभवतः ऐसा ही आगे भी
होता रहेगा। अतः तत्त्वज्ञान तभी निरर्थक होगा, जब कविता, कला और धर्म में किसी
की रुचि नहीं रहेगी, जब गूढ़ समस्याओं के साथ जूझने और उन्हें सुलझाने में उसकी
प्रवृत्ति जाती रहेगी, जब रहस्य तथा सम्मोहन का भाव मानव-मन को किसी अज्ञात
वस्तु के प्रेम में लक्ष्यहीन भटकने के लिए प्रेरित करना बन्द कर देगा—संक्षेप में, जब
अपूर्ण ज्ञान के प्रति मानव का आकर्षण जाता रहेगा। प्रश्न इस समय यह नहीं है कि
हमें चरम सत्य के सम्बन्ध में सोच-विचार करना है या नहीं (क्योंकि हम में से अधि-
कांश यही करते हैं, और वे इसे बंद भी नहीं कर सकते), प्रश्न तो केवल यह है कि

ऐसा किस ढंग से किया जाए ? और इस दिशा में तत्त्वज्ञान का दावा निःसन्देह कोई अनुचित नहीं है। तत्त्वज्ञान का आधार मानव-स्वभाव का वही पक्ष है जिसमें सत् के सम्बन्ध में सोचने-विचारने तथा उसको हृदयंगम करने की मानवेच्छा निहित है। तत्त्वज्ञान का केवल इतना ही कहना है कि यदि इस दिशा में प्रयत्न करना ही है, तो वह इतने सांगोपांग रूप में होना चाहिए जितना कि मानव-स्वभाव के लिए संभव हो सके। उसका ऐसा कोई दावा नहीं कि वह मानव-स्वभाव की अन्य क्रियाओं से ऊपर उठा हुआ है, परन्तु वह इतना अवश्य कहता है कि, यदि हमें सोच-विचार करना ही है, तो हमें कभी-कभी यह काम सुचारु रूप से भी करना चाहिए। अतः मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि तत्त्वज्ञान के विरोधी के सामने एक दुविधा खड़ी हो जाती है—वह या तो वस्तु-तत्त्व-विषयक समस्त विचार-विमर्श को त्याग दे (जिसका अर्थ होगा मानव-स्वभाव के एक उच्चतम पक्ष का आंशिक त्याग अथवा उसे त्यागने का प्रयास), अथवा वह हमें विचार-विमर्श करने तो दे, पर शुद्ध रूप में नहीं। दूसरे शब्दों में हम यों कह सकते हैं कि तत्त्वविज्ञान का विरोधी विचार-प्रक्रिया को तब तक तो सहन कर सकता है जब तक कि वह अस्तित्व के अन्य क्रिया-कलापों में उलझी रहे, परन्तु जैसे ही वह अपनी निजी कार्य-प्रणाली के सिद्धान्तों से प्रेरित होकर किसी स्वतंत्र पद्धति को विकसित करने का प्रयत्न करता है, वैसे ही उस पर प्रतिबन्ध लगा दिया जाता है। यह एक विरोधाभास-सा लगता है, क्योंकि इसका सारांश तो यही हुआ कि आप विचार करने की अपनी स्वाभाविक लालसा को तब तक तो खुशी से तृप्त करते रहें जब तक कि आप उसे असन्तोषप्रद ढंग से करते हों—अर्थात् यदि आपका चरित्र ऐसा है कि आप अपने उस विचार-विमर्श से भी सन्तुष्ट हो जाते हों जिसे 'समुचित विचार' की संज्ञा देना भी संभव न हो, तो आपका विचार-विमर्श ठीक है, परन्तु यदि आप एक दूसरे ही प्रकार के व्यक्ति हैं, और यदि कोई शुद्धतर विचारणा आपके स्वभाव की माँग है, तो उसको सभी प्रकार से कुचला जाना आवश्यक है। यदि मुझसे पूछा जाए, तो मैं तो एकदम इसे कट्टरतापूर्ण तथा असंगत दृष्टि कहूँगा।

परन्तु पाठक संभवतः एक दूसरा ही आक्षेप मेरे सामने खड़ा कर देंगे। वे कह सकते हैं कि—यह मानते हुए भी कि सत् के सम्बन्ध में विचार करना नियमित है, परन्तु फिर भी, उसके परिणामों को देखते हुए, आप उसे किस प्रकार वांछनीय मानते हैं, यह हमारी समझ में नहीं आता है। इसका उत्तर मैं स्पष्ट रूप से देने का प्रयास करूँगा। निःसन्देह मैं यह नहीं मानता कि हर एक व्यक्ति को तत्त्वविज्ञान का अध्ययन करना उपयोगी होगा, और मैं इस विषय में भी कोई सम्मति नहीं दे सकता कि कितने व्यक्तियों को उसका अध्ययन करना चाहिए। परन्तु, यदि यह भी मान लिया जाए कि इसके

अध्ययन से कोई ठोस परिणाम नहीं निकलेगा, तो भी मेरे विचार में इसका अध्ययन होना ही चाहिए। मेरी समझ में कट्टरपंथी अंधविश्वास से बचने के लिए, हमारे पास कोई अन्य साधन नहीं है। एक ओर तो परम्परानिष्ट मतवाद और दूसरी ओर सर्व-साधारण भौतिकवाद (स्वभावतः ये दो प्रमुख उदाहरण हमारे सामने आते हैं) स्वतंत्र संदेहवादी छान-बीन के प्रकाश में भूत-प्रेतों की भाँति विलुप्त हो जाते हैं। वस्तुतः इन दोनों में से किसी को भी मैं पूरी तरह से निन्दनीय नहीं ठहराना चाहता, परन्तु इतना निश्चय मेरा अवश्य है कि गंभीरतापूर्वक विचार करने पर इनमें से प्रत्येक ही मानव-स्वभाव का खण्डन-मात्र ही ठहरता है। अनुभव से यह बात बहुत-कुछ सिद्ध हो चुकी है कि जिस मस्तिष्क में मूल तत्त्वों के विषय में गंभीर चिन्तन किया जा चुका है उसमें इनमें से कोई भी विश्वास नहीं टिक सकता, और ऐसे मनुष्य के लिए भी, मेरे विचार में, एक आश्रय चाहिए जिसके हृदय में सुसंगत चिन्तन की भूख हो, परन्तु जो मूर्खतापूर्ण कट्टरता अथवा असत्यतापूर्ण कुतर्क का दास बनने के लिए झुकना न पसन्द करे। एक यह कारण है जिससे, मेरे विचार में, कुछ लोगों द्वारा तत्त्वविज्ञान का अध्ययन किया जाना चाहिए, भले उसका परिणाम पूर्ण सन्देहवाद के रूप में ही क्यों न प्रकट हो।

इसके अतिरिक्त एक अन्य कारण भी है जिसका संभवतः मेरी दृष्टि में अधिक महत्त्व है। मेरा अनुमान है कि न्यूनाधिक रूप में हम में से सभी लोग साधारण तथ्यों के क्षेत्र से बाहर चले जाते हैं। कोई किसी रूप में और कोई किसी में, हममें से प्रत्येक दृश्य जगत् से परे किसी अज्ञात वस्तु के साथ संपर्क अथवा सायुज्य रखता हुआ प्रतीत होता है। विविध प्रकार से, हमें किसी उच्चतर सत्ता की प्रतीति होती है—ऐसी सत्ता जो हमें आश्रय भी देती है और विनय भी, जो हमें निखारती भी है और सहारती भी है। कुछ लोग बौद्धिक रीति से विश्व को समझने के प्रयास को ही उक्त देवता (उप-र्युक्त सत्ता) के साक्षात्कार का सर्वश्रेष्ठ उपाय मानते हैं। जिस व्यक्ति ने ऐसा अनुभव नहीं किया (वह उसका वर्णन चाहे कितना ही भिन्न क्यों न करे), उसको कदापि तत्त्वविज्ञान से किसी प्रकार कोई सम्बन्ध रखने वाला नहीं कहा जा सकता, और जहाँ भी इसकी अनुभूति प्रबल रूप से की गयी, वहाँ उसके औचित्य का प्रतिपादन हो गया। जिस मनुष्य का स्वभाव ऐसा हो कि वह अपनी प्रमुख इच्छा का परिपाक किसी एक ही मार्ग-द्वारा कर सकता हो, तो वह उसी मार्ग-विशेष को अपनाएगा, वह चाहे कैसा ही क्यों न हो और संसार उसे कुछ भी क्यों न कहे, यदि वह ऐसा नहीं करता, तो वह निन्द-नीय है। आत्म-त्याग प्रायः व्यापारियों का वह तथाकथित 'महान् त्याग' होता है जिसके अनुसार बेदाम की वस्तु को सस्ता बेचा जाता है। अपनी आवश्यकता को पहचान कर, फिर उसकी पूर्ति के लिए किसी तरह के भी साधनों का प्रयोग करने से न हिचकने

में, संभवतः, और भी कठोर आत्म-समर्पण होता हो। यह एक दूसरा कारण है जिससे कुछ व्यक्ति परम सत्य के अध्ययन में प्रेरित होते हैं।

(ग) और, अंत में, यही कारण है कि वर्तमान दर्शनों से उद्देश्य की पूर्ति नहीं हो पाती। क्योंकि, चाहे प्रगति हो या न हो, परन्तु परिवर्तन तो सर्वथा होता ही रहता है, प्रत्येक पीढ़ी के बदले हुए मानसों को, अपनी बुद्धि-परितोषक वस्तुओं में, एक भिन्नता की अपेक्षा होगी। अतः नये दर्शन की उतनी ही आवश्यकता है जितनी नये काव्य की। प्रत्येक अवस्था में, नव-निर्माण पूर्व-प्रस्तुत वस्तु की तुलना में क्षुद्र पड़ता है, परन्तु फिर भी, यदि वह पाठक को प्रियतर लगता है, तो एक उद्देश्य-पूर्ति हो जाती है। जो सचमुच हेय हो, उससे भी, किन्हीं अर्थों में और किसी पीढ़ी में, हमारे सर्वश्रेष्ठ कार्य बनने में सहायता मिल सकती है। यही कारण है कि जब तक हम बदलते रहेंगे, तब तक हमें सदा ही नये तत्त्वविज्ञान की आवश्यकता रहेगी, और सदा ही हम नये तत्त्वविज्ञान को अपनाते रहेंगे।

इस भूमिका की समाप्ति मैं एक चेतावनी के साथ करूँगा। मुझे दर्शन को मानव के रहस्यात्मक पक्ष की तृप्ति कहना पड़ा है—ऐसी तृप्ति, जो कुछ व्यक्तियों को, ऐसे अच्छे ढंग से, अन्यथा मिल ही नहीं सकती। और संभवतः मेरे कथन से यह ध्वनित हुआ हो कि मैं तत्त्वविज्ञानी को किसी ऐसी वस्तु का स्वामी समझता हूँ जो साधारण दार्शनिक की वस्तु से कहीं अधिक ऊँची है। ऐसी किसी भी मान्यता का आधार एक अत्यन्त निन्दनीय मिथ्या प्रतीति है अथवा वह अन्धविश्वास है जिसके अनुसार, बुद्धि को ही हमारे स्वभाव का सर्वोत्तम पक्ष माना जाता है; यह एक मिथ्या धारणा है जिसके कारण, बौद्धिक जगत में, उच्चतर विषयों पर किये गये काम को ऊँचा काम माना जाता है। निःसन्देह यह संभव है कि, दूसरे की तुलना में, एक मनुष्य के जीवन में 'दिव्य ज्योति' का प्रकाश अधिक हो, अथवा वह उसका साक्षात्कार संभवतः अधिक चेतनता के साथ करता हो, परन्तु ऐसा कोई उद्योग या उद्यम नहीं है जो देवता के पास पहुँचने के लिए, कोई व्यवितगत मार्ग कहा जा सके। और इसमें कोई सन्देह नहीं कि आद्य सत्य-विषयक-मीमांसा का जो मार्ग है वह, पृथक् तथा वैध होते हुए भी, अन्यों से श्रेष्ठ नहीं है। दार्शनिक आध्यात्मिक अहंकार की ओर कितना ही क्यों न झुके, परन्तु दर्शन इसकी अपेक्षा अन्य किसी भी पाप को इतना बड़ा नहीं मानता।

खण्ड—एक

आभास

पहला अध्याय

प्रकृत तथा विकृत गुण

भ्रांति और भूल के तथ्य को स्वीकार करने के लिए प्रारम्भ में ही मानव-मन अनेक प्रकार से विवश हो जाता है। जिन कल्पनाओं द्वारा हम विश्व को समझने का यत्न करते हैं, उनको यदि भूल-सुधार के प्रयत्न कहा जाए, तो अनुचित न होगा। अपने इस ग्रन्थ में मैं समीक्षा द्वारा इन्हीं प्रयत्नों की असफलता को दिखाने तथा यह बताने का प्रयास करूँगा कि इस प्रकार जाना हुआ विश्व अपना खंडन स्वयं करता है, अतः वह एक सत्ता नहीं, आभास है।

इस अध्याय में विषय का स्पष्टीकरण मैं प्रकृत (मौलिक) और विकृत (अमौलिक) गुणों के भेद-भाव से आरम्भ करना चाहता हूँ। यह दृष्टि पुरानी है, परन्तु यह कहने की आवश्यकता नहीं कि यह अभी तक लुप्त नहीं हुई है और न कभी इसका लोप ही हो सकता है प्रत्युत जब तक मनुष्य रहेंगे तब तक, मूल तत्वों के सर्वाधिक विकसित एवं वैज्ञानिक सिद्धान्त के रूप में, यह निःसन्देह पुनः-पुनः प्रकट होती रहेगी। मैं इसी दृष्टि से आरम्भ करना चाहता हूँ, क्योंकि यह अत्यधिक सरल है और इसको प्रायः सुगमता से समझाया जा सकता है। हमारे द्वारा दृष्टिगत एवं अनुभूत पदार्थों के जो पक्ष दिक् से सम्बन्ध रखते हैं, संक्षेप में, वही प्रकृत गुण हैं, और शेष विकृत हैं। विश्व की पहेली तभी सुलझ सकती है, जब केवल प्रकृत गुणों को ही सत्य माना जाए और उनके अतिरिक्त सभी को, किसी-न-किसी प्रकार से, विकृत और न्यूनाधिक रूप में आभास मात्र ही समझा जाए।

इस दृष्टि का आधार पाठकों को ज्ञात हो जाएगा, परन्तु स्पष्टता के लिए मैं उसकी रूप-रेखा बताऊँगा। हम यह मानकर चलते हैं कि वस्तु स्वतः सिद्ध तथा स्वनिर्भर होती है। उसमें या तो किसी गुण-विशेष का भाव है या अभाव। और यदि उसमें उसका अस्तित्व है, तो यह सम्भव नहीं कि वह केवल यदा-कदा या किसी सम्बन्ध-विशेष में ही हो। परन्तु इस प्रकार के सिद्धान्त को स्वीकार करने से विकृत गुणों का तिरस्कार होता है।

इस सिद्धान्त के विस्तृत प्रयोग का कोई विशेप प्रयोजन नहीं है। एक वस्तु रंगीन है, परन्तु उसके रंग प्रत्येक देखने वाले के लिए एक-से नहीं, और कुछ को छोड़कर, अन्यों को वह विल्कुल रंगीन नहीं प्रतीत होती। तो वह रंगीन है या नहीं ? और आँख जिससे सम्वद्ध होकर गुण प्रकट होता है—के पास क्या स्वयं रंग है ? स्पप्ट है कि वह गुण उसमें तब तक नहीं माना जा सकता, जव तक उसको देखने वाली दूसरी आँख न हो। अतः कोई भी वस्तु यथार्थतः रंगीन नहीं है, रंग केवल उस वस्तु का गुण प्रतीत होता है जो स्वयं रंगहीन है। इसी परिणाम पर पहुँचने के लिए सर्दी और गर्मी को भी लिया जा सकता है। कोई वस्तु हमारी त्वचा के एक भाग को ठंडी प्रतीत होतीहैऔर दूसरे भाग को गरम। त्वचा के सम्वन्ध के अभाव में, उसमें ऐसा कोई गुण प्रतीत नही होता। और वैसे ही, तर्क के द्वारा, यह सिद्ध हो सकता है कि त्वचा में वह गुण (सर्दी या गर्मी) नहीं है। अतः यह गुण वस्तुतः किसी में भी नहीं है। इसी तरह जो स्वन् या शव्द सुनाई नहीं पड़ते वे कदाचित् ही यथार्थ मानी जाएँगी। उनको सुननेवाला कान होता है, जो स्वयं सुना नहीं जाता, और जो सदा आवाज़ को सुनना भी पसन्द नहीं करता। गन्ध और स्वाद का तो हाल इससे भी बुरा है, क्योंकि ये दोनों हमारे हर्प तथा विपाद से और भी प्रत्यक्ष सम्वन्ध रखते हैं। यदि स्वाद की प्रतीति मुख में होती है, तो इसका अभिप्राय क्या यह है कि स्वाद उसका एक गुण है ? क्या नाक के अभाव में गन्ध संभव है ? परन्तु, स्वयं नासिका या जिह्वा की गन्ध अथवा स्वाद की प्रतीति किसी अन्य नासिका या जिह्वा के विना संभव नहीं, और न गंध या स्वाद को इन इन्द्रियों का गुण ही कहा जा सकता है, यद्यपि वे उनको यदा-कदा भोगते ज़रूर हैं। जव हम कहते हैं कि वस्तु अप्रिय है अथवा अमुक वस्तु प्रिय है, तो हम निःसंकोच उस वस्तु को ही प्रियता या अप्रियता का आधार मान लेते हैं, परन्तु वस्तु में प्रियता या अप्रियता कैसे हो सकती है ? क्या कोई भी वस्तु यथार्थतः और स्वयं ही सुखद या दुःखद है ? क्या मैं भी इन चंचल विशेपणों (सुखद आदि) का चिरस्वामी कहा जा सकता हूँ ? परन्तु , विस्तृत विवेचन के आग्रह से पाठकों को श्रान्त करना यहाँ अभीप्ट नहीं। उपर्युक्त तर्क से हम सर्वत्र यही देखते हैं कि वस्तुओं में जो विकृत (अमौलिक) गुण होते हैं वे किसी-न-किसी इन्द्रिय-विशेप के लिए ही होते हैं और उन इन्द्रियों में भी वे गुण उन वस्तुओं के लिए ही होते हैं, अन्यों के लिए नहीं। वस्तुतः रूप, रस, गन्ध आदि की अनुभूतियाँ 'अहम्' के ही प्रसार-क्षेत्र में आती हैं और उक्त गुण वस्तुतः इसी प्रसार-परिधि की केन्द्रभूत सत्ता के सम्वन्धों पर आश्रित विशेपण-मात्र हैं। सत्य केवल वह है जिसका प्रसार हुआ। अपनी आन्तरिक या निजी अनुभूतियों के तथ्य, जिनमें स्वप्न तथा भ्रांतियाँ भी शामिल की जा सकती हैं, इसके प्रमाण हैं; इनसे स्पप्ट है कि अनुभूति विना विपय

के, तथा विषय बिना अनुभूति के भी संभव है, और इसी लिए इन दोनों में गुण-गुणी-सम्बन्ध नहीं हो सकता। अतः विकृत (सेकेण्डरी) गुण वस्तुतः सत्य से उत्पन्न आभास-मात्र है, और सत् का, प्रसार के अतिरिक्त, अन्य कोई गुण नहीं।

इस तर्क के दो अंग हैं—एक निषेधात्मक, दूसरा स्वीकारात्मक। प्रथम अंग यह बात स्वीकार नहीं करता कि विकृत गुण वस्तुओं की यथार्थ 'प्रकृति' है और दूसरा अंग प्रकृत गुणों को स्वीकार करता है। सर्वप्रथम मुझे निषेधात्मक पक्ष की औचित्य-परीक्षा करनी है। मुझे इस सिद्धान्त से कोई विरोध नहीं कि यदि एक वस्तु में कोई गुण है, तो वह सदा उसमें रहना ही चाहिए, परन्तु मेरा प्रश्न यह होगा कि क्या उसके आधार पर विकृत गुणों की सत्ता का समर्थन संभव है ? इस प्रश्न को मैं इस प्रकार उठाऊँगा। विकृत गुणों के पक्ष में जो तर्क दिये जाते हैं, उनके विरोध-स्वरूप हम यह कह सकते हैं कि वे केवल इन्द्रियगत दोष या अवरोध ही प्रकट करते हैं। यदि विकृत गुणों की अवगति केवल परिस्थिति-विशेष में ही होती है, तो इससे यह सिद्ध नहीं होता है कि उनका कोई अस्तित्व नहीं है और वे वस्तुओं में नहीं होते। और यदि उनका अस्तित्व मान लिया जाए, तो भी उक्त तर्क से उनका अभाव प्रमाणित होता है, अतः वह सारहीन है। कुछ भ्रान्तियों या स्वप्नों का होना भी इस प्रतिपत्ति का खंडन नहीं कर सकता। गुण तो वस्तु में स्थायी रूप से स्वयं होते हैं, और यदि वे व्यक्त नहीं होते या मिथ्या रूप में व्यक्त होते हैं, तो इसका कारण उनकी प्रकृति में नहीं, अपितु उसके बाहर होता है। यदि हम गुणों को देख सकें तो उनका अस्तित्व सिद्ध है।

परन्तु इस प्रकार की प्रतिपत्ति भी ठहरती प्रतीत नहीं होती। क्योंकि, यदि परि-स्थिति-विशेष में ही गुण अपने को प्रकट करते हैं, तो उन परिस्थितियों के न होने पर उनका क्या स्वरूप होगा, यह आखिर हम कैसे बतलायेंगे ? उन गुणों के आभास की स्वीकृति का उपक्रम करने अथवा स्वीकार करने के लिए विवश होने के पश्चात् हम उन्हें अस्वीकार नहीं कर सकते। यदि हम यह मान लेते हैं कि गुण, किसी सम्बन्ध-विशेष में ही और प्रतीयमान रूप में ही, हमें ज्ञात होते हैं, तो इसका स्पष्ट अर्थ यही है कि हम उन्हें आभास के रूप में ही जानते हैं। और यह कल्पना तो नितान्त निरर्थक और स्वयं-खंडित होगी कि उनका स्वरूप वस्तुतः नहीं हो सकता है जो प्रतीत होता है। इसी निष्कर्ष की पुष्टि हम एक स्पष्ट दृष्टान्त के सहारे कर सकते हैं। यदि कोई व्यक्ति यह माने कि उसकी प्रेयसी सदा, सहज रूप में सुन्दर है, तो यह उसकी श्रद्धा का विषय हो सकता है, और इसमें किसी सन्देह के लिए स्थान नहीं। परन्तु यदि हम साधारण वस्तुओं की ओर दृष्टिपात करें तो इसका परिणाम सर्वथा विपरीत होगा। हम देख चुके हैं कि किसी स्वाद या गंध को अंततः दुःखद या सुखद भले ही कह दिया जाए, परन्तु

इनको किसी वस्तु-विशेष अथवा इन्द्रिय-विषय का स्थायी गुण मान लेना न केवल अनुचित है, अपितु लगभग हास्यास्पद भी है। इसलिए सामान्यतया यह स्वीकार करना पड़ेगा कि उपर्युक्त प्रतिपत्ति ठहर नहीं सकती, विकृत (सेकण्डरी) गुणों को आभास मात्र ही समझना चाहिए।

परन्तु, प्रश्न यह है कि क्या ये प्रकृत गुणों के आभास हैं अथवा इनकी स्वयं अपनी सत्ता है? प्रश्न का स्वीकारात्मक पक्ष यह था कि प्रसार में वस्तु का सार अवश्य रहता है और यह पूछना आवश्यक है कि यह निष्कर्ष ठीक है कि गलत? स्पष्टतः यह सिद्धान्त सीधा-सादा भौतिकवाद है। अपने स्थान-सम्बन्धों के सहित किसी वस्तु का प्रसारित होना एक वास्तविक तथ्य है और शेष तो विशेषण-मात्र है। यहाँ यह पूछने की आवश्यकता नहीं कि यह मत वैज्ञानिक है या नहीं—वैज्ञानिक, इस अर्थ में कि वह किसी-न-किसी विज्ञान के काम आता हो। हमारे सामने यहाँ जो प्रश्न चल रहा था, उससे वस्तुतः इसका कोई सम्बन्ध नहीं, क्योंकि हमारे अन्वेषण का विषय यहाँ यही है कि वह सिद्धान्त सत्य है कि नहीं? और इस प्रकार विचार करने पर, संभवतः कोई भी विद्यार्थी भौतिकवाद को वैज्ञानिक नहीं मान सकता है।

केवल प्रकृत (प्राइमरी) गुणों की सत्यता के विरुद्ध जो तर्क दिये जाते हैं वे संक्षेप में ये हैं—(क) प्रथम तो यह प्रश्न उपस्थित होता है कि प्रसारित वस्तु के विभिन्न अंगों का सम्बन्ध क्या होता है जो उनके बीच अवश्यंभावी रूप से रहता है। इस समस्या पर आगे (अध्याय ४ में) चलकर विचार करना है, अतः यहाँ इतना कहना पर्याप्त है कि उसका निष्कर्ष भौतिकवाद के लिए घातक है। और (ख) दूसरे, विकृत गुणों (जिनमें सम्भवतः अनुभूतियों और विचारों की भी गणना हो सकती है) के साथ प्रकृत गुणों का जो सम्बन्ध है वह पूर्णतया दुर्बोध है। किसी को 'आभास' नाम दे देने से ही उसका अस्तित्व समाप्त नहीं हो जाता। जो आभासित होता है, उसका अस्तित्व तो है ही, अतः उसका वर्णन भी होना चाहिए। परन्तु भौतिकवाद के पास आभास का वर्णन करने के लिए कोई तर्कपूर्ण प्रणाली नहीं है। आभास का प्रसारित वस्तु से सम्बन्धित होना आवश्यक है, परन्तु फिर भी वह उससे सम्बन्धित नहीं हो सकता। आभास न तो उससे कहीं पृथक् ही रह सकता है, क्योंकि और कोई वास्तविक स्थान ही नहीं, और न उसको पृथक् रहना चाहिए, क्योंकि ऐसा होने से उसका सम्बन्ध ही नष्ट हो जाएगा और वह किसी से भी व्युत्पन्न नहीं कहा जा सकेगा। परन्तु, साथ ही, यदि वह किसी भी अर्थ में सत् से सम्बन्धित है, तो वह अपने असत् स्वरूप से उसे कैसे अछूता छोड़ सकता है? दूसरे शब्दों में, यदि प्रकृति यावत् विकृति से मूलतः युक्त है, तो फिर वह प्रकृति ही नहीं रह जाती। परन्तु, अन्यथा ग्रहण करने पर, प्रकृति प्रकृति तो

रहती है, परन्तु वह दो तत्त्वों में से एक ही होती है, और स्वयं वह सत्ता नहीं हो पाती।

और (ग) तीसरे, जिस तर्क से विकृत गुणों की असारता सिद्ध होती है वह प्रकृत गुणों पर भी उसी तरह लागू होती है। प्रसारित वस्तु हम तक केवल इन्द्रिय-सान्निध्य द्वारा ही आती है, और यह सान्निध्य चाहे स्पर्शेन्द्रिय का हो या चक्षु अथवा किसी अन्य इन्द्रिय का, परन्तु उसके परिणाम में कोई अन्तर नहीं पड़ता, क्योंकि प्रत्येक अवस्था में वस्तु का प्रत्यक्ष हमें अपने शरीर में होने वाले किसी-न-किसी विकार द्वारा ही होता है, अन्य से कदापि नहीं। वस्तुतः अपने शरीर का प्रत्यक्ष भी हमें इसी प्रकार होता है; उसका प्रत्यक्ष हमें एक प्रसारित वस्तु के रूप में प्रत्यक्षी अंग (इन्द्रिय) पर होने वाली अन्य अंग की क्रिया के द्वारा ही होता है। यह पूर्णतया निश्चित है कि हमें अपने शरीर की स्थान-सम्बन्धी यथार्थता का आश्चर्यजनक रूप से कोई सहज नहीं होता। परन्तु, यदि ऐसा मानें तो प्रसारित वस्तु में उसके गुणों का अस्तित्व तभी होगा, जब उसका प्रत्यक्ष किसी दूसरे के द्वारा किया जाएगा, और यही बात फिर उस प्रत्यक्षी पर भी लागू होगी। इसका अभिप्राय यह है कि कोई वस्तु तब तक प्रसारित सिद्ध नहीं होती, जब तक उसे ऐसी दूसरी वस्तु के सम्बन्ध या क्रम में न देखा जाए, जो स्वयं प्रसरण गुण से युक्त न हो। परन्तु स्वप्न और भ्रम की ओर से यहाँ पुनः आपत्ति उपस्थित होती है। वह आपत्ति यह है कि जब हम कहते हैं कि अमुक विषय की हमें मिथ्या प्रतीति हुई है, तो इसका आशय यह है कि उस विषय का हमारे ज्ञान से कोई सम्बन्ध अवश्य है, चाहे हम अपनी भूल को स्वीकार करें या न करें। परन्तु, इस प्रकार का सम्बन्ध मानने से, प्रत्येक गुण एक आभास-मात्र रह जाएगा। यहाँ हम पुनः उसी पुरानी प्रतिपत्ति की स्थापना करने का प्रयत्न कर सकते हैं। हम कह सकते हैं कि प्रसारित वस्तु स्वयं सत्य है और हमारे प्रत्यक्षण से उसका जो सम्बन्ध है वही परिवर्तनशील है। परन्तु, इतने पर भी, उस अपरिहार्य निष्कर्ष को नहीं रोका जा सकता। यदि सम्बन्ध-विशेष में ही कोई वस्तु किसी गुण से युक्त कही जाती है तो इस आधार पर यह सिद्ध नहीं किया जा सकता कि वह वस्तु सम्बन्ध-विहीन होने पर भी वैसी ही रहेगी। यह बात पूर्णतया निश्चित प्रतीत होती है, और यदि वह गुण-विशेष, उस सम्बन्ध-विशेष के अभाव में, हमारे लिए असत् हो, तो उस सम्बन्ध से पृथक् उसकी सत्ता को स्वीकार करना सर्वथा असंगत है। स्पष्ट शब्दों में कहा जाए, तो अन्त में यह एक निरर्थक प्रयास है, और इससे यह प्रतीत होता है कि मानों भौतिकवाद अपनी सत्ता को रखने के लिए यह आवश्यक समझता है कि वह प्रकृत गुणों के अस्तित्व की स्थापना ऐसे ढंग से कर दे जिससे उनका सम्बन्ध किसी इन्द्रिय से न रह जाए। परन्तु, जैसा कि आगे (अध्याय

४ में) दिखलाया गया है, उनका स्वयं स्वरूप ही सम्बन्ध-सापेक्ष है, अतः भौतिकवाद को यहाँ भी शरण नहीं मिल सकती।

(घ) परन्तु स्थान-सम्बन्धी गुणों की एकान्तक सत्ता के विरुद्ध एक और तर्क है जो अधिक स्पष्ट है, और यदि भौतिकवाद पर प्रहार मेरा ध्येय होता तो मैं उसी को अधिक महत्त्व देता। विकृत गुणों के बिना प्रसारण की कल्पना ही नहीं की जा सकती और कोई भी व्यक्ति उसे अपने प्रकृत रूप में रखता हुआ उसके अस्तित्व को अपने मन में नहीं ला सकता। संक्षेप में, प्रसारण किसी वस्तु का मन में आंशिक पृथक्करण-मात्र तथा वस्तुओं के किसी पक्ष-विशेष पर ही ध्यान केन्द्रित करना है, यह एक उद्भावना या कल्पना है जो स्वयं को भूल कर ठोस सत्य के स्थान पर एक गढ़ी असत् कल्पना को ग्रहण करती है। भौतिकवाद के इस स्पष्ट उत्तर के विषय में मैं यहाँ कुछ कहूँगा।

भौतिकवाद का मत है कि प्रसारित वस्तु अन्य गुणों से पूर्णतया पृथक् तथा स्वतः-सिद्ध हो सकती है। परन्तु, प्रसारण इस प्रकार कदापि सम्भव नहीं। यदि वह चाक्षुप है, तो वह अवश्य रंगों से युक्त होगा, और यदि वह स्पर्श-द्वारा अथवा अन्य ऐसे प्रकारों से युक्त हुआ है जिन्हें मांसल-अनुभूति कहा जा सके, तो वह कभी भी ऐन्द्रिय बोधों अर्थात् संवेदनों से मुक्त नहीं हो सकता, यह संवेदन चाहे त्वचा से आए या संधियों या मांसपेशियों अथवा किसी केन्द्रीय स्त्रोत से आए। कोई मनुष्य जो भी चाहे कहे, परन्तु वह 'प्रसारण' की कल्पना उस समय तक नहीं कर सकता, अव तक कि साथ ही प्रसरणशील (किसी वस्तु) की कल्पना न कर ले। यही नहीं, अपितु दिक्-सम्बन्ध के व्यंजन के लिए 'नीचे-ऊपर' तथा 'दाये-बायें' आदि के भेद भी आवश्यक है। परन्तु स्पष्ट है कि ये भेद केवल स्थान-सम्बन्धी नहीं हो सकते। सामान्य 'प्रसरणशील' की भाँति, वे उन सभी विकृत गुणों में होंगे जो उपर्युक्त संवेदनों से प्राप्त होते हैं। कुछ मनोवैज्ञानिक तो, इससे भी आगे बढ़कर, विकृत-गुणों को ही मूल गुण मानेंगे और प्रकृत गुणों को 'व्युत्पन्न', क्योंकि उनके मत में प्रसारण एक ऐसी वस्तु से उद्भूत सृष्टि या विकास है जो 'पूर्णतया अप्रसारित' रहती है। मैं इसका तो समर्थन नहीं कर सकता, परन्तु मैं एक ऐसे तथ्य की ओर संकेत कर सकता हूँ जो निर्विवाद है। प्रसारण की स्थापना या कल्पना में किसी-न-किसी विकृत गुण का समावेश अनिवार्य है। वह स्वयं एक पृथक्करण (Abstraction) है जो कुछ उद्देश्यों के लिए आवश्यक होते हुए भी सत् माने जाने पर हास्यास्पद विषय बन जाता है। परन्तु फिर भी भौतिकवादी, स्वभाव या शिक्षा अथवा दोनों के दोष से, अपनी असंयत कल्पना की इस सूक्ष्म सृष्टि को अकारण ही पूजता है।

वह कह सकता है कि वह अकारण नहीं है, क्योंकि वैज्ञानिक पद्धति में विकृत गुणों को प्रकृत गुणों का परिणाम ही समझा जाता है। अतः स्पष्ट है कि प्रकृत गुण स्वाधीन एवं पूर्ववर्ती है। परन्तु यह एक अति साधारण भूल है, क्योंकि मान लीजिए कि आपने यह सिद्ध कर दिया कि यदि एक तत्व क दिया हो, तो दूसरा तत्व ख स्वतः ही आ जाएगा, और मान लीजिए कि आप यह भी सिद्ध कर सकते हैं कि क चाहे ग के साथ हो या घ अथवा ङ अथवा अन्य गुणों में से किसी एक के साथ हो, परन्तु ख फिर भी विद्यमान रहता है, तो भी आप इसका यह निष्कर्ष नहीं निकाल सकते कि क सत् और स्वतन्त्र है। आप कहते हैं कि अन्य किसी भी बात का विचार किये बिना ही, विकृत ख को प्रकृत क से प्रसूत माना जा सकता है। यही सही, परन्तु इसका एक-मात्र अभिप्राय यही है कि इस प्रक्रिया में क के सहगामियों की विशेष प्रकृतियों का कोई विशेष महत्व नहीं है। परन्तु यदि कोई यह कहे कि क अकेला रह सकता है अथवा अकेलेपन में ही उसकी वास्तविक सत्ता है, तो उसके लिए कोई प्रमाण ही नहीं, कोई लघुत्तम मान्यता भी नहीं मिलेगी। वैज्ञानिक विश्लेषण या विवेचन में कभी-कभी कुछ पक्षों की उपेक्षा कर दी जाती है, परन्तु इसके लिए यदि यह कहा जाए कि इन उपेक्षित तत्वों की सत्ता ही नहीं और इनकी उपेक्षा करके भी हम जिसका उपयोग करते हैं वही एक मात्र स्वतन्त्र सत्य है, तो यह बर्बर तत्वज्ञान ही कहा जाएगा।

तो हम इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि यदि विकृत गुण आभास हैं तो प्रकृत गुण भी निःसन्देह अकेले नहीं टिक सकते। भौतिकवाद का विकास इसी विभाजन के आधार पर बिना सोचे-समझे किया गया है, परन्तु इसके द्वारा सत् (Reality) का मूल स्वरूप तनिक भी निकट नहीं आ सका है।

दूसरा अध्याय

गुणी और गुण

हम देख चुके हैं कि प्रकृत और विकृत गुणों के विभाजन से हमारा अधिक काम नहीं चला। अच्छा तो आइए, उस विभेद को यों ही छोड़कर, सीधे तरीके से एक दूसरी पद्धति द्वारा उसे सुबोध बनाने का प्रयत्न करें। हम देखते हैं कि विश्व में जो-कुछ भी है उसके दो वर्ग हैं—वस्तु या पदार्थ और उनकी विशेषताएँ। गुणी और गुणों का विभाजन तथा वर्गीकरण चिरकाल से मान्य है। परन्तु यदि इसे एक गंभीर शास्त्रीय प्रयत्न माना जाए तो, तथ्यों को समझने एवं सत्य को प्राप्त करने की दृष्टि से, इस पद्धति की असफलता का संक्षिप्त दिग्दर्शन कराना आवश्यक है।

हम शक्कर के एक ढेले का सुपरिचित उदाहरण लेते हैं। वह एक वस्तु है और उसमें गुण हैं, विशेषताएँ हैं, जिससे वह विशिष्ट है। उदाहरणार्थ, वह श्वेत होता है, कठोर होता है और मधुर होता है। हम कह सकते हैं कि यह सब शक्कर है। परन्तु यहाँ 'है' का अर्थ संदिग्ध है। किसी वस्तु का कोई गुण स्वयं वह वस्तु नहीं हो सकता। यदि मधुर का अर्थ 'केवल-मात्र मधुर' हो, तो वह वस्तु मधुर नहीं हो सकती। और फिर मधुर होने-मात्र से शक्कर का श्वेत या कठोर होना भी सम्भव नहीं है, क्योंकि ये गुण सब एक-दूसरे से पृथक् हैं और यदि इन-सब गुणों को पृथक्-पृथक् रूप में ग्रहण किया जाए, तो इनके समूह मात्र को भी वस्तु नहीं कहा जा सकता। स्पष्टतः शक्कर केवल श्वेतिमा, केवल कठोरता और केवल मधुरता नहीं है। क्योंकि उसकी सत्ता किसी-न-किसी प्रकार, उन-सबकी एकता में निहित है। परन्तु, दूसरी ओर हम यह पता लगायें कि वस्तु में उसके विभिन्न गुणों के अतिरिक्त और क्या हो सकता है, तो हम एक बार फिर हतप्रभ हो जाते हैं इन गुणों के बाहर अथवा इनके भीतर रहने वाली कोई वास्तविक एकता हमें नहीं दिखायी पड़ती।

परन्तु, संभव है कि इकाई के इस पक्ष पर बल देने से ही यह गड़बड़-घोटाला उपस्थित हुआ हो। निःसन्देह अपने विशिष्ट गुणों का समूह-मात्र शक्कर नहीं है, परन्तु परस्पर-सम्बन्धित गुणों से अधिक कोई वस्तु हो भी क्यों? निःसन्देह वस्तु का रहस्य

यही है कि श्वेतिमा, कठोरता मधुरता आदि गुण एक विशेष रूप में एक साथ स्थित हैं। गुणों का अस्तित्व है और वे परस्पर संबंधित हैं। परन्तु, यहाँ भी जब हम शब्दों को छोड़ते हैं, तो हम पूर्ववत् भूल-भुलैयों में पड़ जाते हैं। मधुरता, श्वेतिमा और कठोरता ऐसे उद्देश्यों (वस्तु) का रूप धारण कर लेते हैं जिनके विषय में हमें कुछ कहना है। निःसंदेह हम इनमें से किसी को भी एक-दूसरे का विधेय नहीं बना सकते, क्योंकि यदि हम उनके बीच तारतम्य स्थापित करने का प्रयत्न करें तो यह बात जमती नहीं है। इस दृष्टि से भी ये एक-दूसरे के प्रति पूर्णतया असंगत एवं नितान्त परस्पर-विरोधी से हैं। ऐसी अवस्था में ऐसा प्रतीत होता है कि प्रत्येक का एक संबंध बताया जाना चाहिए। एक गुण 'क' दूसरे गुण 'ख' से संबंध रखता है। परन्तु, यहाँ 'है' से क्या अभिप्राय है? हमारा अभिप्राय यह नहीं कि 'क' का 'ख' से संबंध है, परन्तु फिर भी हम कह सकते हैं कि 'क' गुण 'ख' से सम्बद्ध है। इसी प्रकार, 'ग' को 'घ' के सामने और ङ को 'च' के दाहिने बताया जाता है। हम यह सब कहते हैं, परन्तु जब हम 'घ' के सामने 'ग' अथवा 'च' के दाहिने 'ङ' का अर्थ समझाने का प्रयत्न करते हैं, तो हमें रुककर विमूढ़ होना पड़ता है। नहीं, हमारा उत्तर होना चाहिए कि सम्बन्ध वस्तु नहीं है, वह तो एक गुण है जो किसी में रहता है या किसी से सम्बन्ध रखता है। अधिक-से-अधिक हम तादात्म्य-सूचक शब्द के स्थान पर सम्बन्ध सूचित शब्द का प्रयोग कर सकते हैं। परन्तु इससे भी क्या बनता है? स्पष्ट है कि सारा प्रश्न तो यह है कि सम्बन्ध-सूचक शब्द से भी क्या अर्थ निकलेगा। अतः छिछले अलंकारिक प्रयोगों के अति[illegible] [illegible]ता। कोई उत्तर ही नहीं बन पड़ता, और हम उस 'साँप-छछूंदर[illegible] पाते—यदि उद्देश्य का विधेय उससे भिन्न रखा जाए, तो [illegible]स्थित कर[illegible] बताया जाएगा जैसा वस्तुतः नहीं है, इसके विपरीत यदि [illegible] यह [illegible] उद्देश्य से अभिन्न हो, तो इसका अभिप्राय यह हुआ कि उद्देश्य के वि[illegible] में कुछ कहा ही नहीं गया।

आइए, आगे बढ़ें और हम अपने कथन को सुधारें। हम अब केवल एक ही व्यंजक का सम्बन्ध न बताएँ, अपितु दोनों का। 'क' और 'ख' अमुक दृष्टि से एक हैं। और साथ ही एक दूसरी दृष्टि से परस्पर भिन्न हैं। अथवा यों कहें कि दिक् या काल में वे दोनों इस प्रकार से स्थित हैं। इस प्रकार हम 'है' को त्याग कर 'हैं' को ग्रहण करते हैं। परन्तु, गंभीरता से सोचने पर यह कोई समस्या का हल नहीं, अपितु वाणी-विलास या शब्दों का हेर-फेर-मात्र प्रतीत होता है। क्योंकि यदि आपका अभिप्राय यह है कि 'क' और 'ख' दोनों पृथक्-पृथक् अमुक सम्बन्ध रखते हैं, तो आपका कथन मिथ्या है, और यदि आप कहें कि 'क' और 'ख' अमुक सम्बन्ध से सम्बन्धित हैं तो आपका कथन

निरर्थक है, क्योंकि पहले की तरह यहाँ भी, यदि विधेय नितान्त अभिन्न है तो वह व्यर्थ है और यदि वह उद्देश्य को विपरीत रूप दे देता है, तो वह मिथ्या है।

अच्छा तो इस भँवर-जाल से निकलने के लिए कोई दूसरी राह ढूँढें। आइए, सम्बन्ध को सम्बन्धित का गुण न मानकर उसको न्यूनाधिक रूप में स्वतंत्र मानें: 'ग' एक सम्बन्ध है जो 'क' और 'ख' दोनों को आबद्ध करता है और जिसकी प्रतीति दोनों के साथ होती है। परन्तु, फिर भी हम आगे नहीं बढ़ते। सम्बन्ध 'ग' को 'क' और 'ख' से भिन्न मान लिया गया है और वह उनका विधेय नहीं है। फिर भी सम्बन्ध के विषय में कुछ-न-कुछ कहा गया है और पुनः 'क' एवं 'ख' के विषय में भी; यदि यह बात है, तो एक अन्य सम्बन्ध 'घ' की आवश्यकता प्रतीत होगी जो एक ओर तो 'ग' और दूसरी ओर 'क' एवं 'ख' के बीच रहेगा। परन्तु, इस प्रकार एक अनन्त स्थिति उत्पन्न हो जाती है। नया सम्बन्ध 'घ' किसी प्रकार भी 'ग' अथवा 'क' और 'ख' का विधेय नहीं हो सकता। अतः हमें एक और नवीन सम्बन्ध 'ङ' को खोजना पड़ेगा जो 'घ' तथा अन्य के बीच स्थित रहेगा। परन्तु, इसके पश्चात् हमें 'च' आदि अनन्त सम्बन्धों की कल्पना करनी पड़ेगी अतः सम्बन्धों को स्वतन्त्र रूप से सत्य मान लेने से समस्या नहीं सुलझती, क्योंकि, यदि ऐसा हो, तो गुण तथा उनके सम्बन्ध एक-दूसरे से नितान्त पृथक् हो जाते और ऐसी अवस्था में हमारा वर्णन शून्य-मात्र रह जायगा, अथवा पुराने सम्बन्ध एवं व्यंजकों के बीच हमें नये सम्बन्ध को लाना पड़ेगा। परन्तु इस नये सम्बन्ध से हमारा [illegible] नहीं चलता। वह या तो एक और अन्य नये सम्बन्ध की माँग उपस्थित करता [illegible] [illegible]नता को जन्म देता है अथवा वह हमें जहाँ-का-तहाँ भँवर-जाल में फँसा हुआ छोड़ [illegible]

इस प्रका[illegible] ऐसे गुणों में विभाजित करने का प्रयत्न किया गया जिनमें से प्रत्येक सत्य हो औ[illegible] [illegible]पने स्वतन्त्र सम्बन्ध रखते हुए भी येन-केन-प्रकारेण एकत्र होने की क्षमता रखते हों। इस तरह के प्रयत्न की असफलता स्पष्ट हो चुकी है और विचार करने पर हमें यह मानने को विवश होना पड़ता है कि व्यंजकों के साथ-साथ एक सम्बन्ध की कल्पना निरा भ्रम है। यदि उसको सत्य होना है, तो वह किसी-न-किसी प्रकार के व्यंजकों के महत्त्व को कम करके अथवा कम-से-कम उनमें प्रतीयमान होकर या उनको अपने से सम्बन्धित करके ही हो सकता है। 'क' और 'ख' के बीच जो सम्बन्ध है वह वस्तुतः दोनों का आभ्यान्तर-वर्ती तात्त्विक मूलाधार है। यदि हम कहें कि 'क' 'ख' के सदृश है, तो यह मूलाधार वह 'र' तादात्म्य है जो इन भिन्न तत्त्वों को एक सूत्र में रखता है। अतः दिक् और काल में सर्वत्र कोई ऐसा सम्पूर्ण हो जो अपने सभी सम्बन्धित अंगों को एक सूत्र में जकड़े रहे, अन्यथा न कोई भिन्नताएँ ही होंगी

और न सम्बन्ध ही। ऐसा प्रतीत होता है कि सत् में 'क' और 'ख' दो ऐसे भेद थे जो न केवल एक-दूसरे के प्रति असंगत थे अपितु स्वयं सत् के प्रति भी। अतः अपने विभिन्न गुणों को, बिना किसी भेद-भाव के अपने में समवेत रखने के लिए, वह उनके बीच स्थित सम्बन्धों का रूप ग्रहण कर लेता है। यही कारण है कि कुछ गुण तो असंगत और कुछ संगत होते हैं। वे सभी भिन्न होते हैं परन्तु साथ ही, एक पूर्ण के अंग होने के कारण, वे एक सूत्र में बँधने के लिए बाध्य होते हैं। और जब वे एक सम्बन्ध के द्वारा एकत्र होते हैं, तभी उनका विरोध या संघर्ष शान्त हो जाता है। इसके विपरीत जब कोई वस्तु अपने गुणों में एक सम्बन्ध स्थापित करने में असफल हो जाती है, तो वे तुरंत परस्पर-विरोधी हो जाते हैं। इस प्रकार रंग और गंध एक सत् में शान्तिपूर्वक रहते हैं, क्योंकि वस्तु अपने को विभाजित कर लेती है, और विभागों को अपने भीतर ही साथ-साथ रहने को छोड़ देती है। परन्तु रंग और रंग में टक्कर होती है, क्योंकि उनकी विशेष समानता उन्हें एक साथ खींचती है। परन्तु, यही समानता जब दिक् के आश्रय से सम्बन्ध परक हो जाती है, तो वे पुनः शान्त हो जाते हैं। संक्षेप में 'विपरीत' की सत्ता भेदों में है—ऐसी वस्तुओं के भेदों में, जो जुड़ने के लिए आपेक्षित गुणों से युक्त नहीं हो सकती। यह एक ऐसा गठबंधन है जिसमें साहचर्य की कोई काम-चलाऊ व्यवस्था न हो परन्तु, जहाँ सम्पूर्ण अपनी एकता को स्थिर करके एक व्यवस्था का स्वरूप ग्रहण करता है, वहाँ सस्नेह साहचर्य होता है।

उपर्युक्त विवेचन केवल इसलिए किया गया है कि इससे 'विपरीत' के स्वरूप पर प्रकाश पड़ता है। हमारी समवाय-समस्या का इससे कोई हल नहीं निकलता। इससे यही ज्ञात होता है कि हम वस्तुओं को एक विशेष प्रकार से व्यवस्थित करने के लिए क्यों विवश होते हैं, परन्तु इससे यह पता नहीं चलता कि यह व्यवस्था ठीक है या नहीं। वस्तु अपने आन्तरिक वैपरीत्य से बचने के लिए अपने को सम्बन्धों में बिलीन कर लेती है और गुणों को स्वतन्त्र रूप में ला बिठाती है। परन्तु मानों आत्महत्या करके ही वह वैपरीत्य से बच पाती है। जिन सम्बन्धों और व्यंजकों को वह ग्रहण करती है उनका वह कोई तर्कपूर्ण विवरण नहीं दे सकती और न वह उस वास्तविक एकता को ही प्राप्त कर सकती है जिसके बिना उसका अस्तित्व कुछ भी नहीं रह जाता। यह सब-कुछ एक चलताऊ उपाय-मात्र है, जिसमें बाह्य जगत् से तो कहा जाता है कि 'मैं अपने इन गुणों का स्वामी हूँ और गुणों से कहा जाता है कि मैं केवल एक ऐसा सम्बन्ध मात्र हूँ जो तुम्हारी स्वतन्त्रता का अपहरण नहीं करता और जहाँ तक उनके निजी स्वरूप की बात है दो घोड़ों पर एक साथ सवार होने की भाँति यह एक व्यर्थ प्रयास है। इस प्रकार एक चलती व्यवस्था भले ही हो जाए, परन्तु सैद्धान्तिक समस्या ज्यों-की-त्यों रह जाती है।

किसी वस्तु के विभिन्न तथ्य जिस प्रत्यक्ष इकाई के रूप में हमारे सामने आते हैं, वह प्रथम् तो अनुभव द्वारा और फिर विचार-द्वारा छिन्न-भिन्न हो जाती है। सुगुण वस्तु की कल्पना एक ऐसी व्यवस्था है जिसके द्वारा वस्तु के भेद और अभेद दोनों को एक साथ ग्रहण किया जा सकता है। परन्तु भेद जब एक बार बन जाते हैं तो वे वस्तु से और स्वयं एक-दूसरे से पृथक् हो जाते हैं। और इन भेदों के पारस्परिक सम्बन्ध को समझने के लिए हमने जो प्रयत्न किया, उससे हम केवल एक ऐसी इकाई पर पहुँचे जो या तो अपने को एक व्याज-मात्र मानती है अथवा फिर उसी अभिन्न वस्तु में बदल जाती है जिसमें सम्बन्धों को कोई स्थान नहीं। यह साँप-छछूंदर-की-गति है जिसकी निरर्थकता उस समय और भी स्पष्ट हो जाएगी जब हम सम्बन्धों और गुणों की पारस्परिक सम्बन्ध-परीक्षा करेंगे। परन्तु, इसके लिए एक पृथक् अध्याय की आवश्यकता होगी।

अन्त में, मैं एक संभावित सुझाव पर संक्षेप में विचार करता हूँ। यह कहा जा सकता है कि वस्तु में जो भेद देखे जाते हैं वे वस्तुतः हमारे दृष्टि-भेद हैं, वस्तु तो इकाई ही रहती है और गुण एवं गुणी के विभिन्न पक्ष वस्तुतः हमारे अपने दृष्टिकोण हैं, अतः उनसे सत् की कोई हानि नहीं होती। परन्तु यह बचाव सारहीन है, क्योंकि प्रश्न तो यह है कि सत् की निर्दोष कल्पना क्या हो? यदि आपका दृष्टि-बिन्दु-समूह इस विचार-पद्धति की रक्षा करने में समर्थ है, तो आप खुशी से उसे वस्तु पर लागू कीजिए और हमारी भूल-भूलैया का अन्त कीजिए। अन्यथा, इन दृष्टि-बिन्दुओं के अभाव में, वस्तु निर्गुण प्रतीत होती है। और यह दृष्टि-बिन्दु, वस्तु के अभाव में, परस्पर-सुसंगत होने पर भी कोई अस्तित्व ही नहीं रखते प्रतीत होते। संक्षेप में, वस्तु-स्थिति एवं हमारे दृष्टिकोणों के बीच भेद की कल्पना करने से मूल उलझन केवल और द्विगुणित ही होती है। अब हमारे मन में भी वैसी ही असंगति होगी जैसी कि वस्तु में, और दोनों, एक-दूसरे को कम करना तो दूर, उलटे बढ़ायेंगी ही।

तीसरा अध्याय

सम्बन्ध तथा गुण

यह स्पष्ट है कि पिछले अध्याय में जिस समस्या का विवेचन किया गया है वह वस्तुतः सम्बन्ध एवं गुण की अपनी-अपनी प्रकृति पर निर्भर है। और अब हम जिस परिणाम पर पहुँचने वाले हैं, उसको पाठकों ने पहले ही आँक लिया होगा। किन्हीं दिये हुए तथ्यों का वर्गीकरण सम्बन्धों और गुणों में करना व्यवहार में कितना ही आवश्यक क्यों न हो, परन्तु, सैद्धान्तिक दृष्टि से वह समझ के बाहर की बात है। सम्बन्ध-गुण-विशिष्ट सत् वास्तविक सत् नहीं, अपितु आभास है।

यह मानना शायद ही युक्ति-संगत हो कि इस स्वरूप को समझाने की आवश्यकता नहीं, और सत् की यह सत्ता या अस्तिता ऐसी विचित्र है कि वह केवल एक अनुभव की वस्तु है। क्योंकि यह बिलकुल स्पष्ट है कि अब वह कोई नितान्त अव्यवहित वस्तु नहीं रह गयी। उसमें अब ऐसे विशिष्ट पक्ष हैं जो भेद कहे जाते हैं और जो हमारी दृष्टि में अधिकाधिक भिन्न हो जाते हैं। और यदि सत् में इन भेदों को एक समन्वित इकाई में रख सकने की क्षमता है, तो वह कम-से-कम साधारणतया तो दृष्टिगोचर होती ही नहीं। हमारी अपनी तरफ से तो, वे भेद भी सम्भवतया, किसी-न-किसी प्रकार, सत् की सत्ता को बता सकें जिन्हें हमने स्वयं जान बूझकर बनाया है। परन्तु जब तक हम उनको प्रमाणित न कर सकें और स्वयं अपने लिए सुबोध न बना सकें, तब तक उन्हें केवल आभास-मात्र मानने के लिए विवश होना पड़ेगा।

इस अध्याय में यह दिखलाना है कि इन कल्पनाओं का मूल तत्व ही सदोष है और अपने को ही काटता है। संक्षेप में हमारा निष्कर्ष यह होगा—सम्बन्ध से पहले गुण और गुण से पहले सम्बन्ध का अस्तित्व आवश्यक है और उनमें से प्रत्येक का अस्तित्व, एक दूसरे से पृथक् अथवा संयुक्त रूप में, कुछ भी नहीं है; जिस भँवर-जाल में पड़े हुए ये घूम रहे हैं वह सत् की सत्ता कदापि नहीं हो सकती।

(१) सम्बन्धों के बिना गुणों का कोई अस्तित्व नहीं, इस कथन की सत्यता दिख-

लाने में मैं वहुत-सारे प्रमाणों को विलकुल महत्त्व नहीं दूंगा। मनोविज्ञान पर आधारित इन प्रमाणों से यही प्रकट होता है कि सम्वन्ध के हेर-फेर से गुणों में किस प्रकार परिवर्तन हो जाता है। वहुत-से प्रसंगों में जो भेद देखे जाते है वे वस्तुतः कृत्रिम होते हैं। परन्तु, मैं इस प्रकार के तर्क का सहारा नहीं लेना चाहता, क्योंकि मेरी सम्मति में इसके द्वारा मूल एवं स्वतन्त्र गुणों का अस्तित्व न होना सिद्ध नहीं किया जा सकता। जो प्रमाण-पद्धति प्रत्यक्ष की वैपरीत्य की आवश्यकता पर आधारित है, वह तर्क की सीमा को लाँघ चुकी है। अतः यद्यपि इन विचारों का प्रस्तुत समस्या से निःसंदेह वहुत सम्वन्ध है, फिर भी यहाँ उनकी उपेक्षा करना ही अधिक अच्छा समझता हूँ और मेरी राय में वह आवश्यक नहीं है।

हमारे लिए अपने निष्कर्ष पर निम्नलिखित ढंग से पहुँचना अधिक अच्छा है। हम यह कह सकते हैं कि सम्वन्ध-हीन गुण नहीं मिलते। जव-कभी आप उन्हें गुण-रूप में ग्रहण करते हैं, किसी ऐसी क्रिया-द्वारा जिसमें सम्वन्ध अन्तर्हित होता है, तो वे वैसे होते है और वैसे ही वने रहते हैं। गुणों की अनेकता या विविधता का अर्थ उनके सम्वन्धों से ही प्रकट होता है, और इससे विपरीत समझना सर्वथा असंगत है। इस निष्कर्ष को मैं और अधिक विस्तार से उपस्थित करूँगा।

सम्वन्ध-हीन गुणों को पाना निःसंदेह असंभव है यदि तादात्म्य एवं भेद-सम्वन्धों से पृथक् कर, उन पर विचार भी किया जाय, तो भी चेतना के क्षेत्र में वे कदापि स्वतन्त्र नहीं हो सकते, उनमें से प्रत्येक कम-से-कम एक (वस्तुतः एक से अधिक) अन्य के साथ अथवा उससे सम्बन्धित होता है। यदि एक ऐसी आदिम एवं अव्याकृत मनोदशा की कल्पना की जाए जिसमें एक विविध-पक्षीय अनुभूति हो, तो भी हमारा काम नहीं चल सकता। ऐसी मनोदशाओं का बिना सम्वन्ध का होना तो मैं स्वीकार करता हूँ, परन्तु इनमें गुणों के अस्तित्व को मैं कदापि नहीं मान सकता। क्योंकि यदि इन अनुभूत पक्षों को अनुभूति-अवस्था में ही स्वयं गुण कहा जाए, तो केवल वाह्य पर्यवेक्षक के पर्यवेक्षण-भर के लिए ही यह कथन ठीक होगा। और फिर उसके लिए भी वे .अमुक वस्तु के विभिन्न पक्षों के रूप में अर्थात् सम्वन्धों-सहित ही प्रस्तुत होते हैं। संक्षेप में यदि आप अव्याकृत या अभिन्न भाव पर पुनः लौटना चाहते हैं, तो आपको न सम्वन्ध मिलेंगे और न गुण, परन्तु यदि आप ऐसी अवस्था को लेते हैं जो औरों से भिन्न या व्याकृत है, तो आपको तुरन्त ही सम्वन्ध प्राप्त होते हैं।

प्रतिपक्ष का उत्तर यह हो सकता है—यद्यपि स्वयं गुणों का अस्तित्व सम्वन्धों से पृथक् नहीं पाया जाता, परन्तु इससे उनका पृथक् अस्तित्व वस्तुतः असिद्ध नहीं होता, क्योंकि उनको व्याकृत करना तथा उन पर पृथक् रूप से विचार करना हमारे

लिए सम्भव है। जिनके लिए मानसिक क्रिया निःसन्देह आवश्यक है। अतः अभी तक हमने देखा कि जो भिन्न या व्याकृत है वह विशिष्ट है, अतः सम्बन्ध-युक्त है, परन्तु यह सम्बन्ध वस्तुतः सत् में नहीं होता। इस सम्बन्ध का अस्तित्व केवल हमारे लिए ही है और वह भी हमारी ज्ञान-प्राप्ति का एक साधन-मात्र है। परन्तु यह विशिष्टता वास्तविक भेदों पर आश्रित है और वे भेद उस समय भी रहते हैं, जब हमारे सम्बन्ध दूर हो चुकते हैं।

परन्तु, इस प्रकार का उत्तर तभी सम्भव है जब हम उत्पन्न वस्तु को उत्पादन-क्रिया से पृथक् मानें, और इस प्रकार का पृथक्करण सर्वथा असंगत है। गुणों की कल्पना व्याकृत या विशिष्ट रूप में करने के लिए किसी-न-किसी ऐसी क्रिया की आवश्यकता पड़ती है, जिसमें सम्बन्ध को अन्तर्हित मानना पड़ता है, उनको विशेष प्रकार का बनाया जाता है और उसमें भी महत्त्व की बात यह है कि उनको उस प्रकार बल-पूर्वक रखा जाता है। अतः आपको उत्पन्न वस्तु उसकी उत्पादन-क्रिया से पृथक् नहीं मिल सकती। क्या आप कहेंगे कि उत्पादन-क्रिया आवश्यक नहीं है? परन्तु यह आपको सिद्ध करना पड़ेगा, उसे यों ही मान लेना भयावह है। क्या आप उपर्युक्त उदाहरण द्वारा इसे सिद्ध करने का प्रयत्न करेंगे? बहुत-से उद्देश्यों के प्रसंग में ऐसी प्रक्रियाओं और सम्बन्धों को स्वीकार करना और प्रयोग करना सम्भव है जो वस्तुओं की अन्तर्प्रकृति को विशेष रूप से प्रभावित न करते हों, परन्तु यहाँ तो अन्ततोगत्वा 'अंतः' और 'बाह्य' में भेद-भाव करना तथा 'अन्तः' को सर्व-सम्बन्धी से स्वतन्त्र मानना ही विवादास्पद है। उपमेय आदि में गुणों का अस्तित्व मानकर चलनेवाले उपमा आदि मानसिक व्यापारों-द्वारा यह कदापि सिद्ध नहीं किया जा सकता कि ये गुण बिना किसी सम्बन्ध के रह सकते हैं। परन्तु मैं यह नहीं मान सकता कि इस विषय का निर्णय सादृश्य-द्वारा हो सकता है। सारा विषय संक्षेप में इस प्रकार है। एक ऐसा व्यापार है जिसके अनुसार दी हुई वस्तु के एक भाग को दूर करके मन की कल्पना-द्वारा दूसरे को पूर्णतया पृथक् दिखलाया जाता है। पुनः-पुनः किये जानेवाले इस मानसिक पृथक्करण के अतिरिक्त अन्यत्र इस परिणाम को नहीं देखा जा सकता, और यदि अन्य कोई जानकारी प्राप्य न हो तो मैं इस परिणाम को प्रक्रिया से पृथक् तथ्य मानने में कोई औचित्य नहीं देख सकता। स्वपक्ष को प्रमाणित करने का उत्तरदायित्व प्रतिपक्षी पर है और वह ऐसा करने में पूर्णतया असमर्थ है। यह तर्क तो सम्भवतः उल्लेखनीय भी नहीं कि प्रत्यक्षीकरण में एक गुण सर्वप्रथम और अन्यों से पूर्व आता है। और इसलिए वह सम्बन्ध-युक्त नहीं हो सकता, क्योंकि गुण तो सदा ही हमें किसी-न-किसी (वस्तु) के साथ ही मिलते हैं, अकेले कदापि नहीं।

और आगे बढ़ें, तो हमें प्रतीत होगा कि इस प्रक्रिया-द्वारा सत्य के दर्शन में त्रुटि भी हो जाए, तो भी उसकी उपेक्षा करना न केवल पूर्णतया असंगत है अपितु यह भी प्रमाणित किया जा सकता है कि ऐसा करने से असत्य की ही सिद्धि होती है, क्योंकि जो भी परिणाम होता है उसके भीतर प्रक्रिया की विशेषता विद्यमान रहती है। गुणों के बहुत्व की संगति उनके असम्बद्ध या असंयुक्त होने से नहीं बैठ सकती। उनकी अनेकता सम्बन्ध पर आश्रित है, बिना उस सम्बन्ध के वे विशिष्ट नहीं, और यदि विशिष्ट नहीं तो भिन्न नहीं, इसलिए गुण नहीं।

मैं नहीं कह सकता कि भेदहीन गुण सर्वथा असम्भव है, क्योंकि जहाँ तक मैं समझता हूँ, ऐसे जीवों का होना सम्भव है जिनका जीवन एकमेव अटूट अनुभूति हो और इसलिए इस प्रकार की सम्भावना के विरुद्ध जो तर्क उपस्थित किये जाते हैं वे मेरी समझ में ठीक नहीं है। यदि आप इस प्रकार की अनुभूति को एक गुण कहना चाहें, तो आप खुशी से अपनी चाह को तृप्त कर लें, परन्तु याद रखें कि यह विषय पूर्णतया असंगत है, क्योंकि इसमें किसी को आपत्ति नहीं कि इस अर्थ में विश्व एक गुण है अथवा नहीं, सारा प्रश्न गुण का नहीं गुणों का है। जो विश्व केवल एक ही अनुभूति में युक्त हो वह गुण-समूह तो नहीं होगा, परन्तु साथ ही वह ऐसा अद्वितीय गुण भी नहीं हो सकता जो दूसरों से भिन्न हो और सम्बन्धों से पृथक् हो। वस्तुतः हमारा प्रश्न तो यह है कि भेदों के लिए सम्बन्ध आवश्यक है या नहीं ?

हम देख चुके हैं कि वास्तव में भेद और सम्बन्ध कोई भी एक-दूसरे से पृथक् नहीं पाये जाते। हमने यह भी देखा कि काल्पनिक पृथक्करण द्वारा जो वियोजन किया जाता है वह वास्तविक अलगाव का प्रमाण नहीं माना जा सकता। और अब, संक्षेप में, हमारा कथन यह है कि प्रत्येक अलगाव में वियोजन निहित होता है, और प्रत्येक वियोजन से सम्बन्ध सूचित होता है; अतः यदि अलगाव को एकान्तिक मान लिया जाए, तो वह स्वतः विरोधी हो जाता है। मान लीजिए कि 'क' और 'ख' गुण एक दूसरे से भिन्न हैं, तो यह भेद कहीं-न-कहीं तो होगा ही। यदि यह भेद किसी भी मात्रा में अथवा किसी भी सीमा तक 'क' या 'ख' से बाहर पड़ता है, तो सम्बन्ध का अस्तित्व तुरंत हो जाता है। परन्तु, दूसरी ओर, भेद तथा अन्यत्व 'क' या 'ख' के भीतर कैसे हो सकता है ? यदि 'क' में ऐसा कोई अन्यत्व हो तो, 'क' के भीतर ही हमें उसके गुण एवं अन्यत्व का विवेचन करना चाहिए। और यदि यह बात हो तो जो समस्या अभी तक हल नहीं हुई, वह अब प्रत्येक गुण के भीतर उठ खड़ी होती है और प्रत्येक को दो सम्बन्ध-युक्त गुणों में विभाजित कर देती है। संक्षेप में, सम्बन्ध-हीन अनेकता (विभिन्नता) अर्थहीन शब्द की भाँति असम्भव प्रतीत होती है और यह कहना कि यहाँ पर

स्वयं अनेकता विवाद का विषय नहीं है, कोई उत्तर नहीं है। मैं तो विपरीत को ही ठीक समझता हूँ, परन्तु यदि आप चाहें तो हम विशिष्टत्व एवं भिन्नत्व को ही बड़ी खुशी से ले सकते हैं। मेरे तर्क का आधार यह है कि यदि भेद न हो, तो गुण भी नहीं होंगे, क्योंकि अभेदावस्था में सब-कुछ एकत्व में परिणत हो जायगा। परन्तु यदि भेद का अस्तित्व है, तो इसका अर्थ है कि सम्बन्ध का भी अस्तित्व है। सम्बन्ध के अभाव में भेद का कोई अर्थ नहीं, वह शब्द-मात्र है, विचार नहीं, और जब तक उसमें सम्बन्ध का आगमन नहीं किया जाता, तब तक उसको अर्थ या विचार के रूप में ग्रहण नहीं किया जा सकता। वस्तुतः यही सब प्रश्नों का केन्द्र-बिन्दु बन गया है कि क्या स्पष्ट विशेषताओं के बिना गुणों की कल्पना की जा सकती है? इनके बीच में एक सम्बन्ध होता है, चाहे वह सुस्पष्ट हो अथवा केवल चिन्तनशील मन के द्वारा ग्राह्य, परन्तु क्या इस सम्बन्ध के बिना इनकी कल्पना संभव है? क्या सम्बन्धहीन गुणों का विचार के लिए कोई मूल्य होता है? कम-से-कम मैं तो व्यर्थ ही समझता हूँ।

इस प्रश्न से मुझे, उस प्रबल प्रयत्न में समर्थन प्राप्त होता है जो मैं, इसी आधार पर, एक दर्शन-निर्माण के लिए कर रहा हूँ। इसके अनुसार यह कहना अतिशयोक्ति नहीं कि विश्व की समस्त इयत्ता एक असंभव भ्रांति के समान-सी हो जाती है। जिन्हें हम सत् कहते हैं वे ऐसे अद्वैत और एकान्तिक हो जाते हैं जिसकी कल्पना नहीं की जा सकती। परन्तु दूसरी ओर, हमारा उपयोगी जीवन इसी पर अवलम्बित है कि इस अचिन्तनीय निस्सारता की अवस्था से इनका काल्पनिक उद्धार निरन्तर होता रहे। जिन अस्पष्ट सम्बन्धों से मिलकर विश्व बना हुआ प्रतीत होता है उनसे वे सर्वथा निर्लिप्त रहते हैं। वे विश्व से परे हैं, वे आकाश में नक्षत्रों की भाँति स्थिर हैं—सचमुच यदि कोई आकाश हो तो।

(२) हम देख चुके हैं कि सम्बन्धहीन गुणों की कल्पना में कोई अर्थ नहीं। दुर्भाग्य-वश, सम्बन्धयुक्त गुणों की कल्पना भी उतनी ही अर्थहीन है। पहली बात तो यह है कि गुणों को पूर्णतया सम्बन्धों में परिणत नहीं किया जा सकता। आप निःसन्देह कह सकते हैं कि विशेषता के अभाव में भेद नहीं रह जाता, परन्तु, यह-सब होते हुए भी, भेद विशेषता में विलीन नहीं हो सकते। वे विशेषता में न्यूनाधिक आ तो जाते हैं, परन्तु उसके द्वारा उनका पूर्णतया निर्माण नहीं हो सकता। मैं तो फिर भी यही कहूँगा कि विचार की दृष्टि से, जो सम्बन्ध से रहित है वह असत् या शून्य है। परन्तु, दूसरी ओर मेरा निवेदन है कि असतों या शून्यों का परस्पर कोई सम्बन्ध नहीं हो सकता और सम्बन्ध-युक्त गुणों को सम्बन्ध-मात्र में परिणत कर देना असंभव है। गुण और सम्बन्ध दोनों से सत्य बना है, यदि आप चाहें, तो आप कह सकते हैं कि दोनों में से प्रत्येक से

वह बना है। परन्तु यदि आपका अभिप्राय यह हो कि दूसरे की आवश्यकता ही नहीं और सम्बन्ध, किसी-न-किसी प्रकार से, उन व्यंजकों का भी निर्माण कर सकते हैं जिन पर वे आधारित हैं, तो आपकी बात मेरी समझ के बाहर की वस्तु है। जहाँ तक मैं समझता हूँ, सम्बन्ध व्यंजकों पर उसी प्रकार निर्भर हैं जिस प्रकार व्यंजक सम्बन्धों पर। द्वंद्वात्मक प्रणाली की आँशिक असफलता, जो अब सुस्पष्ट हो चुकी है, किसी-न-किसी एतद्विपयक मिथ्या धारणा से सम्बन्धित प्रतीत होती है।

अतः गुणों का अस्तित्व अवश्य है और उनके सम्बन्धों का भी। परन्तु, इस प्रकार प्रत्येक गुण के भीतर एक द्वैत की सिद्धि होती है, प्रत्येक का द्विविध रूप होता है—एक में वह सम्बन्ध का आधार है, दूसरे में वह सम्बन्ध-द्वारा रचित है। परन्तु प्रश्न यह है कि उनका यह द्वैत एक कैसे हो ? क्योंकि जहाँ यह सच है कि वह अपने में द्वैत को एकत्र किये हुए है, वहाँ यह भी सच है कि ऐसा करने में वह असमर्थ है। 'क' का जो स्वरुप है वह सम्बन्ध-द्वारा रचित भी है और अरचित भी, और 'क' के ये द्विविध पक्ष न तो परस्पर एक-दूसरे का स्थान ले सकते हैं और न स्वयं 'क' का ही। यदि इन द्विविध पक्षों को 'क' और 'कँ' कहा जा सके तो 'क' अंशतः दोनों में से प्रत्येक है। 'क्' के रूप में वह भेद है जिस पर विशेषता आश्रित है, और क के रूप में यह वह विशिष्टता है जो सम्बन्धजनित होती है। 'क' वस्तुतः दोनों का संयुक्त रूप है—'क्', 'क'। परन्तु जैसा कि द्वितीय अध्याय में देख चुके हैं सम्बन्ध-प्रयोग के बिना 'क' के इस द्वैत को विधेय के रूप में नहीं बताया जा सकता। और दूसरी ओर, किसी आन्तरिक सम्बन्ध का अस्तित्व मानने पर 'क' की इकाई समाप्त हो जाती है और उसके समस्त तत्व विशेषता की एक अनन्त प्रक्रिया में क्षीण होते-होते विलीन हो जाते हैं। 'क' प्रथम तो कँ के सम्बन्ध में 'क्' हो जाता है, परन्तु ये दोनों व्यंजक स्वयं एक-दूसरे से पृथक् हो जाते हैं। अतएव हमारी इच्छा के विरुद्ध अब वह एक पक्ष-मात्र न रहकर एक स्वतंत्र गुण 'क्' हो जाता है, जिसे स्वयं एक सम्बन्ध की आवश्यकता पड़ती है, इसलिए (जैसा कि पहले 'क' को लेकर देखा था) उसमें एक नहीं अनेक तत्त्व मानने पड़ेंगे। सम्बन्ध की अपेक्षा करते हुए वह स्वयं 'क्' तथा स्वयं सम्बन्धजनित होने से 'कँ' हो जाता है। और इन विशेपताओं को अपने में एकत्र करता हुआ भी वह एकत्र नहीं कर सकता।

संक्षेप में, हम एक ऐसे विभाजन-सिद्धान्त को पकड़कर चल रहे हैं जो हमें कहीं भी नहीं पहुँचाता। प्रत्येक सम्बन्ध-युक्त गुण के स्वभाव में अन्ततोगत्वा एक द्वैत होता है और इस द्वैत को सहसा गुण से सम्बन्धित नहीं कहा जा सकता। अतः गुण को अपनी इकाई छोड़कर उसके स्थान पर एक आन्तरिक सम्बन्ध स्वीकार करना पड़ता है। अतः इस प्रकार स्वच्छन्द होकर, गुण के इन विविध पक्षों में से प्रत्येक, सम्बन्ध-युक्त

होता हुआ भी, सम्बन्ध से कुछ परे भी होता है। यह द्वैत प्रत्येक आन्तरिक इकाई के लिए घातक है और उसके लिए एक नये सम्बन्ध की आवश्यकता पड़ती है, इस प्रकार एक अनन्त प्रक्रिया का प्रादुर्भाव हो जाता है। संक्षेप में सम्बन्ध-युक्त गुण वैसे ही अगम हैं, जैसे कि सम्बन्धहीन गुण। समस्या ने हमें दोनों ओर से हतप्रभ कर दिया है।

(३) सम्बन्धों की दृष्टि में विचार करने पर भी हम उसी 'साँप-छछूंदर' की गति में आ पहुँचते हैं। गुणों के सहित हो या रहित, वे नितान्त ही अगम रहते हैं। प्रथम तो, व्यंजक रहित सम्बन्ध शब्द-जाल-मात्र हैं; अतः व्यंजक (Terms)——अपने-अपने सम्बन्धों से कुछ परे-से जान पड़ते हैं। सम्बन्ध ऐसे व्यंजकों को एकाएक ला खड़ा करता है, जिनका पहले अस्तित्व ही नहीं था। जो सम्बन्ध व्यंजकों से रहित होकर अथवा सम्बन्ध-सीमान्तों के अतिरिक्त अन्य सभी भेदों से रहित होकर भी टिक सकता है, वह कम-से-कम मेरी समझ में तो एक वाग्जाल-मात्र ही है। मेरी समझ में वह एक मिथ्या एवं स्वतः विरोधी पृथक्करण है, और भय है कि मुझे यह विषय ज्यों-का-त्यों ही छोड़ना पड़ेगा। मुझे स्वयं इस विषय में और कोई ज्ञान न होने से तथा अपने कर्ण-कुहरों में कोई समन्वय-विधायक शब्द न पड़ने से, विवश होकर मुझे यह निष्कर्ष निकालना पड़ता है कि इस मामले में दूसरे लोग पूर्ण नहीं तो अर्द्ध-वधिर अवश्य हैं। अतः मैं यह कहे विना नहीं रह सकता कि गुणहीन सम्बन्ध की कोई सत्ता नहीं।

दूसरी ओर, सम्बन्ध और गुण के बीच जो सम्बन्ध है वह भी समझ से परे की वात है। यदि गुणों से उसका कोई वास्ता ही नहीं, तो वे स्वयं आपस में सम्बन्धित नहीं हो सकते। और यदि यह वात हो, तो, जैसा कि हम देख चुके हैं, वे गुण ही नहीं रह जाते और उनका सम्बन्ध सारहीन हो जाता है। परन्तु, यदि उसका गुणों से कुछ वास्ता है तो हमें अव एक नये संयोजक-सम्बन्ध की आवश्यकता पड़ जाती है, क्योंकि कोई भी सम्बन्ध अपने व्यंजकों में से किसी एक का अथवा दोनों का एक विशेषण-मात्र होकर नहीं रह सकता, अथवा इस रूप में कम-से-कम वह असंगत-सा प्रतीत होता है। और स्वयं अपना कुछ अस्तित्व रखते हुए, यदि वह अपने व्यंजकों से कोई सम्बन्ध नहीं रखता, तो अन्य किस सुबोध रूप में वह उनसे कोई वास्ता रख सकेगा? परन्तु, यहाँ हम फिर एक भँवर-जाल में पड़ जाते हैं, क्योंकि हमें अनन्त नये सम्बन्धों की खोज करनी पड़ती है। शृंखला एक ऐसी शृंखला के द्वारा जुड़ी हुई है, जिसके स्वयं दो सिरे हैं और इनमें से प्रत्येक को पहली शृंखला से जोड़ने के लिए एक नयी शृंखला की आवश्यकता होती है। प्रश्न यह है कि सम्बन्ध का गुणों से क्या सम्बन्ध है? और इस प्रश्न का कोई हल नहीं। यदि आप इस सम्बन्ध-शृंखला को कोई ठोस वस्तु कहें तो आपको यह दिखाना पड़ेगा——जो वस्तुतः आप दिखला नहीं सकते——कि अन्य ठोस वस्तुएँ

उससे किस प्रकार जुड़ी हैं। और यदि आप इसको एक प्रकार का माध्यम या शून्य वातावरण मात्र कहें, तो वह फिर सम्बन्ध-शृंखला नहीं हो सकता। इस प्रकार यहाँ भी आप देखते हैं कि गुणों के सम्बन्ध (क्योंकि वे निःसन्देह किसी-न-किसी प्रकार सम्बन्धित हैं) का प्रश्न, पहले की भाँति ही, उससे बाहर ही उठता है। संक्षेप में, वह मूल सम्बन्ध एक शून्य-मात्र हो गया; परन्तु ऐसा होने पर समस्या ज्यों-की-त्यों बनी रही।

अब मैं इस अध्याय को समाप्त कर रहा हूँ। इसके विवेचन को एक सूक्ष्म तर्क-जाल के रूप में फैलाना अति सरल है, यद्यपि इसमें लाभ कुछ भी नहीं। और यदि मैं यह सोचने बैठूं कि पाठकों की इस विषय में क्या-क्या आपत्तियाँ हो सकती हैं तो मेरे लिए यह बिलकुल व्यर्थ होगा। मैंने अपना पक्ष उपस्थित कर दिया और मैं अब समाप्त करता हूँ। जिस निर्णय पर पहुँचा हूँ वह यह है कि सम्बन्ध-मूलक विचारशैली—जो व्यंजकों तथा उनके पारस्परिक सम्बन्ध को लेकर चलती है—केवल आभास ही उप-स्थित करती है, सत्य नहीं। यह एक चलताऊ उपाय, एक दाँव-पेच या एक व्यावहारिक व्यवस्था-मात्र है, जो अत्यन्त आवश्यक होते हुए भी अन्ततोगत्वा बालू की भीत है। सत् के हमें द्वैत और अद्वैत, अनेक और एक, दोनों रूप मानने हैं। और साथ ही विरोधा-भास से बचना भी है। हम सत् को विभाजित करना चाहते हैं, और साथ ही अपने इच्छानुसार, उसको अविभाज्य रखना भी चाहते हैं। हम दोनों दिशाओं में जहाँ तक चाहते हैं दौड़ लगाते हैं, और ठहरना सुविधाजनक समझते हैं तो ठहर जाते हैं। हमें सफलता मिलती है, परन्तु केवल आँखें मूंदने पर (क्योंकि यदि आँखें खुली रहें तो वे हमारी भर्त्सना करें) या निरन्तर डावाँडोल रह कर या मत-परिवर्तन करते हुए (जिससे हम उस पक्ष से, जिसकी चर्चा हम नहीं करना चाहते तुरंत विमुख हो सकें)। परन्तु, जब ये असंगतियाँ बरबस एकत्र की जाती हैं (जैसे कि तत्वज्ञान में), तो हम एक ऐसी स्थिति पर पहुँच जाते हैं जो स्पष्टतया असंगत और बेमेल होती है। यह स्थिति यथार्थता की नहीं हो सकती, और यदि हम अपनी कठिनाइयों को देखें, तो हमने एक स्थान पर दो खड़ी कर ली हैं। हमारी बुद्धि एक जंजाल और दिवालियेपन में जा पड़ी और सत् ज्यों-की-त्यों अज्ञात बाहर पड़ी रही। अथवा इससे भी बुरी बात यह है कि यथार्थता की सब विशिष्टता और गुण छिन गये। वह नग्न एवं निर्विशेष रह गयी, जब कि हम जंजाल में फँसे पड़े हैं।

जिस पाठक ने इस अध्याय के सिद्धान्त को भली भाँति देखा और समझा है, उसको आगे के अध्यायों में अधिक समय लगाने की आवश्यकता नहीं। उसने देख लिया होगा कि हमारा जो अनुभव सम्बन्ध-मूलक होता है, वह सच्चा नहीं है और उसने बहुत-से प्रपंच-जाल को बिना देखे-भाले विसर्जित कर दिया होगा। फिर भी मुझे आगे संक्षेप में दिक् और काल के विवेचन की आवश्यकता प्रतीत होती है।

चौथा अध्याय

दिक् और काल

दिक् अथवा काल के स्वरूप का विवेचन करना इस अध्याय का तनिक भी उद्देश्य नहीं। इन दोनों को आभास मानना क्यों उचित है, इसे व्यक्त करना ही मुख्य रूप से, यहाँ अभीष्ट है। इसमें यह स्पष्ट किया जाएगा कि इन दोनों में जो विशेषताएँ हैं, उनके आधार पर इनमें सत् का अस्तित्व मानना या इनको सत् से सम्बन्धित मानना हमें क्यों स्वीकार नहीं। सर्वप्रथम मैं यह दिक् के विषय में दिखलाऊँगा।

यहाँ हमें प्रत्यक्ष के मनोवैज्ञानिक उद्भव से कोई प्रयोजन नहीं। संभव है कि *दिक् का विकास अस्थानिक तत्त्वों से हुआ हो;* और यदि यह बात है तो उसके वास्तविक स्वरूप के प्रश्न पर उसकी उत्पत्ति का बहुत प्रभाव पड़ सकता है। परन्तु, यहाँ इसपर विचार करना हमारे लिए असंभव है, क्योंकि पहली बात तो यह है कि उसके उद्भव को बताने वाला प्रत्येक प्रयत्न असफल रहा। दूसरे, यदि उसके उद्भव और विकास का कुछ प्रमाण भी हो, तो भी यह आवश्यक नहीं कि उससे उसके वास्तविक स्वरूप पर प्रभाव पड़े। कोई वस्तु केवल इसलिए सत् नहीं हो सकती कि वह मनोविज्ञान की दृष्टि में प्रकृत (Original) है, और न केवल इसलिए असत् ही हो सकती है कि वह गौण या विकृत है। यदि वह ऐसे तत्त्वों की एक वैध रचना होती, जो सत्य हो, तो केवल हमारे लिए वह व्युत्पन्न या उद्भूत मानी जा सकती है और वास्तव में प्रकृत हो सकती है। परन्तु उसके विकास को जिस रूप में बताने का प्रयत्न किया जाता है, वह जब तक कुछ अस्पष्ट और भ्रामक है, तब तक इस सारे प्रश्न को असंगत मानना अधिक अच्छा होगा।

अच्छा, तो आइए, हम दिक् या प्रसार को उसी रूप में ग्रहण करें जिसमें वह है, और फिर देखें कि उसमें कोई स्वतः विरोधी तत्त्व तो नहीं है। पाठक उन कठिनाइयों से परिचित होंगे जो दिक् के निरन्तरत्व एवं पृथग्स्थित्व के कारण उत्पन्न हो गयी हैं। इनसे यह निष्कर्ष अनिवार्य हो जाता है कि दिक् (स्पेस) अनन्त है, जब कि उसका अस्तित्व होने के लिए अन्त आवश्यक है। दिक् या आकाश स्वयं अपने में या अपने से

बाहर ही, किसी अन्तिम सीमा को नहीं पहुँच सकता। फिर भी, जब तक वह अपने भीतर या अपने से परे कोई परिवर्तनशील वस्तु रखता है, तब तक इसको दिक् कदापि नहीं कहा जा सकता। इस साँप-छछूंदर-गति का परिहार प्रायः एक पक्ष की उपेक्षा करके किया गया है; परन्तु सामना करके इसका परिहार न तो सफलतापूर्वक किया गया है और न कभी किया जाएगा। स्वभावतः जब तक यह स्थिति विद्यमान है, तब तक दिक् के विरुद्ध यह एक प्रबल प्रमाण है।

मैं यहाँ पर उसको ऐसे रूप में रख रहा हूँ, जिससे, मेरी समझ में, उसके स्व-विरोध की जड़ और जटिलता पूर्णतया स्पष्ट हो जायगी। दिक् या आकाश एक सम्बन्ध है, जो यह हो नहीं सकता; और यह एक गुण या वस्तु-तत्त्व है जो भी यह नहीं हो सकता। यह एक विचित्र प्रकार की समस्या है जिसका विवेचन हमने पिछले अध्याय में किया। वस्तुतः यह दो बेमेल तत्त्वों को एकत्र करने का एक विशेष प्रयत्न है। इस पहेली को मैं प्रतिलोम (उलटे) रूप में रखूँगा।

(१) दिक् केवल सम्बन्ध मात्र नहीं है, क्योंकि प्रत्येक दिक् में प्रसारित अंग होंगे और ये अंग स्पष्ट ही दिक् होंगे। अतः यदि हम दिक् को एक संघात रूप में ग्रहण करें तो भी यह एक पिंडों का संघात होगा। सम्बन्ध ऐसी दिशाओं का संयोजन करेगा जो स्वयं सम्बन्ध-मात्र नहीं होगा। अतः यदि संघात को केवल परस्पर-सम्बन्ध के रूप में ग्रहण किया जाय तो वह दिक् नहीं रहता। इस प्रकार हमारी प्रतिपत्ति यह बनती है कि दिक् दिशाओं (आकाशों-स्थानों) के सम्बन्ध के अतिरिक्त कुछ नहीं है। और यह प्रतिपत्ति अपना खंडन स्वयं करती है।

दूसरी ओर से, यदि दिक् को एक पूर्ण अंग के रूप में ग्रहण किया जाए, तो उसे स्पष्टतया सम्बन्ध से कुछ अधिक मानना पड़ता है। वह एक वस्तु, वस्तु-तत्त्व या गुण (आप जो चाहें उसे कहें) है, जो स्पष्टतः वैसा ही ठोस है जैसा कि उसके द्वारा संयोजित अंग। चाहे बाहर से देखिए या भीतर से, वह पूर्णतया उसी तरह अग्राह्य और सरल है, जैसे कि उसके तत्त्व। हम सदा उसके 'अंगों' की चर्चा करने को जो विवश हो जाते हैं, केवल यही इसका पर्याप्त प्रमाण समझा जाना चाहिए। सम्बन्ध के 'अंग' भला क्या होंगे ?

(२) परन्तु दिक् सम्बन्ध के अतिरिक्त और कुछ नहीं। कारण यह है कि प्रथम तो प्रत्येक दिक् में अंग अनिवार्यतः होते हैं, और यदि ये अंग दिक् नहीं हैं, तो अंगी दिक् नहीं हो सकता। मान लीजिए कि एक दिक् में कितने ही अंग हैं। यह मानी हुई बात है कि ये अंग ठोस होंगे, और ये स्पष्टतः पृथु (प्रसारित) भी होंगे। यदि ये पृथु (प्रसारित) होंगे, तो इनमें स्वयं अंग होंगे तथा फिर इन अंगों के अंग, यहाँ तक कि इनका

कोई अन्त न रह जाएगा। एक दिक् या दिग्भाग का ठोस होना स्वतः विरोधी है। जो वस्तु पृथु या प्रसारित होती है वह अन्य प्रसारितों का सम्बन्ध होती है। और इन पृथुओं या प्रसारितों को स्वयं दूसरे प्रसारितों (पृथुओं) का सम्बन्ध मानना होगा। इस प्रकार हम पुनः अनन्तता पर आ जाएँगे। सम्बन्ध के लिए व्यंजकों का होना अनिवार्य है; और व्यंजकों का अस्तित्व ही नहीं है। निरन्तर खोज करने पर भी हमें सम्बन्धों के अतिरिक्त कुछ भी नहीं मिलता, और न वस्तुतः कभी मिल ही सकता है। दिक् तत्त्वतः ऐसे कुछ का सम्बन्ध है जो स्वयं उन सम्बन्धों में विलीन हो जाता है, जो अपने व्यंजकों को प्राप्त करने में असमर्थ रहते हैं। वह ऐसी अवस्तु की लम्बाइयों की लम्बाई है, जिसका ज्ञान हमें नहीं हो पाता।

पुनः बाहर से, एक पहले-जैसा ही निष्कर्ष हमें धर दबाता है। हम देख चुके हैं कि दिक् या आकाश भीतर-ही-भीतर ऐसी इकाइयों के सम्बन्धों के रूप में विलीन हो जाता है, जिनका कभी अस्तित्व ही नहीं हो सकता। परन्तु, दूसरी ओर जब इसे स्वयं एक इकाई के रूप में ग्रहण किया जाता है, तो एक भ्रान्तिमय संपूर्ण की खोज में उसका तिरोभाव हो जाता है। तत्त्वतः यह एक ऐसी बात है जिसमें एक को दूसरे के और दूसरे को तीसरे आदि के संदर्भ या प्रसंग में देखते हुए हम एक ऐसी अनन्त पर पहुँच जाते हैं, जो वास्तविकता से परे है। संक्षेप में, एक संपूर्ण के रूप में इसका अस्तित्व उस सम्बन्ध में है जो इसके एवं एक अन्य असत् के बीच में वर्तमान रहता है। आप अतिविशाल और पूर्ण दिक् को ही क्यों न लें, परन्तु यदि इसकी निश्चित सीमाएँ नहीं हैं, तो इसे दिक् नहीं कह सकते; और यदि हम इसका अन्त अन्धकार या शून्य में पाएँ, तो यह हमारा अन्धापन या असामर्थ्य-मात्र है। ऐसे दिक् की कल्पना जो सीमित हो, परन्तु फिर भी उसके बाहर कोई दिक् न हो, एक स्वतः विरोधी कल्पना होगी। इसी प्रकार 'बाहर' को विवश होकर अपने से परे जाना पड़ता है और निरन्तर ऐसा करने पर भी 'अन्त' या छोर के दर्शन नहीं होते। और केवल यह बात भी नहीं कि हम यह समझने में असमर्थ हों कि इसका अन्य रूप हो भी क्या सकता है। हम देखते और समझते हैं कि यदि दिक् को दिक् रहना है, तो इसका अन्य कोई रूप नहीं हो सकता। अतः या तो हमें यही ज्ञात नही कि दिक् क्या है; और यदि यह बात है तो निःसन्देह हम नहीं कह सकते कि वह आभास से कुछ भी अधिक है। अथवा, यह जानते हुए कि दिक् का क्या अर्थ है, इस अर्थ में हम उस उलझन को भी अन्तर्हित पाते हैं, जिसका वर्णन हम यहाँ कर रहे है। दिक् को यदि दिक् रहना है, तो उसके बाहर भी दिक् होना ही चाहिए। दिक् का लय सदा ऐसे सम्पूर्ण में होता है, जो सदैव किसी अन्य वस्तु के साथ उसके सम्बन्ध का एक छोर या पार्श्व ही साबित होता है। इस प्रकार दिक् के न तो

कोई ठोस अंग है और न एक मानने पर वह अपने 'स्व' तथा नवीन 'स्व' के पारस्परिक सम्बन्ध के अतिरिक्त कुछ और है। जो सामने है वह दिक् मात्र नहीं है और यदि इससे परे दिक् ढूंढने का प्रयत्न किया जाय, तो हमें जो मिलता है वह केवल सम्वन्ध-मात्र रह जाता है। दिक् ऐसे व्यंजकों के बीच का एक सम्बन्ध है, जिनका पता कभी नहीं लग सकता।

हमने जिस अन्तर्विरोध का दिग्दर्शन कराया है, उसकी और अधिक चर्चा करने से कोई लाभ नहीं। यदि पाठक को एक वार सिद्धान्त अवगत हो गया, तो वह उसका विस्तृत विवेचन स्वयं कर सकता है। चलते-चलते मैं एक दूसरी कठिनाई का उल्लेख करता हूँ। रिक्त दिक् किसी प्रकार के गुण (चाक्षुप या मांसल) से रहित दिक्, एक असत् कल्पना है। इसका अस्तित्व नहीं माना जा सकता, क्योंकि अकेले इसका कोई अर्थ नहीं। जब कोई मनुष्य देखता है कि इसके भीतर क्या है तो उसे सदा कोई-न-कोई गुण मिलता है, जो प्रसारण (तु० अध्याय १) से निःसन्देह अधिक है। परन्तु यदि यह बात है, तो हमारे सामने विकट समस्या यह होती है कि प्रसारण के साथ-साथ इस गुण का क्या सम्बन्ध है। यदि वह समवाय सम्बन्ध है, तो हम देख चुके हैं (अध्याय २) कि वह सिद्धान्ततः समझ के बाहर की चीज है।

अब मैं तुरन्त ही काल के विषय में विचार करूँगा। इस अध्याय में, मैं केवल उन कठिनाइयों को ही लूंगा जो काल के पृथकस्तित्व एवं निरन्तरत्व के कारण उत्पन्न होती हैं। परिवर्तन या परिणाम के विषय में, कुछ चर्चा अगले अध्याय में की जाएगी।

काल को मनोवैज्ञानिक दृष्टि से समझाने के कुछ प्रयत्न किये जा चुके हैं। इनके अनुसार काल की उत्पत्ति उस स्थिति से दिखायी जाती है, जो हमारे मन में अकाल की, अर्थात् काल से पूर्व की, प्रतीत होती है। परन्तु जो दिक् के प्रसंग में ठीक मालूम हुए और जिनका महत्त्व यहाँ और भी अधिक है, उन्हीं कारणों से प्रेरित होकर मैं इन प्रयत्नों पर विचार नहीं करूँगा। मैं तो केवल काल की विशेषता का पता लगाऊँगा और देखूंगा कि उस विशेषता का सत् से कोई सम्बन्ध हो सकता है या नहीं।

काल को प्रायः एक स्थान-सम्बन्ध के रूप में ग्रहण किया जाता है। उसकी कल्पना एक धारा के रूप में की जाती है और भूत एवं भविष्यत् उसके अंग माने जाते हैं। ये दोनों सहवर्ती नहीं हो सकते, फिर भी इनकी चर्चा ऐसे ही की जाती है मानों इनका सह-अस्तित्व हो। काल की इस कल्पना के विरुद्ध वही आपत्ति है जो हमने दिक् के विरुद्ध उपस्थित की थी। वह एक सम्बन्ध है और दूसरी दृष्टि से सम्बन्ध नहीं भी है; और साथ ही सम्बन्ध के अतिरिक्त वह अन्य कुछ हो भी नहीं सकता। जिस पाठक ने दिक् के प्रसंग में साँप-छछूंदर-गति को समझ लिया उसे

यदि हम काल के सामान्य रूप को ही लेना चाहें और निष्कर्षों एवं कल्पनाओं से वचना चाहें, तो हमें काल के उसी स्वरूप तक सीमित रहना पड़ेगा जो हमारे सामने उपस्थित होता है। परन्तु इस प्रकार उपस्थित होने वाला काल, वर्तमान काल ही हो सकता है, और इसलिए कम-से-कम अस्थायी रूप से स्वीकार करना पड़ेगा, कि हम 'अभी' के परे नहीं जायेंगे। तो हमारे सामने तुरन्त ही प्रश्न उपस्थित होगा कि अभी की कालात्मक इयत्ताएँ क्या हैं ? पहले तो प्रश्न यह है कि क्या उनका कोई अस्तित्व भी है ? क्या 'अभी' एक और अविभाज्य है ? इसका उत्तर तुरन्त ही नकारात्मक दिया जा सकता है, क्योंकि काल से यह ध्वनि टपकती है कि उसका कोई 'पूर्व और अपर' है, जिसका परिणाम है उसके रूप की विभिन्नता; इसलिए इकाई का सीधा-सादा रूप काल नहीं हो सकता। ऐसी स्थिति में हमें वर्तमान काल को द्वैतात्मक मानने के लिए विवश होना पड़ता है।

एक मनोरंजक प्रश्न यह है कि उसमें कितने पाहलू हैं ? एक मत के अनुसार 'अभी' के भीतर हम भूत और वर्तमान दोनों के दर्शन कर सकते हैं। दूसरा सन्देह यह उत्पन्न होता है कि क्या ये दोनों वर्तमान काल के द्वारा विभाजित हो रहे हैं, और यदि यह बात है, तो ठीक-ठीक किस अर्थ में ? दूसरे मतानुसार, जिसको मैं अधिक पसन्द करता हूँ, भविष्यत् उपस्थित नहीं होता, अपितु रचना से उत्पन्न हो जाता है, और 'अभी' के भीतर केवल भूत काल में विलीन होती हुई एक वर्तमान-कालिक प्रक्रिया होती है। परन्तु यहाँ पर ये मतभेद, सौभाग्यवश, सर्वथा असंगत हैं। हमारे लिए केवल इस बात की आवश्यकता है कि हम 'अभी' के भीतर इसी प्रक्रिया को स्वीकार कर लें।

किसी प्रक्रिया को स्वीकार कर लेने से 'अभी' भीतर से छिन्न-भिन्न हो जाता है। 'पूर्व' और पश्चात् परस्पर भिन्न हैं। और उनकी विभिन्नता या पृथकता से विवश होकर हमें उनके बीच में एक सम्बन्ध की कल्पना करनी पड़ती है। ऐसा होते ही, वही जी उवा देनेवाला पुनः प्रारम्भ हो जाता है। अनेक पहलू, अनेक अंग बन जाते हैं, 'अभी' के अन्तर्गत अनेक 'अभी' हो जाते हैं और अन्त में इन 'अभियों' का पता नहीं लगता, क्योंकि काल के एक ठोस अंग के रूप में : 'अभी' का कोई अस्तित्व नहीं हो सकता है कि अवधि के खंड हमें संयुक्त न जान पड़े। परन्तु थोड़ा विचार करने पर उनका अन्तर्हित छद्म उघड़ जाता है। यदि वे अवधि नहीं हैं, तो उनमें 'पूर्व' और 'अपर' नहीं हो सकते। उनमें स्वतः न आदि होगा न अन्त, और वे स्वयं काल की परिधि के वाहर होंगे। परन्तु यदि यह बात है तो काल उनके बीच का सम्बन्ध मात्र है, और अवधि अकालतत्व के ऐसे असंख्य सम्बन्धों की शृंखला है जो,

मरी समझ में, स्वयं भी किसी-न-किसी प्रकार से सम्बद्ध होकर एक अवधि की सृष्टि करते हैं। परन्तु हम देख चुके हैं कि एक सम्बन्ध को ऐसी इकाई मानना जिसमें कि ये भेद विधेय रूप में प्रयुक्त हो सकें, कदापि बोधगम्य नहीं है। और यदि वह एक इकाई नहीं हो सकता तो काल तुरन्त छिन्न-भिन्न हो जाता है। परन्तु दोनों विकल्पों के असंभव परिणामों को सविस्तार वर्णन कर पाठकों को तंग करने से क्या प्रयोजन ? यदि उसने सिद्धान्त समझ लिया है तो वह हमारे साथ है। और अन्यथा अनिश्चित लांछन-तर्क का अवसान भी निःसंदेह है जो जुगुप्सा तर्क में होगा।

फिर भी काल की निरन्तरता को अस्वीकार करने से जो परिणाम होगा उसका मैं एक उदाहरण देता हूँ। इस उदाहरण में काल किसी-न-किसी प्रकार अ-काल के बीच क-ग-ङ के रूप में पड़ेगा परन्तु सभी घटनाओं में परिवर्तन की गति एक-सी नहीं होती, और मेरा अनुमान है कि ऐसा कोई नहीं कहेगा कि जब हम अपनी काल्पनिक इकाइयों पर पहुँच जाते हैं, तो वास्तविक और संभावित गति की सीमा निर्धारित हो जाती है। अच्छा तो हम एक ऐसी घटनावली की कल्पना करते हैं जो, अपने पूरे रूप में, उतना ही समय लेती हो जितना कि उपर्युक्त क-ग-ङ, परन्तु उसमें कुल मिला कर छः इकाइयाँ क-ख-ग-घ-ङ-च हों। ऐसी अवस्था में या तो ये द्वितीय सम्बन्ध (उदाहरण के लिए क और ख या ग और घ के बीच के सम्बन्ध) क और ग, ग और ङ के बीच पड़ेंगे, जिसका क्या अभिप्राय होगा, मैं नहीं जानता। अथवा क-ख का अन्तर उस क के बराबर होगा जो अकाल है——और जिसमें संभवतः कोई व्यतिक्रम नहीं है। यह बात, जहाँ तक मैं समझता हूँ, स्वतः विरोधी है। परन्तु यहाँ मैं यह भी कह देना चाहता हूँ कि यह सारा प्रश्न विस्तृत वाद-विवाद का इतना विषय नहीं है जितना कि सिद्धान्त-रूप में उसे समझ लेने का। किसी ने भी इस प्रश्न को कभी समझा हो और फिर वह मुख्य परिणाम पर पहुँचने में असमर्थ रहा हो, इसमें मुझे सन्देह है। परन्तु बहुत से सम्मान-प्राप्त लेखक हैं, जिनकी आलोचना करना यहाँ ठीक नहीं, उनकी समझ में यह प्रश्न कभी आया ही नहीं।

इस प्रकार यदि उस काल के अन्तर्गत, जिसको हमने उपस्थित या वर्तमान कहा है, किसी व्यतिक्रम का अस्तित्व हो, तो वह काल एक द्विविधा से छिन्न-भिन्न होकर आभास-मात्र रह जाता है। परन्तु यदि वर्तमान या उपस्थित को अकाल मानें तो एक दूसरा संकट सामने आता है। ऐसी अवस्था में भूत और भविष्यत् के साथ वर्त्तमान का जो सम्बन्ध है वही काल होगा। और, जैसा कि हम देख चुके हैं सम्बन्ध के साथ भिन्नता या एकता की बात जमती नहीं। और फिर, भूत-भविष्यत् का अस्तित्व जो उपस्थित (वर्तमान) न हो अस्पष्ट ही प्रतीत होता है। परन्तु इसको

छोड़ भी दें तो काल एक ऐसी अनन्त प्रक्रिया में विलीन हो जाता है जो स्वयं उससे परे है। यह इकाई सदा ही किसी 'पर' के साथ, जो उससे परे हो, सम्बन्ध मात्र होगी, ऐसी वस्तु जिसे अन्त में अप्राप्य ही करना पड़ेगा। और यह प्रक्रिया उसके कालात्मक स्वरूप तथा उसकी इयत्ता की निरन्तरता के कारण (निरन्तरता, जो कि दी हुई अवस्था का अतिक्रमण कर जाती है) उस पर आरोपित हो जाती है।

अतः, दिक् की तरह, काल भी स्पष्ट रूप से सत् नहीं, अपितु विरोधयुक्त आभास ही सिद्ध हुआ। अगले अध्याय में मैं परिवर्तन-सम्बन्धी कुछ चर्चा के साथ इसी परिणाम की पुष्टि करूँगा तथा एक बार फिर उसे सामने प्रस्तुत करूँगा।

पाँचवाँ अध्याय

गति तथा परिणति और उसका प्रत्यक्षीकरण

मैं जानता हूँ कि इस अध्याय में बहुत-सी पुरानी चर्चा दुहरायी जायेगी। यह मैं अपनी खुशी के लिए नहीं लिखता, अपितु पाठकों को सुदृढ़ आधार देने के लिए. जिस किसी को यह विश्वास हो कि परिवर्तन एक आत्म-विरोधी आभास है, उसके लिए शायद यह अच्छा हो कि वह वहाँ जाए जहाँ उसे अपनी दिलचस्पी का कोई सामान मिले।

बहुत प्राचीनकाल से ही गति की बड़ी कटु आलोचना होती आ रही है, परन्तु उसका सफलतापूर्वक समर्थन कभी नहीं किया गया। मैं संक्षेप में उस सिद्धान्त की ओर संकेत करूँगा जिस पर ये आलोचनाएँ आधारित हैं। गति का अर्थ यह है कि गतिशील एक ही काल में दो स्थानों में ले जाया जाता है; और यह बात सम्भव नहीं प्रतीत होती। यह बात तो बिल्कुल स्पष्ट है कि गति का अभिप्राय दो स्थानों से होता है और यह भी उतना ही स्पष्ट है कि ये स्थान पूर्वापर-सम्बन्ध रखनेवाले होते हैं। परन्तु, दूसरी ओर, यह भी स्पष्ट है कि सारी प्रक्रिया में एकता होनी चाहिए। इसका अभिप्राय यह है कि गतिशील वस्तु एक हो और काल भी एक हो। यदि काल एक न होकर अनेक हों और ये अनेक काल एक-दूसरे से सम्बद्ध अथवा एक ही कालात्मक अंगी के अंग न हों, तो कोई गति ही न होगी। परन्तु यदि यह काल एक है, तो जैसा कि हम देख चुके हैं, यह सम्भव नहीं कि वह अनेक भी हो।

एक सामान्य व्याख्या का ढंग यह है कि दिक् और काल दोनों को पृथक् अस्तित्व वाली मनचाही सुसंगत इकाइयों में बाँट दिया जाए। व्यतिक्रम को इन दोनों के बीच में किसी प्रकार आ पड़ने वाला माना जाता है। परन्तु सैद्धान्तिक हल की दृष्टि से, यह व्यवस्था मूर्खतापूर्ण है। इस प्रसंग में गति का आधिक्य नितान्त असम्भव है, और अकाल (काल रहित) इकाइयों के बीच में आनेवाला व्यक्तिक्रम वस्तुतः जैसा कि हम देख चुके हैं, कोई अर्थ नहीं रखता। और फिर हमें इस बात का उत्तर नहीं मिलता और न मिल सकता है कि, जिसके-द्वारा अवधि का निर्माण होता है,

व्यक्तिक्रमों की वह इकाई कहाँ स्थित होगी ; और फिर यह भी समझ में नहीं आता कि इस बेमेल जंजाल का गति-प्राप्त पिंड से क्या सम्बन्ध है। केवल इतना ही स्पष्ट है कि दिक् में होने वाली गति से परिवर्तन की समस्या का कोई हल नहीं मिलता। इसके द्वारा दिक् में एक और ऐसी बात आ जाती है जिससे सिद्धान्त को समझने में कोई सहायतानहीं मिलती; अपितु उलटे इसके द्वारा परिवर्तन की अयुक्तताएँ और अधिक स्पष्ट हो जाती हैं। इसके कारण सभी विचारवान् व्यक्तियों के लिए एक नयी समस्या खड़ी हो जाती है; और वह है परिवर्तित वस्तु की पहचान के विषय में। परन्तु काल में होनेवाला परिवर्तन अपनी समस्त असंगतियों-सहित दिक् के भीतर होने वाली गति के मूल में स्थित है। और यदि इसका अस्तित्व सिद्ध नहीं हो सकता, तो गति तुरन्त ही असिद्ध हो जाती है।

परिवर्तन की समस्या गति में निहित है, परन्तु वह स्वयं आधारभूत नहीं। वह फिर, एक और अनेक, भेद और अभेद, विशेषण और वस्तु, गुण तथा सम्वन्ध के द्वन्द्व की ओर संकेत करती है। हमारे प्रयत्नों को विफल करनेवाला प्रश्न यह था कि कोई वस्तु अन्य कैसे हो सकती है। सिद्धान्ततः परिवर्तन इस द्वंद्व के आगे और कुछ भी नहीं है। इससे या तो एक असंगत जटिलता का समावेश और हो जाता है, अथवा यह निराकरण के अंध-प्रयत्न में फँस जाता है। अच्छा तो, पुनरुक्ति की चिन्ता न करते हुए आइए हम इस विषय को स्पष्ट कर लें।

यह स्पष्ट है कि परिवर्तन किसी-न-किसी का होता है और यह भी निश्चित है कि उसमें द्वैत रहता है। अतः वह, एक को दो वतलाने से, पिछले अध्यायों की तरह आग्राह्य हो जाता है। परन्तु उसके बचाव में यह कहा जा सकता है, 'हाँ, दोनों पर जोर दिया जाता है, परन्तु दोनों को एक में नहीं, एक सम्वन्ध के द्वारा इकाई तथा द्वैत दोनों संयुक्त कर दिये जाते हैं।' जो हो, हमारी सम्बन्ध-विषयक-समीक्षा ने इस दाँव को पहले से ही विफल कर दिया है। हम देख चुके हैं कि जब पूर्ण इकाई सम्बन्धो और व्यंजकों के रूप में विभक्त हो जाती है तो वह नितान्त स्वयं-विरुद्ध हो जाती है और आप न तो दूसरे भाग के एक अंग को, और न पूर्ण इकाई के किसी एक अथवा समस्त अंगों को, यथार्थतः विधेय रूप में ग्रहण कर सकते हैं। और इन तत्त्वों को आत्मसात् करने के प्रयत्न में, अंगी की पूर्ण इकाई स्वयं अपनी ही हत्या कर डालती है। और अपने साथ-साथ उनको भी नष्ट कर डालती है। इन निष्ठुर नियमों को दुहराने से कोई लाभ नहीं। अतः, आइए, हम केवल यह देखें कि उनके क्षेत्र में प्रवेश करके परिवर्तन किस प्रकार अपनी आत्मप्रवंचना करता है।

कोई वस्तु परिवर्तनशील है, अतः वह स्थायी नहीं हो सकती। दूसरी ओर, यदि

क स्थायी नहीं है, तो परिवर्तनशील होने वाला क्या है ? वह क के अतिरिक्त कुछ और भी होगा। दूसरे शब्दों में, यदि क कालगत परिवर्तन से रहित है, तो वह बदलेगा नहीं। परन्तु यदि उसमें परिवर्तन है, तो वह तुरन्त क-१, क-२, क-३, होने लगेगा, और इस प्रकार हमारे पास कुछ और ही हो जायगा, परन्तु यदि यह बात है, तो क तथा उसका परिवर्तन कहाँ गया ? उसी समस्या को हम इस प्रकार भी रख सकते हैं। क की विभिन्न अवस्थाओं का अस्तित्व एक ही काल में होना चाहिए और फिर भी यह असम्भव है, क्योंकि वे क्रमागत हैं।

पहले हम क को अकाल अथवा कालातीत रूप में ग्रहण करते हैं। इस अवस्था में परिवर्तन की क्रमागति या तो उसमें होगी अथवा नहीं होगी। यदि उसकी क्रमागति हो, तो क्रमागति तथा क के बीच क्या सम्बन्ध होगा ? यदि उसमें नहीं होगी तो क परिवर्तित नहीं हो सकता। यदि उसमें मानते हैं, तो क में अज्ञात रूप से एक द्वैत घुस पड़ता है जो उसकी प्रकृति के, तथा हमारी समझ के बाहर की बात है। और फिर, यह द्वैत स्वयं एक जटिल समस्या बन जाता है। यदि हम परिवर्तन का पूर्ण परिहार न कर दें तो अकाल क के साथ कोई अप्रमेय सम्बन्ध को स्थापित किये हुए, हम एक ऐसे कालात्मक परिवर्तन को पाते हैं जिसमें हमारी पुरानी कठिनाइयाँ ज्यों-की-त्यों विद्यमान मिलती हैं।

क को काल-माला के अन्तर्गत मानना पड़ेगा, और यदि यह बात है, तो प्रश्न उपस्थित होगा कि उसमें अवधि है या नहीं, दोनों ही विकल्प घातक हैं। यदि परिवर्तन के लिए आवश्यक अद्वैत काल का अभिप्राय एक अवधि से हो, तो यह स्वयं विरोधी है, क्योंकि कोई अवधि अकेली नहीं हो सकती। भावी इकाई अनन्त द्वैत में विभक्त हो कर विलीन हो जाती है। अवधि-खंड, जिनमें से प्रत्येक में पूर्व और अपर होता है, एक-दूसरे से विभक्त होते-होते किसी असत् के सम्बन्धमात्र रह जाते हैं। और जो पृथक् अस्तित्ववान है उसके सम्बन्धों में व्यक्तिक्रम की स्थिति मानने से बड़ी हास्यास्पद स्थिति उत्पन्न हो जाती है और यह भी किसी प्रकार सम्भव नहीं कि इन सम्बन्धों की, किसी अनेकता को सुबोध ढंग से, एकत्र करके एक अद्वैत अवधि में परिणत कर दिया जाए। अतः संक्षेप में यदि परिवर्तन के लिए आवश्यक एक अद्वैतकाल से अभिप्राय एक अद्वैत अवधि से है, तो वह एक नहीं हो सकता और न फिर परिवर्तन का होना ही सम्भव है।

दूसरी ओर, यदि परिवर्तन वस्तुतः केवल एक अद्वैत काल के अन्तर्गत है, तो वह केवल कोई परिवर्तन नहीं। क की अनेकता क्रमागत और साथ ही एक साथ होना आवश्यक है, निःसन्देह यह स्पष्ट ही परस्पर विरोधी हैं। यदि अवधि न हो

और काल एक अद्वैत हो तो वह कोई काल नहीं, और जब हम विचार करते हैं तो इस सूक्ष्म विषय में अनेकता तथा पूर्वापर परम्परा की बात करना सम्भव नहीं प्रतीत होता। निःसन्देह इस कथन के लिए सबसे अच्छा यह हो सकता है कि यह निरर्थक है। यदि ऐसा है तो किसी भी मान्यता के आधार पर परिवर्तन सम्भव नहीं हो सकता। वह आभास के अतिरिक्त और कुछ नहीं हो सकता।

अब आइए, हम उसकी प्रमुख विशेषताओं को देखें। उसके अन्तर्गत विविध एकीकरण की आवश्यकता और असम्भावना दोनों ही हैं। यह भेद उस पूर्ण या सर्वात्मिक इकाई में प्रादुर्भूत हो गये, जो पहले व्यवधानरहित थी। परन्तु, यदि ये भेद उससे पूर्णतया पृथक् हो जाएँ, तो वे क्षीण होकर नष्ट हो जाते हैं। परन्तु फिर भी उस पूर्ण इकाई के भीतर उनके विद्यमान होने से वह पहले से ही छिन्न-भिन्न है। और वे शून्यता को प्राप्त हैं। सामान्य रूप से सर्वत्र और विशेष रूप से काल के एक स्वरूप में सम्बन्धात्मक स्वरूप ही एकमात्र स्वभाविक हल मालूम पड़ता है। अयुक्तताओं का यह कोई हल नहीं, अपितु हम इसे अयुक्तताओं को प्रलंवित करने का एक ढंग कह सकते हैं। यह एक ऐसा उपाय है जिसके द्वारा हम अवसर के अनुकूल दोनों ओर से आँखें मूँद लेते हैं। और सारा रहस्य यही ठहरता है कि हम जिस पक्ष का उपयोग नहीं कर सकते उसकी उपेक्षा कर देते हैं। इस प्रकार यह आवश्यक है कि क बदले, और परस्पर अयुक्त दो विशेषताएँ, इस हेतु, एक साथ विद्यमान हैं। द्वैत की परम्परा या क्रमागति हो, परन्तु फिर भी काल एक अद्वैत हो। दूसरे शब्दों में क्रमागति जब तक वर्तमान न हो, तब तक वस्तुतः वह क्रमागत नहीं हो सकती है और हल यही होता है कि जिस पक्ष को लेने से काम चले, उसको ग्रहण कर लें और दूसरे पक्ष के विरोध की उपेक्षा कर दें अर्थात् उसको देखने में असमर्थ हों या उसको अस्वीकार कर दें। यदि आप किसी अवधि-खंड को वर्तमान अद्वैत मानते हैं, तो इसका अभिप्राय यह है कि आप उसके पृथक् अस्तित्व का कोई विचार नहीं करते। और केवल, उसके तत्वों को ध्यान में रखते हुए उसे एक इकाई मान लेते हैं। दूसरी ओर पृथक् अस्तित्व को छोड़कर अन्य किसी भी पक्ष को भूल जाना अति सरल है। परन्तु इन दोनों पक्षों का मिलन एक ही परिवर्तन का पूर्ण रूप है। इसके अन्तर्गत दोनों ही एक साथ रहते हैं, और समय-विशेष पर जो प्रमुख होता है, उस पर जोर दिया जाता है, जब कि तात्कालिक कठिनाइयों को द्रुत-हेर-फेर द्वारा दृष्टि से बाहर रखा जाता है। इस प्रकार जब हम यह कहते हैं कि क बदलता है तो उसका अभिप्राय यह है कि एक वस्तु का स्वरूप भिन्न समयों पर भिन्न-भिन्न होता है। हम इस द्वैत को क के गुणात्मक व्यक्तित्व से सम्बद्ध कर देते हैं और इस प्रकार

सर्वत्र समन्वय प्रतीत होता है। हाँ, हम अवश्य ही, अव तक, जान गये हैं कि इसमें घोर अयुक्तता है, परन्तु यहाँ पर यह वात प्रमुख नहीं है। प्रमुख तो यह है कि अभी तक हम क के परिवर्तन तक नहीं पहुँच पाये। अव भी हम विभिन्न क्षणों और वदलती हुई अवस्थाओं के साथ येन-केन-प्रकारेण सम्वन्धित क तत्त्व के एकत्व को परिवर्तन नहीं समझ रहे हैं। इसमें तो किसी को विरोध नहीं हो सकता है कि किसी गुण-विशेष की एकत्व का उपर्युक्त द्वैत के साथ कालात्मक सम्वन्ध होना आवश्यक है। दूसरे शव्दों में यदि पूरी प्रक्रिया एक अवस्था न हो तो विभिन्न क्षण उसके अंग नहीं हो सकते, और यदि यह वात हो, तो उनमें परस्पर कालात्मक सम्वन्ध नहीं हो सकता। दूसरी ओर, किसी भी अवधि-पर्यन्त क केवल क ही रहता है और क के रूप में अभी तक वह अपरिवर्तित रहता है। इस प्रकार विचार करने पर हम कह सकते हैं कि उसकी अवधि वर्तमानता मात्र है और उसमें कोई व्यतिक्रम नहीं। परन्तु उसी अवधि को यदि क की वदलती हुई अवस्थाओं की परम्परा समझी जाय, तो उसमें कई खण्डों का अस्तित्व मानना पड़ेगा, । दूसरी ओर यदि इस समस्त परम्परा को एक ही क्रम या युग समझा जाए तो वह इकाई में परिणत होकर पुनः वर्तमानमात्र रह जाती है। हम विना किसी शंका के कह सकते हैं कि वर्तमान युग पर्यन्त क की प्रक्रियाएँ नियमित रही हैं। इसके वढ़ने का क्रम साधारण है और उसकी वर्तमान अवस्था ज्यों-की त्यों हैं, परन्तु इस युग के व्यतिक्रम-काल में ख की अवस्था के अन्तर्गत असंख्य परम्परागत भेदों का अस्तित्व पाया गया, ख के अपरिवर्तनशील सम्भ्रम और क की स्वस्थ परिवर्तन-परम्परा के समसामयिक होने से प्रकट है कि एक ही वेला में हम गति या विश्राम को पा सकते हैं। इसमें शायद ही कोई अतिशयोक्ति होगी। परन्तु इस कथन से यह डाँवाडोल स्थिति स्पष्ट प्रकट होती है कि हमने पृथक् पक्षों पर विना किसी सिद्धान्त के वलपूर्वक आसन जमा रखा है। और सारी कल्पना मूलतः इसी डाँवाडोल स्थिति पर आधारित है। भेदों को किसी सुसंगत सिद्धान्त-द्वारा एकत्र करने में हम पूर्णतया असफल रहे और जिस एक-मात्र व्यवस्था के दर्शन होते हैं वह यह है कि सुसंगतता का व्यवस्थित रूप से परित्याग किया जाता है। एक तथ्य को एक-एक करके दोनों पक्षों से देखा जाता है, परन्तु इन पक्षों को एक सुवोध इकाई में संयुक्त नहीं किया जाता है। मेरा विश्वास है कि पाठक इस वात से सहमत होंगे कि उनकी सुसंगत इकाई सम्भव नहीं। अतः परिवर्तन की समस्या का तव तक कोई हल नहीं, जव तक कि परिवर्तन को केवल आभास की श्रेणी में न डाल दिया जाय।

इस अध्याय को समाप्त करते हुए, मैं क्रमागति के प्रत्यक्षीकरण अथवा उसकी

विशेपता के सम्वन्ध में कुछ कहूँगा । यहाँ मैं इस विपय पर केवल तत्वज्ञान की दृष्टि से ही विचार करूँगा और अपनी मनोवैज्ञानिक दृष्टि को किसी अन्य अवसर के लिए सुरक्षित रखूंगा । जहाँ तक मैं जानता हूँ, अच्छे-से-अच्छे मनोवैज्ञानिक भी इस वात से सहमत होते जा रहे हैं, कि इस प्रत्यक्षीकरण के लिए किसी-न-किसी प्रकार की अद्वैतता आवश्यक है । वे इस वात को समझते हैं कि कोई माला या परंपरा तव तक एक नहीं हो सकती और इसलिए माला तव तक माला भी नहीं हो सकती, जव तक उसमें एक ऐसी सर्वसमता न हो जो उसके समस्त अंगों को एक सूत्र में सम्वद्ध रख सके । जो व्यक्ति इस सर्वसमता (आइडेंटिटी) को अस्वीकार करता है वह वस्तुतः तभी ऐसा कर पाता है जव वह अपने अविचारशील मन में उसकी गुप्त रूप से कल्पना कर लेता है । अतः इस सामान्य सिद्धान्त को सुस्थापित मानने का साहस करता हुआ, अव मैं ऐसे दृष्टि-विन्दु को लेता हूँ जो तत्त्वज्ञान की दृष्टि से और अधिक महत्वपूर्ण है ।

यह स्वीकार कर लेने पर भी क्रमागति अथवा, यहाँ प्रत्यक्षीकृत क्रमागति एक अद्वैत इकाई से सम्वन्धित होती है । यह प्रश्न उपस्थित होता है कि इस इकाई का सामान्यतया और पृथक्-पृथक् करके क्या स्वरूप होता है ? यह प्रश्न मनोवैज्ञानिक दृष्टि से कठिन भी है और मनोरंजक भी है । परन्तु मैं अपने को केवल कुछ संक्षिप्त चर्चा तक ही सीमित रखूँगा जो इस स्थान पर आवश्यक है । प्रायः कहा जाता है कि अद्वैतता काल-रहित अथवा कम-से-कम निरवधि है । दूसरी ओर सम्भवतः जगत् की साधारण प्रपंच-परंपरा में इसको, यदि एक स्थान नहीं तो एक समय तो अवश्य प्राप्त है और इस अर्थ में यह एक घटना (घटितवान) है । मैं क्रमागति को किसी प्रकार से अविभाज्य क्षण अर्थात् बिना किसी कालक्षेप के—प्रतीयमान होने वाला और अभी तक अक्षरशः समसामयिक मानता हूँ । ऐसे किसी भी सिद्धान्त के प्रति बहुत ही घातक आपत्तियाँ उठायी जा सकती हैं, जिनमें से कुछका उल्लेख मैं यहाँ पर कर रहा हूँ ।

(१) पहली आपत्ति केवल कुछ लोगों के प्रति ही लागू होती है । यदि उस काल कर्म में कोई सम्बन्ध है और यदि वह सम्वन्ध भी किसी वास्तविक अद्वैत से सम्बन्धित है तो क्रमागति की समस्या इस अकाल इकाई के भीतर पुनः अनन्त होकर उठ पड़ती है ।

(२) परन्तु जो लोग इस प्रथम आपत्ति की भूमिका को अस्वीकार करते हैं उनसे निवेदन है कि वे इन्हीं बिन्दुओं पर अपनी सफाई पेश करें । अकाल कर्म निरवधि है, और फिर भी वह एक मानसिक घटना है, अर्थात् उसको इतिहास में

एक स्थान दिया जा सकता है, क्योंकि यदि यह बात नहीं तो वह हमारे प्रत्यक्ष ज्ञान से कैसे सम्बन्धित है ? परन्तु, यदि वह कालगत पूर्वापरता एक घटना है, तो वह निरवधि कैसे हो सकता है ? वह काल के भीतर घटित होता है और फिर भी उसके घटित होने में कोई समय नहीं लगता, अथवा वह काल के भीतर नहीं घटित होता, यद्यपि वह तिथि-विशेष पर घटित होता है। यह किसी ऐसी वस्तु का विवरण नहीं प्रतीत होता; जो सत् हो, अपितु यह एक चौड़ाई-रहित लम्बाई की भाँति मनगढ़ंत है। और यदि यह प्रस्तुत समस्या, अर्थात् एक मतानुसार क्रमागति निरवधि है, को प्रकट करने का केवल एक ढंग-मात्र है, तो यह बुरा ढंग प्रतीत होता है। परन्तु यदि इसका अर्थ कुछ और है, तो कम-से-कम वह समझ से बिलकुल परे है।

(३) और वह और भी अधिक निश्चित रूप से ऐसा ही होगा, क्योंकि उसकी इयत्ता निश्चित रूप से क्रमागत पूर्वापरता की विशेषता रखने वाली है। यह विशेषता एक तथ्य है। और यदि यह बात है तो मानसिक कालक्षेप भी एक तथ्य है, और ऐसा होने पर इस तथ्य का अ-काल इकाई से स्पष्ट विरोध आ पड़ता है। यह कहना कि यह क्रमागति जिस रूप में प्रयुक्त होती है उसमें वह एक विचार-मात्र या इयत्ता-मात्र है न कि मानसिक तथ्य एक महान सिद्धान्त को अनुचित रूप में लागू करने का व्यर्थ प्रयत्न होगा। यह बात पूरी तरह से सच नहीं है कि विचार अपने अभि-प्रायों से भिन्न होते हैं, क्योंकि यदि उनका अर्थ एक मानसिक तथ्य नहीं है, तो मैं यह जानना चाहूँगा कि उसका अस्तित्व कैसे और कहाँ है। प्रश्न यह है कि क्रमागति किसी भी अर्थ में, हमारे बोध में किसी वास्तविक क्रमागति के समावेश हुए बिना ही हमारे मन के समक्ष उपस्थित हो सकती है या नहीं ? यदि आपको कोई कालक्षेप अभिप्रेत नहीं है तो इसका अभिप्राय यह है कि आपने प्रतीक्षा को छोड़ दिया है। परन्तु यदि आपका अभिप्राय उससे है तो यह बतलाइए कि वह किसी वास्तविक मानसिक परिवर्तन के रूप में आये बिना, आपके मन के समक्ष विचार के रूप में कैसे उपस्थित हो सकता है ? मुझे इसका कोई भी सुबोध उत्तर ज्ञात नहीं, और मैं इस परिणाम पर पहुँचा हूँ कि इस प्रत्यक्षीकरण में जिस-किसी का भी प्रत्यक्ष होता है वह एक वास्तविक क्रमागति है और इसलिए स्वयं प्रत्यक्ष में कोई-न-कोई अवधि होनी चाहिए।

(४) और यदि उसमें कोई अवधि नहीं है, तो मैं नहीं जानता कि प्रत्यक्षीकृत काल के पूर्व और अपर से वह कैसे सम्बन्धित हो सकता है, और इसकी क्रमागति अपनी सभी उलझनों के सहित मुझे उससे बहिर्गत प्रतीत होती है। (तु० स० १)

(५) अन्त में, यदि घटनाओं में से कोई भी निरवधि हो सकती है, तो यह स्पष्ट

है कि ऐसी कइयों की एक परम्परा या शृंखला भी सम्भव है, जिनमें से प्रत्येक निरवधि होगी और मैं नहीं जानता कि इससे उत्पन्न होनेवाले बेतुके परिणामों से बचना अथवा उनका सामना करना कैसे सम्भव हो सकता है।

संक्षेप में यह उद्भावना एक अप्राकृतिक कल्पना-मात्र है। यह कोई कामचलाऊ कल्पना भी नहीं, जिसको काम चलाने-भर को स्वीकार किया जा सके, क्योंकि अन्य अधिकांश अप्राकृतिक सृष्टियों की भाँति यह भी वस्तुतः निरर्थक है, निरीह है। यह निकम्मी ही नहीं, घातक भी है क्योंकि इसने ध्यान को प्रश्न से हटाकर उसके उत्तर पर केन्द्रित कर दिया है।

यह बात उस पाठक के लिए बिलकुल स्पष्ट होगी जिसने हमारे तत्वज्ञानीय विवेचन को अभी तक समझा है। हमने देखा कि क्रमागति के लिए अद्वैत और द्वैत दोनों की आवश्यकता है। इन दोनों का बुद्धिगम्य ढंग से एकीकरण नहीं किया जा सकता। और उनका एकीकरण एक संयोजन-मात्र है, जिसमें कभी एक पक्ष पर अधिक बल दिया जाता है और कभी दूसरे पर। इसलिए मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी अ-काल इकाई एक अवधि है जो अनुभव में क्रमागत प्रतीत नहीं होती। निःसंदेह जो भी मानसिक है, वह एक घटना है और उसके अंतर्गत वस्तुतः कालक्षेप है, परन्तु जब तक आप उस कालक्षेप को देखते नहीं या आप उसका उपयोग नहीं करते तब तक आपके लिए और प्रस्तुत प्रश्न के लिए उसका कोई अस्तित्व नहीं। दूसरे शब्दों में परिवर्तन के प्रत्यक्षीकरण में एक स्थायीतत्व है जो पूरी क्रमागति में विद्यमान रहता है, और उसकी इकाई को जीवित रखता है। यह स्थायी तत्व एक तो इसलिए ऐसा कर सकता है कि यह अवधि और, तत्वतः अनन्ततः विभाज्य है। दूसरे जहाँ तक यह विचार, अनुभूति और उपयोग का विषय है वहाँ तक यह एक और अविकारी है। यह विशिष्ट और स्थूल सर्व-समताएँ, जो इस प्रकार बदल करके भी नहीं बदलतीं, उन विशिष्ट क्रमागतियों की कुञ्जी हैं, जिनका प्रत्यक्षीकरण किया जाता है। वर्तमान कोई एकान्तिक अकालता नहीं; जहाँ तक कि एक ही पक्ष से उसका विचार या अनुभव किया जाता है, वहाँ तक वह एक अवधि-मात्र है। और कालक्षेप के इस सापेक्षिक अभाव-मात्र को एकान्तिक अकाल की उस अप्राकृतिक कल्पना का कुरूप दे दिया गया है जिसे हमने अग्राह्य मानने का साहस किया है।

परन्तु हमारे काल-प्रत्यक्षण की कोई विशेषता सम्भव है या नहीं, यह देखना एक बात है और यह स्वीकार करना बिल्कुल दूसरी बात है कि यह विशेषता जिस रूप में है, उसमें यथार्थता के विषय में कोई सच्ची बात बतलाती है या नहीं। और जैसा कि हम देख चुके हैं, यह असम्भव है। हमको यह कहने के लिए विवश होना पड़ता

है कि क निरंतर है और पृथक् अस्तित्ववाला भी, क्रमागत भी है और वर्तमान भी और उसको कभी एक और कभी अनेक मानने की हमारी रीति स्पष्ट बतलाती है कि हमारा व्यवहार कैसा है। प्रस्तुत समस्या हमसे इस बात का उत्तर माँगती है कि यह विभिन्न पक्ष और प्रसंग एक ही वस्तु में सुसंगत रूप में कैसे एकत्र हैं, यह एकत्रीकरण हमारे मनों के बाहर हो या भीतर, इसमें कोई अन्तर नहीं पड़ता। और यदि इन विशेषताओं के एकीकरण में हम असफल रहें, जो कि निश्चित है, जो इसका अभिप्राय है कि हमने समस्या को उलझा हुआ ही छोड़ दिया। और यदि यह उलझी रही तो परिवर्तन और गति आंतरिक दृष्टि से परस्पर अयुक्त और असंगत रहेंगे और उनको आभासमात्र ही मानना पड़ेगा। और लाचार होकर हम सम्भाव्य और वास्तविक-जैसे शब्दों का प्रयोग करें और उनके द्वारा समन्वय-सिद्धि का प्रयत्न करें तो इसका अभिप्राय यह है कि हम प्रश्न को ज्यों-का-त्यों छोड़ते हैं। इन शब्दों से हमारा अभिप्राय यह होगा कि वस्तु का अस्तित्व होते हुए भी नहीं होगा। और हम केवल स्वार्थवश इन असंगत पक्षों को एकत्र मानना पसंद करते हैं। परन्तु ऐसा कहने का कि समस्या अभी सुलझी नहीं है, यह एक दूसरा, यद्यपि सम्भवतः विनम्र, ढंग है।

अगले अध्याय में हम इन्हीं कठिनाइयों को दूसरे प्रयोगों में कुछ और आगे बढ़कर देखेंगे।

छठा अध्याय

कार्य-कारण-सम्बन्ध

इस अध्याय का पहला उद्देश्य तो यह है कि कार्य-कारण-सम्बन्ध की प्रमुख असं-गतियों का दर्शन कराया जाय और दूसरा यह है कि काल की निरंतरता से उत्पन्न होने वाली कठिनाई दिखलायी जाय। सामान्य प्रश्न के कुछ अन्य पक्षों पर अगले अध्यायों में विचार किया जायगा।

कार्य-कारण-सम्बन्ध को परिवर्तन या विकार का हेतु बतलाने की दिशा में एक प्रयत्न माना जा सकता है। क बदलकर ख हो जाता है और यह विकार या परिवर्तन कैसे असंगत प्रतीत होता है। केवल क फिर भी केवल क ही होगा, और यदि वह बदल-कर कुछ भिन्न हो जाता है तो इसका अभिप्राय है कि उसका सम्बन्ध किसी और से हो गया। दूसरे शब्दों में इस विकार का कोई कारण होना चाहिए। परन्तु संतोषजनक कारण ढूंढ़ने का प्रयत्न व्यर्थ है।

हम देख चुके हैं कि जो क है वही ख नहीं है, और न वह ख का कोई सम्बन्ध "ख के सहित या क-ख के रूप में बदलता हुआ" का अर्थ वही नहीं है जो कि क का,है और हम ऐसे किसी भी उपाय को नहीं ढूंढ़ सके जो कि इनको ऐसे क से संयुक्त कर देता जो आभास-मात्र से अधिक होता। कार्य-कारण-सम्बन्ध के प्रसंग में, हमें इस संयोजन के एक नये प्रयत्न पर विचार करना चाहिए, और यह अत्यन्त सरल है। क बदलकर ख हो जाता है तो यह कथन यदि स्वतः विरोधी है, तो क में कुछ और जोड़ दो जिससे कि बोझ कुछ बँट जाए। अतः यदि क+ग बदलकर ख हो जाता है, यह कहा जाए तो सम्भवतः कुछ बचत हो सके। परन्तु सैद्धान्तिक विचार करने पर, यह बचत व्याघातों का एक महाजाल सिद्ध होता है।

यदि इनका सविस्तार वर्णन किया जाए, तो इससे कोई काम नहीं निकलता, क्योंकि विषय के मूल को तुरंत ही प्रस्तुत किया जा सकता है। यदि कार्य का क्रम कारण से भिन्न है, तो इस भेद के आरोपण का सुबोध बचाव क्या हो सकता है ? दूसरी ओर, यदि वह भिन्न नहीं है, तो कार्य-कारण-सम्बन्ध का कोई अस्तित्व नहीं, और उसका

प्रस्तवन एक तमाशा-मात्र है। इस आधारभूत द्विविधा से बच निकलने का कोई उपाय नहीं।

कारण में हमें सिद्धान्तहीन गोल-माल का एक नया उदाहरण तथा शुद्ध कपोल कल्पना का दूसरा दृष्टांत प्राप्त होता है, और इसका यह स्वरूप तुरंत ही प्रकट हो जाता है। कारण केवल क नहीं हो सकता, यह तो अत्यन्त असह्य प्रतीत होगा। कारण क+ग था, परन्तु यह संयोजन अर्थहीन प्रतीत होता है। सम्बन्धों के स्वरूप की खोज करते हुए हम जिस परिणाम पर पहुँचे (अध्याय ३) उसके होते हुए भी यह संयोजन प्रस्तुत किया गया, यद्यपि उस परिणाम के द्वारा वह पहले ही निर्मूल और छिन्न-भिन्न हो चुका है। लेकिन देखिए, यह अपना काम कैसे करता है। अच्छा तो क+ग का परिणाम ख है, इस उक्ति में ग की वृद्धि से क में या तो कोई अंतर आता है या नहीं आता। पहले मान लीजिए कि क में अन्तर आता है। परन्तु यदि यह बात है, तो क में पहले ही परिवर्तन हो गया, और इसलिए कार्य-कारण की समस्या कारण के भीतर ही फूट पड़ी। क और ग मिलकर क+ग हो जाते हैं और फिर वही पुरानी पहेली शुरू हो जाती है जिससे क और ग बदलकर दूसरे ही कुछ हो जाते हैं। यहाँ तो हमें केवल क से सम्बन्ध है। परन्तु निःसन्देह ग के साथ भी वही कठिनाई है। इसलिए हमको अपनी भूल सुधारनी पड़ती है और कहना पड़ता है कि केवल क और ग नहीं, अपितु क तथा ग+घ बदलकर क+ग और इसी तरह ख हो जाते हैं। परन्तु यहाँ हमें स्पष्ट ज्ञात हो जाता है कि हम कारण के भीतर एक अनंत प्रत्यावर्तन के भँवर-जाल में पड़ जाते हैं, तो ऐसा होने के लिए भी कोई कारण होना चाहिए और इस प्रकार कारण ढूँढ़ने का कोई अन्त नहीं दिखायी देता।

अथवा, आइए, अब हम दूसरे विकल्प को लें और निःशंक भाव से यह कहें कि क+ग में (जो ख का कारण है) उनके पारस्परिक संबंध का क अथवा ग पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता और फिर भी वह कार्य की निष्पत्ति कर देता है। इसका अभिप्राय यह है कि यद्यपि क+ग के संयोग का कोई प्रभाव नहीं पड़ता, फिर भी हमने कार्य-द्वारा प्रदर्शित भेद का जो आरोप कारण पर किया उसका औचित्य इससे स्पष्टतः प्रमाणित हो गया। परन्तु (कारण से प्रारम्भ करके) तत्वों का ऐसा संयोग नितान्त अबुद्धिगम्य दिखलाया जा चुका है (अध्याय ३) और यदि कोई यह बचाव पेश करें कि यह तो हमारा अपना ढंग है तो इसका उत्तर दो प्रकार से है। यदि यह केवल हमारा अपना ढंग है, तो या तो इसका प्रस्तुत वस्तु से कोई सम्बन्ध नहीं अथवा इसको केवल एक व्यावहारिक कपोल कल्पना स्वीकार कर लिया गया। दूसरी ओर, यदि जिस वस्तु को हम प्रमाणित करने के लिए तैयार हैं, उस वस्तु से सम्बन्धित यह हमारा अपना ढंग

है, तो प्रमाण को उपस्थित करना आवश्यक है। परन्तु यह कहने के अतिरिक्त कि हमारी विचार-प्रणाली सुसंगत है और कोई उपाय उस प्रमाण को उपस्थित करने का नहीं है। दूसरी ओर सत् के प्रसंग में अपने दृष्टिकोण को लगाने में हमने जो हिचकचाहट दिखलायी उसका एकमात्र कारण यही प्रतीत होता है कि हमारा दृष्टिकोण सुसंगत नहीं था। लेकिन यदि यह बात है, तो निःसन्देह वह हमारा दृष्टिकोण नहीं हो सकता। और यदि कार्य की दृष्टि से विचार करें, तो भी हमारा यही तर्क ठीक बैठता है। किसी भेद या अन्तर की क्रमागति फिर भी पूर्णतया अबुद्धिगम्य रहती है। और यदि हम यहाँ इस भेद को अपने में मान लें और यह कहें कि इसका वस्तु से सम्बन्ध नहीं है, अपितु हमारे दृष्टिकोण से सम्बन्ध है, तो भी हम उसी परिणाम पर पहुँचते हैं, क्योंकि यह केवल इस बात को नम्रतापूर्वक स्वीकार करने का ही एक दूसरा ढंग है कि वास्तव में कोई भेद या कारण तो है नहीं अपितु हम केवल कारण को एक कपोल कल्पना तथा आभास-मात्र मानने को सहमत हो गये हैं, परन्तु आगे के निष्कर्षों में हमारा मतभेद है। क्योंकि मैं ऐसे निष्कर्षों में गुण नहीं देखता जो सिद्धान्त के प्रत्येक दोष का अपने में समावेश कर लें। इस दृष्टिकोण में यह स्वीकार करना पड़ता है कि वास्तविक जगत् नग्न और रिक्त है, जबकि यह अस्तित्व की समृद्धि को स्वीकार तथा समर्थन करने का बहाना नहीं कर सकता। प्रत्येक पक्ष श्रीहीन हो चुका है, और दोनों पक्ष निःसार हो गये हैं।

कार्य-कारण-संबंध में औचित्य स्थापित करने के प्रयत्न का एकमात्र निश्चित परिणाम यह निकला है कि कार्य या कारण का पृथक्करण असम्भव है। एक अकाट्य कथन उपस्थित करने के प्रयत्न में, हमें उस सम्बन्ध के परे जाना पड़ा जिसको कि हम पहले बता चुके हैं। कारण क न केवल काल के अन्तर्गत प्रत्यावर्तन करता जाता है, अपितु अधिकाधिक अस्तित्व को ग्रहण करने का प्रयत्न भी करता जाता है। इस प्रकार हम उस सिद्धान्त की ओर उन्मुख हो रहे है, जो यह कहता है कि मूल कारण का पता लगाने के लिए, हमें विश्व की ऐसी परिपूर्णावस्था की कल्पना करना चाहिए जो उस क्षण-विशेष में सम्भव हो, सकती हो जिस क्षण वह एक-दूसरे परिपूर्ण विश्व में परिवर्तित होता है। इसका अभिप्राय यह है कि कार्य-कारण-सम्बन्ध के अनेक सूत्र सदा किसी-न-किसी आधार या पृष्ठभूमि की आवश्यकता अनुभव करते हैं। यदि हम विवेक से काम लें, तो यह सम्भव है कि वह पृष्ठभूमि व्यावहारिक दृष्टि से अयुक्त ठहरे। व्यावहारिक दृष्टि से वह इसलिए अयुक्त नहीं होगी कि वह कभी भी निष्क्रिय हो सकती है, अपितु इसलिए कि वह सदा एक-सी होने से कोई विशेष भेद उत्पन्न नहीं करती। इसलिए पृथक्-पृथक् कारणों को वैध पृथक्करण कहा जा सकता है और उनमें

व्यावहारिक दृष्टि से स्वीकृत होने के लिए पर्याप्त सत्य भी होता है। परन्तु यह और कहा जा सकता है कि यदि हमें किसी भी निश्चित अर्थ में सत्य की आवश्यकता है, तो हमें विश्व की एक परिपूर्ण अवस्था पर अपने को केन्द्रित करना पड़ेगा। यह कारण होगा और उसके बाद सम्पूर्ण अवस्था एक कार्य होगी।

इसके निष्कर्ष में बहुत-कुछ सत्य है, परन्तु फिर भी यह अकाट्य नहीं। पृथक् कारण की अपने से परे चले जाने की प्रवृति को तब तक संतुष्ट नहीं किया जा सकता, जब तक कि हम कार्य-कारण-सम्बन्ध के लिए अनिवार्य सम्बन्धात्मक स्वरूप को ग्रहण किये रहते हैं। और मेरी समझ में, हम इस बात का विश्वास अपने को सरलता से करवा सकते हैं। प्रथम तो अस्तित्व की परिपूर्णावस्था किसी भी क्षण-विशेष पर नितान्त असम्भव है, क्योंकि प्रत्येक अवस्था को अपने अन्तर्गत तत्वों के द्वारा अनंततः प्रत्यावर्तन करने के लिए विवश होना पड़ता है और जिन सम्बन्धों और गुणों से इसका निर्माण हुआ है, उसको यदि आप किसी क्षण-विशेष तक ही सीमित रखें तो भी वे अपने से सदा परे होते-होते एक अनन्त शून्य में विलीन हो जाते हैं। इस प्रकार आवश्यक पूर्णावस्था कभी प्राप्त ही नहीं हो सकती। दूसरे, इस विषय में एक और आपत्ति है जो कि उतनी ही भयंकर है। यदि हम विश्व की किसी भी दूसरी अवस्था के पूर्व, उसकी एक स्वयं-सीमित अवस्था को प्राप्त भी कर सकें, तो भी इन दोनों अवस्थाओं के बीच का सम्बन्ध अबुद्धिगम्य ही होगा। हम किसी-न-किसी के विषय में कुछ-न-कुछ कहते हैं, हम ख को क का विधेय बनाते हैं या क के साथ उसकी क्रमागति अथवा दोनों के परस्पर किसी सम्बन्ध को विधेय बनाते हैं, परन्तु इन उदाहरणों में अथवा किसी अन्य उदाहरण में क्या हम अपने कथन का औचित्य दिखला सकते हैं ? यह वही पुरानी पहेली है कि उद्देश्य पर उसके अतिरिक्त अन्य ऐसे किसी का जो कि उस उद्देश्य से भिन्न है, आरोप करने में कैसे औचित्य दिखाया जा सके ? यदि ख के पहले आना क का स्वभाव न हो, तो आप अपने विधेय-विधान का औचित्य दिखाइए। यदि वह क के लिए अनिवार्य हो, तो प्रथम तो आप क को उससे पृथक् ग्रहण करने में औचित्य दिखलाइए, और दूसरे यह दिखलाइए कि ऐसे स्वतः-विरुद्ध और अयुक्त स्वभाव को लेकर, क एक अवास्तविक आभास से अधिक होने में कैसे समर्थ हो सकता है ?

इस अवस्था पर सम्भवतः हम यह कल्पना करें कि भँवर-जाल से निकलने का द्वार खुल गया। परन्तु यह हो कैसे सकता है, क्योंकि हम यदि कारण और कार्य के तादात्म्य पर आसन जमाते हैं, तो भेद अथवा अंतर हमारी सारी कठिनाई का मूल बन जाता है। अद्वैत से द्वैत बदलते हुए और एक क्षण से दूसरे क्षण में जाते हुए विश्व के अपरिवर्तनशील आत्म-संरक्षण में निरंतर विद्यमान रहनेवाला एक अद्वैत तत्व ही

सम्भवतः इस उलझन को सुलझाने में समर्थ हो सकता है। हाँ, सम्भवतः क्योंकि यदि ऐसी बात है तो कार्य-कारण-सम्बन्ध का क्या होता है ? जहाँ तक मैं समझता हूँ वह भेदों में और कालक्रमों में निहित रहता है। तादात्म्य-मात्र, कितना भी उत्तम होने पर भी, कार्य और कारण का सम्बन्ध कदापि नहीं हो सकता। तो या तो आप द्वैत का अद्वैत के साथ सुबोध ढंग से मेल करने की समस्या को पुनः उठाएँ, जो कि अभी तक दुर्गम ही रही है, नहीं तो आप स्वयं भी उसी निष्कर्ष पर पहुँचेंगे जिस पर कि हम पहुँचे थे। इसका अभिप्राय यह होगा कि आपने यह स्वीकार कर लिया कि कार्य-कारण-सम्बन्ध अबुद्धिगम्य आभास-मात्र है, सत् नहीं।

यहाँ मैं एक और कठिनाई की ओर संकेत करूँगा जो स्वयं थोथी होने पर भी कारण-विकार की निरंतरता से उद्भूत होती है। एक ओर तो उसकी क्रमागति पूर्ण-तया निरंतर होनी चाहिए, जब कि दूसरी ओर ऐसा होना असम्भव है। इस दुविधा का आधार कोई नया सिद्धान्त नहीं अपितु अवधि की जटिल समस्या का एक प्रयोग-मात्र है। जो पाठक इससे आकर्पित नहीं होता, वह इसको छोड़कर बढ़ सकता है।

प्रत्यक्षीकरण की दृष्टि से परिवर्तन ठीक-ठीक निरन्तर नहीं है। यह सम्भव भी नहीं, क्योंकि ऐसी अवधियाँ भी होती हैं जो कि अपने निज रूप में हमारे समक्ष प्रस्तुत नहीं होतीं, और हमारी शक्तियों में कितना ही सुधार क्यों न हो जाए, कोई-न-कोई ऐसा बिन्दु होगा जिस पर उनका अतिक्रमण हो जायगा। दूसरी ओर क्रमागति को निश्चित रूप से पृथक् अस्तित्व वाला मानना भी नितान्त लचर प्रतीत होता है। वस्तुतः वह न तो एक है न दूसरा। मेरा अनुमान है कि हम जो-कुछ देखते हैं वे, इस कथन का अर्थ चाहे कुछ भी हो, ऐसी घटनाएँ हैं जिनके अंतरालों में काल होता है। परन्तु दूसरी ओर जब हम अवधि खंडों को अंगधारी अंगियों के रूप में अथवा अंगों की परिवर्तन-शील अनेकता को धारण करने वाले अंगियों के रूप में देखते हैं, तो दूसरा पहलू सामने आ खड़ा होता है। और अंत में विमर्श हमें इस बात पर विवश करता है कि परिवर्तन और चाहे किसी प्रकार क्यों न भासित होता हो परन्तु वस्तुतः वह निरंतर होना चाहिए। इस निष्कर्ष का यह अर्थ नहीं हो सकता कि कोई भी अवस्था कभी भी एक क्षण-भर रह सकने में समर्थ नहीं। क्योंकि यदि सर्वसम-तत्व की किसी अवधि की कल्पना न करें तो हमारे सामने ऐसी अव्यवस्था रह जाएगी जिसका कोई अर्थ नहीं या शायद यह अव्यवस्था भी न रह जाए। हम देख चुके हैं कि अवस्थाओं का ठिकाना तब तक सम्भव है जब तक हम सूक्ष्म विविक्तियाँ (एब्सट्रैक्ट) करते जाते हैं। हम किसी अधूरी अवस्था को अथवा उसके एक पक्ष को लेते हैं जो स्वयं परिवर्तित नहीं होता। हम अपनी एक आँख इस पर गड़ा देते हैं और दूसरी को उसकी सहगामिनी क्रमागति पर जमा देते

हैं। जो इस प्रकार समसामयिक कही जाती है, और इस प्रकार हम अवधि की समस्या का व्यावहारिक हल निकालते हैं। हम क ख ग नामक टिकाऊ पक्षों को एक के बाद एक लेते हैं। इनके साथ ही परिवर्तनों की एक धारा चलती रहती है जिसमें अत्यन्त सूक्ष्म विभाजन है। यह एक अर्थ में क ख ग को बदलती जाती है, जब कि दूसरे अर्थ में तीनों अवधि के अविकृत खण्ड हैं। वे स्वयं नहीं बदलते, परन्तु दूसरे परिवर्तनों के सम्बन्ध में वे निरन्तर आन्तरिक कालक्षेप करने वाले हैं। जब ये अन्य परिवर्तन विकार की एक निश्चित सीमा पर पहुँच जाते हैं, तो क ख में परिणत हो जाते है और इसी प्रकार बाद को ख ग में। मेरा अनुमान है कि कार्य-कारण-सम्बन्ध को निरन्तर तथा क्रमागत मानने का यही एक ठीक प्रकार है। हम निम्न आकृति का प्रयोग कर सकते हैं।
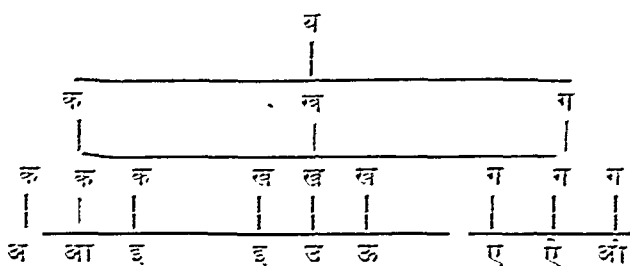
यहाँ पर क ख ग टिकाऊ अवस्थाओं की एक कार्य-कारण-परंपरा है। स्वरों-द्वारा ऐसी अन्य घटनाओं का प्रवाह दिखलाया गया है जो क ख ग की क्रमागति में सचमुच एक निश्चयात्मक तत्व है। अब हम समझते हैं कि किस प्रकार क ख ग बदलते भी हैं और साथ ही नहीं भी बदलते, परन्तु स्वर इससे भी अधिक ऐसा अभिप्राय व्यक्त करते हैं जो चित्रित नहीं किया जा सकता। प्रथम तो किसी क्षण-विशेष में उनकी अनंत संख्या है, दूसरे वे स्वयं भी अवधि-खंड हैं जो उसी कठिनाई में पड़े हुए हैं जिसमें क ख ग थे। इनमें से प्रत्येक के साथ घटनाओं की एक सहगामिनी परंपरा होनी चाहिए जिसको पाठक जिन अक्षरों-द्वारा चाहें प्रकट करने का प्रयत्न करें। उसे केवल यही याद रखना चाहिए कि इन घटनाओं को छोटी घटनाओं की सहायता से अनंतरूपेण विभाजित करना है। इस प्रकार उसे तब तक चलते जाना चाहिए जब तक कि ऐसे भाग न आ जायँ जो अविभाज्य हों। यदि हम यह कल्पना कर सकें कि पाठक ऐसे भागों तक पहुँच जाएगा, तो हमको पता लगेगा कि उसको सफलता मिलते ही कार्य-कारण-सिद्धान्त भी तिरोहित हो जाएगा।

मेरी समझ में दुविधा की स्थिति अब फिर स्पष्ट की जा सकती है।

(१) कार्य-कारण-सम्बन्ध निरन्तर क्रमागत होना चाहिए। मान लीजिए कि

ऐसा नहीं है तो आपके लिए यह सम्भव है कि आप घटनाओं के प्रवाह में से एक ठोस खंड, अर्थात् ऐसा भाग जो परिवर्तन रहित हो, को ले लें। मेरा यह अभिप्राय ही नहीं कि आप इस प्रवाह के आर-पार एक चौड़ाई-रहित रेखा खीचने में समर्थ होंगे। और आपको पता लगेगा कि यह सूक्ष्म रेखा किसी परिवर्तन को नहीं काटती। मेरा अभिप्राय यह है कि उसमें से एक टुकड़ा अलग निकाल लें और इस टुकड़े में कोई परिवर्तन न हो। परन्तु ऐसे किसी भी टुकड़े में उसके विभाज्य होने के कारण अवधि अवश्य होनी चाहिए। यदि यह वात है तो आप देखेंगे कि आपका कारण कुछ क्षणों तक अपरिवर्तित रूप में वना रहता है। और पुनः सहसा परिर्वातित होने लगता है, और यह स्पष्टतया असम्भव है, क्योंकि उसे कौन वदल सकता है? दूसरी कोई वस्तु तो हो नहीं सकती, क्योंकि आपने समस्त घटना-चक्र को ले लिया है। और वह स्वयं भी वदलने वाला नहीं हो सकता, क्योंकि आपने उसको पहले ही परिवर्तनहीन अवस्था में लिया है। संक्षेप में यदि कारण अवधि के किसी छोटे-से-छोटे अंश तक भी अपरिर्वातित वना रह सकता है, तो वह सदा के लिए वना रह सकता है। वह कार्य-रूप में नहीं वदल सकता और इसलिए वह विल्कुल कारण नहीं हो सकता। दूसरी ओर, (२) कार्य-कारण-सम्वन्ध क्रमागत नहीं हो सकता, क्योंकि इसका अभिप्राय यह होगा कि कारण पूर्णतया अवधि-रहित था। क्रमागति प्रवाह के आर-पार रेखा खींचने में जो समय लगता है उसको छोड़कर अन्य किसी समय में भी वह अपने स्वरूप में नहीं हो सकता। और यह समय वस्तुतः समय न होकर एक सूक्ष्म कल्पना-मात्र होने से, स्वयं कारण का स्वरूप भी इससे अधिक और क्या होगा? वह असत है, एक शून्य है और विश्व की समस्त परम्परा इन्हीं शून्यों की वनी हुई होगी। यह वहुत-कुछ ऐसा ही सोचना है जैसा कि ठोस वस्तुओं को विन्दुओं रेखाओं, और धरातलों का वना हुआ कहना। यह किसी प्रयोजन को सिद्ध करने वाली मनगढंत कल्पनाएँ हो सकती हैं परन्तु फिर भी तो वे रहती मनगढंत ही हैं। कारण को एक यथार्थ घटना होना चाहिए, परन्तु फिर भी ऐसा कोई कालांश नहीं जिसमें वह यथार्थ हो सके। अतः कार्य-कारण-सम्वन्ध क्रमागत नहीं हो सकता, और इसलिए दुर्भाग्यवश, वह कार्य-कारण-सम्वन्ध नहीं, अपितु आभास मात्र है।

पाठक देखेंगे कि हमने यहाँ पर काल-सम्बन्धी उसी पुरानी पहेली को दुहराया है। जैसा कि हमने देखा, काल को खण्डों का वना होना चाहिए, परन्तु फिर भी वह ऐसा नहीं हो सकता। पाठकों को इन पृष्ठों की समाप्ति पर सम्भवतः दुःख न होगा, क्योंकि इनमें मैंने उन्हें निरंतरता तथा पृथक् अस्तित्व के विवेचन-द्वारा तंग किया है। अगले अध्याय में हम कुछ भिन्न विपय पर पहुँचेंगे।

सातवाँ अध्याय

सक्रियता

सक्रियता सत् है या केवल आभास ? इस प्रश्न को उठाने पर सम्भवतः कोई कहेगा कि वह मूलभूत, अन्तिम और अद्वैत है। मुझे विश्वास है कि यह कथन असत्य ही नहीं, अपितु निराधार है, परन्तु यहाँ पर मैं उसे केवल असंगत मानकर चलूँगा। सक्रियता का जो अर्थ कसौटी पर खरा नहीं उतरता और बुद्धिगम्य होने में असमर्थ है, वह सत्तापरक नहीं हो सकता। ऐसा कोई भी मूल या मूलाभाव नहीं हो सकता जो हमारे निरर्थक विधेय-विधान को स्वीकार कर ले। यदि यह कहा जाए कि अद्वैत होने के कारण सक्रियता में कोई अर्थ नहीं हो सकता, तो वह हमारे आलोचनों या आनन्दानुभूतियों के समान एक गुण प्रतीत होता है, जिसका विवेचन किया जा चुका है। अथवा मुझको उत्तर मिल सकता है कि, नहीं, वह इस अर्थ में, अद्वैत नहीं है और न वह ठीक-ठीक द्वैत ही है। येन-केन-प्रकारेण उसमें विविधता है और उसका वर्णन इसी रूप में किया जाता है। अतः उसकी कल्पना चाहे मुकाठ्य या लचर भले हो, परन्तु वह स्वयं तो सत् है। परन्तु तत्त्वज्ञान का उद्देश्य दर्शन है, और यदि कोई वस्तु ऐसी हो जो, केवल अनुभूति का ही नहीं अपितु विचार का भी विषय बनाने पर, छिन्न-भिन्न हो जाती हो तो उसके विषय में हम केवल एक निर्णय कर सकते हैं और वह यह है कि या तो वह स्वयं मूर्खतापूर्ण है अथवा इसके विषय में हमारी स्वयं की धारणा मिथ्या है। अतः जो इनमें से द्वितीय विकल्प ग्रहण करता है उसका कर्त्तव्य है कि वह हमारे सामने सत्य धारणा प्रस्तुत करे, जो कहने की आवश्यकता नहीं, वह करने में असमर्थ है। परन्तु आइए, अब हम इन लचर तर्कों को यों ही छोड़कर तथ्यों की ओर ध्यान दें। इस प्रसंग में, यदि हम सक्रियता शब्द के प्रयोग की परीक्षा करें तो परिणाम संदिग्ध नहीं होगा। बल, शक्ति, ताकत और सक्रियता इन शब्दों का प्रयोग निःसन्देह बिना स्पष्ट रूप से समझ-बूझे प्रायः किया जाता है। परन्तु कोई भी समझदार व्यक्ति इसका प्रयोग किसी-न-किसी प्रमेय एवं विश्लेष्य अर्थ के अतिरिक्त अन्य अर्थों में नहीं करेगा। और यदि वह, जाँच करने पर, ठीक नहीं उतरता तो स्पष्ट है कि वह अर्थ सत् को व्यक्त नहीं करता।

एक अर्थ में ताकत, बल और शक्ति को सक्रियता से भिन्न समझा जाता है। उनका प्रयोग किसी ऐसी वस्तु के लिए हो सकता है, जो घटित ही नहीं होती, अपितु सदा ही एक प्रलम्बित प्राणन की अवस्था में अथवा असत् और असत् के मध्यवर्ती क्षेत्र में रहती है। इस समय, मैं इस पर विचार करने से कोई लाभ नहीं समझता, और इसलिए मैं तुरन्त ही बल शब्द से उस अर्थ पर पहुँचता हूँ जिसका अभिप्राय अभ्यास में व्यक्त होने वाले बल, अर्थात् सक्रियता से है।

इसके अर्थ में तो तत्त्व एकदम व्यक्त होता है वह है क्रमागति और परिवर्तन। प्रत्येक सक्रियता में भी, कुछ-न-कुछ बदलकर कुछ और हो जाता है। सक्रियता का अर्थ है एक कालगत घटना तथा क्रमागति। और जब मैंने इस अर्थ को प्रकट होते बतलाया, तो मैं इतना और कह सकता था कि वह निश्चित रूप से सिर पर चढ़कर बोलता है, और उसको छिपाया नहीं जा सकता है। साफ बात यह है कि मैं इस प्रश्न पर वाद-विवाद नहीं कर सकता। मेरे देखने में इस शब्द का वह अर्थ कभी नहीं आया जिसमें से काल-क्रमागति का भाव पृथक् कर दिया गया हो। हम ऐसी शक्ति के विषय में बात कर सकते हैं, जो ऐसे कार्यों की स्थित या उत्पत्ति करने वाली है, जो आश्रित होते हुए भी परवर्ती नहीं है। परन्तु इस प्रकार बात करने का अर्थ विचार करना नहीं है। जब तक कि शक्ति से लेकर उसकी अभिव्यक्ति तक हमारे विचार की क्रमागति एक परम्परागत तथ्य के रूप में पुनः व्यक्त नहीं होती तब तक वह अर्थ लुप्त हुआ ही समझिए। तब तक हम या तो विशेषण और वस्तु के बीच अथवा दो विशेषणों और उनके आश्रय के बीच केवल एक सहस्तित्व और सह-निर्भरता की स्थिति-मात्र रह जाती है। मैं नहीं समझता कि कोई भी व्यक्ति, जब तक कि वह किसी सिद्धान्त-विशेष के प्रभाव और पक्ष में न हो, इस विषय को अन्यथा देखने का प्रयत्न करेगा। मुझे भय है कि इस विषय को मुझे इसी प्रकार छोड़ना पड़ेगा।

सक्रियता का अभिप्राय उस परिवर्तन से होता है जिसके-द्वारा कुछ-न-कुछ बदलकर भिन्न हो जाता है। मेरा अनुमान है कि इतनी बात स्पष्ट है, परन्तु सक्रियता केवल अकारण परिवर्तन नहीं है, और, जैसा कि हम देख चुके हैं, इसकी वस्तुतः कल्पना भी नहीं की जा सकती। क्योंकि क ख को यदि क-ग होना है तो क ख के अतिरिक्त किसी और की भी आवश्यकता पड़ती है। अन्यथा एक स्पष्ट असंगति-दोष उत्पन्न हो जाता है। इस प्रकार सक्रियता के संचालन में कारण अवश्य निहित रहता है।

सक्रियता एक सकारण परिवर्तन है, परन्तु वह इसके अतिरिक्त और भी है, क्योंकि कोई भी वस्तु जो दूसरे के द्वारा बदली जाती है उसको प्रायः सक्रियता नहीं, अपितु निष्क्रिय कहते हैं। सक्रियता एक प्रकार से स्वहेतुक परिवर्तन-सी लगती है। जिस गति

का उद्भव और प्रसार किसी वस्तु-विशेष से ही होता है वही वह क्रिया है जिससे युक्त होकर वह वस्तु सक्रिय कहलाती है। निःसन्देह वह क्रिया उस वस्तु से अपनी विशेपता के रूप में उससे सम्बन्धित समझी जानी चाहिए, न केवल उसको वस्तु से सम्बन्धित समझना चाहिए, अपितु उसमें जन्म लेनेवाली और उससे निकलने वाली भी। इस प्रकार जब यह वस्तु अपने स्वभाव को व्यक्त करती है तो हम कहते हैं कि वस्तु सक्रिय है। परन्तु हम इस वात से सजग हैं, और नहीं हैं तो सजग हो सकते हैं कि हम यहाँ पर रूपकों का सहारा ले रहे हैं। इनका वाच्यार्थ इनका वास्तविक अर्थ नहीं हो सकता, और जो उनसे व्यक्त होता है वह संदिग्ध है। वह मुझे कुछ-कुछ इस प्रकार मालूम पड़ता है—प्रक्रिया-विशेष का अंत, परिणाम, या कार्य उस वस्तु-विशेप की प्रकृति का अंग मालूम पड़ता है जिसको हमने ग्रहण किया। यह किसी वाह्य वस्तु की देन तो नहीं है। साथ ही इसको देन भी शायद ही कहा जा सके। परिणाम को ही किसी वस्तु-विशेप की सक्रियता मानने के कारण, कम-से-कम अभी तक उसको वस्तु की आद्योपान्त विशेषता माना जाता है। इसका अभिप्राय यह है कि वह घटित होने से पहले भी किसी-न-किसी प्रकार की थी। उसका अस्तित्व नहीं था, परन्तु फिर भी वह एक प्रकार से अवश्य थी और इसीलिए वह उद्भूत हुई। यह कहना अधिक अच्छा होगा कि जो वस्तु-प्रकृति एक प्रत्यय के रूप में थी उसने स्वयं का साक्षात्कार किया और इस प्रक्रिया को सक्रियता कहा गया। यह आवश्यक नहीं कि यह प्रत्यय वस्तु के मन का ही एक प्रत्यय हो, क्योंकि वस्तु में सम्भवतः मन नहीं होता और इसीलिए संकलपात्मक सक्रियता नहीं हो सकती। दूसरी ओर वह वस्तुगत प्रत्यय हमारे मन का भी कोई ऐसा प्रत्यय-मात्र नहीं हो सकता जो हमने केवल उस वस्तु के विपय में वना रखा है। हमें इसका पूरा विश्वास है, और हमारा अभिप्राय कहीं इन्हीं दो सीमाओं के वीच पड़ता है। परन्तु, ठीक-ठीक इसका स्थान कहाँ है और ठीक-ठीक इसका क्या स्वरूप है, इसको इस समय में तनिक भी स्पष्ट नहीं कहा जा सकता। फिर भी, आइए, आगे वढ़ें। निष्क्रियता में भी सक्रियता निहित प्रतीत होती है। निःसंदेह वस्तु-परिवर्तन में ही वस्तु जीवित रहती है और एक नयी विशेपता को ग्रहण करती है। परिवर्तन से पूर्व यह विशेपता वस्तु में नहीं होती। अतः वह वस्तु की प्रकृति के अन्तर्गत न होकर एक वाहरी आयात-मात्र होगी। वह किसी ऐसी दूसरी वस्तु की उद्भूति और विशेपता है जो पहली वस्तु के प्रसंग में सक्रिय है। इस प्रकार निष्क्रियता सक्रियता के विना सम्भव नहीं, परन्तु उसके अर्थ की व्याख्या अव भी नहीं हुई।

अव यह प्रश्न करना स्वाभाविक है कि सक्रियता निष्क्रियता से रहित होकर क्या स्वयं अपना पृथक् अस्तित्व रख सकती है? यहाँ हम अपने को और अधिक उलझन

में डाल लेते हैं। अभी तक हम यही मान कर चले कि मानों वस्तु ने अकारण ही सक्रिय होना प्रारम्भ कर दिया हो। मानों उसमें स्वयं एक विस्फोट-सा हुआ हो और उसने पूर्णतया अपनी निज की गति से और विल्कुल स्वतः ही अपने तत्त्वों को उत्पन्न करना प्रारम्भ कर दिया हो, वस्तुतः हमारा यह अभिप्राय कदापि नहीं था, क्योंकि इसका अभिप्राय यह होगा कि कोई घटना या परिवर्तन विल्कुल अकारण भी सम्भव है, और हम इस वात से पहले ही सहमत हो चुके हैं कि यह कथन स्वतः-विरुद्ध और असम्भव है। अतः वस्तु विना उपादान कारण के सक्रिय नहीं हो सकती। आप कुछ भी कहें, परन्तु यह वात वस्तु की शाश्वत प्रकृति के वाहर की, और उसकी तात्विक स्थिति में एक आकस्मिक घटना है। परन्तु यदि वस्तु उपादान कारण के अभाव में सक्रिय नहीं हो सकती तो परिवर्तन का आगमन किसी वाहरी वस्तु की क्रिया-द्वारा ही संभव होगा। परन्तु, जैसा कि हम देख चुके हैं, यह निष्क्रियता है। अतः जहाँ तक परिवर्तन के उपादान का कारणजन्य होने का सम्वन्ध है, प्रत्येक सक्रिय वस्तु स्वयं निष्क्रिय है। यदि हम किसी प्रक्रिया को उसकी प्रकृति की अभिव्यक्ति कहें, तो वह प्रक्रिया उसकी सक्रियता होगी, और दूसरी ओर यदि किसी प्रक्रिया को हम उपादान-कारणजन्य तथा उपादान कारण से ही निःसृत मानें, तो भी उसे सक्रियता कह सकते हैं। परन्तु अव सक्रियता तो उपादान कारण में है और वस्तु निष्क्रिय है। हमें ऐसा प्रतीत होता है कि हमारे विविध पक्ष होते हैं, जिनमें से, प्रत्येक का अस्तित्व-विशेष हमारे मन पर निर्भर करता है।

इस अस्पष्टता को हम हेतु और उपाधि के सामान्य भेद में भी देखते हैं। और इसकी सूक्ष्म परीक्षा करना लाभप्रद हो सकता है। कार्य की उत्पत्ति के लिए इन दोनों तत्त्वों की आवश्यकता समझी जाती है, परन्तु किसी भी उदाहरण में इन शब्दों का प्रयोग इच्छानुसार किया जाना सम्भव प्रतीत होता है। प्रायः किसी प्रक्रिया को प्रारम्भ करने वाली अन्तिम वस्तु को हेतु कहा जाता है। परन्तु यह वस्तुतः हमारी इच्छा की स्वच्छन्दता है। आधार को दूर कर देने के कारण, शरीर गिर पड़ा; परन्तु सम्भवतः बहुत-से लोग इस कारण को एक प्रकार की उपाधि कहना पसंद करेंगे। परंतु, स्पष्ट है कि हम किसी भी मत को पसन्द कर सकते हैं। हेतु को "उपाधि-समुच्चय" कह कर स्पष्टता लाने के सुचिन्तित प्रयत्न से भी कोई अधिक प्रकाश नहीं मिलता। मेरा अनुमान है कि समुच्चय शब्द द्वारा कोई अर्थ अभिप्रेत है, परन्तु यह अर्थ वताया नहीं गया और मुझे तो इसमें भी सन्देह है कि यह अर्थ ज्ञात है। यदि हेतु के अन्तर्गत प्रत्येक उपाधि को मान लिया जाय, तो एक पुरानी कठिनाई फिर उपस्थित हो जाती है। किसी भी अवधि खंड में उसका अस्तित्व न होने के कारण, या तो वह हेतु सचमुच अयथार्थ है नहीं तो उसमें होनेवाले परिवर्तन तथा सक्रियता के लिए एक उपाधि की आवश्यकता पड़ेगी। परन्तु

यदि हेतु पहले ही सब उपाधियों का समुच्चय है तो निःसन्देह कोई उपाधि प्राप्य नहीं हो सकती (अध्याय ६)। परन्तु जाने दीजिए इस बात को, आप तो यह बतलाइए कि ऐसी उपाधियों से आपका क्या अभिप्राय है जो सब-की-सब हेतु के भीतर आ जाती हैं और कोई भी बाहर नहीं रह जातीं ? क्या आपका यह अभिप्राय है कि हम जिनको सामान्यतः किसी घटना की उपाधियाँ कहते हैं वे सचमुच परिपूर्ण हैं ? निश्चय रूप से हम व्यवहार में अस्तित्व की सम्पूर्ण पृष्ठ-भमि पर ध्यान नहीं देते, हम केवल तत्त्वों के एक समह को पृथक् कर लेते हैं और कहते हैं कि जब कभी ये घटित होते हैं, तो सदा कुछ अन्य भी घटित होता है, और इस समूह में हम समझते हैं कि उपाधि-समुच्चय आ गया। यह अनुमान शायद ही व्यावहारिक दृष्टि से अटूट कहा जा सके। क्योंकि शेष अस्तित्व को पर्याप्त आधार पर, सम्भवतः अयथार्थ माना जा सकता है। अतः हम सम्पूर्ण समुच्चय को ऐसा समझ सकते हैं कि मानों यह निष्क्रिय हो। हाँ, परन्तु उसको निष्क्रिय मानना एक बात है, परन्तु यह कहना कि वह कुछ भी करता नहीं, दूसरी बात है। निःसंदेह विविक्त विचारणा के ऐसे दुष्प्रयोग के मूल में कोई तर्क नहीं हो सकता। बिना किसी सबल प्रक्रिया-द्वारा सम्पूर्ण विश्व की पृष्ठभूमि का निराकरण कर दिया जाता है। और सबसे बड़ा बचाव जो उपस्थित किया जा सकता है वह यह है कि हमें उस पर व्यावहारिक दृष्टि से विचार करने की आवश्यकता नहीं। अन्य विविध उदाहरणों की भांति, इसमें भी कोई विशेष बात नहीं मिलती। अतः हम यह समझ सकते हैं कि इससे हमें वस्तुतः कुछ भी नहीं मिलता। परन्तु इस कामचलाऊ सिद्धान्त को सैद्धान्तिक दृष्टि से सत्य मान लेना पूर्णतया अवैध है।

इसका तात्कालिक निष्कर्ष यह है कि वास्तविक उपाधि समुच्चय के अन्तर्गत एक क्षण-विशेष पर उपस्थित विश्व के समस्त तत्त्वों का पूर्ण समावेश हो जाना चाहिए। यहाँ पर एक सैद्धान्तिक कठिनाई उपस्थित होती है। इन तत्त्वों की प्रकृति तत्वतः अपूर्ण प्रतीत होती है और इसलिए वह 'समुच्चय' कोई उपयोगी वस्तु नहीं प्रतीत होती। यह इस सीमा तक घातक प्रतीत होता है, इस बात को कहकर मैं आगे बढ़ूँगा। मान लो कि आपको एक क्षण-विशेष पर उपस्थित सभी तथ्यों का सम्पूर्ण समुच्चय मिल भी गया तो भी क्या आप किसी निष्कर्ष के निकट पहुँचेगे ? यह सम्पूर्ण समुच्चय आपका (उपाधि समुच्चय) कहलायगा और प्रत्येक आगामी घटना का हेतु होगा, क्योंकि आपके पास ऐसी कोई प्रक्रिया नहीं जिसके अनुसार आप हेतु को उससे न्यून मान सकें। यहाँ पर एक दूसरी सैद्धान्तिक कठिनाई उपस्थित हो जाती है। क्योंकि एक ही कारण से अनेक परस्पर-भिन्न कार्य उत्पन्न होते हैं, और इस परिणाम

के विषय में आप क्या कहेंगे ? परन्तु इसको छोड़ भी दें, तो भी हम वस्तुतः एक वैसी ही द्विविधा में पड़ जाते हैं। जिस हेतु को जब हम इतने विस्तृत अर्थ में लेते हैं तो वह प्रत्येक कार्य का समान रूप से कारण होता है। और इसलिए किसी वस्तु के विषय में वह हमें कुछ भी नहीं बतला सकता और यदि हम उसको इतना विस्तृत रूप न दें तो वह समुच्चय नहीं बनता और इसी लिए हेतु नहीं बनता। अतः अब तक यह स्पष्ट हो चुका है कि यह सिद्धान्त छोड़ देना ही ठीक है। यदि हम एक विशेष हेतु की खोज करना चाहते हैं (और इसके अतिरिक्त कोई खोज हो नहीं सकती), तो हमें समुच्चय में कोई विशेषता लानी पड़ेगी। ऐसी अवस्था में, पहले की भाँति हमें एक ऐसे सिद्धान्त की आवश्यकता पड़ेगी जिसके द्वारा हम उन दोनों में भेद कर सकें। रही मेरी बात, सो, मैं तो अपने उसी कथन को फिर दोहराता हूँ कि मुझे तो ऐसा कोई भी सिद्धान्त नहीं मालूम जो कि पक्का हो। ऐसा लगता है कि हम इस भेद को सदा किसी उद्देश्य-विशेष के सुविधानुसार गढ़ लेते हैं, और वह केवल एक विशेष दृष्टिकोण के रूप में प्रकट होता हुआ प्रतीत होता है।

परन्तु, आइए हम पुनः निष्क्रियता और सक्रियता पर विचार करें। यह निश्चित है कि कोई भी उपादान कारण-बिना सक्रिय नहीं हो सकता। और जो उपादान कारण के द्वारा सक्रिय किया जाता है वह उससे पूर्व निष्क्रिय रहता है। और कार्य-कारण चक्र में प्रवेश करने के कारण उपादान-कारण में भी सहेतुक परिवर्तन उपस्थित हो जाता है जो सम्भवतः इसके स्वतन्त्र रहने पर कभी भी नहीं होता। इसी लिए वह स्वयं भी अपनी सक्रियता में निष्क्रिय है। यदि हेतु क है और उपादान-कारण ख, तो परिणाम को उसकी प्रकृति की अभिव्यक्ति मानने या उसे एक आयात किया हुआ विशेषण मानने के अनुसार उनमें से आप प्रत्येक को सक्रिय या निष्क्रिय कह सकते हैं।

स्वभावतः यहाँ हम एक ऐसी अवस्था पर जा पहुँचे हैं जहाँ ये दोनों ही पक्ष तिरोहित होते प्रतीत होते हैं। पूर्ववत् कल्पना कीजिए कि क और ख दोनों एक ही प्रक्रिया में प्रविष्ट हैं और मान लीजिये कि उसका परिणाम क ख ग है। यहाँ क में विकार होगा और ख में भी, और प्रत्येक के प्रति दूसरे में विकार उत्पन्न करेगा। परन्तु, यदि क की प्रकृति पहले क ख ग हो और ख की प्रकृति पहले ख ग क हो, तो सारी बात ठप हो जाती है। जिन बातों का हम अभी प्रयोग कर रहे हैं वे स्पष्टतः अनुपयुक्त हैं। और उनसे हम उलझन में पड़ सकते हैं। वे वस्तुतः स्वयं क और ख को भी हास्यास्पद प्रतीत हो सकते हैं। उनमें से प्रत्येक कह सकता है, यदि मुझमें जो पहले था उसके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं हुआ तो मैं कैसे

बदला ? भाई, मैं आपके दृष्टिकोणों को स्वीकार नहीं कर सकता क्योंकि मैं उन्हें ठीक मानूं तो असंगत कहूँगा ।

अच्छा तो अब प्रसंग बदलते हैं । जिस निर्णय पर हम अब तक पहुँचे वह इस संभावना की उपेक्षा करता हुआ प्रतीत होता है कि कोई वस्तु स्वयं भी सक्रिय हो सकती है । यहाँ हमें एक भेद करना पड़ेगा । यदि इस कल्पित वस्तु की प्रकृति में कोई भेद नहीं है अथवा यदि वह द्वैत उसमें समय के भीतर नहीं बदलता तो यह असंभव है कि वह सक्रिय हो । यह विचार, वस्तुतः, स्वतः विरुद्ध है । और फिर कोई भी वस्तु सब-की-सब तो सक्रिय होती नहीं, क्योंकि उसकी प्रकृति का वह भाग जो स्वयं बदलते हुए उपादान-कारण का कार्य करता है, इसमें सम्मिलित नहीं किया जा सकता । मैं इन बातों पर विवाद करना नहीं चाहता, क्योंकि मैं प्रतिपक्ष में उलझन या पूर्वाग्रह के अतिरिक्त और कुछ नहीं देखता । इसलिए निश्चित है कि सक्रियता में ससीमता अभिप्रेत है, अन्यथा उसका कोई अर्थ नहीं होता । परन्तु दूसरी ओर हाँ हमें समय के भीतर बदलते हुए अनेक प्रकार के तत्त्व मिले, वहाँ हमें सक्रियता भी प्राप्त हो सकती है, क्योंकि इन तत्त्वों के कुछ अंश दूसरों के द्वारा बदले जा सकते हैं । और दूसरों को बदल सकते हैं । यह किसी वस्तु के भीतर स्वतः ही होता चले, अथवा नहीं, यह बात उस समय तक वस्तुतः पूर्णतया असंगत प्रतीत होती है, जब तक कम-से-कम हमको यह कल्पना न हो कि किसी वस्तु से हमारा क्या अभिप्राय है । इस प्रसंग में हमारी अब तक की गवेषणाएँ उसमें कोई भी अभिप्राय नहीं पा सकीं । ऐसा ही लगता है मानों हम उभय लिंगवाद के विषय में गवेषणा कर रहे हों, जहाँ कि हम यह नहीं जानते कि प्रत्येक पशु को क्या समझें । इस अवस्था पर यदि हम एक ही प्रक्रिया-द्वारा सम्बन्धित क और ख पर पुनः लौटें और उनसे पूछें कि वे दोनों एक ही वस्तु के अंग हैं अथवा उसमें से प्रत्येक के अन्तर्गत विकार की एक परिपूर्ण प्रक्रिया है, तो निःसंदेह सम्भवतः हमें कोई उत्तर नहीं मिलेगा । वे एक बार हमसे फिर कहेंगे कि आप अपने विचारों को लागू करने से पहले उनको सुविकसित कर लीजिए ।

अभी तक का हमारा निष्कर्ष बहुत कुछ निम्नलिखित प्रतीत होता है । सक्रियता के द्योतक सभी शब्दों में असंगतता भरी पड़ी है । प्रथम तो, पिछले अध्यायों के व्याघातों के द्वारा सक्रियता की समस्या में जटिलता आ गयी है । और यदि वह उनसे मुक्त हो सके, तो उसको आभास-मात्र कहना पड़ेगा । और जहाँ तक हम पता लगा सके हैं, उसकी निज की विशेष प्रकृति इससे अधिक अच्छी नहीं प्रतीत होती । किसी वस्तु की सक्रियता का स्वरूप इस बात पर निर्भर प्रतीत होता है कि वह वस्तु जो

है और जो बदलकर हो जाती है उसको हम किस दृष्टिकोण से देखना पसन्द करते हैं? क्योंकि परिणाम में जो आन्तरिक प्रकृति प्रकट होती है उसके अतिरिक्त सक्रियता का कोई अर्थ नहीं। यदि यह प्रकृति न होती, और वह वस्तु में सत् न होती, तो क्या वह वस्तु सचमुच सक्रिय होती? परन्तु जब हम इस प्रश्न पर बल देते हैं और इस बात का आग्रह करते हैं कि हममें सच्चे रूपकों के अतिरिक्त किसी और का सहारा लेना चाहिए, तो हमारे हाथ में या तो शून्य आता है या वह विचार आता है जिसको हम पसंद करते हैं। एक विचार के रूप में हम उसको वस्तु पर आरोपित नहीं कर सकते, और हमें यह ज्ञात नहीं कि अन्य किसी रूप में हम उसका आरोप कैसे करें। परन्तु, इस प्रकार की उलझन सत् में नहीं हो सकती।

इस समूचे अध्याय में, सक्रियता के विषय में मैंने एक दृष्टिकोण की पूर्ण उपेक्षा की है। इस दृष्टि के अनुसार सक्रियता का विवेचन हमने जिस रूप में किया है वह ठहर नहीं सकता, परन्तु वह यह भी कहेगी कि हमने वास्तविक तथ्य को छुआ तक नहीं। इस दृष्टि के अनुसार वह वास्तविक तथ्य आत्मा की सक्रियता है जबकि आत्मा के बाहर इस शब्द का प्रयोग केवल आलंकारिक है। इस प्रश्न को दृष्टि में रख कर, हम सत् के विषय में एक दूसरी विचार-माला की ओर उन्मुख हो सकते हैं।

आठवाँ अध्याय

वस्तुएँ

आगे बढ़ने से पूर्व इस स्थल पर ठहरना सुविधाजनक होगा। पाठक से इस बात पर विमर्श करने के लिए निवेदन किया जा सकता है कि वस्तु से जो कुछ भी अभिप्रेत है उसका कोई भी अंश अब हमारे पास शेष है या नहीं ? वस्तुतः, यह कहना बहुत कठिन है कि वस्तु शब्द के प्रयोग से सामान्यतः हमारा क्या अभिप्राय होता है। परन्तु वह कुछ भी क्यों न होता हो, अब वह निर्मूल तथा नष्ट हुआ प्रतीत होता है। मेरा अनुमान है कि सामान्यतः हम वस्तु को एक प्रकार की स्वतन्त्र सत्ता और स्वतन्त्र अस्तित्व के लिए एक अधिकार से युक्त समझते हैं, न कि केवल एक विशेषण-मात्र। परन्तु, हमारे विचार सामान्यतः स्पष्ट नहीं होते। इन्द्रधनुष सम्भवतः कोई वस्तु नहीं है, जब कि जल-प्रपात को सम्भवतः नाम दिया जा सकता है और विद्युत प्रभा को संदिग्ध अवस्था में छोड़ा जा सकता है। इसके अतिरिक्त हममें से बहुत-से लोग तो जोरदार शब्दों में कहेंगे कि यदि किसी वस्तु का अस्तित्व है तो वह दिक् के भीतर होना चाहिए, जबकि दूसरे लोग इस मत में शंका प्रकट करेंगे और उसकी निर्णायकता को ग्रहण करने में असमर्थ होंगे।

हम देख चुके हैं कि प्रकृत गुणों की सहायता से हमने अपने विचारों के पुनर्गठन के लिए जो प्रयत्न किया वह नहीं चला। उस समय से, हम जिन परिणामों पर अब तक पहुँचे हैं उन्होंने वस्तुओं को ही भीतर-बाहर से नष्ट कर दिया प्रतीत होता है। यदि वस्तु और विशेषण के सम्बन्ध और गुण तथा सम्बन्ध के संयोग अक्रमणीय सिद्ध हो चुके हैं, यदि दिक् और काल के स्वरूप विरोधों से भरे हुए सिद्ध हुए हैं, और यदि कार्य-कारण-सम्बन्ध तथा सक्रियता केवल असंगतता पर असंगतता लादने में समर्थ हुए हैं—संक्षेप में, यदि इस-सबमें से कुछ भी ज्यों-का-त्यों सत् का विधेय नहीं बन सकता, तो अब फिर बचा क्या ? यदि वस्तुओं का अस्तित्व होना है तो कहाँ और कैसे ? परन्तु, यदि इन दोनों प्रश्नों का उत्तर सम्भव नहीं, तो हमें इस निर्णय पर पहुँचने के लिए विवश होना पड़ता है कि वस्तुएँ केवल आभास-मात्र हैं।

इस निष्कर्ष के समर्थन में तो इतना नहीं, जितना कि सम्भवतः उसको और स्पष्ट करने के लिए मैं कुछ बातें और कहूँगा।

मैं अपने विषय पर तुरंत आता हूँ। वस्तु का अस्तित्व होने के लिए उसमें व्यक्तित्व होना चाहिए और व्यक्तित्व में एक विशेषता प्रतीत होती है जो संदिग्ध है। यदि वह केवल काल्पनिक है, तो वस्तु सत् नहीं हो सकती। तो आइए पहले इस बात का पता लगाएँ कि कोई वस्तु व्यक्तित्व के बिना हो सकती है या नहीं? यों तो इस प्रश्न में ही इसका उत्तर निहित है, जब तक कि वस्तुतः वस्तु का अस्तित्व नहीं होता है और उसे अपनी अद्वैत इकाई में अपने द्वैत को समाविष्ट नहीं रखना है और वह भी किसी-न-किसी प्रकार काल के बिल्कुल बाहर। और यह बात चलने वाली नहीं दिखती। यदि एक वस्तु को वस्तु कहलाना है तो वर्तमान क्षण से परे किसी अवधि के भीतर रहेगी और इसलिए उसमें क्रमागति आवश्यक हो जाएगी। यदि वस्तु का किंचित् भी अस्तित्व है, तो वह परिवर्तन के बाद भी वैसी ही रहेगी और वह वस्तु किसी सीमा तक, उस परिवर्तन का विधेय बनेगी। यदि आप एक अणु की गति के सदृश किसी सरल उदाहरण की कल्पना करें, तो हमारे उद्देश्य के लिए वह पर्याप्त है। क्योंकि, यदि यह वस्तु गति नहीं करती तो गति का कोई अस्तित्व नहीं। परन्तु यदि वह गति करती है, तो क्रमागति उसका विधेय बनती है और वह वस्तु भेदों में एकत्व का सूत्र बनती है। दूसरे, यह एकत्व एक कल्पना-मात्र है, क्योंकि इसके अन्तर्गत तत्व-मात्र का अथवा उस-सबका जो हम वस्तु के विषय में कहने में समर्थ हैं समावेश होता है। अणु संचलन की प्रक्रिया के अन्त में आप शंका उठाइए कि क्या यह अणु वही है? जिस प्रश्न को यहाँ उठाया गया है उस-का उत्तर तब तक नहीं दिया जा सकता जब तक कि उसकी विशेषता को ध्यान में न रखा जाए। एक दृष्टि अर्थात् स्थान-परिवर्तन की दृष्टि से वह भिन्न है, परन्तु दूसरी दृष्टि अर्थात् उसकी विशेषता की दृष्टि से वह वही है। और इस दृष्टि से उसमें तात्त्विक एकत्व है। यदि कोई यह आपत्ति करे कि अणु में कोई तत्व नहीं है, तो उसे चाहिए कि वह सर्वत्र अणु के स्थान पर 'शरीर' शब्द को रख दें, और फिर स्वयं निश्चित करे कि दक्षिण-वाम जैसे गुणात्मक भेदों के बिना वह अणुओं को एक-दूसरे से पृथक् कैसे करता है। तत्त्व का यह एकत्व ही काल्पनिक कहा जाता है, क्योंकि वह प्रत्यक्ष अस्तित्व से परे की बात है। अस्तित्व केवल वर्तमान की वस्तु है, और दूसरी ओर वस्तु का वस्तुत्व इसी में है कि उसका अस्तित्व एक ओर वर्तमान से आगे और दूसरी ओर भूत के गर्भ में फैला हुआ है। यहाँ पर मैं वर्तमान कालक्षेप में वस्तु के एकत्व के प्रश्न पर विचार नहीं करूँगा, क्योंकि मुझे सन्देह है कि कोई भी

व्यक्ति इस आधार पर हमारे निष्कर्ष के विषय में कोई शंका उठा सकता है। यहाँ मैं अदृश्यों का एकत्व के समस्त प्रश्न को उठाना नहीं चाहता, मैं तो केवल यह कह रहा हूँ कि वस्तु के लिए आवश्यक क्रमागति उसके व्यक्तित्व के एकत्व पर निर्भर प्रतीत होती है। संक्षेप में कोई वस्तु तभी तक वस्तु है, जब तक कि वह अब भी वही है जो पहले थी। यह नहीं स्पष्ट होता कि एकत्व का यह सम्बन्ध कैसे सत् हो सकता है।

यह वर्तमान को भूत से जोड़नेवाला सम्बन्ध है और यह सम्बन्ध स्पष्टतः वस्तु-प्राण है। परन्तु यदि यह बात है तो एक से अधिक अर्थों में वस्तु अपने ही इतिहास की घटनाओं का सम्बन्ध-सूत्र हो जाती है। यदि हम यह कहें कि वस्तु वह सम्बन्ध-सूत्र है जो कि काल-विशेष की सीमा को पार करता है, तो निःसन्देह हमने इस बात को स्वीकार कर लिया है कि, यह लिपि वस्तु पूर्णतया एक कल्पना नहीं है, तो भी वह तत्त्वतः एक कल्पना है, और जो किसी भी काल-विशेष पर सत न हो वह कल्पना हीं हो सकती है। यह समस्या कोई गढ़ी हुई सूक्ष्म जटिलता-मात्र नहीं, अपितु यह व्यावहारिक भी है। यदि हमसे यह पूछा जाए कि अमुक वस्तु वस्तुतः वही है, तो प्रायः उत्तर देना असम्भव होता है। यदि किसी रचित पदार्थ में फिर काम किया गया हो और उसको अंशतः फिर से बनाया गया हो, तो ऐसे प्रश्न का तब तक कोई अर्थ नहीं हो सकता जब तक उसको स्पष्ट न कर दिया जाए। आज जिस पक्ष या विशेषता के विषय में सोच रहे हो, उसका उल्लेख आवश्यक होगा। एकत्व के विषय में जो प्रश्न होते हैं वे सदैव विशेषता की एक समानता से सम्बन्ध रखते हैं, और सामान्यतः आपके उत्तर न दे सकने का कारण यह होता है कि आप उस सामान्य विशेषता को नहीं जानते जिसको वस्तु का तत्त्व माना गया है। वह सर्वदा कोई द्रव्य नहीं होता, क्योंकि किसी शरीर के कण-कण बदल जाने पर भी हम उसको एकत्व से युक्त कर सकते हैं। वह सदा ही वस्तुगत आकृति या आकार, या रंग या उद्देश्य नहीं है। वस्तुतः किसी वस्तु के व्यक्तित्व की सामान्य प्रकृति, प्रथम तो उसके अस्तित्व में स्थायी विकृति का अनुभव होने और दूसरे, प्रतिवस्तु में भिन्न होने वाली इसी गुणात्मक एक समानता रखने में निहित है। कुछ वस्तुओं के विषय में जब हमसे यह पूछा जाता है कि उनका व्यक्तित्व सुरक्षित है या नहीं, तो हम उत्तर देने में असमर्थ रहते हैं, क्योंकि हम अक्षरशः यह नहीं जानते कि उनकी एक समानता या एकतानता किस विशेपता में है। यदि कोई हमारे सामान्य विचारों के महत्व का कोई उदारहण चाहे तो उसको सम्भवतः सर जॉन कटलर के रेशमी मोजों में मिल सकता है। उनकी यहाँ तक ऊनी-तागे से मरम्मत होती गयी कि उनमें रेशम का

नाम भी नहीं वचा और उनके विषय में इस वात से कोई नहीं सहमत हो सकता था कि वे वही पुराने मोजे हैं या कि नये हैं। संक्षेप में किसी वस्तु की एकतानता या व्यक्तित्व उस दृष्टि पर निर्भर है जिस दृष्टि से आप उसे देखते हों। प्रायः यह दृष्टि एक आकस्मिक कल्पना-मात्र प्रतीत हो सकती है, और जहाँ वह आवश्यक भी प्रतीत होती है वहाँ वह फिर भी एक कल्पना ही रहती है। अथवा यदि आप चाहें, तो उसको एक ऐसी विशेषता भी मान सकते हैं जो आप-द्वारा ग्रहण किये तथ्य के वाहर और पारे अपना अस्तित्व रखती हो। परन्तु यदि यह वात है, तो यह देख सकना सरल नहीं कि कोई वस्तु कैसे सत् हो सकती है। अतः वस्तुएँ अभी तक आभास-मात्र ही सिद्ध हुई हैं।

नवाँ अध्याय

आत्मा के अर्थ

हमारे अब तक के तथ्य भ्रमात्मक सिद्ध हुए। हमने देखा कि वस्तुएँ खण्ड-खण्ड होकर ऐसे सम्बन्धों में विलीन हो गयीं जिनके लिए कोई व्यंजक ही न रहे। इस रोग की जड़ें इतनी गहरी हैं कि हमको सम्भवतः इसमें भी संदेह होने लगा है कि उसका निराकरण भी सम्भव है या नहीं। सातवें अध्याय के अन्त में हम स्वभावतः अचेतन के परे जाकर आत्मा तक पहुँच गये, जहाँ कि कुछ लोगों के मतानुसार, हमारे मतों का अन्त हो जाता है। वे लोग हमको विश्वास दिलाते हैं कि आत्मा आभास नहीं, पूर्ण सत् है; वह न केवल स्वयं सत् है, अपितु उसकी सत्ता उसकी निज की सीमाओं के परे जाकर अनात्म का भी उद्धार करती है। यह एक ऐसा ध्रुव केन्द्र है, जिसके चतुर्दिक तथ्य अपने को सुरक्षित रूप से संगठित कर सकते हैं। दूसरे शब्दों में, वह किसी-न-किसी प्रकार से, हमारे लिए एक ऐसा उपमान बन जाती है जिसकी सहायता से हम विश्व को जान सकते हैं। इस दाँवे की गम्भीर परीक्षा में, अब हमें रत होना चाहिए। क्या आत्मा सत्य है, क्या वह कोई ऐसी वस्तु है जिसको हम सत् का विधेय बना सकें? या, दूसरी ओर, वह सभी पिछली वस्तुओं की भांति, केवल एक आभास है—एक ऐसी वस्तु है जो, एक अर्थ में, निश्चित रूप से अस्तित्व रखती है, परन्तु जिसमें इतने विरोधी तत्त्व भरे पड़े हैं कि उसको वास्तविक तथ्य नहीं कह सकते? मैं तो दूसरे परिणाम को अपनाने में विवश हूँ।

प्रस्तावित अनुसंधान के मार्ग में एक बड़ी कठिनाई है। मनुष्य प्रायः यह समझता है कि आत्मा शब्द से उसका जो अभिप्राय है उसको वह जानता है। सम्भव है अन्य वस्तुओं के विषय में उसे कुछ सन्देह हो, परन्तु इस विषय में वह सन्तुष्ट प्रतीत होता है। उसका अनुमान है कि वह आत्मा के विषय में यह भी जानता है कि उसका अस्तित्व है और यह भी कि वह क्या है। निःसन्देह अपने अस्तित्व का तथ्य, किसी अर्थ में, पूर्णतया सन्देहातीत है। परन्तु जिस अर्थ में यह अस्तित्व इतना सुनिश्चित है, उस अर्थ के विषय में बात बिल्कुल उल्टी है। मैं तो यह समझ लेता कि इस प्रश्न पर

ध्यान देने वाला कोई भी व्यक्ति एक प्रारम्भिक परिणाम पर पहुंचे विना नहीं रह सकता। हम सबको विश्वास है कि हमारा अस्तित्व है, परन्तु यह अस्तित्व किस अर्थ में है और इसका क्या रूप है; इस विषय में हममें से अधिकांश लोग एक निरीह, अनिश्चय और गहरी उलझन में पड़े हुए हैं। बाहरी वस्तुओं की अपेक्षा यह आत्मा इतना अधिक अस्पष्ट और गूढ़ है कि जब हम उसके विषय में बात करते हैं तो हम यह नहीं जानते कि हमारा अभिप्राय क्या है। परन्तु तत्त्व ज्ञान के लिए, यह अभिप्राय और वह अर्थ निःसंदेह महत्वपूर्ण है ; क्योंकि यदि हम किसी भी अकाट्य सत्य तक नहीं पहुँच सकते, तो यह असमर्थता, मैं बलपूर्वक कहता हूँ कि समूचे प्रश्न को ही समाप्त कर देगी। ऐसी कोई वस्तु जिसका अर्थ सुसंगत और बुद्धिगम्य नहीं है केवल एक आभास है, सत् नहीं।

मैं लगभग यह पूरा-का-पूरा अध्याय, 'आत्मा' शब्द जिन अर्थों में प्रयुक्त होता है, उनको निर्धारित करने के प्रयत्न में लगाऊँगा। इस प्रसंग में मुझे मनोविज्ञान के क्षेत्र में छलाँग मारने पर विवश होना पड़ेगा। वस्तुतः मेरी समझ में तत्वज्ञान के कई अंगों के लिए यह अति आवश्यक भी है। मेरा अभिप्राय यह नहीं कि तत्त्वज्ञान मनोविज्ञान पर आधारित है। मुझे पूरा विश्वास है कि ऐसा आधार असम्भव है और यदि इस ओर प्रयत्न भी किया गया, तो इससे ऐसे वर्णसंकर की उत्पत्ति होगी, जिसमें किसी भी विज्ञान के गुण नहीं होंगे। तत्त्वज्ञान एक व्यवस्थित विश्लेषण में रुकावट डालेगा ; और मनोविज्ञान अधकचरे तत्त्वज्ञान के लिए औचित्य उपस्थित करता रहेगा। और प्रमासिद्धान्त-जैसा कोई मनोविज्ञान वस्तुतः हो नहीं सकता। परन्तु, दूसरी ओर, जो तत्त्वज्ञानी मनोवैज्ञानिक नहीं है, उसे बहुत संकट उठाना पड़ता है, क्योंकि उसको आत्मासम्बन्धी तथ्यों की ऊहापोह करनी पड़ती है; और, यदि उसने उनको जानने का प्रयत्न नहीं किया, तो एक भयंकर संकट उपस्थित हो जाता है। मनोविज्ञान की दृष्टि से 'हौआ' होने वाले जिस तत्त्व को वह ग्रहण कर सकता है, वह निःसंदेह तत्त्वज्ञान की दृष्टि से भी 'हौआ' ही होगा; और उसके अस्तित्व की काल्पनिकता उसके हौएपन को कम नहीं करती। परन्तु अनुभव बतलाता है कि मनुष्य तत्त्वज्ञानी होने पर भी, किसी-किसी स्तर पर साहस खो बैठता है। और हम, इन 'हौआओं' से सम्बन्ध रखकर पार नहीं पा सकते, जो अंत में हमें पथभ्रष्ट कर सकते हैं और नहीं तो कम-से-कम, कभी-न-कभी तो अवश्य ही हमारी राह का काँटा बन जाते हैं। परन्तु, मैं भली भाँति जानता हूँ कि, हम कितनी भी सावधानी क्यों न बरतें, परन्तु फिर भी पास का संकट सबसे कम दिखलायी पड़ता है।

मैं आत्मा के उस प्रयोग का केवल उल्लेख करूँगा जो उसका शरीर के साथ

तादात्म्य बतलाता है। अपने निज के शरीरों का प्रत्यक्षीकरण करने में, निःसंदेह एक मनोवैज्ञानिक मूल है। और यह मूल, यदि किसी अव्यवहित साक्षात्कार-द्वारा शरीर के अस्तित्व को ही आत्मा की वास्तविक अभिव्यक्ति प्रमाणित करने का प्रयत्न करें, तो निःसंदेह वह एक तत्वज्ञानीय रूप ग्रहण कर सकती है। परन्तु मैं इस सबकी उपेक्षा कर देना चाहता हूँ, क्योंकि, जिस अवस्था पर हम पहुँच चुके हैं, उस पर सुपरिचित कठिनाइयों से बच निकलने के लिए कोई मार्ग दिखाई नहीं पड़ता।

(१) अच्छा तो आइए, हम शरीर को एक बाहरी वस्तु के रूप में छोड़कर, आत्मा के अर्थों की गवेषणा करें। इनमें से पहला तो बिल्कुल स्पष्ट है। जब हम किसी व्यक्ति के आत्मा के विषय में पूछते हैं, तो सम्भव है कि हम उसके अनुभव में वर्तमान तत्वों की पूछ-ताँछ कर रहे हों। किसी क्षण-विशेष पर आप मनुष्य में से एक तल-भाग लीजिए, तो आपको उसमें अनुभूतियों, विचारों तथा आलोचनों की वह भयंकर भीड़ मिलेगी, जो उसके पास वस्तुओं अन्य व्यक्तियों और स्वयं निज के जगत के रूप में आती है और जिसमें, निःसन्देह प्रत्येक वस्तु के विषय में उसकी अपनी सम्मतियाँ और इच्छाएँ होती हैं। 'प्रत्येक वस्तु' से अभिप्राय आत्म और अनात्म से है, और जो इन दो भागों में नहीं आता उससे भी संक्षेप में, एक क्षण-विशेष पर मनुष्य की आत्मा में जो-कुछ भरा पड़ा है उस-सबसे अभिप्राय है, इस-सबको सम्भवतः उस समय समझ सकेंगे जब हम यह पता लगाएँगे कि किसी समय-विशेष पर व्यक्ति का क्या स्वरूप है। सिद्धान्त रूप में, इसमें कोई कठिनाई नहीं यद्यपि उसके स्थूल और विस्तृत विवेचन को सँभालना स्वभावतः असम्भव है। परन्तु, हमारे वर्तमान उद्देश्य की दृष्टि से, इस प्रकार के अर्थ से कोई काम नहीं चलता दीखता।

(२) किसी क्षण-विशेष पर मनुष्य के भीतर एकत्र होने वाली संहति इस प्रश्न का उत्तर नहीं है कि आत्मा क्या है। यदि हम और आगे न भी जाएँ तो भी आत्मा अवश्य ही कोई वर्तमान के परे की वस्तु होगी और उसके अन्तर्गत परस्पर-विरोधी परिवर्तनों की परम्परा नहीं हो सकती। अच्छा, तो आइए हम अपने उत्तर को थोड़ा बदल दें और कहें कि किसी क्षण-विशेष पर स्थित संहति नहीं अपितु सामान्य सहित आत्मा है। पहले की भाँति ही पूरे मनुष्य में से एक तल-विभाग लीजिए और उसके सम्पूर्ण मनोवैज्ञानिक तत्वों को उबार दीजिए, अब इसी भाग को विभिन्न समयों पर लीजिए और जो अपवाद स्वरूप पड़ें उनको निकाल दीजिये। इस प्रकार जो शेष बचेगा वह मनुष्य के अनुभव में समाविष्ट होने वाला, सामान्य एवं साधारण तत्व होगा और वही व्यक्ति की आत्मा है। इस आत्मा में पूर्ववत् प्रत्यक्षीकृत परि-स्थिति संक्षेप में आत्मा के प्रसंग में समस्त अनात्म होगी, परन्तु अब उसमें केवल

सामान्य अथवा औसत अनात्म भी होगा जिसके अन्तर्गत व्यक्ति के समस्त नियम और विशेषताएँ तथा आदतें भी सम्मिलित होंगी । अपने आत्मा के अन्तर्गत वह जिस प्रकार व्यवहार करता है और जिसके प्रति और जहाँ तक वह व्यवहार करता है, वह सब-कुछ इसमें आ जाता है ।

यहाँ पर हम आत्म-तत्त्व और उसकी उपाधि (अतत्त्व) के बीच भेद करने की ओर उन्मुख हो रहे हैं, परन्तु हम अभी इस अवस्था तक पहुँचे नहीं हैं । फिर भी हमने आत्मा को किसी क्षण-विशेष के अथवा क्रमागत क्षणों के सम्पूर्ण व्यक्ति के रूप में ग्रहण करना अस्वीकार कर दिया है और जब हमने उसे व्यक्ति के रूप में ग्रहण करना अस्वीकार कर दिया है और अब हम उसे व्यत्ति के सामान्य घटकों (तत्वों) के रूप में ग्रहण करने का प्रयत्न कर रहे हैं । मनुष्य का सामान्य आत्मा किन तत्वों से बनता है ? इसका उत्तर हम दे चुके हैं, उसके अन्तर्गत उसकी स्थायी अवस्थितियाँ और स्थायी इयत्ताएँ आती हैं, न कि दिन-प्रति-दिन या घंटे-घंटे में होने वाले उसके परिवर्तन । इन इयत्ताओं में मनुष्य केवल आन्तरिक अनुभूतियाँ, या जिनको वह अपने आत्मा के रूप में सोचता है, केवल वही नहीं आती । उनके अन्तर्गत, जहाँ तक बाह्य परिस्थिति के साथ मनुष्य का सम्बन्ध है और उसके व्यक्तित्व की रचना में जहाँ तक वह योग देती है, वहाँ तक उस बाह्य परिस्थिति का भी तात्विक समावेश पूरे तौर से होता है । यदि हम मनुष्य को कतिपय स्थानों और व्यक्तियों से पृथक् कर लें, तो हम उसके जीवन को इतना बदल डालेंगे कि वह अपने 'सामान्य-आत्मरूप' में नहीं रहेगा । इसके अतिरिक्त मनुष्य के जीवन में यह स्थायी अनात्म अपने व्यक्तिगत रूप में प्रवेश कर बैठता है । सम्भवत: उसकी पत्नी, उसका बच्चा अथवा उसकी जड़ परिस्थिति की कोई विशेषता या अंश यदि नष्ट हो जाए, तो उसकी पूर्ति किसी भी अन्य वस्तु-द्वारा इतनी नहीं हो सकती कि मनुष्य की आत्मा में कोई गम्भीर परिवर्तन न हो सके । अत: हम इनको ऐसे अंग कह सकते हैं जो कि वैयक्तिक दृष्टि से आवश्यक हैं, अर्थात् यह मनुष्य के लिए किसी अस्पष्ट और व्यापक रूप में नहीं, अपितु तद्-तद् वस्तुविशेष की विशेषता के रूप में आवश्यक है । परन्तु उसके सामान्य आत्मा के अन्य क्षेत्र ऐसे अंगों से परिपूर्ण हैं जो केवल सामान्य रूप में ही आवश्यक हैं । अर्थात् उसका सामान्य जीवन अपने विशेष-स्वरूप को ऐसे अनेक सूत्रों से ग्रहण करता है जो कि सीमाओं के भीतर परिवर्तनशील है । उसकी आदतों और उसकी परिस्थितियों की विशेषताओं में अत्यधिक परिवर्तन हो जाने पर भी, उनकी प्रमुख रूपरेखाएँ फिर भी ज्यों-की-त्यों रह सकती हैं । मनुष्य के जीवन का यह अंग उसके औसत आत्मा के निर्माण के लिए आवश्यक है, परन्तु

यदि मूलस्वरूप सुरक्षित रहता है, तो विशेष सूत्र आकस्मिक-मात्र होते हैं।

यह सम्भवतः मनुष्य के सामान्य आत्मा का पर्याप्त अच्छा चित्र है, परन्तु स्पष्टतः सैद्धान्तिक कठिनाइयों का कोई हल नहीं। यह कहा जा सकता है कि मनुष्य का वास्तविक आत्मा परिवर्तनशील वस्तु के साथ होने वाले सम्बन्धों पर निर्भर नहीं हो सकता। यहाँ पर परिवर्तन शब्द का प्रयोग पर्याप्त नहीं, क्योंकि मनुष्य के जीवन-काल में ऐसे परिवर्तन होते हैं जो मिटाये नहीं जा सकते, यदि हानि या मौत, प्रणय या निष्कासन ने मनुष्य की जीवन-धारा को बदल दिया है, तो क्या वह अवश्यः वही मनुष्य नहीं रहा जो पहले था ? परन्तु फिर भी, यदि हम तथ्यों का अनुशीलन करें, और जन्म से लेकर मृत्यु तक मनुष्य की आत्मा का सर्वेक्षण करें, तो सम्भवतः हमें कोई एक सामान्य (औसत) न मिले। एक युग का सामान्य आत्मा दूसरे युग का सामान्य आत्मा नहीं होता और इन विरोधी मानसिक तत्वों को एक संहति में एकत्र करना सम्भव नहीं। तो या तो हम मनुष्य के आत्मा के रूप में ही मनुष्य का इति-हास स्वीकार करें (और यदि यह बात है तो एक क्यों कहें?) अथवा हम विभिन्न अवधियों तक ही अपने को सीमित रखें और एक अद्वैत आत्मा की कल्पना ही को छोड़ दें, अथवा अंतिम विकल्प यह है कि हम आत्मा को मनुष्य की मानसिक सत्ता के सामान्य तत्वों से पृथक मानें। आत्मा के तात्विक स्वरूप का पता लगाना चाहिए जिसको कि व्यक्ति कहते हैं।

(३) आइये, हम पूर्ववत् मनुष्य के मन को लें और उसकी इयत्ताओं और अलंकरणों का निरीक्षण करें। हमने उसके उस भाग का पता लगाना चाहिए जो आत्मा के अंग हैं और जो उसको एक ही रखते हैं और दूसरा नहीं होने देते। इस विषय में जहाँ तक मैं समझता हूँ, हमें साधारण कल्पनाओं से सहायता नहीं मिल सकती। फिर भी इसमें कोई सन्देह नहीं कि सामान्य शारीरिक चेतना पर आश्रित अनुभूति का अन्तर्तम केन्द्र ही आत्मा का मूल है।[१]

परन्तु प्रथम तो यह आन्तरिक केन्द्र मनुष्य के सामान्य आत्मा से एक सुनिश्चित रेखा के द्वारा पृथक् हुआ ही नहीं है, और दूसरे, उसके इयत्ता-तत्व विभिन्न स्रोतों से आये हुए हैं। कुछ उदाहरण ऐसे भी मिलेंगे जिनमें अवशिष्ट से अविभक्त रहते हुए भी, उसका एक अनात्मन्‌विशेष से एक प्रकार का सम्बन्ध होगा। जहाँ कोई

१—यह मैं 'माइन्ड' (१२, पृष्ठ ३६ और आगे) में व्यक्त किये हुए कुछ अन्य विचारों की ओर संकेत करना चाहता हूँ। मेरा यह सुझाव नहीं कि अन्तर्तम आत्मा में विचारों को कोई स्थान ही न हो। यहाँ स्पष्टतः ही उन विचित्र आत्माओं की ओर ध्यान दिया जाता है जिनका संकेत सम्मोहन (हिप्नाटिज्म) में मिलता है।

व्यक्ति ऐसा हो कि परिस्थितिजन्य तत्त्वों में कोई भी परिवर्तन उसे पूर्णतया अस्थिर कर दे और जहाँ यह परिवर्तन आत्मग्लानि की ऐसी तीव्र भावना पैदा कर दे, जिससे माँदगी या मौत भी सम्भव हो सके, तो हमको स्वीकार करना पड़ेगा कि आत्मा किसी दीवार से घिरी हुई नहीं है। और तात्त्विक आत्मा का कहाँ अंत हो और अतात्त्विक (औपाधिक) का कहाँ प्रारम्भ हो, यह भी एक ऐसी पहेली है जिसका उत्तर नहीं।

इस प्रश्न का उत्तर देने के प्रयत्न में एक भयंकर साँप-छछूंदर की गति मार्ग रोक कर खड़ी हो जाती है। यदि आप ऐसे तत्व को माने जो परिवर्तनशील है, तो वह कदापि तत्त्व नहीं हो सकता, जबकि यदि आप किसी ऐसे आश्रय को लें जो और अधिक संकुचित हो, तो आत्मा का अस्तित्व ही संकट में पड़ जाता है। आत्मा का यह तत्त्व क्या है जो कभी बदलता नहीं ? बचपन और बुढ़ापा, रोग और पागलपन नयी-नयी विशेषताएँ उत्पन्न करते हैं, जबकि कुछ पुरानी विशेषताएँ दूर भी हो जाती है, आत्मा की परिवर्तनशीलता की कोई सीमा निर्धारित करना वस्तुतः कठिन है। एक आत्मा जिस परिवर्तन को सहन कर जाता है जबकि दूसरा उसमें नष्ट हो जाता है। परन्तु दूसरी ओर प्रत्येक में एक ऐसी स्थिति आती है, जहाँ हमें मानना पड़ेगा कि मनुष्य अपने वश में नहीं रहता। भ्रान्तियों में डूबा हुआ, स्मरण-शक्ति से रहित, मनोदशा में पूर्णतया परिवर्तित, अपने व्यक्तित्व के केन्द्र में ही अस्वस्थ भावनाओं को विराजमान किए हुए, क्या इस आत्मा का उसके साथ कुछ भी तादात्म्य है जिससे हम परिचित थे ? अच्छा, सम्भव है ऐसा ही हो, आप तो कहिए (जो कि आप दिखलाने में असमर्थ हैं) कि एक सूत्र ऐसा भी है जो अभी तक अछूता है, एक स्थल ऐसा भी है जिस पर अभी धावा नहीं बोला गया है। मैं आप से यह नहीं कहूँगा कि आप वह मुझे बतलाएँ, क्योंकि मुझे विश्वास है कि आप के लिए, यह सम्भव नहीं, परन्तु उस साँप-छछूंदर गति का दूसरा पक्ष मैं आपके सामने रखता हूँ। भावना पर विचार का यह संकुचित चिरस्थायी तत्व समस्त आकाशीय प्रभावों की दासता को न मानने वाला यह ध्रुव सत्य तत्व, यह अभागा अंश और बेचारा अणु जो इतना लघुतम है कि उस पर कोई संकट नहीं आ सकता। क्या आपका अभिप्राय है कि यह अंतिम अवशेष सचमुच आत्मा है ? यह कल्पना थोथी है और इस प्रश्न के लिए उत्तर की आवश्यकता नहीं। यदि आत्मा को एक ऐसा सूक्ष्म बिन्दु मान लिया जाए जिसमें विकार नहीं होता, तो बिन्दु वास्तविक आत्मा नहीं हो सकता। परन्तु इससे अधिक स्थूल और विस्तृत वस्तु कोई ऐसा वर्ण होगा जो कि नये-नये रूप ग्रहण करेगा। इसलिए वह वस्तु आत्मा नहीं हो सकती। हमारे लिए यह पहेली बहुत जटिल सिद्ध हुई है।

इस प्रकार हम आत्माभिज्ञान की समस्या पर पहुँच जाते हैं और जो भी यह समझता हो कि अपने-आत्मा से उसका जो अभिप्राय है उसको वह जानता है तो उसको यहाँ पर हल ढूंढ निकालने के लिए आह्वान किया जाता है। मेरे विचार में, उसका कोई हल प्रतीत नहीं होता, परन्तु इसलिए नहीं जो प्रश्न पूछे जाते हैं वे तत्वतः ऐसे ही प्रश्न होते हैं जिनका कोई उत्तर नहीं होता। असफलता का वास्तविक कारण इस बात में है कि उन प्रश्नों का जो अर्थ होता है उसको न जानते हुए भी हम उन प्रश्नों को पूछे चले जाते हैं, जबकि उनका अर्थ किसी असत्य पर आधारित रहता है। जैसा कि हमने सातवें अध्याय में देखा, तादात्म्यविषयक प्रश्नों में यह बहुत आवश्यक है कि आप प्रश्न करते समय यह निश्चय कर लें कि आप किस पक्ष के विषय में पूछ रहे हैं। कोई वस्तु आपके दृष्टिकोण के भेद से सरूप या विरूप हो सकती है। अतः वैयक्तिक सरूपता या एकरूपता के विषय में प्रमुख बात यह है। कि व्यक्ति के अर्थ को निश्चित किया जाए, और इस विषय में हमारे विचार अस्पष्ट होने के कारण ही हम मुख्यतः किसी भी परिणाम पर पहुँचने में असमर्थ होते हैं।

सामान्य दृष्टि में, किसी मनुष्य की एकरूपता या तादात्म्य मुख्यतः उसके शरीर में निहित है। यहीं पर केन्द्र-बिन्दु है। क्या शरीर वही है ? और सम्भवतः उसने अपनी वैयक्तिक एकरूपता को सुरक्षित रखा है, चाहे आपके कथनानुसार किसी भी अन्य वस्तु ने उसे आक्रांत या दूपित क्यों न किया हो। परन्तु जैसा कि हम निःसन्देह देख चुके हैं, शरीर की यह एकरूपता स्वयं एक संदेह भरी समस्या है। (पृष्ठ ६२-६३)। और इसके अतिरिक्त भी केवल शरीर की एक एकरूपता वैयक्तिक तादात्म्य को निश्चित करने का बहुत ही मोटा ढंग है। हम में से बहुत कम ऐसे लोग होंगे, जो आत्मा को शरीर मानें।

अच्छा, तो अब यदि हम आध्यात्मिक निरंतरता या क्रमागति की आवश्यकता को और प्रस्तुत कर दें, तो क्या हमारी कुछ प्रगति हो जाएगी ? क्योंकि यह स्पप्ट है कि इस बात को कोई नहीं जानता और न उसके निर्णय का कोई ढंग ही प्रतीत होता है कि अध्यात्म प्रवाह में अन्तराल का अभाव है या नहीं। देखने में तो यह लगता है कि नींद में अथवा दूसरी अवस्था में, इस प्रकार के अंतराल कम-से-कम संभव हो सकते हैं, और यदि यह बात है, तो क्रमागति संदिग्ध होने से उसका प्रयोग तादात्म्य सिद्ध करने में नहीं किया जा सकता। इसके अतिरिक्त, यदि हमारी आध्यात्मिक इयत्ताओं में न्यूनाधिक कायापलट सम्भव है, तो अंतराल का अभाव-मात्र, एकरूपता को प्रमाणित करने के लिए शायद ही पर्याप्त समझा जा सके। जहाँ तक मैं निर्णय कर सका हूँ, वैयक्तिक एकरूपता के लिए, सामान्यतः निरंतरता तथा गुणा-

त्मक तादात्म्य दोनों की ही आवश्यकता होती है। परन्तु, इन दोनों में से, प्रत्येक का किस अंश में आवश्यकता होती है, और दोनों का परस्पर क्या सम्बन्ध होता है, इस प्रसंग में मुझे एक भयंकर उलझन के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं दिखायी पड़ता। आइये हम उसकी परीक्षा और निकट से करें।

संभवतः हमें यह कहना चाहिए कि एक आत्मा से अभिप्राय एक अनुभव से है। और इस एक का अभिप्राय या तो किसी कल्पित बाहरी पर्यवेक्षक से हो सकता है, अथवा प्रस्तुत आत्मा की चेतना से, और दूसरी प्रकार की एकता पहली के साथ अथवा उससे पृथक् भी रह सकती है। वह आत्मा तब तक एक नहीं हो सकता जब तक कि निश्चित सीमाओं के बीच उसका गुण वही नहीं रहता। परन्तु, हम पहले ही देख चुके हैं कि यदि व्यक्ति को केवल बाहर से देखा जाए, तो ऐसी सीमा को ढूंढ निकालना बिलकुल असम्भव है जिसके भीतर परिवर्तन ही न हो, परन्तु जिसमें फिर भी वास्तविक आत्मा का अस्तित्व सम्भव हो सके। अतः यदि बाहरी पर्यवेक्षक को प्रतीत होने वाली एकरूपता ही एकमात्र कसौटी हो, तो यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि मानव-जीवन में आत्माओं की कभी-कभी माला हो जाएगी। परन्तु किस भेद-विन्दु पर और किस निश्चित सिद्धान्त पर यह परम्परा घटित होगी, यह अनिश्चित प्रतीत होता है। प्रश्न महत्वपूर्ण है, परन्तु निर्णय, (यदि कोई सम्भव हो) नितांत मनचाहा प्रतीत होता है। परन्तु सम्भवतः, यदि हम बाहरी पर्यवेक्षक के मत को छोड़ दें, तो हमें कोई सिद्धान्त मिल जाए। आइए प्रयत्न करें।

हम स्मृति को कसौटी मान लें और कहें कि जिस आत्मा को अपनी स्मृति रहती है वह एक है और इसी में उसकी वैयक्ति एकरूपता (अव्ययता) निहित है। स्मृति की एक स्वतंत्र सत्ता मान लेने से, संभवतः हमारा पक्ष सुदृढ़ और समर्थ हो जाए। परन्तु, यह वस्तुतः भारी भूल है। पुनरुत्पादन के एक विशेष प्रयोग में, स्मृति, समझदार मनोवैज्ञानिक के लिए, न तो कोई अद्भुत आश्चर्य ही प्रकट करती है और न वस्तुतः अन्य अनेक व्यापारों की भाँति कोई बड़ी कठिनाइयाँ उपस्थित करती हैं। और जिस सूत्र पर मैं यहाँ जोर देना चाहता हूँ, वही उसकी अपूर्णता और सदोषता है। आप उसकी परीक्षा किसी ओर से कर लीजिए, चाहे लम्बाई में या चौड़ाई में, परन्तु उसमें एकता का अभाव मिलेगा। हम जिस एकमात्र स्मृति की बात कर रहे हैं, वह हमारे विविध जीवन के अनेक पक्षों के लिए अति दुर्बल तथा अन्य पक्षों के लिए बिना किसी समानुपात के, अति सबल देखी जाती है। अतः उसको, अंशतः असंबद्ध रहनेवाली सहगामी स्मृतियों का एक गुच्छ मानना अधिक अच्छा प्रतीत होता है। यह निश्चित है कि किसी भी क्षण विशेष पर हमें जिसकी स्मृति आती है वह

अत्यन्त आंशिक होता है। हमारे जीवन के ऐसे पक्ष भी हैं, जो उससे पूरे-के-पूरे अछूते रह जाते हैं और साथ ही ऐसे भी हैं, जिनमें उसकी दुर्बलता की मात्रा भिन्न-भिन्न होती है। यह तो उस समय की बात है, जब कि स्मृति पूर्णतया स्वस्थ हो, यूँ तो ऐसे भी अवसर होते हैं जब उसकी असमर्थता की कोई सीमा प्रतीत नहीं होती। न केवल गट्ठर के कुछ तंतु अभावयुक्त या दुर्बल होते हैं, अपितु शेष में से, कुछ-एक तो गायब ही रहते हैं। हमारे जीवन के जो अंग नींद, नशा, अथवा अन्य प्रकार की अमनस्कता के होते हैं, उनको स्मृति में कोई स्थान ही नहीं मिलता।

यह सब होते हुए भी स्मृति की धारा निःसंदेह निरंतर तथा क्रमागत रहती है। परन्तु इसी प्रकार वह उस समय भी प्रवाहित रहती है, जब हमारे प्रस्तुत रोग में हमारा स्मरण पक्षपाती या विकृत हो जाता है। यही नहीं, जब एक ही मनुष्य में दो असंबद्ध स्मृतियों का समय-समय पर प्रत्यावर्तन हो तो भी स्मृति अपने स्वभाव को अक्षुण्य रखती है तथा अपनी एकरूपता की घोषणा करती है। मनोविज्ञान बतलाता है कि यह कैसे होता है। स्मृति का आधार वह पुनरुत्पादन है जो किसी निरंतरित या क्रमागत वर्तमान मूल से उद्भूत होता है, यह मूल आत्मानुभूति में निहित ही कहा जा सकता है। इसलिए जहाँ तक यह मूल, जीवन-पर्यन्त, एक ही रहता है वहाँ तक सामान्यतः वह उससे संबंधित प्रत्येक वस्तु को स्मृति में ला सकता है। और, जैसे-जैसे यह मूल बदलता जाता है, वैसे-वैसे ही उसके संबंध अतीतकाल की घटनाओं से शक्ति और सम्पूर्णता दोनों में बदलते चले जाएँगे। अतः इसी कारणवश जब आत्मानुभूति बदलकर एक अपरिमेय सीमा से परे पहुँच जाती है, तो अतीत के पुनरुत्पादन के लिए आवश्यक आधार जाता रहता है। जैसे ही यह विभिन्न आधार एक-एक करके आएँगे, वैसे ही हमारा अतीत जीवन भी विभिन्न रूप में प्रकट होगा—एक आत्मा के रूप में नहीं, अपितु एक-एक करके आने वाली विभिन्न आत्माओं के रूप में। और यह भी सम्भव है कि बहुत हद तक 'इन पुनर्निर्मित' आत्माओं का अतीत में अस्तित्व ही न रहा हो। जो व्यक्ति अपनी एकरूपता को स्मृति-मात्र में निहित मानता है, उसको अब मैं आह्वान करता हूँ कि वह अपने मत-द्वारा इन तथ्यों का सामना करे और हमें बतलाए कि वह उनको किस प्रकार समझता है। चाहे वह यह स्वीकार न करे कि वैयक्तिक एकरूपता में विभिन्न मात्राएँ होती हैं, उसको कम-से-कम यह तो मानना ही पड़ेगा कि एक ही जीवन में हमारी एक से अधिक आत्माओं का होना सम्भव है। उसको उस अतीत के साथ तादात्म्य स्थापित करने के लिए विवश होना पड़ेगा, जो उसके लिए कभी-कभी रहता है, जब कि औरों के लिए कभी भी वर्तमान नहीं रहता। ऐसी परिस्थितियों में यह जानना सरल नहीं कि आत्मा

कहाँ जाता है। मैं कुछ और आगे जाऊँगा। यह सब जानते हैं कि एक भयंकर चोट से होने वाली बेहोशी जब एक आपरेशन के द्वारा दूर की जाए, तो बहुत संभव है कि हमारे मानसिक जीवन का पुनः सूत्रपात चोट के क्षण से हो। यदि आत्मा जिस अवस्था में इस समय है उसी के कारण और अनुकूल उसको स्मृति आती है, तो क्या यह सम्भव नहीं कि कोई दूसरा आत्मा उसी गुण से युक्त हो और इसी लिए वर्तमान में उसी अतीत की स्मृति रखता हो? और यदि एक ऐसा हो सकता है, तो दो या तीन क्यों नहीं? यह सब अपने गुणों की भिन्नता और वाह्य सम्बन्धों की भिन्नता के कारण वर्तमान में परस्पर भिन्न होते हुए भी इतने स्वरूप हो जाते हैं कि वे एक ही अतीत की स्मृति रखें और इसलिए एक ही हो। मुझे यह भी ज्ञात नहीं है कि इस कल्पना को सैद्धान्तिक दृष्टि से असम्भव कह कर कैसे उपेक्षित किया जा सकता है। जैसा कि पहले स्पष्ट हो चुका है, हमें इससे भी सहायता मिल सकती है कि आत्मा को केवल स्मृति के कारण ही एक नहीं कहा जा सकता, अपितु उसको तभी एक कहा जा सकता है जब स्मृति को निरंतर अक्षुण्ण माना जाए। परन्तु इसका अभिप्राय यह है कि अन्ततोगत्वा तादात्म्य अतीत पर निर्भर है और केवल मात्र वर्तमान-चिन्तन पर नहीं। और वैयक्तिक एकरूपता के लिए, सामान्य मतानुसार, किसी मात्रा में और किसी अबुद्धिगम्य अर्थ में, निरंतरता और क्रमागति आवश्यक है। जो मौत से उठा हो, उसके अस्पष्ट तिरोभाव और अर्द्धभाव के विषय में चाहे कुछ भी बुद्धिगम्य बात हमें न मालूम हो फिर भी वह मनुष्य सचमुच वही हो सकता है। परन्तु जो मनुष्य बिलकुल पहले के सदृश हो, परन्तु उतने ही समय के पश्चात् नवनिर्मित किया गया हो, तो उसको यदि हम बिलकुल दूसरा नहीं तो कम-से-कम वही तो नहीं कह सकते। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि वैयक्तिक तादात्म्य के लिए, किसी-न-किसी प्रकार की क्रमागति आवश्यक है, परन्तु वह कितनी हो, यह कोई नहीं जानता। वस्तुतः यदि हम अस्पष्ट शब्दावलियों और निरर्थक सामान्यताओं से सन्तुष्ट नहीं होते तो हमें शीघ्र पता लगता है कि सबसे अच्छी बात यह है कि प्रश्न न पूछे जाएँ। परन्तु यदि हम नहीं मानते, तो इसी परिणाम पर पहुँचने की संभावना है कि वैयक्तिक एकरूपता मुख्यतः मात्रा की न्यूनाधिकता से संबंध रखती है। इस प्रश्न का तभी तक कोई अर्थ है, जब तक कि वह आत्मा के कुछ पक्षों तक ही सीमित है, यद्यपि यहाँ भी प्रत्येक दशा में दृष्टि-बिन्दुओं के मनमाने संग्रह के द्वारा ही संभव है। परन्तु एक आत्मा के सामान्य तादात्म्य का क्या अर्थ है, इस प्रश्न का कोई हल नहीं, क्योंकि यह निरर्थक है। मैं फिर दोहराता हूँ कि यह प्रश्न तब तक बिलकुल मूर्खतापूर्ण है, जब तक कि हमें यह स्पष्ट रूप से न मालूम

हो कि आत्मा क्या है। यदि आप मुझसे पूछें कि कोई मनुष्य अमुक दृष्टि से या अमुक उद्देश्य से एक ही है तो एक-दूसरे को न जानते हुए भी, हम लोगों में मतैक्य होने की संभावना का द्वार खुला हुआ कहा जा सकता है। परन्तु मेरी सम्मति में, फिर भी हम अपने लक्ष्य तक, न्यूनाधिक रूप में, प्रथा या व्यवस्था-द्वारा ही पहुँच सकेंगे। परन्तु, यदि एक अनियन्त्रित प्रश्न का कोई उत्तर सामान्य ढूँढने का प्रयत्न किया गया तो वह एक असम्भव और असत् को पाने के लिए किये गये प्रयत्न के समान होगा।

अभी तक हमने देखा कि आत्मा का कोई निश्चित अर्थ नहीं। व्यक्ति के तत्वों का वह मुश्किल से एक तल होगा, और यदि उसको सामान्य तथा औसत रूप में परिणत कर दिया जाए, तब तो वह ऐसा तल भी नहीं होगा। आत्मा एक अत्यन्त अनिवार्य अंश या व्यापार के रूप में दृष्टि में पड़ता है, परन्तु यह किसी को पता नहीं कि वह अनिवार्यता किस बात में निहित है। हमारे हाथ तो केवल वे परस्पर विरोधी सम्मतियाँ ही पड़ीं जिनको अर्थ का साक्षात्कार कराये जाने पर, संभवतः कोई मनुष्य भी अपनाना पसन्द न करे।

(४) व्यक्ति की इयत्ता तत्वों में से छँटनी करके अथवा उनके ढेर-के-ढेर को स्वीकार करके, हमें दो में से एक ढंग में भी आत्मा न मिली। अतः हम एक प्रकार के परमाणु या किसी कल्पित अद्वैत सत्ता के रूप में उसे मानने के लिये प्रेरित हो सकते हैं। इस रीति-द्वारा विविधता तथा एकरूपता के भोंडे प्रश्नों का बहुत-कुछ निराकरण संभव प्रतीत होता है। इस अद्वैत सत्ता का अस्तित्व एक इकाई के रूप में है—ऐसी इकाई जो किसी क्षेत्र में सम्भवतः दैवयोग या परिवर्तन से भी सुरक्षित हो। पहले तो मैं यहाँ अपने एक निर्णय की याद दिलाना चाहूँगा जो ऐसी किसी सत्ता की सम्भावना के विरुद्ध सिद्ध हो चुका है (अध्याय ३ और ५)। दूसरे संक्षेप में, मैं यह दिखाऊँगा कि उसका स्वरूप नितांत अस्पष्ट है। क्या वह आत्मा है भी, और यदि है तो कहाँ तक और किस अर्थ में ?

यदि हम इस इकाई को मनुष्य-जीवन के साथ-साथ संचरण करने वाला अथवा गतिशील, नहीं, अपितु उसकी परम्परागत विविधता के साथ अक्षरशः संबंधित मान लें, तो इससे हमारा कोई अधिक काम नहीं चलेगा। यह मनुष्य का आत्मा लगभग वैसा ही होगा जैसा कि उसका वह ग्रह (यदि उसका कोई ग्रह है) जो ऊर्ध्वलोक से नीचे देखा करता है, परन्तु उसे इसकी चिन्ता नहीं कि वह (मनुष्य) कब मिट जाता है। और यदि वह इकाई मनुष्य के जीवन में उतरकर उसके चढ़ाव-उतार को सहन करती है, तो, वह किस अर्थ में, फिर भी इकाई बनी रहती है ? और यदि हम इस प्रश्न पर

थोड़ा-सा दृष्टिपात भी कर लें, तो हमें इसी निर्णय पर पहुँचने के लिए विवश होना पड़ेगा। यदि हमें पहले से ही आत्मा के अर्थ का ज्ञान हो और यदि हम उसके अस्तित्व को वता सकें तो भले ही आत्मा के स्वरूप-निर्वारण के लिए परमाणु को एक मत के रूप में रखा जा सके। यह एक अकाट्य मत तो नहीं होगा, परन्तु कम-से-कम 'किंचिन्मात्र' के व्याख्यान के प्रयत्न रूप में तो उसका आदर होगा ही परन्तु, जव तक आत्मा का वास्तविक अस्तित्व हमारे सामने न हो, तव हमारा परमाणु हमें ज्यों-का-त्यों उन्हीं उलझनों और अस्पष्टता में पड़ा रखता है। इसके अतिरिक्त वह हमारे ऊपर एक और समस्या लाद देता है और वह यह है कि उसका इन तथ्यों से क्या सम्वन्ध है, जिनके विपय में हम इतने अनभिज्ञ हैं। मेरा अभिप्राय केवल यह है कि मान लीजिए, आप यह स्वीकार करते हैं कि आत्मा का तत्त्व स्मृति है और फिर आप स्मृति-क्रिया के व्यौरे के लिए तथ्यों की आवश्यकता के अनुसार एक, दो तीन या अधिक परमाणु प्रस्तुत करते हैं। मैं आपके मत को व्यर्थ समझता हूँ, परन्तु, किसी हद तक मैं उसका आदर भी करता हूँ, क्योंकि उसने कम-से-कम किसी तथ्य को स्वीकार किया, और वह उसका व्यौरा वताने का प्रयत्न कर रहा है। परन्तु, आप हमारे सामने एक अस्पष्ट और अनिर्दिष्ट संहति लाकर पटक दें और उसके पास ही एक ही इकाई रख कर कहें कि दूसरी वस्तु पहली की आत्मा है, तो मैं यह समझूँगा कि आप कुछ भी नहीं कह रहे हैं। मैं तो केवल यही देख रहा हूँ कि आप इस दलदल में फँसने जा रहे हैं। यदि परमाणु में समस्त विविधता, अथवा व्यक्ति में स्थित कुछ छँटी हुई विविवता हो तो इसमें आत्मा का तादात्म्य पा लेने पर भी, आपको उसकी संगति परमाणु की अद्वेतता के साथ पूर्णरूपेण मिलानी पड़ेगी। परन्तु, यदि विशेपता-मात्र से रहित होकर अथवा किसी विशेपता-विशेप के सहित होकर, परमाणु, अपना पृथक अस्तित्व वनाये हुए है, तो वह स्वयं एक सुन्दर वस्तु हो सकती है, परन्तु मनुष्य का आत्मा कहना केवल हास्यास्पद है। अभी इतना ही कहकर मैं इस सूत्र को छोड़कर आगे वढ़ता हूँ।

(५) यह सुझाव हो सकता है कि जो वस्तु व्यक्तिगत रुचि की हो उसको आत्मा माना जाए। जो तत्त्व मुझे आत्मीय लगते हैं उनको आत्मा या कम-से-कम, अस्तित्व रखनेवाला यावत् आत्मा माना जा सकता है। रुचि मुख्यतः, यद्यपि पूर्णतः नहीं, सुख और दुःख में निहित है। इसलिए आत्मा अनुभतियों का वह समूह है जो, न्यूनाविक रूप में, निरंतर वर्तमान है और जो सदा सुख-दुःख से युक्त रहता है। समय-समय पर इस समूह में जो भी आ मिलेगा वह एक व्यक्तिगत वस्तु और आत्मा आत्मा का अंग वन जायेगा। इस सामान्य दृष्टि के द्वारा हमें चाहे आत्मा की कल्पना

के लिए, एक उपाय मिल जाय, परन्तु तत्त्व ज्ञान के लिए, इससे स्पष्टतः कोई बहुत बड़ी आशा नहीं की जा सकती, क्योंकि आत्मा के तत्त्व विभिन्न कालों पर विभिन्न और मुख्यतः परस्पर-विरोधी होंगे, और उनका अध्याहार अनेक भिन्न स्रोतों से होगा। वस्तुतः यदि आत्मा से अभिप्राय उसी से है जो हमें व्यक्तिगत रूप से रुचता है, तो किसी समय-विशेष पर वह अति विस्तृत और संभवतः किसी दूसरे समय पर अति संकुचित होगा, और विभिन्न अवसरों पर वह स्वयं से भिन्न होता रहेगा।

(६) अब हम आत्मा को समझने के सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण ढंग पर पहुँचते हैं। अभी तक हमने अहं और इदं के भेद की उपेक्षा की है। हमने सम्पूर्ण आध्यात्मिक व्यक्ति से प्रारम्भ करके आत्मा को उसके भीतर अथवा उसके संबंध में ढूंढ़ने का प्रयत्न किया है। परन्तु, हमने देखा कि इस व्यक्ति के भीतर अहं और इदं, आत्मा और अनात्मा, दोनों ही विद्यमान हैं। कम-से-कम अनात्म को उस हद तक तो इसमें स्थान मिलना ही चाहिए जिस हद तक वह आत्मा से सम्बन्ध स्थापित करता है और एक विषय अथवा इदं के रूप में प्रकट होता है। पाठक सम्भवतः इसी बात को दूसरे ढंग से कहना पसन्द करें, परन्तु मेरा अनुमान है कि वह इस तथ्य को अवश्य स्वीकार करेंगे। यदि आप मानव-मन के भीतर जो भी, विस्तृततम अर्थ में हो सकता है उसको लें, तो आपको वहाँ अहं और इदं तथा उन दोनों का संबंध प्राप्त होगा। निर्विवाद रूप से यही अवस्था प्रत्यक्ष और विचार तथा इच्छा और संकल्प दोनों में होगी। परन्तु अनात्मविरोधी इस आत्मा की उस आत्मा के साथ कदापि एकरूपता नहीं हो सकती, जिसको व्यक्ति के रूप में या तात्त्विक व्यक्ति के रूप में ग्रहण किया जायगा। इस प्रसंग में जो भयंकर उलझन सबसे अधिक प्रचलित है उससे प्रेरित होकर, मैं पाठक का विशेष ध्यान इस ओर आकर्षित करता हूँ। जैसा कि सर्व-विदित है अहं और इदं के रूप में आत्मा का जो आध्यात्मिक विभाग किया जाता है उसके दो रूप हैं। आत्म और अनात्म का जो संबंध है वह एक तो सैद्धान्तिक है और दूसरा व्यावहारिक। पहले में प्रायः प्रत्यक्ष ज्ञान या बुद्धि होती है और दूसरे में इच्छा तथा संकल्प। मेरे लिए यहाँ यह तो असम्भव है कि मैं इनमें से प्रत्येक की विशेषता का वर्णन करूँ, और इससे भी कम यह संभव है कि मैं एक ही मूल से उन दोनों के विकसित होने के विषय पर कुछ कहूँ। मुझे जो निश्चित प्रतीत होता है, वह यह है कि संबंध के ये दोनों रूप प्रकृत न होकर विकृत उद्भाव हैं। प्रत्येक आत्मा का या तो अस्तित्व है अथवा किसी ऐसी अवस्था पर अस्तित्व था जब कि न जीव था और न अजीव, न अहं, न इदं। परन्तु मैं इस बात का तो विवेचन यहाँ नहीं कर सकता कि इस संबंधहीन अनुभूति-समुच्चय के आधार से विचार और संकल्प का उद्भव किस प्रकार हुआ, और न इस प्रकार का विवेचन प्रस्तुत विवादग्रस्त

सूत्र को समझने के लिए आवश्यक ही है। वह सूत्र आत्मा और अनात्मा के अंतर्गत तत्वों पर आकर ठहरता है, और हम उत्पत्ति की समस्या से पृथक् इन दोनों पर विचार कर सकते हैं।

यह बात तो मुझे स्पष्ट प्रतीत होती है कि अहं और इदं इयत्ताएँ हैं और वे दोनों वास्तविक आध्यात्मिक संघात हैं। मुझे यह बात ज्ञात है कि लेखक लोग अहं को प्रायः कोई ऐसी वस्तु बतलाते हैं जो तत्वतः किसी भी अध्यात्म-तत्व से उपहित न हो। मैं इस बात को अस्वीकार नहीं करता कि किसी-किसी प्रयोग में यह भाषा क्षम्य हो सकती है, परन्तु यहाँ की तरह जब हम इस बात पर विचार करते हैं कि आत्मा के भीतर किसी क्षण-विशेष में वर्त्तमान परस्पर-सम्बद्ध अहं और इदं से क्या अभिप्राय हो सकता है, तो परिस्थिति बिलकुल बदल जाती है। जिस अहं को उसकी स्थूल आध्यात्मिक भरती के परे अथवा नीचे बतलाया जाए, वह केवल एक महती कपोल-कल्पना तथा भयंकर मनगढ़ंत-मात्र है और उसको किसी उद्देश्य से स्वीकार नहीं किया जा सकता। और इस प्रश्न का निपटारा पर्यवेक्षण-द्वारा ही हो सकता है। किसी भी प्रत्यक्ष अथवा अन्य किसी का उदाहरण लीजिए जहाँ अहं और इदं का सम्बन्ध एक तथ्य के रूप में प्राप्त हो। मेरा अनुमान है कि वहाँ पर कोई भी यह अस्वीकार नहीं करेगा कि इदं अथवा विषय एक स्थूल नाम रूप है। उसमें एक ऐसा विशेष होता है जिसका अस्तित्व एक मानसिक तथ्य के रूप में अथवा उसके भीतर होता है। और यदि हम इससे अहं की ओर लौट पड़ें तो क्या इसमें फिर भी कोई संदेह हो सकता है? निःसन्देह यदि अन्य आध्यात्मिक अस्तित्व का नहीं, तो अनुभूति का समुच्चय जहाँ है, वहाँ तो अवश्य संदेह होगा। जब मैं देखता हूँ, प्रत्यक्षीकरण करता हूँ या समझता हूँ तो मैं (संबंध का मेरा व्यंजक) स्पष्ट रूप से, और सम्भवतः दुखद रूप में भी स्थूल होता हूँ। जब मैं संकल्प या इच्छा करता हूँ, तो आत्मा को एक विशेष आध्यात्मिक तथ्य से युक्त न मानना निःसन्देह हास्यास्पद होगा। यह स्पष्ट है कि हमें जो भी आत्मा मिलेगा, वह हमारे आध्यात्मिक अस्तित्व की इकाई का कोई-न-कोई स्थूल रूप होगा और जो कोई उसे किसी पृथक् या अतिप्रिय वस्तु के रूप में पेश करता है, उसका कथन स्पष्ट ही पर्यवेक्षण पर आश्रित नहीं हो सकता। वह तथ्यों में एक तत्त्वज्ञानीय आकाश-कुसुम का समावेश करना चाहता है, जो स्वयं अस्तित्वहीन होने के कारण किसी काम का नहीं, और जो अस्तित्व होने पर भी बिलकुल व्यर्थ होता है।

आत्म और अनात्म स्थूल संघात हैं और प्रश्न यह है कि इन दोनों में कौन-कौन-सी इयत्ताएँ हैं? ऐसे कौन-कौन से तत्व हैं जो वस्तुतः अनात्म अथवा आत्मा है? सम्भवतः इस गवेषणा को प्रारम्भ करने का सर्वोत्तम ढंग यह होगा कि हम यह पता लगायें

कि क्या कोई एसी वस्तु भी है जो कोई विषय और, इसी अर्थ में कोई अनात्म न हो सके। हम वाहर से प्रारम्भ करते हैं, परन्तु हमारी विवेचन प्रक्रिया अधिकाधिक अंतर्मुखी होते-होते अंत में सुचिन्तित और सज्ञान अंतर्दर्शन के रूप में परिणत हो जाती है। इसमें हम अपनी अन्तर्तम विशेषताओं को अपनी आत्मा के समक्ष और उसके विरोध में उपस्थित करने का यत्न करते हैं। हम यह सव, एक ही समय में, समस्त तत्वों के साथ नहीं कर सकते, परन्तु अभ्यास और परिश्रम के द्वारा एक-के-वाद-दूसरा तत्त्व अनुभूत पृष्ठभूमि से पृथक् कर दिया जाता है और हमारी दृष्टि के सामने उपस्थित किया जाता है, यह तनिक भी निश्चित नहीं कि किसी एक ही समय पर आत्मा की प्रत्येक विशेषता, आगे-पीछे अनात्म में प्रविष्ट कर गई हो, परन्तु यह विलकुल निश्चित है कि अधिकाँश भाग उसी का होता है। अतः हम यह स्वीकार करने के लिए वाध्य होते हैं कि आत्मा का वहुत कम अंश तत्वतः उसमें होता है। आइए, अव हम सैद्धान्तिक सम्वन्ध को छोड़कर व्यावहारिक सम्वन्ध की ओर मुड़ें। आइए, हम प्रश्न करें कि क्या कोई ऐसी वस्तु है जो हमारे संकल्प या कामना का विषय न वन सके ? परन्तु ऐसा विपय जो भी वस्तु बनती है वह स्पष्टतः एक आत्मा-विरोधी वस्तु है और अनात्म है। अव तुरंत ऐसे क्षेत्र में चलें, जो अन्तर्तम तथा अगोचर है। जव अन्तर्दर्शन हमारी विशेषताओं को एक-एक करके प्रकट करता है, तो क्या हम यह इच्छा नहीं कर सकते कि ऐसा न हो ? सम्भव है कि हम अपने भीतर जो-कुछ भी पाते हैं, उसमें से प्रत्येक वस्तु एक पराकाष्ठा और एक अनात्म के रूप में अनुभव न की जा सके। उदाहरण के लिए, किसी हलके दर्द को ले लीजिए। हम अपने अंधतम और अंतर्तम मन में दर्द के कारण अस्वस्थ और वेचैन हैं, और जैसे ही इस वेचैनी पर ध्यान जाता है वैसे ही उसके विरुद्ध हमारी एक प्रतिक्रिया तुरंत उठ खड़ी होती है। इससे स्पष्ट है कि अशान्त करने वाला वह मानसिक आलोचन एक अनात्म वन जाता है, जिसको हम दूर करना चाहते हैं। इसलिए हमको यह निष्कर्ष स्वीकार करना पड़ेगा कि यदि कभी-कभी प्रत्येक व्यावहारिक अनात्म नहीं वन जाता तो कम-से-कम इसके अपवाद मिलने तो वहुत कठिन हैं।

अव इन दोनों सम्वन्धों के दूसरे पक्ष को लीजिए, और प्रश्न कीजिए कि क्या अनात्म में कोई ऐसे तत्व हैं जो ऐकान्तिक रूप से उसी के हों, ऐसे अनेक तत्वों का मिलना सरल नहीं। सैद्धान्तिक सम्वन्ध में यह विलकुल स्पष्ट है कि प्रत्येक वस्तु, सव-की-सव और एकदम अनात्म नहीं हो सकती, किसी क्षण जो किसी भी अर्थ में मेरे सामने है, वह सीमित होना चाहिए। तो फिर हमारे अनात्म के उस भाग का क्या होता है, जो कि उस समय भी हमारे मन से पूर्णतया नहीं निकला है ? परिस्थिति की उन विशेष-

ताओं से मेरा अभिप्राय नहीं जिन पर मैं विशेष ध्यान नहीं दे पाता, अपितु उनसे है जिनका मैं अब भी उसी प्रकार प्रत्यक्ष कर रहा हूँ जैसे कि वे मेरे सामने हों। मेरा संकेत उन विशेषताओं की ओर है जो इस स्तर से नीचे चली गयी हैं। हमारे मानस-स्थित-विषय के तो ये आस-पास भी नहीं भटकती या छोर को भी नहीं छूतीं। वे तो अनुभूति की उस सामान्य पृष्ठभूमि में उतर गयी होती हैं, जिससे कि वह स्पष्ट विषय अपनी अस्पष्ट पार्श्व स्थिति से पृथक् हो जाता है। परन्तु, इसका अभिप्राय यह है कि उस समय के लिए वे आत्मा में विलीन हो गयीं। एक निरंतर होने वाला स्वन (शब्द) इसका बहुत अच्छा उदाहरण हो सकता है। वह मेरे मस्तिष्क का प्रमुख विषय बन सकता है, अथवा वह किसी ऐसे विषय का सहगामी बन सकता है जो न्यूनाधिक निश्चित हो। परन्तु, एक अगली अवस्था भी है, जहाँ आप यह नहीं कह सकते कि यह आलोचन समाप्त हो गया और साथ ही जहाँ वह अनात्म रूप में प्रकट होने वाले तत्व की विशेपता भी नहीं हो सकता। अब वह, मेरी अनुभूति का एक तत्व होकर उस आत्मा में चला गया जिसके लिए अनात्म का अस्तित्व होता है। यहाँ मैं यह प्रश्न नहीं करता कि क्या अनात्म का कोई ऐसा अंश है (और यदि है तो कौन-सा) जिसके प्रसंग में यह प्रत्यावर्तन असंभव हो, क्योंकि इतना पर्याप्त है कि अधिकांश के प्रसंग में यह संभव हो। आइए, हम उसी वस्तु पर व्यावहारिक दृष्टि से विचार करें। यहाँ उन तत्त्वों का निर्णय करना कठिन है जो अनिवार्यतः मुझसे भिड़ते हों और मुझे सीमित करते हों। कुछ तो ऐसे तत्त्व होंगे जिनसे कदापि मेरा व्यावहारिक सम्बन्ध नहीं प्रतीत होता, और कुछ ऐसे हैं जो कभी-कभी ही मेरी इच्छा या संकल्प के विषय होते हैं। परन्तु फिर भी हम यदि ऐसा कुछ भी नहीं पाते, जो अनात्म का तत्त्व बन सके, तो मेरे मस्तिष्क में आने वाली प्रत्येक वस्तु अनुभूत संहति का अंग होती हुई प्रतीत होगी। परन्तु यदि यह बात है, तो क्षण भर के लिए वह उस संघात से सम्बन्धित प्रतीत होगी जिसके विरोध में संकल्प विषय आता है, और इस प्रकार एक बार पुनः अनात्म आत्मा हो जाता है।

पाठक का ध्यान एक ऐसे सूत्र पर आकृष्ट हुआ होगा जिस पर मेरी भाषा में सावधानी बरती गई है। आत्मा और अनात्म के बीच तात्त्विक अदला-बदली की पराकाष्ठा ही वह सूत्र है। मैं इस पराकाष्ठा को क्षण-भर भी अस्वीकार नहीं करता। मेरी सम्मति में, यह संभव ही नहीं, अत्यन्त शक्य है कि प्रत्येक मनुष्य के भीतर संवेद्य अन्तर्तम में कुछ ऐसे तत्त्व हैं जो कभी भी विषय नहीं बनते और जो न व्यावहारिक रूप में बन ही सकते हैं। हमारी सामान्य शारीरिक चेतना में कुछ ऐसी विशेषताएँ हो सकती हैं जो इतनी गहराई में पड़ी हों कि हम उन्हें पृथक् करने में कभी सफल ही न हों, और

इनको कदापि अनात्म की संज्ञा नहीं दी जा सकती। अतीत में भी हम उनकी विशेपता को स्पष्ट नहीं कर सकते। परन्तु मेरा अनुमान है कि यहाँ भी कठिनाई को व्यावहारिक तथा इन आलोचनों की अस्पष्टता पर (न कि मूल तत्त्व पर) आधारित कहा जा सकता है। मैं इस कथन पर विचार नहीं करूँगा कि सुख और दुःख तत्वतः विपय बनने में असमर्थ हैं। यह कथन सैद्धान्तिक संकटों से उत्पन्न तथा वास्तविक आधार से रहित प्रतीत होता है, इसलिए इसकी उपेक्षा संभव है। परन्तु जिस कारण मैं ऐसे तत्त्वों में विश्वास करता हूँ जो अनात्म कभी नहीं है, वह यह है कि हमारे अविविक्त अन्तर्तम में एक संवेद्य अवशेष हैं। मेरा अभिप्राय यह है अनुभूति की हमारी आंतरिक संहाति में हम अनेक तत्वों को जानने और पहचानने में समर्थ हैं, और दूसरी ओर हम यह भी निश्चित कर सकते हैं कि हमारी अनुभूति के अन्तर्गत इन से परे अनन्त पराकाष्ठा है। यह एक ऐसी सीमा है जो सीमा की सामान्य कल्पना के अन्तर्गत तो एक विपय बन सकती है परन्तु एक पराकाष्ठा-विशेप के रूप में नहीं। परन्तु, समय-समय पर इस पराकाष्ठा पर भी आक्रमण हुआ है और इस अनुमान के लिए तनिक भी कारण नहीं कि उसकी प्रकृति में अनात्म के आक्रमण के लिए कहीं-न-कहीं एक निश्चित सीमा है। अनात्म के पक्ष में मैं यह नहीं कहता कि उसकी इयता की प्रत्येक विशेपता ही एक अनुभूति-मात्र में परिणत होकर, अपने को पृष्ठभूमि से असंवद्ध कर लेगी। ऐसी भी विशेषताएँ हो सकती हैं जो व्यावहारिक रूप में ऐसा कदापि न होने देंगी। परन्तु फिर भी ऐसा कहा जा सकता है कि कुछ संकल्प-विकल्प ऐसे भी हैं जिनका अस्तित्व आत्म-विरोधी तत्त्व के रूप में न लिया जाय, तो संभव ही नहीं हो सकता। मैं इसका विरोध नहीं करूँगा वल्कि मेरा यह सुझाव होगा कि इससे यह प्रश्न भी उपस्थित हो सकता है कि क्या अनुभवकर्त्ता की आत्मा के भीतर संकल्प-विकल्पों का अस्तित्व सामान्य होना सम्भव है? यह प्रश्न हमें आश्चर्य में डाल सकता है। मैं तो इस परिणाम पर पहुँचूँगा और सामान्य निष्कर्प को व्यक्त करके संतुष्ट हो जाऊँगा। यदि आप पसन्द करें तो आत्म और अनात्म दोनों पक्षों में कुछ ऐसी विशेपताएँ स्वीकार की जा सकती हैं जिनका परस्पर स्थान-परिवर्तन सम्भव नहीं। परन्तु इनकी मात्रा इतनी कम होगी कि इनके द्वारा आत्मा या अनात्म का संगठन या विशेपता-निर्देशन संभव नहीं होगा। प्रत्येक पक्ष की इयत्ताओं के प्रमुख भाग का आदान-प्रदान सम्भव है।

इस अवस्था में हम प्रश्न कर सकते हैं कि आत्मा का वर्तमान अर्थ वही है जो हमने पहले ग्रहण किया था या कुछ और? इस प्रश्न का उत्तर संदिग्ध नहीं है, क्योंकि स्पष्ट है कि अध्यात्मीय व्यक्ति में जो भी है, लगभग वह-सभी कभी तो आत्मा का अंग होगा और कभी अनात्मा का, और न कभी मनुष्य के किसी ऐसे तत्त्व को पाना सम्भव हो

सकेगा जो, विचार और संकल्प के विपय के रूप में आत्मा-विरोधी होने में असमर्थ हो। यदि मिल भी जाए तो वह तत्त्व कम-से-कम इतने संकुचित अवशेप के रूप में होगा कि वह व्यक्ति का सृजन करने में असमर्थ रहेगा। वह अपने वृत्त के भीतर एक घातक असंगति को ग्रहण करके ही स्थूलता को प्राप्त कर सकता है। केवल आंतरिक संकल्प का उदाहरण ही विचार करने के लिए पर्याप्त है। वहाँ आप अपने आत्मा को जितने अन्तर्वर्ती और अन्तर्मुखी रूप में लेना चाहें लें और उसे केन्द्रोन्मुख करें, परन्तु फिर भी ये तत्त्व आत्मा के विपरीत पड़ सकते हैं, और आप उनके परिवर्तन की इच्छा कर सकते हैं। और यहाँ पर आत्मा की ऐकान्तिक स्थिति अथवा नितान्त कूटस्थता का अंत हो जाता है, क्योंकि किसी भी क्षण-विशेष पर सम्पूर्ण व्यक्ति ही आत्मा होता है जिसके भीतर विरोधी तत्त्व तथा उनका संघर्ष निहित रहता है और वह स्वयं एक विरोधी होता है जो अपने विरोधी से संघर्ष करता है तथा उसके द्वारा परिवेष्ठित रहता है।

वास्तविकता यह प्रतीत होती है कि जहाँ तक मानसिक संहति के अनुभूत होने का सम्बन्ध है किसी क्षण-विशेष आत्मा को परिपूर्ण करने वाली सम्पूर्ण मानसिक संहति को ही आत्मा कहा जा सकता है। जहाँ तक इस संहति को एक साथ ही एक इकाई के अन्तर्गत रखा जाता है और सुख-दु:ख से विशेषरूपेण सम्बन्धित संहति से पृथक् नहीं समझा जाता, इस समस्त इकाई को ही आत्मा के रूप में समझा जाता है, परन्तु दूसरी ओर इस संहति से उसके तत्वों को भिन्न समझा जा सकता है। और इस-लिए यह संहति इस रूप में वह पृष्ठभूमि है जिसमें यह प्रत्यक्ष घटित होता है, परन्तु अनात्म के साथ आत्मा का यह संबंध पुराने समस्त आत्मा को नष्ट नहीं करता। यह अब भी वही सम्पूर्ण संहति है जिसके भीतर भेद और सम्बन्ध निहित है और आत्मा के ये दोनों अर्थ सह-अस्तित्व रखते हैं, यद्यपि नि:सन्देह तादात्म्य नहीं। आगे चलकर व्यावहारिक सम्बन्ध में एक नयी विशेषता दृष्टिगोचर होती है वहाँ सर्वप्रथम हमें समस्त अनुभूत उपाधि के रूप में आत्मा दृष्टिगोचर होती है। इसके पश्चात हम उस अनात्म के दर्शन करते हैं जिसकी अनुभूति आत्म-विरोधी के रूप में होती है। इसके अतिरिक्त हम उस संहति को देखते हैं जो परिवेष्ठित है और प्रसार के लिए प्रयत्नशील होने से संघर्ष को जन्म देती है। नि:सन्देह उसकी अनुभूति विशेषतया एक आत्मा के रूप में होती है और इसके भीतर एक उल्लेखनीय नयी विशेषता होती है। इच्छा और संकल्प में, हम वर्तमान अनात्म के विरुद्ध एक विचार पाते हैं और वह उस अनात्म में परिवर्तन का विचार होता है। यह विचार उस अनात्म-विरोधी आत्मा के एक अंग रूप में ही नहीं प्रतीत होता, अपितु वह वहाँ एक प्रमुख विशेषता तथा महत्वपूर्ण इयत्ता

हुए) होता है इस आत्म-प्रसार का सम्बन्ध वहीं तक है जहाँ तक कि वह परिवर्तन की कल्पना से एकात्मता रखता है। उदाहरण के लिए यदि मैं आत्म-संकोचन का प्रयत्न करता हूँ तो भी वह प्रसार ही होगा, क्योंकि जो प्रत्यय पहले वृहत्तर क्षेत्र के तथ्य से परिसीमित था, वह अब उस सीमा को लाँघ जाएगा। इस प्रकार जब तक सक्रियता रहती है, तब तक आत्म-विनाश भी एक सापेक्षिक प्रसार है। हम कह सकते हैं कि सामान्यत: यहाँ पर आत्मा अपनी प्रमुख रुचि की वस्तु से अभिन्न है, क्योंकि वह आत्मा से अविभाज्य होने के अतिरिक्त उसकी अन्तर्तम सत्ता में प्रमुख स्थान रखती है। जो कोई भी इस सूत्र को नहीं पकड़ पाता वह सक्रियता के अर्थ को नहीं समझ सकता।

(२) इससे एक कठिनाई उत्पन्न होती है, क्योंकि कभी-कभी हम स्पष्ट रूप से सक्रिय होते हैं। परन्तु फिर भी कोई प्रत्यय विशेष नहीं होता और न अनात्म का परि-सीमन ही। प्रथम सूत्र को पहले लेता हूँ। (क) आइए, हम तर्क की दृष्टि से, एक ऐसी अवस्था की कल्पना करें जहाँ विना किसी बाहरी 'अन्यत्' अथवा किसी रिक्त परि स्थिति की चेतना के आत्मा के प्रसार का अनुभव होता है। हम किसी अर्थ में यहाँ पर किसी अनात्म को पा सकते हैं? उत्तर सरल है। अस्तित्व की अवस्था में आत्मा स्वयं ही अपनी वह सीमा है जिसको वह सक्रियता के द्वारा लाँघता है। आइए, सक्रियता से पूर्व आत्मा को क कहें और सक्रिय को क-ख। परन्तु एक तीसरी विशेषता भी है जो कि क की अन्तर्प्रकृति है और क-ख में व्यक्त होती है। जैसा कि हम देख चुके हैं, यह विकार का प्रत्यय है और हम उसको इसलिए ख कह सकते हैं। अतः प्रारम्भ में केवल क न होकर ख विशिष्ट क भी है, और ये दोनों परस्पर-विरोधी हैं। अविशिष्ट क उस क का अनात्म है जो कि ख के साथ तादात्म्य रखता है, और क-ख तथा क के बीच का तनाव उस विकार का आंतरिक स्रोत है जो निःसन्देह ख को ख के रूप में और परिणामतः क के रूप में प्रसारित करता है। यदि हम वाग्जाल को पसंद करें, तो हम सक्रियता को किसी वस्तु का वह प्रत्ययत्व कह सकने हैं जो उस वस्तु को उसकी वास्तविक सीमा से परे ले जाता है। परन्तु सचमुच आवश्यकता तो इस बात को स्वीकृत करने की है कि (१) जब तक हम किसी विकार-प्रत्यय की कल्पना न करें, तब तक सक्रियता का कोई अर्थ नहीं, और (२) आत्मा को रुचने वाले इस प्रत्यय के विपरीत, आत्मा की वास्तविक स्थिति ही अनात्म है। (ख) इससे निःसन्देह एक समस्या खड़ी हो जाती है, क्योंकि कुछ अवस्थाओं में, जहाँ आत्मा अपने को सक्रिय समझता है तो भी, वहाँ पर प्रथम दृष्टि में कोई प्रत्यय प्रतीत नहीं होता। परन्तु यह समस्या सुव्यक्त तथा अव्यक्त प्रत्यय के बीच भेद मान लेने से हल हो जाती है। इनमें से दूसरा पूर्ण रूप से प्रत्यय इस अर्थ में है कि उसकी इयत्ता उसके अस्तित्व से परे भी प्रयुक्त होती

इस संक्षिप्त विवरण पर भी आपत्तियाँ की जा सकती हैं, परन्तु मिथ्या धारणाओं के अतिरिक्त मेरे विचार में सभी का उत्तर दिया जा सकता है। परन्तु यह मनोविज्ञान का विषय है, इसलिए इस पर अधिक कुछ कहना यहाँ ठीक नहीं। पाठकों ने यह देखा ही होगा कि मैं, परिवर्तन के प्रत्यक्ष के लिए, आदि से अन्त को संबद्ध करने की आवश्यकता समझता हूँ। यह सम्बन्ध-योजना क के साथ एकात्मकता स्थापित करने से हो जाती है, और सम्भवतः आदि स्थान के परवर्ती आलोचन-द्वारा उसे सहायता मिलती है। इसकी मुझे कल्पना करनी पड़ रही है। इसके अतिरिक्त, क-ग-घ को क से वाहर ङ जैसे किसी अन्य तत्व के विशेषण रूप में नहीं मानना चाहिए हमारी अनुभूति के लिए क को क-ग-घ होना आवश्यक है और फिर उसका वलवत्तर क-ग के द्वारा विरोध आवश्यक है। उसको स्वस्थित रखने में असमर्थ होना चाहिए, परन्तु फिर भी उसे प्रयत्नशील––अर्थात् दोलनशील और अस्थिर––होना चाहिए। इसलिए एक दोलनशील क-ग-घ जो अपनी प्रत्येक अधूरी सफलता पर सुख प्रदान करता है और जिसका निरोध करने वाला क-ग है जो कि ऋण-तत्व या दुख-तत्व कुछ भी कहा जा सकता है––यही वह स्थिति है जो आगे चलकर सशक्त अस्तित्व नामक उस अद्भुत् तथा कुख्यात वर्णसंकर में परिणत हो जाता है। और अस्तित्व के द्वारा तिरस्कृत इयत्ता के रूप में घ एक सुव्यक्त प्रत्यय वनने के लिए उद्यत हो जाता है। इन अत्यन्त संक्षिप्त व्याख्याओं के पश्चात् अव मैं उस विनोद-यात्रा से वापिस लौटता हूँ जो कि हमने मनोविज्ञान प्रदेश में की थी।

(७) आत्मा का एक और भी अर्थ है जिसको छोड़ना ठीक न होगा, यद्यपि इस समय उसके विषय में अधिक चर्चा की आवश्यकता नहीं। मेरा संकेत उस प्रयोग की ओर है, जिसमें आत्मा को 'केवल आत्मा' अथवा 'केवल अन्तरात्मा' समझा जाता है। इस अर्थ को सामान्यतः निश्चित करना कठिन नहीं। प्रत्येक वस्तु जो व्यक्ति के आध्यात्मिक इयत्ताओं का अंग है और जो किसी व्यापार-विशेष से सम्बन्धित नहीं उस व्यापार के लिए 'केवल आत्मा' कहा जाएगा। इस प्रकार से सोचन के व्यापार में मेरे मन की प्रत्येक वस्तु––आलोचन, अनुभूतियाँ, विचार जो उस प्रत्यय विशेष को दबाते नहीं––अनावश्यक है, और यह आत्मा है, इसलिए यह 'केवल आत्मा' है। इस प्रकार नैतिकता अथवा आनन्द के प्रत्यक्ष में जो इन प्रक्रियाओं के वाहर स्थित है, वह 'केवल अन्तरात्मा' है। क्योंकि वह इस प्रक्रिया 'इदं' से संबंधित नहीं। केवल आत्मा आध्यात्मीय व्यक्ति का वह अंग है जो किसी प्रस्तुत उद्देश्य के लिए निषेधात्मक है। कम-से-कम वह असंगत है, और सम्भव है कि इससे भी वुरा हो। सामान्यतः यही अर्थ है और निःसंदेह इससे हमें प्रस्तुत कठिनाइयों में कोई

सहायता नहीं मिलती। जो बात ध्यान देने की है वह यह है कि इसका कोई निश्चित प्रयोग नहीं है, क्योंकि जो एक उद्देश्य के लिए 'बाह्य' और आवश्यक है वही दूसरे उद्देश्यों के लिए असंगत तथा आंतरिक हो सकता है। यह भेद उन विषयों में भी हो सकता है जो एक से हैं। उदाहरण के लिए जो विशेषतः एक नैतिक कार्य के लिए आवश्यक है, वह दूसरे के लिए निरर्थक हो सकती है और इसलिए वह 'केवल आत्मा' हो सकता है। संक्षेप में मनुष्य के भीतर ऐसा कुछ भी नहीं है, जो इस प्रकार 'बाह्य' अथवा आंतरिक न हो, क्योंकि जिस लक्ष्य को हम विचार कर रहे हैं, वह समय-समय पर बदल जाता है। यहाँ पर आत्मा से अभिप्राय उससे है जो प्रस्तुत उद्देश्य के लिए, 'आकस्मिक' आत्मा है। यह स्पष्ट है कि, यदि हम इस अर्थ की तुलना पिछले अर्थों से करें तो यह उससे मेल नहीं खाता। इसमें एक साथ ही अतिशय विस्तार और अतिशय संकोच है। इसमें अतिशय विस्तार है, क्योंकि उससे बाहर तत्त्वतः कुछ भी नहीं, और फिर भी इसमें अतिशय संकोच है, क्योंकि, जैसे ही किसी वस्तु को आप किसी प्रकार की पद्धति के प्रसंग में लेंगे वैसे ही वह 'केवल आत्मा' से पृथक हो जाती है। वह केवल अनुभूति-मात्र नहीं हो सकती, क्योंकि वह अनिवार्यतः निषेध से युक्त होती है। यह वह वस्तु है, जो अनुभूति-मात्र के परे पहुँचनेवाली किसी भी वस्तु के विपरीत, एक अवशेष के रूप में बाहर रह जाती है। यदि हम चाहें तो उसको, वैपरीत्य की दृष्टि से 'केवल अनुभूति मात्र' कह सकते हैं। परन्तु उस अवस्था में हमें अनभूति के अन्तर्गत समस्त आध्यात्मिक तथ्यों को ग्रहण करना पड़ेगा। इस समय इस विषय की और अधिक चर्चा की आवश्यकता नहीं।

मैं संक्षेप में इस अध्याय के निष्कर्षों को दुहराऊँगा। हमने देखा कि वस्तुओं की प्रकृति—वस्तु और विशेषण, सम्बन्ध और गुण दिक् और काल, गति और सक्रियता —के विषय में हमारे जो विचार हैं, वे तत्त्वतः आक्रमणीय तथा सुकाट्य है। परन्तु हमने कहीं एक अफवाह सुनी थी कि आत्मा अव्यवस्था में व्यवस्था ला सकती है। और पहले हमें यह जानने की उत्सुकता हुई कि इस शब्द का क्या अर्थ है। इस अध्याय में इसका उत्तर अतिशयपूर्वक दिया है। आत्मा के इतने अधिक अर्थ थे और वे इतने अस्पष्ट थे तथा उनके प्रयोग इतने ढुलमिल थे कि हमें उनसे कोई प्रोत्साहन नहीं मिला। पहले हमने देखा कि मनुष्य का आत्मा उसका वह प्रस्तुत इयत्ता-समुच्चय हो सकता है, जो कि उसके काल्पनिक तल-विभाग करने पर प्राप्त हो। अथवा उन सामान्य इयत्ताओं को आत्मा कहा जाय जिनको हम अपने में मानें और जो किसी ऐसी वस्तुओं से भी युक्त हो जिनको हम मनोदशाएँ कहते हैं। इस अर्थ से हम उस आत्मा की खोज में चले गये जो कि आत्मा के भीतर एक प्रमुख केन्द्रक्षेत्र है। और

इस दिशा में हमने देखा कि हम वस्तुतः नहीं जानते कि वह क्या है। फिर हमने आगे बढ़कर देखा कि व्यक्तिगत एकरूपता के अन्तर्गत हमने परस्पर-विरोधी विचारों के एक उलझे हुए गठ्ठर को रख छोड़ा है। फिर हमने आत्मा को केवल तात्कालिक प्रियता के रूप में देखा, परन्तु वह सन्तोषजनक सिद्ध नहीं हुआ और यहाँ से हम आत्मा और अनात्म के भेद और विभाजन में लग गये। यहाँ सैद्धान्तिक और व्यावहारिक सम्बन्ध में हमने देखा कि आत्मा की कोई निश्चित इयत्ताएँ नहीं, अथवा कम-से-कम कोई ऐसी इयत्ता नहीं जो उसको आत्मा बनाने में पर्याप्त हो। इस प्रसंग में हमने अपने सक्रियता-प्रत्यक्ष के मूल को देखा। अंत में हमने आत्मा का एक दूसरा अर्थ ढूँढ निकाला जो दूसरों से मेल नहीं खाता। और हमने देखा कि यह ऐसे किसी भी आध्यात्मिक तथ्य का नाम है जो उस उद्देश्य से बाहर रह जाता है, जिसके लिए कभी किसी आध्यात्मिक तथ्य का प्रयोग हुआ हो। इस अर्थ में आत्मा अप्रयुक्त अवशेष है, जो निषेध की दृष्टि से प्रयोग के अभाव में और स्वीकृति की दृष्टि से केवल आध्यात्मिक अस्तित्व के अर्थ में प्रयुक्त अनुभूति में पाया जा सकता है। और ऐसा कोई विषय नहीं था जो इस शीर्षक के अन्तर्गत वस्तुतः आता हो अथवा आता ही न हो।

दसवाँ अध्याय

आत्मा की सत्ता

प्रस्तुत अध्याय में , हमें संक्षेपतः आत्मा की सत्ता के विषय में खोज करनी है। किसी सीमा तक और किसी अर्थ में, आत्मा को एक तथ्य माना जा सकता है। परन्तु प्रश्न यह नहीं है। प्रश्न यह है कि अपने किसी भी अर्थ में आत्मा सत् हो सकता है या नहीं ? हमने ऊपर देखा कि वस्तुएँ तत्त्वतः असंगतियों से मिलकर बनी हैं। आत्मा की ओर से यह दावा है कि न केवल अपनी निज की सत्ता को स्थापित और प्रमाणित कर सकता है, अपितु, इसके अतिरिक्त, वह वस्तुओं का भी उपर्युक्त लांछन से उद्धार कर सकता है। परन्तु, इस दावे के दूसरे भाग की चर्चा को छोड़ा जा सकता है। हम देखेंगे कि आत्मा के पास ऐसी कोई शक्ति नहीं, जिससे वह घातक आक्षेपों से अपनी रक्षा कर सके।

यह द्वैत एवं अद्वैत के सम्बन्ध की पुरानी पहेली है। जैसे ही द्वैत जटिलतर होता जाता है और अद्वैत् स्थूलतर होता जाता है, वैसे ही हमने अभी तक देखा कि, कठिनाइयाँ बढ़ती जाती हैं, और इसलिए जब हम आत्मा के प्रश्न पर आते हैं, तो किसी अकस्मात् परिवर्तन एवं सुखद हल की सम्भावना नहीं प्रतीत होती है। और यदि हम वैयक्तिक आत्मा पर दृष्टि डालें तो उसकी जटिल उलझन में व्यवस्था तथा एकता स्थापित करनेवाले किसी स्पष्ट समन्वय के दर्शन नहीं होते। कम-से-कम इस विषय में जो प्रचलित मत हैं, वे तो स्पष्टतः किसी काम के नहीं। तल-विभाग द्वारा प्रदर्शित जटिलता का अस्तित्व तो मानना ही पड़ेगा। परन्तु, परिवर्तन को छोड़ देने पर भी, वे किसी अर्थ में कैसे एक हो सकते हैं, यह एक ऐसी समस्या है जिस पर विचार नहीं किया गया और जब आत्मा काल की परिधि के भीतर बदलता है, तो उसमें स्पष्ट रूप से प्रतीयमान असंगति को क्या हम उचित ठहरा सकते हैं ? आप कह सकते हैं कि हममें से प्रत्येक अपनी वैयक्तिक एकरूपता में उसी प्रकार विश्वास रखता है जिस प्रकार वस्तुओं की एकरूपता में अविश्वास। परन्तु दुर्भाग्यवश, इसका इस प्रश्न से कोई सम्बन्ध नहीं। यह निर्विवाद है, कि आत्माओं का अस्तित्व है और

उनमें किसी-न-किसी अर्थ में एकात्मता रहती है। परन्तु संदेह इस बात में है कि उनकी एकरूपता को हम जिस रूप में देखते हैं वह यथार्थतः बुद्धिगम्य है या नहीं और जिस रूप में वह हमारे सामने आती है वह सत्य है या नहीं ? क्योंकि अन्यथा, जहाँ यह निश्चित होगा कि आत्मा और उसकी एकमात्रता किसी-न-किसी प्रकार सत् है, वहाँ यह बात भी उतनी ही निश्चित होगी कि इस तथ्य को किसी-न-किसी प्रकार तत्वतः गलत समझा गया है। इसलिए इस परिणाम पर पहुँचेंगे कि यह तथ्य स्वतः विरुद्ध होने से असत् है। फिर तो आत्मा भी आभास-मात्र रह जाएगा।

मेरा अनुमान है कि यह प्रश्न इस बात पर अवलम्बित है कि एक नवीन दृष्टिकोण प्रदान करने वाले किसी विशेष अनुभव की सम्भावना है या नहीं। निःसंदेह आत्मा से एक नया दृष्टिकोण प्राप्त होता, परन्तु अतिरिक्त जटिलता के साथ। प्रश्न यह है, कि क्या वह साथ ही सत्-सम्बन्धी पहेली को सुलझाने के लिए कोई उपाय भी सुझाता है, क्या हमें कोई ऐसा भी अनुभव प्राप्त होता है जिसकी सहायता से अद्वैत समन्वय का प्रकार समझा जा सके ? अथवा ऐसा न होने पर क्या इसकी आवश्यकता ही दूर हो जाती है ? मुझे विश्वास है कि इन दोनों प्रश्नों का उत्तर नकारात्मक है।

(क) यदि इस गवेषणा को अनुभूति से प्रारम्भ किया जाए, तो हम देखेंगे कि अनुभूति से हमारी उलझन किसी प्रकार नहीं सुलझती। यह ठीक ही कहा जा सकता है कि यदि अनुभूति को पर्याप्त स्तर पर लिया जाय तो उसमें अद्वैत के साथ द्वैत मिलेगा और उसमें कोई विरोध नहीं होगा। वहाँ पर सम्बन्धों तथा व्यंजकों का अभाव होने से और साथ ही दूसरी ओर एक अद्वैतता की स्थिति होने से हम एक स्थूल इकाई को वास्तविक तथ्य के रूप में अनुभव करते हैं। और यह कहा जा सकता है, कि यह तथ्य हमारी आत्मा का साक्षात्कार है, या कम से कम वह स्वरूप है जो बौद्धिक आलोचना-मात्र से ऊपर और श्रेष्ठ है। वह जिस रूप में है, उसको उसी रूप में स्वीकार किया जाना चाहिए और उसकी सत्ता को बुद्धि-द्वारा एक अद्वितीय साक्षात्कार के रूप में माना जाना चाहिए।

परन्तु ऐसे किसी भी दावे का बचाव नहीं किया जा सकता। मैं इस संकेत के साथ आरम्भ करूँगा कि यदि अनुभूति को साक्षात्कार भी माना जाए तो उसे ऐकान्तिक रूप में अथवा विशेष रूप में भी आत्मा का साक्षात्कार ज्ञान नहीं कहा जा सकता, क्योंकि आपको दो में से एक बात माननी पड़ेगी। या तो आप इतने नीचे न उतरिये जिससे, अपनी समस्त असंगता के साथ सारे सम्बन्ध दूर हो जाएँ, या फिर आप एक ऐसे स्तर पर पहुँच जाएँ, जहाँ अहं और इदं का कोई भेद नहीं, और जहाँ इस कारण न आत्मा का अस्तित्व है और न उसके विरोधी अनात्म का।

बाहरी अस्तित्व से सम्बन्ध रखने वाले विशेषणों से युक्त विषय नहीं आना चाहिए। वह सत् होना चाहिए, और, अर्थ में वह अंशतः प्रत्ययात्मक नहीं होना चाहिए। जिस व्यवधानहीनता के रूप में वह अपने को प्रकट करती है, उसमें यह स्वाश्रित विशेषता निहित रहती है। परन्तु परिवर्तन में इयत्ता बदलकर कुछ और हो जाती है, जबकि उसकी सत्ता में परिवर्तन आवश्यक और निहित प्रतीत होता है। खंड-खंड होना उसी वास्तविक अनुभूति का एक तथ्य है जिसे हम अनुभव करते हैं, क्योंकि वह निरन्तर शान्त नहीं रहती। यदि हम उसकी इयत्ता की किसी क्षण-विशेषपर परीक्षा करें, तो हम देखेंगे कि, यद्यपि वह अपने को स्वाश्रितमें प्रस्तुत करती है, परन्तु फिर भी उसके भीतर एक गहरी सापेक्षिकता विद्यमान रहती है। यह बात सबसे पहले परिवर्तन की अनुभूति में और बाद में विमर्श के हेतु स्वतः प्रकट हो जाती है। दूसरे इस आक्षेप के अतिरिक्त यदि अनुभूति स्वयं सिद्ध होती, तो भी वह सत् के ज्ञान के लिए पर्याप्त न होती। अपने सामान्य रूप में सत् के अन्तर्गत व्यंजक और सम्बन्ध होते हैं और निःसन्देह उनमें मुख्यतः इन्हीं का अस्तित्व माना जा सकता है। परन्तु अनुभूति सम्बन्धों के स्तर से ऊपर नहीं नीचे है, और इसलिए सम्भवतः वह उनकी अभिव्यक्ति या व्याख्या नहीं कर सकती। इसलिए यह कल्पना करना व्यर्थ है कि यदि सम्बन्धात्मक तत्त्व हमारे ज्ञान का विषय हो, तो अनुभूति इसको जानने का कोई उपाय प्रस्तुत करेगी। और यह आक्षेप नितान्त घातक प्रतीत होता है। इस प्रकार प्रथम तो परिवर्तन के द्वारा और फिर अवशिष्ट सम्बन्धात्मक रूप के द्वारा, हम अनुभूति से परे जाने को विवश होते हैं। परन्तु जब हम अपने को विमर्श में रत करते हैं, तो हमें एक बार फिर ऐसा लगता है कि हम तनिक भी आगे नहीं बढ़े, क्योंकि जब हम विचार करने लगते हैं, तो अनुभूति-द्वारा प्रस्तुत विषय में जो अपूर्णता और सापेक्षिकता प्रतीत होती है, वह विरोधों को जन्म देती है। यह कठिनाई इस बात में है कि वह किसी ऐसे तत्व की ओर संकेत करती है जो परे की वस्तु है, और जो स्वाश्रित तत्व है उसमें प्रत्यात्मकता दिखलायी पड़ती है और वह केवल ऐसे विशेषणों में परिणत हो जाता है, जिसका आधार हमें ढूंढे नहीं मिलता। इसलिए अनुभूति इन पहेलियों का कोई हल नहीं निकाल सकती। जो अभी तक बज्र जटिल सिद्ध हुई है, उसकी इयत्ता निरन्तर पुरानी असंगतियों से दूषित हैं। वह तो, हमारे ऊपर एक और भी स्पष्ट रूप में, उस असंगति को लादना चाहता है, जो एकात्मता तथा विविधता, अव्यवहित एकता और सम्बन्ध के बीच पायी जाती है।

(ख) इस प्रकार केवल अनुभूति में ऐसी कोई शक्ति नहीं जो आत्मा की सत्ता

को प्रमाणित कर सके और स्वभावतः न कोई ऐसी ही शक्ति है, जो विश्व-मात्र की समस्याओं को हल कर सके। परन्तु आत्म-चेतना के किसी और स्वरूप से सम्भवतः हमारा अधिक काम निकले। वह सम्भवतः आत्मा और विश्व के रहस्य का उद्घाटन करने में अधिक उपयोगी सिद्ध हो। अच्छा तो आइए, संक्षेप में एक प्रयत्न करें। पहली दृष्टि में तो सम्भावना अधिक उत्साहप्रद नहीं है। क्योंकि, (१) यदि हम वास्तविक प्रकृति को आत्म-चेतना (जिस अर्थ में चाहें उसमें यहाँ आत्मा को समझ सकते हैं) द्वारा अभिव्यक्त मानें, तो यह भीतर से नितान्त असंगत प्रतीत होता है। यदि पाठक पिछले अध्याय की चर्चा को याद करेंगे तो मेरा अनुमान है कि वे इस विषय में संतुष्ट हो सकेंगे। आप आत्मा को चाहे किसी काल-विशेष में अथवा किसी अवधि-पर्यन्त में लें, तो उसकी इयत्ताएँ समन्वय के रूप में व्यवस्थित नहीं दिखायी पड़ती हैं। और न हमको अभी-तक कोई ऐसा सिद्धान्त ही मिला जिसके प्रयोग-द्वारा हम उनको निर्विरोध रूप में व्यवस्थित कर सकते हैं।

(२) परन्तु कोई कह सकता है, कि आत्म-चेतना एक विशेष प्रकार का सहज-ज्ञान या प्रत्यक्ष अथवा और कुछ है। एक ही आत्मा में अहं और इदं दोनों की, अथवा स्वयं के विरुद्ध और स्वयं के द्वारा अहंकार की एकरूपता की अनुभूति, अथवा एक ही आत्मा का एक और अनेक के रूप में सामान्य आत्मप्रत्यय ही, अन्ततोगत्वा विश्व की समस्याओं का एकमात्र उत्तर है। परन्तु मेरी सम्मति में ऐसे उत्तर से कुछ संतोष नहीं होता, क्योंकि इस पर वे ही आक्षेप उठाये जा सकते हैं, जो कि अनुभूति-मात्र के लिए घातक सिद्ध हुए। मान लीजिए कि जिस रूप में आप अन्तर्दृष्टि को मानते हैं उसका अस्तित्व सचमुच है, और मान लीजिए, इस अन्तर्दृष्टि में आपको असंगतिविहीन द्वैत मिलता है। यह एक बात है, परन्तु ऐसे सिद्धान्त को पाना बिलकुल दूसरी बात है जो सत् के साक्षात्कार के स्थान पर प्रयुक्त हो सके, क्योंकि एक लम्बी व्यतिकर-माला को समझने में यह अवधारणा-पद्धति कैसे पर्याप्त हो सकती है? और फिर वह द्विमुखी प्रज्ञा के सम्बन्धात्मक स्वरूप का समावेश, उल्लंघन और अतिक्रमण कैसे कर सकता है? यदि बुद्धि को छोड़ दिया जाए, तो विश्व को निःसंदेह नहीं समझा जा सकता। और आपकी अन्तर्दृष्टि बुद्धि होने का दावा किस प्रकार कर सकती है? मेरी सम्मति में यह एक ऐसी कठिनाई है जिसका बिलकुल पार नहीं पाया जा सकता, क्योंकि अंतर्दृष्टि की इयत्ताओं (यह एक में अनेकता) को यदि आप सम्बन्धात्मक दृष्टि से पुनर्गठित करें, तो वे अलग-अलग हो जाते हैं। और आत्मचेतना में एक प्रतीति को ऐसे स्तर पर पाने का प्रयत्न जो सम्बन्धों से नीचे नहीं अपितु ऊपर को—प्रतीति का एक ऐसा प्रकार जो बहुमुखी

विचार से श्रेष्ठ हो और जो अपनी पद्धति का समावेश एक उच्चतर समन्वय के अन्तर्गत रखता हो...मेरी समझ में सफल नहीं प्रतीत होता। संक्षेप में, मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचने में विवश हूँ...यदि आपकी अन्तर्दृष्टि एक तथ्य भी हो, तो भी वह आत्मा या विश्व का ज्ञान नहीं हो सकता। यह केवल एक अनुभूति है और इससे अपने विषय में या सत्-मात्र के विषय में कोई सुसंगत दृष्टि नहीं प्राप्त होती। मेरा अनुमान है कि अनुभूति ज्ञान से, एक ही ढंग में, आगे बढ़ सकती है। और वह यह है कि वह उसको किसी प्रकार अपने भीतर एक गौण तत्त्व के रूप में सम्मिलित कर ले। और यह अनुभूति एक ऐसी वस्तु होगी जो आत्म-चेतना में प्राप्त नहीं प्रतीत होती।

और (३) अंत में मुझे आत्मचेतना के उपर्युक्त एकरूप-मात्र के विरुद्ध एक आक्षेप उठाने के लिए विवश होना पड़ता है। ऐसे प्रत्यक्ष का अस्तित्व वस्तुतः सम्भव नहीं, जिसमें या तो अहं और इदं बिलकुल एक हों अथवा जिसमें उनकी भेद-निहित एकरूपता प्रत्यक्ष का एक विषय हो। मनोविज्ञान की दृष्टि से ऐसी कोई भी चेतना असम्भव प्रतीत होगी। इस विषय पर पाठकों की सम्मति के विषय में पूर्व-कल्पना करना व्यर्थ समझ कर, मैं केवल एक संक्षिप्त कथन से संतोष कर लूंगा। आत्मा अनुभूति से पृथक आत्मचेतना में एक सम्बन्ध निहित है। वह ऐसी अवस्था है जहाँ आत्मा विषय के रूप में होकर मन के सामने खड़ा होता है। इसका अभिप्राय यह है कि अनुभूति संहति से एक तत्त्व विरोध में है और उससे एक अनात्म होने के कारण भिन्न है। और इसमें कोई संदेह नहीं कि, अपने विविध अर्थों में, आत्मा एक ऐसा अनात्म हो सकती है। परन्तु हम जिस किसी भी अर्थ में, उस पर विचार करने का इरादा करें, परिणाम एक ही होता है। 'इदं' कदापि 'अहं' के साथ पूर्णतया एकरूप नहीं होता और अनुभूति की पृष्ठभूमि में हम किसी भी क्षण जिसका आत्मा के रूप में प्रत्यक्ष करते हैं उससे अधिक ही पाते हैं। मैं यहाँ स्वीकार करता हूँ कि मुझे नहीं मालूम कि इस विषय में कैसे तर्क किया जाय, मेरे देखने में यह समझना कि सम्पूर्ण आत्मा को एक ही प्रत्यक्ष में देखा जा सकता है, एक असम्भव-सी बात है। पहले मैं देखता हूँ कि अनुभूत पृष्ठभूमि में आन्तरिक आलोचन का एक अस्पष्ट अवशेष रह जाता है, जिसको सम्भवतः मैं कभी भी एक वस्तु के रूप में पृथक नहीं कर सकता। और इस अनुभूत पृष्ठभूमि में किसी भी क्षण ऐसे तत्त्व भी अवश्य होंगे जो बाहरी आलोचन से लिये गये हों। दूसरी ओर एक विषय के रूप में आत्मा किसी भी एक समय अत्यन्त सूक्ष्म होता है। वह आत्मा के रूप में अनुभूत पृष्ठभूमि की अपेक्षा स्पष्ट रूप से कहीं अधिक संकुचित है। और इस अनुभूत संहति को

समाप्त करने के लिए (यदि वस्तुतः यह समाप्ति सम्भव हो) हमें बहुत-से ऐसे पर्यवेक्षणों की आवश्यकता पड़ेगी; जिनमें से किसी में इदं भी इतना पूर्ण नहीं होता जितना कि अहं। अनुभूत आत्मा को उसके सम्पूर्ण रूप में चेतना का विषय बनाना असंभव प्रतीत होता है। और मैं पाठक से यह बात स्मरण के लिए निवेदन करूँगा कि, जहाँ आत्म को अनात्म के विपरीत देखा जाता है वहाँ यह सम्पूर्ण सम्बन्ध उस अनुभूत पृष्ठभूमि के अन्तर्गत आता है जिसके विरुद्ध यह भेद उत्पन्न होता है।

और यह एक आपत्ति को जन्म देता है। यह प्रश्न किया जा सकता है कि आप जो कहते हैं, आत्मचेतना यदि उससे अधिक नहीं है, तो हम एक को आत्म के रूप में और दूसरे को अनात्म के रूप में कैसे ग्रहण कर सकते हैं? आत्मा के स्वरूप में पर्यवेक्षित विषय का प्रत्यक्ष ही कैसे होता है? जहाँ तक इस प्रश्न के उत्तर की आवश्यकता प्रस्तुत विषय में है, वहाँ तक मेरी समझ में, इस प्रश्न का उत्तर कोई कठिन नहीं है। सबसे महत्त्व की बात यह है कि अनुभूति की पूर्णता का कभी लोप नहीं होता। जो संहृति पहले अव्याहृत होती है, वह अहं के सम्बन्ध में स्थित विषयों के रूप में अपने को विभाजित कर लेती है, और फिर अहं सूक्ष्म हो जाता है, और स्वयं अनुभूति की पृष्ठभूमि से सम्बन्धित एक विषय के रूप में हो जाता है। परन्तु फिर भी, आत्मानात्मविषय अविच्छिन्न आत्मा का एक अंश रहता है और इसी प्रकार विश्लेषण में आत्मा इसी अनुभूति इकाई में अपना स्थान रखता है। भेदों का ऊपर से आरोप हुआ है, परन्तु उन्होंने मूल इकाई को विभाजित नहीं किया और, यदि वे ऐसा कर देते, तो परिणाम केवल विनाश होता। इसलिए, आत्मचेतना में, आत्मा के रूप में प्रतिभासमान के तत्त्व भी सम्पूर्ण वैयक्तिक संहृति से सम्बन्ध रखते हैं। प्रथम तो वे अनुभूत पूर्णता की विशेषताएँ हैं, फिर वे उस आन्तरिक संसार के तत्त्व हैं जिससे अनात्म को पृथक् किया जाता है, और अंत में वे आंतरिक पृष्ठभूमि के विपरीत, एक विषय भी बन जाते हैं और इन तत्त्वों का एक साथ ही कई रूपों में अस्तित्व होता है, और जिस प्रकार अनात्म मानसिक दृष्टि से मेरी अपनी अवस्था के रूप में प्रतीत होता है, उसी प्रकार आत्म जब एक विषय बन जाता है, तो भी वह मेरे साथ एक रूप होकर प्रतीत होता है। यही नहीं, अनुभूति की इस इकाई पर हम विचार करें और यह कहें कि आत्म और अनात्म की एक संहृति के रूप में आत्मा हमारा विषय है और यदि हम इसको विमर्श का एक विषय कहें तो यह बात सच होगी। परन्तु उस विमर्श में फिर एक वास्तविक 'अहं' होगा, और वह वास्तविक अहं अनुभूति की एक ऐसी संहृति होगा, जो विषय की अपेक्षा कहीं अधिक पूर्ण होगा, और वह ऐसा 'अहं' होगा जो किसी भी अर्थ में विमर्श के लिए एक विषय

नहीं बन सकता। एक ही आत्मा में आत्म और अनात्म होने की विशेपता को निःसन्देह इस वर्त्तमान 'अहं' के सामने लाया जा सकता है और उसकी अपनी विशेषता के रूप में अनुभूति किया जा सकता है। अनुभूति की एकता प्रत्यक्ष और प्रत्यय के लिए एक विषय हो सकती है, और साथ ही वह उस आत्मा से भी सम्बन्ध रख सकती है, जो कि वर्तमान है, और जो स्वयं प्रत्यक्ष करने वाला 'अहं' भी है। परन्तु मनोवैज्ञानिक सूक्ष्मताओं और कठिनाइयों में प्रवेश किये विना ही हम इस प्रमुख परिणाम के विषय में निश्चित हो सकते हैं। मन की किसी भी अवस्था में, वास्तविक 'अहं' अपने सामने विषय के रूप में कदापि नहीं सामने आता। उसके सामने वह तत्व होता है जिसे वह जहाँ तक अपने क्षेत्र में पड़े और अपनी अनुभूत इकाई के साथ एकात्मता रखे, स्वयं अपना ही स्वरूप समझता है। परन्तु वास्तविक 'अहं' कभी भी यह नहीं समझता कि वह पूर्णरूपेण अपने विषय के रूप में परिणत हो गया, और उसके भीतर कुछ भी नहीं शेष रहा तथा सारा भेद समाप्त हो गया। और इसकी प्रतीति हम स्वयं पर्यवेक्षण के द्वारा कर सकते हैं। अन्ततोगत्वा अहं की प्रतीति होना चाहिए, और उसका प्रत्यक्ष कदापि (जैसी कि मान्यता है) सम्भव नहीं हो सकता।

परन्तु यदि यह बात है तो आत्मचेतना हमारी पहली कठिनाइयों को हल नहीं कर सकती, क्योंकि एक ही कठिनाई के अन्तर्गत आत्म और अनात्म के यह भेद हमारी आत्मा के सत् के रूप में भी कभी नहीं आते। वे जिस रूप में उसके अन्तर्गत पाये जाते हैं, उसी रूप में वे दिये जाते हैं, न कि उसको समाप्त करने वालों के रूप में। परन्तु यदि आत्मा वह भी कर डाले, जो कि वह नहीं कर सकती और इस व्यवस्था को अपनी सुनिश्चत सत्ता के रूप में प्रमाणित कर दे, तो भी हम एक दुविधा में ही पड़े रहेंगे क्योंकि जब तक हम इस व्यवस्था को स्वयं सत्-सुसंगत नहीं समझते, तब तक हम उसको सत् से सम्बन्ध रखने वाले तथ्य के रूप में नहीं स्वीकार कर सकते। वह केवल अबुद्धिगम्य और भ्रामक अनुभव-मात्र होगा। यह एक ऐसा अनुभव होगा, जिसका जैसा कि हम देख चुके है, वस्तुतः कोई अस्तित्व नहीं।

(ग) परन्तु, हमने देखा कि, अनुभूति-मात्र के रूप में आत्मा किसी उलझन को न सुलझा सकी और आत्मचेतना के द्वारा भी कोई सफलता न मिली। जहाँ तक वह अनुभूति मात्र के परे पहुँचता है वहाँ तक वह सम्बन्धों और गुणों के भ्रामक चक्र में फँसकर छिन्न-भिन्न हो जाता है। इसी भ्रम की पुनरावृत्ति पहले से उच्च स्तर पर की जाती है तथा प्रयत्न और अधिक विशाल होता है, परन्तु परिणाम फिर भी वही रहता है, क्योंकि हम को यह नहीं सिखाया गया कि हम अद्वैत में द्वैत का प्रत्यक्ष कैसे करें। और यद्यपि मेरी समझ में आगे प्रयत्न करना अब व्यर्थ

है, परन्तु फिर भी मैं संक्षेप में, आत्मा के विषय में स्थापित कुछ अन्य मान्यताओं का उल्लेख करूँगा। पहले का आधार वैयक्तिक एकरूपता की चेतना है, इसका सम्बन्ध आत्मा की सत्ता से कुछ कुछ माना जा सकता है, परन्तु मेरी समझ में व कारण असंगत-सा प्रतीत होता है। सीमा के भीतर और किसी निश्चित स्तर तक आत्मा निस्संदेह एक-सी रहती है, और सिद्धान्त-द्वारा उस सीमा को निश्चित करने का भार मैं दूसरों पर छोड़ता हूँ, क्योंकि, मेरी सम्मति में, ऐसा कोई भी प्रयत्न नहीं है, जो मूलतः मनमाना न हो। परन्तु जिस बात को समझने में मैं असमर्थ हूँ वह एक तत्त्व-ज्ञान का निष्कर्ष है जो एकरूपता की भावना से प्रसूत होता है। यह तो मैं पूरी तरह से समझता हूँ कि आत्मा के पृथक् अस्तित्व-भाव सम्बन्धी सिद्धान्त को यह तथ्य नहीं मानता। अथवा यह कहना अधिक ठीक होगा, कि यह एक ऐसे सिद्धान्त का स्पष्ट उदाहरण है जो स्वयं अपना विरोध करता है। आत्मा केवल पृथक् अस्तित्व रखने वाला नहीं है, और इसलिए हम उसकी सत्ता के विषय में एक स्वीकारात्मक परिणाम पर पहुँचते हैं, परन्तु वास्तविकता केवल इस प्रकार प्रतीत होती है। जब तक आत्मा के भीतर कोई एक ही तात्त्विक आधार रहता है तब तक वह आत्मा उस आधार से कभी भी सम्बन्धित किसी भी वस्तु को अपनी स्मृति में ला सकता है। यह तात्त्विक एकता और एकात्मकता जो कि पुनरेकीकरण और पुनर्नवीकरण के सिद्धान्त पर काम करती है और अतीत को एक ही आत्मा के इतिहास के रूप में प्रस्तुत करती है—वस्तुतः यही वह स्वरूप है जिसे हमें निर्धारित करना है। इस स्वरूप से, निःसंदेह प्रकट है कि एकरूपता एक तथ्य के रूप में स्थित है और इसलिए येन-केन प्रकारेण एक-अविकारी आत्मा सत् होना चाहिए, परन्तु प्रश्न होता है कि कैसे? प्रश्न यह है कि एक सत्-आत्मा के अस्तित्व और निरंतरता का वर्णन क्या किसी ऐसे ढंग से किया जा सकता है या नहीं, जो कि बुद्धिगम्य तो हो ही, परन्तु साथ ही वह पिछली चर्चाओं की कठिनाइयों से मुक्त हो, क्योंकि अन्यथा चाहे हमारे हाथ में एक रोचक तथ्य भले ही आ गया हो, परन्तु निस्संदेह सत् के विषय में हमें कोई दृष्टि नहीं मिली, जो ठहर सके। यदि कोई ठहर सकने वाला दृष्टिकोण हमें मिल सके, तो वह सम्भवतः हमको बतलाएगा, कि हम जिसको तथ्य समझे हुए हैं वह बहुत बड़ी मिथ्या-धारणा है। कुछ भी हो, जब तक हम असंगतियों का गट्ठर ही पेश कर सकते हैं; यह विश्वास करना मूर्खता है कि यही परम सत् है। और यदि कोई स्मृति में किसी आश्चर्यजनक शक्ति को पाकर उसका सहारा लेता है, तो भी स्थिति ज्यों-की-त्यों रहती है, क्योंकि प्रश्न तो यह है—संकेत-सत्य अथवा उस संकेत पर आधारित हमारा निष्कर्ष? मेरी तो स्थिति यह है—आप अपने मत का प्रतिपादन

नहीं बन सकता। एक ही आत्मा में आत्म और अनात्म होने की विशेषता को निःसन्देह इस वर्त्तमान 'अहं' के सामने लाया जा सकता है और उसकी अपनी विशेपता के रूप में अनुभूति किया जा सकता है। अनुभूति की एकता प्रत्यक्ष और प्रत्यय के लिए एक विषय हो सकती है, और साथ ही वह उस आत्मा से भी सम्बन्ध रख सकती है, जो कि वर्तमान है, और जो स्वयं प्रत्यक्ष करने वाला 'अहं' भी है। परन्तु मनोवैज्ञानिक सूक्ष्मताओं और कठिनाइयों में प्रवेश किये बिना ही हम इस प्रमुख परिणाम के विषय में निश्चित हो सकते हैं। मन की किसी भी अवस्था में, वास्तविक 'अहं' अपने सामने विषय के रूप में कदापि नहीं सामने आता। उसके सामने वह तत्व होता है जिसे वह जहाँ तक अपने क्षेत्र में पड़े और अपनी अनुभूत इकाई के साथ एकात्मता रखे, स्वयं अपना ही स्वरूप समझता है। परन्तु वास्तविक 'अहं' कभी भी यह नहीं समझता कि वह पूर्णरूपेण अपने विषय के रूप में परिणत हो गया, और उसके भीतर कुछ भी नहीं शेष रहा तथा सारा भेद समाप्त हो गया। और इसकी प्रतीति हम स्वयं पर्यवेक्षण के द्वारा कर सकते हैं। अन्ततोगत्वा अहं की प्रतीति होना चाहिए, और उसका प्रत्यक्ष कदापि (जैसी कि मान्यता है) सम्भव नहीं हो सकता।

परन्तु यदि यह बात है तो आत्मचेतना हमारी पहली कठिनाइयों को हल नहीं कर सकती, क्योंकि एक ही कठिनाई के अन्तर्गत आत्म और अनात्म के यह भेद हमारी आत्मा के सत् के रूप में भी कभी नहीं आते। वे जिस रूप में उसके अन्तर्गत पाये जाते हैं, उसी रूप में वे दिये जाते हैं, न कि उसको समाप्त करने वालों के रूप में। परन्तु यदि आत्मा वह भी कर डाले, जो कि वह नहीं कर सकती और इस व्यवस्था को अपनी सुनिश्चत सत्ता के रूप में प्रमाणित कर दे, तो भी हम एक दुविधा में ही पड़े रहेंगे क्योंकि जब तक हम इस व्यवस्था को स्वयं सत्-सुसंगत नहीं समझते, तब तक हम उसको सत् से सम्बन्ध रखने वाले तथ्य के रूप में नहीं स्वीकार कर सकते। वह केवल अबुद्धिगम्य और भ्रामक अनुभव-मात्र होगा। यह एक ऐसा अनुभव होगा, जिसका जैसा कि हम देख चुके हैं, वस्तुतः कोई अस्तित्व नहीं।

(ग) परन्तु, हमने देखा कि, अनुभूति-मात्र के रूप में आत्मा किसी उलझन को न सुलझा सकी और आत्मचेतना के द्वारा भी कोई सफलता न मिली। जहाँ तक वह अनुभूति मात्र के परे पहुँचता है वहाँ तक वह सम्बन्धों और गुणों के भ्रामक चक्र में फँसकर छिन्न-भिन्न हो जाता है। इसी भ्रम की पुनरावृत्ति पहले से उच्च स्तर पर की जाती है तथा प्रयत्न और अधिक विशाल होता है, परन्तु परिणाम फिर भी वही रहता है, क्योंकि हम को यह नहीं सिखाया गया कि हम अद्वैत में द्वैत का प्रत्यक्ष कैसे करें। और यद्यपि मेरी समझ में आगे प्रयत्न करना अब व्यर्थ

है, परन्तु फिर भी मैं संक्षेप में, आत्मा के विषय में स्थापित कुछ अन्य मान्यताओं का उल्लेख करूँगा। पहले का आधार वैयक्तिक एकरूपता की चेतना है, इसका सम्बन्ध आत्मा की सत्ता से कुछ कुछ माना जा सकता है, परन्तु मेरी समझ में व लगभग असंगत-सा प्रतीत होता है। सीमा के भीतर और किसी निश्चित स्तर तक आत्मा निःसंदेह एक-सी रहती है, और सिद्धान्त-द्वारा उस सीमा को निश्चित करने का भार मैं दूसरों पर छोड़ता हूँ, क्योंकि, मेरी सम्मति में, ऐसा कोई भी प्रयत्न नहीं है, जो मूलतः मनमाना न हो। परन्तु जिस वात को समझने में मैं असमर्थ हूँ वह एक तत्व-ज्ञान का निष्कर्ष है जो एकरूपता की भावना से प्रसूत होता हैं। यह तो मैं पूरी तरह से समझता हूँ कि आत्मा के पृथक अस्तित्व-मात्र सम्बन्धी सिद्धान्त को यह तथ्य नहीं मानता। अथवा यह कहना अधिक ठीक होगा, कि यह एक ऐसे सिद्धान्त का स्पष्ट उदाहरण है जो स्वयं अपना विरोध करता है। आत्मा केवल पृथक अस्तित्व रखने वाला नहीं है, और इसलिए हम उसकी सत्ता के विषय में एक स्वीकारात्मक परिणाम पर पहुँचते हैं, परन्तु वास्तविकता केवल इस प्रकार प्रतीत होती है। जब तक आत्मा के भीतर कोई एक ही तात्त्विक आधार रहता है तब तक वह आत्मा उस आधार से कभी भी सम्बन्धित किसी भी वस्तु को अपनी स्मृति में ला सकता है। यह तात्विक एकता और एकात्मकता जो कि पुनरेकीकरण और पुनर्नवीकरण के सिद्धान्त पर काम करती है और अतीत को एक ही आत्मा के इतिहास के रूप में प्रस्तुत करती है—वस्तुतः यही वह स्वरूप है जिसे हमें निर्धारित करना है। इस स्वरूप से, निः-संदेह प्रकट है कि एकरूपता एक तथ्य के रूप में स्थित है और इसलिए येन-केन प्रकारेण एक-अविकारी आत्मा सत् होना चाहिए ,परन्तु प्रश्न होता है कि कैसे ? प्रश्न यह है कि एक सत्-आत्मा के अस्तित्व और निरंतरता का वर्णन क्या किसी ऐसे ढंग से किया जा सकता है या नहीं, जो कि वुद्धिगम्य तो हो ही, परन्तु साथ ही वह पिछली चर्चाओं की कठिनाइयों से मुक्त हो, क्योंकि अन्यथा चाहे हमारे हाथ में एक रोचक तथ्य भले ही आ गया हो, परन्तु निःसंदेह सत् के विषय में हमें कोई दृष्टि नहीं मिली, जो ठहर सके। यदि कोई ठहर सकने वाला दृष्टिकोण हमें मिल सके, तो वह सम्भवतः हमको वतलाएगा, कि हम जिसको तथ्य समझे हुए हैं वह बहुत वड़ी मिथ्या-धारणा है। कुछ भी हो, जब तक हम असंगतियों का गट्ठर ही पेश कर सकते हैं; यह विश्वास करना मूर्खता है कि यही परम सत् है। और यदि कोई स्मृति में किसी आश्चर्यजनक शक्ति को पाकर उसका सहारा लेता है, तो भी स्थिति ज्यों-की-त्यों रहती है, क्योंकि प्रश्न तो यह है —संदेश-सत्य अथवा उस संदेश पर आधारित हमारा निष्कर्ष ? मेरी तो स्थिति यह है—आप अपने मत का प्रतिपादन

पायें हों, और सारे प्रश्न का निचोड़ यह है कि हम किसी निश्चय पर पहुँचे कि नहीं। परन्तु आप जो पेश करते हैं वह अधिकतर ऐसा अनुभव-सा प्रतीत होता है जो समझ में तो नहीं आता परन्तु जिसको एक भयंकर उलझन कहा जा सकता है। आपका यह कथन वैसा ही है जैसा कि उस मनुष्य का, जो अपने मनोवेग के वशीभूत होकर, यह अनुभव करता है और समझता है कि प्रेम में ही सारे विश्व का रहस्य निहित है। प्रत्येक अवस्था में निष्कर्ष बिल्कुल ठीक है, परन्तु यह बात नहीं समझ में आती कि इसको तत्वज्ञान क्यों कहा जाय।

और यदि प्रत्यय के मूल संकल्प को छोड़ दिया जाय तथा शक्ति की अस्पष्ट अभि-व्यक्ति का सहारा लिया जाय, तो इसमें कोई प्रगति की बात नहीं। सक्रियता या निरोध शक्ति अथवा संकल्प-शक्ति या बल (अथवा और भी कोई शब्द जो आपको सर्वाधिक अच्छा प्रतीत हो) के अनुभव में, हमको अन्ततोगत्वा सत् की चट्टान पर उतरना पड़ता है। मैं इतना अप्रबुद्ध नहीं हूँ कि अन्तर्दृष्टि को अप्रमाणित करूँ। वह निःसन्देह एक रहस्य है और इसलिए जो लोग बाहरी दुनिया को उसका परिचय कराने की क्षमता रखते हैं वही लोग उसी कारणवश मौन धारण करने के लिए अथवा अज्ञान का बहाना करने के लिए विवश हो जाते हैं। इसलिए मेरे वश की जो बात है वह यही है कि मैं अदीक्षित व्यक्ति की ओर से कुछ बाहरी चर्चा करूँ।

प्रथम तो वैज्ञानिक दृष्टि से अन्तर्दृष्टि एक धोखा है। सक्रियता-जैसी किसी भी वस्तु की मूल अनुभूति नहीं होती, निरोध-शक्ति की तो बात ही क्या? यह एक बिलकुल गौण उपज है, जिसका मूल तनिक भी रहस्यमय नहीं और जिसके विषय में मैंने पिछले अध्याय में कुछ चर्चा की है। आप निःसन्देह अनिश्चित आलोचनों के अव-शिष्ट छोर की ओर संकेत कर सकते हैं, परन्तु इनके अन्तर्गत कोई तत्व नहीं होगा। और मैं यह कहने से नहीं हिचकता कि यदि कहीं भी आपको कोई मनोवैज्ञानिक इस अनुभूति को प्रारम्भिक अथवा मौलिक मानने वाला मिले, तो आप समझ लीजिए कि वह एक ऐसा आदमी है जिसने कभी भी उसके विश्लेषण करने अथवा उस इयत्ता के विषय में पता लगाने का कोई गम्भीर प्रयत्न नहीं किया। दूसरे, तत्वज्ञान की दृष्टि से यह संदेश चाहे किसी सूरत से क्यों न मिले, वे या तो अर्थहीन हैं या असत्य। और यहाँ फिर हम एक सर्वाधिक महत्त्व के विषय पर पहुँचते हैं। मुझे इससे कोई प्रयोजन नहीं कि आपको किस त्रिकाल-द्रष्टा ने बतलाया है, और यदि आप चाहें तो अपने बेसिर-पैर के मनोविज्ञान को यहाँ पर दिव्य संदेश मान लें, परन्तु वास्तविक प्रश्न तो यह है कि आपका जो उत्तर है (और यदि उसका कोई अर्थ है), वह एक आभास और भ्रम है या नहीं। यदि उसका कोई अर्थ नहीं है, अर्थात् यदि वह केवल एक उक्ति-

ात्र है जिसमें एक सिद्धान्त होने की क्षमता रखने वाला कोई जटिल तत्व न हो, तो
ह बहुत-कुछ सुख या दुख-जैसी कोई वस्तु होगा। परन्तु यदि आप कहें कि यह तो
वेदद का शास्त्रीय स्वरूप-वर्णन है, तो आपकी यह भूल ही नहीं, अपितु महामूर्खता
होगी। यही बात सक्रियता अथवा बल के विषय में कही जा सकती है, यदि उनका भी
केवल अस्तित्व हो और उसमें कोई अर्थ न हो तो? परन्तु इसके विपरीत अन्तर्दृष्टि
का कोई अर्थ है, तो मैं यह कहूँगा कि या तो उस त्रिकाल-द्रष्टा के मस्तिष्क में इतनी
उलझन है, अथवा, इसके विपरीत, यदि उसमें कोई निश्चित अभिप्राय है, तो वह झूठ
है। यदि हम उसको अन्धेरे में निकाल कर अपनी पिछली आलोचना के प्रकाश में उसे
देखें, तो वह अपनी अशक्यता को प्रकट कर देगी। उसमें केवल उलझी हुई गुत्थियों
के अतिरिक्त, किसी भी सत्य के नहीं, अपितु आभास के दर्शन होंगे। मैं इस विषय को
बिना और किसी चर्चा के छोड़ता हूँ।

(ङ) अंत में, मैं, संक्षेप में, परमाणुवाद पर विचार करूँगा। एक मत यह है कि,
अद्वैत दृष्टि से नहीं तो कम-से-कम तत्व की दृष्टि से प्रत्येक आत्मा के स्वतन्त्र सत् हैं।
परन्तु इस प्रयत्न पर अधिक चर्चा की आवश्यकता नहीं। प्रथम तो, यदि विश्व में एक
से अधिक आत्मा हैं, तो प्रश्न होता है कि उनमें परस्पर क्या सम्बन्ध है? और यह हम
तीसरे अध्याय में पहले ही देख चुके हैं कि इस प्रश्न का नकारात्मक उत्तर देना पर्याप्त
नहीं है, क्योंकि भेद-सम्बन्ध के बिना, अनेकत्व और पृथकत्व का कोई अर्थ नहीं। पर-
स्पर-सम्बन्ध के अभाव में, बेचारे ये परमाणु प्रगतिहीन और प्रयोजनहीन हो जायेंगे।
परन्तु, सम्बन्धों को मान लेना भी परमाणुओं की स्वतन्त्रता के लिए घातक होगा।
वस्तु-मात्राएँ, स्पष्ट रूप से, एक सर्वात्मक इकाई के विशेष अथवा तत्व-मात्र हो जाते
हैं। इसलिए, उनके आन्तरिक तत्वों के लिए, स्थिरता का कोई सबल सिद्धान्त नहीं
रह जाता। और दूसरे, यदि वह रह भी जाय, तो इससे हमारी कठिनाइयों का अन्त
नहीं होता, क्योंकि तनिक सोचिए और विचारिए—अभी तक हमने देखा है कि द्वैत
और अद्वैत में संगति सम्भव नहीं। चाहे आप अपने तत्वों के साथ सम्बन्धित एक अद्वैत
इकाई के अस्तित्व को लें अथवा उस अस्तित्व के अनेक विशेष रूपों को, सर्वत्र एक ही
कठिनाई सामने आती है। हमें ऐसी विशेषताएँ मिलीं जिनका एकत्र होना आवश्यक
था, परन्तु फिर भी उनमें एकता की प्रकृति नहीं दिखायी पड़ी। आत्मा में अनेकता
है और एकता भी, परन्तु जब हम यह जानने का प्रयत्न करते हैं कि यह कैसे है, तो हम
असंगतियों के चक्र में पड़ जाते हैं, अतः यह बात सच नहीं हो सकती। और अब आत्मा
के पारमार्णविक स्वरूप से इसको कितने ही निश्चित अर्थ में हम क्यों न लें—हमारा
क्या काम चलेगा? क्या इससे तनिक भी ज्ञात होगा कि अद्वैत के साथ द्वैत का समन्वय

कैसे हो सकेगा ? यदि यह सम्भव हो सके, तभी मैं सादर यह कहूँगा कि उसका कुछ उपयोग है, क्योंकि अन्यथा, यह तो अद्वैत-सत्ता का एक कथन एवं समर्थन-मात्र रह जाता है और उसके द्वैत तत्व की समस्या या तो पूर्णतया उपेक्षित रह जाती है अथवा वह मनगढ़ंतों और रूपकों के जाल में छिप जाता है। परन्तु यदि अद्वैत पर वल देने के अतिरिक्त अन्य कुछ अभिप्रेत है, तो आपत्तिजनक है, क्योंकि ऐसी अवस्था में, द्वैत का व्याख्यान होने के स्थान पर, उस पर तो पर्दा पड़ जायगा, और आत्मा की अद्वैत सत्ता के सीमा-निर्धारण के विषय में केवल नकारात्मक उत्तर ही मिलेगा। और यह उत्तर आलोचना के आगे ठहर नहीं सकेगा। और अन्त में आत्मा का उसके तत्व के साथ क्या सम्वन्ध है, यह एक दूसरा जटिल प्रश्न वन जायगा। परमाणुवाद से वर्त्तमान समस्याओं में वृद्धि ही होगी और उससे किसी के भी हल में सहायता नहीं मिलेगी। यदि हमारी समस्या के विभिन्न पक्षों का हल, केवल इन्हीं दो पक्षों के प्रति दुराग्रह-द्वारा ही करने का प्रयत्न किया जाय, तो यह वड़ी आश्चर्य की वात होगी।

और इस निष्कर्ष के साथ मैं प्रस्तुत अध्याय का अन्त करता हूँ। यदि पाठक चाहें, तो इस विषय पर जो चर्चा हुई उसके आधार पर वे इस विषय के विस्तृत सूत्रों को और आगे ले जा सकते हैं और आत्मा की सत्ता के दावे की ओर अधिक आलोचना कर सकते हैं। परन्तु, जिन आपत्तियों को सिद्धान्त-रूप में हम देख चुके हैं, यदि वे उन्हीं को हृदयंगम कराने का प्रयत्न करेंगे, तो जिस निष्कर्ष पर पहुँचेंगे, वह अभी से ही सुनिश्चित है। आत्मा को किसी भी रूप में क्यों न लिया जाय, वह आभास ही सिद्ध होगा। यदि वह सीमित या शान्त है, तो वह बाहरी सम्वन्धों के विरुद्ध अपने को स्थिर नहीं रख सकता, क्योंकि वे उसके तत्त्व में प्रविष्ट होकर उसकी स्वतन्त्रता को नष्ट कर देंगे। और उसकी सान्तता के विषय में इस आपत्ति को छोड़ देने पर भी, आत्मा सव प्रकार से अवुद्धिगम्य है, क्योंकि उस पर विचार करते हुए हमें केवल अनुभूति से ऊपर उठना पड़ता है, क्योंकि वह स्वयं पर्याप्त नहीं, परन्तु फिर भी हम किसी भी ऐसे अकाट्य विचार या बौद्धिक सिद्धान्त पर नहीं पहुँच पाते जिससे कि हम यह जान सकें कि इकाई के भीतर अनेकता का समावेश कैसे हो सकता है। परन्तु यदि हम इसको नहीं समझ सकते और यदि आत्मा-विषयक हमारी समस्त ऊहापोह असंगतियों से भरी हुई है, तो हमें इसका परिणाम स्वीकार कर लेना चाहिए। निःसन्देह हमारी अनुभूति का सर्वोत्तम स्वरूप आत्मा है, परन्तु यह सव होते हुए भी, यह कोई सच्चा स्वरूप नहीं है। वह हमारे सामने वास्तविक-तथ्यों को नहीं प्रस्तुत करता, और जिस रूप में, वह प्रस्तुत करता है, उस रूप में वे आभास है, भ्रम है, भूलें हैं।

जिन कारणों से इस परिणाम का सर्वत्र स्वागत नहीं होता है, उनमें से एक आत्मा

भी उस अस्पष्टता या गूढ़ता में निहित है, जिसकी सविस्तार चर्चा हम पिछले अध्याय में कर चुके हैं। यद्यपि यह शब्द देखने में स्पष्ट लगता है, परन्तु इसका अर्थ बार-बार बदलता है। इसका प्रयोग विभिन्न विषयों को व्यक्त करने के लिए होता है, और वाद-विवाद में यह कभी भी एक सुनिश्चित अर्थ में प्रयुक्त नहीं होता है। परन्तु एक और बात है, जो गूढ़ता और अस्पष्टता का प्रमुख आधार है। तत्त्व-ज्ञान का लक्ष्य विश्व को समझना तथा सभी तथ्यों पर विचार करने के लिए एक निर्विरोध पद्धति को ढूँढ़ निकालना है। परन्तु ऐसे कितने लेखक हैं, जो इस महत्त्वपूर्ण विषय पर ध्यान देने का कष्ट करते हैं? जो लोग अपनी विचार-प्रणाली को आत्मा पर आधारित करते हैं, उनमें से कितने हैं, जो अपनी इस प्रणाली की निष्पक्ष जाँच करते हैं। एक पूर्व-निर्धारित विकल्प के आधार पर तर्क उपस्थित करना या आत्मा की उपेक्षा करने वाले किसी भी सिद्धान्त का खंडन करके अविशिष्ट तत्त्व को विश्व का रहस्य बतलाना सरल है, चाहे वह अविशिष्ट तत्त्व एक ब्रह्म हो, अथवा कोई ऐसा जंजाल जो समझ में ही न आये। और आत्मा से रहित एक विश्व का सर्वेक्षण करके वहाँ अहंकार और मन के दर्शन करना तथा पुनः सुखद अंधकार और एक मनोवैज्ञानिक होआ की सान्त्वना में अपनी आत्मा पर पुनः लौट आना भी कठिन नहीं है। परन्तु यदि हमारा लक्ष्य वस्तु को समझना है, तो एक ही बात है, जिसका हमें विचार करना है। हमारे सिद्धान्त का स्रोत क्या है, इससे कोई प्रयोजन नहीं। यदि उसमें किसी अन्य मत का खंडन है, तो इसमें कोई बुराई नहीं। अथवा यदि वह किसी अन्तर्दृष्टि से प्रसूत कोई उत्तर है, तो इसमें भी कोई बुराई नहीं। परन्तु तत्त्वज्ञान की दृष्टि से, यदि किसी सिद्धान्त को कोई स्थिरता प्राप्त करनी है, तो वह पूर्ण स्वतंत्र तथा स्वाश्रित होना चाहिए। विभिन्न तथ्यों का समावेश करने के लिए पर्याप्त विस्तृत होते हुए भी, तार्किक दृष्टि से भी उसका मनन और चिन्तन भी असंगति-रहित हो सकना चाहिए। एक बात मैं फिर दोहराना चाहता हूँ कि यहाँ एक बात है जिस पर हर बात टिकी हुई है। द्वैत और अद्वैत दोनों ही प्रकाश में आने चाहिए और सिद्धान्त के भीतर दोनों का समावेश होना चाहिए। वह सिद्धान्त, हमें सिद्धान्तों के जंजाल में न डाल दें, और सिद्धान्त भी ऐसे जो हमें भ्रामक व्यंजकों की ओर ले जाते हैं, जो स्वयं असंख्य सम्बन्धों में विलीन हो जाते हैं। परन्तु आत्मा इस प्रकार के सिद्धान्तों को उपस्थित करने में इतना असमर्थ है कि, जब वह रहस्य निगूढ़ नहीं भी होता है, तो भी वह असंगतियों का एक गह्वर-मात्र प्रतीत होता है। अतः एक बार फिर हमारी गवेषणा हमें सत् की ओर न ले जाकर, केवल आभास की ओर ले गयी।

ग्यारहवाँ अध्याय

विविध प्रतीतिवाद

विश्व की अनेकता को एकता में परिणत करने के हमारे सभी प्रयत्न अभी तक असफल रहे। हमने जो भी समष्टि ढूंढ़ निकाली वह, चाहे कोई वस्तु हो अथवा आत्मा, कसौटी पर खरी नहीं उतरी। ऐसा लगता है कि प्रतीयमान जगत् निःसन्देह कहीं-न-कहीं अद्वैत होना चाहिए, परन्तु यह एकता प्रतीयमान अनेकता में प्राप्य नहीं, इसलिए ऐसा प्रतीत होता है कि सत् हमारे जगत् को छोड़कर किसी दूसरे जगत् में चला जायगा। इस आभास और सत् के पार्थक्य की ओर बहुत निकट जा पहुँचे हैं, सम्भवतः हम अभी इन दोनों को दो भिन्न गोलार्द्धों में स्थापित करना चाहते हैं––एक गोलार्द्ध तो वह जो हमारे लिए अज्ञात और सत् है, तथा दूसरा वह जो ज्ञात एवं आभास-मात्र है। परन्तु ऐसा करने से पूर्व, मैं कुछ शब्द एक प्रस्तावित विकल्प के विषय में कहना चाहूँगा। यह कथन मेरी निज की सुविधा के अनुकूल तथा पूर्णतया मेरे निज के ढंग पर होगा।

यह कहा जा सकता है कि हम अद्वैत इकाई को खोजने का कष्ट क्यों करें? वस्तुएँ जिस रूप में हैं उसी रूप में उनसे काम क्यों नहीं चलता? हमें सचमुच कोई वस्तु या क्रिया अथवा अन्य ऐसा कुछ वाँछनीय नहीं, क्योंकि प्रतीयमान अनेकता और उसके नियम ही विज्ञान के लिए पर्याप्त हैं। इस प्रकार के मत को विविध प्रतीतिवाद कहा जा सकता है। यह सिद्धान्त नितान्त थोथा है, यद्यपि निःसंदेह इसकी स्थापना बुद्धि की विभिन्न मात्राओं के द्वारा की गयी है। अपने सर्वाधिक सुसंगत रूप में, यह सिद्धान्त, मेरी समझ में, प्रतीयमान विधिता को अनुभूतियों अथवा आलोचनों के रूप में ग्रहण करता है। ये ही अपने सम्बन्धों-सहित तत्त्व माने गये हैं, और येन-केन-प्रकारेण, किसी अवस्था पर, इस मत में नियमों का भी आगमन हो जाता है। विविध प्रतीतिवाद अपने विरोधियों से कहता है––प्रतीयमान के अतिरिक्त और अस्तित्व है ही किसका? मुझे कोई भी सत् वस्तु दिखलाओ, तो मैं दिखला दूगा कि वह एक आभास-मात्र है, इससे अधिक प्राप्य नहीं और वस्तुतः इससे अधिक निरर्थक भी है। इस प्रकार के प्रतीयमान तत्त्वों, समष्टियों अथवा व्यवस्थाओं के अतिरिक्त और किसी भी अर्थ में, वस्तुओं और आत्माओं को इकाइयाँ नहीं कहा जा सकता। वस्तुतः जिसकी प्रतीति होती है

वह अमुक-अमुक प्रकार से गणबद्ध है। और फिर निःसन्देह नियत हैं। जब कुछ वस्तुएँ दी हुई होती हैं, तो कुछ अन्य वस्तुएँ भी दी हुई होती हैं, अथवा हमें ज्ञात रहता है कि कुछ अन्य घटनाएँ भी घटित होंगी। घटित होने वाली घटनाओं तथा आभासों के अतिरिक्त और उनके घटित होने के प्रकारों को छोड़कर और किसी का अस्तित्व नहीं। और विज्ञान के नाम पर कोई किसी और की इच्छा भी कैसे कर सकता है?—अंतिम प्रश्न से एक बहुत सुस्पष्ट आलोचना सूझती है। या तो यह मत सभी तथ्यों को लेकर चलने का दावा करता है अथवा ऐसा कोई दावा नहीं करता। यदि दूसरी बात ठीक है, तो उसके समस्त दावों का अंत ही हो जाता है। परन्तु यदि पहली बात ठीक है, तो उसे इस भयंकर आक्षेप का सामना करना पड़ता है। वस्तुओं में, विश्व में अथवा आत्मा में एक इकाई की स्थापना करने वाली समस्त विचारधाराएँ—और स्पष्टतः ऐसी बहुत-सी विचारधाराएँ—निःसन्देह भ्रामक हैं। परन्तु वे ऐसे तथ्य हैं जिनको पूरी तरह से अस्वीकार नहीं किया जा सकता। विविध-प्रतीतिवाद से निवेदन है कि वह इन तथ्यों पर कुछ विचार करे और बतलाए कि उसके सिद्धान्तों के अनुसार उनका अस्तित्व कैसे सम्भव है? उदाहरण के लिए इस प्रकार के तत्त्वों तथा उनके नियमों को लेकर विविध प्रतीतिवाद का सिद्धान्त ही कैसे सम्भव हो सकता है? यह सिद्धान्त इकाई प्रतीत होता है, परन्तु यदि वह सिद्धान्त सच्चा है, तो उसका इकाई होना सम्भव नहीं। इस प्रकार के आक्षेपों का क्षेत्र बहुत विस्तृत है और उसका प्रयोग प्रतीयमान जगत् के अधिकांश भाग पर हो सकता है। परन्तु मुझे यह नहीं पूछना है कि विविध प्रतीतिवाद के पास क्या उत्तर हैं? मैं तो केवल यही कहूँगा कि समझदार व्यक्तियों के लिए, यह आक्षेप ही सारी कथा समाप्त कर देता है, और यदि कभी भी इस आक्षेप का उत्तर देने के लिए कोई प्रयत्न हुआ हो, तो कम-से-कम मेरे देखने में वह नहीं आया। हमें पहले ही से यह विश्वास हो जाना चाहिए कि ऐसा प्रयत्न पूर्णतया व्यर्थ होगा।

इस प्रकार इस मत की कार्य-आलोचना किये बिना ही, उसके द्वारा स्वीकृत होने पर भी उपेक्षित तत्त्वों की ओर संकेत-मात्र कर देना ही खंडन के लिए पर्याप्त है। परन्तु मैं इस मत के द्वारा प्रकट किये हुए तथ्यों की कुछ असंगतियों की चर्चा करूँगा।

पहली बात तो यह है कि अपने तत्त्वों तथा उनके सम्बन्धों के विषय में वह जो कुछ कहता है वह अबुद्धिगम्य है। वास्तव में ये भेद जहाँ भी होते हैं, उनकी प्रतीति होती है। और ये आवश्यक भी मालूम होते हैं। कम-से-कम मुझे तो ऐसा ढंग नहीं मालूम जिसके द्वारा इसको नगण्य ठहराया जा सके। परन्तु यदि यह बात है, तो यहाँ पर हमें एकदम एकता में अनेकता प्राप्त होती है, यहाँ किसी प्रकार हमको सम्भवतः कई तत्त्व और कई सम्बन्ध एकत्र मिलते हैं। और यदि भेदों को अलग कर दिया जाय तो इस

एकत्र का अर्थ ही क्या रहा ? और फिर यह सम्वन्ध किस प्रकार की वस्तुएँ हैं ? क्या आपको ऐसे तत्व मिल सकते हैं जो भीतर-भीतर भी उनसे मुक्त हों और क्या स्वयं सम्बन्धों में तत्त्व नहीं और यदि हैं तो क्या यह दूसरे प्रकार की प्रतीयमान विविधता नहीं है ? परन्तु यदि यह वात है, तो पहले तथा दूसरे प्रकार में क्या सम्बन्ध हैं (तु० अध्याय ३) ? अथवा यदि इस प्रश्न का अंत केवल मूढ़ता में होता है, तो इस मूढ़ता के लिए उत्तरदायी कौन है ? उदाहरण के लिए आप किसी वुद्धिगम्य तत्व को लीजिए, इस बात की चिन्ता मत कीजिए कि वह कौन सा तथ्य है, और फिर विविध प्रतीतिवाद को बतलाने दीजिए कि तत्त्वों और सम्वन्धों का क्या अभिप्राय है, उसे यह भी बतलाने दीजिए कि इन दोनों पक्षों के बीच परस्पर कोई सम्वन्ध है या नहीं, अथवा यदि वह नहीं है तो और क्या बात है ? परन्तु मैं अव दूसरे विषय पर आता हूँ।

एक स्पष्ट प्रश्न भूत तथा भविष्यत् की घटनाओं के सम्बन्ध में खड़ा होता है। यदि यह तथा वर्तमान से उनके सम्वन्ध सत् नहीं हैं और यदि किसी अर्थ में उनका अस्तित्व नहीं है, तो ऐसी कठिनाइयाँ उत्पन्न होती हैं जिनका उल्लेख मैं यहाँ नहीं करूँगा। परन्तु यदि भूत और भविष्यत् (या उनमें से कोई) किसी भी अर्थ में सत् है, तो प्रथम तो इस माला की एकता एक अनिर्वचनीय वस्तु होगी और, दूसरी ओर, जो सत् प्रस्तुत अथवा वर्तमान नहीं है (और भूत निःसन्देह अप्रस्तुत है), तो वह एक ऐसा सत् होगा जिससे विविध प्रतीतिवाद का विरोध पड़ता है। यह दूसरी अयुक्तता है।

आइए, अब एकात्मता या एकमात्रता के प्रश्न पर विचार करें। विविध प्रतीतिवाद इसको अस्वीकार करेगा, क्योंकि एकात्मता विविधता की वास्तविक इकाई है, परन्तु परिवर्तन को अस्वीकार नहीं किया जा सकता, क्योंकि जव घटना घटित होती है तो निःसंदेह उसका अस्तित्व आवश्यक है। अच्छा, यदि परिवर्तन का अस्तित्व है, तो इसके फलस्वरूप कुछ ऐसा भी होना चाहिए जो बदलता है। परन्तु यदि बदलता है, तो वह समस्त विविधता में एक ही रहता है। दूसरे शब्दों में वह एक वास्तविक इकाई है, एक स्थूल सामान्य है। उदाहरण के लिए, आप गति के तथ्य को लीजिए, निःसन्देह , कोई वस्तु अपना स्थान परिवर्तन करती है। इसलिए स्थानों की विविधता (उसका अर्थ कुछ भी हो—कम-से-कम एक विविधता) को इसे 'कोई वस्तु' का विधेय वनाना पड़ेगा। यदि यह वात है, तो हमारे हाथ में एक दम एक और अनेक अथवा अद्वैत और द्वैत आ जाते हैं, और यदि इस वात को न माना जाय तो इसका अभिप्राय यह है कि हमारा यह मत साधारण तथ्य का विवेचन करना अस्वीकार कर देता है।

संक्षेप में इस मत के द्वारा वहिष्कृत एकात्मता उसकी सत्ता के लिए आवश्यक

है। अब प्रश्न यह होता है कि वह एकात्मता कहाँ तक जा सकती है। क्या अपने भेदों के सहित इस प्रतीयमान विविधता की एक ही माला है? यदि वह एक नहीं है तो उसके साथ ऐसा व्यवहार क्यों करते हैं मानों वह एक हो? यदि वह एक है, तो हमें यहाँ एक ऐसी इकाई मिलती है जिसमें स्थान-स्थान पर विकृति मिलती है। फिर क्या ये तत्त्व कभी भी स्थायी तथा काल-कालान्तर में एकात्मवाद रखने वाले हैं। परन्तु चाहे वे एकात्मक हों या नहीं, इन तथ्यों की व्याख्या कैसे करनी है? मान लीजिए कि परिवर्तन के मध्य और विविधता के क्रीड़ा-क्षेत्र में अविकारी रहने वाले एकात्मक तत्त्व हैं। तो यहाँ हमें तत्वज्ञानीय वास्तविकताएँ मिलती हैं जो फिर उन्हीं पुराने प्रश्नों को उठाती हैं जिनकी चर्चा इस पुस्तक में होती रही है। परन्तु सम्भवतः नियमों के अतिरिक्त वस्तुतः कुछ भी स्थायी नहीं है। अतः परिवर्तन की समस्या को छोड़ दिया जाता है और हम अपने उन नियमों का सहारा ले लेते हैं जो निरन्तर परिवर्तनशील तत्त्वों को परम्पराओं में प्रकट होने वाले तथा बने रहने वाले हैं। यदि यह बात है तो प्रतीयमान विविधता को नियमों के कालगत चित्रों के रूप में ग्रहण किया जाता हुआ समझा जायगा।

सम्भवतः अब समय है जब कि उपर्युक्त सृष्टियों (नियमों) की प्रकृति के विषय में एक प्रश्न पूछा जाय। क्या वे स्थायी और सत् तत्त्व हैं, जो अपने परिवर्तनशील चित्रों में समय-समय पर दिखायी पड़ें? यदि यह बात है, तो विविध प्रतीतिवाद ने एक बार फिर उसी की आँख मूंदकर पूजा की जिसको एक बार तिरस्कृत कर दिया था। और निःसन्देह इन तत्त्वों के सम्बन्ध (परस्पर, एक-दूसरे के, और प्रत्येक का उस प्रतीयमान विविधता से जो एक प्रकार से उसका विशेषण प्रतीत होता है) हमें फिर उन्ही कठिनाइयों पर ले जाते हैं जो हमारे लिए बहुत दुर्गम प्रतीत हुई। परन्तु मेरा अनुमान है कि नियमों की सत्यता को अस्वीकार करना चाहिए, अथवा यों कहें कि उनको अस्वीकार किया जाना चाहिए, परन्तु पूरे रूप में नहीं, अपितु एक आँशिक रूप में। ये नियम काल्पनिक हैं, ये स्वयं तो केवल सम्भावनाएँ हैं, और ये तभी वास्तविक होते हैं जब ये वास्तविक परिस्थिति में पाये जायँ। यदि उसको छोड़ दें, तो केवल नियमों के रूप में, वे ऐसे व्यंजकों के बीच पाये जाने वाले सम्बन्ध मात्र रह जाते हैं जिनका कि कोई अस्तित्व नहीं। और यदि यह बात है, तो सम्बन्धों के रूप में, उनकी कोई वास्तविकता नहीं। संक्षेप में, जिस प्रकार उपस्थापना के बाहर तत्त्वों का कोई मूल्य नहीं उसी प्रकार उपस्थापना के बाहर नियम वस्तुतः व्यर्थ हैं और प्रस्तुत किये जाने की अवस्था में तत्त्वों और नियमों में से प्रत्येक ही असत् तथा नितांत सुकाट्य कल्पना के अतिरिक्त और क्या है? ऐसा प्रतीत होता है कि हम उनके विषय में केवल यही कह सकते हैं कि हम नहीं जानते कि वे क्या हैं और उनके विषय में हम जो भी निश्चयपूर्वक कह सकते

हैं, वह यही है कि हम उनको जिस रूप में जानते हैं उस रूप में, अर्थात् प्रतीयमान विविधता के रूप में, वे नहीं हैं।

और यहाँ हम समाप्त कर सकते हैं। इस मत का प्रारम्भ स्थापना मात्र से हुआ। हमें निःसन्देह उसके परे जाने के लिए विवश होना पड़ा और यह-सब अनजाने और आँख मूंदकर करना पड़ा है। थोड़ी-सी आलोचना न उसको पीछे हटा दिया, और उसको एक ऐसे विश्व में छोड़ दिया गया जो या तो किसी उपस्थापना में स्थित भेदों के रूप में है, अथवा केवल एक मूढ़ता के रूप में। और फिर स्वयं ये सब भेद पूर्णतया सुकाटच और लचर हैं। यदि आप उनको स्वीकार करते हैं, तो आपको एकता में अनेकता की तत्वज्ञानीय समस्या का विवेचन करना पड़ेगा, और आप उनको स्वीकार नहीं कर सकते, क्योंकि स्पष्ट है कि वे उपस्थापित या प्रस्तुत किये हुए नहीं, अपितु कम-से-कम किसी रूप में बनाये हुए हैं। और इसका जो परिणाम होना चाहिए वह यह है कि विविध प्रतीतिवाद का अवसान एक द्विविधा या असमंजस में होता है। उसे या तो क्षणिक उपस्थापना तक सीमित रहना चाहिए और प्रस्तुत या उपस्थापित की हुई वस्तु को ज्यों-का-त्यों छोड़ देना चाहिए..और यदि यह बात है, तो फिर विज्ञान का कोई अस्तित्व नहीं रह जाता..अथवा उसे 'अगमअगोचर' बन जाना चाहिए और ऐसी असंगतियों के सागर में कूद पड़ना चाहिए जैसी असंगतियाँ तत्वज्ञान के प्रयत्न में सम्भवतः नहीं पायी जातीं। सत्य की किसी विशेष शाखा के निर्धारण तक सीमित और प्रेरित, एक काम चलाऊ दृष्टिकोण के रूप में, विविध प्रतीतिवाद वस्तुतः उपयोगी और निःसन्देह निताँत आवश्यक है। और जो तत्वज्ञानी अपना कार्य करते हुए उस पर आक्रमण करता है, उसका कार्य सम्पादन निःसन्देह अच्छा होने की सम्भावना नहीं। परन्तु जब विविध प्रतीतिवाद अपनी बुद्धि गँवाकर तथा कपोल-कल्पना-मात्र होकर चरम तत्त्वों के किसी सिद्धान्त के रूप में सामने आता है, तो वह वस्तुतः आदर का पात्र नहीं। स्थापनाओं के विषय में अधिक-से-अधिक जो कहा जा सकता है वह यही है कि वे हास्यास्पद हैं।

बारहवाँ अध्याय

वस्तुओं का निजी स्वरूप

हमने अभी तक तो यही देखा कि हमें सत् के दर्शन नहीं हुए। जिन विभिन्न उपायों-द्वारा, हमने वस्तुओं को समझने का प्रयत्न किया, उनमें सब में हमें आभास-मात्र ही मिल सका। हमने जिसका भी सहारा लिया, कसौटी पर कसने से वही स्वयं-भिन्न और स्वयं-विरुद्ध प्रतीत हुआ। परन्तु, जिसमें आन्तरिक एकता न हो, वह स्पष्ट, वास्तविक स्तर की कोटि तक नहीं पहुँच सकता। और दूसरी ओर जब तक हम अस्पष्टता एवं अव्यवस्था को सहन करने के लिए तैयार न हों, तब तक सन्तुष्ट होकर बैठे रहना असम्भव है। परन्तु, यदि हम कुछ भी चिन्तन करना चाहते हैं और यदि हमें कोई भी मत-प्रतिपादन करना है, तो वर्तमान के परे, जाना अनिवार्य है। परन्तु हमें ऐसी कोई वस्तु न मिल सकी, जो बीते हुए क्षण की वर्तमान के साथ एकात्मकता सिद्ध कर सकती। प्रत्येक मत ने आभास ही तो प्रस्तुत करवाया और सत् भाग निकला। वह निरन्तर ऐसा भागता रहा और हमें इतना हतप्रभ करता रहा कि अंत में, हमें वह अप्राप्य समझ कर छोड़ देना पड़ा। ऐसा लगा कि वह हमारे विश्व को छोड़ कर कहीं अन्यत्र जा बसा है।

यहाँ हमें विश्व को समझने के लिए एक सुपरिचित मार्ग मिला ... एक मत जिसका प्रतिपादन विभिन्न रूपों में हुआ है। इस मत के अनुसार (चाहे वह स्वयं को समझे अथवा नहीं), विश्व दो भागों में विभाजित हो जाता है, जिनको हम दो गोलार्द्ध कह सकते हैं। इनमें से एक तो अनुभूति और ज्ञान का जगत् है, जो सत् से सर्वथा रहित है, और दूसरा, सत् का प्रदेश है, जहाँ न ज्ञान है और न अनुभूति। अथवा, हम एक ओर तो प्रतीयमान नाम-रूप (अर्थात् हमें जिस रूप में प्रतीत होते हैं, उस रूप में सारे जगत की सारी वस्तुएं और स्वयं हम) को ले सकते हैं, और दूसरी ओर, वस्तुएँ अपने उस रूप में जिसमें वे स्वयं हैं और जिस रूप में प्रतीत नहीं होती, अथवा, यदि हम चाहें, तो हम इस पक्ष को अप्रमेय कह सकते हैं।

और इस प्रकार के विभाजित विश्व के प्रति हमारी दृष्टि भिन्न-भिन्न हो सकती है। हम इस बात के लिए कृतज्ञ हो सकते हैं कि जिसका हमारी बातों से या हमसे सम्बन्ध

नहीं था, उससे छुटकारा हो गया, और हमें प्रसन्नता हो सकती है कि जो व्यर्थ की वस्तु थी उसको निकाल फेंका। अथवा हमें, खेद है कि सत् इतना महान् है कि उसको जाना नहीं जा सकता और इस प्रकार, अपने अज्ञान के वशीभूत होकर उसके अगम—अगोचर सौन्दर्य को पूजने लगें। पूर्ण पार्थक्य पर हम अपने को बधाई भी दे सकते हैं और हर्षित हो सकते हैं कि अन्ततोगत्वा धर्म के मार्ग में बाधा डालने वाली सभी हिचकिचाहटों को हमारे अपार अज्ञान ने नष्ट कर डाला। जब हम कुछ जानते ही नहीं, तो सम्भवतः हमें उपासना के विषय में कोई आपत्ति नहीं हो सकती। यह मत लोकप्रिय है, और किसी हद तक इसका निर्वाह भी हो सकता है। यह अनुभव करना स्वाभाविक है कि सर्वश्रेष्ठ और सर्वोच्च तत्त्व अज्ञेय अर्थात् ज्ञान के लिए अगम है। और संभवतः अधिकाँश लोगों के लिए, इस मत का एक यही अर्थ है। परन्तु, जब कभी उसका कोई निश्चित अर्थ होता है, तो निःसन्देह उसका यह अभिप्राय कदापि नहीं होता क्योंकि वह यह नहीं बतलाता कि सत् के विषय में हमारा जो ज्ञान है वह अधूरा है, अपितु इसका अभिप्राय यह है कि उसका अस्तित्व ही नहीं और हमें उसका कोई ज्ञान नहीं, अधूरा भी नहीं। एक ओर हमारा ज्ञान दूसरी ओर वस्तुएँ—ये दोनों निश्चित रूप से, एक-दूसरे से पृथक् तथा नितान्त भिन्न हैं। यही वह मत है, परन्तु आलोचना के सामने, इसकी समस्त सामर्थ्य विलीन न हो जाती है।

उसकी अयुक्तता कई प्रकार से दिखलायी जा सकती है। अज्ञेय की अज्ञेयता वास्तविक है या नहीं। यदि वह सचमुच अज्ञेय होता, तो हम उसके अस्तित्व के विषय भी कैसे जान पाते। हम तो कुछ ऐसा कहते कि मैं नहीं बतला सकता कि मेरे पड़ोसी के गुलाब फूले हैं या नहीं, क्योंकि मेरी सारी शक्तियाँ अपने बाग़ पर ही केन्द्रित हैं। यह बिल्कुल असंगत बात प्रतीत होती है। और हम आक्रमण की वही पद्धति अपना सकते हैं जिसका उल्लेख हमने पिछले अध्याय में किया है। यदि सचमुच यह मत सच्चा है, तो इसका अस्तित्व असंभव है। सत्य की सामान्य अवस्था के साथ इसकी सच्चाई के विषय में हमारा जो ज्ञान है उसका कोई समन्वय नहीं। परन्तु मैं, आलोचना के एक दूसरे ढंग को अपनाना चाहता हूँ जो सम्भवतः अधिक स्पष्ट होगा। सबसे पहले मैं एक बात उस द्वैत के विषय में कहना चाहता हूँ जो कि स्वयं वस्तुओं में निहित है। यदि यह अभिप्रेत है, तो उनके सीमित जगत् में, हमें समस्याओं की एक लम्बी माला मिल जाती है। उनकी विविधता और उनके सम्बन्ध हमें फिर उन्हीं कठिनाइयों पर वापस ले आते हैं जिनसे बचने का हम प्रयत्न कर रहे थे। यह स्पष्ट मालूम पड़ता है कि, यदि हम सुसंगत रहना चाहते हैं, तो अनेकता का त्याग करना पड़ेगा। इसीलिए भविष्य में हम केवल 'स्वयं वस्तु' तक ही अपने को सीमित रखेंगे।

एक ओर यह सत् है और दूसरी ओर आभास है, और हमको स्वभावतः इन दोनों के पारस्परिक सम्बन्ध के विषय में जिज्ञासा होती है। वे एक-दूसरे से सम्बन्धित हैं या नहीं? यदि वे सम्बन्धित हैं और यदि किसी प्रकार आभासों के सत् का विशेषण बनाया जा सके, तो वस्तु आभास-विशिष्ट हो जाती है। वह विशिष्ट तो है परन्तु किस सिद्धान्त पर? यही हम नहीं जानते। इसका अभिप्राय है यह कि जो समस्याएँ हमें पहले तंग करती थीं, वही ज्यों-की-त्यों हमारे सामने हैं, और इसके अतिरिक्त यह सारी उलझन अब वस्तु के विधेय के रूप में है और स्वतंत्र रूप में नहीं। परन्तु इस जटिल आरोप से ही यह सिद्धान्त बचना चाहता था। इसलिए हमें वस्तु से आभासों का कोई सम्बन्ध नहीं मानना चाहिए। परन्तु यदि यह बात हो, तो दूसरी कठिनाइयाँ दुख देने लगती हैं। या तो हमारी वस्तु में गुण है या नहीं है। यदि उसमें गुण है, तो उसके भीतर वही पहेलियाँ खड़ी हो जाती हैं जिनको हम पहले छोड़ चुके हैं—अर्थात् प्रतीयमान नाम-रूप की बलि चढ़ जाती है और हमें उनके विनाश पर सन्तोष करना पड़ता है। इसलिए हमको अपनी भूल सुधार लेना चाहिए और यह मानना चाहिए कि वस्तु अविशिष्ट है। परन्तु यदि यह बात हो, तो भी विनाश कम निश्चित नहीं है, क्योंकि जिस वस्तु में गुण नहीं हो वह स्पष्टतः असत् है। उसको यदि आप उसके स्वरूप-मात्र में ग्रहण करें, तो वह सत्ता-मात्र है, और यदि आप उसके अर्थ का भी विचार करें, तो वह शून्य-मात्र है। निश्चित रूप से इस प्रकार के भेद-प्रभेद हमारे किसी काम के नहीं।

और यदि हम सारी स्थिति को प्रतीयमान जगत् की ओर देखें, तो भी वह अधिक उत्साहवर्धक नहीं है। हमें आभासों को सत् के सम्बन्ध में ग्रहण करना चाहिए या नहीं? पहली अवस्था में उनकी जटिलता तनिक भी कम नहीं होती। वे बिलकुल उसी पुराने जंगल को सामने ले आते हैं जिसमें कोई राह नहीं मिलती और जो स्वयं वस्तु पर कोई आरोप कर देने से दूर नहीं होता। परन्तु यदि हम सत् के साथ प्रतीयमान जगत् का कोई सम्बन्ध न मानें, तो भी हमारी स्थिति में कोई सुधार नहीं होता। अब या तो एक-दूसरे के पास उलझन या अव्यवस्था के दो प्रदेश स्थित हैं अथवा वे एक-दूसरे के ऊपर हैं। और ऐसी अवस्था में स्वयं वस्तु का 'दूसरा संसार' केवल कठिनाइयों को द्विगुणित करने में ही सहायक होता है। अथवा दूसरी ओर, यदि हम वस्तु को अविशिष्ट मानें, तो इसमें हमें कोई सहायता नहीं मिलती। हमारे स्थूल जगत् की प्रत्येक वस्तु ज्यों-की-त्यों रहती है, और इस अभागी सूक्ष्मता का पृथक् अस्तित्व अपने सम्बन्धों की उपेक्षा करने में एक अशक्त और अयुक्त बहाना-मात्र सिद्ध होता है।

मैं केवल यहाँ दूसरी विशेषता पर कुछ चर्चा करूँगा। कुछ भी हो, आभास अनुभव की वस्तु होने के कारण वे निःसन्देह हमारे लिए उपयोगी होंगे। वे निःसन्देह मनुष्य

के लिए किसी काम के हो सकते हैं। निःसन्देह जिस क्षण हम अपने शब्दों का अर्थ समझ लेते हैं, उसी क्षण स्वयं वस्तु हमारे लिए किसी रुचि या उपयोग की नहीं रह जाती। और तब हम एक ऐसी मानसिक अवस्था को प्राप्त करते हैं, जिसका एक गम्भीर पक्ष न होता तो वह किसी हद तक हास्यास्पद होती। यह कहा जाता है कि, जब तक स्वयं वस्तु पर आघात न हो, तब तक प्रतीयमान नाम-रूप के विरोध बिलकुल व्यवस्थित होते हैं। इसका अभिप्राय यह है कि हम जिस वस्तु को जानते या अनुभव करते हैं, उसमें से प्रत्येक वस्तु का महत्त्व नहीं है और इसका नितान्त असंगत होना एक ऐसी वस्तु है जिसको कि किसी मूल्य पर सुरक्षित रखना है। परन्तु यह समझ से बाहर की बात है कि, चाहे हमारे ज्ञान से बाहर की कोई वस्तु स्वयं-विरुद्ध हो या नहीं, हमारा उससे क्या बनता-बिगड़ता है। जो स्पष्ट बात है वह यह है कि हम प्रत्येक ऐसी वस्तु को बलिदान करने के लिए तैयार रहते हैं जिसका हमारे ऊपर कोई दावा होता है। और इसका जो एकमात्र निष्कर्ष होना चाहिए वह है हमारी उलझन और एक ऐसे मत का हम पर आधिपत्य, जो केवल मिथ्याधारणा के जगत् में रहता है।

हम देख चुके हैं कि स्वयं वस्तु का सिद्धान्त ही बेसिर-पैर का है। निःसन्देह इस प्रकार का कोई सत् ऐसी वस्तु नहीं जिसको प्रमाणित न किया जा सके। इसके विपरीत उसकी एक ऐसी प्रकृति है, जो एक असत् और रिक्त सूक्ष्म कल्पना के रूप में बिलकुल स्पष्ट है। हमने देखा कि सत् आभास नहीं है, परन्तु दूसरी ओर सत् निःसन्देह ऐसी कोई वस्तु नहीं है जो आभासित होने में असमर्थ हो, क्योंकि वह केवल एक विरोधाभास है जो कि तभी तक ठहरता है जब तक कि हम उसके अर्थ को नहीं समझते। ज्ञान के बाहर पड़ने वाले सत् का प्रतिपादन करना एक मूर्खता है।

अतः समस्याओं को टालने का यह प्रयत्न और प्रतीयमान विविधता के लिए कोई कष्ट न करने का प्रस्ताव घातक सिद्ध हुआ। यदि हम अपने लिए एक अलग मूर्ति गढ़ कर यह स्वप्न देखने लगें कि अब तथ्य तथ्य नहीं अपितु कुछ और हो गये, तो यह एक निस्सार कल्पना होगी। वस्तुतः यह मिथ्या कल्पना एक ऐसा भ्रम है जिसको सदा के लिए हमें अपने मन से निकाल देने का प्रयत्न करना चाहिए। आगे चलकर हम आभास की प्रकृति के विषय की गवेषणा करेंगे, परन्तु अभी हम इसी बात पर दृढ़ रह सकते हैं कि आभासों का अस्तित्व होता है। यह पूर्णतया निश्चित है और इसको अस्वीकार करना मूर्खता है कि जिसका अस्तित्व है उसका सम्बन्ध सत् से होना चाहिए। यह भी बिलकुल निश्चित है और उसको अस्वीकार करना भी एक स्वयं विरोधी बात है। यह सम्भव है कि हमारे आभास एक तुच्छ प्रदर्शन-मात्र हों और उनकी प्रकृति कुछ ऐसी हो जो सत् के अनुकूल न हो। यह कहना एक बात है और यह कहना बिलकुल

दूसरी बात है कि इन तथ्यों का कोई वास्तविक अस्तित्व नहीं अथवा सत् के अतिरिक्त कोई अन्य वस्तु होगी जिससे उसका सम्बन्ध हो सकता है। मैं फिर यह दुहराने का साहस करता हूँ कि इस प्रकार की कल्पना एक घोर मूर्खता है। जिस वस्तु का आभास होता है, निःसन्देह उसका अस्तित्व होता है, और ऐसी कोई सम्भावना नहीं कि उसकी सत्ता को उससे अलग किया जा सके। यद्यपि यहाँ हम सत् के निश्चित स्वरूप के विषय में कोई प्रश्न नहीं उठाते, परन्तु यह निश्चित है कि वह आभासों से कम नहीं हो सकता, और हम यह निश्चित रूप से कह सकते हैं कि उसका जो स्वरूप है उसके निर्धारण में इनमें से छोटे-से-छोटे का भी हाथ होगा। इस पुस्तक के समस्त परिणाम को थोड़े-से शब्दों में कहा जा सकता है। अभी तक हमने जो भी देखा वह सब आभास सिद्ध हुआ। अपने स्वरूप में वह ऐसा है कि वह अपने प्रति ही असंगत सिद्ध होता है, और इस कारण से वह सत् से सम्बन्धित नहीं हो सकता। परन्तु उसके अस्तित्व को अस्वीकार करना अथवा उसे सत् से अलग करना सम्भव नहीं। क्योंकि इसका एक सुनिश्चित स्वरूप है और वह निःसन्देह एक तथ्य है जिसको कितना ही आभास क्यों न कहा जाय, वह सत् के अतिरिक्त अन्यत्र नहीं रह सकता। और सत् भी आभास से नितान्त पृथक् और अकेला, एक शून्य-मात्र ही रह जायगा। इसलिए यह निश्चित है कि किसी-न-किसी प्रकार दोनों अविभाज्यों को परस्पर जोड़ा जाय। हमारी चर्चा से यही एक निश्चित परिणाम निकला। अभी तक हमारी असफलता इसी बात में रही कि ऐसे किसी उपाय का पता नहीं लग सका जिसके द्वारा आभासों का सम्बन्ध सत् से होता। आगे हमें इसी कार्य में लगना है, परन्तु इसमें हमें आंशिक सन्तोष से अधिक की आशा नहीं।

खण्ड—दो

सत्

तेरहवाँ अध्याय

सत् का सामान्य स्वरूप

हमारी पहली पुस्तक का निष्कर्ष मुख्यतः निषेधात्मक ही रहा। सत् से सम्बन्धित कई विचारधाराओं की हमने परीक्षा की, परन्तु वे सब-की-सब स्वयं-भिन्नता के दोष से युक्त सिद्ध हुईं। इसके अन्तर्गत जो भी विधेय सत् के लिए रखे गये, वे कम-से-कम अपने अब तक के स्वरूप में, असंगत ही सिद्ध हुए। हाँ, अन्त में हमने जो विचार प्रस्तुत किया उसमें अवश्य ही कुछ तत्त्व दीखता है। जिसको आभास कह कर छोड़ दिया जाता है, वह अवस्तु नहीं हो सकता, क्योंकि उसका अस्तित्व आभास होने से ही सिद्ध है। उसको मूर्त रूप में टाल देना अथवा उससे केवल पल्ला छुड़ा लेना सम्भव नहीं, और कहीं-न-कहीं या किसी-न-किसी से उसका सम्बन्ध होना आवश्यक है अतः वह अवश्य ही सत् से सम्बन्धित होगा। किसी अज्ञात ढंग से, अवस्तु के रूप में उसका अस्तित्व मानना निःसन्देह कोई अर्थ नहीं रखता, क्योंकि सत् उसे अस्वीकार नहीं कर सकता और न स्वयं ही आभास से कम हो सकता है—यही एक निश्चित परिणाम है जिस पर हम अभी तक पहुँच पाये। परन्तु सत् का जो विशेष स्वरूप या स्वभाव है, उसके विषय में हम अभी तक कुछ नहीं जानते, और हमारी अवशिष्ट गवेषणा का लक्ष्य इसी के विषय में और आगे ज्ञान प्राप्त करना है। प्रस्तुत पुस्तक के, किसी सीमा तक, दो भाग किये जा सकते हैं। इनमें से पहले का सम्बन्ध तो मुख्यतः सत् की सामान्य विशेषताओं तथा उनके आक्षेपों के उत्तर से है। फिर इसको आधार मानकर, हमने दूसरे भाग में मुख्यतः कुछ विशेष लक्षणों पर विचार किया है, परन्तु, मैं स्वीकार करता हूँ कि मैंने वर्गीकरण या विभाजन के किसी भी सिद्धान्त का कड़ाई के साथ पालन नहीं किया है। जो भी अच्छा-से-अच्छा ढंग सूझा उसी से मैं आगे बढ़ता गया, इसके अतिरिक्त वस्तुतः मैंने किसी क्रम या नियम का अनुसरण नहीं किया है।

सत् के स्वरूप की जो खोज चल रही है, उसके प्रारम्भ में, निःसन्देह, हमें एक सामान्य सन्देह अथवा निषेध का सामना करना पड़ा। यह कहा जायगा कि सत् को जानना असंभव, अथवा, कम-से-कम पूर्णतया अव्यावहारिक है। मूल तत्वों का निश्चित ज्ञान सम्भव नहीं, और यदि यह संभव हो तो, हमको यह पता नहीं चल सकता कि

वह ज्ञान हमें कब हुआ। संक्षेप में जिसको स्वीकार नहीं किया गया वह है किसी मानदण्ड का अस्तित्व। आगे चलकर, २७वें अध्याय में, एक सुव्यवस्थित नास्तिकता के आक्षेपों पर विचार किया जायगा, अतः यहाँ पर केवल उतना ही लिया जायगा जितने की इस समय आवश्यकता है।

क्या कोई ऐकान्तिक मानदण्ड है? इस प्रश्न का उत्तर, मेरी समझ में, दूसरे प्रश्न के द्वारा दिया जा सकता है---अन्यथा हम आभास के विषय में कुछ भी कैसे कह सकते हैं? क्योंकि, पाठकों को याद होगा पिछली पुस्तक में, हम प्रायः आलोचना ही करते रहे। हमने प्रतीयमान नाम-रूप पर विचार किया और उसका तिरस्कार कर दिया, इसमें हम सदा यही मानकर चले हैं कि मानों स्वयं-विरोधी तत्व सत् नहीं हो सकते। परन्तु इसके लिए निःसन्देह एक ऐकान्तिक मानदण्ड की आवश्यकता थी। क्योंकि ज़रा सोचिए---जब सत् के विषय में कुछ कहा जा रहा हो, तो आप कैसे चुपचाप रह सकते हैं? जहाँ तक आप जानते हैं, कम-से-कम वहाँ तक आप प्रत्येक कल्पना को सत्, परम और पूर्ण सत् कैसे मानते चले जायेंगे। क्योंकि यदि आप सत्यासत्य विवेक की दृष्टि से सोचें, तो आप देखेंगे कि स्पष्ट स्वयं-विरुद्धता को स्वीकार नहीं किया जा सकता। इसलिए विचारने का अर्थ है विवेचन, विवेचन का आलोचना और आलोचना का अर्थ है सत्य के किसी मानदण्ड का प्रयोग करना। निःसन्देह इस पर सन्देह करने का अभिप्राय केवल अंधापन अथवा भ्रममूलक आत्मप्रवंचना है। परन्तु यदि यह बात है तो यह स्पष्ट है कि असंगत को आभास कहकर टालने में, हम वस्तुओं की अंतिम प्रकृति के एक निश्चित ज्ञान का प्रयोग कर रहे हैं। अंतिम सत् स्वयं-विरोधी नहीं होता, इसके ऐकान्तिक होने का प्रमाण यह है कि, चाहे हम इसे अस्वीकार करने का प्रयत्न करें अथवा इसके विषय में संदेह करने का यत्न करें, हमको प्रत्येक अवस्था में, इसकी सत्यता को मूक रूप से मानना पड़ता है।

लगे हाथों हम इन प्रवंचक प्रयत्नों में से एक को लेते हैं। हमसे यह कहा जा सकता है कि हमारा मानदण्ड अनुभव के द्वारा विकसित हुआ है और कम-से-कम इसलिए वह, संभव है कि, ऐकान्तिक न हो। परन्तु पहले तो यह बात स्पष्ट नहीं कि अनुभव के आधार पर विकसित होने वाली कोई वस्तु ओछी क्यों न हो। दूसरे, समझ में आने पर सारा संदेह स्वयं अपना ही विनाश कर लेता है। क्योंकि हमारे मानदण्ड का जो मूल वतलाया जाता है वह हमें ऐसे ज्ञान से प्राप्त होता है जो सर्वत्र, ऐकान्तिक कसौटी के रूप में होने वाले इसके प्रयोग पर आधारित है। इससे अधिक मूर्खतापूर्ण बात क्या होगी कि किसी सिद्धान्त को तब भी संदिग्ध सिद्ध करने का प्रयत्न किया जाय जब कि स्वयं प्रमाण भी प्रत्येक अवस्था में उसी के अनुपहित सत्य पर आश्रित है? यदि कोई

इस मानदण्ड का सहारा लेता है, एक विपरीत निष्कर्ष तक पहुँचने में उसका प्रयोग करता है और फिर यह कहता है कि इसलिए हमारा सम्पूर्ण ज्ञान आत्मघाती है, तो निःसन्देह इसमें कोई मूर्खता की बात नहीं होगी, क्योंकि यह अनिवार्यतः हमें ऐसे परिणाम पर पहुँचाता है जो ग्राह्य नहीं हो सकता। परन्तु यह वह परिणाम नहीं जिसको हमारे कतिपय विरोधी अपना लक्ष्य माने हुए हैं अथवा जिसका वे स्वागत करेंगे। सामान्यतः वह यह दिखाने का प्रयत्न नहीं करता कि कोई मनोवैज्ञानिक उपज तत्वज्ञानीय प्रामाणिकता के किसी प्रकार विरुद्ध है। और वह अपने उस मनोवैज्ञानिक ज्ञान को छोड़ने के लिए तैयार नहीं, जो यदि वह मानदण्ड ऐकान्तिक नहीं है तो निःसन्देह नष्ट हो जायगा।

जब हम विचार करते हैं तो पता चलता है कि इस सन्देह का आधार वही है जिस पर वह आपत्ति करता है और वह केवल आँख मूंद कर सत् सम्बन्धी हमारे ज्ञान को परम निश्चित मान रहा है।

इस प्रकार हमारे पास एक मानदण्ड है और यह मानदण्ड सर्वोच्च है। मैं इस बात को अस्वीकार नहीं करता कि मानदण्ड कई हो सकते हैं, जो वस्तुओं के स्वभाव के विषय में पृथक्-पृथक् सूचना दें। परन्तु यह कुछ भी हो, हमारे पास फिर भी सत्य की एक सर्वोच्च कसौटी है। और यदि विभिन्न मानदण्ड का अस्तित्व भी हो तो वे निश्चित रूप से गौण होंगे। यह तुरन्त स्पष्ट हो जाता है क्योंकि हम इन विभिन्न मानदण्डों को एक साथ एकत्र करने तथा उनसे सामंजस्य ढूंढ़ने को अस्वीकार नहीं कर सकते अथवा यदि प्रत्येक की अपने तथा अन्य सब के साथ अयुक्तता के विरुद्ध में कोई सन्देह प्रकट किया जाय, तो कम-से-कम हमें निर्णय करने के लिए विवश होना पड़ता है और यदि वे परीक्षा अथवा तुलना के पश्चात स्वयं-विरुद्ध होने के दोषी पाये जायँ तो हमें उनको आभास मान लेना चाहिए। परन्तु वे सब-के-सब यदि एक ही न्याय व पंचायत के अन्तर्गत न आते हों तो हमारे लिए यह करना सम्भव नहीं और इसलिए हमें उसको सर्वोच्च और ऐकान्तिक मानने के लिए विवश होना पड़ता है। और यदि वे परीक्षा अथवा तुलना के पश्चात् स्वयं-विरुद्ध होने के दोषी हो जायँ, तो हमें उनको आभास मान लेना चाहिए। परन्तु यदि वे सब-के-सब एक ही न्याय-पंचायत के अन्तर्गत न आते हों तो हमारे लिए यह करना सम्भव नहीं। और इसलिए हम उसको सर्वोच्च और ऐकान्तिक मानने के लिए विवश होते हैं, क्योंकि हमें ऐसा कुछ भी नहीं मिलता जो स्वसंगतता कसौटी के आश्रित न हों।

परन्तु यह कहा जा सकता है कि इससे हमें कोई वास्तविक सूचना नहीं मिलती। यदि हम विचार करते हैं, तो निश्चित रूप से हम असंगत नहीं हो सकते। यह सब मानते

हैं कि यह कसौटी अनुपहित और ऐकान्तिक है। परन्तु यह कहा जायगा, कि किसी विपय के ज्ञान के लिए, हमें केवल निपेध के अतिरिक्त कुछ और भी चाहिए हम इस वात से सहमत हैं कि अंतिम सत् में स्वयं-विरुद्धता नहीं हो सकती, परन्तु कुछ लोग कहेंगे कि निपेध अथवा अभाव निश्चित ज्ञान नहीं कहा जा सकता। इसलिए असंगतियों को अस्वीकार करने में किसी निश्चित गुण की स्थापना नहीं हो जाती।

परन्तु इस प्रकार की आपत्ति ठहर नहीं सकती। वह इतना तो कह सकती है कि एक अस्वीकृति-मात्र संभव है। और यद्यपि हमारे पास कोई निश्चित आधार नहीं, और यद्यपि इस अस्वीकृति से कोई विशेष प्रयोजन नहीं निकलता। परन्तु फिर भी हम किसी विधेय को अस्वीकार कर सकते हैं, इस मूल का खंडन 'प्रिंसिपल आफ लाजिक' (प्रथम पुस्तक अध्याय तीन) नामक मेरी पुस्तक में किया गया है। और उसका विवेचन मैं यहाँ नहीं करना चाहता। मैं अब यह दिखलाना चाहता हूँ कि एक दूसरे अर्थ में यह आक्षेप कितना सबल प्रतीत होता है। यह कहा जा सकता है कि मानदण्ड स्वयं तो निःसन्देह निश्चित है, परन्तु, हमारे ज्ञान के लिए और परिणामतः वह केवल निषेधात्मक है। और इसलिए उससे सत् के विषय में हमें कोई सूचना नहीं मिलती, क्योंकि ज्ञान होते हुए भी उसको व्यक्त नहीं किया जा सकता। मानदण्ड एक ऐसा आधार है जिस पर निषेध आश्रित हो सकता है। परन्तु इस आधार को व्यक्त करना असम्भव होने के कारण हम केवल उसका सहारा ले सकते हैं। परन्तु उसको देख नहीं सकते और इसलिए परिणामतः वह हमें कुछ भी नहीं बताता। इस रूप में कहे जाने पर यह आक्षेप सम्भवतः संगत जान पड़े और एक अर्थ में मैं उसको सच मानने को तैयार भी हूँ। यदि सत् की प्रकृति से हमारा अभिप्राय उसके पूर्ण स्वभाव से है तो मैं यह नहीं कहता कि वह अपने पूर्ण रूप में ज्ञेय है। परन्तु यहाँ विवाद का विषय यह कदापि नहीं, क्योंकि यह आक्षेप यही अस्वीकार करता है कि हमारे पास ऐसा कोई मानदण्ड है जो कि कोई निश्चित ज्ञान, कोई पूरी या अधूरी सूचना हमें वास्तविक सत् के विषय में देता है। और यह अस्वीकृति निःसंदेह एक भूल है।

यह आक्षेप इस बात को स्वीकार करता है कि सत् जो करता है वह हमें मालूम है, परन्तु वह यह नहीं मानता कि हम सत् के अस्तित्व के विषय में कुछ भी जानते हैं। यह निश्चित है कि उस मानदण्ड का अस्तित्व भी है और एक निश्चित स्वरूप भी, और यह भी सर्वमान्य है कि वह स्वरूप असंगति को स्वीकार नहीं करता। यह स्वीकार किया जाता है कि हम इस बात को जानते है, परन्तु विवाद का विषय यह है कि इस प्रकार के ज्ञान से कोई निश्चित सूचना मिलती है या नहीं ? और मेरी समझ में इस प्रश्न का उत्तर देना कठिन नहीं, क्योंकि जब मैं एक वस्तु सक्रिय देखता हूँ, तो, मेरी

समझ में नहीं आता कि मैं किस प्रकार वहाँ खड़े होते हुए इस बात का आग्रह करूं कि मैं उसके स्वरूप के विषय में कुछ भी नहीं जानता। मैं यह भी जानने में असमर्थ हूँ कि कोई व्यापार पूर्णतया कैसे व्यर्थ हो सकता है ? और जिस पर मैं उसका आक्षेप करता हूँ उसकी विशेषता वह निश्चित रूप से कैसे नहीं प्रकट करता ? मैं यह स्वीकार करता हूँ कि केवल इतना जानना सम्भवतः व्यर्थ हो, जिस सूचना को प्राप्त करना हम अत्यधिक चाहते हैं।

हमारा मानदण्ड असंगति को अस्वीकार करता है और, इसलिए, संगति-समर्थन करता है। अगर हमको यह विश्वास हो कि जो असंगतता है वह असत् है तो यह तर्क-संगत बात है कि हमें इस बात का भी विश्वास हो कि जो सत् है वह सुसंगत है। सारा प्रश्न यह है कि सुसंगतता को क्या अर्थ दिया जाय ? हम देख चुके हैं कि केवल विरोध का परिहार-मात्र सुसंगति नहीं है, क्योंकि यह तो केवल हमारी सूक्ष्म कल्पना-मात्र है, अन्यथा कुछ भी नहीं। अभी तक हमारा परिणाम यह रहा है—सत् का एक निश्चित स्वरूप है परन्तु इस स्वरूप को इस समय इसी रूप में निश्चित कर सकते हैं कि वह ऐसा है जिसमें विरोध को स्थान नहीं।

परन्तु हम कुछ और प्रगति कर सकते हैं। पिछले अध्याय में हम देख चुके हैं कि समस्त आभास का सम्बन्ध सत् से होना चाहिए, क्योंकि जिसका आभास होता है और जिसका अस्तित्व है वह सत् की सीमा के बाहर नहीं रह सकता। अब हम इस परिणाम को उस निष्कर्ष से मिला सकते हैं जिस पर हम अभी पहुँचे हैं। हम यह कह सकते हैं कि जिस वस्तु की प्रतीति होती है वह इस रूप में सत् है कि वह साथ ही स्वयं संगति भी है। सत् के स्वरूप में प्रतीयमान नाम-रूप का सर्वांश एक समन्वित रूप में आ जाता है। इसी सत्य को मैं दूसरे शब्दों में कहूँगा। सत् एक अर्थ में है कि उसका एक निर्विरोध निश्चित स्वभाव है, एक ऐसा स्वभाव, जिसके अन्तर्गत सत् होने वाली प्रत्येक वस्तु आ जाती है। उसकी विविधता वहीं तक विविध है, जहाँ तक कि उसमें संघर्ष या विरोध का अभाव है, और जो कहीं भी इससे विपरीत है वह सत् नहीं हो सकता। और दूसरी ओर से जिसकी प्रतीति होती है वह प्रत्येक वस्तु सत् है। प्रतीति अथवा आभास का सम्बन्ध सत् से है। और इसलिए उसमें समन्वय होना चाहिए। और वह प्रतीयमान से भिन्न होना चाहिए। इसलिए,प्रतीयमान नाम-रूप की विविधता किसी-न-किसी प्रकार से एक और स्वयं संगत होनी चाहिए, क्योंकि वह सत् के अति-रिक्त अन्यत्र नहीं रह सकती और सत् में विरोध सम्भव नहीं। अन्यथा उसी बात को हम इस प्रकार रख सकते हैं कि—सत् वैयक्तिक है, वह इस अर्थ में एक है कि उसके निश्चित स्वरूप के अन्तर्गत, सभी भेद एक व्यापक समन्वय में स्थित हो जाते हैं। और

यह ज्ञान चाहे तुच्छ हो परन्तु केवल निषेध अथवा अज्ञान-मात्र से कहीं अच्छा है जहाँ तक इसकी पहुँच है, इसमें हमें परम सत् के विषय में निश्चित सूचना प्राप्त होती है।

आइए, हम इस परिणाम को कुछ आगे ले चलें। हम जानते हैं कि सत् एक है, परन्तु उसकी अभी तक यह एकता अस्पष्ट है। क्या वह एक ऐसी प्रणाली है जिसमें विविधता एक विशेषण के रूप में विद्यमान है, अथवा इससे विपरीत क्या उसकी सुसंगतता स्वतंत्र सतों की एक विशेषता-मात्र है ? संक्षेप में हमारा प्रश्न यह है कि सतों की अनेकता सम्भव है या नहीं और इन दोनों का सह-अस्तित्व क्या इस प्रकार सम्भव है कि कोई असंगति न आये ? इस प्रकार की अनेकरूपता का अर्थ यह होगा कि ऐसी अनेक सत्ताओं का अस्तित्व हो जो एक-दूसरे पर अवलम्बित न हों। दूसरी ओर उनमें प्रतीयमान नाम-रूप की विविधता होगी, क्योंकि जैसा कि हम देख चुके हैं, उसका होना परम आवश्यक है। और दूसरी ओर, वे बाहरी गड़बड़ से और भीतरी असंगति से मुक्त रहेंगे। प्रथम पुस्तक की गवेषणाओं के पश्चात ऐसी सतों की सम्भावना पर किसी विचार-विमर्श की आवश्यकता नहीं रह जाती, क्योंकि इस दशा में प्रत्येक की आंतरिक अवस्थाएँ विचित्र कठिनाइयों को जन्म देती हैं। इसके अतिरिक्त सतों की अनेकता का सामंजस्य उनकी स्वतंत्र सत्ताओं के साथ नहीं बिठाया जा सकता। मैं संक्षेप में उन तर्कों को दुहराऊँगा जो हमें इस परिणाम पर पहुँचने के लिए विवश करते हैं।

यदि 'अनेक' को बिना किसी आन्तरिक गुण के माना जाय तो उनमें से प्रत्येक एकदम शून्य हो जायगा, इसलिए हमें प्रत्येक के भीतर कुछ मानना पड़ेगा और, यदि उनको अनेक रहना है, तो वे एक ऐसी विविधता के रूप में होंगे जिनका सह-अस्तित्व एकत्र सम्भव हो। इनकी एकत्रता को अनावश्यक मानने का कोई प्रयत्न निरर्थक होता हुआ प्रतीत होता है। हमें किसी बहुवचनान्त विविधता का ज्ञान नहीं और यदि हम किसी प्रकार से उसको इकाई में परिणत नहीं कर सकते, तो उसका कोई अर्थ नहीं हो सकता। और यदि हम इस इकाई से पृथक्करण करते हैं, तो साथ ही अनेकता से भी हमारा पृथक्करण हो जाता है। और फिर हमारे हाथ में सत्ता-मात्र रह जाती है।

क्या स्वतन्त्र सतों की कोई ऐसी अनेकता सम्भव है जिसका सह-अस्तित्व-मात्र हो ? नहीं, क्योंकि ऐकान्तिक एक ऐसी कल्पना है जिसका सारा केवल एकमुखी पृथक्करण में निहित है। उसका निर्माण एक ऐसे प्रयत्न-सिद्ध विभाजन-द्वारा होता है जो अनेकतामय अस्तित्व के पक्ष तथा सम्बद्धता के पक्ष में होता है, और ये पक्ष, चाहे तथ्य रूप में या कल्पना रूप में, वस्तुतः अविभाज्य हैं।

यदि हम सतों की अनेकता को उसी प्रकार का मानें जिस प्रकार की अनेकता हमें अनुभूति में अथवा सम्बन्धाभाव की अवस्था में प्राप्त होती है, तो एक अविभाजित अद्वैत के स्वरूप के अतिरिक्त 'अन्य कुछ' वह अनेकता कदापि नहीं हो सकती। और यदि हम इस इकाई से बलात् पृथक्करण करते हैं, तो अनुभूति के साथ-साथ हम अनुभूति की विविधता को भी नष्ट कर देते हैं। तब हमारे हाथ में अनेकता नहीं अपितु केवल सत्ता रह जाती है, जिसको आप चाहें तो शून्य भी कह सकते हैं। इसलिए अनुभूति के अन्तर्गत जो सह-अस्तित्व है वह स्वपर्याप्ति का उदाहरण या प्रमाण नहीं, अपितु पराधीनता का है, इसके अतिरिक्त इससे एक कठिनाई और बढ़ जाती है। यदि हमारे सतों की प्रकृति में वह विविधता है जो सम्बन्धों की अवस्था से नीचे प्राप्त होती है, तो हम सम्बन्धात्मक आभास की संहति को कैसे दूर कर सकते हैं, क्योंकि उसका अस्तित्व है, और अस्तित्व रखने में वह किसी-न-किसी प्रकार विश्व में विशेषता पैदा करेगी। और वह विश्व भी ऐसा जिसका सत् केवल एक ऐसे स्तर पर प्राप्त होता है जो स्वयं उससे भिन्न है। इस प्रकार की स्थिति को युक्त ठहराना सम्भव प्रतीत नहीं होता।

इस तरह, जिस प्रकार की एकता को हम अनुभूति के भीतर पाते हैं, वह हमारे सतों की स्वतन्त्र सत्ता को नष्ट करने वाली है और यदि हम उनके सह-अस्तित्व को अन्यत्र खोजने का प्रयत्न करें तो भी उनकी स्थिति में कोई सुधार नहीं होता क्योंकि एकत्रता का कोई अन्य प्रमाण-योग्य प्रकार सम्बन्धों की अपेक्षा करता है। और यह सम्बन्ध स्व-पर्याप्ति के लिए घातक है। हम देख चुके हैं कि सम्बन्धों का उदय और विकास अनुभूत समुच्चय से होता है। उनकी अभिव्यक्ति अपर्याप्त होती है, परन्तु फिर भी उनकी पृष्ठभूमि में वह एकता निहित रहती है जिससे पृथक् विविधता शून्य-मात्र रह जाती है। सम्बन्धों को एक वास्तविक अद्वैत के भीतर तथा उसी के आधार पर आश्रित माने बिना उनका कोई अर्थ नहीं, और सम्बन्धित व्यंजकों को यदि ऐकान्तिकता प्रदान कर दी जाती है, तो वे एकदम नष्ट हो जाते हैं। अनेकता और सम्बद्धता दोनों ही एक अद्वैत इकाई के पक्ष और लक्षण हैं।

जो सम्बन्ध सतों के बीच विद्यमान है, उनको यदि अनिवार्य माना जाय, तो सतों के बीच आन्तरिक सम्बद्धता भी माननी पड़ती है। और सम्बन्धों को केवल बाहरी मानने का प्रयत्न असफल सिद्ध होता है क्योंकि गलती से या तर्क के लिए, हम ऐसी प्रक्रियाओं को और व्यवस्थाओं को मान बैठते हैं, जो स्वीकृत होने पर किसी अवस्था में अन्तिम नहीं हैं। इन व्यवस्थाओं के प्रसंग में ही वे व्यंजक पूर्ववर्ती अथवा स्वतन्त्र कहे जा सकते हैं अन्यथा वे किसी अद्वैत से सम्बन्धित और उस पर तत्वतः आश्रित

होंगे। और इस इकाई से अद्वैत पृथक् होने पर ये व्यंजक उसी आघात-द्वारा नष्ट हो जाते हैं जो उन्हें ऐकान्तिक बनाना चाहता है।

इसलिए ये सत् स्वतः सिद्ध नहीं हो सकते, और यदि स्वतः सिद्ध भी होंगे तो भी विश्व-रूप में ग्रहण किये जाने पर उनका अवसान असंगति से होगा, क्योंकि अस्तित्व होने के कारण सम्बन्ध अवश्य ही विश्व को विशिष्ट करेंगे। साथ ही बाहर से अद्वैत तथा स्वसीमित सत् को भी, ये सम्बन्ध अवश्य ही विशिष्ट करेंगे। और यह स्वयं विरुद्ध तथा (१) अर्थहीन जँचता है। और यदि यह कहा जाय कि स्वतन्त्र सत्ताओं को अनेकता सम्भवतः बुद्धिगम्य नहीं होगी लेकिन फिर भी कुछ बुद्धिगम्य तत्वों का प्रतिपादन करना ही चाहिए, तो इसका उत्तर स्पष्ट है। कोई अबुद्धिगम्य तथ्य स्वीकार किया जा सकता है, जब प्रथम तो वह एक तथ्य हो और दूसरे उसमें एक ऐसा अर्थ हो जो न तो भीतर से स्वयं-विरुद्ध हो और न हमारी विश्व की कल्पना को स्वयं-विरुद्ध बनाये। परन्तु सतों की तथा कथित स्वतंत्रता कोई तथ्य नहीं, अपितु एक काल्पनिक सृष्टि है, और जहाँ तक उसमें कोई अर्थ है, वह अर्थ स्वयं-विरुद्ध तथा दुरवस्था उत्पन्न करने वाला है। इस प्रकार के सत् को सरलता से असत् माना जा सकता है।

अतः जब तक हम यह न मानें कि अनेकता अपने अन्तर्गत सम्बन्धों पर आश्रित है, तब तक हम किसी अनेकता को प्रतिपादित नहीं कर सकते। अथवा, यदि हम सम्बन्धों से बचना चाहते हुए उस विविधता का आश्रय लें, जो कि अनुभूति में दी हुई है, तो भी परिणाम वही रहता है। ऐसी अवस्था में यह अनेकता किसी अद्वैत सत्ता के अन्तर्गत एक पक्ष-मात्र में परिणत हो जाती है। और सतों का लोप हो जाता है।

(१) इस संक्षिप्त कथन में हम कुछ और भयंकर आक्षेपों को जोड़ दें। सतों की क्रिया-प्रतिक्रिया तथा विश्व की सामान्य व्यवस्था का प्रश्न है, जिसको हम चाहें स्वीकार करें या अस्वीकार, हम एक भूल-भूलैया में पड़ जाते हैं, ज्ञान का तथ्य हमें पुनः असमंजस में डाल देता है। यदि हम यह नहीं जानते कि अनेक का अस्तित्व है तो हम उनका समर्थन नहीं कर सकते। परन्तु अनेक का ज्ञान न तो ज्ञाता के आत्म-अस्तित्व के साथ और न ज्ञेय के आत्म-अस्तित्व के साथ ही सुसंगत प्रतीत होता है। अन्त में यदि सम्बन्धों को सतों के साथ साथ स्थित माना जाता है, तो सतों के परम सत् का परित्याग कर दिया जाता है। अब स्वयं सम्बन्ध ही सत् वस्तु का एक प्रकार हो गये। परन्तु चाहे हम मानें या न मानें, नवीन सतों और प्राचीन सतों के बीच का सम्बन्ध बड़ी-बड़ी जटिल समस्याओं को जन्म देता है।

———

चौदहवाँ अध्याय

सत् का सामान्य स्वरूप—(क्रमागत)

हमारा अभी तक का परिणाम यह है—प्रत्येक प्रतीयमान वस्तु किसी-न-किसी प्रकार से सत् है, और परम सत् कम-से-कम इतना ही समृद्ध होना चाहिए, जितना कि उसके सम्बन्धी। और फिर परम सत् अनेक नहीं है, स्वतन्त्र सतों की कोई सत्ता नहीं है। विश्व इस अर्थ में एक है कि उसके भेद एक ऐसी अद्वैत इकाई के भीतर समन्वय के साथ स्थित हैं, जिसके परे और कुछ नहीं। अतः अभी तक परम सत् एक व्यक्ति है और एक प्रणाली है, परन्तु यदि हम यहाँ ठहर जाते हैं तो वह केवल औपचारिक तथा सूक्ष्म रह जाता है। अतः प्रश्न यह है कि क्या हम इस प्रणाली की स्थूल प्रकृति के विषय में कुछ कह सकते हैं ?

मेरी समझ में यह निःसन्देह सम्भव है। यदि यह पूछा जाय कि इस रिक्त रूप-रेखा के भीतर क्या भरा है तो हम एक शब्द में यह उत्तर दे सकते हैं कि इसमें अनुभव है। और अनुभव का अर्थ कुछ वही है जैसा कि एक दिया हुआ और वर्तमान तथ्य। विचार करने पर हमें पता लगता है कि सत् होने के लिए, अथवा केवल संक्षेप में सचेतन अनुभव सत् है। और जो सचेतन नहीं वह सच नहीं। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि जो सामान्यतः आध्यात्मिक अस्तित्व कहलाता है, उसके बाहर कोई सत्ता या तथ्य नहीं है। अनुभूति, विचार और संकल्प (कोई भी वर्ग जिसमें हम मानसिक तत्त्व-रूप को विभाजित करते हैं) में ही हमारे अस्तित्व की सारी सामग्री निहित है, और इसके अतिरिक्त कोई अन्य सामग्री वास्तविक अथवा संभावित नहीं है। अपने सामान्य रूप में यह परिणाम स्पष्ट रूप से प्रतीत होता है, और हमारा प्रयत्न कितना ही गम्भीर प्रतीत क्यों न हो उसकी यहाँ पर सविस्तार चर्चा करने से कोई लाभ नहीं, क्योंकि स्थूल कसौटी हमारे हाथ में तैयार है, और हमारा निर्णय उस ढंग पर अवलम्बित है जिसमें इसका प्रयोग किया जाय। मैं इस विषय को संक्षेप में इस प्रकार कहूँगा। अस्तित्व का एक खंड लीजिए, ऐसी कोई वस्तु ले लीजिए, जिसको कोई तथ्य कह सके, अथवा जिसकी कोई सत्ता मानी जा सके, और तब आप निर्णय दीजिए कि वह सचेतन, अनुभव में निहित है या नहीं? सम्पूर्ण प्रत्यक्ष और अनुभूति को अलग कर देने के पश्चात

किसी ऐसे अर्थ को ढूंढ़ने का प्रयत्न कीजिए जिसमें आप उसके विषय में अब कुछ भी कह सकें, अथवा उसके तत्व का कोई ऐसा अंश या उसकी सत्ता का कोई पक्ष बतलाइए जो इस स्रोत से प्रसूत या सम्बन्धित न हो। जब इस प्रयोग को अच्छी तरह से किया जाय तो मैं स्वयं अनुभूत तत्व के अतिरिक्त किसी अन्य की कल्पना नहीं कर सकता। किसी भी अनुभूत या प्रतीत अर्थ में, कोई वस्तु मेरे लिए नितान्त अर्थहीन नहीं होती। और जब तक मैं यह अनुभव नहीं करता कि मैं कुछ भी नहीं सोच रहा अथवा यह कि मैं अपनी इच्छा के विरुद्ध उसको अनुभूयमान वस्तु के रूप में सोच रहा हूँ तब तक मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचता हूँ कि मेरे लिए अनुभव वही है जो कि सत् है। मेरी समझ में जो तथा इससे पृथक है, वह केवल एक शब्द और असफलता मात्र है, अथवा वह एक स्वयं-विरोधी प्रयत्न है। यह एक दूषित सूक्ष्म कल्पना है जिसका अस्तित्व अर्थहीन मूर्खता है और इसलिए असम्भव है। निःस्संदेह इस परिणाम पर बहुत से आक्षेप किये जा सकते हैं और उसके फलस्वरूप बहुत बड़ी-बड़ी कठिनाइयाँ उपस्थित हो सकती हैं। मैं यहाँ पर इनकी चर्चा का पूर्वाभास लाने का प्रयत्न नहीं करूँगा, परन्तु आगे बढ़ने से पहले मैं एक भयंकर भूल का निराकरण अवश्य करूँगा, परन्तु आगे क्योंकि यह कहने में कि अनुभूति के अतिरिक्त सत् कुछ भी नहीं हैं, सम्भवतः मैं एक सामान्य भूल का समर्थन करने वाला मान लिया जाऊँ। पहले तो मुझे प्रत्यक्ष कर्ता अहं को विश्व से पृथक् करने वाला मान लिया जाय। और फिर उस अहं को एक वास्तविक वस्तुकी भाँति आधार मानकर, मुझे कोई यह कहनेवाला मानले कि वह अपनी अवस्थाओं के परे नहीं जा सकता। इस प्रकार का तर्क असम्भव परिणामों की ओर ले जा सकता है और एक दूषित सूक्ष्म कल्पना के आधार पर खड़ा किया जा सकता है। मेरी समझ में अहं को अद्वैत से पृथक् रूप में सत् मानना और फिर उस अद्वैत को अहं के विशेषण के अर्थ में अपने अनुभव में लाना आपत्तिजनक प्रतीत होता है। जब मैं यह कहता हूँ कि सत् सचेतन होना चाहिए तो मेरे निष्कर्ष से इस मौलिक भूल का निराकरण लगभग निहित है, क्योंकि सत् की खोज करते हुए यदि हम अपने अनुभव के पास जाते हैं तो उसमें हमें जिसका निश्चित रूप से अभाव मिलता है तो वह है एक अहं या एक इदं अथवा अन्य कोई भी वस्तु, जो पृथक् रूप से अपने आधार पर स्थित हो। वहाँ हम जो पाते हैं वह एक प्रकार का अद्वैत है जिसमें भेद तो किये जा सकते है, परन्तु जिसमें विभागों का अस्तित्व नहीं और यही एक विषय है जिस पर मैं आग्रह करता हूँ। और यही एक आधार है जिस पर मैं सत् को सचेतन अनुभूति मानने को खड़ा हुआ हूँ। मेरा अभिप्राय यह है कि सत् होने के लिए यह आवश्यक है कि चेतना से वह अभिन्न हो। यह कोई ऐसी वस्तु है, जो एक अद्वैत अनुभूति के भीतर एक लक्षण या पक्ष के रूप में आता

है, यह एक ऐसी वस्तु है जिसका इस चेतना के प्रमुख तत्व के अतिरिक्त कोई भी अर्थ नहीं और मैं जो अस्वीकार करता हूँ वह है अनुभूति का अनुभूत से, या इच्छित या का इच्छा से, या चिन्तित का चिन्तान से अथवा किसी का किसी अन्य से पार्थक्य। किसी भी वस्तु को स्वयं सत् के रूप में कदापि उपस्थित नहीं किया जा सकता और न इस रूप में उसके अस्तित्व को सुस्पष्ट हेत्वाभास के विना सिद्ध ही किया जा सकता है। और सत् को अनुभव वतलाने में मेरा आधार सर्वथा यह है—आप तथ्य को चेतना की इकाई से पृथक् नहीं पा सकते। और इन दोनों को व्यवहार अथवा कल्पना में एक-दूसरे से पृथक् नहीं किया जा सकता। परन्तु अनुभूति या प्रत्यक्ष से सर्वथा अविभाज्य होना अथवा अनुभूति इकाई का एक प्रमुख तत्व होना—निःसन्देह यह स्वयं भी एक अनुभव है। संक्षेप में, सत् और सत्ता का चेतना के साथ तादात्म्य-सम्बन्व है, वे न तो उसके विरुद्ध हो सकते हैं और न अन्ततोगत्वा उनका उससे भेद ही किया जा सकता है।

यह वात मैं अच्छी तरह से जानता हूँ कि मेरा यह कथन व्याख्यान और वचाव की अपेक्षा रखता है, इस आवश्यकता की पूर्ति, मुझे आशा है कि अगले अध्याय से हो जायगी। और इस समय मैं आगे वढ़ने का प्रयत्न ही अच्छा समझता हूँ। अभी तक हमारा निष्कर्ष यही रहेगा कि परम तत्व एक अद्वैत प्रणाली है और उसके अन्तर्गत तत्त्व सचेतन अनुभूति के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। अतः वह एक अद्वैत तथा सर्वगत अनुभूति होगी जिसमें प्रत्येक आँशिक विविधता का समावेश समन्वय-पूर्वक होगा क्योंकि वह आभास अथवा प्रतीयमान से कम नहीं हो सकता और इस-लिए कोई भी अनुभूति या विचार उसकी सीमा के वाहर नहीं रह सकता। हमारी सुपरिचित अनुभूति अथवा विचार की अपेक्षा कोई उच्चतर वस्तु भी हो तो भी वह प्रायः इसी प्रकृति की होगी। वह किसी ऐसे अन्य क्षेत्र में नहीं जा सकती, जो चेतना के सामान्य क्षेत्र से परे हो, क्योंकि यदि हम इस प्रकार की संभावना पर जोर दें तो हमारे शव्द निरर्थक समझे जायँगे। हम ऐसे सुझाव को स्वयं केवल विरुद्ध और असम्भव ही मानेंगे। मुझे विश्वास है कि इस पुस्तक के अन्त में पाठक लोग इस निष्कर्ष को और अधिक विश्वसनीय मानेंगे। क्योंकि, हम देखेंगे कि यही एक ऐसा मत है जिसमें सव तथ्यों का समन्वय हो सकता है। और इनके विरुद्ध होने वाले आक्षेपों को जव इस मत के साथ-साथ स्पष्ट किया जायगा तो वे निरा-धार सिद्ध होंगे। परन्तु अभी तक हमारे सामान्य निष्कर्ष में वहुत दोष हैं, और अव मैं सैद्धान्तिक रूप से उसकी असफलता का निर्देश तथा सुधार करने का प्रयत्न करूँगा।

अभी तक हम जिस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं, उसका केवल सैद्धान्तिक सुसंगति कहा

जा सकता है। परम तत्त्व में वैयक्तिक अनुभूति के अन्तर्गत सभी संभावित तत्त्व आ जाते हैं और उसमें कोई वैपरीत्य या विरोध नहीं रहता। और प्रथम तो ऐसा प्रतीत होता है कि मानो इस सैद्धान्तिक पूर्णता का अस्तित्व व्यावहारिक दोष और दु:ख के साथ भी सम्भव है। क्योंकि जहाँ तक अभी हम पहुँचे हैं वहाँ तक कम-से-कम देखने में कोई अनुभूति इस ढंग से भी समन्वयशील हो सकती है कि उसमें स्वयं-विरुद्धता न आये और साथ ही वह दु:ख का समन्वय भी कर सके। अब कोई भी सचमुच यह विश्वास नहीं कर सकता कि केवल दुख अच्छा और वाँछनीय है। अब प्रश्न यह है कि इस प्रकार हमारा निष्कर्ष छिन्न-भिन्न हो जाता है या रहता है ?

कुछ ऐसे लोग होंगे, जो तुरन्त ही समर्थन करेंगे। वे सम्भवत: कहेंगे कि यह आक्षेप असंगत है क्योंकि दु:ख कोई बुरी वस्तु नहीं है। भलाई और बुराई से सामान्य प्रश्न की चर्चा मैं एक अगले अध्याय में करूँगा। और यहाँ मैं केवल यही कहूँगा कि कम-से-कम मैं तो यह नहीं मान सकता कि दुख कोई बुराई नहीं है। मैं तो स्वीकार ही नहीं अपितु यह प्रतिपादन करूँगा कि यदि कोई निष्कर्ष हमारी सम्पूर्ण प्रकृति पर लागू नहीं होता तो वह पूर्णता की कोटि से गिर जाता है। और यदि मुझे किसी सत्य को घृणास्पद मानना पड़े तो मुझे उसमें शान्ति नहीं मिल सकती। यदि मैं उसको अस्वीकार करने में असमर्थ हूँ, तो चाहे ठीक हो या गलत, मैं तो इस बात पर जोर दूँगा कि अभी तक गवेषणा पूरी नहीं हुई है और वह परिणाम अधूरा है। और यदि तत्त्व-ज्ञान को अपनी स्थिति दृढ रखनी है तो मेरी समझ में उसको हमारी सत्ता के सभी प्रश्नों पर विचार करना पड़ेगा। मेरा यह अभिप्राय नही कि हमारी प्रत्येक इच्छा की पूर्ति एक विशेष प्रकार की सन्तुष्टि से हो, क्योंकि यह नितान्त अयुक्त और असम्भव होगा क्योंकि यदि हमारी प्रकृति की प्रमुख प्रकृतियों का परिपाक परमतत्त्व के रूप में नहीं हुआ तो हमें यह विश्वास नहीं हो सकता कि हमें पूर्णता तथा सत्य की प्राप्ति हुई है। आगे चलकर हमें इस बात पर विचार करना पड़ेगा कि कौन-सी इच्छाओं को आधार-भूत तथा मौलिक माना जाना चाहिए। परन्तु यहाँ हमने देखा कि हमारे निष्कर्ष में अभी तक एक भारी दोष है, और प्रश्न है कि इस दोष का प्रत्यक्ष परिहार सम्भव है या नहीं ? हमारा आधार एक ऐसा सैद्धान्तिक मानदण्ड रहा है जो प्रमाणित करता है कि सत् एक स्वयंसिद्ध प्रणाली है। क्या हमारे पास कोई ऐसा व्यावहारिक मानदण्ड है जो हमें विश्वास दिला सके कि यह प्रणाली हमारी पूर्ण शिवत्व की इच्छा की पूर्ति कर सकेगी ? इसका स्वीकारात्मक उत्तर दिया जा सकता है परन्तु मेरी समझ में वह सच नहीं होगा। इसमें कोई सन्देह नहीं कि हमारे पास एक व्यावहारिक मानदण्ड

है परन्तु उससे सत् के विषय में कोई निष्कर्ष प्राप्त होता नहीं दिखता अथवा कम-से-कम हमें वह परिज्ञान तो मिलता नहीं दीखता जिसकी हम खोज में हैं। मैं संक्षेप में यह बताने का प्रयत्न करूँगा कि उसमें किस प्रकार कमी है।

मैं मान लेता हूँ कि एक व्यावहारिक लक्ष्य और मानदण्ड है और उसके स्वरूप के विषय में अधिक चर्चा मैं आगे चलकर (अध्याय २५) करूँगा। इस समय मैं केवल यही कह सकता हूँ कि मुख्य रूप में व्यावहारिक मानदण्ड वहीं प्रतीत होता है जो कि सिद्धान्त के लिए प्रयुक्त होता है। वह व्यक्तित्व है हमारे तत्वों का समन्वित अथवा सुसंगत अस्तित्व है, वह एक ऐसा अस्तित्व है जो सीमित नहीं हो सकता, क्योंकि यदि ऐसा हो तो भीतर से स्वयं-विरुद्ध हो जायेगा (अध्याय २० और २४) और आगे इस अवस्था पर मैं चतुर सुखवादियों से भी अपने को पृथक् करना नहीं चाहता क्योंकि मेरे विचार में व्यावहारिक पूर्णता के अन्तर्गत सुख का समन्वय अवश्य होगा। इन बातों की चर्चा मैं करूँगा, परन्तु इस समय मैं केवल अस्थायी और अस्पष्ट रूप से यह मान लेने में ही संतोष कर लेता हूँ। व्यावहारिक लक्ष्य को व्यक्तित्व के रूप में, अथवा शुद्ध सुख के रूप में, या दोनों रूप में मान लेने पर, प्रश्न यह उठता है कि इस लक्ष्य का साक्षात्कार परम तत्व में हुआ माना जाता है या नहीं ? और यदि माना जाता है तो इस ज्ञान का आधार क्या है ? फिर देखने में वह सैद्धान्तिक मानदण्ड से नहीं लिया जा सकता और प्रश्न यह है कि क्या व्यावहारिक मानदण्ड से वह प्राप्त हो सकता है ? मैं बतलाऊँगा कि मैं इस बात को क्यों असम्भव मानता हूँ।

पहले मैं संक्षेप में सत्ता विज्ञान के दृष्टिकोण को लूँगा। उसका यथार्थ स्वरूप तो आगे चल कर (अध्याय १४) प्रकट होगा यहाँ मैं केवल यही बतलाऊँगा कि वह असफल क्यों होता है। इस दृष्टिकोण को कई प्रकार से रखा जा सकता है, परन्तु इसका प्रमुख सूत्र बहुत सरल है। पूर्णता भी एक कल्पना है—इसमें कोई सन्देह नहीं—परन्तु प्रश्न यह उठता है कि पूर्णता का भी कोई अस्तित्व है या नहीं ? सत्ता विज्ञान कहता है कल्पना का तथ्य सत्य के तथ्य को सिद्ध करता है। दूसरे शब्दों में जब तक पूर्णता का अस्तित्व न हो तब तक इसकी कल्पना सम्भव नहीं। मैं अभी इस तर्क की साधारण सत्यता की चर्चा नहीं करूँगा अपितु केवल यही कहूँगा कि वह यहाँ पर लागू नहीं होता, क्योंकि यदि किसी कल्पना का सृजन ऐसे तत्वों से हुआ है जो कि कई स्रोतों से लिए गए हों, तो यह आवश्यक नहीं कि सृजन के उस परिज्ञान का अस्तित्व हमारी कल्पना के बाहर भी पूरा-का-पूरा हो, यद्यपि उन तत्वों के पृथक् अस्तित्व में कोई सन्देह नहीं। इस प्रकार हम स्वीकार

कर सकते हैं कि जब तक पूर्णता का वास्तविक अस्तित्व न हो तब तक कल्पना-रूप में भी उसका अस्तित्व नहीं हो सकता। इस बात को स्वीकार करते हुए भी व्यावहारिक पूर्णता के विषय में हम उसी निष्कर्ष को सर्वथा अस्वीकार कर सकते हैं क्योंकि जो पूर्णता वास्तविक है वह केवल सैद्धान्तिक-मात्र हो सकती है। जहाँ तक प्रणाली केवल एक सैद्धान्तिक समन्वय है और उसमें कोई सुख निहित नहीं है, वहाँ तक हम उसको प्रणाली मान सकते हैं और सुख-तत्व को अन्यत्र से लेकर हमारे मस्तिष्क में ही इस वास्तविक कल्पना से संयुक्त किया जा सकता है। परन्तु यदि यह बात है तो यह जोड़ा हुआ तत्त्व अयुक्त, असंयम तथा वस्तुतः विपरीत हो सकता है। सुख और प्रणाली सम्भवतः सचमुच एक असत्य यौगिक है, यह एक ऐसा आभास है जिसका अस्तित्व केवल हमारे मस्तिष्क में है। यह वैसा ही है जैसा कि उदाहरण के लिए एक पूर्णतः सान्त सत्ता की कल्पना। इसलिए सत्ता-विज्ञान के दृष्टिकोण-द्वारा व्यावहारिक पूर्णता की सत्ता को नहीं सिद्ध किया जा सकता, तो आइए देखें और भी कोई प्रमाण है या नहीं ?

किसी रूप में यह कल्पना करना स्वाभाविक हो सकता है कि व्यावहारिक लक्ष्य अपने अस्तित्व की कल्पना एक तथ्य के रूप में किसी-न-किसी प्रकार करता ही है परन्तु यदि सावधानी से जाँच-पड़ताल की जाय तो यह विचार छिन्न-भिन्न हो जाता है। यह स्पष्ट है कि नैतिक लक्ष्य के वास्तविक अस्तित्व की घोषणा नैतिकता नहीं करती। यह बिलकुल साफ बात है, और यह कह सकना अधिक सरल होगा कि नैतिकता इससे विरुद्ध कल्पना भी करती है (अध्याय २५)। निःसंदेह जैसा कि आगे देखेंगे धार्मिक चेतना में उस विषय की सत्ता भी निहित होती है जो कि उसका लक्ष्य भी होता है। परन्तु जिस धर्म का विषय पूर्ण होगा, वह नैतिकता से भी कहीं अधिक असंगति पर आश्रित होगा क्योंकि यदि धर्म में उसके आदर्शों का अस्तित्व भी अभिप्रेत है तो उसी समय उसमें एक ऐसी विशेषता भी अभिप्रेत है जो कि पूर्णतया असंगत तथा अयुक्त है। इस बात पर इतना ही कहना पर्याप्त है कि धार्मिक चेतना पूर्णता के अस्तित्व को सिद्ध नहीं कर सकती, क्योंकि यह कहना सच नहीं है कि सभी धर्मों का लक्ष्य पूर्णता है और जहाँ ऐसा हो भी वहाँ भी धर्म को ऐसा कोई अधिकार नहीं कि वह विचारों का नियन्त्रण करे या उनके ऊपर आधिपत्य जमाये। इसका अभिप्राय यह नहीं कि किसी विश्वास को इसलिए सच मान लिया जाय कि उसका इतना प्रभाव है कि व्यवहार में उसका विरोध नहीं किया जा सकता। धर्म में एक प्रवृत्ति हुआ करती है कि वह आदर्श को अस्तित्ववान मान लेती है और यह प्रवृत्ति हमारे मस्तिष्कों पर आधिपत्य जमा लेती है। कभी-कभी

यह अधिपत्य बलात्कार का रूप धारण कर लेता है। परन्तु केवल इसी कारण से उसको सत्य संदेश देने वाला नहीं कहा जा सकता है। वस्तुतः ऐसे अनुभव भी याद आ सकते हैं, जो हमें संदेह करने को विवश करते हैं। उदाहरण के लिए कोई मनुष्य ऐसी स्त्री से प्रेम कर सकता है जिसको गम्भीरतापूर्वक विचार करने पर वह ठीक नहीं समझता, परन्तु फिर भी उस स्त्री के सामीप्य से मतवाला होकर, वह अपनी कामान्धता में अपने समस्त विवेक को ही खो बैठता है। परन्तु सभी मामलों में बुद्धि के लिए वस्तुतः वही ठीक होगा जिसमें शुद्ध बुद्धि व शाँति के क्षणों में कोई शंका या सन्देह न कर सके। तत्व-ज्ञानात्मक सत्य के लिए वे ही तत्व सच्चे आधार बन सकते हैं जो विचार के लिए अनिवार्य और अजेय हों—केवल वही तत्व जिसके निषेध प्रयत्न में विचार को बल लगाना पड़े।

परन्तु मुझसे पूछा जा सकता है कि आप बुद्धि की इस श्रेष्ठता को और विचार की इस सर्वोपरिता को कैसे प्रमाणित कर सकते हैं? इस प्रकार निरंकुशता यदि किसी आधार पर स्थित है तो वह कौन-सा आधार है? क्योंकि यदि आप निष्पक्ष भाव से देखें तो इस 'बौद्धिक स्वयंसिद्ध' में विशेष बल नहीं दिखायी पड़ता। यही नहीं यदि आप इस प्रश्न पर बिना किसी पूर्वाग्रह के सोचें और यदि आप स्वयंसिद्ध-मात्र के सामान्य स्वरूप पर विचार करें तो आप बिलकुल भिन्न निर्णय पर पहुँच सकते हैं, क्योंकि वस्तुतः सभी स्वयंसिद्धियाँ व्यावहारिक हैं, वे सब संकल्प-शक्ति पर आश्रित हैं और अन्ततोगत्वा उसमें से कोई भी एक विशेष प्रकार के व्यवहार करने की प्रेरणा से अधिक नहीं ठहरती। और जब तक यह प्रेरणा पूरी न हो जाय तब तक वे संतुष्टि की असम्भावना के साथ-साथ इस प्रेरणा के अतिरिक्त और कुछ व्यक्त नहीं कर सकती। इसलिए आधिपत्य का अधिकार रखने के लिए विपरीत बुद्धि तो व्यावहारिक बलात्कार का चिन्ह और उदाहरण-मात्र है। अथवा यदि हम इसी बात को अधिक मनोवैज्ञानिक दृष्टि से कहें तो यह कहा जायगा कि बुद्धि तो केवल सुख-दुख की सामान्य प्रणाली का एक परिणाम मात्र है। वह तो पराधीन है और इसलिये उसकी निरंकुशता की कल्पना निराधार है।

इस आक्षेप की संदिग्ध मनोवैज्ञानिक भूमिका को छोड़कर मैं उसके सामान्य सत्य को स्वीकार कर सकता हूँ। सैद्धान्तिक स्वयंसिद्ध में एक ऐसी प्रेरणा की अभिव्यक्ति रहती है जिसके वशीभूत होकर किसी विशेष ढंग से कोई कार्य किया जाता है। जब यह प्रेरणा सन्तुष्ट नहीं हो पाती, तो किसी दिशाविशेष में अशाँति और आन्दोलन प्रारम्भ हो जाता है और तब तक चलता रहता है, जब तक उस प्रेरणा को शान्त करने वाला तथा शान्ति स्थापना करने वाला परिणाम स्थापित नहीं हो

जाता। इस मूल कर्म-सिद्धान्त की अभिव्यक्ति को ही स्वयंसिद्ध कहते हैं। उदाहरण के लिए वैपरीत्य या विरोध से वचने के नियम को ले लीजिए। जब दो तत्व शान्ति पूर्वक एक साथ नहीं रह सकते अपितु परस्पर संघर्ष करते हैं तो हम उस अवस्था में सन्तुष्ट नहीं रह सकते। हमारी प्रेरणा उसको वदलना चाहती है जहाँ विना संघर्ष के अनेकता को इकाई के रूप में माना जा सके और अन्य अवस्था में शान्त होने की यह असमर्थता तथा एक विशेष प्रकार से तथा एक विशेष दिशा में परिवर्तन करने की यह प्रवृत्ति ही वह वस्तु है जो चिन्तन के वाद व्यक्त होने पर हमारी स्वयंसिद्धि तथा हमारा वौद्धिक मानदण्ड वन जाती है।

मुझसे फिर प्रश्न किया जा सकता है कि क्या इस प्रकार आपने अपने दृष्टिकोण को छोड़ नहीं दिया है ? क्या आपने यह स्वीकार नहीं कर लिया कि सिद्धान्त के लिए आप जिस मान-दण्ड का प्रयोग कर रहे हैं वह केवल एक व्यावहारिक प्रेरणा अथवा हमारी सत्ता के एक पक्ष से हटने की प्रवृत्ति है ? और यदि यह बात है तो वौद्धिक मानदण्ड कैसे सर्वोपरि हो सकता है ? परन्तु यहाँ पर भेद करना आवश्यक है। सारा प्रश्न हमारी सत्ता की कई प्रेरणाओं के बीच स्थित भेद पर अवलम्बित है। यदि आप चाहें तो वुद्धि को केवल गति की प्रवृत्ति कह सकते है परन्तु आपको याद रखना चाहिए कि यह एक विशेष प्रकार की गति है। चिंतन के स्वरूप पर मैं आगे चलकर विचार करूँगा। परन्तु प्रमुख बात यहाँ यह कह देना आवश्यक है। चिन्तन में आप कह सकते हैं कि मानदण्ड का अर्थ केवल 'इस प्रकार करो' परन्तु 'इस प्रकार करो' का अर्थ 'इस प्रकार सोचो' और इस प्रकार सोचो का अर्थ है 'यह है।' इस गति का तथा अन्यथा कर्म करने की असमर्थता का मनोवैज्ञानिक मूल अथवा आधार आप कुछ भी समझ लें। क्योंकि तत्व-वैज्ञानिक प्रश्न से इसका कोई सम्बन्ध नहीं। चिन्तन एक प्रेरणा-विशष की तृप्ति के लिए एक प्रयत्न है और इस प्रयत्न में सत् के विषय में एक अनुमान अभिप्रेत है। जब तक आप चिंतन करना अस्वीकार कर दें तब तक आप इस अनुमान से वच सकते है। परन्तु यदि आप यह खेल खेलने बैठ जायँ तो और कोई चारा नहीं। यदि आप कुछ भी चिन्तन करते हैं तो आप को कोई-न-कोई मानदण्ड मानना पड़ेगा और मानदण्ड भी ऐसा जिसमें सत् का सर्वोच्च ज्ञान अभिप्रेत है। और आप इसमें संदेह करते हुए भी इसे स्वीकार करते हैं। आप कह सकते हैं कि चिन्तन वस्तुतः असंगत है क्योंकि आभास से छुटकारा नहीं मिलता, अपितु उसको केवल टाल दिया जाता है। एक दूसरा प्रश्न है जो हमारे सामने अगले अध्याय में आयेगा इसलिये यहाँ इसको छोड़ देते हैं, क्योंकि प्रत्येक अवस्था में चिन्तन का अर्थ है एक मानदण्ड को स्वीकार करना और वह मान-दण्ड

सदैव सत् के स्वरूप का एक अनुमान होता है ।

आक्षेप किया जा सकता है कि यह अनुमान उस अनुमान से अच्छा क्यों है जो कि व्यवहार में प्रयुक्त होता है । सैद्धान्तिक लक्ष्य को व्यावहारिक लक्ष्य से श्रेष्ठ क्यों माना जाये । मैंने तो ऐसा कभी नहीं कहा । केवल तत्त्व-ज्ञान में अवश्य उस सैद्धान्तिक दृष्टि से कार्य करते हैं । हम एक विशेष रूप के कार्य में लग्न हैं और इस लिए हम पर विशेष शर्तें लागू होती हैं । और सिद्धान्त के भीतर सैद्धान्तिक मानदण्ड का सर्वोपरि होना निःसंदेह आवश्यक है । जब नैतिकता आँख मूंदकर दौड़ रही हो तो हमें उसकी चिन्ता करने का कोई अधिकार नहीं । नैतिकता कहती है --ऐसे करो, अर्थात् ऐसे हो जाओ, अथवा असंतुष्ट रहो । परन्तु यदि मैं असन्तुष्ट हूँ तो भी बाहर से मेरी सत्ता में कोई कमी होना आवश्यक नहीं । कल्पना कहती है--ऐसे करो, अर्थात् ऐसे सोचो, अन्यथा असंतुष्ट रहो, और यदि आप ऐसा नहीं सोचते तो जो सोचते हैं वह कदापि सत् नहीं हो सकता और इन दोनों आदेशों में कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध प्रतीत नहीं होता । यदि मैं सैद्धान्तिक दृष्टि से असन्तुष्ट हूँ तो व्यवहार में प्रतीयमान संतोष वस्तुतः संतोषजनक नहीं है । परन्तु यदि मैं व्यावहारिक दृष्टि से असंतुष्ट हूँ तो उपर्युक्त निष्कर्ष लागू नहीं हो सकता । अतः दोनों संतोषजनक नहीं और न दोनों में कोई सीधा सम्बन्ध दिखलाई पड़ता है । इस प्रश्न को एक दूसरी दृष्टि से भी देख सकते हैं । आचार-शास्त्र तत्त्व-ज्ञान को आदेश देने के लिए आतुर प्रतीत होता है परन्तु क्या वह बदले में आदेश मानने को भी तैयार है ? यदि उससे कहा जाय कि वास्तविक जगत् उसके कल्पित आदर्शों से नितान्त भिन्न है, और यदि सैद्धान्तिक दृष्टि से वह इस परिणाम का परिहार न कर सके तो क्या आचार-शास्त्र स्वीकार करेगा ? इसके विपरीत क्या वह उपर्युक्त परिणाम के होते हुए भी अपने पक्ष पर नहीं अड़ा रहेगा ? ठीक है आप जैसा बताते हैं तथ्य वैसे ही होंगे, परन्तु फिर भी उनका वैसा होना उचित नहीं अपितु उन्हें अन्यथा होना चाहिए था । मेरा अनुमान है कि आचार-शास्त्र कुछ ऐसी ही पद्धति को पकड़ेगा । यदि यह बात है तो उसे सिद्धान्त में भी ऐसे ही दृष्टिकोण को अपनाना चाहिए । तथ्य कैसे होने चाहिए, इस पर यदि तत्त्व-ज्ञान की दृष्टि उसे मान्य नहीं तो तथ्य कैसे हैं, इस पर अपनी दृष्टि मनवाने के लिए भी आचार-शास्त्र को आग्रह नहीं करना चाहिए ।

निःसंदेह, जो मानव-प्रकृति की अखण्डता को मानता है उसको किसी भी एकांगी सन्तोष में विश्वास नहीं हो सकता और इस प्रकार की विचार-धारा मेरी समझ में पर्याप्त सबल बन सकती है । परन्तु, मानव-प्रकृति के एक पक्ष को लेकर चलना और उसके बिलकुल दूसरे पक्ष पर ऊहापोह करना नितान्त अनुचित है । यहाँ मैं यह प्रश्न

नहीं उठाऊँगा कि पूर्ण समन्वय की माँग (अध्याय २५) करने में आचार-शास्त्र कहाँ तक सुसंगत है। जो वात स्पष्ट दिखलायी पड़ती है वह यह है कि, केवल सिद्धान्त-पक्ष पर आग्रह करके वह अपने पक्ष को छोड़ रहा है और वाह्य तथ्यों को आमन्त्रित कर रहा है। और उसके पथ-भ्रष्ट होने का मुख्य कारण यह है कि वह तात्विक भेदों को पहचानने में असमर्थ हैं। 'तथा भव' (ऐसे हो जाओ) का अर्थ सदैव 'तथा चिन्तय' (ऐसा सोचो) नहीं होता, और 'तथा चिन्तय' का मुख्यार्थ निःसंदेह 'तथा भव' नहीं होता। इन दोनों में वही अन्तर है जो होना चाहिए और हो अर्थात् भविष्य और भवत् (वर्तमान) में है। और मुझे एक से दूसरे का कोई सीधा संवंध नहीं दिखता। यदि किसी सिद्धान्त का निर्माण इच्छा के द्वारा हुआ है तो यह आवश्यक है कि उसके द्वारा उस इच्छा की तृप्ति हो। यदि ऐसा न हो तो वह सिद्धान्त झूठा ठहरता है। परन्तु तत्वज्ञान का स्वरूप सिद्धान्त-मात्र होने से और सिद्धान्त तत्वतः वुद्धिजन्य होने से उस शास्त्र में वौद्धिक सन्तुष्टि ही आवश्यक है। निःसंदेह जिस निष्कर्ष से मेरी प्रकृति के सभी पक्षों को परितोष नहीं होता, वह मुझे सन्तुष्ट नहीं कर सकता। परन्तु 'यह मेरी प्रकृति के अनुकूल नहीं' से इस निष्कर्ष पर पहुँचने के लिए कि, 'अतः यह असत्य है,' मुझे कोई सीधा मार्ग नहीं दीखता क्योंकि असत्य वही है जो सिद्धान्त-सिद्ध नहीं और हम एक ऐसी अवस्था की कल्पना कर रहे हैं जहाँ सिद्धान्त सन्तुष्टि से ही किसी परिणाम को सत्य मान लिया गया हो। मेरी सम्मति में तो हमें यही स्वीकार करना होगा कि वौद्धिक सन्तुष्टि हो जाने पर प्रश्न सुलझा हुआ माना जाय क्योंकि बौद्धिक निष्कर्ष के विपय में हमारी भावना कुछ भी क्यों न हो परन्तु उसके आधार पर हम उसे असत्य नहीं ठहरा सकते।

अतः यदि पूर्णता को ऐसी अवस्था माना जाय जिससे सुख के साथ समन्वय हो, तो सत् को पूर्ण सत्य सिद्ध करने का कोई उपाय नहीं दीखता, क्योंकि वर्त्तमान वौद्धिक स्तर को देखते हुए दुख तथा आँशिक परितोष के साथ समन्वय होना भी सम्भव है। परन्तु यदि अन्यथा विचार किया जाय और यह प्रश्न रखा जाय कि यह समन्वय एक दूसरे कारण से सम्भव भी है या नहीं, तो मेरी समझ में स्थिति ही वदल जाती है। वुद्धि का निरन्तर अकाट्य होना तो सत्य है। परन्तु साथ ही क्या यह भी निश्चित है कि हमारी प्रकृति के अन्य तत्वों के असंतुष्ट रह जाने पर भी, बुद्धि अकेली ही संतुष्ट हो सकती है? अपितु क्या यह समझना ठीक न होगा कि कोई भी आंशिक असन्तोप अप्रत्यक्ष रूप से बुद्धि में भी क्षुव्धता तथा अपूर्णता उत्पन्न कर देगा। यदि यह वात है तो परम सत् में किसी अपूर्णता की कल्पना करना अग्राह्य है। कोई भी अपूर्णता परम सत् के प्रत्यय को ही विगाड़ देगी। अतः प्रत्यय की दृष्टि से सत् का

स्वरूप समन्वयशील होने से उसमें सर्वांग समन्वय होगा और उससे हमारी सम्पूर्ण प्रकृति को सन्तोष होगा। आइए देखें, इस पद्धति से हम आगे बढ़ते हैं या नहीं।

यदि परम सत् सिद्धान्तत: समन्वयशील है तो उसके तत्वों के बीच संघर्ष नहीं होगा। विचार-आलोचन (Sensation) के प्रतिकूल नहीं होगा और आलोचनों में परस्पर मुठभेड़ नहीं होगी। अर्थात् प्रत्येक अवस्था में कोई संघर्ष संघर्ष-मात्र न होकर किसी मूलभूत इकाई का पोषक और ऐसी पूर्णता का अंग होगा जिसमें रह कर वह संघर्ष ही न रह जायगा। संघर्ष का यह निराकरण कैसे सम्भव हो सकता है, इस बात पर अंतत: अगले अध्यायों में विचार होगा परन्तु इस समय तो मेरा आग्रह यही है कि किसी-न-किसी प्रकार से यह होना अवश्य है। यह तो ठीक है कि सत् के समन्वय-शील होने से केवल उसी बात की पुष्टि के लिए उसके विभिन्न तत्त्वों (आलोचनों और विचारों) में संघर्ष की आवश्यकता नहीं, परन्तु विचार और आलोचन के बीच यदि संघर्ष न हो, तो परम सत् में अतृप्त इच्छा या व्यावहारिक क्षोभ भी सम्भव नहीं, क्योंकि इसमें स्पष्टत: कोई-न-कोई ऐसा विचार तत्त्व होता है जो वर्तमान स्थिति से मेल नहीं खाता। अपितु उसके विरुद्ध संघर्ष-रत रहता है और यदि इस बेमेल तत्व को दूर कर दिया जाय तो उसके साथ-साथ समस्त अतृप्त वासना भी चली जाती है ऐसी अतृप्त वासना के बने रहने के लिए मेरी सम्मति में किसी ऐसे विचार का होना आवश्यक है जो किसी आलोचन में विभिन्न विकार उत्पन्न कर सकें और जो तात्कालिक असमन्वय की स्थिति में हो। और ऐसी किसी भी अवस्था की संगति सैद्धान्तिक मेल नहीं खाती।

परन्तु, सम्भवत: इस निष्कर्ष में एक प्रमुख सम्भावना की उपेक्षा हो जाती है। सम्भव है कि परम सत् में अतृप्त वासनाओं का अस्तित्व न होने पर भी दुःख के अवशेष की एक स्पष्ट प्रतीति हो, क्योंकि प्रथम तो इसका कोई प्रमाण नहीं कि समस्त दुख का उद्भव किसी न-किसी अविनष्ट संघर्ष से ही होता है। और दूसरे यह कहा जा सकता है कि सम्भवत: संघर्ष के दूर होने पर भी दुख बना रहे। यह भी प्रतिपत्ति हो सकती है कि किसी दुखपूर्ण संघर्ष में सम्भव है कि दुख वास्तविक हो परन्तु संघर्ष केवल दिखाऊ हो, क्योंकि मूल अध्याय १६ पर विचार करते हुए हम देखेंगे कि एक विस्तृत मिश्रण के अन्तर्गत बेमेल तत्त्वों का समन्वय सम्भव है। हम देखेंगे कि इस अवस्था के अन्तर्गत इन तत्वों की ऐसी व्यवस्था भी सम्भव है कि उनमें समन्वय हो जाय। और अतृप्त वासनाओं के विषय में यहाँ पर प्रश्न यह होगा—क्या यह सम्भव नहीं कि उनका एक पूर्ण में ऐसा सायुज्य हो जाय कि उनका बेमेलपन ही दूर हो जाय? और तज्जन्य दुख का परम सत् में अस्तित्व न होते हुए

भी, वे वासनाएँ, वासनाएँ न रह जायँ ? यदि यह वात हो तो वह पूर्ण वस्तुतः अपूर्ण होगा क्योंकि समन्वययुक्त होते हुए भी उसका दुख-निमग्न होना अथवा कम-से-कम दुःखावशेष से परितप्त होना संभव है। यह एक गंभीर आक्षेप है और यहाँ इसका विवेचन अपेक्षित है। अन्तिम अध्याय में मुझे एक वार फिर इसका विचार करना पड़ेगा।

यहाँ मुझे अनुभव हो रहा है कि सुख और दुख के कारण से हम कितने अनभिज्ञ हैं। यह एक सुग्राह्य नहीं तो दुष्काट्य मत अवश्य है कि दुख का कारण या हेतु कोई-न-कोई अविनष्ट संघर्ष है। यदि सचमुच यही वात है तो समन्वय की अवस्था में दुःख का अवशेष असम्भव है। दुख निःसंदेह एक तथ्य है और किसी भी तथ्य को विश्व में छूमन्तर नहीं किया जा सकता। परन्तु यहाँ प्रश्न केवल दुख-विशेष का है। इस प्रसंग में यह तो एक सर्वसाधारण अनुभव की वात है कि मिश्रित अवस्थाओं में दुःख को सुख् के द्वारा ऐसा प्रभावहीन किया जा सकता है कि दुःखावशेष निश्चित रूप से सुखद हो और इसलिए यह भी सम्भव है कि समस्त विश्व में सुखावशेष ही हो और फलितार्थ में कोई दुख शेष हो ही नहीं। ऐसा होने की सम्भावना है ; और यदि दुख के लिए अविनष्ट संघर्ष या प्रतिरोध अनिवार्य है तो वह सम्भावना से कहीं अधिक है। परन्तु सत् समन्वयशील होने से और समन्वय में दुःखशेष के अनिवार्य हेतुओ का अभाव होने से दुखशेष असम्भव है। इस वात पर मैं इतना वल देता हूँ कि मुझे एक वहुत वड़ा संदेह हो जाता है। मैं तो परम सत् में दुःखावस्था की कल्पना करने के अपने अधिकार को भी सन्देह से देखने लगता हूँ।

जब हम एक दूसरी वात पर विचार करते हैं तो यह सन्देह और भी गम्भीर हो जाता है। दुखानुभूति के हेतुओं को छोड़कर जव हम उसके प्रभावों पर आते हैं तो हमारा आधार कुछ अधिक सुनिश्चित होता है, क्योंकि यह अनुभव-सिद्ध है कि दुःख का परिणाम अशान्ति और वेचैनी है। इसका प्रमुख प्रभाव है विकार की उत्पत्ति और स्थिरता की समाप्ति। मैं जानता हूँ कि इस विषय में एक भिन्न प्रामाणिक मत भी है, परन्तु मेरी समझ में वह तथ्यों से मेल नहीं खाता। दुख के इस प्रभाव का यहाँ वहुत वड़ा महत्व है। मान लो कि परम सत् में एक सुखावशेष है और वहाँ सव-कुछ सुसंगत है, क्योंकि दुख से ऐसी प्रक्रियाओं का प्रादुर्भाव होता है जो पूर्ण जीवन में प्रक्रिया-रूप में तिरोहित हो जाती हैं। और ये दुःख सुखाविकार से प्रभावहीन किये जा सकते हैं, परन्तु यदि आप इसके विपरीत दुःख-शेष की कल्पना करें तो कठिनाई एकदम अगम्य हो जाती है। हमने एक समन्वयावस्था की कल्पना की है और उसके साथ-साथ अस्थिरता एवं प्रतिरोध के अस्तित्व को भी माना है। अतः एक ओर तो हमने परम सत् में ऐसी वस्तु-स्थिति मानी है जिसमें विभिन्न तत्व

परस्पर टकरा ही नहीं सकते और जहाँ विचार और आलोचन के बीच कोई संघर्ष नहीं, परन्तु दूसरी ओर दुःख की कल्पना करके विकार एवं क्षोभ के स्रोत को हम मान बैठे, जिसके परिणाम-स्वरूप एक ऐसे विचार की सृष्टि हो गयी जिसका अस्तित्व के साथ कोई समन्वय नहीं और अस्तित्वहीन वस्तु-स्थिति की इस कल्पना से सैद्धान्तिक शान्ति प्रत्यक्षतः नष्ट होती है। परन्तु यदि ऐसी बात है तो ऐसी कल्पना को असम्भव ही कहना चाहिए। समास-दृष्टि से, दुःख का अस्तित्व नहीं, और परम सत् में हमारी समस्त प्रकृति को परितोष मिलना आवश्यक है, क्योंकि अन्यथा जिस सैद्धान्तिक समन्वय के अस्तित्व को हमने अनिवार्य पाया उसका नाम भी न रहेगा। अन्तिम अध्याय में हम इस प्रश्न को उठाएँगे कि इस निष्कर्ष से बचने का उपाय भी है या नहीं? परन्तु अभी तो हमें इसी को सत्य मानना पड़ेगा। हम ऐसे परम सत् की संभावना को नहीं स्वीकार कर सकते जो कल्पना में पूर्ण होते हुए भी दुख में शान्त व सुस्थिर माना गया हो। विश्व की अपूर्णता के वास्तविक प्रमाण का प्रश्न १७वें अध्याय में विचारा जायगा और हमारी अब तक की स्थिति यह है कि—प्रत्यक्ष रूप में हम यह कह नहीं सकते कि हमारी प्रकृति के सभी पक्षों को परितोष प्राप्त होता है परन्तु अप्रत्यक्ष रूप से हम इसी परिणाम पर पहुँचते हैं, क्योंकि हमें सैद्धान्तिक संतोष की कल्पना करने को विवश होना पड़ता है। और व्यावहारिक दुःख के साथ-साथ उसके एकाँगी अस्तित्व की कल्पना अमान्य प्रतीत होती है। इस प्रकार की अवस्था में एक ऐसी सम्भावना जो कि स्वयं-सिद्ध प्रतीत होती है यह एक ऐसी कल्पना है जो किसी अनुकूल आधार के अभाव में अनाधिकार चेष्टा-मात्र है। कम-से-कम इस समय तो उसे अविचारणीय मानना ही ठीक होगा।

अतः कम-से-कम अभी तो हमें यही मानना होगा कि सत् से हमारी समस्त प्रकृति को परितोष मिलता है। उससे हमारी प्रमुख आवश्यकताओं—सत्य एवं जीवन और सौन्दर्य तथा शिवत्व—की तृप्ति होना आवश्यक है। और हम देख चुके हैं कि इस पूर्णता का अनुभवगम्य एवं वैयक्तिक होना आवश्यक है। आलोचन अनुभूति, विचार और संकल्प आदि विश्व के प्रत्येक तत्व का एक ही व्यापक चेतना में समावेश होना आवश्यक है और अब तो प्रश्न उपस्थित होता है कि हमें सचमुच ऐसी चेतना की कोई ठोस कल्पना है या नहीं? जब हम उसको वास्तविक कहते हैं तो क्या सचमुच हम अपने शब्दों के अभिप्राय को भली-भाँति समझते हैं?

सीमित प्रज्ञा-प्राणियों के लिए परम सत् के अस्तित्व को पूर्णतया हृदयंगम करना असम्भव है। अतः उसको जानने के लिए हमें चिरन्तन अस्तित्व की आवश्यकता है और जान लेने पर अस्तित्व व्यर्थ है। यह निष्कर्ष निश्चित है और उससे

बच निकलने के प्रयत्न भ्रामक हैं। परन्तु सारा प्रश्न इस पर अवलम्बित है कि जानने से हमारा अभिप्राय क्या है ? परम तत्व या अमर जीवन की सविस्तार रूप-रेखा पता लगाना या उसके इदम्-इत्थम् का निश्चित अनुभव कर सकना तो असम्भव है परन्तु उसकी प्रमुख विशेषताओं की एक कल्पना सूक्ष्म और अपूर्ण होते हुए भी यथासम्भव सच्ची कल्पना करना एक भिन्न बात है और यह एक ऐसा कार्य है जिसमें हमें सफलता मिल सकती है, क्योंकि ये प्रमुख विशेषताएँ किसी हद तक हमारे अनुभव की वस्तु हैं और इनके समुच्चय की कल्पना, अपने सूक्ष्म रूप में, नितान्त बुद्धिगम्य है और परम सत् के ज्ञान के लिए इससे अधिक कुछ भी अपेक्षित नहीं। निःसंदेह यह एक ऐसा ज्ञान है जो तथ्य से पूर्णतया भिन्न है परन्तु फिर भी वह अपने सीमित अर्थ में सत्य है और सीमित बुद्धि के लिए पूर्णतया सुलभ है।

इस अध्याय को समाप्त करते हुए मैं इस प्रकार के ज्ञान के स्रोतों का संक्षिप्त उल्लेख करूँगा। पहली बात तो यह है कि अनुभूति-मात्र में या प्रत्यक्ष ज्ञान में हमें किसी पूर्ण का अनुभव होता है (अध्याय ९, १९, २६, २०) इस पूर्ण में एक ओर तो अनेकता होती है और दूसरी ओर सम्बन्धों से इसमें भेद उत्पन्न नहीं होता। यहाँ हमें यह स्वीकार करना पड़ेगा कि इस प्रकार का अनुभव अपूर्ण एवं अस्थिर है और उसकी असंगतियाँ हमें उससे परे जाने को प्रेरित करती हैं। सच तो यह है कि अप्राप्त की अपेक्षा प्राप्त शायद ही अधिक हो, परन्तु इससे हमें सम्पूर्ण ज्ञान की ऐसी कल्पना मिल सकती है जिसमें इच्छा, ज्ञान और क्रिया-शक्तियाँ पुनः एक हो जाती हैं। इसके अतिरिक्त भेदों के मूल में प्राप्त यह एकत्व ही आगे चलकर उनका एक प्रकार से प्रतिगामी बन जाता है। यही बात हमें सिद्धान्त और व्यवहार दोनों के उन प्रयत्नों मे मिलती है जो प्रत्येक अपने को पूर्ण करके दूसरे में स्थानान्तरित होने के लिए करता है। और फिर जैसा कि हम देख चुके हैं पूरक नाम रूप सर्वत्र एकत्व की ओर संकेत करता है उसमें सम्बन्धों से परे तथा पृथक् एक ऐसी तात्त्विक पूर्णता, एक ऐसी अंगी निहित होता है जो अपने अंगों में निज को प्राप्त करने का असफल प्रयास करता रहता है। और फिर शिवत्व तथा सौन्दर्य की कल्पनाएँ भी विभिन्न ढंग से उसी परिणाम की ओर संकेत कर रही हैं। उनमें एक विभिन्नतामय परन्तु सम्बन्धातीत अंग का साक्षात्कार न्यूनाधिक रूप में निहित है। अब यदि हम इन सभी विचारों को एक सूत्र में लायें। (जैसा कि हमारे लिए शक्य है) तो उनसे हमें निःसन्देह ठोस और सुनिश्चित कल्पना मिल सकती है। उनसे हमें एकत्व का ऐसे ज्ञान हो सकता है जो प्रत्येक अनेकतामय आभास से परे होते हुए भी उसमें अन्तर्भूत है। उनसे हमें एक अनुभूति नहीं अपितु एक सूक्ष्म प्रत्यय मिलता है, ऐसा प्रत्यय

जिसका निर्माण प्रस्तुत तत्त्वों के एकीकरण-द्वारा होता है और इस एकीकरण का प्रकार—जो पुनः सूक्ष्म ही होगा—वस्तुतः ज्ञात है। इस प्रकार हम जानते हैं कि सब अंशों का निज में अन्तर्भाव करते हुए भी किसी प्रकार एक अनुभूति के प्रत्यक्ष लक्षण धारण करने वाले अनुभव से क्या अभिप्राय है। हम एक ऐसे आत्यन्तिक अनुभव की सामान्य कल्पना कर सकते हैं जिसमें दर्शनगत भेदों का अन्तर्भाव हो जाने से एक उच्च सर्वांग पूर्ण, नानात्व-समृद्धि को खोये बिना ही, आविर्भूत हो जाय। यदि हम इस स्थूल एकत्व को सविस्तार समझ सकने में पूर्णतया असमर्थ हैं तो यह कोई सबल हेतु नहीं कि हम उसे अस्वीकार कर दें। ऐसा कोई भी हेतु तर्क-शून्य होगा और उसके सिद्धान्तों पर शायद ही सर्वत्र आरूढ़ रहा जा सके। परन्तु यदि हम परम सत् के सामान्य लक्षणों का तनिक भी प्रत्यक्ष कर सकें और यह समझ सकें कि किसी अस्पष्ट और सूक्ष्म रीति से येन-केन-प्रकारेण उनका एकीकरण हो जाता है तो हमारा निष्कर्ष निश्चित हो जाता है। हमारा यह निष्कर्ष अपने सीमित क्षेत्र में परम सत् का यथार्थ, निश्चित, अनुभव-सिद्ध, तथा सुसंगत विचार की दृष्टि से अपरिहार्य ज्ञान प्रदान करता है। इसके स्वरूप का और स्पष्ट ज्ञान तब होगा जब हम अनेक आक्षेपों और कठिनाइयों का उत्तर दे लेंगे। तभी हम आग्रह कर सकेंगे कि विवेक के प्रकाश में हमें यह सत्य मानना पड़ेगा।

पन्द्रहवाँ अध्याय

प्रत्यय और सत्

परम सत्-विषयक हमारी इस चर्चा के विरुद्ध पाठक को एक स्वाभाविक आपत्ति हो सकती है। वह कह सकता है कि कठिनाई किसी अकाट्य-प्राय मत के प्रतिपादन में नहीं, अपितु प्रत्यक्ष असंगतियों के बीच मेल बैठाने में है। वास्तविक समस्या यह है कि परम सत् के साथ आभास एवं असत् और सामान्यतः ससीम-जीवन मात्र की संगति कैसे बैठायी जाय ? पाठक को आपत्ति होगी कि इन प्रश्नों की अब तक उपेक्षा हुई है। और इन्हीं प्रश्नों पर हमें अगले अध्याय से गम्भीर पूर्वक ध्यान भी देना है। परन्तु, फिर भी, सहसा आगे बढ़ जाय तो ठीक नहीं होगा। मूल पर विचार करने से पूर्व हमें सच की कोई कल्पना होना आवश्यक है। प्रस्तुत अध्याय में विचार के प्रमुख तत्व का संक्षिप्त निरूपण तथा यथार्थ अस्तित्व से उसकी भिन्नता का औचित्य प्रदर्शन करूँगा। केवल भ्रमवश ही हमें प्रत्यय को सत् से कम मानने में कठिनाई होती है।

सत् कहे जाने वाले यत्किञ्चित को ले लीजिए। उसमें हमें दो पक्ष मिलेंगे, उसके पक्ष में सदा ही दो बातें कथनीय हो सकती हैं, और यदि हम इन दोनों को ही बतलाने में असमर्थ रहें, तो हम सत् से दूर रहेंगे। एक 'किम्' है और दूसरा 'तद्', एक अस्तित्व है और दूसरा तत्त्व—दोनों एक-दूसरे से अभिन्न। यह असम्भव है कि किसी वस्तु का अस्तित्व हो, परन्तु फिर भी उसका कोई विशेष स्वरूप न हो अथवा कोई गुण-विशेष, अपने गुणी को कोई विशेषता न प्रदान करे। यदि हम 'तद्' को उसके निर्विशेष स्वरूप में देखना चाहें, तो असम्भव है, क्योंकि या तो हम उसे सविशेष रूप में पाएँगे अथवा बिल्कुल पाएँगे ही नहीं। यदि हम 'किम्' को निर्विशेष रूप में पाने का प्रयत्न करें तो हम देखेंगे कि उसका अस्तित्व ही नहीं है। वह अपने से परे किसी असत् की ओर संकेत करता है। और निर्विशेष या विशेषणमात्र के रूप में उसका अस्तित्व सम्भव नहीं। इन दोनों पक्षों में से कोई भी नितान्त पृथक् होने पर सत् अथवा निर्विशेष रूप में ग्रहण नहीं किया जा सकता। उनका परस्पर भेद तो बताया जा सकता है, परन्तु दोनों का विभाजन सम्भव नहीं। परन्तु फिर

भी विचार का अस्तित्व इन दोनों के विभाजन पर टिका हुआ है, क्योंकि विचार, कम-से-कम कुछ हद तक प्रत्ययात्मक है। प्रत्यय के अभाव में विचार संभव नहीं और प्रत्यय में तत्व का अस्तित्व से पार्थक्य निहित है। वह एक ऐसा 'किन्' है जिसका स्पष्ट ही प्रत्ययमात्र होने में कोई अस्तित्व नहीं, और यदि होता भी हो तो भी उसको इतने में प्रत्ययात्मक नहीं कहा जा सकता, क्योंकि प्रत्ययात्मकता का आविर्भाव गुण का अस्तित्व से पृथक्करण करने पर ही होता है। अतः बिम्ब (इमेज) तथा प्रत्यय में तादात्म्य समझने वाली सामान्य बुद्धि ठीक नहीं क्योंकि बिम्ब एक उतना ही वास्तविक तथ्य है जितना कोई आलोचन (Sensation); वह केवल एक दूसरे प्रकार का तथ्य है और उसकी प्रत्ययात्मकता में तनिक भी आशंका नहीं। जहाँ तक अस्तित्व से उसकी अव्यवहित एकता का सम्बन्ध है, प्रत्यय किसी तथ्य का कोई तात्त्विक अंश होता है और प्रत्यय की तथ्यात्मक सत्ता का किसी आलोचन (Sensation) या प्रत्यक्ष (परसेप्शन) के रूप में होना उतना ही सम्भव है जितना कि बिम्ब के रूप में। मूल बात तो यह है कि किसी प्रस्तुत तथ्य के 'किन्' में से किसी विशेषता का उसके 'तद्' से इतना पृथक्करण (Alienation, abstraction) कर दिया जाय कि वह उससे परे अथवा कम-से-कम, पृथक् वर्तन करने लगे। इस प्रकार की गति ही प्रत्ययात्मकता है, और जहाँ उसका अभाव है, वहाँ कुछ भी प्रत्ययात्मक नहीं है।

यदि हम निर्णय (Judgement) के स्वरूप पर विचार करें तो यह बात हमें और स्पष्ट हो सकती है क्योंकि उस अवस्था में विचार अपने पूर्ण रूप में होता है। निर्णय के रूप में प्रत्यय किसी सत् का विधेय होता है। यहाँ पहली बात तो यह है कि जिसका वह विधेय होता है वह कोई ऐसा मानसिक बिम्ब (मेन्टल इमेज) अथवा मस्तिष्क-स्थित तथ्य नहीं जिसको निर्णय किसी अन्य बाह्य तथ्य से संबद्ध करना चाहता हो। विधेय तो एक ऐसा 'किन्' या तात्त्विक विशेषतामात्र है जिसका प्रयोग उद्देश्य के 'तद्' को और भी विशिष्ट करने में होता है। और वह विधेय संप्रत्यय अपने मानसिक अस्तित्व से पृथक् होकर उससे सर्वथा असम्बद्ध प्रयुक्त होता है। जब हम कहते हैं कि यह अश्व एक स्तन्य पशु है, तो यह कल्पना करना निश्चित् असंगत है कि मैं अपनी मानसिक अवस्था का आरोप गाड़ी में जुते जानवर पर कर रहा हूँ। निर्णय सत् में एक विशेषण लगा देता है। और वह विशेषण एक प्रत्यय होता है क्योंकि वह अपनी सत्ता से पृथक् होकर तथा तदाश्रित निजाश्रय से मुक्त होकर प्रयुक्त होता है। और हमारा वह विश्लेषण उस समय भी ठीक उतरता है जब किसी तथ्य का विशेषण-मात्र किया जाय—अर्थात् जब विधेयक अपने उद्देश्य

से परे अथवा किसी अन्य वाह्य तथ्य से पृथक् होकर आता हुआ प्रतीत होता है, क्योंकि यहाँ पर जो हमारा संश्लेषण है वह स्पष्टतः विश्लेषणों का पुनर्मिलन-मात्र होता है और उसमें एक ऐसा पार्थक्य निहित होता है जिसका यद्यपि तिरस्कार हो जाता है परन्तु परिहार नहीं। विधेय एक ऐसा तत्त्व है जो अपनी अव्यवहित सत्ता से पृथक् होकर अपनी उस प्रथम इकाई से अलग होकर प्रयुक्त होता है। और फिर विधेय के रूप में इसका जब प्रयोग होता है तब उसका सम्बन्ध उसकी पृथक् भूत तथा मेरे मन में स्थित सत्ता से कुछ भी नहीं होता है। यदि ऐसी बात न होती, तो किसी निर्णय का होना संभव नहीं होता, क्योंकि उस अवस्था में न तो विभेदीकरण ही हो सकता है और न विधेयीकरण ही। परन्तु साथ ही यदि ऐसा है, तो यहाँ फिर एक प्रत्यय पर आप पहुँच आते हैं।

और दूसरी बात यह है कि जब हम निर्णय के विषय पर आते हैं तो सम्भवतः हमें दूसरा पक्ष अर्थात् 'तद्' प्राप्त होता है। 'अश्व एक स्तन्य पशु है' में जिस प्रकार विधेय कोई तथ्य नहीं उसी प्रकार उद्देश्य का भी कोई वास्तविक अस्तित्व नहीं। और यही बात प्रत्येक निर्णय पर लागू होती है। किसी का भी कभी यह अभिप्राय नहीं होता कि वह सत् के अतिरिक्त अन्य किसी के विषय में कुछ कहे, अथवा किसी 'किम्' के द्वारा किसी 'तद्' की विशेषता प्रकट करने के अतिरिक्त और कुछ करे। अन्यत्र[1] प्रतिपादित विषय की पुनरावृत्ति किये बिना ही मैं सम्भावित भूल के एक स्रोत पर विचार करूँगा। यह कहा जा सकता है कि प्रत्येक अवस्था में उद्देश्य कदापि केवल 'तद्' मात्र नहीं होता, वह कदापि केवल सत् अथवा निर्विशेष अस्तित्व मात्र नही होता, और इससे मैं पूर्णतया सहमत हूँ। मैं मानता हूँ कि हमारा अभिप्रेत उद्देश्य—निर्णय की पूर्णता से पूर्व और उसके तत्त्वो को पृथक् रखते हुए भी—केवल 'तद्' से कुछ अधिक ही होता है। परन्तु तो भी विचारणीय बात यह नहीं है। आलोच्य विषय प्रथम तो यह है कि प्रत्येक निर्णय के साथ हमारे जानने में सत्ता का एक ऐसा पक्ष आता है या नहीं जो विधेय में तो हो नहीं परन्तु उद्देश्य मे हो। और दूसरा यह है कि इन पक्षों के संश्लेषण के रूप में हमें निर्णय-तत्त्व प्राप्त होता है अथवा नहीं। और जहाँ तक मेरा अपना सम्बन्ध है, मुझे तो इस निष्कर्ष से बचने का कोई मार्ग दिखायी नहीं पड़ता। निर्णय तत्त्वतः दो ऐसे पक्षों—'किम्' और 'तद्' का—पुनर्मिलन है जो अस्थायी रूप से पृथक् हो गये थे। परन्तु विचार की प्रत्ययात्मकता इन पक्षों के पृथक्करण में ही निहित है।

(१) प्रिन्सिपल्स आफ लॉजिक, पृ० १।

चिन्तन का लक्ष्य है सत्य और सत्य का उद्देश्य है अस्तित्व का प्रत्ययात्मक विशेषीकरण। दूसरे शब्दों में, उसका लक्ष्य सत् को ऐसी विशेषता प्रदान करना है जिसमें उससे स्थिरता प्राप्त होती है। सत्य एक ऐसे तत्त्व का विधेयीकरण है जो विधेय-रूप ग्रहण करने पर समन्वयशील हो जाता है और असंगति को दूर करके अस्थिरता का नाश करता है। परन्तु दूसरी ओर विधेय को सदा प्रत्ययात्मक होना आवश्यक है। दूसरे शब्दों में वह एक ऐसा किम् होना चाहिए, जो अपने निज के तद् से संयुक्त होने के कारण स्वयं तथा स्वतः अस्तित्वहीन हो। अतः जब तक विचार में इस पृथक्करण का अभाव होता है, तब तक वह प्रत्यय-मात्र से अधिक कदापि नहीं हो सकता।

शीघ्र ही मैं इस अन्तिम विषय पर विचार करूँगा ,परन्तु सर्व प्रथम मैं एक अत्यन्त महत्वपूर्ण बात की ओर ध्यान आकर्षित करूँगा। एक ऐसी भावना है कि प्रत्ययात्मकता कोई तथ्यों से बाहर की वस्तु है, जिसका उनमें किंचित् आयात होता है अथवा जो उसके ऊपर एक प्रकार के स्तर की भाँति आरोपित की जाती है। और हम ऐसी बात करते हैं कि तथ्य मानो स्वयं किसी अर्थ में प्रत्ययात्मक नहीं है परन्तु ऐसी कोई भी भावना एक भ्रम-मात्र है, क्योंकि जो तथ्य प्रत्ययात्मक नहीं होते और जिनमें सत्ता से तत्व का पार्थक्य नहीं होता, वे मुश्किल से वास्तविक होते हैं। उनकी प्राप्ति यदि कहीं भी हो सकती है तो उन अनुभूतियों में होगी जो आन्तरिक स्खलन से रहित हों और जिनमें पूर्णतया एक तत्व ही हो, परन्तु यदि हम किसी प्रस्तुत तथ्य तक ही अपने को सीमित रखें, तो हमें वह हमारे हाथों में बदलता हुआ और तत्व की असंगति को देखने के लिए हमें विवश करता हुआ दिखाई पड़ेगा। और फिर इस तत्त्व का सम्बन्ध केवल उसके प्रस्तुत 'तद्' से जोड़ना सम्भव नहीं, अपितु वह उससे परे जाकर किसी बाह्य 'यत्किंचित्' की विशेषता प्रकट करने के लिए भी विवश होता है। परन्तु यदि यह बात है तो सरलतम परिवर्तन या विकार में भी हमें एकदम प्रत्ययात्मकता—वास्तविक सत्ता से पृथक् तत्त्व की उपस्थिति—प्राप्त हो जाती है। वस्तुतः नवें तथा दसवें अध्याय में हम इसकी आवश्यकता पर पहले ही विचार कर चुके हैं। क्योंकि प्रस्तुत का तत्व सदा ही अप्रस्तुत से सम्बन्धित होता है और इसलिए तद् का अतिक्रमण करना उसके 'किम्' का अनिवार्य स्वभाव है। इसको हम प्रस्तुत सीमित की प्रत्ययात्मकता कह सकते हैं। उसका निर्माण विचार-द्वारा नहीं होता, अपितु विचार स्वयं उसका विकसित रूप तथा परिणाम है। इस सीमित की अनिवार्य विशेषता यह है कि उसके व्यक्त होते समय सर्वत्र ही उसकी विशेषता उसके निजी अस्तित्व को लाँघकर उसके परे पहुँच जाय।

और जैसा कि हम देख चुके हैं, सत्य एक ऐसा प्रयत्न है जो मानों इसी रोग की चिकित्सा सादृश्यवादी पद्धति से करता है। विचार को प्रस्तुत की प्रत्ययात्मकता, असंगति, तथा आत्मातिक्रमण सर्वथा स्वीकार करना पड़ता है। और इस आत्मातिक्रमण को पराकाष्ठा तक पहुँचाने से, विचार पूर्णता एवं विश्रान्ति पाने का प्रयत्न करता है। एक ओर तो, उद्देश्य का इतना विस्तार किया जाता है कि वह फिर तनिक भी प्रस्तुत नहीं रह जाता। वह सम्पूर्ण विश्व में परिणत हो जाता है जिसका अस्तित्व और आभास प्रत्येक प्रस्तुत क्षण में अपने सत् के अंश-मात्र के साथ पाया जाता है वह बढ़कर एक ऐसे सर्वव्यापी पूर्ण में बदल जाता है जिसका अस्तित्व —यदि हमें उसका साक्षात्कार हो सके तो—स्वापि तथा कथमिव अवश्य होता है। परन्तु, दूसरी ओर इस सत् के विशेषीकरण में, विचार को एक आंशिक परित्याग स्वीकार करना पड़ता है। उसे 'किम्' का 'तद्' से पार्थक्य मानना पड़ता है। और वह इन पक्षों का ऐसा एकीकरण नहीं कर सकता, जिससे वह केवल प्रत्यय-मात्र से मुक्त हो सके और वास्तविक सत् तक पहुँच सके। क्योंकि विचार की प्रगति तथा उसके प्राण प्रत्ययों में तथा प्रत्ययों के द्वारा ही सम्भव हैं। जिस तत्त्व को वह 'सत्' पर लागू करता है, उसका अपने लागू रूप में कोई वास्तविक अस्तित्व नहीं है। वह अपने 'तद्' से वियुक्त एक विशेषण मात्र है, और निर्णय में कदापि पूर्ण निर्णय होने पर भी वह अपनी ठोस इकाई के रूप में पुनः नहीं आ पाता। इस प्रकार सत्य अस्तित्व की वस्तु है परन्तु इस रूप में उसका अस्तित्व नहीं। वह एक ऐसी विशेषता है जो सत् में विद्यमान है। परन्तु, जो सत्य तथा आदर्श के रूप में, अस्तित्व से पृथक् कर दी गयी है। और जो उससे पुनः इतनी संयुक्त नहीं हो पाती कि वह इकाई के रूप में एकत्र होकर तथ्य का निर्माण कर सके। अतः सत्य में हमें एक स्तर के ही दर्शन होते हैं वास्तविक जीवन के कदापि नहीं। उसका विधेय उसके उद्देश्य के समान कदापि नहीं हो सकता। और यदि ऐसा हो भी सके और यदि उसके विशेषण अस्तित्व में पुनः आत्म-संगत तथा आत्मसात् हो सकें, तो वह फिर सत्य नहीं रह जायगा। तब वह एक अन्य एवं उच्चतर सत्य में परिणत हो जायगा।

और अब मैं उस भ्रम का वर्णन करूँगा जिसका उल्लेख मैं ऊपर कर चुका हूँ और जिसकी मीमांसा, मेरी समझ में आगे सहायक हो सकती है।[1]

एक मिथ्या धारणा फैली हुई है कि यदि सत् विचार से अधिक है तो कम-से-कम वह स्वयं ऐसा कहने में असमर्थ है। किसी वस्तु की सत्ता विचार से किसी प्रकार

---

१ इस अध्याय का शेष भाग कुछ हेर-फेर के साथ 'माइन्ड' सं० ५१ से पुनर्मुद्रित किया गया है।

परे मानने के लिए कुछ लोगों ने 'स्वयं-वस्तु' के सिद्धान्त की सृष्टि की है। और, इस स्वयं-वस्तु के विषय में हम जानते हैं (अध्याय ७) कि यदि उसका अस्तित्व होता भी तो हम उसे जान न पाते। और फिर जितना हम उसके विषय में जानते हैं। वह यही है कि उसका अस्तित्व नहीं है। इस 'अन्यत्' को पलायन में पाने का प्रयत्न आत्म-हत्या के समान है। और आत्महत्या में पूर्ण असफलता के अतिरिक्त और कुछ भी हाथ नहीं लग सकता। यद्यपि मैंने इस परिणाम पर बल दिया है, परन्तु जब मैं उसको बुद्धिगम्य रखना चाहता हूँ और मैं पूर्णतया निष्कर्ष से यह निचोड़ निकालता हूँ कि विचार के अतिरिक्त और किसी का भी अस्तित्व नहीं है। परन्तु विचार से पूर्णतया बाहर अस्तित्व रखनेवाली किसी वस्तु की कल्पना कर सकना, मैं मानता हूँ, असम्भव है। यदि विचार किसी पूर्ण का एक तत्व-मात्र है तो इस आधार पर आप यह नहीं कह सकते कि उस पूर्ण के अवशिष्ट भाग का कोई पृथक् तथा स्वतन्त्र अस्तित्व होना ही चाहिए। संक्षेप में, इस आधार पर आप 'स्वयं-वस्तु' के निष्कर्ष पर नहीं पहुँच सकते और एक तत्व-स्वरूप में विचार का अस्तित्व होना कोई असंभव बात नहीं और उसको इस विश्व से न्यून मानने में कोई स्वयं-विरुद्ध निर्णय है।

हम देख चुके हैं कि किसी भी सत् के दो पक्ष सत्ता तथा विशेषता होते हैं। और विचार को सदा इन भेद-भाव के बीच कार्य करना पड़ता है। अपनी वास्तविक प्रक्रियाओं तथा परिणामों में विचार 'तद्' तथा 'किम्' के इस द्वैत का अतिक्रमण नहीं कर सकता। इससे मेरा यह अभिप्राय नहीं कि विचार किसी भी अर्थ में इस द्वैत से परे होता ही नहीं अथवा वह इतने से ही संतुष्ट हो जाता है और इससे अधिक के लिए वह इच्छुक ही नहीं होता। परन्तु, निर्णय को परिपूर्ण विचार मानते हुए, मेरा अभिप्राय यह है कि किसी भी निर्णय में उद्देश्य तथा विधेय एक नहीं होते। प्रत्येक निर्णय में वास्तविक उद्देश्य एक सत् होता है जो विधेय से परे पहुँचता है और विधेय जिसका एक विशेषणमात्र होता है। मेरी सर्वप्रथम प्रतिपत्ति यह है कि इस भेद-भाव का अतिक्रमण करने में विचार का लक्ष्य आत्म-विनाश होता है। हम देख चुके हैं कि निर्णय में सदा ही तथ्य और सत्य का, प्रत्यय तथा सत् का भेद-भाव होता है। सत्य और विचार 'स्वयं-वस्तु' नहीं होते, अपितु उससे सम्बन्ध रखने वाले तथा उसके विषय में होते हैं। विचार किसी उद्देश्य का एक प्रत्ययात्मक तत्व होता है और वह प्रत्यय और तथ्य एक नहीं, क्योंकि उसके अन्तर्गत अस्तित्व और अर्थ अनिवार्य रूप से पृथक् होते हैं और फिर, उद्देश्य न तो विधेय का ही केवल 'किम्' है और न यह कोई अन्य 'किम्' मात्र है। और यदि पक्षद्वय-सहित किसी पूर्ण इकाई

को उसके उद्देश्य-विशेष की विधेयता करते हुए कल्पित किया जाय, तो भी हमारा काम नहीं चलेगा, क्योंकि यदि उद्देश्य एवं विधेय में कोई भेद ही न हो तो कोई निर्णय करने का कष्ट ही क्यों करे। परन्तु यदि उद्देश्य विधेय से भिन्न है, तो उसका क्या स्वरूप है और वह किस बात में भिन्न है ? तो या तो निर्णय नाम की कोई वस्तु नहीं, अपितु विचारहीन चिन्तन एक बहाना-मात्र है। अथवा उसका उद्देश्य किसी विधेय से अधिक होता है और वह 'किम्' मात्र से परे एक तद् भी है। उद्देश्य, जैसा कि कह चुके हैं, कदापि सन्मात्र तथा निर्विशेष सत्ता-मात्र नहीं है। निःसंदेह उद्देश्य में एक अनिश्चित तत्व होता है। जो कि विधेय में अभिहित नहीं होता। क्योंकि निर्णय किसी जटिल इकाई की आकृति का नाम है और इसलिए इसमें विश्लेषण तथा संश्लेषण दोनों एकीभूत होते हैं। निर्णय किसी तत्व को मूलाधार से पृथक् करके उसे उसी में पुनः संयुक्त करता है और यह आधार अनिवार्यतः केवल तत्त्व-मात्र से अधिक समृद्ध होता है। परन्तु, हमें इस प्रश्न से कोई प्रयोजन नहीं। प्रश्न तो यह है कि किसी भी विधेयात्मक निर्णय में, क्या उद्देश्य में कोई ऐसा सत्ता-पक्ष भी होता है जो केवल विधेय में न होता हो। और यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि इस प्रश्न का उत्तर स्वीकृति-परक ही होगा। और यदि यह प्रतिपादित किया जाय कि स्वयं उद्देश्य, विचारमूलक होने से परे की वस्तु नहीं हो सकता तो मैं अधिक स्पष्ट कथन की माँग करूँगा; क्योंकि 'आंशिक बाह्य' की 'आंशिक रूप से आन्तरिक' के साथ संगति संभव है। और मैं स्फुट समस्याओं को छोड़कर अब वास्तविक प्रसंग पर पुनः आता हूँ, क्योंकि मैं इस बात को अस्वीकार नहीं करता कि सत् एक विचार का विषय है। मैं तो केवल इस बात को अस्वीकार करता हूँ कि वह निरा तथा केवल ऐसा ही है। यदि आप विचार तथा तद्विषय के भेद पर ही यहाँ ठहरना चाहते हों तो एक और प्रश्न उपस्थित होता है। जिस पर मैं आगे फिर आऊँगा। परन्तु, यदि आप मानते हैं, कि सत्य को विचार के अन्तर्गत कहने से आपका अभिप्राय यह है कि विचार विषय के अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं तो आपकी बात चलती नहीं दीखती। आप किसी निर्णय पर चाहे जितनी देर विचार कर लें, और उसके उद्देश्य का जिस हद तक चाहे विश्लेषण कर लें, परन्तु फिर (यह-सब कर चुकने पर कृपया आप अपना निर्णय भी दीजिए) और जब आप यह निर्णय दें तो आप इसे ध्यान से देखिए कि आपके विचार-तत्त्व के परे, कोई ऐसा उद्देश्य है या नहीं जिसके विषय में वह सत्य ठहरे और जिसका समावेश उसमें न होता हो। आपको पता चलेगा कि विचार-विषय अन्ततोगत्वा प्रत्ययात्मक होता है और ऐसा कोई प्रत्यय नहीं जो तत्वतः अपनी सत्ता को अपने अन्तर्गत रखता हो। वास्तविक उद्देश्य के 'तद्' में

आपको सदैव कुछ ऐसा मिलेगा जो केवल प्रत्यय-मात्र नहीं होगा, अपितु ऐसा-कुछ होगा जो किसी सत्य से भिन्न होगा और जिससे आपके चिन्तन में इतना अन्तर पड़ता होगा कि उसके अभाव में आपका चिन्तन ही अधूरा रह जायगा।

परन्तु उत्तर हो सकता है, आप जिस विचार या चिन्तन की बात करते हैं वह पूर्ण नहीं है। जहाँ विचार की पूर्णता होती है वहाँ उद्देश्य तथा विधेय में असंगति नहीं होती। विचार संज्ञा होनी चाहिए—तत्वों के इस समन्वयशील तंत्र (System) की जो अपना विधेय स्वयं हो सके, अथवा ऐसे उद्देश्य की, जो उस तात्विक तंत्र (System) में स्वयं सचेत हो। और इस स्थिति में सत्ता तथा विशेषता का अन्तर पूर्णतया जाता रहता है। यदि इस प्रकार की पूर्णता वास्तविक नहीं है, तो सम्भव है, और सम्भावना पर्याप्त है, परन्तु मेरा तो आग्रह यही है कि यदि वह सचमुच निरर्थक है तब तो वह सम्भव भी नहीं हो सकता। और यहाँ मैं उसी साँप-छछूंदर की गति का उल्लेख फिर करूँगा। निर्णय के बिना विचार संभव नहीं और किसी भेद के बिना न कोई निर्णय हो सकता है और न आत्मचेतना। परन्तु दूसरी ओर, यदि भेद को स्वीकार किया जाय तो उद्देश्य को विधेय-तत्व के बहिर्गत मानना पड़ेगा।

फिर भी, मैं मानता हूँ कि केवल निषेध पर्याप्त नहीं। अच्छा तो मान लीजिए कि विचार में निहित द्वैत से हम परे पहुँच गये। कल्पना कीजिए कि सत्ता सत्य से अब भिन्न नहीं, फिर देखिए कि हम कहाँ पहुँचते हैं। इसके द्वारा हम सीधे विचार के विनाश पर पहुँचते हैं। एक तत्व-तन्त्र में हमारे सत् की ही समाप्ति हो रही है। परन्तु हमारे सत् के अन्तर्गत इन्द्रियानुभूति का तथ्य अथवा सुख दुखात्मक प्रत्यक्ष-ज्ञान आता है। मेरी समझ में इस तथ्य को टालने का कोई प्रश्न नहीं, परन्तु विचार तत्व के तन्त्र में इसका समावेश कैसे दिखलाया जाय, यह एक जटिल समस्या है। विचार सम्बन्धात्मक तथा विवेचनात्मक होता है। और यदि वह ऐसा न रहे, तो उसकी समाप्ति हो जाय, परन्तु फिर भी यदि वह उसका यही स्वरूप रहता है तो उसमें तात्कालिक (प्रत्यक्ष) ज्ञान का समावेश कैसे होता है? मान लीजिए कि असम्भव सम्भव हो गया और कल्पना कीजिए कि प्रत्यय तत्वों का एक ऐसा समन्वय-शील तंत्र है जो सम्बन्धों से जुड़ा हुआ है, और जो एक स्वयं सचेत समन्वय में प्रतिबिम्बित हो रहा हो। यही सत् होगा ; पूर्ण सत् और इससे बाहर कुछ भी नहीं, शरीर के सुख और दुख, अंतरात्मा, उत्पीड़न, तथा उल्लास—ये सब समन्वयशील विचार तंत्र-रूपी गगन की क्षुद्र उल्काएँ हैं। परन्तु इन ज्वलन्त अनुभूतियों को, किसी प्रकार भी, विचार-गगन के कण-मात्र कैसे माना जा सकता है? क्योंकि यदि पतन वास्तविक है, तो विचार-क्षेत्र के बाहर किसी लोक को मानना पड़ेगा। और यदि

यह पतन एक आभास-मात्र है, तो स्वयं मानवीय त्रुटि या भूल उसके अन्तर्गत नहीं हो सकती। वह गगन या तो गगन नहीं होगा, अन्यथा वही एक मात्र सत् नहीं होगा। यदि हम रूपक को छोड़कर कहें, तो अभिप्राय यह है कि अनुभूति या तो पूर्ण विचार से सम्बन्धित होगी अन्यथा नहीं होगी। यदि वह सम्बन्धित नहीं है तो सत्ता का एक ऐसा पक्ष भी मानना पड़ता है, जो विचार से परे की वस्तु है। परन्तु, यदि वह उससे सम्बन्धित है, तो फिर वह विचार विवेचनात्मक तथा सम्बन्धात्मक विचार से भिन्न होगा। यदि उसमें तात्कालिक ज्ञान का समावेश करना है तो इसका स्वरूप भिन्न होगा, तो वह फिर विधेय नहीं रह जायगा, वह केवल-मात्र सम्बन्धों से परे और सत्य के अतिरिक्त किसी अन्य वस्तु पर पहुँच जायगा। संक्षेप में, विचार का विलय किसी अधिक सम्पन्न ज्ञान में होता होगा। यदि आप चाहें, तो इस प्रकार के ज्ञान को भी विचार कह लें। परन्तु यदि कोई उसके लिए अनुभूति या संकल्प-जैसी कोई और संज्ञा देना चाहें, तो वह भी ठीक होगा, क्योंकि परिणामतः वह एक परिपूर्ण अवस्था है जो प्रत्येक तत्व का अपने में समावेश करती है, और उससे परे भी पहुँचती है, और उसको केवल दोनों में से अन्यतम शब्दों की खिलवाड़-मात्र होगी, क्योंकि विचार जब अपने सम्बन्धात्मक स्वरूप से आगे बढ़ने लगता है; तो वह केवल-मात्र चिन्तन नहीं रह जाता। जिस आधार से कोई सम्बन्ध प्रसूत होता है और जिसमें वह पुनः लीन होता है। वह आधार उस सम्बन्ध से परिसमाप्त नही हो सकता। संक्षेप में, वह एक ऐसी सत्ता होगा जो केवल-मात्र सत्य नहीं होगा। इस प्रकार यदि ऐसी इकाई को प्राप्त करना है जिसमें प्रत्येक पक्ष का समावेश हो सके तो विचार के अन्तर्गत वह तत्व भी आना चाहिए जो उसे अनुभूति या संकल्प से पृथक् करता है। परन्तु, जब ये सब एकत्र हो जाते हैं तो उनमें से प्रत्येक अविनश्वर होने से, यह आवश्यक है कि उनका विलय एक ऐसे पूर्ण में हो जाना चाहिए जिसमें ये सब समन्वय प्राप्त कर सकें। परन्तु यह पूर्ण इकाई निःसन्देह इन्हीं पक्षों में से एक नहीं हो सकती और प्रश्न यह नहीं कि विश्व किसी भी अर्थ में बुद्धिगम्य है या नही। प्रश्न तो यह है कि यदि आप विश्व को विचारें और समझें तो क्या आपके विचार में और आपकी विचारित वस्तु में कोई अन्तर न रहेगा? और मान लीजिए कि ऐसा ही हो तो प्रश्न यह है कि क्या उस अवस्था में आपके विचार का स्वरूप नहीं बदल जायगा?

इस कल्पित पूर्णता के मर्म को और अधिक स्पष्टता से समझने की आवश्यकता है। उसके अन्तर्गत सत्य तथा तथ्य दोनों ही रहेंगे। अतः जायगा कुछ भी नही। और परम सत् में हमारे अनुभव के प्रत्येक सूत्र का समावेश होना आवश्यक है। हम न्यून तो स्वीकार कर ही नहीं सकते, उल्टे हम अधिक भले ही स्वीकार कर लें, और यह 'अधिक'

हमारे वास्तविक अनुभव के तत्वों की पूर्ति इस प्रकार करे कि वे पूर्ण इकाई में रूपान्तरित हो जायें। परन्तु, एक सद्रूप को प्राप्त करने के लिए, यह निःसन्देह आवश्यक है कि विधेय और उद्देश्य एवं विषयी तथा विषय और यहाँ तक कि सम्पूर्ण सम्बन्धात्मक रूप का एकीकरण हो जाना आवश्यक है। मेरी समझ में परम सत् को इसकी आवश्यकता नहीं कि वह दर्पण में अपने को ही स्निग्ध दृष्टि से देखे, अथवा पिंजरस्थ गिलहरी की भाँति अपने ही पूर्णता-चक्र को घुमाता रहे। इस प्रकार की प्रक्रियाओं का विलय अपने से न्यूनतम में नहीं अपितु उच्चतर में होना चाहिए। और जिस पूर्ण इकाई में विचार का समावेश हुआ है उसी में अनुभूति तथा संकल्प भी रूपान्तरित हो जाने चाहिए। इस प्रकार परिपूर्ण अवस्था में उस अव्ययवहित का एक श्रेष्ठ रूप होगा जो न्यूनाधिक रूप में अनुभूति में पाया जाता है, और इस परिपूर्णता में सारे भेद और विभाग विलीन हो जायेंगे। वह एक परिपूर्ण अनुभव होगा जिसमें सारे तत्व समन्वय की दशा में होंगे। वहाँ पर विचार एक श्रेष्ठ अन्तर्दृष्टि (Intution) के रूप में होगा। कल्पना के सद्रूप ग्रहण करने पर संकल्प का आगमन होगा, और इस समस्त सिद्धि में सौन्दर्य, सुख तथा अनुभूति बनी रहेगी। परम सत् के भीतर प्रत्येक शुभाशुभ कामाग्नि अतृप्त तथा अक्षुण्ण होकर जलता रहेगा—वह उसके परमानन्द समन्वय में लीन एक स्वर होकर पड़ा रहेगा। मैं मानता हूँ कि इस बात की कल्पना नहीं की जा सकती कि यह सब कैसे होगा परन्तु यदि सत्य और तथ्य में कोई भेद नहीं होता है, तो ऐसे ही किसी ढंग से विचार को परिपूर्णता प्राप्त करना है। परन्तु, इस परिपूर्णता में विचार का निश्चित रूप से ऐसा कायापलट हो जाता है कि उसको फिर भी विचार की संज्ञा देते रहना ही ठीक नहीं प्रतीत होता।

मैंने प्रथम तो यह दिखाने का प्रयत्न किया कि विचार शब्द का ठीक-ठीक अर्थ लेने पर, विचार तथा तथ्य एक नहीं है। दूसरे, मैंने यह दिखाने का प्रयत्न किया है कि यदि इन दोनों के तादात्म्य को स्थापित किया जाय तो विचार का विलय एक ऐसे सत् में हो जाता है जिसमें उसका स्वरूप ही लुप्त हो जाता है। अब मेरा प्रश्न यह है कि, क्या विचार-पक्ष के समर्थक अपने पक्ष की इस सुखद आत्महत्या में कोई विघ्न खड़ा कर सकते हैं ?

वे प्रथम तो यह कह सकते हैं कि हमारी परिपूर्णता तो 'स्वयं-वस्तु' की कल्पना में है, और उसके द्वारा विचार तो तत्वतः अप्रमेय भी प्रमेय बन जाता है। परन्तु, इस आक्षेप में इस बात को भुला दिया जाता है कि हमारी परिपूर्ण इकाई चेतन अनुभूति के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं। और इसमें यह भी भुला दिया जाता है कि यदि हम 'विचार' को शुद्ध तार्किक रूप में ग्रहण करें, तो भी हमारा 'सत्' इससे पृथक् नहीं रह

सकता। परम सत् को यदि उसके एक तत्त्व से भी पृथक् ग्रहण किया जाय तो यह निश्चित है कि वह कुछ भी नहीं रह जाता। परन्तु इसके विपरीत, 'स्वयं-वस्तु' का पृथक् अस्तित्व अवश्यम्भावी है।

अब हम अपने मत के विरुद्ध दूसरे आक्षेप को लेते हैं। यह कहा जा सकता है कि अन्तिम सत् विचार का ही लक्ष्य होने से, स्वयं भी विचार-मात्र ही होगा। यहाँ यह मानकर चला जाता है कि विचार ऐसी परिपूर्णता की कामना नहीं कर सकता, जिसमें वह स्वयं लुप्त हो जाय। परन्तु, क्या नदी समुद्र में मिलकर अपने को विलीन नहीं कर देती? और फिर अभिभूति का ऐसा ही दावा संकल्प या सौन्दर्य तथा आलोचन अथवा आनन्द की ओर से भी किया जा सकता है। जब परम सत् में सभी तत्वों का पर्यवसान होता है तो वह पर्यवसान पृथक् से किसी एक का नहीं हो सकता। नैतिकता के उदाहरण द्वारा हम इस सिद्धान्त का निरूपण कर सकते हैं। पर्यवसान की इच्छा वस्तुतः उसी को होती है जो केवल-मात्र नैतिक न होकर अति-नैतिक (Supra-Moral) होता है। यही नहीं, स्वयं व्यक्तित्व से परे की कोई वस्तु होना चाहता है। निःसन्देह परम सत् में व्यक्तित्व है, परन्तु दुर्भाग्यवश उसमें और भी कुछ इतना है कि उसको वैक्तिक कहना उतना ही असंगत होगा, जितना कि उसे नैतिक कहना।[1]

परन्तु यह कहा जा सकता है कि, आत्मचेतना में हम सचमुच एक ऐसी अवस्था का अनुभव करते हैं जिसमें सत्य और सत्ता एक हो जाते हैं। और यहाँ पर निःसन्देह चिन्तन सत् से भिन्न नहीं होता। परन्तु हम दसवें अध्याय में देख चुके हैं कि ऐसी किसी भी अवस्था का अस्तित्व नहीं है। ऐसी कोई आत्मचेतना नहीं जिसमें विषय और विषयी एक हों—अर्थात् जिसमें प्रत्यक्षीकृत विषय में समस्त प्रत्यक्षकर्ता आत्मा समाप्त हो। आत्मचेतना में एक अंश अथवा तत्व या कोई सामान्य पक्ष अथवा स्वरूप संहति से पृथक् होकर उस पृष्ठभूमि की इतिश्री नहीं हो जाती। वस्तुतः यह कभी सम्भव भी नहीं। किसी भी मनुष्य को एक प्रयोग-द्वारा विश्वास दिलाया जा सकता है कि आत्म-चेतन में वह जो-कुछ अनुभव करता है वह पूर्णतया कदापि उसके समक्ष नहीं हो सकता। यदि उसकी परिसमाप्ति सम्भव है तो केवल पर्यवेक्षकों की एक लम्बी शृंखला द्वारा और इन पर्यवेक्षणों के परिणामों का योग कदापि एक तथ्य के रूप में अनुभूत नहीं हो सकता। किसी भी क्षण-विशेष पर, इस प्रकार के परिणाम को कदापि सर्वथा सत्य नहीं जाँचा जा सकता। संक्षेप में, चेतना का अभिप्राय है—अनुभूत संहति से एक तत्व का पृथक्करण, और मनोवैज्ञानिक दृष्टि से ऐसी कोई भी चेतना असम्भव है जो प्रत्येक

---

१ देखिये आगे अध्याय २५ और २७।

तत्व को पृथक्-पृथक् कर सके। और यह असंभावना यदि वास्तविक हो तो भी हमें असमंजस में डाल देगी क्योंकि या तो भेद का अस्तित्व ही नहीं है और इसलिए न कोई पृथक्करण है और न कोई चेतना, अथवा पृथक्करण का अस्तित्व है और इसलिए विषय तथा सत् में भेद भी है। परन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि यदि आत्मचेतना को परखा जाय तो यह स्पष्ट हो जायगा कि किसी क्षण-विशेष पर मैं अपने 'स्व' के किसी भी रूप से अधिक रहूँगा। यहाँ यह प्रश्न नहीं कि अनुभूति के प्रत्येक तत्व को कहाँ तक बुद्धिगम्य कहा जा सकता है। परन्तु जिसकी अनुभूति होती है, उसको समझा नहीं जा सकता जिससे उसका सत्य और उसकी सत्ता एक ही हो जाते हैं। और यदि यह सम्भव हो सकता है, तो भी इस प्रकार की प्रक्रिया को चिन्तन कदापि नहीं कहा जा सकता। चिन्तन-क्रिया में चिन्तक, चिन्तन अथवा विचार से अधिक होता है। और इसी कारण से हम यह कल्पना कर सकते हैं कि चिन्तन में हमें सम्पूर्ण सत् के दर्शन अनुभूति अथवा संकल्प में भी हो सकते हैं इनमें से प्रत्येक को परिपूर्ण इकाई का एक तत्व अथवा एकांगी परिपूर्ण इकाई कहा जा सकता है। और इसलिए जब आप किसी एक तत्व या पक्ष को ग्रहण करते हैं तो आप उसके साथ ही उस परिपूर्ण इकाई को भी ग्रहण करते हैं। परन्तु किसी भी एक पक्ष में सम्पूर्ण विश्व ग्रहण होने से यह निष्कर्ष निकालना नितान्त असंगत प्रतीत होता है कि विश्व में इस एक पक्ष के अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं। परन्तु पाठक इस बात से सहमत होंगे कि ऐसा सचमुच कोई भी नहीं मान सकता कि केवल-मात्र विचार में ही सब कुछ आ जाता है। पाठक कहेगा कि कठिनाई तो इससे विपरीत मानने में है। दर्शन शास्त्र में चिन्तन या विचारणा होने से किसी स्वयं-विरोध के बिना विचार का अतिक्रमण करना कैसे सम्भव हो सकता है, क्योंकि सिद्धांत सभी वस्तुओं पर विचार-विमर्श तथा उनके विषयों में निर्णय कर सकता है। और इसलिए उनके विषय में चिन्तन करने से वे सभी वस्तुएँ उसके अन्तर्गत आ जाती हैं। अतः विचार में किसी द्वैत को मानना उसी क्रिया-द्वारा उसकी द्वैतता को नष्ट करना है। और उस पर आग्रह करना अपना ही विरोध करना है यह मानते हुए भी कि सत् को पूर्णतया अपनी सीमाओं में बाँधने की दृष्टि से, विचार हमें संतुष्ट नहीं कर सकता। यह तर्क उपस्थित किया जा सकता है कि जब तक हम विचार करते हैं, तब तक हमें इस मान्यता की उपेक्षा करनी पड़ेगी। और इसलिए प्रश्न यह है कि दर्शन का अन्त कहीं अनिश्चयवाद में—अर्थात् ऐसे प्रतिपादन की आवश्यकता में जिसको अस्वीकार करना भी उतना ही आवश्यक हो जाय—तो नहीं होता। समस्या गम्भीर है, और अब मैं उसका हल दिखाने का प्रयत्न करूँगा।

हम केवल-मात्र विचार के अतिरिक्त एक अन्य भी मानते हैं। अच्छा तो किस अर्थ

में ऐसा मानते हैं ? विचार एक निर्णय होने से हम कह सकते हैं कि विधेय और उद्देश्य कदापि एक नहीं हो सकते, क्योंकि उद्देश्य वह सत् है जिसको इदं रूप में (हम यह नहीं कह सकते कि केवल इदं रूप में) उपस्थित किया जाता है।

आप निश्चय ही प्रतीपत्ति से उसकी इयत्ता को अथवा उसकी अव्यवस्थित सम्वद्धता को पृथक् कर सकते हैं और आप प्रतिपादन की विशेषता को भी पृथक् कर सकते हैं। इनके विषय में आप कुछ विचार बना सकते हैं[1] क्योंकि ऐसा कुछ भी नहीं जिसके विषय में आप विचार न कर सकें। परन्तु आप देखते हैं कि ये विचार जिस उद्देश्य के विधेय होते हैं उससे तादात्म्य नहीं रख सकते। आप उद्देश्य के विधेय में सोच सकते हैं परन्तु आपको उससे मुक्त होना अथवा उसके स्थान पर केवल किसी विचार-तत्व को रख देना आपके लिए सम्भव नहीं, दूसरे शब्दों में व्यवहार में विचार सर्वदा ही किसी 'अन्यत्' की अपेक्षा रखता हुआ प्रतीत होता है।

अब प्रश्न यह है कि इससे कोई स्वयं-विरोध तो उत्पन्न नहीं होता यदि विचार किसी ऐसे तत्त्व की सत्ता का प्रतिपादन करता है जो कि विचार का कोई वास्तविक अथवा सम्भावित विषय न था, तो निःसन्देह मेरी समझ में यह प्रतिपादन स्वयं-विरुद्ध पड़ेगा। परन्तु जिस 'अन्यत्' का मैं प्रतिपादन करता हूँ वह कोई ऐसा तत्व नहीं है और न वह एक द्वितीय पृथक् कृत "किम्" है और न किसी प्रकार मैं यही सुझाव देता हूँ कि यह कोई बुद्धि के बाहर की बात है। प्रत्येक वस्तु सभी संकल्प और अनुभूतियों सहित विचार का विषय है और इसे बुद्धिगम्य कहा जाना चाहिए।[2] यह निश्चित है, परन्तु यदि यह बात है तो "अन्यत्" का क्या होता है ? यदि हम केवल "तद्" का भी आश्रय लें तो सत्ता स्वयं एक विचार-प्रसूत पृथक्करण प्रतीत होगा। और फिर हमारे सामने यह कठिनाई उपस्थित होती है—यदि उस 'अन्यत्' का कोई अस्तित्व है तो वह कुछ-न-कुछ अवश्य होगा, और यदि वह कुछ भी नहीं है तो निःसन्देह उसका कोई अस्तित्व नहीं।

एक वास्तविक निर्णय को लीजिए और इसी 'अन्यत्' की खोज में उसके अन्तर्गत उद्देश्य का परीक्षण कीजिए। इस प्रयत्न में तुरन्त ही हमारे सामने एक जटिलता उपस्थित हो जायगी। हमें सदा ही विधेय की अपेक्षा प्रतिपादित उद्देश्य में कुछ अधिक तत्त्व दिखायी देंगे, और इसलिए यह समझना कठिन है कि उद्देश्य में इस तत्वाधिक्य के अतिरिक्त और क्या है। फिर भी इसको छोड़ देने पर, हमें उद्देश्य में दो प्रमुख विशेष-

---

१. प्रिन्सिपल्स आफ लॉजिक पृ० ६४-९।

२. इस विषय पर देखिए आगे अध्याय १९ और २६।

ताएँ मिल सकती है उसमें प्रथम (क) तो एक ऐन्द्रिक असीमता है और (ख) दूसरे उसमें अव्यवहिति है।

(क) प्रतिपादित उद्देश्य में एक ऐसा विस्तार होता है जो असीमित होता है इससे मेरा यह अभिप्राय नहीं कि उसकी विशेषताओं की वास्तविक अनेकता किसी सीमित संख्या से पार निकल जाती है। मेरा अभिप्राय यह है कि यह विस्तार उद्देश्य से परे निकल जाता है और किसी वाह्य वस्तु से वह अनिश्चित रूप में सम्बद्ध होता है।[1] उसके प्रस्तुत तत्व में ऐसे सम्बन्ध होते हैं जो उसी तत्व के भीतर ही समाप्त नहीं हो जाते। और इसलिए उसकी सत्ता का अन्त उसमें नहीं होता, क्योंकि हमें इसकी प्राप्ति सदा ही हो सकती है। यदि एक रूपक का आश्रय लें तो कह सकते हैं कि उसके किनारे खुरदरे होते हैं जिससे यह अर्थ निकलता है कि उसको किसी अन्य सत्ता में से फाड़ा गया है। और उसकी सत्ता के बिना उनका वस्तुत: अस्तित्व ही नहीं हो'सकता। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि उद्देश्य के अन्तर्तत्व किसी सर्वगत पूर्णता की ओर संकेत कर रहे हैं। इधर विधेय स्वयं भी असीमता से मुक्त नहीं है क्योंकि उसका अन्तर्तत्व-पृथक्कृत और सीमित——अनिवार्यत: किसी वाह्य वस्तु के सम्बन्ध पर आश्रित है परन्तु उसमें उद्देश्य के सुबोध तथा अनिवार्य विस्तार का अभाव होता है, वह किसी वास्तविक प्रसंग के साथ नहीं अपितु निश्चित प्रसंग के साथ प्रस्तुत होता है। और इस प्रकार, कम-से-कम प्रकट रूप में, विधेय का अनन्तता से विरोध होता है।

(ख) एक भेद यह है और भेद अव्यवहिति का है। उद्देश्य किसी एक-मात्र स्वाश्रित सत्ता की विशेषताओं का दावा करता है। उसके भीतर 'किम्' और 'तद्' परस्पर पृथक् नहीं समझे जाते, अपितु उसके अन्तर्तत्व एक अद्वैत इकाई उपस्थित करते हुए बताये जाते हैं। 'किम्' का 'तद्' से पार्थक्य करके तथ्य से सत्य में परिणित नहीं किया जाता। वह किसी अन्य 'तद्' के अथवा स्वयं निज के विशेषण-विधेय के रूप में प्रयुक्त नहीं होता। और अव्यवहिति के इस स्वरूप की संगति अनन्तता से स्पष्टता नहीं है। सच पूछिए तो उनमें से प्रत्येक में व्यक्तित्व[2] का एक अधूरा आभास है। परन्तु उद्देश्य में स्पष्टत: ये दोनों ही परस्पर-विरोधी विशेषताएँ होती हैं, जब कि विधेय भी व्यक्तित्व की अपेक्षा करता है, परन्तु दूसरे ढंग से।

अब यदि उद्देश्य को विधेय में अनुपस्थित इन दो विशेषताओं से युक्त मानें और

---

१. यह अनुभव गम्य 'असीमित' वही 'सीमित' है जिसको हम अभी 'प्रत्ययात्मक' मान चुके हैं।

२. अध्याय १९ और २४ का सिद्धान्त।

यदि विचारैषणा का अभिप्राय उद्देश्य एवं विधेय के विभेदक तत्व को दूर करना समझें तो हमें हमारे 'अन्यत्' के स्वरूप की प्रतीति होने लगेगी। और अब हमें यह भी तुरन्त ज्ञात हो जाएगा कि उसकी "अन्यत्ता" को दूर करने के लिए क्या आवश्यक है ? उद्देश्य तथा विधेय दोनों ही समान रूप से सुधार स्वीकार करते हैं। विधेय के प्रत्यय तत्व का अव्यवहित व्यक्तित्व से संगति रखना आवश्यक है, और दूसरी ओर स्वसंगत होने के लिए उद्देश्य में परिवर्तन होना भी आवश्यक है। उसको स्वसंगत होना आवश्यक है और इसका अभिप्राय यह है कि वह एक सर्वगत व्यष्टि हो। परन्तु, ये सुधार असम्भव हैं। उद्देश्य का निर्णय के अन्तर्गत आना आवश्यक है, और उसमें सम्बन्धात्मक स्वरूप की छूत आ घुसती है। जिस स्वावलम्बन और अव्यवहिति का वह दावा करता है वह उसके अन्तर्तत्व में नहीं होता अतः आत्मप्रदर्शन के प्रयास में, यह तत्व उद्देश्य को वास्तविक सीमाओं के बाहर खींच ले जाता है और इस प्रकार, उद्देश्य को पूर्णतया आत्मसात् करने की दिशा में विचार का असफल होना अवश्यम्भावी है। उसकी असफलता का कारण यह है कि वह उद्देश्य को अपनी इयत्ता को अपने में आत्मसात् तथा समान करने में समर्थ नहीं होता। और दूसरी बात यह है कि विचार असफल इसलिए होता है कि वह स्वयं को सुधार नहीं सकता। क्योंकि यदि, असम्भव रूप में परिसमाप्त अन्तस्तत्व विधेय के ही अन्तर्गत हो, तो फिर भी विधेय में व्यवहिति की विशेषता नहीं आ सकती। थोड़ा-सा विचार मैं इन दोनों बातों पर करूँगा।

सबसे पहले प्रस्तुत हुए उद्देश्य को ले लीजिए। यह एक अव्यवस्थित पूर्णता होती है। जहाँ तक विषय बनाने का सम्बन्ध है वह गुणों तथा सम्बन्धों की एक अव्यवस्थित संगति के रूप में परिणत हो जाता है और विचार इस अव्यवस्थित संगति को एक व्यवस्थित तंत्र के रूप में परिणत करना चाहता है। परन्तु उद्देश्य को समझने के लिए, हमें एकदम न केवल काल से अपितु दिक् से भी परे जाना पड़ेगा। दूसरी ओर यह वाह्य सम्बन्ध समाप्त नहीं होते, और वे स्वभावतः समाप्त हो भी नहीं सकते। उनकी परिसमाप्ति न केवल अव्यावहारिक अपितु वह तत्वतः असम्भव भी है। और यह बाधा पर्याप्त है, परन्तु यह इतनी ही नहीं है। उन गुणों के भीतर जिनको हमने पहले सम्बन्धों के ठोस घेरों के रूप में ग्रहण किया, एक अनन्त प्रक्रिया चल पड़ती है। इस बात को समझने के लिए, हमें अन्त तक विवेचन करने के लिए बाध्य होना पड़ता है, और हम कभी भी स्वयं उस तत्त्व तक नहीं पहुँच पाते जो विविक्ति से परे हो अथवा हम इसी कठिनाई को दूसरे रूप में व्यक्त कर सकते हैं। हम न तो सगुण व्यंजकों को एक इकाई के स्वयं व्यक्त स्वावलम्बी तथा स्वयं-पूर्ण रूप में ग्रहण करते हैं, और न, दूसरी ओर, विवेचन करते समय हम सम्बन्ध तथा उसके व्यंजकों के बीच स्थित सम्बन्ध की अनन्त

खोज से ही बच सकते हैं।[1] इस प्रकार विचार को किसी समन्वित तंत्र में यह अन्तस्तत्व नहीं मिल सकता। और दूसरे, यदि वह मिल भी जाय, तो वह तंत्र उद्देश्य नहीं हो सकता। वह या तो सम्बन्धों की एक भूल-भुलैया होगी, ऐसी भूलभुलैया जो योजनाबद्ध हो और जिसके हम सदा चक्कर लगाते रहें, अथवा यह नहीं होगा तो उसका सम्बन्धात्मक रूप ही पूर्णतया नष्ट हो जायगा। प्रथम तो हमारी असम्बद्ध प्रक्रिया निःसन्देह सत्य को अपने सत् से विविक्त करेगी, क्योंकि वह ऐसी अवस्था से तभी बच सकती है जब वह हमें सहसा मूर्तिमती होकर प्राप्त हो और उद्देश्य तथा विधेय के बीच भेद को पूर्णतया दबा दें। परन्तु यदि इस प्रकार विचार अव्यवहित हो जाय तो वह अपना स्वरूप ही खो बैठेगा। वह फिर सम्बन्धों का एक तंत्र रह जायगा। अपितु एक व्यक्तिगत अनुभव-मात्र हो जायगा और वह 'अन्यत्' निःसन्देह विलीन हो जायगा, परन्तु विचार स्वयं भी उसी प्रकार अन्यत में कवलित और विलीन हो जायगा।

विचार का सम्बन्धात्मक अन्तस्तत्त्व कदापि उद्देश्य से तादात्म्य नहीं रख सकता, क्योंकि या तो उस उद्देश्य का आभास होगा अथवा उसका वास्तविक अस्तित्व, जो सत् प्रस्तुत होता है उसको विचार एक ऐसे रूप में ग्रहण करता है जो उसके स्वभाव के लिए पर्याप्त नहीं होता। और जिससे परे उसका स्वभाव एक अन्यत् के रूप में प्रतीत होता है। परन्तु अपनी समस्या के हल का पूर्ण प्रत्यक्ष करने के लिए यह स्वभाव भी वही स्वभाव है जिसकी अपेक्षा विचार अपने लिए करता है। यह एक ऐसी विशेषता है जो केवल मात्र चिन्तन भी अपने में रखना चाहता है और जो अपने सभी पक्षों में विचार के भीतर पहले से ही उपस्थित होती है, यद्यपि एक अधूरे रूप में। और हमारा मुख्य परिणाम संक्षेप में यह है। जो केवल मात्र सत्य-शोध को संतुष्ट कर सकें वह ऐसा करने में इसलिए समर्थ हो सकता है कि उसके भीतर सत् में पाई जाने वाली विशेषताएँ विद्यमान होती हैं। वह अवश्य ही एक अव्यवहित, स्वालम्बी, सर्वगत व्यष्टि होगी परन्तु इस पूर्णता को प्राप्त करने में। और इस प्राप्ति की क्रिया में विचार अपने निजी के स्वभाव को खो बैठेगा। विचार को अवश्य ही ऐसी विशेषता चाहिए, यही उसका निश्चित लक्ष्य है। परन्तु दूसरी ओर जब तक हम सम्बन्धों तक अपने को सीमित रखते हैं तब तक यह विशेषता नहीं प्राप्त हो सकती।

फिर भी यह कहा जा सकता है कि हम समस्या के हल से दूर हैं। हम यह भी सुन सकते हैं कि किसी बाह्य पूर्णता की अपेक्षा रखने का तथ्य विचार के लिए एक पुरानी कठिनाई है। यदि विचार को इसकी अपेक्षा है तो यह कोई 'अन्यत्' नहीं हो सकता

१. देखिये अध्याय ३।

क्योंकि हम उसी की अपेक्षा रखते हैं जिसको जानते हैं। इसलिए विचारापेक्षा का विषय कोई वाह्य वस्तु नहीं हो सकती, क्योंकि जो विषय हो जाता है वह फिर वाह्य वस्तु नहीं रह जाता। परन्तु हमारा उत्तर यह है कि हम ऐसे किसी भी शशपंज (दुविधा) के धरातल को भेद चुके हैं। विचार को अपने अन्तस्तत्व के लिए ऐसी विशेषता की अपेक्षा होती है जो सत् की सृष्टि करती है। यह विशेपता गृहीत हो जाने पर केवल-मात्र विचार को नष्ट कर डालती है। और इसी लिए वह एक ऐसी विशेषता है जो विचार से परे है परन्तु फिर भी विचार उसकी अपेक्षा कर सकता है क्योंकि उसके अन्तस्तत्व में वह पहले से किसी के पास है। स्वयं-विरोध उपस्थित नहीं होता। यही हमारी कठिनाई का हल है।

सम्बन्धात्मक स्वरूप एक ऐसा समझौता है जिसके ऊपर विचार स्थिर होता है और जिसको वह विकसित करता है। अनुभूत पूर्णता से विखरे हुए भेदों को एक सूत्र में करने का एक प्रयत्न है।[1] एक व्यापक तादात्म्य-द्वारा भेदों का बलात् एकत्रीकरण और अनेकता तथा एकता में एक समझौता––यही सम्बन्ध का सार हैं। परन्तु भेद स्वतंत्र रूप में रहते हैं, क्योंकि उनको अपने ही सम्बन्ध में विलीन नहीं किया जा सकता। यदि ऐसा हो तो वे नष्ट हो जायें और, उनके साथ उनका सम्बन्ध भी मिट जाय। अथवा दूसरे रूप में, उनकी बची हुई अनेकता फिर भी उनकी एकता में समन्वित नहीं हो पायगी, और इस प्रकार सम्बन्ध के भीतर एक अनन्तता उत्पन्न हो जायगी। दूसरी ओर सम्बन्ध व्यंजकों के वाहर नहीं रह सकता, क्योंकि ऐसी अवस्था में यह स्वयं ही एक नया व्यंजक वन जायगा, जो इसके आक्षेप को और अधिक बढ़ा देगा परन्तु वह व्यंजकों में भी अपने को विलीन नहीं कर सकता। यदि ऐसा हो तो फिर उनकी सर्व-सामान्य इकाई तथा सम्बन्ध कहाँ रहा? इस अवस्था में वे सम्वन्धित नहीं रहेंगे, अपितु अलग हो जायेंगे। इस प्रकार सम्पूर्ण सम्बन्धात्मक प्रत्यक्ष विभिन्न विशेषताओं से युक्त हो जाते हैं उनमें अव्यवहिति तथा स्वावलम्बन की विशेषता हो जाती है क्योंकि व्यंजक उसके लिए प्रस्तुत होते हैं और उसके द्वारा निर्मित नहीं होते। उसमें अनेकता की विशेषता भी होती है और आदिम अनुभूत पूर्णता के प्रतिनिधि के रूप में इसके अन्तर्गत एक व्यापक एकता की विशेषता होती है, एक ऐसी एकता जो भेदों के द्वारा निर्मित नहीं होती, अपितु बाहर से लादी जाती है और अपनी इच्छा के विरुद्ध भी इसके भीतर एक अविराम अनन्तता भी होती है, क्योंकि इस प्रकार अनन्तता उसके स्वयं व्यावहारिक समझौते का परिणाम होती है और इन विशेषताओं को स्थिर रखते हुए, विचार उनको

१. देखिए अध्याय ३।

एक समन्वय के रूप में परिणत कर देना चाहता है। उसका लक्ष्य एक ऐसी सर्वगत परिपूर्णता होती है जो अपने तत्त्वों के साथ कोई संघर्ष नहीं रखती । और तत्व एक स्वावलम्बी पूर्णता के आश्रित होते हैं। इसलिए न तो एकता का पक्ष और न अनेकता का पक्ष और न इन दोनों विशेषताओं के संयुक्त रूप का पक्ष ही विचार से वस्तुतः बहिर्गत है। एक पूर्णता प्राप्त करने, प्रत्येक वस्तु को आत्मसात् करने और साथ ही एक संघर्ष को अन्तर्हित रखने में तथा उससे ऊपर उठने की इच्छा करने में, विचार वस्तुतः किसी बाह्य वस्तु की अपेक्षा नहीं करता। परन्तु जैसा कि हम देख चुके हैं इस प्रकार की पूर्णता घातक सिद्ध होगी। इस प्रकार का परिणाम केवल-मात्र विचार को ही बलात् समाप्त कर देगा। इसके द्वारा प्रत्ययात्मक अन्तस्तत्व एक ऐसे समय में हो जायगा जो स्वयं सत् होगा और जिसमें केवल सत्य तथा केवल विचार निश्चित रूप से नष्ट हो जायेंगे। विचार अपने विषय में ऐसी परिपूर्ण विशेषता रखता है जिसकी पृथक्-पृथक् विशेषताएँ स्वयं उसमें पहले से ही विद्यमान होती हैं। इन विशेषताओं के पूर्ण एकीकरण की कल्पना और आंशिक अनुभव रखते हुए भी, वह इनका संतोषजनक ढंग से एकीकरण नहीं कर सकता। और यदि इस विषय को परिपूर्ण बल दिया जाय तो वह तुरन्त एक सत् में परिणत हो जायेगा। परन्तु साथ ही वह फिर एक विषय नहीं रह जायगा। विचार से परे, विचार की यही परिपूर्णता सदा एक 'अन्यत्' के रूप में विद्यमान रहती है। विचार एक ऐसे बोध की कल्पना कर सकता है जो प्रत्यक्षनुभूति जैसी कोई वस्तु हो और जो सम्बन्धात्मक प्रयत्नों-द्वारा अपेक्षित सभी विशेषताओं को आत्मसात करती हो। विचार इस बात को समझ सकता है कि अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिए उसे सम्बन्धातीत होना आवश्यक है। परन्तु फिर भी अपने स्वभाव में उसको आगे बढ़ने का अन्य कोई साधन नहीं मिलता। इसलिए वह देखता है कि किसी-न-किसी प्रकार से उसके स्वभाव का यह सम्बन्धात्मक पक्ष दूसरे पक्ष को आत्मसात् कर ले और उसमें विलीन हो जाय। इस प्रकार के विलीनीकरण से विचार को अपने निजी स्वरूप को खोकर उससे परे जाने के लिए विवश होना पड़ेगा। और विचार इसी विलीनीकरण के स्वरूप को एक अस्पष्ट सामान्यता के रूप में ही जान सकता है परन्तु विस्तारपूर्वक नहीं, और उसको इसका कारण भी ज्ञात हो सकता है कि एक विस्तृत बोध क्यों असम्भव है। इस प्रकार की पूर्वकल्पित स्वातिक्रान्ति एक 'अन्यत्' है परन्तु इस अन्यत् को व्यक्त करना कोई स्वयं-विरोध नहीं है।

इसी लिए हमारे परम सत् के भीतर विचार को अपना अन्यत्, बिना किसी असंगति के साथ मिल सकता है। सम्पूर्ण सत् केवल विचारित विषय होता है परन्तु वह इस तरह से विचारित होगा कि केवल-मात्र विचारणा भी उसमें लीन हो जायगी। यही सत्

पूर्णरूपेण संतुष्ट अनुभूति होगी। उसके प्रत्यक्ष बोध में, हमें वे सभी विशेषताएँ अधिक समृद्ध रूप में पुनः प्राप्त हो जाती है जो हमारी आदि अनुभूति पूर्णता के छिन्न-भिन्न हो जाने पर जाती रही थी। हमें साधारण बोध की व्यवहिति तथा शक्ति प्राप्त हो जाती है और अब उसमें असंगतियों के कारण एक अनन्त प्रक्रिया के रूप में परिणत होने के लिए विवश होना नहीं पड़ता। और ऐसे ही संकल्प भी पूर्णतः संकल्पित होकर हमारा परम सत् बन जाता है, क्योंकि उस अवस्था में हम विचार और सत् के ऐसे तादात्म्य पर पहुँच जाते हैं जो इतना अशक्त नहीं होता कि उसके तत्वों का विभाजन हो जाय अपितु इतना सूक्ष्म होता है कि उसके तत्वों का विभाजन न हो सके। अनुभूति विचार, और संकल्प सभी में ऐसी अपूर्णताएँ होती हैं जो किसी पूर्णतर की ओर संकेत करती हैं। परन्तु इस पूर्णतर की इकाई में किसी का भी कोई अंश नष्ट नहीं होता, क्योंकि प्रत्येक एक पक्षीय स्वरूप अपने को पूर्ण रूप में पाने के लिए, अपने से विपरीत प्रतीयमान वस्तु से जा मिलता है। और इस विलीनीकरण के परिणामतः सभी की समृद्धि बनी रह जाती है। हम अपने मानवीय दृष्टिकोण से कह सकते हैं कि उक्त प्रत्येक स्वरूप में एक सत् ऐसे रूप में विद्यमान था जो पर्याप्त नहीं कहा जा सकता। अपने पूर्ण स्वभाव को व्यक्त करने के लिए उसे इतने भेदों में जाना पड़ा। परन्तु प्रत्येक परम सत् में ऐसी परिणति की उत्कट आकांक्षा रहती है जो तभी हो सकती है जब कि आत्मा अपनी सीमाओं को तोड़कर किसी अन्य ससीम आत्मा से मिल जाती है। अन्यों में मिलने की द्योतक किसी परिपूर्णता के लिए जो आकांक्षा प्रत्येक तत्व में विद्यमान है उसे स्वयं-विरुद्ध नहीं कहा जा सकता। अपितु असंगति की उस वर्त्तमान अवस्था को दूर करने का प्रयत्न है जिसमें रहना निःसन्देह एक ध्रुव स्वयं-विरोध होगा।

अब, यदि यह आपत्ति की जाय कि ऐसा परम सत् वहाँ स्वयं वस्तु है तो मुझे सन्देह होगा कि आपत्ति करने वाले लोग समझ भी सकते हैं या नहीं। जो वस्तु सत् को अपने में अन्तर्हित कर सकती है उसको यह संज्ञा किस प्रकार दी जा सकती है, यह मेरे अनुमान की बात है, और यदि मुझसे यह कहा जाय कि इस पूर्ण इकाई में भेद हो जाते हैं और फिर भी उसमें भेद बने रहते हैं और इसी लिए इनको बाहर रहना आवश्यक है—तो मैं ऐसे आरोप का उत्तर एक तर्कहीन गोलमाल के प्रत्यारोप के द्वारा दूँगा, क्योंकि भेद नष्ट नहीं होते अपितु वे पूर्ण इकाई में अन्तर्हित होते हैं और यदि यह कहा जाय कि उसके अन्तर्गत इन अनेक पृथक्-पृथक् भेदों से कहीं अधिक वस्तुएँ होती हैं तो इससे यह सिद्ध नहीं होता कि वहाँ पर इन भेदों का अभाव है। जब कोई तत्व अनुभूति की किसी पूर्णता को दृष्टि में रखकर दूसरे से मिल जाता है, तो सामान्य रूप से और उस पूर्णता को लाने के लिए उनकी केवल-मात्र विशेषताओं का अस्तित्व नहीं रह जाना

चाहिए, परन्तु फिर भी अपने निज के आंशिक अनुभव में प्रत्येक तत्व अपनी निजी विशेषताएँ बनाये रख सकता है। यह कहा जा सकता है कि, ठीक है, परन्तु यह आंशिक अनुभव उस पूर्ण इकाई के सर्वथा बाहर ही होंगे। निःसन्देह ऐसा कोई भी परिणाम नहीं होता। अंग की आत्मचेतना पूर्ण इकाई से विपरीत भी अपने पृथक् सत्ता की अवगति-यह-सब एक व्यापक अनुभव के अन्तर्गत आ जायगा, क्योंकि इसके भीतर समन्वित रूप में समस्त आत्म-चेतना आ जायगी। यद्यपि इस रूप में वह रूपान्तरित तथा प्रति-हित होगी। मैं स्वीकार यह करता हूँ कि हम सम्भवतः ऐसे किसी अनुभव को अपने से सम्बद्ध नहीं कर सकते। हम इस बात की कल्पना नहीं कर सकते कि उसकी रूपरेखा विस्तार के साथ किस प्रकार पूरी की जा सकती है। परन्तु यह कहना हमारे बग की बात है कि वह अनुभव वास्तविक है और वह एक अद्वैत बोध के सजीव तंत्र में कुछ सामान्य विशेपताओं को मिला देता है। परम सत् की इस वास्तविकता के प्रतिपादन को मैं अन्त में ठीक सिद्ध करने की आशा रखता हूँ। यहाँ पर (यदि मैं असफल नहीं हुआ हूँ) मैं यह दिखा चुका हूँ कि कम-से-कम चिन्तन के दृष्टिकोण से यह स्वयं-विरोध से बिलकुल मुक्त है। विचार के लिए किसी अन्यत् का औचित्य स्वयं वस्तु को समझाने तथा समाप्त करने में सहायक हो सकता है।

सोलहवाँ अध्याय

त्रुटि (भूल)

अभी तक हमने उस परम सत् की रूप-रेखा को निर्धारित किया है जिसको स्वीकार करने के लिए हमें विवश होना पड़ा, और इस प्रसंग में, उस सामान्य पद्धति की ओर भी संकेत किया जिसके अनुसार विचार उसके अन्तर्गत आता है। अव हमें भयंकर आक्षेपों की श्रृंखला की ओर ध्यान देना है। यदि परम सत् स्वयं के विचार से सम्भव है तो वह, वस्तुओं की वास्तविकता को देखते हुए, वहुत कठिनाई से सम्भव प्रतीत होता है, क्योंकि ऐसे वहुत-से अनिषेधनीय तथ्य हैं जिनके साथ वह मेल नहीं खाता प्रतीत होता। त्रुटि और बुराई दिक्, काल, दैवयोग और नश्वरता तथा "इदं" और "मम्" की अद्भुत विशिष्टता—ये सभी एक व्यक्तिगत अनुभव के वाहर की वस्तुएँ प्रतीत होती हैं। इनको समझाने के लिए, इन मार्गों में से किसी एक का अवलम्बन लेना आवश्यक प्रतीत होता है। और फिर भी दोनों ही असम्भव प्रतीत होते हैं। और यह एक ऐसा विषय है जिस पर मैं चाहता हूँ कि मेरा मत स्पष्ट रूप से समझ लिया जाय। मैं प्रस्तुत की हुई दुविधा का तिरस्कार करता हूँ और इन दो मार्गों में से किसी को अपनाने की आवश्यकता के अस्वीकार करता हूँ। मैं तथ्यों को पूर्णतया स्वीकार करता हूँ, मैं उनके उद्गम को समझाने का तनिक प्रयत्न नहीं करता और इस प्रकार के समझाने की आवश्यकता को मैं वलपूर्वक अस्वीकार करता हूँ। प्रथम तो, यह दिखलाना नितान्त असम्भव है कि विश्व ऐसा क्यों है और किस प्रकार है, जिसमें सीमित सत्ता भी होती है। इसका अभिप्राय यह होगा कि एक ऐसी पूर्णता को भी माना जा रहा है जो कि एक अंश-मात्र के लिए व्यावहारिक नहीं है। इसका अभिप्राय यह होगा कि एक दृष्टि है जो कि ससीम ने परम सत् की व्यष्टि से अपनायी है और उस परिपूर्णता में ससीम छिन्न-भिन्न और नष्ट हो गया है परन्तु, दूसरी ओर ऐसा समझना पूर्णतया अनावश्यक है।

हमें एक ओर प्रत्येक वस्तु का कारण वतलाने तथा दूसरी ओर उसे परम सत् के सिद्धान्त के विरुद्ध एक प्रमाण स्वीकार करने में किसी एक को स्वीकार नहीं करना है। ऐसा विकल्प तर्क-संगत नहीं है। यदि सामान्य आधार पर स्थित किसी

व्यापक नियम का आप खंडन करना चाहते हैं तो केवल एसे तथ्यों को प्रमाण-रूप में उपस्थित करना व्यर्थ होगा जिनका कोई व्याख्यान नहीं किया जाता, क्योंकि इनको समझाने की असमर्थता किसी सूचना-विशेष के प्रसंग में असफलता-मात्र हो सकती है। और इसका इससे अधिक कुछ यह अर्थ निकालने की आवश्यकता नहीं कि हमारे नियम की अभी पुष्टि नहीं हुई है। कोई तथ्य सिद्धान्त के विरुद्ध आक्षेप तब बनते हैं जब वे उसके किसी अंग के साथ मेल नहीं खाते। जब कि, यदि वे बाहर रह जाते हैं तो इसका अभिप्राय विस्तार का अधूरा होना है न कि सिद्धान्त का झूठा होना। जिस बात को हम समझ नहीं पाते, उसके द्वारा कोई सामान्य सिद्धान्त नष्ट नहीं होता। वह तो केवल उसके द्वारा नष्ट होता है जिसको हम वस्तुतः समझते ही हैं और जिसको हम स्वीकृत मत के साथ असंगत तथा बेमेल सिद्ध कर सकते हैं।

और यही यहाँ वास्तविक प्रश्न है। जब तक कि केवल हम यह नहीं समझ पाते कि परम सत् त्रुटि और बुराइयों को किस प्रकार विस्तारपूर्वक अन्तर्गत करता है, तब तक त्रुटि और बुराई हमारे परम सत्-विषयक अनुभव के विरुद्ध प्रमाण नहीं माने जा सकते। वे तभी एक विरोधी प्रमाण के रूप में माने जा सकते हैं जब कि अर्थ प्रकृति को इस प्रकार समझा जाय कि उसका परम सत् से संघर्ष हो जाय। अब प्रश्न यह कि उनसे इस प्रकार समझना ठीक है कि नहीं? इसी स्थान पर मैं विश्वासपूर्वक तर्क उपस्थित करता हूँ। यदि इस विषय में ज्ञान का कोई दुराग्रह है तो मेरे विचार में वह आक्षेप-कर्ता की ओर से है। मैं तो यह मानता हूँ कि ससीम के उन विभिन्न स्वरूपों के विषय में हम कुछ भी नहीं जानते जो उस परम-सत् से असंगति रखते हुए दिखायी पड़ते हैं, जिनको स्वीकार करने के लिए हमारे पास सामान्य आधार है और मैं इस स्थिति की अस्वीकृति का सामना उस काल्पनिक ज्ञान की ओर संकेत करके करूँगा जो वस्तुतः अज्ञान है। यदि कोई सर्वज्ञता का दावा करता है तो वह स्वयं आक्षेपकर्ता है। वही असीम और ससीम दोनों को इस प्रकार समझने का दावा करता है जिससे वह उनकी पारस्परिक असंगति के विषयों में सुविज्ञ और सुनिश्चित प्रतीत होता है। और मेरा अनुमान है कि वह मानवीय अनुमान की सीमा को बहुत अधिक अतिमान्यता देता है। हम यह नहीं जान सकते कि ससीम का परम सत् के साथ संघर्ष है। और यदि हम यह नहीं मान सकते, और जो कुछ हम समझते हैं उसको देखते हुए, यदि दोनों अद्वैत तथा समन्वित हों, तो हमारा निष्कर्ष पूर्णतः सिद्ध हो जाता है। क्योंकि हमें एक सामान्य आश्वासन मिला हुआ है कि सत् का कोई एक स्वरूप होता है, और दूसरी ओर हम इस आश्वासन के विरुद्ध कुछ भी उपस्थित नहीं करते, अज्ञान के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं।

परन्तु जिस आश्वासन के विरुद्ध कुछ भी आक्षेप उपस्थित न किया जा सके उसे अवश्य ही स्वीकार किया जाना चाहिए और सर्वप्रथम मैं त्रुटि से प्रारम्भ करूँगा।

त्रुटि निःसंदेह एक भयंकर विषय है और प्रमुख कठिनाई निम्नलिखित है। एक ओर तो हम असत् और सत् में से किसी को भी स्वीकार नहीं कर सकते, जवकि दूसरी ओर त्रुटि दोनों में से एक भी होने को दृढ़तापूर्वक अस्वीकार करती है। वह एक तीसरी स्थिति के प्रतिपादन में निरंतर प्रयत्नशील है जिसका अस्तित्व कहीं नहीं दिखायी पड़ता, परन्तु जो फिर भी येन-केन-प्रकारेण स्वीकार की जाती है। असत् आभास में सत् के ऊपर एक ऐसी वस्तु का आरोप किया जाता है जो उससे सम्वन्ध नहीं रखती। परन्तु यदि आभास सत् नहीं है, तो वह झूठा आभास भी नहीं क्योंकि वह कुछ भी नहीं है। दूसरी ओर, यदि वह झूठा है तो वह इसलिए अवश्य एक सच्ची सत्ता है, क्योंकि वह एक ऐसी वस्तु है जिसका अस्तित्व है। और प्रथम दृष्टि में इस दुविधा का कोई हल नहीं दिखायी पड़ता। अथवा, दूसरे शब्दों में हम यह कह सकते हैं कि यदि किसी आभास का अस्तित्व है तो वह कहीं-न-कहीं अवश्य होगा। परन्तु झूठा होने से, त्रुटि परम सत् में नहीं हो सकती और, फिर, उसका सम्वन्ध ससीम विषय से भी नहीं हो सकता, क्योंकि अपने समस्त अन्तस्तत्वों-सहित वह परम सत् से वाहर नहीं जा सकता, यदि वह जायगा तो कम-से-कम वह कुछ भी नहीं रह जायगा और इसलिए त्रुटि का कोई घर नहीं, अस्तित्व में उसका कोई स्थान नहीं और फिर भी ये सव होते हुए भी उसका अस्तित्व होता है। और इसी कारण इसमें अनेक संदेह और कठिनाइयाँ उत्पन्न हो गयी हैं। मनोविज्ञान और तर्क विज्ञान के लिए समस्या कुछ सरल है। त्रुटि को गलत निष्कर्ष नहीं कहा जा सकता है, और एक ओर उसकी तुलना एक सामान्य आदर्श से की जा सकती है। जव कि दूसरी ओर हम यह दिखा सकते हैं कि उसका जन्म किस प्रकार होता है। परन्तु ये अनुसन्धान कितने ही मनोरंजक क्यों न हों, इनसे हमें अधिक सहायता नहीं मिल सकती और हमें समस्या का सामना और अधिक प्रत्यक्ष रूप से करना पड़ेगा। हमें प्रत्यय और सत् के विभाजन को अपना आधार वनाना पड़ेगा।

त्रुटि और झूठा आभास[1] एक ही है अथवा (यदि पाठक को इस पर आपत्ति है) वह कम-से-कम एक प्रकार का झूठा आभास तो है ही। आभास एक ऐसा अन्तस्तत्व है जो अपने अस्तित्व के साथ तादात्म्य नहीं रखता, वह एक ऐसा "किम्" है जो अपने "तद्" से विलग हो चुका है। और इस अर्थ में हम देख चुके हैं कि

---

१. देखिए अध्याय — २६।

प्रत्येक सत्य आभास है, क्योंकि उसमें हमें गुण की सत्ता से पार्थक्य मिलता है। जहाँ तक उसके अन्तस्तत्व का सम्बन्ध है, जो प्रत्यक्ष सत्य होता है, वह सत् का विशेषण होता है। यहाँ तक उसका सम्बन्ध पुनः सत्ता से हो जाता है। परन्तु किसी प्रत्यय का एक दूसरा पक्ष भी होता है, वह उसकी अपनी निजी सत्ता होती है जो उसके अपने अस्तित्व तथा विकार के रूप में प्रकट होती है। और एक अन्तस्तत्व के रूप में, कोई प्रत्यय अपने निजी अस्तित्व से एक घटना के रूप में पृथक हो जाता है। जब आप उपस्थापित पूर्णता को लेते हैं और एक अथवा अनेक विशेपताओं को उसका विधेयक बनाते हैं, तो हमारा निरूपण फिर भी ठीक उतरता है। क्योंकि विधेयक रूप में प्रयुक्त अन्तस्तत्व अपने ही अस्तित्व से पृथक हो जाता है। एक ओर तो वह अंगी से साधारण तादात्म्य खो बैठता है, और दूसरी ओर, वह जहाँ तक एक विशेपता-मात्र से दूसरे अन्य पृथक् तत्व के रूप में परिणत होता है वहाँ तक वह विधेय भी नहीं बन पाता। जब हम कहते हैं कि "शक्कर मीठी है" तो शक्कर में जिस मिठास का उल्लेख किया गया है वह मिठास शक्कर के पृथक नहीं होती और न हमारे मस्तिष्क में स्थित किसी दूसरी वस्तु में परिणत ही हो जाती है। वहाँ पर इस वस्तु की अपनी निजी सत्ता है, और उसको इसी रूप में शक्कर का विधेय बनाना स्पष्ट रूप से असंगत होगा। अतः अपने अस्तित्व के प्रसंग में, प्रत्यय सदा ही एक आभास-मात्र प्रतीत होता है। परन्तु अपनी व्यक्तिगत सत्ता से पार्थक्य की विशेपता उस अवस्था में सामान्यतः और भी सशक्त हो जाती है जिसमें कि प्रत्यय प्रतिपादन से ग्रहण नहीं किया जाता, अपितु स्मृति-द्वारा प्रदत्त होता है। जहाँ कहीं भी विधेय किसी विम्ब द्वारा प्रदत्त होता हुआ दिखाई पड़ता है वहाँ उस विम्ब का अस्तित्व कदापि विधेय होता दिखाई नहीं पड़ता। यह एक ऐसी वस्तु है जिसको निर्णय के बाहर ही छोड़ दिया जाता है, जिसकी नितान्त उपेक्षा की जाती है।

इसलिए आभास को, सत्ता से उसकी विशिष्टता का पार्थक्य, अथवा अव्यवहित एकता का एक 'तद् तता 'किम्' में विभाजन ही समझा जायगा। यह पार्थक्य आगे बढ़ कर एक विच्छेद अथवा दो एकान्त सत्ताओं के विभाजन में परिणत हो जाता है। जब एक अन्तस्तत्व अपनी निज की सत्ता से पृथक् होकर किसी ऐसे तथ्य से सम्बद्ध हो जाता है जो उसकी विशेपता को स्वीकार कर लेता है तो आभास सत्य हो जाता है। एक सत्य विचार का जहाँ तक अपनी निज की तथ्यात्मक अथवा घटनात्मक सत्ता से सम्बन्ध है वहाँ तक वह एक आभास है, परन्तु जब उसका सम्बन्ध किसी दूसरी ऐसी सत्ता से होता है जिसकी वह विशेपता बतलाता है, तो वह सत् होता है। इसके विपरीत, त्रुटि एक ऐसा अन्तस्तत्त्व है जो अपने निज की

सत्ता से पृथक हो गया है और ऐसी सत्ता से सम्बद्ध हो गया है जिसके साथ वह मेल नहीं खाता। वह केवल सत्ता-द्वारा किसी प्रत्यय का तिरस्कार है, जिसका अभिप्राय किसी पृथक्कृत प्रत्यय का अस्तित्व नहीं हो सकता। वह एक मुक्त हुए विशेष्य का प्रत्यावर्त्तन है[1]। इस प्रकार वह एक ऐसा आभास है जो न केवल आभासित होता है अपितु असत्य भी होता है। दूसरे शब्दों में इसको किसी प्रत्यय-मात्र की सत्ता के साथ मुठभेड़ कहा जा सकता है।

त्रुटि और सत्य तथा दोनों के भेद के सम्बन्ध में कुछ गम्भीर समस्याएँ हैं जो कि हमारे अन्वेषण को चुनौती देते हैं। इन-सब को मैं अगले अध्यायों के लिए उठा रखना अच्छा समझता हूँ। इसलिए यथा-सम्भव अपनी इस गवेषणा को सीमित कर दूंगा और केवल दो मुख्य प्रश्नों पर विचार करूँगा। त्रुटि एक ऐसी इयत्ता है जो कि न तो निज की सत्ता के साथ तादात्म्य रखती है और न उसे सत् का कोई विशेषण ही बनने दिया जाता है। यदि यह बात है तो हमारा यह निश्चित प्रश्न है कि (१) इसकी सत्ता के द्वारा क्यों नहीं स्वीकार किया जाता ? (२) उसका वस्तुतः सत्ता से क्या सम्बन्ध हो सकता है, क्योंकि हम देख चुके हैं कि यह अन्तिम निष्कर्ष आवश्यक है ?

१—सत् त्रुटि का तिरस्कार कर देता है क्योंकि वह स्वयं समन्वयशील होता है. और उसको अनिवार्यतः इसी रूप में समझा जाता है, जब कि दूसरी ओर त्रुटि स्वयं विरुद्ध है। मेरा यह अभिप्राय नहीं कि एक ऐसा अनस्तत्व है जो अपनी निज की सत्तामात्र से केवल तादात्म्य नहीं रखता[2] ? (यदि यह सम्भव हो तो) मेरा अभिप्राय यह है कि एक आदर्श के रूप में, उसका आन्तरिक स्वरूप स्वयं संघर्षशील तथा स्वयं-विरूद्ध है। परन्तु मैं त्रुटि को एक स्वयं-विरूद्ध विधेय न कहना ही अच्छा समझता हूँ, क्योंकि इसका अर्थ यह निकाला जा सकता है कि विधेय-मात्र में यह विरोध पहले से ही विद्यमान है, निर्णय का प्रयत्न करने से भी पूर्व, और यह बात यदि अकाट्य है तो, भ्रामक होगी। त्रुटि किसी सत् की एक विशेषता इस प्रकार से है कि परिणाम में उसमें एक असंगत अन्तस्तत्व रहता है जिसका तिरस्कार इसी

---

१. चाहे विशेषण की मुक्ति इसी विशेषण से हुई हो अथवा दूसरे से, इसमें अन्तर नहीं पड़ता।

२. अन्ततोगत्वा कोई भी विधेय तथा उद्देश्य समन्वयशील नहीं हो सकता।

३. यहाँ पर प्रतिपादित सिद्धान्त का २५ वें अध्याय में सुधार किया गया है वस्तुतः कोई भी ससीम विधेय तथा उद्देश्य वास्तव में स्वसंगत नहीं हो सकता।

कारण कर दिया जाता है। जहाँ पर अस्तित्व में एक ऐसा 'किम्' होता है जो अपने भीतर ही टकराता हो, तो वहाँ पर इस 'किम्' का विधेय एक त्रुटिपूर्ण निर्णय होता है। यदि एक सत् सुसंगत है और यदि उसको और अधिक निश्चयपूर्वक निर्धारित करने के प्रयत्न में कोई असंगति प्रविष्ट हो गयी है, तो प्रयत्न का यह आधिक्य एक भूल है, और सत् उससे अप्रभावित रहता है। फिर भी वह अप्रभावित एक-मात्र इसी अनुमान पर कहा जा सकता है कि असंगतिशील तत्त्व में उसका अपना स्वरूप किसी प्रकार से ध्वनित अथवा आविर्भूत नहीं होता, क्योंकि यदि यह बात न हो, तो समस्त परिणाम में असत्यता का दोष आ जाता है, और फिर सत् कदापि असंगति से मुक्त नहीं हो सकता।*

संभवतः त्रुटि विषयक इस सामान्य दृष्टि को अधिक स्पष्ट रूप से समझने के लिए कुछ संभावित आक्षेपों का उत्तर दे देना अधिक लाभदायक होगा। कुछ लोग त्रुटि को अनुभव-विरुद्ध, अथवा प्रस्तुत-मात्र का विरोधी समझते हैं। कभी-कभी आन्तरिक बिम्ब को ही बाह्य आलोचना समझ लेने के भ्रम को ही त्रुटि मान लिया जाता है। परन्तु ऐसी कोई भी दृष्टि निःसंदेह पूर्णतः थोथी है। यह एक अलग बात है कि किसी भी प्रस्तुत-मात्र वस्तु को पाना कठिन है और वस्तुतः विद्यमान आलोचन को सत्य की कसौटी के रूप में ग्रहण करना असंभव है। एक विचित्र पूर्वाग्रह बना हुआ है कि बाह्य आलोचना कभी असत्य नहीं होती और लोग इस बात को नहीं देख पाते कि 'आन्तरिक' वस्तु उसी प्रकार एक ठोस तथ्य है जिस प्रकार की एक बाह्य वस्तु। इन-सब पर कोई भी ध्यान न देते हुए, हम सम्पूर्ण आक्षेप को अस्वीकार कर सकते हैं, क्योंकि यदि प्रस्तुत में कोई ऐसा अन्तस्तत्त्व है जो कि समन्वयशील नहीं है तो इससे कोई प्रयोजन नहीं कि हम प्रस्तुत को किस अर्थ में ग्रहण करें। वह इयत्ता वास्तविक नहीं हो सकती। और इसलिए इसको या तो अस्वीकार करने अथवा प्रस्तुत में असंगति के अत्यन्ता भाव को प्रतिपादित करने के प्रयत्न को यों ही छोड़ा जा सकता है। परन्तु मैं इसी पर विचार करूँगा क्योंकि यह अधिक सुसंगत प्रतीत होता है। यह कहा जा सकता है कि हम विधेयों को केवल अपनी स्वेच्छा से लगा या हटा नहीं सकते। जब तक कि यह निरंकुश परिणाम प्रत्यक्ष रूप से स्वयं-विरुद्ध सिद्ध नहीं हो जाता, तब तक हम इसे असत्य मानेंगे। और मैंने यह नहीं कहा है कि हम ऐसा ही करें।

मात्र सत्य तथा त्रुटि के बाहर, निःसंदेह हम साधारण अज्ञान को ले सकते

---

* टिप्पणी के लिये पिछले पृष्ठ पर नं० ३ पद टिप्पणी देखें।

हैं।[1] इसका अभिप्राय यह है कि प्रत्येक अवस्था में कोई कथन ठीक होगा या गलत; परन्तु अभी हम यही मान लेते हैं कि फिर भी वह न गलत है न ठीक। दूसरी ओर, हम फिर भी नहीं जानते कि, यदि कोई कथन त्रुटिपूर्ण है, तो वह केवल इसीलिए है कि उसके अन्तस्तत्व भीतर-भीतर परस्पर टकराते हैं। कोई आक्षेपकर्त्ता कह सकता है कि वस्तुतः यह बात नहीं है। इस कथन को ले लीजिए कि किसी काल में कोई घटना घटी या नहीं घटी? यह त्रुटिपूर्ण इसलिए होगा कि तथ्य से यह मेल नहीं खाता, और इसलिए नहीं कि वह अपने में सुसंगत नहीं है। फिर भी मैं आग्रह करूँगा कि तथ्य के साथ असंगति होने को तिरस्कृत करने के लिए हमारे पास और भी कारण है। क्योंकि, यदि इस प्रकार के कारण को जाने भी दिया जाय, तो भी हम लोग, अथवा तथ्य स्वयं इस दोष के विरूद्ध कोई आपत्ति क्यों करें? मान लीजिये कि जब विलियम को फाँसी हुई, तो मैं कहूँ कि विलियम को नहीं जान को फाँसी हुई। इस अवस्था में मेरा कथन असत्य हो गया क्योंकि वास्तविकता दोनों घटनाओं को नहीं मानती, क्योंकि विलियम को फाँसी लगना निश्चित है। यदि यह बात है, तो इयत्ता की मेरी त्रुटि निःसंदेह इस बात में ही होगी कि मैंने वास्तविकता में एक ऐसे इयत्ता का प्रवेश कर दिया जो स्वसंगत नहीं है। क्योंकि यदि यह ऐसा न हो तो जब जान का सुझाव रक्खा जाय, तो मैं उस विचार को अस्वीकार नहीं कर सकता। मैं केवल यही कह सकता हूँ कि विलियम को तो निःस्संदेह फाँसी लगी, परन्तु वास्तविक व्यवहार में हम इस ढंग को अपनाते हैं "जान और विलियम दोनों ही" एक परस्पर असंगत इयत्ता उपस्थित होने से, यह कथन त्रुटिपूर्ण होगा—कम-से-कम जहाँ तक जान का सम्बन्ध है[3]। इसी प्रकार, जहाँ कोई भी मनुष्य न हो वहाँ पर आप आग्रह करें कि जान था, तो व्यक्तिगत निर्णय[4] के स्वरूप का कोई भी विवेचन किये बिना ही हम त्रुटि को समझ सकते हैं। आप सत् पर एक ऐसी वस्तु का आरोप कर रहे हैं जो उसको असंगति बना डालेगी, और इसीलिए जिसको त्रुटि-

---

१. विस्तृत व्याख्या के लिए देखिए अध्याय २७।

२ यहाँ पर प्रतिपादित सिद्धान्त का २५ वें अध्याय में सुधार किया गया है वस्तुतः कोई भी ससीम विधेय तथा उद्देश्य वास्तव में स्वसंगत नहीं हो सकता।

३. मैं यहाँ इस प्रश्न को नहीं उठाता कि विलियम (अथवा दोनों) के स्थान पर जाने को ही क्यों छोड़ दिया। इस विषय में देखिये अध्याय २४।

४. देखिए अध्याय २७।

पूर्ण कहा जाता है। परन्तु इस विषय पर अधिक चर्चा करना जितना सरल होगा उतना ही व्यर्थ भी। मैं विश्वास करता हूँ कि किसी भी विचारशील पाठक को हमारा मुख्य निष्कर्ष समझ में आ गया होगा। त्रुटि एक ऐसा विकार है जो स्वयं विरुद्ध तत्व के द्वारा उत्पन्न किया जाता है। यदि हम विधेय को सामान्य अर्थ में ग्रहण करें तो हमें अनिवार्य रूप से उसके भीतर असंगति या विरोध मानने की आवश्यकता नहीं। परन्तु जहाँ पर विकार के परिणाम में कोई असंगति दिखाई पड़ती है, वहीं पर हमें त्रुटि दृष्टिगोचर होती है। और अब मैं इस अध्याय की दूसरी प्रमुख समस्या को लेता हूँ।

२—प्रश्न त्रुटि और परम् सत् के पारस्परिक सम्बन्ध के विषय में है। यह कैसे सम्भव होता है कि एक असत् आभास सत् के भीतर प्रतीत हो? हमने किसी सीमा तक यह देख लिया है कि त्रुटि क्या वस्तु है, परन्तु हमें अपनी मूल समस्या का फिर भी सामना करना है। स्वयंविरुद्ध तत्व द्वारा प्रसूत विकार का तथ्य रूपेण अस्तित्व है, परन्तु फिर भी वह सत् कैसे हो सकता है? इयत्ता का यह स्वयं विरोध सत् में है भी और नहीं भी। परस्पर-सम्बद्ध तत्व, उनका संश्लेपण और अस्तित्व से उनका सम्बन्ध—ये ऐसी बातें हैं जिनसे छुटकारा नहीं मिल सकता। आप उनका तिरस्कार कीजिये, परन्तु आपका यह तिरस्कार उनके पूर्ण निरसन के लिये जादू का काम नहीं कर सकता। यदि उनका अस्तित्व नहीं होता, तो आप उन पर विचार नहीं कर सकते, और फिर भी आप निर्णय करते हैं कि उनका अस्तित्व नहीं है अथवा आप कहते हैं कि वे बिना किसी वास्तविक अस्तित्व के येन-केन-प्रकारेण प्रतीत होते हैं। इस उलझन से निकलने का क्या मार्ग है?

सम्पूर्ण तथ्यों को स्वीकार करने और फिर उनको शोधने तथा सुधारने के अतिरिक्त और कोई मार्ग नहीं। त्रुटि सत्य है, वह एक आंशिक सत्य है, वह केवल इसी लिए असत्य है कि वह आंशिक है और अधूरी रह गयी है। परम सत् बिना किसी न्यूनता के इन सभी गुणों को अपने में रखता है, और उसमें ऐसी प्रत्येक व्यवस्था है जिसका हम अपनी भूल-मात्र से आरोप करते हुए प्रतीत होते हैं। केवल भूल इस बात में है कि हम पूरक प्रस्तुत करने में असमर्थ हैं। सत् असंगति तथा असत्य आभास के बेमेलपन को स्वीकार करता है, परन्तु साथ ही उसमें इससे भी अधिक ऐसा कुछ है जिसमें ये विरोधी तत्व कवलित होकर एक समन्वय में विलीन हो जाते हैं। मेरा यह अभिप्राय नहीं कि केवल प्रस्तुत तत्व की पुनर्व्यवस्था-मात्र से ही हम उसके विरोधों को दूर कर सकते हैं, क्योंकि ससीम होने के कारण हम सर्व के सभी ब्योरों को नहीं समझ सकते। और हमें यह याद रखना चाहिये कि त्रुटिपूर्ण

माने जाने वाली प्रत्येक पुरानी व्यवस्था भी उसी ब्योरे का अंग-मात्र है। ससीम मस्तिष्कों के लिए विश्व के सभी तथ्यों को उनकी गुन-अगुन संधियों-सहित जानना असंभव है। और इसलिए यह स्पष्ट है कि हम असंगतियों के पुनर्गठन में नितान्त असमर्थ हैं। परन्तु सामान्य रूप से हम उस-सब की कल्पना कर सकते हैं जो कि विस्तार के साथ प्रदर्शित नहीं हो सकता। हम इस बात को नहीं समझ सकते कि परम सत् के भीतर एक समृद्ध समन्वय प्रत्येक असंगति-विशेष को कैसे आत्मसात् किये हुए है। परन्तु दूसरी ओर, हम निश्चयपूर्वक कह सकते हैं कि ऐसा परिणाम निकलता है और हम उस सफल सिद्धान्त का एक अधूरा रूप भी ग्रहण कर सकते हैं। मैं इस दूसरी बात की व्याख्या का प्रयत्न करूँगा।

विरोध से छुटकारा पाने का एक ही मार्ग है और वह मार्ग है विलीनीकरण का। इसके द्वारा हम एक पृथक्कृत उद्देश्य के स्थान पर एक विविधतापूर्ण बृहत्तर उद्देश्य को ग्रहण करते हैं, और इस प्रकार संघर्ष दूर हो जाता है। हम सर्वप्रथम 'क' को लेते हैं जिसमें 'ग' और 'ख' परस्पर असंगत गुण या विशेषण हैं, जिनमें संघर्ष है, और हम इस उद्देश्य के भीतर भेद उत्पन्न करके समन्वय उत्पन्न करते हैं। वस्तुतः वह केवल 'क' नहीं था, अपितु या तो 'क' के भीतर एक विविधता थी, अथवा एक बृहत्तर पूर्णता थी जिसमें 'क' समाविष्ट था। वास्तविक उद्देश्य 'क'+'घ' है, और इस उद्देश्य के अन्तर्गत जो विरोध है वह विभाजन-द्वारा निर्दोष हो गया है, क्योंकि 'क', 'ग' हो जाता है और 'घ' 'ख' हो जाता है। यह एक सामान्य सिद्धान्त है, और मैं इसे यहाँ एक विशेष रूप से लागू करने का प्रयत्न करूँगा। मान लीजिये कि सत् 'य' है (क ख ग घ ङ च—), और हम केवल इस सत् के आंशिक दर्शन ही कर पा रहे हैं। मान लीजिए कि सर्वप्रथम वह दृश्य "य" (क-ख) है। इसको (चाहे ठीक हो या गलत) हम सम्भवतः एक सच्चा दृश्य कहेंगे, क्योंकि ख नाम की इयत्ता स्पष्टतः उद्देश्य की है, और फिर आभास भी—दूसरे शब्दों में, विधेय के भीतर ख का पार्थक्य—आंशिक रूप में समझा जा सकता है, क्योंकि इसी पार्थक्य से मिलते-जुलते, हम उद्देश्य के भीतर एक-दूसरे विशेषण की कल्पना करते हैं, उसको हम 'ह' कह लेते हैं। अब वह 'तद्भाव', जो कि विधेय की मनोवैज्ञानिक सत्ता है और जिसकी पहले उपेक्षा कर दी गयी थी, वह भी उद्देश्य के अन्दर समाविष्ट हो गया है। इसी लिए अब हम उद्देश्य को य (क ख ह) रूप दे सकते हैं, और इस प्रकार हमें ऐसा लग सकता है कि हमने विरोध का निरसन कर कर दिया। इसी पद्धति पर हम और आगे जायँ, और, एक सत्य पर विचार करके, हम एक त्रुटि को भी ले लें। एक बार फिर उद्देश्य को य (क ख ग घ ङ च—) रूप में ग्रहण करें

का प्रेरक हो, क्योंकि आयात किये हुए बाहरी अनुभव के साथ आलोचनों का जो संघर्ष प्रत्येक अवस्था में होगा उसका निरीक्षण कितना शिक्षाप्रद तथा कितना मनो-रंजक होगा। जो व्यक्ति केन्द्र-स्थान से पर्यवेक्षण कर सके, उसके लिए संभवतः इस भयंकर संघर्ष के परिणाम की तुलना में कोई भी सत्य इससे अर्द्धसत्य न होगा। और यदि यह बात है तो त्रुटि का जन्म केवल एकांगिता तथा दोषपूर्णता से अथवा दूसरे शब्दों में, प्रत्येक प्राणी के 'इदं' और 'मम्' तक सीमित रहने से होगा।

परन्तु यह एक उचित आक्षेप होगा कि हमारा विवरण अधूरा होने से अग्राह्य है, क्योंकि त्रुटि केवल ऋणात्मक ही नहीं है। एकांगी और असंगतिपूर्ण इयत्ता अन्ततो-गत्वा एक धनात्मक असंगति के द्वारा एकत्र रहती है। और इसलिए परम सत् के भीतर तत्वों का अस्तित्व हो सकता है और अपने-अपने उद्देश्यों से उनके सम्बन्ध भी उनको सत्य सिद्ध करने वाले पूरकों के साथ, विद्यमान रह सकते हैं, और फिर भी समस्या सुलझती नहीं। क्योंकि सब-कुछ कह चुकने के बाद भी, त्रुटि के स्थान का सन्निवेश आंशिक तथा असंगत तत्व विषयक आग्रह में ही है, और यह असंगति-पूर्ण आग्रह किसी भी संभावित पुनर्व्यवस्था से बहिर्गत होगा। मैं इस आपत्ति को मानता तथा इसका समर्थन करता हूँ। त्रुटि की समस्या किसी भी सम्बन्ध-व्यवस्था के बढ़ा देने से हल नहीं की जा सकती। प्रत्येक दुर्व्यवस्था को किसी समन्वित तंत्र का पूर्णतः पूरक तत्त्व नहीं समझा जा सकता, क्योंकि प्रत्येक आभास में एक निर्धारित अर्थ और एक विशिष्ट स्वरूप होता है, और यह सब फिर भी बहिर्गत रहेगा। इसलिए, यद्यपि जो भी आभासित है उसका अस्तित्व येन-केन-प्रकारेण है, फिर किसी भी पुनर्व्यवस्था के द्वारा सभी बातों का उत्तर नहीं दिया जा सकता।

परन्तु दूसरी ओर परम सत् को कोई सम्बन्ध-तंत्र नहीं समझा जा सकता और न वह ऐसा है ही। यदि हम इसको मानकर चलें, तो सर्व में कोई समन्वित एकता नही हो सकती। यद्यपि कोई भी व्यवस्था निःसंदेह परम सत् की सत्ता का एक पर्दा मात्र है, फिर भी कोई भी व्यवस्था मात्र (परन्तु वह किसी भी व्यवस्था-मात्र से उसमें कितनी भी क्षतिपूर्ति क्यों न की गयी हो) से परे होगा। जैसा कि हम देख चुके हैं सत् एक सर्वश्रेष्ठ अनुभव है, उन-सब भेदों से जो उसके अन्तर्गत आते हैं और जिनका वह अतिक्रमण करता है, और, इस कथन-द्वारा, त्रुटि की परिणति के विरुद्ध जो अंतिम आपत्ति हो सकती है वह भी निराधार हो जाती है। त्रुटि का एकांगी आग्रह, बृहत्तर सम्बन्ध में लीन न हो सकने वाली तथा धनात्मक एकांगिता —यह-सब परम सत् के समन्वय में अज्ञात-रूपेण साधक होते हैं। यह एक दूसरा विस्तार होगा, जो प्रत्येक 'किम्' तथा 'तद्' तथा उनके सम्बन्धों के साथ-साथ, सर्व

में विलीन हो जायगा और अपनी पूर्णता को प्राप्त कर लेगा।

इस दृष्टि में फिर भी त्रुटि तथा सत्य-सम्बन्धी समस्याएँ हैं जिसपर, हम आगे चलकर विचार करेंगे। परन्तु मेरा अनुमान है कि असत्य आभास से सम्बन्ध रखने वाले मुख्य प्रसंग का निराकरण हो गया। यह कहना कि उसका अस्तित्व है और फिर भी वह ऐसा है, ये दोनों बातें वास्तविक नहीं है। उसकी व्यवस्था 'किम्' तथा 'तद्' की एक व्यापक पुनर्व्यवस्था के अन्तर्गत ही सच हो सकती है। त्रुटि सच तभी हो सकती जब उसकी कमी पूरी कर दी जाय। और उसकी धनात्मक एकांगिता भी सर्व के भीतर केवल एक तत्व के रूप में परिणत हो सकती है और उसी रूप में उसका अस्तित्व रहता है। त्रुटि अपना जो रूप ग्रहण करती है वह केवल वही नहीं है। और उसकी केवल एकांगिता एक आंशिक आग्रह-मात्र है, एक ऐसा आग्रह जो, न मालूम किस प्रकार, एक महत्तर जीवनी-शक्ति समृद्ध करता है। और यदि यह बात है, तो यहाँ तक सम्पूर्ण समस्या को निपटाया जा चुका है।

मैं स्वयं यह बात नहीं मानता कि समस्या के इस हल को, विस्तृत विवरण के अर्थ में प्रमाणित नहीं किया जा सकता। इसको एक ऐसा सिद्धान्त कह सकते हैं जिसका मैं प्रतिपादन करता हूँ और जिसके विषय में आग्रह करने की मेरी इच्छा है। हमारे लिए यह असंभव है कि हम प्रत्येक त्रुटि को लेकर यह दिखलाएँ कि सर्व में उसका समावेश कैसे होता है। विस्तार को छोड़ दें, तो भी इस बात को अनुभव करना असंभव है कि सामान्यतः सम्बन्धात्मक स्वरूप किस प्रकार विलीन होता है। परन्तु दूसरी ओर, मैं यह बात नहीं मानता कि हमारा हल दुर्बोध अथवा असंभव है। और यहाँ हमें केवल मात्र संभावना ही अपेक्षित है, क्योंकि हम देख चुके हैं कि परम सत् का एक समन्वित तंत्र के रूप में होना आवश्यक है। प्रथम तो हमने इस बात को सामान्य रूप से देखा और अब यहाँ पर त्रुटि के विशेष प्रसंग को लेकर, हम एक तथाकथित नकारात्मक उदाहरण का उत्तर दे रहे हैं। हमारे प्रति-पक्षी का दावा यह रहा है कि त्रुटि का स्वरूप हमारे समन्वय को असंभव बना देता है। इसके विपरीत हमने दिखा दिया कि उसको ऐसा कोई ज्ञान नहीं। हमने बतलाया कि कम-से-कम यह संभावना तो है ही कि त्रुटियाँ आत्म-सुधार कर लें। और इस रूप में एक उच्चतर अनुभव में विलीन हो जायें। परन्तु यदि यह बात है, तो हमें इस बात पर जोर देना आवश्यक है कि वे इस प्रकार विलीन हो जाती हैं और उनकी कमी पूरी हो जाती है। क्योंकि जिसकी संभावना है और एक सामान्य सिद्धान्त जिसको अवश्यम्भावी बतलाने के लिए हमें विवश करता है, उसका निस्संदेह अस्तित्व है।

सत्तरहवाँ अध्याय

बुराई

हम देख चुके हैं कि त्रुटि की संगति परम परिपूर्णता से बैठ सकती है और अब हम इसी परिणाम पर बुराई के विषय को लेकर भी पहुँचने का प्रयत्न करेंगे, बुराई एक ऐसी समस्या है जो गम्भीर कठिनाइयाँ उपस्थित करती है, परन्तु उसमें बुरे-से-बुरे तत्व समाविष्ट कर दिये गए हैं और उनका आधार विशुद्ध त्रुटि-मात्र है। 'स्वतंत्र संकल्प' के विषय में जो बात लागू होती है, वही यहाँ पर भी लागू होती है। कठिनाई का कारण यह है कि परम् सत को एक नैतिक व्यक्ति माना जाता है। यदि आप इस आधार पर चलते हैं, तो परम सत् के साथ बुराई का सम्बन्ध एक ऐसी दुविधा को लाकर खड़ा करता है जो किसी तरह दूर ही नहीं हो सकती। समस्या का उस अवस्था में कोई हल दिखायी नहीं पड़ता, परन्तु इसलिए नहीं कि वह समस्या अस्पष्ट अथवा किसी प्रकार से रहस्यमयी है। जिसमें वस्तुओं को यथार्थ रूप में देखने की तनिक भी बुद्धि तथा साहस है और जो दूसरों को अथवा स्वयं को उलझन में न डालने के लिए कृत-संकल्प है, उसके लिए निःसन्देह यह कोई विचारणीय प्रश्न नहीं है। समस्या की उस प्रत्यक्ष जटिलता का कारण यह है कि वह एक सुस्पष्ट स्वयं-विरोध पर आधारित है और यहाँ पर उसका विवेचन पूर्णतः अप्रतिबोधक होगा। हमें इसकी तभी चिन्ता होगी जब हमारे पास परम सत् को (शुद्ध-रूपेण) नैतिक मानने के लिए कोई कारण हो। परन्तु हमारे पास ऐसा कोई कारण नहीं है और आगे चलकर (अध्याय २५) हम इस बात को परिपुष्ट करने की आशा करते हैं कि नैतिकता (सामान्य रूप की) परम सत् में नहीं सिद्ध की जा सकती। और यह मानने पर, हमारी यह समस्या निःसन्देह अन्य अनेक समस्याओं की अपेक्षा अधिक बिगड़ी हुई नहीं कही जा सकती। इसलिए मैं पाठक से अनुरोध करूँगा कि वह सम्पूर्ण हिचकिचाहट तथा लज्जा को तिलांजलि दे दे। जिस प्रश्नों को हम उपस्थित करते हैं उनका उत्तर यदि सम्भव नहीं हुआ, तो निःसन्देह इसका यह कारण नहीं होगा कि वे नितान्त अस्पष्ट अथवा दुर्बोध हैं। इसका एक मात्र कारण यही होगा कि हमारे उपकरण अपर्याप्त हैं—परन्तु फिर भी हमें यह समझने का प्रयत्न करना है कि हमारा अन्वेषणीय विषय क्या है ?

हम सब जानते हैं कि बुराई के कई अर्थ हैं। इसका अर्थ (१) दुख, (२) लक्ष्य-प्राप्ति में असफलता तथा (३) विशेष रूप से अनैतिकता है। अन्तिम अर्थ का विस्तृत विवेचन एक अगले अध्याय तक के लिए स्थगित करना पड़ेगा, जहाँ हम ससीम व्यक्ति के परम सत् के साथ होने वाले सम्बन्ध पर अधिक अच्छी तरह विचार कर सकते हैं।

१—इस बात को कोई भी अस्वीकार नहीं कर सकता कि दुःख वास्तव में है, और कम-से-कम मैं तो स्वप्न में भी यह नहीं कह सकता कि वह एक बुराई नहीं है। परन्तु दूसरी ओर हम यह बात समझने में असमर्थ हैं कि दुख अपने निज रूप में परम सत् के अन्तर्गत कैसे रह सकता है ?[1] इसलिए यह मानते हुए कि दुःख का वास्तविक अस्तित्व है, प्रश्न यह होता है कि क्या उसके स्वरूप को बदला जा सकता है ? क्या एक उच्चतर इकाई में उसकी दुःखशीलता विलीन हो सकती है ? यदि यह बात है तो उसका अस्तित्व रहेगा, परन्तु समग्र रूप से विचार करने पर वह दुःख नहीं रह जायगा।

किसी सीमा तक, हम अपने वास्तविक जीवन में भी दुःख का निरसन देख सकते हैं। यह बिल्कुल निश्चित है कि हमारे छोटे-छोटे दुःख किसी बड़े सुमिश्रित सुख में प्रायः पूर्णतया विलीन हो जाते हैं और यह कहना कि ऐसे सभी प्रसंगों में वे नष्ट हो गये और बिलीन नहीं हुए निश्चित रूप से निराधार होगा। यह मानना कि एक स्थानीय दुःख के होते हुए भी समग्र रूप से हम सुखी नहीं हो सकते, वस्तुतः तथ्य के विरुद्ध है। एक मिश्रित अवस्था में, दुःख निःसन्देह हमें सुख की ओर से अलग खींचेगा, परन्तु फिर भी परिणाम में एक ऐसी अनुभूति रह सकती है जो पूर्णतया सुखद हो। परम् परिपूर्णता के विषय में भी एक इसी प्रकार की अवशेष की ही हम अपेक्षा करते हैं।

सचमुच अभी तक हमने निराशावादी को परास्त करने के लिए कुछ भी नहीं किया। वह उत्तर देगा कि, मैं एक अवशेष के अस्तित्व के विषय में आपके सामान्य निष्कर्ष को मानता हूँ। मैं इस बात से भी सहमत हूँ कि परिणाम में एक विशेषता विलीन हो जाती है। परन्तु, आपके मत के लिए यह एक दुर्भाग्य की बात है कि वह विशेषता वस्तुतः दुःख नहीं अपितु सुख है। विश्व को यदि उसके समग्र रूप में देखें तो वह दुःख-मात्र ही अनुभव करता प्रतीत होगा, और इस कारण वह एक बुराई-मात्र है। परन्तु

---

१. अध्याय १४। इस निष्कर्ष को बीसवें अध्याय में कुछ बदला गया है, परन्तु स्पष्टता की दृष्टि से मैं उसका यहाँ निरुपाधित रूप से व्यक्त करता हूँ। आगे चलकर पाठक जितना आवश्यक हो उतना सुधार इस अध्याय के निष्कर्ष में कर सकेगा।

यहाँ पर निराशावाद की परीक्षा करने का मेरा कोई विचार नहीं। ऐसा करने में हमें दोनों ओर के मनोवैज्ञानिक तर्कों का मूल्यांकन करना पड़ेगा, और इस सब का परिणाम मेरी समझ में निराशावाद के लिए घातक होगा। जिस विश्व को हम देखते हैं उसमें निष्पक्ष जाँच करने पर दुःख की अपेक्षा सुख अधिक मिलेगा, यद्यपि अवशेष की मात्रा का अनुमान करना कठिन और उसकी अत्युक्ति करना सरल है। फिर भी मैं यह स्वीकार करता हूँ कि इसको छोड़कर अन्य बातों में मुझे अपने निष्कर्ष पर अचल रहना चाहिए। मुझे फिर भी विश्वास करना चाहिए कि विश्व में सुख का आधिक्य है। इसके पक्ष में मेरी जो मान्यता है वह एक ऐसे सिद्धान्त पर आश्रित है जिससे बच निकलना मेरे लिए सम्भव नहीं (अध्याय १४) है। जब कि हमारा दृश्य जगत् संभवतः उस सत् का एक अत्यन्त क्षुद्र कण है। इसलिए हमारा सामान्य सिद्धान्त आधार-विशेष को बहुत बड़े अंश में महत्त्वहीन करने वाला कहा जा सकता है, और, यदि आवश्यक हो तो, मैं अपने पक्ष को बिना किसी जाँच के इसी तर्क पर आधारित कर सकता हूँ। परन्तु इसके विपरीत, ऐसी कोई आवश्यकता नहीं है। दृष्ट तथ्य व्यापक रूप में स्पष्टतया किसी सुखविशेष को प्रमाणित करते हैं। मुख्यतः वे हमारे निष्कर्ष का समर्थन करते हैं, और निराशावाद को बिना किसी हिचकिचाहट के ठुकराया जा सकता है।

अभी तक हमने देखा कि परम सत् के अन्तर्गत दुःख के समाप्त होने की संभावना है। हम यह भी दिखा चुके हैं कि किसी सीमा तक इस संभावना को अनुभव से सिद्ध किया जा सकता है। और एक वास्तविक सुखावशेष के पक्ष में हमारी एक सामान्य मान्यता है। इसलिए जिस प्रकार त्रुटि के प्रसंग में माना उसी प्रकार यहाँ भी संभावना को पर्याप्त कहा जा सकता है, क्योंकि जिसकी संभावना है और जो हो भी सकती है, तो वह निःसन्देह है भी।

संभवतः ऐसे पाठक भी होंगे जो और आगे जाना चाहते होंगे। यह प्रतिपादित किया जा सकता है कि परम सत् में न केवल दुःख विलीन हो जाता है, अपितु वह सहानुभूति की तीव्रता के लिए एक विभाव का कार्य करता है। और निःसन्देह यह बात होगी भी। परन्तु, इसके एक तथ्य-रूप में स्वीकार करने के लिए मुझे कोई पर्याप्त कारण मालूम नहीं पड़ता। परम सत् के भीतर संभवतः ससीम आत्माओं के बाहर कोई सुख नहीं (अध्याय २७) और इस बात का अनुमान करने के लिए कोई कारण नहीं कि जिनको हम जानते हैं उनकी अपेक्षा जिनको हम नहीं देख पाते, वे अधिक सुखी हैं। इसलिए यद्यपि ऐसी संभावना है, फिर भी उसको और अधिक प्रतिपादित करना उचित न होगा, क्योंकि जहाँ तक हमारे सिद्धान्त के लिए अपेक्षित है उससे आगे जाने का हमें कोई अधिकार नहीं। परन्तु, यदि शुद्ध सुख का कोई अवशेष रहता है तो उस सिद्धान्त

की पुष्टि हो जाती है, क्योंकि उस अवस्था में परम सत् की परिपूर्णता के मार्ग में कोई बाधा नहीं रह जाती। यह समझना एक भूल है कि मात्रा के आधिक्य से पूर्णता और अधिक पूर्ण हो जाती है। (अध्याय २०)

२—अब बुराई को बर्बादी, असफलता, तथा गड़बड़ी के रूप में ले लीजिए। समस्त विश्व बहुत हद तक केवल दैवयोग का खेल मालूम पड़ता है। प्रकृति और जीवन एक ऐसे संघर्ष को प्रकट कर रहे हैं जिसमें संभवतः एक लक्ष्य की प्राप्ति होती है और सैकड़ों अप्राप्त रह जाते हैं। एक यह पुरानी शिकायत है, परन्तु इसका उत्तर एक विपरीत सन्देह में यदि नहीं है, तो स्पष्ट है कि जिस अर्थ में हम बुराई शब्द को इस समय ग्रहण कर रहे हैं उस अर्थ में इसका अस्तित्व ही नहीं है। परन्तु, जब तक हम थोड़ा-बहुत यह नहीं समझ लेते कि 'प्रकृति' से हमारा अभिप्राय क्या है तब तक के लिए हमें इस सन्देह पर सोच-विचार स्थगित करना पड़ेगा।[1] अभी तो मैं उसी दृष्टिकोण को मान लेता हूँ जो प्रथम तो प्रकृति में लक्ष्यों की कल्पना करता है, और फिर आपत्ति करता है कि वे लक्ष्य असफल हैं। और मैं समझता हूँ कि इस प्रकार की आपत्ति का निवारण करना कठिन नहीं है। हम उत्तर में कह सकते हैं कि असफल होने वाले लक्ष्य वस्तुतः हमारे द्वारा छाँटे गये हैं और यह भी न्यूनाधिक त्रुटिपूर्ण ढंग से। जिस रूप में हमने उनको ग्रहण किया है वे अत्याधिक एकांगी हैं, और यदि उनको बृहत्तर लक्ष्य में सम्मिलित कर लिया जाय जिसके प्रति वे सापेक्षित हैं तो वे असफल नहीं रह जाते। संक्षेप में वह एक बृहत्तर तंत्र के आश्रित हैं, और उसी में उनकी प्राप्ति हो सकती है। यहाँ पर बुराई के विषय में भी वही बात आती है जो कि पहले त्रुटि के विषय में आयी। वह जिस उच्चतर सत्य के आश्रित थी और जिसमें वह इस रूप में विलीन हो गयी थी उसी में वह खोई हुई थी। और प्रकृति अथवा मानव-जीवन में सहमति नहीं है और इसी बेमेलपन को हम बुराई कहते हैं। परन्तु जब इन दोनों पक्षों को बतलाया जाता है और प्रत्येक को अधिक विस्तार से ग्रहण किया जाता है, तो दोनों ही भली भाँति त्रिकट हो सकती हैं। निःसन्देह मेरा अभिप्राय यह नहीं कि प्रत्येक ससीम लक्ष्य अपने निजी रूप में प्राप्त हो जाता है। मेरा अभिप्राय यह है कि वह एक ऐसे बृहत्तर प्रत्यय में खोकर एक तत्व बन जाता है जो कि अस्तित्व के साथ तादात्म्य रखता है। और जैसा कि हमने त्रुटि के प्रसंग में देखा, हमारी एकांगिता, हमारा आग्रह और हमारी निराशा, एक भी येन-केन-प्रकारेण किसी सामान्य के आश्रित हो सकते हैं, और उसको

---

१. प्रकृति में लक्ष्यों या उद्देश्यों की उपस्थिति के प्रश्न के लिए देखिए—अध्याय २२ और २६।

पूर्ण करने में सहायक हो सकते हैं। प्रत्यय-पक्ष और अस्तित्व-पक्ष दोनों एक ऐसी विशाल परिपूर्णता में संयुक्त हो सकते हैं, जिसमें बुराई और लक्ष्य तक भी विलीन हो सकते हैं। इस परिपूर्णता की जाँच करना, और यहाँ तक देखना, कि विस्तार के साथ यह कैसे सम्भव है, समान रूप से, असम्भव है। परन्तु यह-सब होते हुए भी अपनी सामान्य कल्पना में यह बुद्धिगम्य तथा सम्भव है और परम सत् के परिपूर्ण हो जाने से इस समन्वय का अस्तित्व होना भी ध्रुव है, क्योंकि जो वस्तु संभव और आवश्यक है, उसको हमें वास्तविक भी मानना पड़ेगा।

३—नैतिक बुराई हमारे सामने कुछ और कठिनाइयाँ उपस्थित करती है। यहाँ पर केवल उस आन्तरिक प्रत्यय के वाह्य अस्तित्व में होने वाली असफलता अथवा दोष का ही केवल प्रश्न नहीं है जिसको कि हमने लक्ष्य के रूप में स्वीकार किया है। इसके आगे हमारा सम्बन्ध एक निश्चित संघर्ष तथा विरोध से भी है। हमारे सामने किसी उद्देश्य के अन्तर्गत एक कल्पना है। एक ऐसा लक्ष्य है जो सत्ता होने के लिए प्रयत्न-शील है, और दूसरी ओर हमारे सामने उसी उद्देश्य का अस्तित्व है यह अस्तित्व न केवल संगति रखने में असफल होता है, अपितु विपरीत दशा में प्रयत्नशील हो जाता है। और इस प्रकार एक संघर्ष का अनुभव होता है। हमारे नैतिक अनुभव में इस सम्पूर्ण को सदैव तीन रूप में प्रस्तुत पाते हैं। हम अपने भीतर अच्छे और बुरे संकल्पों के बीच एक संघर्ष तथा बुराई की नियताप्ति का अनुभव करते हैं। इतना ही नहीं, यदि हम चाहें तो कह सकते हैं कि यह बेमेलपन आवश्यक है क्योंकि बिना इसके नैतिकता पूर्णतया नष्ट हो जायगी। द्वन्द्व-भाव की इस आवश्यकता से हमें अपनी समस्या के केन्द्र में ले जाने वाला मार्ग दिखायी पड़ जाता है। नैतिक बुराई का अस्तित्व केवल नैतिकता के अनुभव में है, और वह अनुभव वस्तुतः असंगतिपूर्ण है, क्योंकि बुराई को पददलित करके नैतिकता अनजान में पूर्णतया अनैतिकता (नान मोरल) होना चाहती है। मैं अवश्य ही इस लक्ष्य से सिहर उठूँगा, परन्तु वह इस प्रकार अनजान में बुराई के अस्तित्व तथा निरन्तरत्व की इच्छा करता है। मैं इस विषय को आगे चलकर फिर लूँगा (अध्याय २५), और अभी तो मैं केवल इसी बात पर जमूँगा कि स्वयं नैतिकता, जो बुराई की जननी है, बुराई-द्वारा अपने निज के अस्तित्व की एक उपाधि को दूर करवाना चाहती है। वह वस्तुतः एक अतिनैतिक और इसलिए एक अनैतिक क्षेत्र में चले जाने के लिए प्रयत्नशील है।

परन्तु यदि हम इसका और अनुसरण करें और इसी प्रवृत्ति को स्पष्ट रूप से अपना लें, तो हमारी कठिनाइयों का निराकरण स्वतः हो जाय, क्योंकि बुराई के रूप में तथा भलाई के विपरीत जिस इयत्ता की संकलपना की गयी है, वह वृहत्तर अवस्था के अन्तर्गत

एक तत्त्व के रूप में प्रविष्ट हो सकता है। जैसा कि हम कहते हैं (प्रायः साभिप्राय न होते हुए भी) बुराई को दबा दिया जाता है और वह गौण रूप ग्रहण कर लेती है। वह एक बृहत्तर शुभ लक्ष्य में सम्मिलित होकर उसमें योग देने लगती है, और इस अर्थ में वह अन्ततः में शुभ हो जाती है। वह नैतिक संकल्प के ही समान शुभ है या नहीं, और है, तो किस हद तक, यह एक ऐसा प्रश्न है, जिसकी चर्चा आगे की जायगी। यहाँ पर हमें जो समझने की आवश्यकता है, वह यह है कि 'दैवयोग' (यदि हमारे लिये यह कहना संभव हो तो) एक साहसिक तथा अविचारी षड्यंत्रकारी के रूप में जितना सफल हो सकता है उतना ही ढूँढ़-ढूँढ़कर दाँव रखने वाले अथवा निर्दोष रूप में भी, क्योंकि उच्चतर लक्ष्य अति-नैतिक है, और यहाँ पर हमारा नैतिक लक्ष्य सीमित रहा है, और इसलिए अधूरा है। यदि समन्वय को अत्यधिक विस्तृत बना दें तो बुराई के साथ-साथ सारा द्वन्द्व उसी प्रकार समाप्त हो सकता है जिस प्रकार पहले भौतिक बुराई के प्रसंग में हुआ। परन्तु यह कहना ठीक ही होगा कि नैतिक बुराई से हमें कुछ अतिरिक्त वस्तु भी मिलती है। हमें वहाँ केवल अधूरे लक्ष्यों का तथ्य-मात्र या उनका एकाकीपन ही नहीं मिलता, अपितु उनके अतिरिक्त अन्तरात्मा में अनुभूत एक निश्चित संघर्ष की भी प्राप्ति होती है, और इसको यों ही नहीं टाला जा सकता, क्योंकि इसको परम सत् के अन्तर्गत होना पड़ता है और वहाँ वह एक ऐसा संघर्ष उत्पन्न कर देता है जो अविरत रहता है। परन्तु हमारा पुराना सिद्धान्त सम्भवतः फिर भी इसी आपत्ति को दूर करने में सहायक हो सकता है। यह द्वन्द्व और संघर्ष संभवतः किसी पूर्णतर अनुभूति का एक तत्त्व हो सकता है। जिस प्रकार एक यंत्र में अंगों का विरोध और दबाव एक ऐसे लक्ष्य के अधीन हो जाता है, जो उनमें से प्रत्येक से परे होता है, उसी प्रकार एक अत्यधिक उच्चस्तर पर वह संभवतः परम सत् के साथ भी हो सकता है। न केवल वह संघर्ष अपितु उसकी सहगामिनी तथा सहवर्तिनी अनुभूति-विशेष भी एक सर्व-व्यापी परिपूर्णता के अन्तर्गत ली जा सकती है। हम नहीं जानते हैं कि यह कैसे किया जाता है, और कुकल्पना से गढ़े हुए रूपक (यदि उनको गढ़ना संभव हो) भी उसके स्वरूप का व्याख्यान करने में सहायक नहीं होंगे, क्योंकि वह व्याख्यान सम्बन्धशील पदों के रूप को ग्रहण करने लगेगा और जैसा कि हम देख चुके हैं परम सत् में उस रूप का अवश्य ही अतिक्रमण हो जाता है। फिर भी अस्तित्व का एक परिपूर्ण प्रकार हमारी बदलनेवाली असंगतियों में समन्वय स्थापित कर सकता है। और मैं नहीं जानता कि इस प्रकार के समन्वय की संभावना को कैसे अस्वीकार किया जा सकता है? परन्तु यदि यह सम्भव है तो पहले की तरह ही यह निस्सन्देह वास्तविक है, क्योंकि एक ओर तो हमारे पास उसको स्वीकार करने के लिए एक प्रबल कारण है, जब कि दूसरी ओर,

जहाँ तक मैं समझता हूँ, अस्वीकार करने के लिए हमारे पास कुछ भी नहीं है।

सरसरी तौर से मैं एक दूसरी बात का भी उल्लेख करूँगा और यह है—व्यष्टि का वह अद्वितीय भाव जो कि बुराई में तीव्रता के साथ अनुभव किया जाता है। परन्तु इसका विवेचन मैं तब तक के लिए स्थगित करता हूँ जब तक कि हम 'मम्' तथा 'इदं' की समस्या पर प्रहार नहीं करते (अध्याय १९) और मैं यहाँ पर आपत्ति के एक दूसरे स्रोत के विषय में कुछ शब्द कह कर समाप्त करूँगा। यहाँ एक ऐसी चेतावनी है जो पाठक को दे देना मेरे लिए अनुचित न होगा। हमने इसी प्रकार का तर्क विभिन्न विषयों के प्रसंग में कई बार पहले भी दिया है। हम बार-बार कह चुके हैं कि परम सत् में सभी भेद एकत्र होते हैं। उसके अन्दर सभी भेद-भाव न मालूम किस प्रकार विलीन हो जाते हैं और सभी सम्बन्ध मिट जाते हैं। और इस प्रसंग में एक आपत्ति है जो सम्भवतः किसी अवस्था में सुसंगत प्रतीत हो चुकी है। यह कहा जा सकता है कि, हाँ, यह हद से ज्यादा सच है कि तमाम भेद-भाव दूर हो जाते हैं। प्रथम तो एकास्तित्व के प्रसंग में और उसके पश्चात् दूसरे अस्तित्व के प्रसंग में वही पुराना तर्क उपस्थित किया जाता है और वही पुराना गुरू लागू किया जाता है। इस हल में कोई विविवता नहीं है। और इसलिए प्रत्येक अवस्था में परम सत् को विविधता नहीं मिल पाती। इन भेदों के साथ-साथ समस्त विशिष्टता पूर्णतया चली जाती है। और परम सत् एक रिक्त अवशेष अथवा वस्तु-मात्र होकर नितान्त बहिर्गत कूटस्थ सा रह जाता है। यह एक गम्भीर मिथ्या धारणा होगी। यह सच है कि हम यह नहीं जानते कि परम सत् सम्बन्धात्मक स्वरूप को कैसे अभिभूत करता है। तो अवशेष में सचमुच कोई न्यूनता आ जाती है। यह सच है कि हम प्रत्येक समस्या के प्रसंग में यह नहीं कह सकते कि उसकी विशिष्ट असंगतियों का समन्वय किस प्रकार किया जाता है। परन्तु इसका आशय क्या यह है कि परम सत् में विविध अन्तस्तत्वों की वास्तविकता को अस्वीकार किया जा रहा है। यदि हम विस्तारपूर्वक यह नहीं कह सकते कि प्रत्येक हल का इदमित्थम् क्या है तो क्या हम यह कहने के लिए विवश हैं कि सम्पूर्ण विविवता और विस्तार समाप्त हो गया है। और हमारा परम सत् रिक्तता की एक सुनसान इकाई बन गया है। यह निःसन्देह तर्क-संगत नहीं होगा, क्योंकि यद्यपि हम प्रत्येक प्रसंग में यह नहीं जानते कि हल का क्या स्वरूप है परन्तु यह हमको ज्ञात है कि प्रत्येक प्रसंग में परम सत् के अन्तर्गत सम्पूर्ण विविवता आ जाती है। हम यह नहीं जानते कि परम सत् के भीतर यह सभी एकांगी इकाइयाँ किस प्रकार एकत्र हो जाती हैं, परन्तु संभवतः यह निश्चित है कि उनमें से किसी की भी इयत्ता विनष्ट नहीं होती। प्रत्येक असंगति और सम्पूर्ण विविधता परम सत् में आकर उसको और अधिक समृद्ध करती है। और यदि हम उसमें किसी कमी का

अनुभव करते हैं तो वह केवल हमारा अज्ञान है। हम परम सत् की समृद्धता के ठोस रूप को तो स्थिर नहीं कर सकते परन्तु प्रतीयमान अस्तित्व के प्रत्येक क्षेत्र को लेकर हम यह कह सकते हैं कि परम सत् में इतनी समृद्धि और है। आपत्तियाँ और समस्याएँ एक-एक करके, केवल टाली नहीं जातीं, अपितु प्रत्येक सत् के स्वरूप में एक निश्चित वृद्धि के रूप में उन्हें स्वीकृत किया जाता है। इस प्रकार कोई मनुष्य संभवतः उस निश्चित रूप को न जानता हो, जिसमें कि उसकी सामग्री उसको प्राप्त हो रही हो, परन्तु फिर भी बौद्धिक रूप से उसको यह आश्वासन दिया जा सकता है कि जैसे-जैसे उसकी दृश्य सम्पत्ति उससे अलग होती जाती है वैसे-वैसे उसे किसी अज्ञात ढंग से वह सम्पत्ति उसे एक श्रेष्ठतर रूप में मिलती जाती है।

अठारहवाँ अध्याय

दिक् तथा काल का आभास

दिक् और काल दोनों को ही आभास-रूप में दिखाया जा चुका है। हमें दोनों में ही ऐसे अन्तर्विरोधी मिले हैं कि उनमें से किसी सत् के विषय में कुछ कह सकना अनावश्यक हो गया। दिक् और काल आभास-मात्र हैं, और यह निष्कर्ष ध्रुव है। परन्तु दूसरी ओर, उनका अस्तित्व भी है, और दोनों का समावेश किसी-न-किसी प्रकार चरम सत् में होना चाहिए। फिर भी इस संभावना में सन्देह प्रकट किया जा सकता है।

यहाँ निःसन्देह मेरा यह उद्देश्य नहीं है कि मैं यह दिखाऊँ कि दिक् और काल किस प्रकार आभास-रूप ग्रहण करते हैं और परम सत् में वे किस प्रकार बिना किसी अन्तर्विरोध के, सद्रूप हो सकते हैं। मेरा विश्वास है कि ऐसा कुछ भी होना संभव नहीं और जिस बात पर आग्रह करना चाहता हूँ वह यह है कि ऐसे ज्ञान की आवश्यकता नहीं। हमें केवल यही जानना वांछनीय है कि इन आभासों की हमारे परम सत् के साथ संगति नहीं बैठती। उनको हमारे-जैसे किसी भी सत् के लिए घातक बतलाया है और इसके उत्तर में हम कह सकते हैं कि यह आपत्ति एक भूल पर आधारित है। दिक् और काल से ऐसा कोई निष्कर्ष नहीं निकलता जिससे यह कहा जा सके कि परम सत् असम्भव है। और इस प्रसंग में भी हम उसी पुराने तर्क को दुहरा सकते हैं। परन्तु सत् सचमुच वास्तविक है क्योंकि प्रथम तो आभास का विलीनीकरण ऐसे समन्वय में होना संभव है जो उनको अपने में अन्तर्हित कर सके और अपने को दोनों से अतिक्रान्त कर सके। परन्तु आइए, हम इन आभासों का निरीक्षण और सूक्ष्मता से करें। और सर्वप्रथम काल पर विचार करें।

काल के उद्भव की समस्या को उठाना आवश्यक नहीं। मेरी समझ में कालातीत तत्वों से उसका मनोवैज्ञानिक उद्भव बताना सम्भव नहीं। सामान्य रूप में उसका प्रत्यक्ष ज्ञान हमारे विकास के किसी स्तर पर हमें प्राप्त हो गया होगा; और सर्वथा अपने पूर्ण रूप में, वह प्रत्यक्ष ज्ञान स्पष्टतः एक परिणाम रहा होगा। परन्तु यदि हम काल-भावना को अत्यन्त साधारण एवं अविकसित रूप में ग्रहण करें तो यह दिखलाना

कठिन होगा कि उसका अस्तित्व आदिकाल से नहीं था। परन्तु इस प्रश्न का उत्तर कुछ भी क्यों न दिया जाय, तत्वज्ञान के लिए इसका कोई महत्त्व नहीं। यदि यह कल्पना करना सम्भव हो कि काल विकसित हुआ है, तो सम्भवतः, कोई ऐसी मान्यता स्थिर की जा सके कि वह एक बार पुनः किसी उच्चतर परिणाम में लुप्त हो सके। परन्तु इस मान्यता का और अधिक सूक्ष्मता से विचार करना शायद ही लाभप्रद है।

इस प्रसंग को छोड़कर मैं एक आक्षेप का उत्तर तथ्य के आधार पर दूँगा। यदि समय अवस्तु है तो मैं मानता हूँ कि हमारा परम सत् एक भ्रम-मात्र होगा। परन्तु दूसरी ओर यह कहा जा सकता है कि काल एक आभास-मात्र नहीं हो सकता। ऐसा कहा जाता है कि शरीर के अन्तर्गत विकार एक प्रत्यक्ष अनुभव का विषय है, वह एक तथ्य है और इसलिए उसको यों ही टालना, सम्भव नहीं और निःसन्देह इतना तक तो असन्दिग्ध है। विकार एक तथ्य है और फिर इस तथ्य की इस रूप में परम सत् के साथ संगति नहीं बैठ सकती और यदि हम किसी प्रकार यह नहीं जान सकते कि तथ्य वस्तु कैसे हो सकता है, तो, यह ठीक है कि हमारे सामने एक बड़ा असमंजस और खड़ा होता है क्योंकि हमें एक तो अत्याज्य सत् की एक दृष्टि चाहिए और दूसरे फिर ऐसा अस्तित्व चाहिए जो उससे विपरीत हो। परन्तु हमारी वास्तविक स्थिति इससे अति भिन्न है क्योंकि काल को स्वयं विरुद्ध एवं आभास-रूप सिद्ध किया जा चुका है ऐसा होने से उसका द्वन्द्वभाव एक बृहत्तर समन्वय के तत्त्व-रूप में परिणत हो सकता है और इस प्रकार उसको तथ्य-रूप में स्वीकार करने का अनुरोध व्यर्थ हो जाता है।

सत् को सिद्ध करने के लिए उसकी अनुभवगम्यता का अनुरोध मान लेना एक कोरा अन्धविश्वास है। विश्व में अथवा मेरे भीतर यत्किंचित् का अस्तित्व होना यही बतलाता है कि यह यत्किंचित् है और इससे अधिक अन्य कुछ भी नहीं।

एक चेतना का आदेश—चाहे मौलिक हो या अर्जित—केवल एक चेतना का आदेश है। वह किसी प्रकार भी सिद्ध-वाक्य या ब्रह्म-वाक्य नहीं हो सकता कि जिसको ग्रहण करना अनिवार्य ही हो। अन्य तथ्यों की भाँति ही यह एक विवेचनीय तथ्य है और कहीं भी ऐसी कोई मान्यता नहीं कि तथ्य आभास से श्रेष्ठ है। 'प्रस्तुत' निःसन्देह प्रस्तुत ही है, उसको तो मानना ही पड़ेगा और उसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। परन्तु, किसी तथ्य को स्वीकार करने तथा आँख मींचकर उसके अन्तस्तत्व को सत् मान लेने में आकाश-पाताल का अन्तर है। हम इसी बात को अन्तिम रूप में कह सकते हैं—ऐसा कोई भी 'प्रस्तुत' नहीं जो आँख मूंद कर स्वीकार कर लिया जाय। तत्वज्ञान अनुभव के किसी भी तत्त्व को तब तक नहीं मान सकता जब तक वह मानने के लिए विवश न हो जाय। उसके लिए कुछ भी मान्य नहीं, जब तक कि उसकी समीक्षा न हो

जाय और तद्-विषयक अस्वीकृति निश्चित रूप से व्यक्त न हो जाय। काल समीक्षा की कसौटी पर खरा उतरने से इतना दूर है कि एक स्पर्श से ही वह छिन्न-भिन्न हो जाता है और अपने को भ्रान्ति-रूप में घोषित कर देता है। मैं उसके स्वयं-विरोध के इदमित्थम् को दुहराना नहीं चाहता, क्योंकि उसको मैं अपनी प्रथम पुस्तक में पूर्ण रूप से प्रतिपादित मानता हूँ। यहाँ मैं जिस बात को पहले बतलाना चाहता हूँ, वह यह है कि काल अपनी असंगतता-द्वारा किस प्रकार अपने निज रूप को अतिक्रान्त कर सकता है। वह एक ऐसे उच्चतर तथ्य की ओर संकेत करता है, जिसमें वह समाविष्ट और अतिक्रान्त हो जाता है।

(१) प्रथम तो हमने विकार को जिस रूप में देखा (अध्याय ५) उस रूप में वह एक स्थायी तत्व का सापेक्षित है। निःसन्देह यहाँ हमें एक ऐसा अन्तर्विरोध मिला जिसको हमने अमिट पाया। परन्तु, यह सब होते हुए भी यह मानना पड़ेगा कि विकार को किसी ऐसे स्थायित्व की आवश्यकता है जिसके भीतर पूर्वापरता चलती है। मैं यह नहीं कहता कि यह आवश्यकता निरन्तर रहती है, और इसके विपरीत मैं इस बात पर जोर देना चाहता हूँ कि ऐसी बात नहीं है। वह निरन्तर नहीं और फिर भी यह आवश्यक है। और इसलिए विकार साधारण विकार से अतिक्रान्त होकर ऊपर उठना चाहता है। वह एक ऐसा विकार हो जाना चाहता है जो स्थायी तत्त्व के साथ सुसंगत हो। इस प्रकार स्वयं को सुव्यक्त करते हुए, काल अपने रूप की मानों हत्या कर डालता है और अपने स्वरूप को अतिक्रान्त करके किसी श्रेष्ठतर तत्त्व में विलीन हो जाने का प्रयत्न करता है।

(२) और इसी निष्कर्ष को हम एक दूसरी असंगतावस्था से निकाल सकते हैं। वर्त्तमान का भविष्य और भूत के साथ जो सम्बन्ध है वह फिर काल के उस प्रयत्न को प्रकट करता है जो वह निज स्वरूप को अतिक्रान्त करने के लिए करता है। कोई भी व्यतिक्रम जिसको आप किसी भी उद्देश्य से एक काल-विभाग मानें, तुरन्त ही एक वर्त्तमान बन जाता है और फिर उस व्यतिक्रम को ऐसा मान लिया जाता है मानों उसका अस्तित्व एकदम हो गया हो, क्योंकि अन्यथा उसको एक वस्तु के रूप में किसी प्रकार भी कैसे बतलाया जाता जब तक कि अस्तित्व न हो, तब तक मैं नहीं समझता कि हम उसे एक विशिष्ट रूपता प्रदान करने के कैसे अधिकारी हो सकते हैं और जब तक कि वह वर्त्तमान न हो, तब तक मैं नहीं समझता कि हम किस अर्थ में यह कह सकते हैं कि उसका अस्तित्व है और मेरा अनुमान है कि इस विषय में विचार-विमर्श को प्रेरित करने के लिए विज्ञान का सामान्य व्यवहार सम्भवतः पर्याप्त होता। हम यह कह सकते हैं, कि विज्ञान एक ओर तो, काल के अस्तित्व को स्वीकार करता है, परन्तु दूसरी

रहती है, अन्त तक उसी पुरानी असंगति को सुरक्षित बनाये रखती है। निज को अतिक्रान्त करने की जो प्रवृत्ति काल में अन्तर्निहित है उसका यह पूर्वापरता, विरोध तो करती है परन्तु वह इसको दूर नहीं कर सकती। काल एक ऐसा आभास है जो अपना विरोध स्वयं करता है और व्यर्थ ही कालातीत का एक विशेषण होने का प्रयत्न करता है।

यहाँ पर ऐसे अन्य क्षेत्रों का उल्लेख करना सम्भवतः लाभदायक सिद्ध हो जहाँ हम कालगत अस्तित्व-मात्र को और भी अधिक स्पष्टता के साथ आभास रूप में स्वीकार कर सकें। परन्तु सम्भवतः अपने निष्कर्ष की स्थापना के लिए हम पर्याप्त बातें कह चुके हैं, और अभी तक हम इस परिणाम पर पहुँचे हैं। काल यों सत् नहीं है और वह कालातीत का एक विशेषण बनने के लिए जो असंगत प्रयत्न करता है उसके द्वारा उसके असत् होने की घोषणा हो जाती है। वह एक ऐसा आभास है जिसका सम्बन्ध एक ऐसी उच्चतर सत्ता से है जिसमें उसका विशिष्ट गुण विलीन हो जाता है। वहाँ उसका निजी कालत्व पूर्णतया समाप्त नहीं हो जाता परन्तु वह पूर्णतया रूपान्तरित अवश्य हो जाता है। उसका जोड़ ज्यों-का-त्यों रहता है और इस रूप में वह एक सर्वव्यापी समन्वय में लुप्त हो जाता है। परम सत् कालातीत है, परन्तु काल उसमें एक ऐसे एकाकी अंश के रूप में रहता है जो अपना एकाकीपन छोड़ते ही अपनी विशिष्टता को ही खो बैठता है। वहाँ उसका अस्तित्व है, परन्तु वह एक ऐसी परिपूर्णता में घुला-मिला रहता है जो हमारे लिए अनुभव-गम्य नहीं है। परन्तु, उसके अनुभव-गम्य न होने और उसके अस्तित्व के प्रकार-विशेष का पता न होने से वह सिद्ध नहीं होता कि वह असम्भव है। वह सम्भव है, और, पहले की भाँति, उसकी सम्भावना पर्याप्त है, क्योंकि जिसका होना सम्भव है और एक सामान्य आधार पर, जिसका होना निश्चित है, वह निःसन्देह सत् है।

और सम्भवतः इस विषय को इसी प्रकार छोड़ देना अधिक अच्छा होगा, क्योंकि, यदि मैं आगे बढ़ूँ और अपने मन में काल की असत्ता को बैठने का अधिक प्रयत्न करूँ तो मिथ्या धारणा की सम्भावना है। मुझ पर यह आरोप होगा कि मैं इस तथ्य के स्वभाव को समझाने अथवा समझा डालने का प्रयत्न कर रहा हूँ और इस विरोध की ओर कोई ध्यान नहीं दिया जायगा कि मैं ऐसे प्रयत्न को भ्रामक मानता हूँ। क्योंकि (जैसा एक बार कहा जा चुका है) न तो हम यही जानते हैं कि काल का आभास कैसे होता है और न यही कि किस विशेष ढंग से उसके आभास का अतिक्रमण होता है। फिर भी मैं कुछ बातें अपने लिए और उन्हें यथार्थ रूप में ग्रहण करने वाले पाठक के लिए, और कहूँगा। कुछ ऐसी विचारणीय बातें हैं जो काल

की वास्तविकता के विषय में हमारे विश्वास को शिथिल करने में सहायक होती हैं। वह कोई ऐसी संहति नहीं जो स्पष्ट स्थित हो, और जो अभिभूत होने को अस्वीकार करती हो। वह अव्यवस्थित ढंग से संकलित एक शिथिल मूर्ति है, जो हमारे देखते-देखते छिन्न-भिन्न हो जाती है।

१—हमारा पहला विचारणीय विषय है काल की एकता। मेरी सम्मति में काल को एक पूर्वा पर, परम्परा के रूप में स्वीकार करने और सम्पूर्ण प्रतीयमान-जगत् को एक ही कालीय बन्धन में स्थित मानने के लिए कोई कारण नहीं है। यह सच है कि सभी कालों को एक ही शृंखला के अंगभूत मानने की हमारी प्रवृत्ति है। यह स्पष्ट प्रतीत होता है, कि सभी प्रतीयमान नाम-रूप समान रूप से घटित होने वाली घटनाएँ हैं[1] और उनके घटित होने के कारण हम एक अन्य निष्कर्ष पर पहुँच जाते हैं। हम उन्हें परस्पर-पूर्वापर-सम्बन्ध अथवा संघात-सम्बन्ध में सर्वथा बँधे हुए एक ही कलात्मक पूर्णता के सदस्य मानने लगते हैं। परन्तु इस प्रकार के निष्कर्ष के लिए कोई प्रमाण नहीं है, क्योंकि अनेक स्वतन्त्र समय-शृंखलाओं का अस्तित्व मानने में कोई प्रामाणिक आपत्ति नहीं है। इन समय-शृंखलाओं के अन्तर्गत, आन्तरिक घटनाएँ अस्थायी रूप से परस्पर-सम्बद्ध होती है, परन्तु प्रत्येक शृंखला का, चाहे शृंखला के रूप में अथवा एक इकाई के रूप में, किसी भी बाह्य तत्व से कोई कालात्मक बन्धन नहीं होता। मेरा आशय यह है कि विश्व में विविध नाम-रूप-परम्पराओं की एक संहति होना संभव है। निःसंदेह उनमें से प्रत्येक की घटनाएँ काल-बद्ध होंगी, परन्तु स्वयं-शृंखलाओं के बीच परस्पर समय-सम्बन्ध होने की आवश्यकता नहीं। अर्थात्, एक की घटनाएँ किसी दूसरी की घटनाओं के पूर्व, पश्चात् अथवा साथ-साथ होना अपेक्षित नहीं। परम सत् के अन्तर्गत, उनमें परस्पर कोई कालात्मक ऐक्य अथवा बन्धन नहीं होगा और स्वयं अपने प्रसंग में उनका अन्य शृंखलाओं से कोई सम्बन्ध न होगा।

मैं अपने आशय को अपने मानवीय अनुभव की सहायता से व्यक्त करूँगा। जब हम स्वप्न देखते हैं, या जब हमारे मन अनियंत्रित होकर चक्कर लगाते हैं, अथवा जब हम काल्पनिक इतिहासों के पीछे पड़ते हैं, या अपने विचारों को किसी कल्पित पूर्वापरता पर जमाते हैं, तब हम एक समस्या खड़ी कर देते हैं। यदि हम देख सकें तो यह एक गम्भीर प्रश्न है, क्योंकि इन पूर्वापर शृंखलाओं के भीतर घटनाओं में परस्पर समय सम्बन्ध होता है। परन्तु फिर भी यदि आप एक शृंखला को

१. इस विषय में देखिए अध्याय २३।

दूसरी शृंखला के सम्बन्ध में सोचें तो आप उनके बीच किसी कालात्मक एकता को नहीं पाएँगे। और जिसको हम सत्य-घटना-क्रम कहते हैं, उसमें भी इनका कोई भी समय-सम्बन्ध नहीं होता। मान लीजिए कि मुझसे यह पूछा जाय कि इमोजन-कथा की घटनाओं का 'सिदवाद' के प्रत्येक शौर्य के साथ क्या समय-सम्बन्ध है, और इनका फिर हमारे गत रात्रीय तथा गत वर्षीय स्वप्नों की घटनाओं से क्या सम्बन्ध है, तो निःसन्देह ऐसे प्रश्नों का कोई अर्थ नहीं। संयोगवश आयी हुई स्थानीयता के अतिरिक्त हमें इन कालगत घटनाओं में कोई भी समय-सम्बन्ध नहीं दिखायी पड़ता। आप यह नहीं कह सकते कि कोई एक दूसरे के पूर्व या पश्चात् आता है। और फिर मेरे मानसिक जगत् में आभासित होने के क्रम से इनको काल-निर्णय करना निःसन्देह हास्यास्पद होगा। यह ऐसा ही होगा जैसा कि पुस्तकालय की पुस्तकों में उल्लिखित सभी घटनाओं को उन पुस्तकों के विभिन्न प्रकाशन-तिथियों के अनुसार क्रमबद्ध करना—इस प्रकार वस्तुतः प्रत्येक संस्करण के साथ उसी कथा की पुनरावृत्ति होगी, और आज का समाचार-पत्र तथा इतिहास सर्वथा समसामयिक हो जायेंगे और सम्भवतः यह असंगति-प्रदर्शन हमें इस बात के समझने में सहायक हो सके कि पूर्वापरता के लिये किसी समय-सम्बन्ध की आवश्यकता नहीं।

कोई कह सकता है कि, हाँ, ठीक है, परन्तु फिर भी मेरे मानसिक इतिहास में तो ये सभी शृंखलाएँ (काल्पनिक और वास्तविक) निःसन्देह घटनाओं के समान समयगत होती हैं। उनमें से प्रत्येक का वहाँ निश्चित स्थान होता है, और इसलिए उससे परे एक वास्तविक समय शृंखला में भी होगा और किसी कथा की कितनी ही आवृत्तियाँ मेरे मस्तिष्क में क्यों न हों, परन्तु प्रत्येक अवसर का अपना निजी समय होगा और निजी समय-सम्बन्ध में निःसन्देह ऐसा ही होगा, परन्तु ऐसा उत्तर नितान्त अपर्याप्त है, क्योंकि, प्रथम तो ध्यान देने की यह बात है कि इसमें बहुत-कुछ हमारे द्वारा प्रतिपादित मन को ही स्वीकार किया गया है। यहाँ स्पष्ट रूप से मानना पड़ेगा कि हमारी 'असत्' शृंखलाओं के अन्तर्गत समयों में कोई परस्पर समय सम्बन्धी नहीं है, क्योंकि अन्यथा किसी कथा की पुनरावृत्ति होने पर, समय शृंखला उसके अन्तस्तत्वों को प्रभावित करेगी और इस प्रकार पुनरावृत्ति को असम्भव कर देगी। सर्वप्रथम मैं इस गम्भीर एवं घातक स्वीकृति पर ध्यान खींचना चाहता हूँ।

परन्तु, जब हम उस पर विचार करते हैं, तो आक्षेप पूर्णतया छिन्न-भिन्न हो जाता है। यह सच है कि एक अर्थ में और न्यूनाधिक रूप में हम सभी नामरूपों को एक शृंखला के अन्तर्गत घटनाओं की भाँति क्रमबद्ध करते हैं। परन्तु इसका अभि-

प्राय यह नहीं कि समस्त विश्व में एक ही प्रवृत्ति चरितार्थ हो रही है, और सभी नाम-रूपों में परस्पर समय-सम्बन्ध है। जो बात मेरी घटनाओं पर लागू होती है, उसका सभी घटनाओं पर लागू होना आवश्यक नहीं, और न परम सत् मेरे द्वारा प्रतिपादित अपूर्ण एकता-स्वरूप के आदर्श से ही बँधा हुआ है।

साधारण भाषा में हम जिन्हें वास्तविक घटनाएँ कहते हैं, वे एक परंपरित समय-श्रृंखला में व्यवस्थित नाम-रूप हैं। मेरे व्यक्तिगत अस्तित्व के तादात्म्य से उसका ऐक्य सम्बन्ध होता है। जो प्रस्तुत किया जाता है, वह वास्तविक है और इस आधार पर मैं किसी समय-श्रृंखला की रचना आगे और पीछे दोनों ओर करता हूँ और किसी भी प्रस्तावित अन्तस्तत्व में समान सूत्रों को ही सम्बन्ध-श्रृंखलाओं के रूप में प्रयुक्त करता हूँ।[1] इस रचना को मैं वास्तविक श्रृंखला की संज्ञा देता हूँ और जो भी अन्तस्तत्व मेरे इस क्रम में ठीक नहीं बैठता उसको मैं अवास्तविक कह कर तिरस्कार कर देता हूँ। और यह प्रक्रिया सीमित रूप में ही औचित्यपूर्ण कही जा सकती है। यदि हमारा केवल यही अभिप्राय है कि नाम-रूप कोई वर्ग है और इस वर्ग के भीतर विद्यमान सत् के लिए कोई समय-सम्बन्ध आवश्यक है तो यह निःसन्देह, सच है। परन्तु यह कहना एक दूसरी बात है कि इस श्रृंखला में प्रत्येक संभावित नाम-रूप को एक स्थान प्राप्त है और यह आग्रह करना भी एक दूसरी बात है कि परम सत् के भीतर सभी समय श्रृंखलाओं को एक कलात्मक ऐक्य प्राप्त है।

आइए, पहली बात पर विचार करें। यदि मेरी कालात्मक व्यवस्था में स्थित नाम-रूप के अतिरिक्त कोई नाम-रूप सत् है ही नहीं, तो कल्पना का सम्पूर्ण जगत् हमारे हाथों से ही छूट जाता है। वहाँ पर पूर्वापरता का तथ्य अवस्तु हो जाता है, परन्तु केवल किसी नामकरण-मात्र से हम उससे नहीं छूट जाते। और साथ ही मैं एक और कठिनाई का उल्लेख करूँगा, वह है, मेरी मनोव्यथा की वास्तविक श्रृंखला का विनाश। परन्तु (अपने सिद्धान्त को पुनः अपनाने पर) यह अस्वीकार किया जाता है कि जब तक नाम-रूपों का मेरे जगत से समय-सम्बन्ध नहीं है, तब तक नाम-रूप का अस्तित्व सम्भव है और मुझे इस मान्यता के लिए कोई आधार नहीं मिलता। अब मैं प्रश्न करता हूँ कि मेरे बिना जाने हुए और मेरी समय-श्रृंखला से पृथक घटना-विकार क्यों और किस कारण सम्भव नहीं, तो मुझे कोई उत्तर प्राप्त नहीं होता। जहाँ तक मैं समझता हूँ परम सत् के अन्तर्गत ऐसी अनेक समय श्रृंखलाएँ

---

१. इस रचना के लिए देखिए पृ० ७१०-२, और 'प्रिन्सपुल्स ऑफ़ लाजिक', अध्याय ६।

हो सकती हैं, जो पस्पर नितान्त असम्बद्ध हों, और परम सत् की दृष्टि से बिना किसी कालात्मक एकता के हों ।

और इसके पश्चात् हम दूसरे सूत्र पर जाते हैं । मैं यह मानता हूँ कि पारस्परिक बन्धन तथा एकता के बिना नाम-रूपों का अस्तित्व असम्भव है । परन्तु मैं यह नहीं जान सकता कि यह एकता या तो कालात्मक होगी अथवा कुछ भी नहीं होगी । इस प्रकार की मान्यता को अपनाने का अर्थ एक ऐसी विचार-पद्धति को ग्रहण करना होगा जिसको हम भी अपूर्ण पाते हैं और जिसे परम सत् को हमारी मानवीय सीमाओं के भीतर बंद नहीं किया जा सकता । हम पहले ही देख चुके हैं, कि उसका समन्वय कोई सम्बन्धातीत वस्तु है और यदि यह बात है, तो निःसन्देह अनेक समय शृंखलाएँ परस्पर किसी समय-सम्बन्ध के बिना ही अपनी सर्वगामी परिपूर्णता के अन्तर्गत एक प्रकार की एकता प्राप्त कर लेती हैं । परन्तु यदि यह बात है तो 'एक' समय-शृंखला के अर्थ में 'एक' नहीं हो सकता । उस अवस्था में अनेक काल होंगे, जिन में से सब कालगत घटनाओं से युक्त तथा तिस पर भी कालातीत अनन्त में तादात्म्य भाव रखते होंगे । हमें सर्वथा अन्य किसी कालात्मक एकता के लिए कोई अन्य प्रमाण सूत्र नहीं मिला ।

२—अब मैं "काल-दिशा" नामक दूसरे सूत्र को लेता हूँ । जिस प्रकार हम यह कल्पना करते हैं, कि सभी नाम-रूपों की एक ही शृंखला है, उसी प्रकार हम प्रत्येक शृंखला की एक ही दिशा मान लेते हैं । परन्तु यह कल्पना भी निराधार है । यह स्वाभाविक है कि भविष्य में एक ऐसा स्थान नियत कर दिया जाय, जिसकी ओर सभी घटनाएँ दौड़ रही हों, अथवा जिससे वे दौड़ी आ रही हों अथवा जो किसी अन्य प्रकार से प्रवाह को एक दिशा प्रदान करने में सहायक होती हो । परन्तु परीक्षण करने पर इस स्वाभाविक दृष्टि की अपूर्णता शीघ्र प्रकट हो जाती है, क्योंकि भूत और भविष्य के बीच दिशा और पार्थक्य पूर्णतया हमारे अनुभव पर निर्भर है ।[1] भविष्यत् से हमारा अभिप्राय उस ओर से है जिससे नये-नये आलम्बनों का आगमन होता है । हमारे विकार प्रत्यक्ष में तत्व-बाहर जाते रहते हैं, और अनुभव के सन्दर्भ में हम समय-शृंखला की रचना करते रहते हैं । इस प्रकार चाहे हम घटनाओं को भूतकाल से आता हुआ मानें अथवा भविष्य से प्रादुर्भूत होता हुआ मानें, प्रत्येक

---

१. इस विषय में देखिये 'माइन्ड'– ७ पृ० ५७९ – ८२ । कोई कह सकता है कि हम उसी सिद्धान्त पर सोचते चलते हैं, जिस पर कि मछलियाँ अपने सिरों को प्रवाह से प्रतिकूल रखते हुए आहरण करती हैं ।

अवस्था में हम अपने परिणामों तक पहुँचने में एक ही पद्धति का अनुगमन करते हैं। एक मात्र नये आयातों के आगमन से हमारी ध्रुव-दिशा प्राप्त होती है। परन्तु यदि यह बात है, तो दिशा हमारे जगत की अपेक्षा रखती है। आपको यह आपत्ति हो सकती है कि वह स्वतः ध्रुव होने के कारण ही हमारे विशिष्ट क्षेत्र को अपनी व्यवस्था प्रदान करती है। परन्तु फिर भी मेरी समझ में नहीं आता, कि इस कल्पना को औचित्यपूर्ण कहा जा सकता है। निःसन्देह हम से भिन्न कोई और वस्तु भी है, जो हमारी सत्ताओं में यह भेद ला खड़ा करती है। यह ऐसा कुछ है, जो हमें अन्य जीवनों तथा अन्य तथ्यों को एक क्रम में व्यवस्थित करने के लिए विवश करता है। परन्तु इसलिए क्या वस्तुतः और स्वयं यह कुछ दिशा होना चाहिए ? ऐसा सोचने के लिए मुझे कोई कारण नहीं दिखायी पड़ता। इसमें कोई सन्देह नहीं कि हम स्वभावतः "नामरूप" के समस्त जगत को एक अकेली समय-शृंखला मानते हैं। हम मानते हैं कि प्रत्येक अन्य सीमित सत्ता की परम्परित इयत्ता इसी रचना में क्रमबद्ध किये जाते हैं और हम यह मान लेते हैं कि उनके समस्त प्रवाह एक ही दिशा में प्रवाहित होते हैं। परन्तु स्पष्टतः हमारी कल्पना अकाट्य नहीं है, क्योंकि पहले मान लीजिए कि ऐसी सत्ताएँ हैं जो हमारे अनुभव-जगत् के सम्पर्क में किसी प्रकार से नहीं आ सकती। क्या यह कल्पना स्वयं-विरुद्ध अथवा सम्भव होने के अतिरिक्त और कुछ है ? और दूसरे यह मान लीजिए कि परम सत् के भीतर इन जीवनों की दिशा हमारी अपनी दिशा के विरुद्ध है मैं फिर पूछता हूँ कि क्या इस प्रकार की कल्पना निरर्थक है या असम्भव ? निःसन्देह यदि किसी प्रकार से मैं उनके जगत का अनुभव कर सकता तो मैं उसको समझने में असमर्थ होता। जन्म से पूर्व मृत्यु आती, घाव के पश्चात आघात आता, और सब कुछ तर्कहीन प्रतीत होता। ऐसा मुझको प्रतीत होता, परन्तु मेरे एकांगी अनुभव के अतिरिक्त उसकी असंगति कहीं भी नहीं होती। यदि मैं उनकी व्यवस्था को अनुभव कर पाता तो वह मेरे लिए कुछ भी नहीं होता। अथवा, यदि मैं निज जीवन की सीमाओं के परे स्थित किसी दृष्टिकोण से देख सकता, तो मुझे संभवतः एक ऐसा सत् प्राप्त होता जिसको स्वयं कोई दिशा प्राप्त न होती। और वहाँ मैं सम्भवतः ऐसे पात्रों को देखता जो कई ससीम प्राणियों के लिए उनके जीवन को दिशा प्रदान करते और समझे जाने पर दोनों दिशाओं को एक ही सुसंगत पूर्णता में समन्वित रूप से संयुक्त दिखलाते।

मैं मानता हूँ कि अनुभवतीत होना और स्वयं वस्तुओं के जगत में पहुँचना असम्भव है। परन्तु क्या इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि समस्त विश्व प्रत्येक अर्थ में मेरे अनुभव का एक सम्भाव्य विषय बन सकता है ? क्या जिन वस्तुओं

और व्यक्तियों के समूह में मेरा जगत् वनता है, क्या उतने ही में अस्तित्व की समस्त समष्टि सीमित है ? इस प्रश्न के किसी स्वीकारात्मक उत्तर के लिए मुझे कोई आधार ज्ञात नहीं। इस वात में कौन-सा स्वयं-विरोध है कि अनेक भौतिक तन्त्र विना किसी भौतिक केन्द्र-विन्दु के और विना किसी दिक्-सम्वन्ध के स्थित हो।[1] इसमें कौन-सी असम्भव बातें हैं कि विभिन्न अनुभव-जगत् एक-दूसरे से भिन्न हो और स्वयं एक को दूसरे में प्रविष्ट करने में असमर्थ हो ? ऐसी स्थिति तो तभी उत्पन्न होती है, जव हम किसी पूर्वाग्रह को अपनाएँ और अपना आधार वनाएँ। परम सत् की एकता केवल हमारी एकता की भाँति है। वहाँ के दिक् में एक दिक् केन्द्र है और समयों में एक कालीय केन्द्र बिन्दु है,—ये कल्पनाएँ वस्तुतः किसी पर आधारित नहीं। इसके विपरीत भी सम्भव हो सकता है। और, हम देख चुके हैं कि यह आवश्यक भी है।

परम सत् के भीतर स्थित अनेक समय श्रृंखलाओं की कल्पना करना कठिन नहीं है और यह समझ में आ सकता है कि प्रत्येक श्रृंखला की दिशा स्वयं-सापेक्ष हो और उसका कोई वहिर्गत अर्थ ही न हो। और अगर हम चाहें तो यह भी कल्पना कर सकते हैं कि ये दिशाएँ एक-दूसरे के विपरीत हैं, उदाहरण के लिए एक प्रकार का क्रम ले सकते हैं:—

क ख ग घ
ख क घ ग
ग घ क ख
घ ग ख क

यहाँ यदि आप अंतस्तत्वों पर विचार करें तो आप सम्पूर्ण इकाई को स्थिर मान सकते हैं। इसके अन्तर्गत एकांगी दृश्य हैं, परन्तु समग्र रूप में उसको विकार तथा पूर्वापर्य से मुक्त माना जा सकता है। यह विकार विभिन्न श्रृंखलाओं के प्रत्यक्षों में पड़ेगा और इन श्रृंखलाओं की विविध दिशाओं का अस्तित्व पूर्ण इकाई के लिए नहीं हुआ। विविध श्रृंखलाओं की न्यूनाधिक संख्या जिसे हम वर्तमान मानें, वह विशिष्ट अनुभव जिसके द्वारा प्रत्येक श्रृंखला वनती है, और वह दिशा जिसमें कि वह द्रुतगति से जा रही है—यह समस्त विषय हमारे अनुभव में व्यक्तिगत मनोभाव की वस्तु है। आप जीवनों की एक श्रृंखला तथा संहति के रूप में एक पंक्ति को ले लीजिए जिसको आप नीचे-ऊपर दायें-बाँयें जिधर चाहे उधर जाते हुए मान लें। और प्रत्येक अवस्था में उसके निजी आलोचन-विशेष से उसे दिशा प्राप्त होगी। निःसन्देह

---

१. देखो अध्याय २२।

इन प्रत्यक्षों का अस्तित्व पूर्ण इकाई में होना चाहिए। उन-सबका अस्तित्व होना चाहिए और किसी रूप में उन-सबको परम सत् में विशेषता अथवा विकार उत्पन्न करना चाहिए। परन्तु परम सत् की दृष्टि से, उनमें एक-दूसरे का निराकरण होता है और इसलिए उनकी विशेषताएँ रूपान्तरित हो जाती हैं, और वे अपनी पूर्वापर शृंखलाओं-सहित एक ऐसी इकाई में एकत्र हो सकते हैं, जिनमें उनकी विशिष्टताएँ विलीन हो जाती हैं।

और यदि हम मनगढ़न्त करना पसन्द करें तो हम सम्भवतः कुछ और कल्पना भी कर सकते हैं। हम सम्भवतः यह भी मान लें कि हमारे अनेक के जीवन से संगति रखने वाला एक दूसरा व्यक्ति भी है। एक ऐसा आदमी है, जो उसी इतिहास को पार कर रहा है, परन्तु विपरीत दिशा में। इस प्रकार हम कल्पना कर सकते हैं कि मेरी निजी सत्ता को बनाने वाली परस्परित इयत्ता एक अथवा अनेक अन्य ससीम आत्माओं के जीवन हैं।[1] हमारे बीच में भेद-भाव रहेंगे और वे एक ऐसे अतिरिक्त तत्व के होंगे जो प्रत्येक प्रसंग में एक भिन्न प्रकार का होगा और इन्हीं भिन्नताओं के द्वारा उनमें से प्रत्येक को अपनी-अपनी पूर्वापरता प्रदान करके, उसके एक व्यक्तित्व-विशेष में परिणत कर देगा। निःसन्देह इन विभिन्नताओं का अस्तित्व होगा, परन्तु परम सत् में फिर किसी प्रकार से उनकी एकांगिता चली जा सकती है। और इसके साथ-साथ विभेद और स्वयं समस्त पूर्वापर्य ही समाप्त हो सकता है। इस प्रकार की दृष्टि में इन्द्रजाल और जादू-टोना के विश्वासी को संभवतः अपनी सनक के लिए विस्तृत क्षेत्र मिल सकता है। परन्तु मेरी तो इस पर यों ही दृष्टि गयी क्योंकि मेरे लिए इस प्रकार की मनगढ़न्त बातें तनिक भी आकृष्ट नहीं करतीं। यहाँ पर मेरा उद्देश्य सरल रहा है। मैंने यह दिखाने का प्रयत्न किया है कि न तो सभी समय-शृंखलाओं की कालात्मक एकता की दृष्टि से और न उनके दिशा-संगम की दृष्टि से ही कोई प्रमाण-सूत्र उपलब्ध होता है। उनकी विविधता कितनी ही बड़ी क्यों न हो, वह परम सत् में एकता होकर रूपान्तरित हो सकती है। और पहले की तरह यहाँ हमें सत् को सिद्ध करने के लिए संभावना ही एकमात्र वांछनीय है।

परम सत सम्बन्धातीत है, और इसलिए हम एक ऐसे सम्बन्ध-तंत्र का निर्माण कर सकते हैं, जो उसकी एकता को प्रकट कर सके। परन्तु शाश्वत एकता का निश्चय हमारे सामान्य सिद्धान्त-द्वारा होता है। और अब हमने देख लिया है कि स्वयं समय

---

१. इसकी संभावना पर तुलना कीजिए: अध्याय-२३।

से ऐसी कोई मान्यता नहीं प्राप्त हो सकती कि विश्व कालातीत नहीं है।[1]

एक और कठिनाई बची है, जिस पर सम्भवतः मैं एक-दो बातें और कह दूँ। यह कहा जा सकता है कार्य-कारण-सम्बन्ध में ऐसी पूर्वा-परता निहित है, जिसकी दिशा नहीं बदल सकती। यह भी कहा जायेगा कि जिन सम्बन्धों के द्वारा जगत् को समझा जाता है, उनमें से अधिकांश में पूर्वापरीय या सहस्थित-काल तत्वतः निहित है। और यह बात और जोड़ी जा सकती है कि इस कारण काल का परम सत् से संघर्ष होता है। परन्तु जिस स्थान पर हम पहुँच चुके हैं, इस आपत्ति का कोई महत्त्व नहीं। प्रथम तो मान लीजिए कि कार्य-कारण-सम्बन्ध स्वयं अकाट्य है। परन्तु तिस पर भी सम्पूर्ण नाम रूप में हमें किसी हेतु-मूलक एकता का पता नहीं। विश्व में विभिन्न जगत एक साथ ही कंधे-से-कंधा मिलाकर कार्य-कारण की शृंखला में न होते हुए भी अच्छी तरह से चल सकते हैं। परम सत् के अन्तर्गत उनमें परस्पर एकता होगी, परन्तु वह कार्य एवं कारण की एकता नहीं होगी। जब तक हमें हेतुमूलक एकता के पक्ष में कोई प्रबल तर्क न मिल जाय तब तक हमें यह सम्भव मानना चाहिए और फिर हमारे निज के जगत में भी कार्य-कारण सम्बन्ध में कितनी असन्तोषजनक पूर्वापरता है। यह सचमुच कदापि सच नहीं कि केवल क ही केवल ख को उत्पन्न करता है। यह उसी अवस्था में सच होता है, जब हम अनिर्दिष्ट पृष्ठभूमि को घसीट लाते हैं, और इससे पृथक्, इस प्रकार का कथन उपयुक्त नहीं (अध्याय ६, २३, २४) और स्वयं पूर्वापर सम्बन्ध में भी, यदि वह अकाट्य हो तो भी रूपान्तर सम्भव हो सकता है। हम कहते हैं कि (य) ख एक कार्य है, जिसका कारण (य) क है, परन्तु सम्भवतः दोनों में तादात्म्य है। पूर्वापर सम्बन्ध और भेद-भाव सम्भवतः ऐसे आभास हों जिसका अस्तित्व केवल एकाकी तथा दूषित दृष्टि के लिए ही हो। पूर्वापर सम्बन्ध संभवतः ऐसा सत्य हो जो रिक्त होने पर विनष्ट हो जाता हो और संपूरित होने पर परम सत् में विलीन हो जाता हो। वह इस प्रकार किसी श्रेष्ठ सत्य का ऐसा अंश हो सकता है कि तादात्म्य के विरुद्ध न हो।

ऐसी मीमांसा से वे सभी आक्षेप व्यर्थ हो जायँगे, जो हमारे परम सत् के विरुद्ध कार्य-कारण-सम्बन्ध के आधार से उपस्थित किये जाएँगे। परन्तु हम इसके अतिरिक्त छठे अध्याय में देख चुके हैं कि यह आधार निर्बल है। अपनी ही असंगति के आधार पर कार्य-कारण-सम्बन्ध अपने परे किसी श्रेष्ठ सत्य की ओर संकेत करता है। और, मैं संक्षेप में फिर इसे स्पष्ट करने का प्रयत्न करूँगा। कार्य-कारण-सम्बन्ध में विकार

---

१. प्रगति के विषय में मैं कुछ बातें अध्याय २६ में कहूँगा।

निहित है, और यह जानना कठिन है कि निर्विरोध रूप में हम उसे किस का विधेय बनायें। यह कहना कि क के स्थान पर ख हो जाता है, और बदलने वाली कोई वस्तु नहीं, कोई अर्थ नहीं रखता। क्योंकि यदि कोई विकार या परिवर्तन होता है तो कोई परिवर्तनशील वस्तु भी हो और उसका परिवर्तित होना इसलिए सम्भव है कि कोई स्थायी वस्तु भी है। परन्तु फिर इस परिवर्तन का विधेय क्या हो, इसका वर्णन कैसे किया जाय ? य क से य ख हो जाता है, परन्तु य पहले क है और फिर ख तो क विशेषता के समाप्त हो जाने से य में एक विशेष परिवर्तन उपस्थित हो गया। परन्तु, यदि यह बात है, तो हमें स्पष्ट ही एक "अधिक स्थायी" चाहिए। परन्तु, इसके विपरीत यदि इस संकट को दूर करने के लिए हम य क को अपरिवर्तन-शील रूप में ग्रहण करें, तो हम दूसरे संकट में पड़ जाते हैं, क्योंकि तब हमें दोनों तत्वों को एक साथ ही य का विधेय मानना पड़ेगा, ऐसी अवस्था में पूर्वापर सम्बन्ध कहाँ रहा ? परस्परित तत्व किसी अज्ञात रूप य के भीतर सहअस्तित्व रखते हैं, और पूर्वापर-सम्बन्ध किसी प्रकार आभास-मात्र रह जाता है।

यदि हम इसी को दूसरे रूप में रखें। तो हम कह सकते हैं कि य पहले य क रूप में होता है और फिर य ख के रूप में। परन्तु यदि पहले "केवल क" सत्य था तो "पश्चात् ख" भी कैसे सत्य हो सकता है ? क्या यह उत्तर हो सकता है, नहीं केवल क नहीं, वह केवल य क भी नहीं, अपितु य क (प्रस्तुत ग) है, जो कि पश्चात् ख भी होता है ? परन्तु इस उत्तर से हम फिर भी एक उसी प्रकार की बाधा का सामना करते हैं, क्योंकि यदि य क (ग) ही य और पश्चात् ख है, तो इन व्यंजकों को पृथक् कैसे किया जाय ? यदि दोनों में कोई अन्तर है अथवा यदि कोई अन्तर नहीं है, तो प्रत्येक अवस्था में हमारा कथन-व्यर्थ है, क्योंकि अन्तर का अस्तित्व होने पर उसका और न होने पर उसके सृजन का औचित्य नहीं दिखाया जा सकता। अतः हमें यह निष्कर्ष निकालना पड़ता है कि उद्देश्य तथा विधेय एक है, और पार्थक्य तथा परिवर्तन केवल आभास-मात्र है। उन दोनों का एक ऐसा विशेष होता है जो निश्चित रूप से पूर्ण इकाई में सम्मिलित हो जाता है। परन्तु एक ऐसे ढंग से सम्मि-लित होता है, जो हमारी समझ से परे है। एक उच्चतर इकाई के तत्वों की भाँति तो नहीं अपितु किसी अन्य रूप में वह सम्मिलित हो जाता है।

अथवा पुनः यह कहिए कि जगत् की वर्त्तमान अवस्था ही उसकी परवर्ती जगदा-वस्था का कारण है। यहाँ पर उसी स्वयं-विरोध के दर्शन होते हैं, क्योंकि एक क-अवस्था उससे भिन्न किसी ख अवस्था में कैसे रूपान्तरित हो सकती है ? या तो वह यह व्यवहार अकारण ही करता है (और ऐसा होना हास्यास्पद है) अथवा एक

अतिरिक्त तत्त्व होने के कारण एक नया क बन जायेगा और इसी प्रकार आगे अनन्त-काल तक चलता रहेगा। कार्य और कारण का भेद उनके कालगत पारस्परिक सम्बन्ध के साथ विद्यमान है, और इन दोनों की एकता किसी उपाय से सम्भव नहीं। इस प्रकार हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि कार्य-कारण-सम्बन्ध केवल एक आंशिक वस्तु है। और वह एक जटिल पूर्णता के अन्तर्गत केवल तत्त्वों का हेर-फेर है। परन्तु जब तक हम और आगे बढ़कर यह न कहें कि जगत् की सम्पूर्ण अवस्था में कोई परिवर्तन होता ही नहीं, तब तक इस दृष्टि से कोई लाभ नहीं। अस्तु। हम सिद्धान्त पर उतारू हो जाते हैं कि आंशिक परिवर्तनों में कोई परिवर्तन नहीं अपितु, स्थायी और अविकारी एक पूर्ण इकाई के भीतर ही वे परस्पर एक-दूसरे को सामंजस्य में रख रहे हैं। और यहाँ पर निश्चित रूप से परम्परित भाव एक आभास में ही रह जाता है कि जिसका विशेष मूल्य हम आँकने में असमर्थ हैं। परन्तु इस प्रकार कार्य-कारण-सम्बन्ध का पूर्वापर्य अपने से परे एक ऐसे सत् में सरक जाता है, जो वस्तुतः कालातीत है। और, इसलिए परम सत् की अनन्तता के विरुद्ध कोई आक्षेप खड़ा करने का प्रयत्न करके कार्य-कारण-सिद्धान्त अपने स्वभाव में निहित नियम को ही अस्वीकार करेगा।

मैं मानता हूँ कि इस अध्याय का अन्त होते-होते हम सम्भवतः किसी आस्था पर पहुँच चुके हैं। न केवल पूर्ववत् हम यह विश्वास करते हैं कि समय असत् है अपितु यह भी कि उसका आभास किसी कालातीत विश्व के साथ भी सुसंगत हो सकता है। केवल गलत रूप में समझे जाने पर ही परिवर्तन अनन्तता-विषयक विश्वास अस्वीकार करता है, ठीक रूप में समझे जाने पर उसमें से हमारे सिद्धान्त के विरुद्ध कोई मान्यता नहीं उद्भूत होती। हमारे परम सत् का अस्तित्व अवश्य है, और अब एक और प्रसंग में भी, उसका होना सम्भव निकला। अतः निःसन्देह वह सत् है।

मैं इस अध्याय का अन्त दिक् के स्वरूप-विषयक कुछ टिप्पणियों से करूँगा।[1] काल की दृष्टि से इस विषय पर आगे हमें किन्हीं नयी कठिनाइयों का सामना नहीं करना पड़ता और केवल बहुत थोड़े शब्दों की ही आवश्यकता प्रतीत होती है। मैं यहाँ पर दिक् के उद्भव को बतलाने का प्रयत्न नहीं करूँगा, और सचमुच यह बतलाना कि उसका अस्तित्व कैसे हुआ, मुझे असम्भव भी प्रतीत होता है। और तिस पर भी हमें यह प्रश्न करने की भी आवश्यकता नहीं कि हमारी प्रमुख दृष्टि के अनुसार इस भौतिक जगत् को कैसे समझा जाय? यह आवश्यक प्रश्न ऐसा है

१. यहाँ मैं चौथे अध्याय की ओर संकेत करूँगा।

जिसको आगे टालना ही अधिक अच्छा होगा। यहाँ पर प्रश्न केवल इतना ही है कि क्या दिक् का स्वरूप हमारे सत् को असम्भव बना देता है ? क्या उसका अस्तित्व एक ऐसी वस्तु है, जो परम सत् के साथ संगति नहीं रख सकती ? मेरी समझ में ऐसे प्रश्न पर किसी चर्चा की आवश्यकता नहीं।

यदि हम यह सिद्ध कर सकें कि दिक् का स्वरूप एक विकसित रूप है और इसलिए गौण है तो उससे हमें कोई सहायता नहीं मिलती। इस प्रमाण के द्वारा किसी ऐसी वस्तु की सत्ता तनिक भी कम नहीं होती, जिसका कि अस्तित्व अनिवार्य है। अधिक-से-अधिक वह यही सूचित कर सकता है कि विकास की अगली प्रगति सम्भवतः दिक्स्वरूप को किसी उच्चतर परिपाटी में विलीन कर दे। परन्तु जिस बात का निश्चित होना कठिन हो उस पर अपने तर्क को आश्रित न करना ही अच्छा है।

मैं जिस बात को आधार बनाना चाहता हूँ, वह दिक् का तात्विक स्वरूप है। क्योंकि, जैसा कि हम प्रथम पुस्तक में देख चुके हैं, वह पूर्णतया असंगत है। वह निरन्तर ऐसी किसी वस्तु तक पहुँचने का प्रयत्न करता है जो उसकी शक्तियों का अतिक्रमण कर जाती है। उसने एक ठोस स्व-सत्ता को पाने तथा बनाये रखने का प्रयत्न किया, परन्तु वह प्रयत्न उसे भीतर और बाहर दोनों ओर ही एक अनन्त प्रक्रिया में घुसा ले गया। और, अपने में ही सीमित रहने की उसकी स्पष्ट असमर्थता ही उसके द्वन्द्वों और असंगतियों के निराकरण का मार्ग बतलाती है। दिक् एक ऐसे उच्चतर प्रत्यक्ष में खोना चाहती है, जहाँ कि बिना विविधता खोये ही व्यक्तित्व प्राप्त हो जाता है।[1]

इसी प्रकार दिक् की विलीनता किसी अधिक परिपूर्णता में सम्भव होने के विरुद्ध मुझे नहीं मालूम कि मैं क्या कहूँ। निःसन्देह हम यह कहने में असमर्थ हैं कि विशेष करके यह सचमुच कैसे सम्भव हो सकता है ? परन्तु यदि हम उसको सविस्तार नहीं जानते, तो यह कोई उसकी सामान्य सम्भावना के विरुद्ध आपत्ति की बात नहीं है और यह संभावित विलीनता, जैसा कि हम देख चुके हैं, आवश्यकता भी है।

---

१. क्या और किसी अर्थ में दिक् में कोई ऐक्य भाव है, यह प्रश्न २२ वें अध्याय तक के लिए स्थगित किया जाता है। काल के प्रसंग में इस विषय पर चर्चा का करना आवश्यक था, परन्तु परम सत विषयक कोई भी आक्षेप दिक् की एकता पर मुश्किल से आधारित हो सकता है।

उन्नीसवाँ अध्याय

इदम् और मम

हम देख चुके हैं कि दिक् तथा काल के स्वरूपों के आधार पर परम सत् के व्यक्तित्व के विरुद्ध कोई प्रबल आपत्ति नहीं की जा सकती। परन्तु अभी तक हमें किसी भी ऐसी कठिनाई का सामना नहीं करना पड़ा जो संभवतः अधिक गंभीर सिद्ध हो सकती। यह एक वह तथ्य है जिसका संकेत प्रस्तुत अध्याय के शीर्षक से मिल रहा है। यह कहा जा सकता है कि मनोभाव की विशिष्टता एक ऐसी कठिनाई है जो पार होती नहीं दीखती। 'इदम्' और 'मम' को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। और यह कहा जा सकता है कि हमारे सिद्धान्त के अनुसार वे दो अनिर्वचनीय तत्त्व हैं।

'इदम्' और 'मम' ऐसे शब्द हैं जो मनोभाव की अव्यवहिति को प्रकट करते हैं और जिनमें से प्रत्येक उस तथ्य के एक पक्ष की ओर ही ध्यान आकर्षित करने में सहायक है। ऐसा कोई 'मम' नहीं है जो कि 'इदम्' न हो, और न कोई ऐसा 'इदम्' है जो किसी एक अर्थ में 'मम' होने में असफल रहता हो। अव्यवहित तथ्य सदैव किसी अनुभव में गृहीत वस्तु के रूप में उपस्थित होगा, और कोई अनुभव सदा ही विशिष्ट होगा, तथा, एक अर्थ में 'अद्वितीय' होगा। परन्तु मैं इस अन्तिम शब्द में निहित सभी समस्याओं को नहीं उठाऊँगा। मैं यहाँ पर यह गवेषणा नहीं करूँगा कि 'इदम्' 'मम' को अतिक्रांत करने में कैसे समर्थ होते हैं, क्योंकि इस प्रश्न को हम आगे चल कर लेंगे (अध्याय २१) और इस समय हमारे सामने जो समस्या है वह एक ही विषय तक सीमित है। हमें यह कल्पना कर लेना है कि 'इदम्' 'मम' की अनुभूति के अव्यवहित अनुभवों की अनन्त संख्या है। और, इस तथ्य की कल्पना करके, हमें यह प्रश्न करना है कि क्या यह हमारी सामान्य दृष्टि से मेल खाता है?

इस गवेषणा की अधिकांश कठिनाई अस्पष्टता के कारण उत्पन्न होती है। 'इदम्' 'मम' के धनात्मक तथा ऋणात्मक दोनों रूपों में ग्रहण किया जाता है। उनकी अद्वितीय सत्ता को भी माना जाता है, और उनमें किसी अर्थ में, एक स्वतंत्र स्वरूप भी माना जाता है। और इस शिथिल आधार से तुरंत ही एक अविचारपूर्ण निष्कर्ष

निकाल लिया जाता है। परन्तु कुछ भी हो, अद्वितीय सत्ता संभवतः अकेली और स्वयंभू तो नहीं होगी। और संभवतः उस विशिष्ट स्वरूप का सर्व इकाई में समावेश और ग्रहण हो जाता है। और यही प्रश्न है जिसको हमें स्पष्ट करके चर्चा करने का प्रयत्न करना है। मैं उस विषय से प्रारम्भ करूँगा जिसको हमने धनात्मक पक्ष कहा है।

'इदम्' और 'मम' मनोभाव के अव्यवहित स्वरूप तथा एक सीमित केन्द्र में इस स्वरूप के आभास को व्यक्त करते हैं। मनोभाव सम्बन्धों के विकसित होने से पूर्व किसी मानसिक अवस्था के लिए आ सकता है। अथवा सामान्य रूपों में उसका प्रयोग किसी ऐसे अनुभव के लिए हो सकता है जो अप्रत्यक्ष न हो (अध्याय ९, २६ और २७)। किसी भी समय-विशेष पर हम जो सहन करते हैं, करते हैं, और होते हैं, वह सब एक मानसिक समष्टि का रूप धारण कर लेता है। वह सब एक सहभूत संगति के रूप में अनुभव किया जाता है, न कि सहअस्तित्व तक के सम्बन्धों-द्वारा वियुक्त तथा संयुक्त संगति के रूप में। उसके अन्तर्गत आत्मा में तत्काल स्थित प्रत्येक प्रत्ययात्मक विषय और सभी संबंध और विशिष्टताएँ होती हैं। वे विशेष करके इस रूप में और अपनी इयत्ता की विधेयता पर ही आग्रह करते हुए उसके अन्तर्गत नहीं होते, अपितु वे इस रूप में होते हैं जिसमें कि उनका प्रत्यक्ष अस्तित्व है और जिसमें मानसिक 'तद्' को वे विशिष्टत्व प्रदान करते हैं। और फिर इस अस्तित्व के जिस किसी भी अंग को हम लें, उसको भी एक मनोभाव के साथ एकीभूत होता हुआ माना जा सकता है।

अब प्रत्यक्ष रूप में इस प्रकार जो भी अनुभव किया जा सकता है, जब तक कि हम अन्यथा ग्रहण नहीं करें, वह सब 'इदम्' और 'मम' होता है। और इस प्रकार के सभी प्रदर्शन की निःसन्देह एक विचित्र सत्ता होती है। कोई यह तक कह सकता है कि उसका तर्क-संगत रूप में अतिक्रमण करना असंभव है, और 'इदम्-ममों' की अनेकता को पाने का कोई न्यायसंगत मार्ग नहीं। परन्तु फिलहाल हम इस अनेकता की कल्पना पर सहमत हो गये हैं। फिर भी, यह स्पष्ट है कि इस इदम्-द्वारा एक श्रेष्ठ सत्ता का भाव आता है, और यह ऐसा भाव है जो पूर्णतया भ्रामक या असत्य होने से बहुत दूर है, क्योंकि हमारा सभी ज्ञान सर्वप्रथम इस इदम् से ही उत्पन्न होता है। हमारे अनुभव का यही एक साधन है और जगत् के प्रत्येक तत्त्व को इसी के द्वारा आना स्वीकार करना पड़ता है। दूसरे, यह इदम् अपने में अंतिम सत् की एक वास्तविक विशेषता रखता है। फिर भी एक बहुत बड़ी अपूर्णता और असंगति के साथ इसकी एक व्यक्तिगत विशेषता भी होती है। हमारे लिए यह 'इदम्' एक ऐसे अर्थ में सत् है जिसमें इसके अतिरिक्त और कुछ भी सत् नहीं है।

सत् एक ऐसी वस्तु है जिसमें इयत्ता का अस्तित्व से कोई पार्थक्य, अथवा 'तद' से किम् का शैथिल्य नहीं है। संक्षेप में, सत् का अर्थ वही है जो उससे प्रकट होता है और उससे प्रकट वही होता है जो उसका अर्थ है। और 'इदम्' में किसी सीमा तक स्वरूप की वही परिपूर्णता विद्यमान है। हम कह सकते हैं कि 'इदम्' और सत् दोनों ही अव्यवहित हैं परन्तु सत् व्यवहित इसलिए है कि वह व्यवहिति को अपने में समाविष्ट करता है और स्वयं उससे श्रेष्ठ है। वह अपने अन्तर्गत भिन्नताओं को विकसित तथा एकीकृत करता है। 'इदम्' दूसरी ओर अव्यवहित है। क्योंकि यह भिन्नताओं से एक नीचे स्तर पर है। इसके तत्त्व सम्बन्ध नहीं होते अपितु संयुक्त होते हैं। अतः उसकी इयत्ता अस्थिर होती है। और तत्त्वतः उसमें छिन्न-भिन्न होने की प्रवृत्ति होती है। और वह स्वभावतः 'इदम्' की सत्ता के परे चला जाता है परन्तु प्रत्येक 'इदम्' अविभक्त इकाई के एक अस्थिर पक्ष को फिर भी प्रकट करता है। विशेष करके मानसिक पृष्ठभूमि में, इस प्रकार की एक संबंध-इकाई स्थायी तत्व के रूप में विद्यमान रहती है, और वह कभी क्षीण नहीं हो सकती (अ० ९, १०, २७) और यह एक ऐसी अटूट परिपूर्णता है जो व्यक्तिगत सत् का भाव देती है। जब हम प्रत्यय-मात्र से आलोचना की ओर आते हैं तो हम इस 'इदम्' में एक नवीनता और जीवन का साक्षात्कार पाते हैं। और यदि यह साक्षात्कार भ्रामक भी हो तो भी कदापि नितान्त असत्य नहीं हो सकता।[1]

अभी हम इस 'इदम्' को प्रत्यक्ष अनुभव के धनात्मक मनोभाव के रूप में ग्रहण कर सकते हैं। उस अर्थ में या तो सामान्य होगा या विशेष। वह एक ऐसी विशिष्टता होगी जिसका हम सदा अनुभव करते हैं अथवा जिसे हम किसी विशेष इयत्ता के साथ एकीकृत पाते हैं। और अब प्रश्न यह होता है कि क्या इस अर्थ में यह 'इदम्' हमारे परम सत् के साथ मेल नहीं खाता।

इस प्रकार पूछे हुए प्रश्न पर किसी चर्चा की आवश्यकता दिखायी नहीं देती, क्योंकि हमारे विचार में परम सत् एक सर्व है, इसलिए हम यह मान सकते हैं कि अव्यवहित सत् का भाव निश्चित रूप से उसका विशेषण हो सकता है। और साथ ही मुझे 'इदम्' के विशेष अर्थ को ग्रहण करने में कोई कठिनाई नहीं पड़ती। प्रत्येक उपस्थापना तथा

---

१. यह केवल अविचारशीलता-मात्र है जो कि प्रतिरोध में सत् की एक अभिव्यक्ति देखती है क्योंकि प्रथम तो प्रतिरोध जोवित अन्तर्विरोधों से परिपूर्ण होता है, और एक ही स्वरूप में स्थिर तथा विद्यमान होता है और दूसरे ऐन्द्रिक दुःख-सुख के अतिरिक्त और कौन-सा अनुभव अधिक वास्तविक हो सकता है।

मानसिक तत्वों के प्रत्येक आकस्मिक मिश्रण में, हमें एक विशेष इयत्ता का भान मिलता है। हमें एक विशेष प्रकार के अनुभवजन्य परिपूर्णता के अस्तित्व का भान होता है। और वहाँ पर हमें निःसन्देह एक ऐसी धनात्मक इयत्ता और एक ऐसे नये तत्व के दर्शन होते हैं हमारे परम सत् में जिसका समावेश होना आवश्यक है, परन्तु अभी तक इस प्रकार की इयत्ता में हमें ऐसा कुछ भी नहीं मिला जो तिरस्कृत या बहिष्कृत करने वाला हो। वहाँ ऐसी कोई विशेषता नहीं मिली जो उस सर्व में मिलने या विलीन होने का प्रतिरोध करे।

मैं यह बात स्वीकार करता हूँ कि वास्तविक को संघात्मक की व्याख्या मैं नहीं कर सकता। अन्ततोगत्वा इस अनुभव का सीमित केन्द्रों में होना और असीमित 'इदंता' के स्वरूप को ग्रहण करना अन्ततोगत्वा अनिर्वचनीय है। (अध्याय २६) परन्तु अनिर्वचनीय होना और असंगत होना एक बात नहीं। और इस प्रकार की छिन्नता-भिन्नता को एक धनात्मक रूप में समझने पर, मुझे इसमें अपने मत का कोई विरोध दिखायी नहीं पड़ता। प्रतिपत्तियों की अनेकता एक तथ्य है और इसलिए वह परम सत् में एक अन्तर पैदा कर सकती है। उसका अस्तित्व है और इसलिए परिपूर्णता में, वह विकार उत्पन्न करती है। हम यह मान सकते हैं कि सम्पूर्ण विभिन्नता तथा विविधता के कारण विश्व अधिक सम्पन्न है। निःसन्देह हमें इसका सविस्तार ज्ञान नहीं कि इस पार्थक्य का निराकरण कैसे होता है, और न हम इस प्रकार के प्रत्येक निराकरण का सदा परिणाम ही बता सकते हैं। परन्तु हमारा यह अज्ञान किसी तर्क पूर्ण विरोध का कोई कारण नहीं हो सकता। हमारा सिद्धान्त हमें विश्वास दिलाता कि परम सत् पार्थक्य से परे है और एक प्रकार से उसके द्वारा उसमें पूर्णता आती है। और अभी तक इस परिणाम की सम्भावना में सन्देह करने तक के लिए हमें कोई कारण दिखायी नहीं देता। अभी तक हमें ऐसा कुछ भी नहीं मिला जो किसी भी रूप में पृथक् रहने में समर्थ प्रतीत होता है। ऐसा कोई तत्व नहीं जो अवशिष्ट से मिलने में तथा एक उच्चतर इकाई में विलीन होने में हिचकता हो।

यदि इस सर्व में केवल प्रत्ययों की एक क्रमबद्धता होती, यदि यह केवल बौद्धिक तर्क-मात्र होता, तो बात दूसरी होती। इस प्रकार के प्रत्ययों को संयुक्त करना कितनी ही कुशलता के साथ क्यों न सम्भव हो, परन्तु हमें किसी ऐसे परिणाम की रचना और प्राप्ति सम्भव नहीं जिसके अन्तर्गत इस 'इदम्' से प्रत्यक्ष-रूपेण प्राप्त होने वाली कोई वस्तु आ सके। मैं इस असमर्थता को स्वीकार करता हूँ, और मैं अपने मत की एक और पुष्टि और समर्थन के रूप में इसका प्रतिपादन करता हूँ। क्योंकि हमारा परम सत् केवल एक बौद्धिक तर्क नहीं था। वह एक ऐसा अनुभव था जो कि एकांगिता के सभी

प्रकारों को अभिभूत करता था। और जिसके अन्तर्गत विचार, अन्तर्दृष्टि, मनोभावना और संकल्प एकीभूत थे। परन्तु यदि यह बात है, तो 'इदम्' के विरोध का कोई अर्थ नहीं रहता, क्योंकि अपने निज, अपने पृथक् स्वभाव को रखने वाले मनोभाव निश्चित रूप से एकीभूत होकर परम सत् में विलीन हो सकते हैं और इस प्रकार के विलीनीकरण की असंभावना इतनी कम प्रतीत होती है कि मुझे तो वह अत्यन्त स्वाभाविक तथा सरल प्रतीत होता है। एकांगी अनुभवों के एकीभाव और एक सुसमृद्ध सर्व के उत्पन्न करने के लिए, उनकी अभिव्यक्तियों के एकीकरण में क्या कोई अविश्वसनीय बात है ? यदि शुद्ध धनात्मक मनोभाव ठोस तथा अडिग सिद्ध हों और विलीनीकरण में सम्मिलित न हों तो यह सचमुच अद्भुत बात होगी, क्योंकि उनका स्वभाव एक दूसरे प्रकार का है और परम सत् की अद्वैत अनुभूति में उनका विलीनीकरण अनिवार्य है। स्पष्टतः यह परिपूर्णता वास्तविक है क्योंकि हमारे सिद्धान्त के अनुसार वह आवश्यक है और क्योंकि उसकी संभावना में सन्देह करने के लिए हमारे पास कोई कारण नहीं। और इतना कह कर अब हम 'इदम्' के धनात्मक पक्ष को छोड़ सकते हैं।

क्योंकि यह स्पष्ट है कि यह 'इदम्' और 'मम' ऋणात्मक रूप में भी ग्रहण किये जाते हैं, उनको किसी अर्थ में परम सत् से विपरीत सा माना जाता है और उनमें एक अनन्य विशेषता समझी जाती है और इस बात को अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि उनका स्वरूप अंशतः अनन्य है, परन्तु प्रश्न यह है कि वह किस अर्थ में और कितना है। क्योंकि यदि प्रतिरोध सापेक्षिक है और पूर्ण इकाई के केवल अन्तर्गत ही रहता है, वह विश्वविषयक हमारे मत के नितान्त अनुरूप है।

अभी तक धनात्मक रूप में समझे जाने पर अव्यवहित अनुभव अनन्य नहीं है। अभी तक उसका जो स्वरूप में वह है, और वह किसी का प्रतिरोध नहीं करता। परन्तु यह 'इदम्' निःसन्देह एक ऋणात्मक अर्थ में भी प्रयुक्त होता है। 'तद्एकम्' और 'अपरम्एकम्' से भिन्नता प्रकट करने के लिए इसका अर्थ 'इदम्एकम्' भी हो सकता है। यहाँ निःसन्देह इसमें एक अनन्यता दिखायी पड़ती है और इसमें एक बाह्य तथा ऋणात्मक सम्बन्ध निहित जान पड़ता है। परन्तु हम देख चुके हैं कि ऐसा प्रत्येक सम्बन्ध अपने स्वरूप के साथ ही असंगत है। (अध्याय ३)। क्योंकि उसका अस्तित्व एक व्यापक एकता के भीतर तथा उसके परिणामस्वरूप है और इस परिपूर्णता के अभाव में स्वयं वह और उसके व्यंजकशून्य हो जाएँगे, वह सम्बन्ध भी अपने व्यंजकों की आन्तरिक सत्ता में प्रविष्ट होना चाहिए। दूसरे शब्दों में तद् इदम् से बाहर तब तक नहीं होगा जब तक कि इस बहिष्कार में इदम् अब तक स्वयं से बाहर नहीं हो गया हो। इस प्रकार दूसरों के प्रति उसका विरोध स्वगत एकाकीपन से मेल नहीं खाता, और एक व्यापक

सर्व के प्रति आश्रय-भाव को व्यक्त करता है। परन्तु अन्तिम सर्व से कुछ भी विपरीत अथवा असम्बद्ध नहीं हो सकता।

और 'इदम्' का यह स्वातिक्रांत रूप सब ओर से खुला और स्पष्ट है। अव्यवहित प्रतीत होते हुए, वह दूसरी ओर ऐसी इयत्ता भी रखता है जो स्वयं संगत नहीं है, और जो अपने से परे की ओर देखता है। अतः 'इदम्' का आंतरिक स्वरूप उसे अपने से बाहर एक उच्चतर परिपूर्णता की ओर ले जाता है और उसका ऋणात्मक पक्ष इस सामान्य प्रवृत्ति का एक आभास-मात्र है। उसकी अनन्यता ही उसे स्वयं से परे देखने को बाध्य करती है और परम सत् में उसकी आवश्यक विलीनता का इसलिए एकमात्र प्रमाण है।[1]

और यदि यह 'इदम्' 'अद्वितीय' होने के कारण ही अनन्य कहा जाय, तो इस विषय में हमें और अधिक चर्चा करने की आवश्यकता नहीं। इस शब्द का अर्थ यह हो सकता है कि 'इदम्' 'मम' के अतिरिक्त और कुछ भी सत् नहीं है। और इस अवस्था में, प्रश्न को २१वें अध्याय के लिए स्थगित किया जाता है। और यदि 'अद्वितीय' का अर्थ यह है कि जिसका एक बार अनुभव हो उसका फिर कदापि अनुभव न हो, तो ऐसा कथन, अपने विस्तृत अर्थ में, असत्य भी प्रतीत होता है, क्योंकि यदि एक ही स्वरूप के मनोभाव बार-बार वस्तुतः नहीं आते तो हम कम-से-कम उनकी पुनरावृत्ति की संभावना को हम अस्वीकार नहीं कर सकते। जहाँ तक 'इदम्' एक शृंखला का अंग है और जहाँ तक वह शृंखला अन्यों से पृथक् है, वहाँ तक यह 'इदम्' निःसन्देह अद्वितीय है। और केवल इसी अर्थ में, हम उसकी पुनरावृत्ति को असम्भव कह सकते हैं। परन्तु यहाँ अद्वितीयता में हमें फिर ऋणात्मक सम्बन्धों की प्राप्ति होती है और इन सम्बन्धों में एक सर्वगत एकता निहित मिलती है। इस अर्थ में अद्वितीयता का परम सत् के द्वारा अंगीकरण किये जाने से कोई विरोध नहीं होता। इसके विपरीत वह स्वयं ही अनन्य एकाकीपन से मेल नहीं खाती।

अभी मैं स्वसंकल्प के स्वरूप के विषय को नहीं लेना चाहता यह एक सीमित उद्देश्य-द्वारा अपनी निश्चित पूर्णता के विरुद्ध प्रवर्तित विरोध है और हम एकदम यह कह सकते हैं कि ऐसी असंगति और निषेध एकता के अन्तर्गत आश्रित रह सकते हैं और विश्व की परिपूर्णता में सहयोग कर सकते हैं। केन्द्रीय अग्नि के साथ उसका जो सम्बन्ध होता है वही इस सामान्य अग्नि तत्व में आत्मभाव की ज्वलनशीलता उत्पन्न करता है।

---

१. इस विषय में तुलना कीजिये Principles of Logic अध्याय २।

(१) यह निष्कर्ष इदम् के उस स्वरूप पर अत्यधिक लागू होता है जिसको मैं सत् के निवासस्थान को व्यक्त करने वाला मानता हूँ। सभी प्रकार के सम्पर्क में उन तत्वों की एक अनिवार्य एकता निहित है जिनमें और जिनके द्वारा वह स्थापित होता है, और यहाँ पर मेरा आशय और सत् केवल एकांगी आभास-मात्र है। और हम यह कह सकते हैं कि जब तक 'मम' मेरी अनुभूति का एक अंग-मात्र है, तब तक वह मुझे 'अमम्' के रूप में प्रतीत नहीं हो सकता। ऊपर मैंने सत् के उस सच्चे अर्थ के विषय में चर्चा की है जो इदम् में से प्रकट होता है। और यह भेद-भाव ऐसे समन्वय में विलीन हो जाता है जहाँ केन्द्र तथा परिधि एक हो जाते हैं। परन्तु इसकी चर्चा एक-दूसरे स्थान पर मैं फिर करूँगा (अध्याय २५)।

हम देख चुके हैं कि अनन्य रूप में ग्रहण किये जाने पर, यह इदम् सम्बन्धात्मक हो जाता है। और उस सम्बन्ध में अपनी स्वतंत्रता खो बैठता है। और हम यह भी देख चुके हैं कि धनात्मक रूप में यह इदम् बिल्कुल अनन्य नहीं होता। यह इदम् सदा ही संगतिहीन रहता है, परन्तु जहाँ तक इसमें अनन्यता है वहाँ तक इसमें पहले से ही आन्तरिक ह्रास होने लगता है। अब संभवतः हमें एक भिन्न प्रकार से विचार करने में लाभ हो सकता है। मेरा अनुमान है कि कुछ लोगों की एक अस्पष्ट कल्पना है कि इदम् के भीतर कुछ इयत्ता तो अनिवार्य रूप में बनी ही रहती है, अथवा इदम् में कुछ ऐसा भी तत्व है जो कि बिल्कुल होता ही नहीं। इनमें से प्रत्येक अवस्था में एक ऐसी इयत्ता प्रदान की जाती है जो सर्व में विलीन हो ही नहीं सकती और इन पूर्वाग्रहों के एक परीक्षण से हमारे सामान्य मत पर कुछ प्रकाश पड़ सकता है।

पहले यह प्रतीत हो सकता है कि इदम् के भीतर इसकी इयत्ता के अतिरिक्त कुछ और भी है। क्योंकि अनन्त रूप से गुणों का संयोजन करने पर भी हम इदम् के पाने में असमर्थ होते हुए प्रतीत होते हैं। सम्भवतः इसी कठिनाई को एक ऐसे ढंग से भी व्यक्त किया जा सकता है जिससे उसका हल भी ध्वनित हो। हम कह सकते हैं कि एक ओर तो इदम् में उसकी इयत्ता के अतिरिक्त कुछ है नहीं, और दूसरी ओर इदम् एक इयत्ता ही नहीं है, क्योंकि इयत्ता शब्द में एक अस्पष्टता है। संभवतः उसका अभिप्राय एक ऐसे 'किम्' से हो जो उसके तद् से भिन्न हो भी और नहीं भी। और हम पहले ही देख चुके हैं कि इदम् में असंगति पक्ष है। एक पक्ष की दृष्टि से, वह एक अव्यवहित अविभाजित अनुभव उपस्थित करता है, जो कि एक ऐसी पूर्ण इकाई होता है जिसके अन्तर्गत तद् और किम् का एक रूप में अनुभव होता है। और यहाँ पर भेदसूचक इयत्ता 'इदम्' में नहीं होगी। परन्तु हम देख चुके हैं कि ऐसी अविभाजित अनुभूति एक धनात्मक अनुभव भी है। वह परम सत् द्वारा आत्मसात किये जाने का प्रतिरोध तक नहीं करता।

दूसरी ओर यदि हम इयत्ता का अर्थ सामान्य अर्थ में करें और यदि हम उसका प्रयोग 'तद्' से अभिन्न 'किम्' के अर्थ में करें—यदि हम उससे कोई ऐसी वस्तु ग्रहण करें जो कि अनुभव की जाती है, और जो अनुभव के अतिरिक्त और भी कुछ तो अवश्य ही 'इदम्' इयत्ता के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। क्योंकि उसके अन्तर्गत अथवा उसके विषय में ऐसा कुछ भी नहीं है जो अनुभव से अधिक कुछ और हो। और फिर उसके भीतर ऐसी कोई विशेषता नहीं जिसको एक गुण बनाया जा सके। उसके विभिन्न पक्षों को भेद-भाव तथा विश्लेषण के द्वारा पृथक् किया जा सकता है। यह कथन एक विशेष सत्ता के उस अव्यवहित भाव पर भी लागू होता है जिसको हमने ऊपर प्रत्येक अनुभूत मिश्रण की विशिष्टता में पाया। संक्षेप में, इस इदम् का कोई ऐसा अंश नहीं जो किसी भेद-भाव का विषय न बन सके और इसलिए पहले तो इदम् सर्वथा बुद्धि-गम्य कहा जा सकता है। इसमें ऐसा कोई पक्ष नहीं जो एक गुण होना स्वीकार न करे और एक प्रत्ययात्मक विधेय का काम न करे।

परन्तु यहाँ आत्म-प्रवंचना और त्रुटि सुलभ है। एक प्रस्तुत पूर्णता को ग्रहण करने अथवा संभवतः एक अंश को चुनने के लिए, हमने उसके अस्पष्ट सह-अस्तित्व का भेद-भाव और पार्थक्य करना प्रारम्भ किया। और इस प्रकार सुनिश्चित इयत्ताओं तथा सुसम्बन्वित गुणों को ग्रहण करके हम अपने इदम् को असम्बद्ध परिणाम के साथ तादा-त्म्य रखने को कहते हैं। और जब यह इदम् अस्वीकार करता है, तो हम उस पर दुरा-ग्रही अनन्यता का दोषारोपण करते हैं। उसको या तो अपनी प्रकृति में एक निवारक इयत्ता को रखने वाला माना जाता है, अथवा कोई और वस्तु जो सर्वथा दुर्गम हो। परन्तु यह सम्पूर्ण निष्कर्ष ही तर्कहीन है, क्योंकि यदि हमने अपने उद्देश्य को तोड़ा-मरोड़ा नहीं, तो हमने कम-से-कम उसमें ऐसी विशेषता जोड़ी है जो मूलतः उसमें नहीं थी—एक ऐसी विशेषता, जो उसमें समाविष्ट होने पर, इदम् को अनिवार्यतः फोड़ दे, और उसे भीतर से ही नष्ट कर दे। हम देख चुके हैं कि यह इदम् सम्बन्धों तथा प्रत्ययों से नीचे रहने वाली एक एकता है, और एक ऐसी एकता जो सभी भेदों को विकसित तथा समन्वित कर सके, अंतिम सत् के अतिरिक्त अन्यत्र नहीं मिल सकती। इसलिए इदम् हमारे द्वारा उपस्थित विधेयों को तिरस्कृत इसलिए नहीं करता कि उसकी प्रकृति और परे चली जाती है, अपितु इसलिए कि उसकी प्रकृति कुछ नीचे रह जाती है। हम कह सकते हैं कि वह हमारे भेदों से अधिक नहीं अपितु कम है।

और अपनी सैद्धान्तिक त्रुटि में हम सम्भवतः एक व्यावहारिक त्रुटि और मिला देते हैं, क्योंकि हम सम्भवतः अपने इदम् की सम्पूर्ण अभिव्यक्ति करने में असमर्थ रहते हैं, और हमारी असफलता मात्र से बचा हुआ अवशेष आँख मूँदकर एक अलुक

(irreducible) पक्ष के रूप में स्थित मान लिया जाता है क्योंकि यदि हमने अपने इदम् को अनुभूत समग्रता के एक अंश तक ही सीमित रखा है तो संभवतः हमने विश्लेषण से उसकी विशेष एकता के धनात्मक पक्ष को छोड़ दिया है। परन्तु यदि यह बात है तो हमारा विश्लेषण स्पष्ट रूप से अधूरा और भ्रामक है। और तब अपने सीमित इदम् को अनन्योन्मुख सम्बन्धों के द्वारा विशिष्ट बनाकर, हम संभवतः पुनः यह बात नहीं देखते कि इनके रूप में हमने उसकी मूलभूत इयत्ता में एक और तत्त्व जोड़ दिया है। और हमने जो जोड़ दिया है और जिसकी उपेक्षा भी कर दी है फिर इदम् की प्राकृतिक निवारकता को मान लिया है। परन्तु दूसरी ओर यदि हमारे इदम् को सीमित नहीं माना जाता है। और यदि उसे एक वर्तमान को ऐसा समग्र नाम-रूप मान लिया जाता है जिसको अपने निज के भूत एवं भविष्यत् से भी असम्बद्ध समझा गया हो तो हमसे त्रुटियाँ अवश्य होंगी, क्योंकि यहाँ पर विस्तार इतना अधिक है कि सम्पूर्ण समाप्ति शायद ही सम्भव हो। और इसलिए जो वस्तुतः अव्यावहारिक है उसको सम्पादित मान कर, हम एक बार फिर एक ऐसे अवशेष से जा टकराते हैं जो पूर्णतया हमारी दुर्बलता का परिणाम है। और सम्भवतः हेत्वाभास के एक दूसरे स्रोत से हमें ग़लती करने में और भी सहायता मिल जाती है। जिस मनोभाव का हम अध्ययन कर रहे हैं उसको हम ग़लती से इस मनोभाव में समझ ले सकते हैं जो कि हम स्वयं हैं।

जैसा कि हम देख चुके हैं, किसी (भूत) मानसिक पूर्णता के किसी विषय को सम्पादन के प्रयत्न में, हम सम्भवतः अज्ञात रूप में प्रत्येक उस विशेषता को लाने का प्रयत्न करें जो कि हम इस समय हैं और अनुभव करते हैं। और हम अपनी असफलता को दोषारोपण प्रतिविरोधी विषय के धनात्मक अडिगपन पर कर सकते हैं।[1]

जिन विधेयों को हम पृष्ठभूमि में अनुभव करते हैं उनका सम्पूर्ण उद्देश्य सामान्यतः किसी भी विधेय अथवा विधेयों के द्वारा समाप्त नहीं किया जा सकता, क्योंकि उद्देश्य उन-सबको एकीभूत रखता है, जब कि विधेयकत्व में पार्थक्य होता है, और इसलिए न तो अन्तिम सत् ही और न कोई उद्गार ही गुणों से निर्मित हो सकता है। यह तो

---

१. यहाँ पर सफलता असम्भव है, क्योंकि विश्लेषण तथा समाप्ति की कठिनाई के अतिरिक्त, हमारा वर्तमान परिवेक्षक दृष्टिकोण एक नयी तथा असंगत विशेषता उपस्थित करता है। हमारी अवस्था में यह एक ऐसा एतत्कालीन तत्त्व है जो हमारी अवस्था में उस समय नहीं था। इस प्रसंग में मैं यह कह दूँ कि किसी मनोभाव के परिवेक्षण का अर्थ किसी हद तक, सदा ही उसको बदलना होगा। प्रस्तुत उद्देश्य के लिए वह परिवर्तन सम्भवतः उपयोगी न हो परन्तु वह सर्वथा ही उसमें होगा। मैंने इस विषय को Principle of Logic पृष्ठ ६५ पर लिया है।

सत्य का एक पक्ष है। परन्तु सत्य का दूसरा पक्ष भी है। सत् में ऐसी कोई विशेषता या पक्ष नहीं है जो विविक्त न किया जा सके, और ऐसा कोई नहीं जो इस प्रकार एक विशेषण-मात्र अथवा विधेय-मात्र न हो सके। यही निष्कर्ष इदम् (आप किसी अर्थ में उसे क्यों न लें पर) भी लागू होता है। यहाँ ऐसी कोई बात नहीं जो एक अडिग जड़ता के रूप में हो सके और जो अन्तिम सत् को विशिष्ट बनाने अथवा उसमें मिल जाने को अस्वीकार कर दे।

हम देख चुके हैं कि, एक अर्थ में, यह 'इदम्' न स्वयं इयत्ता है और न कोई इयत्ता अपने में रखता है। परन्तु एक दूसरे अर्थ में, हम देख चुके हैं कि इसमें इयत्ता है और यह स्वयं और कुछ नहीं है। अब एक दूसरे पूर्वाग्रह पर विचार करना प्रारम्भ कर सकते हैं। क्या कोई ऐसी इयत्ता है जो 'इदम्' की हो और उसी में संलग्न रहती हो और जो इस प्रकार अवशिष्ट रह जाती हो और किसी उच्चतर तंत्र में मिलना अस्वीकार करती हो ? इसके विपरीत, हमने देख लिया है कि तत्वतः 'इदम्' स्वतिक्रमणकारी है। परन्तु, इस विषय का विवेचन और विवर्धन हमें एक बार फिर लाभदायक सिद्ध हो सकता है। और मैं उन परिणामों की आंशिक आवृत्ति करते हुए नहीं हिचकूँगा जिनको मैं पहले ही प्राप्त कर चुका हूँ।

यदि हम से यह पूछा जाय कि 'इदम्' के अन्तर्गत कौन-सी इयत्ता आ जाती है, तो हमारा उत्तर होगा कि 'कोई नहीं'। ऐसी कोई भी अवियोज्य इयत्ता नहीं है जो 'इदम्' अथवा 'मम' का स्वत्व हो। 'इदम्' कहते समय मेरा जो अव्यवहित मनोभाव होता है उसका एक जटिल स्वरूप होता है, और उसमें एक जटिल विस्तार होता है, जो, जैसा कि हम देख चुके, उसकी एक इयत्ता होता है। परन्तु उसमें कोई 'किम्' नहीं होता, क्योंकि वह वस्तुतः उसका एक पृथक् स्वत्व है। उसमें ऐसी कोई विशेषता नहीं जो उसकी निजी अनन्यता से तादात्म्य रखती हो। प्रथम, तो वह एक निषेधात्मक सम्बन्ध हैं, जो सिद्धान्त रूप में, आन्तरिक को बाहर से अवश्य विकृत या विशिष्ट करता है। और व्यवहार में, हम देखते हैं कि प्रत्येक इयत्ता अपने को अन्यत्र से सम्बन्धित प्रकट कर सकती हैं। प्रत्येक स्वभावतः 'इदम्' के बाहर एक बृहतर 'परिपूर्णता' की ओर उन्मुख होता है। हम कह सकते हैं कि उसकी इयत्ता को तब तक चैन नहीं जब तक एक घर की खोज में अन्यत्र न भ्रमण करले। केवल 'इदम्' के अन्तर्गत कुछ भी नहीं आता।

'इदम्' अपनी इयत्ता को केवल हमारी सफलता के द्वारा ही बनाये रखती हुई प्रतीत होती है। इसी को मैं दैवयोग का क्षेत्र कहकर एक दूसरे प्रकार से भी व्यक्त कर सकता हूँ, क्योंकि दैवयोग कुछ ऐसा है कि प्रस्तुत हो परन्तु हमारे लिए अभी तक

अगृहीत हो ।[1] जहाँ तक कोई तत्त्व किसी आदर्श परिपूर्णता के बाहर और फिर उससे सम्बन्ध रखता आता है, यह तत्त्व दैवयोग होता है । आकस्मिक सामग्री वह सामग्री है जिसे ऐसा समझा जाय कि वह सम्बन्धित अथवा सम्मिलित नहीं की जा सकती इस प्रकार एक ही सामग्री आकस्मिक हो भी सकती है नहीं भी । वह एक तंत्र अथवा लक्ष्य के लिए आकस्मिक हो सकती है । जब कि दूसरी के लिए वही आवश्यक हो सकती है । समस्त दैवयोग सम्बन्धित होता है, और जो इयत्ता 'इदम्' मात्र के अन्तर्गत आती है सम्बन्धित दैवयोग है । जहाँ तक उसकी स्थिति उसके अन्तर्गत रहती है वहाँ तक उसे अन्यत्र सम्बन्धित करने में हमारे असफल होने के कारण कम-से-कम उस दृष्टि से, वह एकदम 'इदम्' का नहीं होता । अपितु केवल 'इदम्' में और उसके भीतर आभासित होता है । और ऐसा आभास, निःसन्देह , सदा बाह्य इन्द्रियों के समक्ष पुरस्कृति के रूप में नहीं होता । जो-कुछ हम किसी प्रकार अनुभव करते हैं, उसे हम अवश्य ही पुरस्कृति एक क्षण में अनुभव करते हैं । कोई वस्तु कितनी ही काल्पनिक क्यों न हो, वह फिर भी किसी 'अब' में अवश्य आभासित होना चाहिए । और वहाँ पर उपस्थित प्रत्येक वस्तु जब तक किसी काल्पनिक परिपूर्णता, इससे कोई प्रयोजन नही कि वह परिपूर्णता क्या है, के उस दोष के सम्बन्ध में आश्रित न हो, तब तक वह प्रस्तुत का एक भाग-मात्र होगा । अन्यथा वह उतना काल्पनिक हो सकता है जितना आप चाहें, परन्तु उस सीमा तक वह अव्यवहित तथ्य के परे पहुँचने में असमर्थ रहता है। अभी तक ऐसा तत्त्व फिर भी 'अब', 'मम' और 'इदम्' में निमग्न है । वह वहीं रहता है, परन्तु, जैसा हम देख चुके हैं, वह स्वीकृत तथा सम्मिलित नहीं किया जाता । हम कह सकते हैं कि वह संकटापन्न और अस्थायी रूप में अटका या चिपका रहता है ।

परन्तु इस स्थान पर हमें सम्भवतः एक कठिनाई-सी सामने आयी प्रतीत हो; क्योंकि प्रस्तुत तथ्य में सदा ही तत्त्वों का सह-अस्तित्व होता है, और इस सह-अस्तित्व के साथ-साथ, हमें ऐसा प्रतीत हो सकता है कि हम 'इदम्' में धनात्मक इयत्ता आरोपित कर रहे हैं । हम कह चुके हैं कि उसमें गुण का अभाव है और यह कथन अब सन्देहास्पद प्रतीत होता है, क्योंकि सह-अस्तित्व से हमें वास्तविक ज्ञान प्राप्त होता है, और फिर भी वह 'इदम्' की इयत्ता में प्रस्तुत प्रतीत होता है । फिर भी आक्षेप मिथ्या धारणा पर अवलम्बित होगा । जब हम यह निर्णय करते हैं कि किसी दिक् और काल में कुछ विशेषताओं का सह-अस्तित्व है तो यह निःसन्देह धनात्मक ज्ञान है । परन्तु, दूसरी

१. दैवयोग पर और अधिक विवेचन के लिए, देखिए अध्याय–२४ ।

२. ऊपर देखिए और तुलना कीजिए अध्याय–२१ ।

ओर, ऐसा ज्ञान कदापि 'इदम्' मात्र ही इयत्ता नहीं हो सकता वह पहले से ही एक संश्लेषण है, निःसन्देह अपूर्ण, परन्तु फिर भी स्पष्टतया आदर्श और, पुनरावृत्ति का दोष होते हुए भी, मैं संक्षेप में उसकी ओर संकेत करूँगा।

(क) पहले, स्थान या काल की यह विशेषता कही जा सकती है कि इसमें श्रृंखला-बद्धता होती है। हमारा अभिप्राय संभवतः यह है कि, एक अर्थ में, स्थान या काल 'इदम् एकम्' है, और द्वितीय नहीं। परन्तु, यदि यह बात है, तो हमने एकदम प्रस्तुत का अतिक्रमण कर दिया। हम एक ऐसे स्वरूप का प्रयोग कर रहे हैं जिसमें एक पूर्णता के अन्तर्गत ऐसे तत्व का समावेश अभिप्रेत है जो अपने से परे अन्य समान तत्त्वों की ओर संकेत करता हो। और यह निःसन्देह अव्यवहित अनुभव के अत्यधिक परे पहुँचता है। यह कल्पना करना एक मिथ्या धारणा है कि, एक श्रृंखला में होना केवल 'इदम्' मात्र में होता है।

(ख) और अधिक सम्भावना यह है कि आक्षेप का लक्ष्य कुछ और है। धनात्मक होते हुए भी इदम् से सम्बद्ध होने वाले किसी अन्य क्षण से पृथक् वह एक क्षण विशेष का सम्मिलन नहीं है। उसका अभिप्राय किसी 'अत्र' अथवा 'अद्य' के अन्तर्गत एक दैवयोग-मात्र से , किसी 'तत्र' अथवा 'तदा' से असम्बद्ध तथा अव्यवहित रूप में प्रस्तुत सह-प्रस्थापना से है। इस प्रकार का केवल संयोग इदम् में निहित प्रतीत होता है, और फिर दूसरी ओर एक धनात्मक स्वरूप उपस्थित करता हुआ प्रतीत होता है। परन्तु इस रूप में पुनः आक्षेप का आधार त्रुटिपूर्ण है।

यदि आप इयत्ता के केवल दैवयोग को एक प्रस्थापन के अन्तर्गत प्रस्तुत-मात्र समझें और यदि आप किसी बाह्य प्रसंग से पूर्णतया विहीन समझें, तो वह तत्त्वों का एक सह-अस्तित्व नहीं हो सकता। निःसन्देह मेरा यह अभिप्राय नहीं कि मनोभाव की कोई पूर्णता बिल्कुल धनात्मक नहीं हो सकती। मेरा अभिप्राय यह है कि जैसे ही आप उसकी इयत्ता के विषय में कुछ कहते हैं, जैसे ही आप उसकी इयत्ता को इयत्ता के रूप में समझने लगते हैं, वैसे ही आप उसकी अनुभूत एकता को अतिक्रांत कर जाते हैं क्योंकि आप किसी 'अत्र' अथवा 'अद्य' पर विचार कीजिए, और उसके अन्तर्गत जो-कुछ भी हो उसमें से कुछ भी देखिए तो आपको तुरन्त ही एक प्रत्ययात्मक संश्लेषण प्राप्त हो जायगा (अध्याय १५)। आपको एक ऐसा सम्बन्ध मिल जायगा जो कितना ही अशुद्ध क्यों न हो परन्तु एकदम कालातीत होगा। आपको एक ऐसा सार्वभौम तत्त्व मिल जाता है, अपने में, सदा ही सत्य है, और न केवल वर्तमान क्षण में, और इस सार्वभौम तत्त्व का प्रयोग उस क्षण के बहिर्गत सत् को विशिष्ट बनाने में प्रयुक्त होता है।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि 'क' 'ख' का सह-अस्तित्व केवल इदम् की वस्तु नहीं अपितु अप्रत्ययात्मक है और वहाँ वह आभासित होता है। मनोभाव-मात्र में तो उसका निःसन्देह एक धनात्मक स्वरूप है, परन्तु भेद-भावों को छोड़ने से, वह, एक अर्थ में दैव-योग ही नहीं है। पर्यवेक्षण में, हमें सम्वन्धों के रूप में देखने को विवश होना पड़ता है। परन्तु यह आन्तरिक सम्बन्ध स्वयं इदम् से सम्वन्ध वस्तुतः नहीं रखते, क्योंकि उसके स्वरूप में पार्थक्य और भेदभाव ठीक नहीं बैठते। अतः किसी पूर्ण इकाई के भीतर तत्त्वों का विभाजन करना तथा सह-अस्तित्व के किसी सम्वन्ध का विधेय वताना, स्वयं विरुद्ध बातें हैं। हमारी शल्य-चिकित्सा के परिणामस्वरूप जिसकी चिकित्सा हुई वहीं नष्ट हो गया, और जो परिणाम निकला उसका उस रूप में कभी अस्तित्व ही नहीं था। इस प्रकार सह-अस्तित्व के एक सम्वन्ध को तथा इयत्ता के एक भेद-भाव को स्वीकार करने में, शुद्ध इदम् की आत्महत्या हो गयी।

एक दूसरे दृष्टिकोण से, परिवेक्षित वस्तु की एक शुद्धतर वोध-पद्धति से तुलना करने पर वह केवल दैवयोग-मात्र ठहरती है। यह एक अव्यवस्थित सन्दर्भ की ऐसी उपाधि स्वीकार करते हुए जो वोधगम्य नहीं है, सम्वन्ध सत्य हो सकता है। और इस-लिए, एक सीमा तक परिवेक्षित सम्बन्ध शुद्ध संयोग तथा केवल-मात्र सह-अस्तित्व है। अथवा एक उच्चतर आवश्यकता के मान-दंड से वह एक दैवयोग है। वह हमारे अज्ञान से उपहित एक सत्य है, और इसलिए आकस्मिक तथा 'इदम्' से सम्वद्ध है। परन्तु दूसरी ओर हम देख चुके हैं कि इदम् के अन्तर्गत कुछ भी नहीं हो सकता। जैसे ही कोई सम्बन्ध स्थिर किया जाता है, वैसे ही वह सार्वभौम ज्ञान बन जाता है। और उपस्थापन से एकदम परे चला जाता है, क्योंकि शुद्ध इदम् में कोई भी सम्बन्ध-जैसी वस्तु सम्भव नहीं। यदि आप उसे विविक्त करें तो उस हद तक इयत्ता अनुभूत एकता से पृथक् हो जाती है। और केवल क्षण-मात्र से तत्वतः चिपकने वाला कोई 'किम्' नहीं है। जहाँ तक कोई तत्त्व मनोभाव की अव्यवस्था में फँसा रहता है, वहाँ तक वह केवल हमारे दोष और अज्ञान के कारण, इसलिए शुद्ध मनोभाव के रूप में यह 'इदम्' निश्चित रूप से धनात्मक है। सार्वभौम सम्बन्धों के अभाव की दृष्टि से यह इदम् पुनः ऋणात्मक है। परन्तु इयत्ता के भेद-भावों को उत्पन्न करने तथा बनाये रखने के प्रयत्न के रूप में यह इदम् घातक है।

यही वात 'शुद्ध मम' के विषय में भी लागू है। नीति शास्त्र, तर्क शास्त्र अथवा सौन्दर्य शास्त्र के विवेचनों में हम सुनते हैं कि अमुक विस्तार अन्तर्मुखी है और इसलिए असम्बद्ध है। दूसरे शब्दों में ऐसे विस्तार का सम्बन्ध 'शुद्ध मम' से है। और त्रुटि हो सकती है, और हम यह भी कल्पना कर सकते हैं कि ऐसी सामग्री भी है जो स्वयं आक-

स्मिक है।[१] यह कल्पना की जा सकती है कि संभवतः सुख जैसा कोई तत्त्व 'एषोऽहम्' जैसी किसी वस्तु का एक अटल अंग है। परन्तु वस्तुतः ऐसी कोई इयत्ता नहीं है जिसका सम्बन्ध 'मम' से हो। 'मम' अव्यवहित तथ्य के रूप में और अस्तित्व-मात्र रखने वाले मानसिक तत्त्वों की एक समग्र पूर्णता के रूप में, मेरा अपना अस्तित्व है। जहाँ तक वह अनुभूत क्षण से युक्त नहीं हुआ है, वहाँ तक मेरी इयत्ता है और वह केवल मेरी इयत्ता है, क्योंकि वह इस अथवा उस काल्पनिक पूर्णता के आश्रित नहीं है। यदि हम उसकी नैतिकता को दृष्टि में रखकर किसी मानसिक तथ्य को समझें, तो जो अत्र और अद्य में किसी लक्ष्य से सम्बन्ध नहीं रखता, वह केवल आस्तित्व मात्र रह जाता है। वह कोई ऐसी वस्तु है जिसको प्रस्तुत काल्पनिक सामग्री का आभास नहीं कहा जा सकता और फिर भी, येन-केन-प्रकारेण उसका अस्तित्व होने से, उसका 'शुद्ध मम' के अन्तर्गत एक तथ्य के रूप में अस्तित्व रहता है। निःसन्देह वही बात सौन्दर्य शास्त्र अथवा विज्ञान अथवा धर्म के सम्बन्ध में भी घटित होती है। जो विस्तार एक दृष्टि से निरर्थक हो सकता है, और ऐसी अवस्था में, इस सीमा तक, वह एकदम अनुभूत अथवा प्रस्तुत-मात्र की परिधि में आ गिरता है, उसका अस्तित्व होता है, परन्तु जिस लक्ष्य के लिए हम विचार कर रहे हैं, उसके लिए वह शून्य है। मनोविज्ञान की दृष्टि से सम्भवतः यह और भी अधिक स्पष्ट है। एक ओर तो मेरे अस्तित्व का कोई भी कण उस विज्ञान के वाहर नहीं है, और तिस पर भी, दूसरी ओर, मनोविज्ञान के लिए शुद्ध 'मम' ही रह जाता है। जब मैं किसी भी प्रकार के किसी सम्बन्ध-विशेष की खोज करने के लिए अपनी घटनाओं का अध्ययन करता हूँ तो किसी भी क्षण मानसिक 'प्रस्तुत' के अन्तर्गत ऐसी विशेपताएँ होती हैं जो विषय से असम्बद्ध होती हैं। जिस बात को मैं अध्ययन करने का प्रयत्न करता हूँ, उसका उनसे कुछ भी सम्बन्ध नहीं होता। अतः उनका सह-अस्तित्व आकस्मिक है। और एक अनिवार्य तत्त्व के साथ होना एक संयोग-मात्र है। दूसरे शव्दों में, मेरे प्रस्तुत उद्देश्य की दृष्टि से, उनका अस्तित्व उस 'स्व' में है जो कि प्रस्तुत मात्र है। और जो अतिक्रान्त नहीं हुई। दूसरी ओर, स्पष्टतः यही विशेपताएँ अनिवार्य और आवश्यक हैं, क्योंकि कम-से-कम किसी-न-किसी प्रकार वे मेरे अपने इतिहास की कार्य-कारण-परम्परा में सम्बन्ध-सूत्र हैं। प्रत्येक विशेपता का इसी प्रकार कोई-न-कोई तात्कालिक वाह्य लक्ष्य होता है। प्रत्येक का सम्बन्ध एक ऐसी आदर्श पूर्णता से जोड़ा जा सकता है जिसका कि वह आभास होता है और केवल 'इदम्'

---

१. अथवा किन्हीं स्पष्ट विचारों के अभाव में हम ऐसे शव्दों का भी सहारा ले सकते हैं जैसे कि व्यक्तियों का व्यक्तित्व।

से ही सम्बन्ध रखने वाला कुछ भी शेष नहीं रहता। जिसका सह-अस्तित्व है उसका अति साधारण निरीक्षण करने पर भी वह उस क्षेत्र से तिरोहित हो जाता है, और हमारी असफलता तथा अज्ञान के प्रसंग को छोड़कर और किसी प्रसंग में दैवयोग की कोई धनात्मक इयत्ता नहीं।

और जो मनोविज्ञान अंधा नहीं है या किसी रूप में असत्य सिद्धान्त द्वारा पूर्वाभिनिवेश नहीं रहता है, वह इयत्ता के इस विभाजन को हमारे ध्यान में खींचता है। हमारा समस्त मानसिक जीवन इदम् की एक अतिक्रान्ति के द्वारा और किसी अपनी गुणवत्ता की शुद्ध उपेक्षा-द्वारा ही गतिमान है। यदि आप 'किम्' की किसी विशेषता की तद् के साथ होने वाली एकता में कोई शिथिलता को छोड़ दें और किसी वाह्य तत्त्व से उसके आत्म-सम्बन्ध तथा उस तत्त्व पर होने वाली उसकी क्रिया पर ध्यान न दें, तो आप मानसिक गतिविधि के प्रमुख स्रोत को खो देते हैं। परन्तु यह प्रस्तुत की काल्पनिकता अथवा अपने प्रतिभासित स्वरूप का उसमें अभाव है। और संसक्तता को इदम् के अन्तर्गत सह-अस्तित्व-मात्र के रूप में कौन प्रयुक्त कर सकता है ? परन्तु, यदि कुछ और अधिक उसको माना जाय तो वह एकदम काल्पनिक की एकता और अनन्त का विश्लेषण है। इस प्रकार के अन्तर्गत ऐसा कोई विस्तार नहीं जो कि बाह्य सम्बन्धों का गुण न हो। दैवयोग परीक्षण करने पर एक ऐसी विशेषता ठहरता है जो सार्वभौम प्रत्ययों को संयुक्त करता है। और, संक्षेप में, मन में हमारी असमर्थता के द्वारा छोड़ी हुई इयत्ता के अतिरिक्त और कोई भी इयत्ता नहीं है। इस प्रसंग में उसका स्वरूप केवल ऋणात्मक है।

अतः हमारे परम सत् के विरुद्ध इस विशेषता को प्रतिपादित करने का कोई अर्थ नहीं। इसका अर्थ यह है कि हमारे तंत्र-विषयक अज्ञान के एक धनात्मक आपत्ति के रूप में परिणत कर दिया जाय और हमारी असमर्थता को संभावना के निषेध के लिए एक आधार बना दिया जाय। इस वात में सन्देह करने के लिए हमारे पास कोई आधार नहीं कि परम सत् में सभी इयत्ताएँ समन्वित होकर एकत्र होती हैं, यह सोचने के लिए हमारे पास कोई कारण नहीं कि कोई भी विशेषता इदम् से संसक्त हो जाती है और उसको अतिक्रान्त करने में असमर्थ होती हैं। सच बात केवल यह है कि विविध तंत्रों की अपूर्ण विविधता, अनेक प्रत्ययात्मक पूर्णताओं की प्रत्येक समान विशेषता के जटिल प्रसंग और वह धनात्मक विशेष मनोभाव जिसका वर्णन ऊपर हो चुका है, यह समस्त विस्तार किसी ऐसे ढंग से एकीभूत नहीं होता जिसकी हम जाँच कर सकें। हम जानते हैं कि इस-सब का समन्वय हो जाता, परन्तु किस विशेष ढंग से ऐसा होता है यह वात हमसे छिपी हुई है। परन्तु इस परिणाम के अवश्यम्भावी होने से और उसके विरोध

में कुछ भी न होने से हमें विश्वास है कि ऐसा ही होता है।

हम देख चुके हैं कि इस इदम् में, एक ओर, कोई भी तत्त्व नहीं है, अपितु इयत्ता है और दूसरी ओर हमने देखा कि कोई भी इयत्ता इस इदम् का सत्व नहीं है। ऐसा कुछ भी नहीं है जो उसकी परिधि के भीतर बना रहे, अपितु सब कुछ अपने से परे सम्बन्ध रखने को उन्मुख होता रहता है। यदि दैवयोग को हमारे अज्ञान-मात्र के अर्थ में प्रयुक्त किया जाय, तो यह कहा जा सकता है कि वहाँ जो कुछ अवशिष्ट रहता है वह केवल दैवयोग है। किसी प्रत्यय या कल्पना के दावे के प्रति एक कोई विरोध नहीं अपितु शुद्ध असमर्थता है, क्योंकि उनके सार तत्त्व में स्वयं से किसी बहिर्गत विषय के प्रति सम्बन्ध निहित होता है, और इस सम्बन्ध के द्वारा किसी ठोस एकाकीपन के लिए किये गये सभी प्रयत्न समाप्त कर दिये जाते हैं। इस प्रकार, यदि दैवयोग के अन्तर्गत किसी प्रत्यय के साथ कोई वास्तविक सम्बन्ध माना जाय, तो यह इदम् इस सीमा तक अपने स्वयं को पहले ही अतिक्रान्ति कर चुकता है। किसी प्रत्यय से अपने को सम्बद्ध करने के लिए किसी प्रस्तुत वस्तु की अस्वीकृति एक धनात्मक तथ्य है। परन्तु सम्बन्ध के रूप में यह अस्वीकृति इस इदम् में सम्मिलित तथा अन्तर्भूत नहीं है। इसके विपरीत उस सम्बन्ध में प्रवेश करके, आन्तरिक इयत्ता ने, अभी तक अपने को मुक्त रखा है। वह पहले से ही इदम् को अतिक्रान्त करके सार्वभौम बन चुकी है। और इदम् की यह अनन्यता उसी प्रकार सर्वत्र स्वयं-विरुद्ध सिद्ध हुई है।

और हम पहले ही सहमत हो गये हैं कि यह केवल इदम् एक अर्थ में धनात्मक है। उसमें एक विचित्र और विशेष प्रकार की अनुभूति आत्म-स्वीकृति है, और इस धनात्मक सत्ता के रूप में हम दूर तक प्रवेश कर जाते हैं। परन्तु हमें इस बात का कोई कारण मालूम नहीं पड़ता कि किसी विशेषता अथवा पक्ष में जाने वाले इस प्रकार के मनोभाव आत्म-केन्द्रित तथा एकाकी होकर चलते रहें। कम-से-कम यह तो सम्भव प्रतीत होता है कि वे सब-के-सब एक दूसरे से घुल-मिल जायँ और एक सत् के अनुभव में विलीन हो जायँ। और इस संभावना को एक व्यापक रूप में पा कर, हम अपने निष्कर्ष पर पहुँच जाते हैं। अब यह इदम् और मन हमारे परम सत् के भीतर विलीन हो जाते हैं क्योंकि उनका विलीनीकरण अवश्य होता है, उनकी संभावना है और इसलिए वे निश्चित रूप से हैं।

बीसवाँ अध्याय

सिंहावलोकन

इस अवस्था पर संभवतः यह अच्छा होगा, कि हम जितने विषयों पर विचार कर चुके हैं, उनका कुछ सिंहावलोकन करें। अपनी पहली पुस्तक में हमने सत् को समझने के कुछ प्रकारों की परीक्षा की, और हमने देखा कि उनमें से प्रत्येक में एक घातक असंगति निहित है। इस पर हमने उनके इस रूप को वास्तविक मानना अस्वीकार कर दिया। परन्तु विचार-विमर्श करने पर हमने देखा कि हमारी इस अस्वीकृति का आधार कोई निश्चित ज्ञान होना चाहिए। ऐसा इसलिए होगा, क्योंकि हम यह जानते हैं, इस प्रकार के दृष्टिकोण को हम निन्दनीय ठहराने का साहस करते हैं, इसलिए हमें विश्वास है कि सत् का एक धनात्मक स्वरूप है, जो केवल-मात्र आभास को अस्वीकार कर देता है और भेद-भाव से मेल नहीं खाता। दूसरी ओर वह कोई पृथक्-कृत वस्तु अथवा कोई ऐसी स्थिति जिसको नाम-रूप के अभाव के अतिरिक्त और कुछ न कहा जा सके, नहीं हो सकता क्योंकि उससे नाम-रूप फिर भी स्वयं-विरुद्ध रहता है, जबकि उसके अन्तर्गत किसी ऐसी वस्तु का विरोध सार-रूप में रहता है, जो वस्तुतः शून्य है। इसलिए सत् एक अद्वैत होना चाहिए, जो अनेकता को अपने से बहिर्गत न करे, अपितु उसको इस प्रकार से अपने अन्तर्गत करे कि उसके स्वरूप बाहर रह सकें। वह जिस-जिस विधेय का तिरस्कार करता है, उसके प्रत्येक अंग-द्वारा वह विशिष्ट होना चाहिए, परन्तु उसमें ऐसे गुण होने चाहिए कि एक-दूसरे की दुर्बलताओं और असफलताओं का निराकरण कर सकें। उसके अन्तर्गत एक अत्याधिक्य होना चाहिए, जिसमें सभी एकांगी असंगतियाँ विलीन होकर एक महत्तर समन्वय के रूप में रह जायँ।

और हम देख चुके हैं, कि यह परम सत् अनुभव-सिद्ध है, क्योंकि जब हम किसी वस्तु के विषय में कुछ कहते हैं, या विरोध उपस्थित करते हैं तो वस्तुतः हमारा यही अभिप्राय होता है। वह कोई संकल्प-मात्र या विचार-मात्र के रूप में कोई एकांगी अनुभव नहीं है, अपितु वह एक ऐसी पूर्ण इकाई है, जो जीवन के सभी अपूर्ण स्वरूपों का आलिंगन करते हुए भी सबसे श्रेष्ठ तथा ऊपर है। यह पूर्ण इकाई मनोभाव के

समान अव्यवहित होगी, परन्तु मनोभाव की भाँति वह भेद और सम्बन्ध से नीचे के स्तर पर अव्यवहित नहीं होगी। परम सत् इन भेदों को अपने में रखते हुए तथा उनको अतिक्रांत करते हुए अव्यवहित है। और स्वयं का विरोध न कर सकने के कारण तथा अस्तित्व से प्रत्यय के पार्थक्य को सहन न कर सकने के कारण यह सिद्ध है कि उसके अन्तर्गत दुःख की अपेक्षा सुख का आधिक्य है। प्रत्येक अर्थ में वह परिपूर्ण है।

फिर हम आगे बढ़कर इस बात की गवेषणा करते हैं कि सीमित विविध रूप इस परम सत् के अन्तर्गत कोई स्थान ग्रहण करते हैं या नहीं ? हमने इस बात पर आग्रह किया कि किसी वस्तु का विनाश नहीं हो सकता, और तिस पर भी प्रत्येक वस्तु ऐसी परिपूर्ण होनी चाहिए कि वह समन्वय स्थापित करने में सहायक हो। और हमने इस तथ्य पर बल दिया कि यह समन्वय कैसे होता है, यह अनिर्वचनीय है। हमारे ज्ञान के लिए इस समस्या के हल को सविस्तार देखना सम्भव नहीं। परन्तु दूसरी ओर, हमने यह निवेदन किया कि इस प्रकार की व्याख्या आवश्यक नहीं है। हमारा एक सामान्य सिद्धान्त है जो निश्चित प्रतीत होता है। प्रश्न केवल यह है कि क्या ससीम का कोई भी रूप एक ऐसे ऋणात्मक उदाहरण के रूप में रखा जा सकता है, जो इस सिद्धान्त को उखाड़ फेंकने में सहायक हो, अथवा नहीं ? क्या कोई ऐसी बात है जो ऐसा दिखलाती प्रतीत होती हो कि हमारा परम सत् सम्भाव्य नहीं है ? और जहाँ तक हम पहुँचे हैं वहाँ तक अभी हमें ऐसी कोई बात नहीं मिली। इस समय हमें परम सत् के विषय में कोई सन्देह करने का किसी प्रकार का अधिकार नहीं है ; हमारे पास कोई रंच-मात्र भी कारण नहीं है जिसके आधार पर हम कह सकें कि वह सम्भाव्य नहीं है। परन्तु यदि उसका होना सम्भव है, तो इसीलिए यह आवश्यक है कि हम उसकी खोज करें क्योंकि हमें पहले से ही एक सिद्धान्त प्राप्त है जिसके आधार पर वह आवश्यक प्रतीत होती है। और इसलिए वह निश्चित भी है।

आगे अध्यायों में, मैं फिर भी इसी तर्क-पद्धति का अनुसरण करूँगा। मैं इस बात का पता लगाऊँगा कि कोई ऐसी वस्तु तो नहीं है; जो हमारे विश्व-तंत्र के अन्तर्गत अपना स्थान ग्रहण करना स्वीकार न करे। और यदि ऐसी कोई भी वस्तु नहीं है जो उससे बहिर्गत अथवा विरुद्ध अथवा प्रविष्ट होने पर उसमें भेद उत्पन्न करनेवाली हो, तो हमारा निष्कर्ष सिद्ध हो जायगा। परन्तु पहले मैं वैयक्तिकता और परिपूर्णता की कल्पनाओं के विषय में कुछ कहूँगा।

हम देख चुके हैं, कि इन विशिष्ट कल्पनाओं में विभेदक एवं असंगत तत्त्वों का निषेध निहित है, और सम्भवतः उसके स्वीकारात्मक पक्ष के विषय में कोई संदेह

भी उत्पन्न हुआ हो। क्या वे स्वीकारात्मक अथवा धनात्मक हैं भी ? जब उनके विषय में कुछ कहते हैं तो क्या हम कुछ प्रतिपादित भी करते हैं, अथवा केवल निषेध ही करते हैं ? क्या यह स्थापना हो सकती है कि ये प्रत्यय या कल्पनाएँ केवल निषेधात्मक हैं ? हमारे विपक्ष में यह कहा जा सकता है कि सत् का अर्थ अनाभास-मात्र है, और एकता केवल अनेकता का नग्न निषेध है। और उसी प्रकार वैयक्तिकता को भेद और विक्षेप का वज्र अभाव माना जा सकता है। इसी प्रकार परिपूर्णता या तो केवल इस वार्त का निषेध करती है कि हमें आगे बढ़ने को विवश होना पड़ता है, अथवा वह केवल अविश्राम की तथा दुख की असफलता को प्रकट करती है। ऐसे सन्देह का निराकरण, मेरी समझ में, पहले किया जा चुका है। परन्तु एक बार फिर मैं इसकी आधारभूत भूल की ओर संकेत करूँगा।

प्रथम तो शुद्ध निषेध का कोई अर्थ नहीं। किसी स्वीकारात्मक आधार के अभाव में निषेध नितान्त असम्भव है। और यदि एक शुद्ध निषेधात्मक कल्पना हमें प्राप्त भी हो सके तो वह एक व्यंजन-हीन सम्बन्ध-मात्र होगा। अतः उल्लिखित निषेधों के मूल में किसी स्वीकारात्मक आधार का होना अनिवार्य है और दूसरे, यह याद रखना चाहिए कि जिसका निषेध किया जाता है, वह फिर भी किसी-न-किसी रूप में, हमारे परम सत् का विधेय हो जाता है। सचमुच यही कारण है जिससे कि हमने उसे वैयक्तिक तथा परिपूर्ण कहा है।

(१) पहले तो यह स्पष्ट है कि कम-से-कम स्वीकारात्मक सत्ता असंगति और अविश्राम के निषेध का अनुमोदन करती है। यदि हम सत्ता शब्द का प्रयोग एक संकीर्ण अर्थ में करें तो उसकी कोई निश्चित परिभाषा नहीं दी जा सकेगी। वह वैसी ही होगी जैसी कि अनुभव की सामान्यतम कल्पना। यदि सत् को भी संकीर्ण अर्थ में प्रयुक्त किया जाय तो सत्ता सत् से भिन्न होगी। सत् (शुद्ध) में, अस्तित्व से इयत्ता पूर्वभूत का पार्थक्य, अथवा अभिभूत पार्थक्य अभिप्रेत है। दूसरी ओर सत्ता (शुद्ध) अव्यवहित है, और भेदों के नीचे स्तर पर, यद्यपि मैंने कभी भी इन शब्दों को संकीर्ण अर्थ में प्रयुक्त करने की आवश्यकता अनुभव नहीं की। अस्तु अपने सामान्य अनुभव-अर्थ में, सत्ता वैयक्तिकता तथा परिपूर्णता की कल्पनाओं के मूल में रहती है और कम-से-कम इस सीमा तक वे अवश्य स्वीकारात्मक हैं।

(२) और दूसरी ओर, इनमें से प्रत्येक के स्वरूप का सुनिश्चित निर्णय उन तत्त्वों के द्वारा होता है, जिनका वह बहिष्कार या निषेध करता है। विविधता का पक्ष व्यक्ति के तात्त्विक सार की वस्तु है, और उसके अन्तर्गत वह एक धनात्मक इयत्ता के रूप में है। एकता से अनेकता का बहिष्कार वहीं तक है जहाँ तक वह

स्वयं कुछ निजी अस्तित्व रखने तथा एकाकीपन रखने के लिए प्रयत्नशील है। और, एक समृद्धता परिपूर्णता में, अपनी समस्त समृद्धि के साथ इस प्रतीयमान वैपरीत्य के पुनरागमन को ही व्यक्ति कहा गया है। यह-सब सविस्तार कैसे सम्पन्न होता है, यह मैं फिर कहता हूँ, मुझे ज्ञात नहीं है, परन्तु यह-सब होते हुए भी, ऐसी स्वीकारात्मक एकता की कल्पना करने में हम असमर्थ हैं। (अध्याय १४ और २७) मनोभाव से हमें एक अव्यवहित पूर्णता का, एक निम्न तथा अपूर्ण उदाहरण प्राप्त होता है। और इसको निषिद्ध अथवा बहिष्कृत तत्त्वों-द्वारा विशिष्टीकरण करने की कल्पना, और सहायता में लगने वाले अज्ञात गुणों की कल्पना के साथ ग्रहण करने पर हम वैयक्तिकता पर पहुँच जाते हैं और निषेध पर अवलम्बित होती हुई भी यह संश्लिष्टता स्वीकारात्मक या धनात्मक है।

और, एक दूसरे प्रकार से, यही विवरण परिपूर्ण इकाई पर लागू हो सकता है। परिपूर्ण इकाई का अभिप्राय ऐसी सत्ता से नहीं, जो अविश्राम तथा दुखद संघर्ष की दृष्टि से, एक साधारण रिक्तता हो। इसका अर्थ प्रत्यय और अस्तित्व का एक ऐसा तादात्म्य है जो सुख से भी संयुक्त हो। और, जहाँ तक सुख का सम्बन्ध है, वह निःसंदेह निषेधात्मक अथवा ऋणात्मक नहीं है। परन्तु परिपूर्णता में केवल सुख ही एक धनात्मक हो, ऐसी बात नहीं है। अविश्राम और संघर्ष प्रत्यय से तथ्य का विरोध, और किसी लक्ष्य की ओर प्रगति ये विशेषताएँ उस परिपूर्ण इकाई के बाहर नहीं रह जातीं, जो सर्वथा सम्पन्न और समृद्ध हैं, क्योंकि संघर्ष-जनित सभी इयत्ता परिपूर्ण इकाई के भीतर समाविष्ट होकर अन्यून रूप में ही शान्ति लाभ करती है। एक ऐसी सत्ता की कल्पना, जो अपने तद् से किम् का बिना बहिष्कार किये ही किसी प्रकार विशिष्ट हो, साथ ही एक ऐसी सत्ता जिसके अंतर्गत सभी विरोधी भेद-भाव हों और जो उनके संघर्ष के कारण समृद्धतर हो, यह एक स्वीकारात्मक अथवा धनात्मक कल्पना है। और यद्यपि इसकी सविस्तार प्राप्ति निःसन्देह असम्भव है, परन्तु अपनी रूप-रेखा-मात्र में इसे बोलना सम्भव है।

अन्त में, एक ऐसे आक्षेप को लेता हूँ, जो एक सामान्य त्रुटि से उद्भूत होता है। परिपूर्णता की कल्पना में, संख्या का प्रायः समावेश कर लिया जाता है। परिपूर्ण इकाई एक ऐसी वस्तु प्रतीत होती है जिसके परे हम नहीं पहुँच सकते और यह स्वभावतः एक अनन्त संख्या का रूप ग्रहण करने लगती है। परन्तु, प्रत्येक वास्तविक संख्या का सान्त होना अनिवार्य है, अतः हम यहाँ एकदम एक भयंकर वैपरीत्य में पड़ जाते हैं। और इस सुस्पष्ट भ्रांति के विषय में अधिक कुछ भी कहने की आवश्यकता मैं नहीं समझता। अपितु मैं अब उस आक्षेप पर जा पहुँचूँगा जो

परिपूर्ण इकाई-विषयक हमारे मत के विरुद्ध किया जा सकता है। यदि यह परिपूर्ण इकाई सर्वाविकार समन्वयशील है, तो उसके क्षेत्र का कितना भी विस्तार और उसकी सुखात्मकता की कितनी भी वृद्धि क्यों न किया जाय, वह पूर्णतर नहीं हो सकता। इस प्रकार हमें ऐसा प्रतीत होता है कि क्षुद्रतम सत्ता भी इतनी पूर्ण हो सकती है जितनी कि महत्तम और यह बात विरोधाभास-सी लगती है। परन्तु, विरोधाभास, वस्तुतः मिथ्या धारणा के कारण प्रतीत होता है, क्योंकि हम ऐसी सत्ताओं से ही परिचित हैं जिनका स्वरूप सदैव और तत्त्वतः दोषपूर्ण होता है। और इसलिए हम अपनी क्षुद्र पूर्णताओं में एक अभाव, अथवा कम-से-कम दोष की उपाधि की कल्पना कर सकते हैं। और संख्या-भेद से इस उपाधि में न्यूनता आ जाती है। परन्तु, जब एक सत्ता वस्तुतः परिपूर्ण हो, तो यह कल्पना हास्यास्पद हो जाती है। अथवा पहले हम ऐसे प्राणी की कल्पना करें जो स्वयं पूर्ण हो और उसके समीप ही एक वृहत्तर पूर्णता को रखें। फिर अज्ञात रूप में हम वृहत्तर को, किसी प्रकार, क्षुद्रत्तर सत्ता निःसन्देह, असादृश्य सिद्धान्त से, दोषपूर्ण सिद्ध हो जाती है। परन्तु, जो बात हम देख नहीं पाते वह यह है कि ऐसी सत्ता कदापि पूर्ण नहीं हो सकती क्योंकि हमने उसके भीतर एक ऐसी कल्पना का समावेश किया है जो तथ्य नहीं और उस कल्पना में एक तत्व-संघर्ष एकदम उपस्थित हो जाता है, और इसके परिणाम-स्वरूप परिपूर्णता का अभाव भी। और इस प्रकार हमारी मिथ्या धारणा के कारण विरोधाभास उत्पन्न हो जाता है। हमने परिपूर्णता की कल्पना की, और फिर उसमें एक ऐसी उपाधि लगायी जिसने उसे नष्ट कर दिया। और यह, यहाँ तक, एक भूल-मात्र थी।

परन्तु यह भूल हमारे ध्यान को सत्य की ओर संभवतः आकर्षित कर सकती है। वह हमें यह प्रश्न करने को प्रेरित करती है कि दो पूर्णताएँ, एक वृहत और दूसरा क्षुद्र, संभवतः एक साथ रह सकती हैं या नहीं? और इसका उत्तर निःसन्देह निषेधात्मक है। यदि हम परिपूर्णता को समूचे अर्थ में ग्रहण करें, तो हम ऐसे दो परिपूर्ण अस्तित्वों की कल्पना नहीं कर सकते। और उसका यह कारण नहीं कि एक दूसरे से आकार में अधिक है, क्योंकि वह पूर्णतया असम्बद्ध बात है। एक ऐसी सत्ता, जो परिपूर्ण से न्यून हो, परन्तु उसके अन्तर्गत ही हो, अनिवार्यतः किसी ऐसी सत्ता से सम्बद्ध होगी जो 'अस्वयं' हो। उसका अन्तर्तम अस्तित्व किसी वाह्य तत्व से आक्रान्त है और होगा। उसकी इयत्ता के भीतर, ऐसे सम्बन्ध होंगे जिनकी समाप्ति भीतर नहीं हो पाती। और यह स्पष्ट है कि ऐसी अवस्था में काल्पनिक, वास्तविक कदापि एक नहीं हो सकते। परन्तु, अपूर्णता से मेरा अभिप्राय उनके विभाजन अथवा पार्थक्य

से ही है। और इस प्रकार अपूर्णता, अशान्ति, अतृप्ता, काल्पनिकता ससीम के भाग्य में हैं। सच पूछिए तो, परम सत् के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं जो वैयक्तिक अथवा परिपूर्ण है।

इक्कीसवाँ अध्याय

अहमेववाद

प्रथम पुस्तक में, तथ्य ग्रहण के अनेक प्रकारों का परीक्षण किया और देखा कि वे सब आभास के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं दे सकते। प्रस्तुत में सत् के ऊपर विचार करते रहे। अभी तक हम उसके स्वरूप की एक सामान्य कल्पना बनाने तथा उसके विरुद्ध संभावित आक्षेपों का उत्तर देने का प्रयत्न करते रहे हैं। अपने अवशिष्ट ग्रन्थ में, हमें उसी कार्य में लगे रहना है। हमें यह देखने का प्रयत्न करना है कि हमारे परम सत् के भीतर जगत् के सभी प्रमुख अंग किस प्रकार समाविष्ट होते हैं। और, यदि हम यह देखें कि उनमें से भी उसके अन्तर्गत होना अस्वीकार नहीं करता, तो हम अपने निष्कर्ष को अकाट्य मान सकते हैं। अब मैं इस अध्याय के शीर्षक से सूचित विषय को लेता हूँ।

क्या अपने अहम् के अतिरिक्त किसी अन्य वस्तु में विश्वास करने के लिए कोई कारण है? क्या किसी ऐसे विश्वास के लिए हमें तनिक भी अधिकार है, और क्या यह एक आत्म-प्रवंचना से भी कोई बड़ी वस्तु है? मेरा अनुमान यह है कि हम यह बात सरलता से कह सकते हैं कि कुछ तत्वज्ञानियों ने इस समस्या का सामना करने से अनिच्छा प्रकट की है। और जिस पर भी उससे बचना संभव नहीं। हम सब लोग एक ऐसे जगत् में विश्वास करते हैं जो हमारी अहम्ताओं के बाहर है, और हम इस विश्वास को छोड़ने के लिए तैयार नहीं, इसलिए यह एक अकीर्ति की बात होगी कि इस विषय में हमारा सिद्धान्त भ्रामक रह जाय। जो मत मानवीय प्रकृति के प्रति किसी आवश्यक दृष्टिकोण को समझा न सके, और उसे उचित ठहराये, निःसन्देह वह निन्दनीय है। परन्तु दूसरी ओर, हम शीघ्र ही देखेंगे कि प्रश्न की कल्पित कठिनाइयाँ असत्य सिद्धान्त द्वारा किस प्रकार उत्पन्न हो गयी हैं। हमारे सामान्य सिद्धान्त द्वारा ये निर्मूल हो जाती हैं।

अहमेववाद के पक्ष में जो तर्क उपस्थित किया जा सकता है वह अत्यन्त सरल रूप में इस प्रकार है—मैं अनुभव तो अतिक्रान्त नहीं कर सकता, और अनुभव अवश्य ही मेरा अनुभव है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि मेरे अहम् के अति-

रिक्त और किसी का अस्तित्व नहीं है, क्योंकि जो अनुभव होता है वह वस्तुतः अहंता की विभिन्न अवस्थाओं के रूप में होता है।

इस तर्क को अंशतः एक असत्य सिद्धान्त से वल मिलता है, परन्तु अधिक हद तक संभवतः अविचारशील अस्पष्टता से। मैं उस असंगति और अस्पष्टता की ओर संकेत करके अपना विवेचन प्रारम्भ करूँगा जिससे इस अनुभव प्रामाण्य को कुछ सहायता मिलती है। अनुभव का सम्बन्ध, मेरी समझ में, केवल प्रस्तुत, अनुभूत अथवा उपस्थापित विषय से है। परन्तु अप्रत्यक्ष अनुभव के अन्तर्गत, "इद्म-मम" पर आधारित समस्त तथ्य आ जाता है। उसमें अनुभूत क्षण के परे समझे जाने वाला समस्त प्रपंच आ जाता है। यह एक ऐसा भेद-भाव है जिसके घातक परिणाम को अहमेववाद ने शायद ही समझा हो, क्योंकि अनुभव के किसी भी अर्थ के द्वारा उसके तर्क का वचाव नहीं किया जा सकता।

१—मान लीजिए कि जिस अनुभव की ओर यह संकेत करता है वह प्रत्यक्ष है। तो, जैसा कि हमने नये अध्याय में देखा, 'प्रस्तुत' मात्र इसका समर्थन करने में द्विविध असफलता प्राप्त करता है। एक ओर तो इसकी देन अपर्याप्त है, और दूसरी ओर, वह अत्यधिक है। वह हमें हमारी अहंता के साथ एक अनहंता भी प्रदान करता है। और इस प्रकार उस आधिक्य के द्वारा अहमेववाद को नष्ट कर देता है। परन्तु, दूसरी ओर, वह हमें विल्कुल कोई भी अहंता, (यदि अहंता से अभिप्राय हमारा एक विशेषण से है जो किसी विषय अथवा अपनी अवस्थाओं का स्वामी हो) प्रदान नहीं करता। दूसरी ओर अहमेववाद दोष के द्वारा नष्ट हो जाता है। परन्तु इस वात को विकसित करने से पूर्व, मैं एक ऐसी आपत्ति को उठाऊँगा जो स्वयं ही पर्याप्त हो सकती है। एक ऐसे अस्तित्व के रूप में जिसमें जगत् का सारा प्रपंच अथवा नाम-रूप उसके विशेष्यगत हों, मेरी अहंता किसी प्रत्यक्ष अनुभव-द्वारा प्रस्तुत की हुई मानी जाती है। परन्तु यह देन स्पष्टतः एक भ्रम है। ऐसा अनुभव हमें ऐसा कोई सत् प्रदान नहीं कर सकता जो, उस क्षण विशेष के सत् से परे हो। ऐसी कोई शक्ति नहीं जो वर्त्तमान से परे स्थित किसी अहंता का अव्यवहित दर्शन करा सके (अध्याय १०)। और इसलिए यदि अहमेववाद को अनुभव में अपनी एक भी सच्ची वात मिलती है, तो वह केवल इद्म की सीमाओं में आवद्ध है। परन्तु अभी तक ऐसे विमर्श-द्वारा हमने अहमेववाद को, सम्पूर्ण सन्देहवाद के सुनिश्चित और सुपर्याप्त हेतु के रूप में, खंडित कर दिया है। अव इस आक्षेप से हम दूसरे विषयों पर जाते हैं।

प्रत्यक्ष अनुभव केवल इदम् को अतिक्रान्त करने में असमर्थ है। परन्तु अहमेव-

वाद हमें अपने अस्तित्व के विषय में जो बतलाता है उसमें भी हमें वह अहंता नहीं प्रदान कर सकता जिस पर अहमेववाद आधारित है। इसके स्थान पर हमें सदैव या तो अत्यधिक या अति-न्यून की प्राप्ति होती है, क्योंकि विषयी और विषय अथवा अहं और इदम् का भेद-भाव तथा पार्थक्य वस्तुतः मौलिक नहीं है, और न, इस अर्थ में कोई विचारणीय तथ्य ही है। इसलिए अहम् को पूर्णतया प्रस्तुत नहीं कहा जा सकता। मैं केवल इस विषय का उल्लेख-मात्र करूँगा और फिर दूसरे विषय पर आ जाऊँगा। हम अपने मनोभाव के मूल-स्वरूप को सामान्यतः कुछ भी समझें, इस समय हमारे पास कुछ ऐसी अवस्थाएँ हैं जिनमें किसी विषयी का प्रसंग ही नहीं आता। और यदि इस प्रकार के मनोभाव किसी विषयी-सत् के विशेषण-मात्र हैं, तो उनके ये स्वरूप आहार्य हो सकते हैं। प्रस्तुत कदापि नहीं। परन्तु हमें इस विवाद-ग्रस्त आधार पर स्थित होने की आवश्यकता नहीं। हम यह मान लें कि विषय और विषयी का भेद प्रत्यक्ष रूप से प्रस्तुत किया जाता है—और फिर भी अहमेववाद की दिशा में हम शायद ही कुछ आगे बढ़ सकें, क्योंकि अब विषयी और विषय परस्पर सम्बद्ध प्रतीत होंगे, वे या तो एक ही तथ्य के दो पक्ष होंगे, अथवा (यदि आप यह कहना पसन्द करें तो) परस्पर सम्बन्ध रखने वाली दो वस्तुएँ हो सकते हैं। और इससे शायद ही स्पष्टतया सिद्ध होता है कि उनमें से एक ही वस्तु सत् है, और प्रस्तुत सम्पूर्णता का अवशिष्ट एक विशेषण-मात्र है। यह विचार-विमर्श तथा निगमन का परिणाम है, एक ऐसी प्रक्रिया है जो तथ्य के अर्द्ध भाग को एक परम सत् के रूप में प्रस्तुत करती है, और फिर द्वितीय अर्द्ध को उस भाग के विशेषण के रूप में परिणत कर देती है। और चाहे यह एकार्द्ध भाग विषय हो या विषयी, और चाहे हम भौतिकवाद पर पहुँचे, अथवा उस पर पहुँचे जिसे कभी-कभी आदर्शवाद कहा जाता है, प्रक्रिया वस्तु एक ही है। प्रत्येक अवस्था में वह एक दूषित निष्कर्ष में समान रूप में निहित है। और निश्चित रूप से उसका परिणाम ऐसी कोई वस्तु नहीं जो अनुभव-द्वारा प्रस्तुत की जाय। सम्भवतः अन्त में, मैं एक दूसरे विषय की चर्चा करूँगा। हमने देखा (अध्याय ९) कि अहम् और अनहम की सीमा-रेखाओं के विषय में बहुत बड़ी अस्पष्ट कल्पनाएँ थीं। कुछ ऐसी विशेषताएं प्रतीत हुई जो अनन्य रूप से दो में से किसी क्षेत्र में नहीं रखी जा सकती थी। और यदि यह बात हो, तो निःसन्देह ऐसे किसी भी अनुभव को तिरस्कृत करने के लिए एक और कारण मिल जाता है। जिसकी कल्पना अहमेववाद करता हो। यदि अहमता को एक सत् के रूप में प्रस्तुत किया जाय और इसके अतिरिक्त अन्य समस्त को उसका विशेषण माना जाय, तो उसकी सीमाओं के विषय में व्यापक अनिश्चय का तथा अतिन्यून

और दूसरी ओर क्या यह सम्भव है कि सत् का अव्यवहित वर्त्तमान के साथ तादात्म्य स्थापित किया जा सके ? हम देख चुके हैं कि यह तादात्म्य असम्भव है, और केवल इदम् की सीमा के भीतर रहने का प्रयत्न व्यर्थ है। इयत्ता की असंगति और एक किम् के साथ-साथ अपनी निज की सीमाओं से परे उसका बना रहना, ये दोनों ऐसी बातें हैं जो इस प्रश्न को समाप्त कर देती हैं। विश्वास के लिए हमें परिवर्तन के कठोर आघात का सहारा लेने की आवश्यकता नहीं। मन की समस्त गति में केवल इद्म से पार्थक्य अभिप्रेत है और इदम् की इयत्ता को सत् के रूप में वर्णन करने से हम एकदम विरोध में फँस जाते हैं। परन्तु इस विषय पर और अधिक चर्चा करन से कोई लाभ नहीं होगा। प्रस्तुत के अन्तर्गत रहना न तो अकाट्य है और न संभव। आवश्यकता और तर्क दोनों ही समान रूप से हमें उससे परे जाने को विवश करते हैं (अध्याय १५ और १९)।

परन्तु यह प्रश्न करने से पूर्व कि यह अतिक्रान्ति हमें कहाँ ले जायगी, मैं एक ऐसे प्रश्न पर विचार करूँगा जिस पर हमारा ध्यान पहले जा चुका है (अध्याय १९)। कोई आक्षेप अनुभूत वस्तु की अद्वितीयता पर अवलम्बित हो सकता है, और यह कहा जा सकता है कि जिस सत् की प्रतीति इस इदम् मम में होती है वह अद्वितीयता पर अवलम्बित हो सकता है, और यह कहा जा सकता है कि जिस सत् की प्रतीति इस इदम् मम में होती है वह अद्वितीय और अनन्य है। इसलिए इसके उद्देश्य व विधेयों की माँग कुछ भी क्यों न प्रतीत हो, उसकी सीमाओं को विस्तृत करना सम्भव नहीं। संक्षेप में वह सदा के लिए उपस्थापित की सीमा के भीतर बँधा रहेगा। आइए, इस प्रतिपत्ति की परीक्षा करें।

प्रथम तो अद्वितीय शब्द का तिरस्कार कर देना अधिक अच्छा होगा, क्योंकि जैसा हमने देखा, उसके द्वारा किसी शृंखला के भीतर अस्तित्व की कल्पना, अन्य तत्वों के प्रति एक निषेधात्मक सम्बन्ध लेकर घुस पड़ती है। और यदि इस प्रकार का सम्बन्ध इदम् की तात्विक सत्ता के भीतर प्रविष्ट हो जाता है तो इदम् एक बृहत्तर एकता का अंग हो जाता है।

इस आपत्ति को अधिक अच्छे ढंग से इस प्रकार व्यक्त किया जा सकता है।[1] सम्पूर्ण सत् का प्रस्तुत की सीमाओं के अन्तर्गत आ जाना आवश्यक है, क्योंकि इयत्ता परे जाने की कितनी ही इच्छा क्यों न करें परन्तु फिर भी, जब आप उस इयत्ता को सत् का एक विधेय बनाने लगते हैं, तो आपको, अपने उद्देश्य के लिए पुनः

१. इस सम्पूर्ण विषय पर देखिए मेरे 'प्रिन्सिपल्स आफ लाजिक' अध्याय २।

'इदम्-मम', अथवा आत्मानुभूत का सहारा लेना पड़ता है। सत् केवल उसी तत्त्व में निहित प्रतीत होता है जिसकी उपस्थापना की जाती है और अन्यत्र वह प्राप्य नहीं प्रतीत होता। परन्तु दूसरी ओर उपस्थापित का अनुभूत 'इदम्' के रूप में होना अनिवार्य है। और यदि आप इदम् के अन्य उदाहरणों को सत् मानें, तो वे भी 'इदम्-मम' के अन्तर्गत आते हुए प्रतीत होंगे। यदि वे उसके अप्रत्यक्ष विषय नहीं हैं और उसे विशेषण-रूप में विस्तार प्रदान करते हैं तो वे प्रत्यक्ष में उसी विचारणीय तथ्य के अन्तर्गत आ जायेंगे परन्तु यदि यह बात है, तो वे स्वयं ही वहाँ पर विशिष्टताओं तथा पृथक्ताओं के रूप में हो जाते हैं। इसलिए पहले की ही भाँति हमें 'इदम्'-'मम' मिलता है, परन्तु विविध आन्तरिक विभेदों की एक वृद्धि के साथ। और इस प्रकार हम फिर भी एक ही उपस्थापना की सीमाओं में बँधे रहते हैं, और एक साथ दो का होना असम्भव प्रतीत होता है।

अब उत्तर में, मैं यह स्वीकार करता हूँ कि सत् की प्राप्ति के लिए हमें मनोभाव का पल्ला पकड़ना पड़ेगा। वहाँ पर आभासित होने वाला सत् ही समस्त विभेदों का उद्देश्य है। और एक ऐसे दूसरे तथ्य पर पहुँचना, जो मन के तादात्म्य रूप तह से बाहर तथा दूर हो, व्यर्थ की बात प्रतीत होती है। परन्तु इतना स्वीकार करते हुए भी, मैं इसके अन्य परिणाम को अमान्य ठहराता हूँ। मैं यह स्वीकार नहीं करता कि अनुभूत सत् मेरे मनोभाव के अन्तर्गत बंद और आबद्ध है। क्योंकि मनोभाव वृद्धि के द्वारा, अपनी सुनिश्चित सीमाओं के परे फैल सकता है। वह भावात्मक रूप से अपने स्वयं भाव में होते हुए भी किसी बृहत्तर तत्त्व में विलीन हो सकता है जिस प्रकार परिवर्तन के अन्तर्गत एक ऐसा 'वह' है, जिसमें एक 'तथा' विहित होता है पुनः जिस प्रकार जो मन है उसके अन्तर्गत विविध विभिन्नताएँ रह सकती हैं, उसी प्रकार दूसरी ओर से मेरे प्रत्यक्ष अनुभव के सम्बन्ध में भी ऐसा ही हो सकता है। इसमें और उपस्थापना की बृहत्तर परिपूर्णता में कोई विरोध की बात नहीं। एक बृहत्तर समग्रता में सम्मिलित होना 'मम' के लिए असम्भव नहीं। इससे भी आगे एक अनुभव सम्भव है जो कि अव्यवहित और प्रत्यक्ष हो और जो मेरा व्यक्तिगत मनोभाव होते हुए भी, उसके अतिरिक्त अन्य बहुत कुछ भी है। जिस सत् में अन्ततोगत्वा समस्त दृश्य का समावेश हो सकता है, वह सत्, जैसा कि हम देख चुके हैं, एक प्रत्यक्ष सर्वव्यापी अनुभूति है। वह सत् मेरे मनोभाव में विद्यमान है और स्वयं मेरा मनोभाव है, और इसलिए, इस सीमा तक, हम जो कुछ भी मन में अनुभव करते हैं वह सर्वात्मक विश्व है। परन्तु जब हम इस बात को स्वीकार नहीं करते कि विश्व इससे और अधिक भी है, तो हम सत्य को त्रुटि में परिणत कर देते हैं। मनोभाव

का एक अतिरिक्त अंश भी है, जो कि 'अद्य-मम्' का प्रसारण स्वरूप है, और यह सम्पूर्ण इकाई मेरे इदम् की स्वीकृति और अस्वीकृति दोनों ही करती है। उस सम्प्रसारण के अन्तर्गत वह अपने उन सभी आगमों के साथ विद्यमान रहता है जो उसमें आकर समाविष्ट होते हैं और उससे ऊपर उठकर, उससे अतिरिक्त हो जाते हैं। मेरा 'मम' एक ऐसे महान 'मम' की विशेषता बन जाता है जो सभी 'ममों' का अपने में समावेश करता है।

यदि इदम् के अन्तर्गत कोई ऐसी वस्तु मिले जो विलीन होने का विरोध करे, या जो ऐसे सहारे तथा सहयोग के द्वारा मिटने को तैयार न हो, तो कोई आपत्ति सम्भव हो सकती है। परन्तु हम उन्नीसवें अध्याय में देख चुके हैं कि ऐसे किसी भी तत्त्व का अस्तित्व नहीं हैं। अपने इदम् की सीमा को विस्तृत करने में मेरी जो असमर्थता है, और जिस अव्यवहित अनुभव में वह समाश्रित तथा सम्मिलित होता है उस अनुभव को प्राप्त करने में मेरी जो अशक्यता है, वह केवल-मात्र मेरी अपूर्णता अथवा दुर्बलता है। यदि मैं अपनी खिड़की को इतना नहीं फैला सकता कि उसमें सभी ओर खिड़कियाँ समा जायँ और सब कुछ दिखलाई पड़ने लगे, तो इसका अभिप्राय यह नहीं कि अपनी खिड़की की परिधि के अविकारी भाव पर मेरा अड़ा रहना ठीक है, क्योंकि वस्तुतः उस परिधि का हमारी दुर्बलता में ही अस्तित्व है, अन्यत्र कदापि नहीं (अध्याय १९)। मैं इस रूपक की भयंकर अयुक्तता तथा उससे होने वाले अविचारशील आक्षेप से परिचित हूँ, परन्तु फिर भी मैं इस विषय को इसी प्रकार रखूँगा। एक सत् वह है जो इस क्षण विशिष्ट खिड़की-द्वारा मेरे मनोभाव में प्रत्यक्षतः आता है और फिर यही एकमात्र सत् है। परन्तु हमें प्रथम 'है' को 'इसके' अतिरिक्त और कुछ नहीं है ?में नहीं बदल देना चाहिए, और न दूसरे 'है' 'को सब-कुछ है' में। एक सर्वव्यापी स्पष्टता में सीमित स्पष्टताओं के विलीनीकरण के विरुद्ध कोई आपत्ति नहीं होना चाहिए। जब हम अपनी इयत्ता की दुर्दमनीय प्रेरणा का अनुसरण करते हैं, तो हम केवल विवश होकर ही ऐसा नहीं करते, अपितु हमारा ऐसा करना उचित भी होता है।

(ख) अभी तक हम देख चुके हैं कि यदि आप अनुभव को प्रत्यक्ष ज्ञान मानें तो वह मेरे 'स्व' की एकाकी सत्ता को प्रमाणित नहीं करता। प्रत्यक्ष अनुभव किसी इदम् तक सीमित रहता है, और यह इद्म प्रमुखतः एक 'मम्' भी नहीं है, और वह एक 'स्व' तो है ही नहीं। और, दूसरी ओर हमने देखा कि सत् इस प्रकार के अनुभव को लाँघ जाता है। और इस प्रसंग में एक बार फिर अहमेववाद समझ सकता है कि उसे एक अवसर मिल गया। वह कह सकता है कि जो सत् इस क्षण के परे

चले जाता है वह 'स्व' पर आकर रुक जाता है। वह यह स्वीकार कर सकता है कि अतिक्रमण की प्रक्रिया हमें एक ऐसे 'अहम्' तक ले जाती है जिसमें सभी अव्यवहित अनुभवों का समावेश हो जाता है। परन्तु अहंमेववाद यह कह सकता है कि इस प्रक्रिया के द्वारा हम और आगे नहीं बढ़ सकते। उसको यह आपत्ति हो सकती है कि इस मार्ग से 'स्व' की अपेक्षा, अथवा मेरे निजी व्यक्तित्व से पृथक् किसी अन्य सत्ता तक नहीं पहुँचा जा सकता। परन्तु कुछ भी हो, हम देखेंगे कि यह धारणा कठिनतापूर्ण भी है और असंगत भी, क्योंकि यदि आपको, प्रस्तुत से पृथक् किसी अन्य 'स्व' में, विश्वास करने का अधिकार है, तो आपको दूसरे 'स्वों' के अस्तित्व को मानने का भी वैसा ही अधिकार है। मैं यह नहीं प्रश्न करूँगा कि हम ठीक-ठीक किस प्रकार इस कल्पना पर पहुँचते हैं कि दूसरे प्राणियों का भी अस्तित्व है। तत्वज्ञान को कल्पनाओं अथवा विचारों के उद्भव में कोई प्रत्यक्ष रुचि नहीं और उसका एकमात्र कार्य यह देखना ही है कि वे सत्य हैं या नहीं। परन्तु यदि मुझसे पूछा जाय कि अपने 'स्व' के अतिरिक्त अन्य 'स्वों' को मानना कहाँ तक ठीक है, तो उत्तर यह हो सकता है—मैं दूसरे आत्माओं की कल्पना दूसरे शरीरों के आधार पर करता हूँ और इस विचार-पद्धति का आधार मेरा अपना शरीर होता है। मेरे अनुभव में जो अनेक शरीर बन जाते हैं, उनमें से एक मेरा अपना शरीर होता है। और उसका सम्बन्ध, अव्यवहित तथा विशेष रूप में, सुख तथा दुःख से और फिर आलोचनों तथा संकल्पों से, ऐसा होता है जैसा किसी भी अन्य शरीर से नहीं हो सकता।[1] परन्तु मेरे शरीर-जैसे अन्य अनेक शरीर हैं, और सबमें भी इसी प्रकार के विशेष होना चाहिए।[2] इन शरीरों की संगति हमारे आलोचनों और संकल्पों से नहीं बैठ सकती, क्योंकि वे सामान्यतः असम्बद्ध तथा उदासीन और प्रायः विरुद्ध तक होते हैं, और परस्पर तथा मेरे शरीर के साथ उनका संघर्ष रहता है। अतः इन बाह्य शरीरों में से प्रत्येक का एक बाह्य 'स्व' भी निजी होता है। यह संक्षेप में एक तर्क है, और मुझे यह व्यवहार में प्रामाणिक लगता है। परन्तु निःसन्देह यह निम्नलिखित रूप में प्रदर्शन के योग्य नहीं रहेगा। प्रथम तो शरीरों में जो तादात्म्य पूर्णतया ठीक-ठीक नहीं है, अपितु वह विशिष्ट मात्राओं में पूर्णता प्राप्त करने में असमर्थ रहता है। और फिर जहाँ तक तादात्म्य परिपूर्ण है भी, वहाँ तक उसका परिणाम अतिरिक्त उपाधियों से विकृत

---

१. तुलना करो, 'माइन्ड' [illegible], पृ० ३५० और आगे, (नं० ८६) वर्तमान [illegible] के लिए इस तर्क की [illegible] है [illegible] हो।

२. इस तर्क का पूर्ण आधार [illegible] के [illegible] सिद्धान्त पर है।

हो सकता है। और इसलिए दूसरा आत्मा मेरे निजी आत्मा से तत्वतः इतना भिन्न हो सकता है कि मैं सम्भवतः उसको आत्मा की संज्ञा प्रदान करने में भी हिचकूँ[1] यद्यपि यह तर्क पूर्णतया प्रमाण नहीं है, परन्तु फिर भी वह पर्याप्त अच्छा है।

इसी प्रकार के तर्क द्वारा हम अपने निजी भूत और भविष्यत् तक पहुँच सकते हैं। और दूसरे आत्माओं के अस्तित्व के विरुद्ध आपत्ति करके, अहमेववाद अनजाने में यहीं पर आत्महत्या करने का प्रयत्न कर रहा है, क्योंकि मेरा भूत आत्मा भी केवल एक निमगमन-प्रक्रिया का परिणाम है—एक ऐसी प्रक्रिया जो स्वयं सदोष है।

हममें से प्रत्येक अपने भूत 'स्व' को अपना निजी कहने का इतना अधिक अभ्यस्त है कि यहाँ पर इस बात पर विचार करना पूर्णतया सुसंगत होगा कि वह कहाँ तक एक बाह्य वस्तु है। प्रथम तो मेरे भूतकाल की मेरे निजी वर्त्तमान से उसी प्रकार संगति नहीं बैठती जिस प्रकार कि मेरे वर्तमान की किसी दूसरे मनुष्य के वर्त्तमन से। यदि उन दोनों की विशेषताएँ अन्य प्रकार से समान ही मान ली जायँ तो भी उनका काल-भेद उन्हें पूर्णतया एक नहीं होने दे सकता। परन्तु गुणों का यह सादृश्य कम-से-कम सदा तो दुर्लभ है। और मेरा भूतकाल न केवल इतना भिन्न होना सम्भव है कि वह लगभग उदासीन-सा हो जाय अपितु इतना भी कि मेरा उसके प्रति शत्रुता अथवा घृणा का भाव तक बन जाय। सम्भव है कि निरन्तरता के साथ संयुक्त और किसी निष्कर्ष के द्वारा सम्बद्ध एक अनिवार्य बन्धन अथवा एक स्थायी भार के रूप में ही वह मेरा हो। और सूक्ष्म न होने के कारण वह निष्कर्ष प्रदर्शन के योग्य ठहरता नहीं।

मेरे कल के भूत का निर्माण वर्त्तमान से पुनर्गठन-द्वारा होता है। वर्त्तमान को हम य (ख-ग) मान लें जिसमें य (क-ख), एक प्रत्ययात्मक सम्बन्ध हो। इस सम्बन्ध का प्रजनन और वर्तमान के साथ उसका संश्लेषण ऐसा कि जिससे य – (क-ख-ग) बन सके—इसी को हम स्मृति कहते हैं। और इस प्रक्रिया का औचित्य य और य के तादात्म्य में निहित है।[2] परन्तु मेरे वर्त्तमान 'स्व' को न केवल विशिष्ट कर दना अपितु उससे पृथक् एक दूसरे 'स्व' को खड़ा कर देना एक गम्भीर बात है। मैं तादात्म्य पर इतना आग्रह करता हूँ कि मैं ठीक उसी प्रकार एक भेद खड़ा कर

---

१. तुलना करो अध्याय २७।

२. सरलता की दृष्टि से मैंने स्मृति-शोध की प्रक्रिया को यहाँ छोड़ दिया है। वस्तुतः इसके लिए यह आवश्यक होता है कि अतीत की एक सुबोध दृष्टि प्राप्त हो जाय और उसमें से सभी अग्राह्य तत्वों का परिहार कर दिया जाय।

दता हूँ जिस प्रकार पहले हजारे शरीरों के तादात्म्य पर अड़े रहने से मैं एक मित्र पुरुप के आत्मा तक पहुँच गया। और यहाँ एक वार फिर यह स्पष्ट हो गया है कि यह तादात्म्य अपूर्ण है। इस सम्वन्ध में य को विशिष्ट वनाने वाला सव-कुछ समाविष्ट नहीं हो पाता, य से य् भिन्न है, और ख से ख्। और फिर इस सदोप तादात्म्य में होकर एक-दूसरे ठोस तथ्य तक पहुँचने का मार्ग किसी हद तक किन्हीं अज्ञात विघ्नों से विकृत हो सकता है। अतः मैं यह नहीं सिद्ध कर सकता कि कल के जिस स्व का आज मैं निर्माण कर रहा हूँ उसका अतीत में कोई वास्तविक अस्तित्व था या नहीं। जिन ठोस उपाधियों के अन्तर्गत मेरा प्रत्ययात्मक निर्माण होना है, वे उसका स्वरूप वदल सकती हैं। वस्तुतः वे उसके साथ इस प्रकार मिल सकती हैं कि यदि मैं इस अजात तथ्य को जानता होता, तो मैं उसको फिर अपना 'स्व' ही नहीं कहता। इस प्रकार निस्सन्देह मेरा अतीत 'स्व' प्रदर्शित ही नहीं होता ; उसके विपय में हम केवल यही कह सकते हैं कि, अन्य आत्माओं की तरह, वह व्यावहारिक रूप में निश्चित है। और प्रत्येक अवस्था में परिणाम तथा उसको समझने का हमारा ढंग सिद्धान्ततः एक ही है। दूसरे आत्मा और मेरी अपनी आत्मा, दोनों ही वौद्धिक सृष्टि हैं, जिनमें से प्रत्येक उतना ही सुरक्षित है जितना विशेप तथ्यों को सुरक्षित होने की आशा है। परन्तु यदि इन दो में से कोई भी प्रदर्शन से दूर रहे, तो दो में से किसी का भी प्रदर्शन सम्भव नहीं, और यदि इस माँग पर जोर दिया जाय, तो आपके पास एक ऐसा मनोभाव रह जायगा जिसके विपय में आप कुछ भी नहीं कह सकते, और जो किसी का भी आत्मा सवल रूप में नहीं हो सकता। दूसरी ओर, यदि आप एक ऐसे परिणाम को स्वीकार करना चाहते हैं जो ठीक-ठीक सिद्ध नहीं हुआ, तो दोनों ही परिणाम स्वीकार करने पड़ेंगे, क्योंकि जो प्रक्रिया आपको अन्य आत्माओं तक पहुँचाती है वह कम-से-कम उस सृजन की अपेक्षा तो क्षीणतर नहीं है जिसके द्वारा आपका अपना आत्मा प्राप्त होता है। दोनों में से किसी भी विकल्प को स्वीकार करने पर, अहमेववाद का निष्कर्ष नष्ट हो जाता है।

और यदि स्मृति, अथवा कोई दूसरी शक्ति का आह्वान मेरे आत्मा की प्रमुख सत्ता को प्राप्त करने के लिये किया जाय, तो मैं उसे मानने से अस्वीकार कर दूँगा, क्योंकि मुझे विश्वास है कि ऐसे सुगम आश्चर्यों का अस्तित्व नहीं है, और उन्हें स्वीकार करने के लिए किसी को भी पर्याप्त वहाना नहीं है। स्पष्टतया, स्मृति वर्तमान की भूमि से उपजती है। वह नितान्त निष्कर्प-मूलक होती है और निस्सन्देह सदोप होती है, और भूतकालिक व्यक्तिगत अस्तित्व के विपय में उसकी भयंकर भूलें सुविज्ञात हैं। (पृष्ठ ७१-२-१८७)। इस गड़वड़ी पर आत्मा की उन वर्त्तमान

सीमाओं के प्रसंग में, एक विहंगम दृष्टि डालना पसन्द करूँगा जो हिप्नोटिज्म के प्रयोगों की एक सुपरिचित विशेषता है। मेरे विचार में एक संकेतित वाह्य व्यक्तित्व की कल्पना एक ऐसा प्रवल प्रमाण है जिससे हमारी एक गौण प्रकृति की सत्ता सिद्ध होती है। संक्षेप में, दोनों ही निर्माण के परिणाम हैं, और तथ्यों का अन्यथा निरूपण करना स्पष्टतः असम्भव है।[1]

अभी तक हम देख चुके हैं कि प्रत्यक्ष अनुभव अहमेववाद का कोई आधार नहीं वन सकता। और हमने यह भी देखा कि, यदि उस अनुभव को अतिक्रान्त करना सम्भव भी हो तो भी अहमेववाद के कोई अविक निकट नहीं पहुँच जाते। क्योंकि हम वाह्य आत्माओं तक एक ऐसी प्रक्रिया द्वारा ही पहुँच सकते हैं जो हमारे अपने आत्मा की स्थापना करने वाले सृजन की अपेक्षा निम्नतर नहीं हो सकती और, आगे जाने से पहले, मैं एक छोटी-सी वात की ओर ध्यान आर्कापित करूँगा। यद्यपि अपने अतीत आत्मा के स्वामित्व का मुझे अधिकार प्राप्त है, परन्तु फिर भी, इतना होने पर भी, अहमेववाद के लिए कोई आधार नहीं मिलता। इसका यह अभिप्राय नहीं कि अनहंता कुछ है ही नहीं, और समस्त जगत् केवल मेरे आत्मा की ही एक अवस्था है। अभी तक का एक-मात्र निष्कर्ष यही निकलता है कि अनहंता जड़ होना चाहिए। परन्तु उस परिणाम तथा अहमेववाद के वीच एक अपूर्व खाई है। प्रस्तुत अहमेववाद के आवार पर यह कहा जा सकता है कि आप एक ऐसे आत्मा का निर्माण नहीं कर सकते, जो ऐसे प्रत्येक तत्व को आत्मसात् कर लेगा जो उससे भिन्न और पृथक् है।

संक्षेप में, मैं मिथ्यावारणा के एक दूसरे आवार की ओर संकेत करूँगा। यह वही पुरानी भूल एक ऐसे रूप में है जो कि पहले से कुछ भिन्न है। यह कहा जा सकता है कि मैं जो भी अनुभव करता हूँ वही जानता हूँ, और मैं अपनी अवस्थाओं से पृथक् और कुछ भी अनुभव नहीं कर सकता। और यह तर्क किया जाता है कि इस कारण मेरा अपना आत्मा ही एक मात्र प्रमेय-सत् है। परन्तु इस आक्षेप में सत्य को एक वार फिर असत्य में दवोच दिया गया है। यह सच है कि मैं जो-कुछ अनुभव करता हूँ वह मेरी अपनी अवस्था है—जहाँ तक कि मैं उसको अनुभव करता हूँ मेरे सत् के रूप में, परम सत् तक मेरी मनोदशा है। परन्तु इससे यह वात सिद्ध होना

१. निःसंदेह वाह्य शरीर के हस्ताक्षेप से ही हम अपने ही आत्मा को वाह्य आत्मा समझने से वच जाते हैं। प्रथम तो दूसरे शरीर व्यवहित रूप से मेरे सुख-दुःख से नितान्त सम्वद्ध नहीं है। और दूसरे, उसकी अवस्थाएँ मेरी अवस्थाओं से स्पष्टतः असंगत हैं।

भी कठिन है कि मेरी मनोदशा और कुछ भी नहीं है, और उसको सत् रूप में उस एक ही दृष्टि से ग्रहण किया जाना चाहिए। सत् को निश्चित रूप से मेरे मानसिक जीवन में आभासित होना चाहिए, परन्तु उसके सम्पूर्ण स्वभाव को उसी क्षेत्र तक सीमित रखना एक बिलकुल दूसरी बात है।

मेरा विचार, मनोभाव और संकल्प, निःसन्देह सभी नाम-रूप हैं, वे सब घटनाएँ हैं जो कि घटित होती हैं, तो अनुभूत इदम् में उनका अस्तित्व होता है, और वे अपने आकस्मिक संघात के अन्तर्गत तत्त्व हैं। और उनको उस आत्म-वस्तु की अवस्थाओं के रूप में भी ग्रहण किया जा सकता है जिसको मैं निष्कर्ष द्वारा संगठित करता हूँ। परन्तु यदि आप उनको केवल इसी रूप में देखें, तो आप जाने या न जाने उनके स्वरूप को छिन्न-भिन्न कर देंगे। आप एक ऐसे दृष्टिकोण का प्रयत्न करेंगे जो कि आवश्यक होते हुए भी एकांगी तथा आंशिक है। और इस दृष्टि के स्वरूप को और अधिक स्पष्ट रूप में आगे चल कर देखेंगे (अध्याय २३ और २७)। यहाँ मैं केवल यही कहूँगा कि इन प्रक्रियाओं का अभिप्राय और उनकी इयत्ता मानसिक शृंखलाओं में आभासित होने में नहीं है। विचार में हमारी मानसिक अवस्था प्रमुख तत्व नहीं हैं, यही सत्य संकल्प के विषय में भी उतना ही निश्चित है, यद्यपि कुछ कम ग्राह्य मेरा संकल्प मेरा है, परन्तु इतना होते हुए भी वह कुछ और भी है; संकल्पित विचार की इयत्ता मुझसे कोई बाह्य वस्तु हो सकती है, और यह इयत्ता प्रभावक होती है, इसलिए यह प्रक्रिया का क्षेत्र केवल मेरी अवस्था-मात्र नहीं हो सकता। परन्तु यहाँ मैं उस बात का पूर्व ग्रहण करने का प्रयत्न नहीं करूँगा जिसको हम आगे लेने वाले हैं। यहाँ सामान्य रूप से यह कहना पर्याप्त है, कि यदि अनुभव मेरा है, तो इससे यह कदापि सिद्ध नहीं होता कि मैं जो भी अनुभव करता हूँ वह अपनी निजी अवस्था के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। और यह समस्त आक्षेप पूर्णतः असत्यपूर्ण कल्पनाओं पर आधारित है। मेरी निजी आत्मा सर्वप्रथम एक ऐसे विशेष के रूप में स्थापित होती है जो कि परिपूर्ण इकाई से वस्तुतः स्वतंत्र होता है, और फिर हमारे अनुभव में बलात् आने वाला उसका विश्व के साथ सम्भावित तादात्म्य बिगड़ कर या घट कर हमारी तुच्छ सूक्ष्मता का विशेषण-मात्र हो जाता है। परन्तु जब भी इन पूर्व कल्पनाओं को उखाड़ा जाता है तभी अहमेववाद तिरोहित हो जाता है।

एक सूक्ष्मता के स्रोत के रूप में अहमेववाद नितान्त असत्य है। परन्तु उसकी त्रुटियों से हम सत्य के कुछ ऐसे पक्षों को संकलित कर सकते हैं जिसके प्रति हम कभी-कभी आँख मूँद लेते हैं और, प्रथम तो यह बात है कि यद्यपि मेरा अनुभव ही सम्पूर्ण जगत नहीं है, परन्तु फिर भी जगत् मेरे अनुभव में आभासित होता है और जहाँ तक

वहाँ उसका अस्तित्व होता है, वहाँ तक वह मेरी मनोदशा है। वास्तविक परम सत् अथवा स्वयं ईश्वर भी एक मेरी मनोदशा है, यह एक ऐसा सत्य है जो प्रायः भुला दिया जाता है और जिस पर हम आगे चल कर फिर विचार करेंगे। और एक दूसरा सत्य भी है जिसका अहमेववाद आँख मूँद कर साक्षत्व कर रहा है। सत् के साथ मेरा सम्पर्क एक सीमित वातायन के द्वारा होता है, क्योंकि इस अनुभूत इदम् के अतिरिक्त किसी अन्य प्रत्यक्ष साधन से उसकी प्राप्ति नहीं हो सकती, और हमारा अव्यवहित विनिमय तथा प्रभावान्तरण इसी क्षुद्र गवाक्ष के द्वारा होता है। इसके परे कोई भी वस्तु यद्यपि कम अवास्तविक नहीं है, परन्तु फिर भी उसी सामान्य तत्त्व का विस्तार है जिसको हम उत्कट रूप से इसी एक केन्द्र में अनुभव करते हैं। और इसी प्रकार अंत में विश्व को जानने के लिए हमें व्यक्तिगत अनुभव तथा आलोचना का सहारा लेना पड़ता है।

परन्तु इन सत्यों के अतिरिक्त, एक और अन्य सत्य भी ध्यान देने योग्य है। मेरा आत्मा निःसन्देह परम सत् नहीं है, परन्तु बिना उसके परम सत् अपने निज रूप में नहीं हो सकता। आप कहीं भी मेरे व्यक्तिगत मनोभावों से पूर्णतया पृथक्करण नहीं कर सकते, आप यह नहीं कह सकते कि, इनमें से निम्नतम को छोड़कर भी, विश्व में अन्य कोई भी वस्तु उसी रूप में रहेगी जिस रूप में है। और मेरे आत्मा के साथ समस्त सत् के इस सम्बन्ध अथवा इस तात्त्विक बन्धन को बतलाने में, अहमेववाद ने एक ऐसी बात पर जोर दिया है जिसको भुलाया नहीं जा सकता। परन्तु इस शक्ति से जो निष्कर्ष निकलते हैं उनकी चर्चा आगे की जायगी।[1]

१. मैं सत्ताइसवें अध्याय में इस प्रश्न पर विचार करूँगा कि अहमेववाद का खंडन करके आपने इस निर्णय के किसी आधार को तो नहीं दूर किया कि परम सत अनुभव ह।

बाईसवाँ अध्याय

प्रकृति

प्रकृति शब्द के निस्सन्देह कई अर्थ हैं। मैं यहाँ पर इसका प्रयोग केवल भौतिक जगत के अर्थ में करता हूँ। भौतिक जगत वह क्षेत्र है, जो केवल भौतिक विज्ञानों का विषय है, और जो समस्त मन के बाहर आता प्रतीत होता है। जो प्रत्येक मानसिक वस्तु से पृथक् है और तिस पर भी अस्तित्व का अवशेष-मात्र, उसी को यहाँ प्रकृति कहा गया है। उसके अन्तर्गत केवल शरीर अथवा अमानसिक संप्रसारण और इस संप्रसारण से अद्भुत एवं सम्बन्धित सभी गुण आ जाते हैं। और कभी-कभी इस बात को भूल जाते हैं कि, हमारे प्रत्येक के मानसिक इतिहास में इस जगत् का किसी समय कोई अस्तित्व नहीं था। संप्रसारण के मनोवैज्ञानिक उद्भव के विषय में कोई भी मत स्थिर क्यों न किया जाय, परिणाम वही रहेगा। एक समय था, जब कि हमारे मनोभाव से पृथक् किसी सत् वस्तु के रूप में, बाह्य जगत का पार्थक्य चाहे हो या नहीं, परन्तु वह हम में से प्रत्येक के लिए सार है और सम्पूर्ण सत् का एक पृथक्करण अथवा अलग हुआ अंश है, और इस सत् के तथा उसके अन्तर्गत कल्पित विभाजन के लिए स्वभावतः कुछ समय की अपेक्षा होती है। परन्तु मैं इस विषय की और अधिक चर्चा यहाँ पर करना नहीं चाहता।[1]

फिर वह समय आता है, जब हम सबको केवल शरीर मात्र की कल्पना-प्राप्त हो जाती है। मेरा यह अभिप्राय नहीं कि हम सदा ही अथवा अभ्यासवश भी, बाह्य जगत् को समस्त मनोभाव से पृथक् स्थित अथवा प्रवर्तित मानते हैं। परन्तु फिर भी कम-से-कम कुछ उद्देश्यों के लिए तो अवश्य ही हमें प्रकृत अथवा विकृत गुणों से युक्त एक इस प्रकार के जगत् की कल्पना होती है। यह जगत् हमें ऐसा प्रतीत होता है कि वह किसी के भी अन्तर्जगत् पर आश्रित नहीं है। यह जगत् निज सम्पर्क में आने वाले प्रत्येक आत्मा को समान रूप से स्थित दिखलायी पड़ता है। हमारे सेन्द्रिय शरीर ऐसे साधनों और माध्यमों के रूप में समझे जाते हैं, जो उसको अपने यथार्थ

---

१. कुछ अधिक चर्चा के लिए देखिए, 'माइन्ड' सं० ४७ (पो० ७)।

रूप में, स्वयं उनसे पृथक् रूप में ग्रहण करा सके। और हमें एक ऐसी शारीरिक सत्ता की कल्पना में कोई कठिनाई नहीं दिखाई पड़ती है, जो आत्मा के अभाव में भी अपना अस्तित्व दृढ़ रख सके। सामान्य व्यक्ति के लिए, ऐसी स्थिति स्पष्टतः सम्भव प्रतीत होती है, चाहे वह अन्य कारणों से उसे कितना ही अमान्य क्यों न ठहराये। और यदि उसे यह विश्वास दिलाया जाय कि उसकी यह कल्पना अर्थहीन मूढ़ता है, तो वह उसे सामान्य अनुभव के विपरीत कहकर ठुकरा देगा।

और फिर विचारशील व्यक्ति के लिए सन्देहों, आक्षेपों तथा समाधान एवं समझौतों के निरर्थक प्रयत्नों की वही पुरानी परम्परा प्रारम्भ हो जाती है, क्योंकि सामान्य व्यक्ति के लिए प्रकृति भौतिक शास्त्री की प्रकृति से भिन्न है, और अपने विज्ञान के बाहर स्वयं भौतिक शास्त्री भी जगत् को अभ्यासवश उसी रूप में देखता है, जिसको वह असम्भव मानता है। परन्तु यहाँ प्रथम पुस्तक में प्रकृत और विकृत गुणों के विषय में जो चर्चा की जा चुकी है, उसकी यहाँ उल्लेख करने की आवश्यकता नहीं होनी चाहिए। हमने वहाँ यह दिखलाने का प्रयत्न किया कि दोनों को एक स्तर पर ग्रहण करना कठिन है और सत् को एक प्रकार के गुणों से ही युक्त और दूसरे प्रकार के गुणों से सर्वथा रहित मानना असम्भव है। और इस प्रकार भौतिक प्रकृति को ही एक-मात्र सत् स्वीकार करने वाला व्यक्ति नैराश्यपूर्ण भौंचक्केपन से, आँखें मूँद कर ही बच सकता है। वह विवश होकर इस निर्णय पर पहुँचता है कि मैं जो कुछ जानता हूँ वह मेरा एक देहाभिमान-मात्र है। और फिर मेरी देह भी तो इस प्रकार के अभिमान के अतिरिक्त और कुछ नहीं ठहरती है। संक्षेप में, किसी भौतिक वस्तु की एक अवस्था के अतिरिक्त और सम्भवतः अन्ततोगत्वा (स्यात् यह कहा जा सके) स्वयं निज की अवस्था के अतिरिक्त, अन्य कोई भी भौतिक वस्तु अपना अस्तित्व नहीं रखती। इस दृष्टि से प्रकृति का विवेचन करना लाभप्रद हो सकता है।

यहाँ पर मैं एक प्रकार के विरोधाभास (एन्टीनोमी) का प्रयोग करता हूँ; (क) प्रकृति केवल मेरे शरीर के लिए है, परन्तु दूसरी और (ख) मेरा शरीर केवल प्रकृति के लिए है।

(क) मुझे इस स्थापना के विषय में और कुछ भी कहने की आवश्यकता नहीं कि बाह्य जगत मेरी देह की एक अवस्था के रूप में ही जाना जाता है। सामान्यतः इसका यथोचित निष्कर्ष यही निकलता प्रतीत होता है कि अन्य सब-कुछ मेरे मस्तिष्क की एक अवस्था-मात्र है, क्योंकि प्रकट रूप में यही एक-मात्र वस्तु है जिसका अनुभव करना सम्भव हो सकता है। मस्तिष्कीय केन्द्रीयकरण के प्रश्न से उत्पन्न होने वाली सूक्ष्मताओं में प्रवेश करना मैं नहीं चाहता।

(ख) और फिर भी, अत्यन्त बलपूर्वक यह कहा जा सकता है कि, जैसा कि पुस्तक के प्रारम्भ में देख चुके हैं, मेरी देह किसी अन्य व्यक्ति के लिए एक आभास के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। वह स्वयं एक प्राकृतिक विषय की एक नग्न अवस्था-मात्र है; क्योंकि, अन्य सभी वस्तुओं की भाँति, मेरी देह केवल अनुभूत-मात्र है। और मैं अपनी देह का अनुभव उसके अपने अंगों के प्रसंग में ही कर सकता हूँ। अतः सम्पूर्ण शरीर इन्हीं की एक अवस्था-मात्र है, और वे सभी एक-दूसरे की अवस्थाओं के रूप में अनिश्चित प्रत्यावर्तन करते हैं।

हम इसको अस्वीकार कैसे कर सकते हैं ? यदि हम एक ऐसे अव्यवहित अनुभव पर ध्यान केन्द्रित करें, जो हमें किसी संप्रसारित या ठोस वस्तु के सदृश शरीर से युक्त दिखलाये, तो इसका अभिप्राय यह होगा कि हम विस्फोटित माया-महलों के जगत में शरण ले रहे हैं। ऐसी कोई भी विचित्र अन्तर्दृष्टि किसी गम्भीर मनोवैज्ञानिक का प्रकाश नहीं सहन कर सकती। जिन आन्तरिक मनोभावों का मैं अनुभव करता हूँ, उनमें निस्सन्देह ऐसी कोई वस्तु नहीं मिलती, और यदि मिले भी, तो भी प्राकृतिक विज्ञान के लिए वे कोई प्रत्यक्ष सत् नहीं, अपितु भौतिक मस्तिष्क-तन्त्र की स्वयं अवस्थाएँ-मात्र हैं। और यदि प्रतिरोध के किसी कल्पना-जन्य सामूहिक दिव्य ज्ञान का सहारा लिया जाय, तो निःस्सन्देह, इसका अर्थ यह है कि हम असमर्थ से सहायता की याचना कर रहे हैं, क्योंकि प्रथम तो दिव्य ज्ञान (जैसा कि दशम-अध्याय में हम देख चुके हैं) मनगढ़ंत है। और, दूसरे प्रतिरोध किसी ऐसे शरीर को हमारे सामने प्रस्तुत नहीं कर सकता जो स्वतन्त्र रूप से सत् हो। वह तो केवल ऐसे वस्तुगत सम्बन्ध ही प्रस्तुत कर सकता है जिसमें रह कर, दो में से कोई भी वस्तु किसी प्रतिरोधी के रूप में एक पृथक् पिण्डव्रत (दूसरी वस्तु से अलग या उससे सम्बद्ध होकर) नहीं रह सकती। प्रतिरोध भला हमें यह कैसे बता सकता है कि कोई वस्तु स्वयं क्या है ? वह तो दूसरी वस्तु की अवस्था से विशिष्ट हुई एक वस्तु को ही हमारे सामने प्रस्तुत करता है, और दोनों वस्तुओं में से प्रत्येक प्रति दूसरे के लिए ही उस ज्ञात सम्बन्ध में स्थित होती है और उससे पृथक होकर अज्ञात तथा इस अर्थ में एक असत् वस्तु-मात्र रह जाती है। और प्रकृत के सम्बन्ध में, इसी सामान्य निष्कर्ष पर हम आ पहुँचते हैं। भौकित जगत् भौतिक वस्तुओं का एक पारस्परिक सम्बन्ध है, और दूसरी ओर वे निश्चित रूप से भौतिक नहीं हैं। अज्ञात का अज्ञात के साथ जो नाम-रूप सम्बन्ध है वही प्रकृति है, और अज्ञात होने के कारण व्यंजकों को सम्बद्ध भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि स्वयं उनके विषय में कुछ इदमित्थं कहा ही नहीं जा सकता। इसी को आइए आगे बढ़ायें।

बाह्य जगत् का अस्तित्व मेरी इन्द्रियों के लिए ही है, यह निष्कर्ष अनिवार्य-सा प्रतीत होता है। परन्तु, प्रमेय-रूप होने के अतिरिक्त, और इन्द्रिय है क्या ? और किसी इन्द्रिय की अवस्था होने के अतिरिक्त वह स्वयं भी और कैसे जानी जा सकती है ? तो यदि आप से एक ऐसी इन्द्रिय का पता लगाने को कहा जाय, जिसका अस्तित्व एक भौतिक विषय के रूप में हो तो आप उसी प्रकार असफल रहेंगे जिस प्रकार कि उस शरीर के पाने में, जिसका अस्तित्व स्वयं शरीर के रूप में है। प्रत्येक किसी अन्य की अवस्था होगी और जो स्वयं कदापि एक अवस्था से अधिक न होगी, इस प्रकार वह 'अन्य' कदापि पकड़ में न आयगा। यदि हम मस्िष्क में शरण लें तो भी वही परिणाम स्पष्ट दिखलाई पड़ेगा। यदि जगत् मेरे मस्तिष्क की अवस्था है, तो फिर मेरा मस्तिष्क स्वयं क्या है ? वह किसी-न-किसी मस्तिष्क की अवस्था होगा, मुझे यह प्रश्न करने की आवश्यकता नहीं कि किसका मस्तिष्क ? [1] जब तक आप उसे किसी भौतिक वस्तु का विशेषण न बना डालें, तब तक वह किसी भी दशा में एक भौतिक वस्तु के रूप में सत् नहीं हो सकती। और यह मृगमरीचिका की खोज सदैव चलती रहती है। वह कभी भी आपको अपने किसी अप्रमेय के विशेषण अथवा अपने किन्हीं अप्रमेयों के सम्बन्ध के अतिरिक्त अन्यत्र नहीं ले जा सकती।

इस चक्र से निकलने का कोई मार्ग नहीं। क और ख के एक द्विविध प्रत्यय का उदाहरण ले लीजिए। प्रत्यय केवल ग की इंतिद्रिय एक अवस्था है। और यदि आप ग या घ में से एक को देह-रूप में सत् कहना चाहें तो आप ङ अथवा च जैसे किसी अन्य इन्द्रिय के साक्षित्व के आधार पर ही ऐसा कह सकते हैं। आपको कभी भी किसी विशेष्य रूप में स्थित कोई स्थूल पदार्थ नहीं मिलेगा; आपको अनन्त रूप में विशेषण-विशेषण भटकना पड़ेगा। और द्विविध प्रत्यय का दुहरा प्रमाण यह नहीं बतलाता कि प्रत्येक पक्ष देह है। वह तो इसी निष्कर्ष पर हमें ला पटकता है कि दोनों पक्षों में से कोई भी एक आश्रित से अधिक नहीं,—किसका आश्रित यह ज्ञात नहीं।

और यदि हम सामान्य अनुभव का आश्रय लें, तो हमें विरोधाभास के एक पक्ष के लिए कोई सहायता ही नहीं मिलती। यह स्पष्ट है कि हमारी देह के अस्तित्व के लिए हमें वही प्रमाण प्राप्त हैं जो कि वाह्य विषयों के अस्तित्व के लिए। हमें एक ऐसा साक्षी प्राप्त है, जो हमारे देह-सहित होकर हमारे लिए ऐसा परिवृत प्रदान करता है, जो समान रूप से सत् होता है, क्योंकि हम किसी भी परिस्थिति में, किसी-

---

१. क्योंकि अन्ततोगत्वा मेरा मस्तिष्क तो मेरे मस्तिप्क की अवस्था ही होगा।

न-किसी बाह्य आलोचन से रहित नहीं हो पाते। यदि आपको सामान्य अर्थ में इन्द्रियों का साक्षित्व प्राप्त है और यदि उस आधार पर बाह्य जगत् सत्य नहीं ठहरता, तो हमारी इन्द्रियाँ भी सत् नहीं हो सकतीं। या तो आपको दोनों ही पक्ष एक-स्तरीय स्थिति में प्रस्तुत होने चाहिए, अन्यथा उनमें से कोई भी पक्ष कतई प्रस्तुत न होगा और यह कहना नितान्त तर्क-विरुद्ध प्रतीत होता है कि एक पक्ष विशेष्य है जिससे दूसरा पक्ष एक अंग या अनुबन्ध के रूप में जुड़ा हुआ है। संक्षेप में हम जिस निष्कर्ष पर पहुँच चुके हैं, वह पुष्ट हो गया। प्रकृति और मेरा दोनों ही अनिवार्य रूप से एक-दूसरे के साथ तथा एक-दूसरे के निमित्त अस्तित्ववान् हैं। और परीक्षा करने पर दोनों-के-दोनों ही पारस्परिक सम्बन्ध के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं जान पड़ते। प्रत्येक में हमें ऐसा कोई तत्त्व नहीं मिलता जो दूसरे के लिए आभास-रूपता का दोष न रखता हो।

और इस निरूपण के साथ-साथ हम एक अनिवार्य परिणाम पर पहुँचते हैं। भौतिक जगत् एक आभास है, वह निरन्तर प्रतीयमान है। वह दो अज्ञातों का सम्बन्ध है, और अज्ञात होने के कारण, उन्हें सचमुच दो मानने का अथवा सम्बद्ध करने का हमें अधिकार नहीं। समझने का यह ढंग हमें ऐसे गुणों और सम्बन्धों को प्रस्तुत करता है, जो एक-दूसरे की परस्पर-उपाधि होते हुए भी एक-दूसरे की पूर्व-स्थिति की कल्पना करता है। और हमारे पास ऐसा कोई साधन नहीं जिससे हमें यह पता चल सके कि कि परम सत् में इस उलझन और जटिलता का निराकरण कैसे होता है। भौतिक जगत् सत् का एक त्रुटिपूर्ण, एकांगी तथा स्वयं-विरुद्ध आभास है। वह दो अज्ञात वस्तुओं की प्रतिक्रिया है—ऐसी दो वस्तुएँ, जिनमें से प्रत्येक को, सम्बन्धित होने के लिए, स्वयं कुछ होना चाहिए, और साथ ही जो अपने पारस्परिक सम्बन्ध के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं हैं। दूसरे शब्दों में जिस रूप में हम अनेकता को समझे हैं, उस रूप में वह सत् नहीं है, परन्तु फिर भी न जाने कैसे, वह अपनी सम्पूर्ण इयत्ता और समृद्धि के साथ विश्व के जीवन में प्रवेश करके उसे परिपूर्ण बनाती है। परन्तु उसका समावेश किस प्रकार होता है, इस विषय में हम कुछ भी कह सकने में असमर्थ हैं।

परन्तु क्या देह और प्रकृति के बीच यह उलट-फेर का बन्धन, यह निराधार पारस्परिक सम्बन्ध एक परिहार-योग्य त्रुटि है? अत्यन्त सबल स्वर में—नहीं, क्योंकि हमारे आभासों में यह एक महत्वपूर्ण तंत्र है और एक आवश्यक घटना-क्रम है। नाम-रूपों के बीच यह एक ऐसी क्रम-व्यवस्था है जिसके द्वारा यह संप्रसारित एक अन्य संप्रसारित (जिसे हम देह कहते हैं) के सम्बन्ध से ही हम तक पहुँचता है। स्वयं,

दर्शन या श्रवण के गुणों का जब तक गुणों के साथ कोई सम्बन्ध न हो, तब तक आप उन्हें ग्रहण नहीं कर सकते। एक वर्गीकरण तथा क्रमबद्धता एवं सह-अस्तित्व के रूप हमें प्रतीत होने वाले आभार के एक भाग में लागू होने वाले एक वर्गीकरण तथा क्रमबद्धता एवं सह-अस्तित्व के रूप में,प्रकृति की एक नाना-रूपात्मक सत्ता है। परन्तु, यदि आप उसमें वृद्धि करना चाहें, तो फिर आप ऐसी भूल-भुलैया में जा पड़ेंगे जिससे निकलने का कोई मार्ग नहीं। आपको यह भौतिक जगत् मेरी देह के एक विशेषण-मात्र के रूप में मानना पड़ता है, और ; साथ ही आप यह भी देखते हैं कि मेरे शरीर की विशेषता तनिक भी नहीं बढ़ती। वह स्वयं सदा के लिए 'अपिच' और 'उपर्युपरि' की अवस्था है। और, जैसा कि हमने प्रथम पुस्तक में देखा, आप न तो प्रकृत गुणों को मेरे मनोभाव से पृथक्, अस्तित्ववान् ही स्वीकार कर सकते हैं ! ये सभी भेद हैं, जो, जैसा कि हमने देखा, परमानुभूति की एक महती संहति में एकत्र होकर विलीन हो जाते हैं। हमारी दृष्टि के लिए वे विलीन हो जाते हैं, परन्तु जो उन्हें आत्मसात् करता है उसमें वे निस्सन्देह जीवित रहते हैं। प्रकृति केवल उस चेतनपूर्ण का एक अंग है जिसे हमने अपनी पृथक्करण प्रक्रिया-द्वारा अलग किया और सैद्धान्तिक आवश्यकता तथा योजना-द्वारा बढ़ाया। और फिर, हमने इस खंड की स्थापना स्वयं के रूप में कर दी, और जिसको कभी कभी 'विज्ञान' कहा जाता है। वह जानबूझ कर एक भयंकर भूल करता है। एक आभास-मात्र की उपाधियों के बौद्धिक महल को ही वह एक स्वतन्त्र सत् मान लेता है। और वह इस मनगढंत को हमारे ऊपर एक ऐसी वस्तु के रूप में लाद देता है जिसकी कोई ठोस सत्ता हो। परन्तु, इस प्रकार वह एक नितान्त भूल, एक सापेक्षिक सत्य के रूप में परिणत हो जाती है। वह उसकी उपादेयता भी कम कर देती है जो, एक कामचलाऊ दृष्टिकोण के रूप में, सफलता को देखते हुए पूर्णतया युक्तियुक्त लगती है और आलोचना के परे स्थित होती है।

अभी तक हमने देखा कि केवल प्रकृति सत् नहीं है। प्रकृति केवल सत् के अन्तर्गत एक आभास है, वह परम सत् की एक अपूर्ण और आंशिक अभिव्यक्ति है। भौतिक जगत एक ऐसी पृथक्कृति हैं जो, कुछ उद्देश्यों के लिए तो, अपने निज रूप में ही ठीक समझी जाती है, परन्तु जो, स्वाधिकार से स्थित मानी जाने पर, तुरन्त ही स्वयं-विरुद्ध हो जाती है। इस सामान्य दृष्टि के एक अंग को अब आगे बढ़ाना आवश्यक है।

परन्तु, आगे बढ़ने से पूर्व मैं एक मनोरंजक विषय की चर्चा करूँगा। अभी तक हमने भौतिक जगत् को संप्रसारित रूप में ही ग्रहण किया है, और एक सन्देह यह

उत्पन्न हो सकता है कि ,ऐसी कल्पना ठीक भी है या नहीं ? यह कहा जा सकता है कि प्रकृति के लिए संप्रसारण आवश्यक नहीं, क्योंकि संप्रसारित को न सदैव भौतिक होना आवश्यक है, और न सदैव भौतिक को संप्रसारित होना। और इस विषय में स्पष्टता का प्रयत्न करना श्रेयस्कर है। प्रथम तो यह बिल्कुल सच है कि सम्पूर्ण संप्रसारित तत्त्व प्रकृति के अंग नहीं हैं, क्योंकि संप्रसारित वस्तुओं की कल्पना मैं अपनी इच्छानुसार कर सकता हूँ, और यह मानना असम्भव है कि ये सभी मानसिक तत्त्व हमारे भौतिक तंत्र के भीतर आते हैं। परन्तु तिस पर भी, दूसरी ओर, हम नहीं जानते कि उनके सम्प्रसारण को किस प्रकार अस्वीकार किया जाय। जिसका मेरे मस्तिष्क के लिए सम्प्रसारण होना है, वह चाहे प्रकृति की वस्तु हो या न हो, उसका तथ्य-रूप में होना आवश्यक है। उदाहरण के लिए किसी सामान्य इन्द्रिय भ्रान्ति को ले लीजिए। उसमें हम वस्तुतः संप्रसारण की एक प्रतीति प्राप्त कर सकते हैं, और इसको असत्य कहने से यह नहीं प्रकट होता कि वह किसी-न-किसी प्रकार दिव्य नहीं है। परन्तु यदि यह बात है, तो प्रकृति और संप्रसारण एक समान नहीं हो सकते। अतः हमें प्रकृति के विशिष्ट तत्त्व की खोज अन्यत्र किसी अदिव्य स्वरूप में करनी पड़ेगी।

अपने शुद्ध सिद्धान्त के रूप में, इस निर्णय को मैं स्वीकार कर सकता हूँ। प्रकृति का तत्त्वांश यही है कि वह मानसिक तत्त्व के बहिर्गत एक क्षेत्र के रूप में तथा अंशतः उससे स्वतंत्र होकर विकृत होता हुआ और विकार उत्पन्न करता हुआ प्रतीत हो। अथवा, कम-से-कम प्रकृति को सदा आत्मा पर प्रत्यक्षतः आश्रित नहीं होना चाहिए। प्रकृति यह मानकर चलती है कि अनात्मा आत्मा से भिन्न है। यह जगत् का वह भाग है जो सुख-दुख रूप में अनुभव होने वाले आंतरिक वर्गों के साथ अनुभव की अभिन्न एकता नहीं रखता। यह आश्रित माध्यम है, जिसके द्वारा आत्मा एक-दूसरे के प्रति व्यक्त होते हैं। परन्तु वह एक ऐसे अस्तित्व और नियमों को दिखलाता है जिनका सम्बन्ध इन आत्माओं से नहीं, और, किसी सीमा तक कम-से-कम, वह उनके मनोभावों, विचारों, संकल्पों के प्रति उदासीन प्रतीत होता है। यही स्वातंत्र्य प्रकृति का विशिष्ट चिन्ह प्रतीत होता है।

और, यदि यह बात है, तो यह कहा जा सकता है कि प्रकृति सम्भवतः संप्रसारित नहीं है, और मेरा अनुभव है कि हमें यह स्वीकार करना चाहिए कि ऐसी एक प्रकृति सम्भव है। हम ध्वनियों अथवा गंधों-जैसे गुणों के वर्गों की कल्पना कर सकते हैं, जो इस ढंग से व्यवस्थित किये जायँ कि मनस्तत्त्व से स्वतंत्र प्रकट हों। यह गुण हमारी कल्पनाओं अथवा रुचियों की तनिक भी अथवा अधिक चिन्ता किये बिना ही अपनी

धुन में लगे प्रतीत होते हैं, और उनमें एक ऐसी व्यवस्था हो सकती है, जिससे एक स्थिर और स्थाई अनात्म का निर्माण हो सके। फिर यह वर्ग आत्माओं के मध्य में आदान-प्रदान के साधन बन सकते हैं, और संक्षेप में प्रकृति का अस्तित्व जिन ज्ञात उद्देश्यों के लिए है, उन सभी की पूर्ति कर सकते हैं। जो वस्तु-स्थित हैं, उसमें भी जब विकृत गुण वाह्य—में एक स्थानीय हो जाते हैं, तो हम उन्हें भौतिक समझते हैं, और इसी लिए एक सन्देह होता है कि क्या ऐसी कोई एक स्थानीयता आवश्यक है अथवा नहीं ? और, मैं स्वयं तो यह समझने में असमर्थ हूँ कि यह आवश्यक है। निःसन्देह यदि मैं इस प्रकार के एक असंप्रसारित जगत् की कल्पना करूँ तो मैं मानता हूँ कि मैं उसे अनिच्छा होते हुए भी दिश्य स्वरूप दे डालूँगा। परन्तु जहाँ तक मैं समझता हूँ यह बात केवल दुर्बलता की उपज हो सकती है, और, कम-से-कम मेरी समझ में एक असंप्रसारित प्रकृति की कल्पना स्वयं-विरुद्ध नहीं प्रतीत होती ।

परन्तु इतनी दूर पहुँच कर, मैं आगे बढ़ने में असमर्थ हूँ। मैं स्वीकार करता हूँ कि यह उसको वास्तविक मानने के लिए मुझे कोई सबल प्रमाण नहीं मिलता, क्योंकि हम जिस भौतिक जगत का सामना करते हैं, वह निस्सन्देह दिश्य है, और किसी अन्य को खोजने में हमें कोई रुचि नहीं। यदि हमारे मतानुसार प्रकृति सत् होती, तो अवस्था बदल जाती, और तब हम उसके तत्त्व के विषय में प्रत्येक सन्देह करने को विवश हो जाते। परन्तु हमारी दृष्टि में प्रकृति असंगत और असत्य आभास है, और इसलिये संप्रसारण रहित किसी अन्य प्रकृति की कल्पना से कोई काम नहीं चलता। इस कल्पना से उस वास्तविक संप्रसारण से विरोध नहीं दूर होते जो किसी भी अवस्था में फिर भी एक तथ्य रूप में रहता है। और, फिर अपने भीतर यह कल्पना अपने स्वयं के साथ सुसंगत नही हो सकती। अतः एक संभावना-मात्र के विषय में कोई चिन्ता किये बिना ही हम आगे बढ़ सकते हैं। हम यह निष्कर्ष नहीं निकाल सकते कि समस्त प्रकृति से अनिवार्य रूप से संप्रसार होना ही चाहिए। परन्तु, हमारे भौतिक जगत् के, किसी भी अवस्था में, संप्रसारित होने से और प्रकृति के विषय में कोई अन्य कल्पना अरुचिकर होने से, उस विचार को छोड़ा जा सकता है। आगे मैं सदा ही प्रकृति को दिक् रूप में प्रकट होने वाली ही मानूँगा।[1]

---

१. मैं सम्भवतः यह और कह दूँ कि 'प्रकृति क्या है' इस प्रश्न का पर्याप्त उत्तर 'प्रतिरोध' में नहीं मिलता। एक स्थाई कल्पना पूरे अर्थ में प्रतिरोध कर सकती है, परन्तु क्या हमें उसके भीतर उसका कोई भी तत्वांश प्राप्त हो सकता है जिसे भौतिक जगत कहा जाता है ? प्रतिरोध के दावों का निराकरण पहले ही किया जा चुका है। पृष्ठ संख्या १००, १९९, २३३।

आइए इस-से हम प्रत्यावर्तन करें। हमें संप्रसारण-युक्त प्रकृति का विवेचन करना है, और हम देख चुके हैं कि केवल प्रकृति में कोई सत् नहीं हैं। अब हम गौण प्रश्नों की एक शृंखला पर पहुँच सकते हैं, और इनमें से सर्वप्रथम इस जगत् के विषय में है जिसको निरंग कहा जाता है। क्या वस्तुतः निरंग प्रकृति-जैसी कोई वस्तु है? यदि इससे अभिप्राय अस्तित्व के एक ऐसे क्षेत्र या विभाग से होता, जो परिपूर्णता की एक अनुभूति में समाविष्ट तथा समाश्रित नहीं है, तो प्रश्न पहले ही सुलझ जाता।

ऐसी किसी भी अवस्था का अस्तित्व नहीं हो सकता जो परम सत् की अनुभूति को परिपूर्ण करने में असफल रहती हो। परम सत् के भीतर सब-कुछ एकीभूत हो जाने से कोई भी वस्तु इस अर्थ में भी निरंग नहीं हो सकती, कि वह सीमित अंगियों के साथ किसी अनिवार्य सम्बन्ध रखने में दूर बना रहे। इस प्रकार के तोड़-फोड़ की बहुत पहले ही निन्दा की जा चुकी है, और निरंग के विषय में, हमें एक दूसरे ही अर्थ में गवेषणा करनी है।

किसी अंगी से हमारा अभिप्राय, न्यूनाधिक रूप में, गुणों और सम्बन्धों की उस स्थायी व्यवस्था से है, जो मनोभाव की एक स्पष्ट एकता के एकदम बाहर होते हुए भी अव्यवहित रूप में उसके आश्रित भी होता है। हमारा अभिप्राय एक ऐसे नाम-रूपात्मक वर्ग से है, जिसके साथ एक अनुभूत विशिष्टता जिस ढंग से सम्बन्वित है, उसकी चर्चा अगले अध्याय में की जायगी। कम-से-कम इसी अर्थ में चाहे वह अशुद्ध ही क्यों न हो, मैं इस शब्द का प्रयोग करूँगा। अतः यहाँ पर प्रश्न यह है कि क्या प्रकृति में ऐसे तत्त्व हैं, जो ऐसी सीमित व्यवस्था के अंग बनने में असमर्थ हैं? यह गवेपणा बुद्धिगम्य है, परन्तु तत्वज्ञान के लिए इसका कोई महत्त्व नहीं दिखायी पड़ता।

मेरे विचार में, प्रथम तो इस प्रश्न का उत्तर ही नहीं दिया जा सकता क्योंकि यदि हम सूक्ष्म रूप में इसे सोचें, तो मुझे इसकी स्वीकृति अथवा निषेध के लिए कोई पर्याप्त कारण दिखायी पड़ता है जिससे किसी सीमित आत्मा से सम्बन्धित होने में असफल रहने वाले गुणों का परम सत् में अस्तित्व न हो सके। और दूसरी ओर मुझे ऐसे कोई विशेष कारण दिखाई नहीं पड़ता, जिससे कि मैं यह मानूँ कि उनका अस्तित्व है। और जब सूक्ष्म दृष्टिकोण को छोड़कर, हम इस समस्या पर स्थूल तथ्यों की दृष्टि से सोचते हैं, तो जहाँ तक मुझे लगता है हम आगे बढ़ने में असमर्थ हो जाते हैं। क्योंकि एक अंगी के रूप में कौन कार्य कर सकता है, और कौन नहीं इसके विषय में हमारा ज्ञान बहुत थोड़ा है। हमारे शरीरों के साथ न्यूनाधिक सादृश्य ही एक ऐसा आधार है, जिस पर हम अन्य शरीरों और आत्माओं के विषय में कोई निर्णय करते हैं।

और इस निष्कर्ष के ठीक-ठीक होने में जो कमी आती है (अध्याय २१), उसकी पूर्ति दूसरी ओर, प्रयोग क्षेत्र की वृद्धि पर विस्तार ग्रहण से पूरी हो जाती है। और इस आधार पर एक सन्तोषजनक निषेधात्मक परिणाम उत्पन्न करना लगभग असम्भव प्रतीत होता है। जब हम मानसिक जीवन के विषय में तर्क करते हैं, तो वाह्य रूप का किंचित सादृश्य और किसी मात्रा में कर्म की समानता ही ऐसे आधार हैं, जिनका हम सहारा लेते हैं। परन्तु इन लक्षणों को पाने में हमारी जो असफलता है वह सुनिश्चित निषेध के लिये पर्याप्त नहीं हो सकती।[1] निस्सन्देह हमारे ज्ञान के परे गुणों की ऐसी अद्भुत क्रमबद्धताएँ हो सकती हैं जो अज्ञान व्यक्तिगत एकताओं की उपाधि के रूप में प्रयुक्त हो सकती हैं। वाह्य आकृति में कुछ थोड़ा-सा भेद हो और अभिव्यक्त के प्रकार में थोड़ा-सा हेर-फेर हो, तो हम तुरन्त ही किसी अंगी की उपस्थिति में अनुभव करने में नितान्त असमर्थ हो जाते हैं। परन्तु इसलिए क्या उसका सदा ही अस्तित्व रहेगा? अथवा क्या हम यह मान लें कि कुछ अंगियों के स्वरूप का पता लगा लेने से हमने सभी के स्वरूपों का पता लगा लिया है? क्या हमें कोई ऐसा सुनिश्चित तत्व मिल गया है, जिसके बाहर कोई हेर-फेर सम्भव ही नहीं? ऐसी कोई भी धारणा दुर्वल प्रतीत होगी। दृश्य प्रकृति का प्रत्येक अंश जहाँ तक ज्ञात है, हमारे शरीरों से भिन्न किसी अंगी का अंग होकर काम कर सकता है। और यदि हम इस बात पर विचार करें कि प्रकृति का कितना अंश हमारी दृष्टि से छिपा हुआ है तो हम कट्टर पंथ की ओर और भी कम उन्मुख होंगे, क्योंकि हम जो-कुछ देखते हैं, उसका अदृश्य के साथ अंग-अंगी-भाव से संयोग होना सम्भव है, और फिर एक ओर वही तत्त्व अनेक अंगियों में स्थित होकर कार्य कर सकता है। परन्तु अज्ञात को अपनी कल्पनाओं से परिपूर्ण करने के लिए प्रयत्न से कोई लाभ नहीं। जब हम सोचते हैं तो यह स्पष्ट हो जाता है कि इस विषय में सम्भावित की सीमा नियत करना हमारे लिए सम्भव नहीं।[2] हमारे अपने व्यवस्था-तंत्रों से देखने में पूर्णतया भिन्न प्रतीत होने वाले, और स्वयं को एक पूर्णतया असमान ढंग से व्यक्त करते हुए प्रतीत होने वाले व्यवस्था-तंत्रों को सीमित अनुभूति-से प्रत्यक्षत: सम्बद्ध माना जा सकता है। और इस प्रसंग में हमारा निष्कर्ष यह होगा कि हमारे अज्ञान प्रसंग के अतिरिक्त हम प्रकृति के छोटे-से-अंश को भी निरंग नहीं कह सकते। कुछ व्यवहारिक

---

१. इस प्रसंग में के प्रबल प्रतिपादन का उल्लेख करना स्वाभाविक है।

२. यदि हम विविध भौतिक-तंत्रों की सम्भावना पर और प्रत्येक तंत्र के अन्तर्गत विभिन्न शरीरों की सायुज्यता का विचार करें, तो हम कट्टरता के लिए और भी कम उन्मुख होंगे। देखिए पृष्ठ संख्या २५३ से ५५ तक।

उद्देश्यों के लिए, यह अवस्था निःसन्देह पूर्णरूपेण बदल जाती है, उस प्रसंग में हमें निःसन्देह अज्ञान के अनुसार कार्य करने का पूर्ण अधिकार है। हम न केवल अद्रष्ट को असत् मान सकते हैं, अपितु निःसन्देह मानते हैं। परन्तु तत्वज्ञान में ऐसा दृष्टिकोण ठीक नहीं कहा जा सकता। एक ओर तो हम निश्चित रूप से जानते हैं कि प्रकृति के कुछ अंश अंगी हैं, परन्तु दूसरी ओर हमारे पास इस निर्णय तक पहुँचने का कोई साधन नहीं कि कोई वस्तु निरंग रूप में है अथवा नहीं। अतः हमारे प्रश्न का उत्तर असम्भव है।

परन्तु यह असमर्थता कोई महत्त्व की नहीं दिखायी पड़ती, क्योंकि, जैसा हम देख चुके हैं, सीमित अंगी केवल नाम-रूपात्मक है, और उनकी भिन्नता और एकता परम सत् में, दोनों ही अतिक्रान्त हो जाते हैं। और निःसन्देह यदि निरंग का कोई अस्तित्व है तो वह और भी अधिक अवास्तविक होगा। कम-से-कम वह केवल अंगियों से सम्बद्ध-मात्र नहीं होता, अपितु वह उन-समेत एक सर्वव्यापी अनुभव में समविष्ट भी होगा। वह एक ऐसी परिपूर्णता का एक विशेष और तत्त्व होगा, जिसमें किसी भी विविधता का नाश नहीं होता, अपितु जिसमें एकता आंगिक की अपेक्षा और अधिक कुछ होगी। और इतना कह कर मैं एक दूसरी गवेषणा पर आता हूँ।

हम देख चुके हैं कि अनुभव के परे किसी का भी अस्तित्व नहीं है, और इसलिए प्रकृति का कोई अंग परम सत् की पूर्णता के विहिर्गत नहीं हो सकता। परन्तु अनुभव की आवश्यकता का प्रश्न एक परिवर्तित अर्थ में फिर भी उठाया जा सकता है। क्या एक सीमित विषयी के द्वारा क्या किसी प्रकृति की अनुभूति नहीं हो सकती? क्या हम परम सत् के भीतर भौतिक गुणों का एक ऐसे प्रान्त की कल्पना कर सकते हैं, जो एक प्रकार से किसी सीमित प्रत्यक्ष-कर्त्ता के द्वारा नहीं आते-जाते? निःसन्देह, यदि यह बात है, तो हम उनका साक्षात्कार नहीं कर सकते। परन्तु प्रश्न यह है कि, यह सब होते हुए भी क्या हम इस प्रकार के किसी प्रान्त के अस्तित्व की कल्पना कर सकते हैं, अथवा करना आवश्यक भी है या नहीं; (क) क्या कोई ऐसा भौतिक तथ्य स. . .वस्तु हो सकती है जो किसी सान्त चेतन प्राणी के लिए न हो? और (ख) दूसरे, क्या उसको भी सत् मानने के लिए हमारे पास पर्याप्त आधार है?

प्रथम तो उसकी सम्भावना की पुष्टि में कुछ कहने की आवश्यकता है। यह कहा जा सकता है, कि व्यष्टिगत आत्मा के साथ जो सम्बन्ध है उसी परिस्थिति में प्रकृति हमें आभासित होती है, इसका अर्थ यह नहीं कि यह परिस्थिति अनिवार्य है। यदि यह कहा जाय कि जो गुण हमें परिस्थिति-विशेष में प्राप्त होते हैं वही उनसे पृथक् भी रह सकते हैं, जो सम्भवतः यह अतिशयोक्ति होगी। परन्तु दूसरी ओर, उस प्रकार के कुछ गुण जिनको कि हम इन्द्रियगोचर कहते हैं, सम्भवतः एक विशिष्ट आत्मा के

द्वारा विकसित होने अथवा परिभूत होने की अपेक्षा न रखते हों। अन्ततोगत्वा, अन्य सभी गुणों की भाँति, ये गुण स्वयं भी परम सत् में निश्चित रूप से विलीन हो जायेंगे, परन्तु वे एक प्रकार से स्वतः ही इस लक्ष की ओर जाने के लिए अपना मार्ग सम्भवतः स्वयं पा जायेंगे, और उन्हें सम्भावित किसी व्यष्टि चेतना के माध्यम की अपेक्षा नहीं होगी। परन्तु मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि यह प्रतिरक्षा अपर्याप्त है। हम एक प्रकार से इन्द्रियगोचर गुण की कल्पना एक आत्मा से पृथक् भी कर सकते हैं, परन्तु सन्देह यह है कि यह ढंग सचमुच वैध है या नहीं ? प्रश्न यह है कि अनुभूति के व्यष्टिगत केन्द्रों से पृथक्करण करने के बाद, कहीं हमने इन्द्रियगोचर गुण से सम्पूर्ण आशय तो नहीं हटा लिया ? और फिर, यदि हम यह स्वीकार करते हैं, कि परम सत् के भीतर ऐसी सामग्री भी हो सकती है, जो व्यष्टिगत अनुभव के अन्तर्गत न आती हो, तो क्या हम इस सामग्री को प्रकृति का एक अंग बनाकर भौतिक कह सकते हैं ? ये दोनों प्रश्न एक-दूसरे से अत्यधिक भिन्न होते हैं।

एक अनुभव प्रान्त, न कि किसी सीमित केन्द्र का अनुभव (हम देखेंगे अध्याय २७), असम्भव नहीं कहा जा सकता। परन्तु ऐसी सामग्री को प्रकृति के अन्तर्गत रखना एक दूसरी ही बात प्रतीत होती है, क्योंकि प्रकृति एक अनुभव-भेद के द्वारा निर्मित और आश्रित होती है। तत्वतः यह भेद और विरोध की एक उपज होती है। और इस उपज को व्यष्टि-केन्द्रों के बाहर की स्थिति मानना खंडनीय प्रतीत होता है। हम यह आग्रह करेंगे कि जो प्रकृति बहिगत होती है वह सम्भवतः चाहे कुछ भी न हो, परन्तु वह प्रकृति नहीं हो सकती। यदि वह तथ्य है, तो वह ऐसा तथ्य होगा जिसको हम भौतिक नही कह सकते।

परन्तु दूसरी ओर, यह समस्त गवेषणा महत्त्वहीन तथा निरर्थक प्राय-सी है, क्योंकि व्यष्टिगत आत्माओं के द्वारा साक्षातकृत न होने पर भी, सम्पूर्ण प्रकृति इन आत्माओं की. . . . . . .के साथ एकीभूत अनुभव में समाविष्ट हो जायगी। और इसलिए एक केन्द्र-विशेष के द्वारा प्रतिबोधित होने तथा आने-जाने का अभाव अन्ततोगत्वा अपने महत्त्व को खो बैठता है। इस प्रकार, यदि हम ऐसे तथ्य को भी मान लें जो चेतना के व्यष्टि केन्द्रों में समाविष्ट नहीं होते, तो हमारी परम सत् की कल्पना में फिर भी कोई अन्तर नहीं आयगा। परन्तु हम देख चुके है कि ऐसा तथ्य ठीक-ठीक भौतिक नहीं हो सकता।

(ख) हम देख चुके हैं कि व्यष्टि-मन के द्वारा जिसका साक्षात्कार नहीं हो सकता, प्रकृति का ऐसा एक अंग किसी अर्थ में केवल सम्भव-मात्र हो सकता है। परन्तु दूसरी ओर, अब यह कहा जा सकता है कि उसकी कल्पना आवश्यक है। अन्य किसी परिणाम

का आधार निःसन्देह हमारा अज्ञान-मात्र है, क्योंकि हम देख चुके हैं कि हमारे निजी शरीरों के विपरीत अंगियों के सम्पूर्ण प्रकृति प्रसार को व्याप्त और विलीन करने वाले व्यवस्था-तंत्रों का अस्तित्व होना भली प्रकार सम्भव है। और जहाँ तक इन अंगियों में सम्भव होने वाले प्रत्यक्ष के प्रकार का सम्बन्ध है, हम कोई सीमा नियत नहीं कर सकते। परन्तु यदि यह बात है, तो ऐसा कोई कारण नहीं प्रतीत होता कि समस्त प्रकृति सदा ही किसी व्यष्टिगत चेतना से सम्बन्ध क्यों न रखती हो, यदि हमें उसका साक्षात्कार करने का अवसर मिले तो किसी अन्य मस्तिष्क के लिए भी, उसका प्रत्येक अंग निःसन्देह तथा ठीक-ठीक वैसा ही होगा जैसा कि वह हमारे लिए होगा। और मेरे मस्तिष्क के समान अदृश्य अथवा केवल अणुवीक्षण यंत्र-द्वारा दृश्य पदार्थों में हमें उलझने की आवश्यकता नहीं, क्योंकि हम यह अस्वीकार नहीं कर सकते कि किसी ऐसी इन्द्रिय-शक्ति का अस्तित्व हो सकता है जिसके लिए वे सदा ही ..... और स्पष्ट हो। और स्थायी रहने वाले पर्वत, जहाँ तक हम जानते हैं, सदा ही दृश्य रहे हैं। अतीत में भी उनका साक्षात्कार उसी प्रकार होता रहा है जैसा कि आज हमें होता है। यदि हम चेतन प्राणियों के अस्तित्व और शक्ति के लिए कोई सीमा नियत नहीं कर सकते, तो अभी तक आक्षेप का आधार एक झूठी ज्ञान-कल्पना को मानना पड़ेगा।

परन्तु सम्भवतः उत्तर की इस प्रणाली को बहुत दूर तक ले जाना सम्भव है। इसका खंडन सम्भव नहीं, और तिस पर भी हमें ऐसा लगता है कि वह अतिशय की ओर बढ़ती जा रही है। यह सम्भव है कि प्रकृति सर्वत्र और सदा ही देखी जाती है, और इस प्रकार उसका अस्तित्व सदा वैसा ही है जैसा कि हम देखते हैं, परन्तु इसी कल्पना पर हमें सम्पूर्ण बल देने की आवश्यकता नहीं। हमारे निष्कर्ष की पुष्टि किसी न्यूनतर वस्तु से होगी, क्योंकि इन्द्रिय-द्वारा साक्षात्कृत वस्तुओं के परे विचार जगत् फैला हुआ है। प्रकृति के अन्तर्गत केवल वही क्षेत्र नहीं आता, जो प्रस्तुत है और जिसकी कल्पना भी की जाती है, अपितु इसके अतिरिक्त उसके अन्तर्गत वह सामग्री भी आती है, जिसकी केवल कल्पना की जाती है अतः प्रकृति पूर्णतया हमारे बुद्धिक्षेत्र से सीमित होगी। वह एक ऐसा भौतिक विश्व होगा जो किसी भी प्रकार से व्यष्टिगत आत्माओं द्वारा ग्रहण किया जायगा।

इस सीमा के बाहर कोई प्रकृति नहीं है। हम एक ऐसे प्रामाणिक काल अथवा भौतिक जगत् की कल्पना कर सकते हैं, जिसमें समस्त चेतना विलीन हो गयी हो। परन्तु हम अपने वर्त्तमान ज्ञान के आधार पर, इस परिणाम को एक सापेक्षिक अर्थ में भी सार्वभौम नहीं मान सकते। यह केवल उन अंगियों के प्रसंग में लागू हो सकता है जिनको हम जानते हैं, और यदि उसको आगे बढ़ाया जाय, तो वह स्पष्टतः निरर्थक

हो जाता है और फिर ऐसा कोई भी सत्य, जहाँ वह सब होता है, केवल सापेक्षात्मक होता है, क्योंकि परम सत् के भीतर, किसी भी अवस्था में कोई इतिहास या प्रगति सम्भव नहीं (अध्याय २६)। संक्षेप में, चेतना-विहीन प्रकृति केवल विज्ञान के काम की एक सृष्टि होगी, और उसमें एक अत्यन्त आंशिक सत् होगा।[1] और भौतिक वास्तव के अप्रत्यक्षणीयों की दशा भी कोई अधिक अच्छी नहीं। उनको केवल प्रतीयमान सिद्ध करने वाले, साधारण प्रतिकूलताओं से पृथक्, उनकी प्रकृति का सान्त व्यष्टि उनका साक्षात्कार नहीं करता, तो उनका साक्षात्कार वस्तुतः होता ही नहीं, और उनमें जो भी सत् है, वह इन्द्रियगोचर नहीं अपितु केवल सूक्ष्म है।

अतः हमारा अभी तक का परिणाम यह होगा कि प्रकृति का विस्तार व्यष्टि-कृत वस्तुतः परिलक्षित क्षेत्र के परे भी हो सकता है, परन्तु वह व्यष्टिगत विचार सीमाओं के परे अवश्य ही नहीं होगा। परम सत् में सम्भवतः एक ऐसा प्रान्त है जो व्यष्टि के अनुभवों में समाविष्ट नहीं (अध्याय २७), परन्तु इस सम्भावित प्रान्त को ठीक-ठीक भौतिक नहीं समझा जा सकता; क्योंकि प्रकृति के अन्तर्गत होते हुए भी, व्यष्टि-सम्बन्ध की उपाधि उससे लगी होगी। परन्तु केवल विचार के रूप में प्रकृति का अस्तित्व एकदम एक नयी कठिनाई उपस्थित कर देता है, क्योंकि सत् होने के लिए, एक भौतिक जगत को स्पष्टतः इन्द्रियग्राह्य होना चाहिए, और इन्द्रियग्राह्यता से रहित अस्तित्व एक काल्पनिक अस्तित्व है। यदि यह बात है, तो सम्पूर्णतया आंशिक रूप में प्रकृति वस्तुतः प्रकृति नहीं है, अपितु वह एक ऐसी वस्तु जो किन्हीं परिस्थितियों में अमुक प्रकार की हो जाती है। वह एक दूसरा तथ्य प्रतीत होती है, एक ऐसी अतिरिक्त वस्तु जिसकी निःसन्देह हम कल्पना कर सकते हैं, परन्तु जो केवल स्वयं और केवल उस रूप में जिसमें कि हम उसकी कल्पना करते हैं, वह एक भौतिक सत् नहीं है। इस प्रकार हमारे मतानुसार, इस सीमा तक प्रकृति तथ्य नहीं प्रतीत होती, और अन्ततो-गत्वा हमें उसके भौतिक अस्तित्व के एक अंश को भी अस्वीकार करने के लिए विवश होना पड़ेगा।

मैं स्वीकार करता हूँ कि हमारे विरुद्ध प्रस्तुत यह निष्कर्ष एक अर्थ में अनिवार्य है। जिस प्रकृति की हम कल्पना करते हैं और जिसको हम किसी साक्षात्कर्ता-द्वारा प्रत्यक्षी-कृत नहीं मानते, वह संकीर्ण अर्थ में प्रकृति नहीं है।[2] फिर भी यदि ऐसे किसी परि-

---

१. और अधिक देखिए आगे पृष्ठ २५८ ।

२. निःसन्देह यह तब तक लागू होगा जब तक प्रकृति वास्तविक भौतिक तथ्य तक सीमित है।

णाम का ठीक-ठीक अर्थ लगाया जाय तो कोई कठिनाई उपस्थित होने की आवश्यकता नहीं। जब हम औपाधिक अस्तित्व के अर्थ की चर्चा करेंगे, तब इस बात को और अधिक अच्छी तरह से समझा जा सकेगा (अध्याय २४)। फिर भी यहाँ मैं केवल वर्त्तमान कठिनाई का विवेचन करूँगा। और वह संक्षेप में यह है। एक ओर प्रकृति वास्तविक होनी चाहिए, और यदि ऐसा हो, तो इन्द्रियगम्य होना चाहिए, परन्तु दूसरी ओर, वह अंशतः केवल बुद्धिगम्य प्रतीत होती है। यह समस्या है, और इसका समाधान यह है कि जो हमारे लिए केवल बुद्धिगम्य है, वह परम सत् के लिए उसके आगे कुछ और भी है। वहाँ पर किसी-न-किसी प्रकार (हम नहीं कह सकते कैसे), हम जिसकी कल्पना करते हैं उसका प्रत्यक्षीकरण होता है। वहाँ पर प्रत्येक वस्तु का विलीनीकरण तथा अंगीकरण होता है। वहाँ पर प्रत्येक वस्तु का विलीनीकरण तथा अंगीकरण कल्पनाओं और तथ्यों दोनों के एक, आकस्मिक एवं स्वयं, अंतर्दृष्टीय अनुभव में होता है।

हम जिसका केवल चिन्तन करते हैं, वह वास्तविक नहीं होता, क्योंकि चिन्तन में 'तद' से 'किम्' का पार्थक्य हो जाता है। परन्तु फिर भी प्रत्येक चिन्तन में हमें वास्तविक इयत्ता प्राप्त होती है, और उस इयत्ता का अस्तित्व वैसा ही ठोस तथ्य है जैसा कि कोई सम्भावित प्रत्यक्ष। और इसलिए जिस प्रकृति का चिन्तन किया जाता है उसका उस सीमा तक अस्तित्व होता है, और उसका किसी हद तक एक निश्चित स्वरूप होता है, अतः जिस परम सत् के भीतर सम्पूर्ण इयत्ता का अस्तित्व के साथ पुनर्मिलन हो जाता है, उसमें उसे एक बार फिर अन्तर्दृष्टीय रूप प्राप्त हो जाता है। वह स्वयं को तथा विश्व के अन्य पक्षों को लेकर आयगा और परिपूर्ण इकाई की समृद्धि में अपना विशेष योग दान देगा। उसका अस्तित्व वैसा ही है जैसी हमने कल्पना की, वह वैसा भी नहीं जैसा कि हमारे अनुभव में कल्पना के स्थान पर प्रत्यय के आने पर वह हो जाता है। वह एक ऐसी वस्तु होता है, जो कुछ परिस्थितियों के अन्तर्गत हमारी इन्द्रियों को प्राप्त भौतिक तथ्य की ओर प्रवृत्त होता है। परन्तु परम सत् के भीतर वह सत् का एक तत्त्व होता है, यद्यपि अनुभूत होते समय किसी व्यष्टि मन को उसका ज्ञान नहीं होता, और फिर यदि वह इन्द्रियगोचर हो जाता है, तो हम उसे ठीक ही भौतिक तथ्य समझते हैं, अतः वह पहले से ही एक तथ्य होता है, काल्पनिक होते हुए भी वह स्वतंत्र तथ्य। इस अर्थ में प्रकृति की मनगढ़न्तों पर अवलम्बित नहीं होती, और फिर भी उसके अन्तर्गत कोई इयत्ता नही होती जो व्यष्टि मनों की अयत्ता नहीं रखती हो। हम यह कल्पना कर सकते हैं कि इन केन्द्रों में परम सत् में एक समन्वित अनुभव प्रस्तुत करने के लिए, बिना किसी बुद्धि के पर्याप्त सामग्री विद्यमान होती है। उस अज्ञात इकाई में ऐसा कोई तत्त्व नहीं होता जो उसके सदस्यों के खंडित जीवन-द्वारा प्रस्तुत

न किया जा सके। व्यष्टि के अनुभव से बाहर न तो कोई प्राकृतिक जगत् है और न कोई अन्य जगत् ही।[1]

परन्तु यह आक्षेप किया जा सकता है कि अब हम सामान्य अनुभव के विरोध में उपस्थित हो गये हैं। सामान्य अनुभव के लिए, सम्पूर्ण प्रकृति का अस्तित्व है, और वह जैसी-की-तैसी ही रहती है चाहे कोई व्यष्टिगत सत्ता उसे जाने अथवा नहीं। इसके विपरीत हमारे मतानुसार भौतिक जगत्-जैसी किसी वस्तु का आंशिक अस्तित्व है ही नहीं। इस आक्षेप का सुदृढ़ आधार है, परन्तु मेरा उत्तर प्रथम तो यह है कि सामान्य अनुभव स्वयं-संगत नहीं है। उदाहरण के लिए वह सम्भवतः मधुर और तिक्त रसों को इन्द्रिय जगत् के बाहर रखने में हिचकेगा। परन्तु जो मनुष्य इस सीमा तक जा सकता है और रंगों का अस्तित्व अंधकार में तथा ध्वनियों का अस्तित्व कान के अभाव में भी मान सकता है, वही इस आधार पर खड़ा हो सकता है। यदि कोई ऐसा व्यक्ति है, जो न देखे जाने पर भी फूलों के खिलने और न सूँघे जाने पर भी उसके मस्ती में महकने का विश्वास कर सकता है, तो वह हमारे सिद्धान्त का विरोध करे और अपने पक्ष का प्रतिपादन करे। परन्तु मैं ऐसा अनुमान करने का साहस करता हूँ कि तत्वज्ञान की दृष्टि से, उसका मत विचारणीय नहीं रह जायगा। कुछ अंशों में किसी भी गम्भीर सिद्धान्त की टक्कर सामान्य अनुभव से हो जायगी, और यदि हम इस विषय पर इस दृष्टि से विचार करें, तो हमारा मत निःसंदेह इस दृष्टि से, अन्यों से श्रेष्ठ सिद्ध होगा, क्योंकि हमारे लिए प्रकृति मुख्यतः निःसंदेह वैसी ही है जैसी कि वह प्रतीत होती है। विकृत गुण भौतिक जगत् के एक वास्तविक अंग हैं, और प्रस्तुत वस्तु . . . को स्वतः ही हम वस्तुतः मधुर तथा सुखद मानते हैं। यही बात नहीं अपितु जैसा कि हम आगे देखेंगे (अध्याय २६), प्रकृति सौन्दर्य तक हमारे लिए उसी प्रकार तथ्य है जिस प्रकार कोई ठोस-से प्रकृत गुण। देखी जाने वाली और अनुभव की जाने वाली अथवा किसी प्रकार अनुभूत अथवा भुक्त भौतिक वस्तु, हमारे विचार में प्रकृति-क्षेत्र का एक अस्तित्व-वान अंग है, और वह प्रकृति में उसी रूप में होगा जिस रूप में हम उसका अनुभव करते हैं। जिस अंग की हम कल्पना करते हैं, जिस अंग को हम यह समझते हैं कि उसे कोई प्राणी नहीं जानता, केवल वही अंग वस्तुतः तथ्य नहीं है। इस प्रकार सामान्य अनुभव से अपना संघर्ष स्वीकार करते हुए भी, मैं केवल उसकी संकीर्ण परिधि और मात्रा पर जोर देना चाहूँगा।

---

१. विश्व की इयत्ता का कोई अंग व्यष्टिगत केन्द्रों में विद्यमान है अथवा नहीं, इस प्रश्न की २७ वें अध्याय में चर्चा की जायगी।

हम देख चुके हैं कि निरंग प्रकृति का सम्भवतः अस्तित्व नहीं है। यद्यपि उसका सत् होना सम्भव है, परन्तु हम यह कहने में असमर्थ हैं कि वह सत् है। परन्तु सभी व्यष्टियों के वहिर्गत पड़ने वाली प्रकृति के विषय में हमारा निष्कर्ष भिन्न है। हमें ऐसा कोई आधार नहीं मिल सका जिससे हम उसे सत् कह सकें, और यदि ठीक ठीक कहा जाय, तो हमें उसको सम्भव कहने तक का अधिकार नहीं प्राप्त हो सकता। दूसरी ओर हम कह चुके हैं, कि इन प्रश्नों के महत्त्व को बहुत-कुछ बढ़ा-चढ़ा कर बतलाया गया है, क्योंकि वे सभी उस भेदभाव पर अवलम्बित हैं, जो परम सत् में नहीं, तो अति-क्रांत अवश्य हो जाता है। सभी प्रत्ययों और मनोभावों का व्यष्टिगत आत्माओं के द्वारा आना-जाना आवश्यक है या नहीं, कोई भौतिक गुण अंगियों में (जो कि ऐसी आत्माओं को प्रत्यक्ष रूप से उपहित करने वाले व्यवस्था तंत्र हैं) उपयुक्त न होकर पृथक् रह जाते है अथवा नहीं, ये प्रश्न महत्त्वपूर्ण नहीं। कुछ तो हम इन प्रश्नों का उत्तर नहीं दे सकते, और कुछ हमारे उत्तर में कोई ठोस महत्त्व की वस्तु नहीं मिलती। अंगियों का पारस्परिक सम्बन्ध, निरंगीय जगत् से उसका भेद, और फिर व्यष्टिगत अनुभवों का परस्पर तथा पूर्ण इकाई से पार्थक्य;—ये कोई ऐसी बातें नहीं हैं जो सामान्यतः परम सत् में चरितार्थ हो सकें। वह एक सत्, जो कि प्रत्येक विविधता-द्वारा समृद्धतर होता जाता है, इन नाम-रूपात्मक सीमाओं को दूर करके अपने में विलीन कर लेता है। किसी अनुभव-विशेष का प्रत्यक्ष रूप से अंग न बनने वाले गुण का कोई एक प्रान्त है अथवा नहीं, अथवा अनुभव के केन्द्रों में अव्यवहित रूप से समाश्रित रहने वाले व्यवस्था तंत्रों के बाहर कोई भौतिक सम्प्रसारण है अथवा नहीं,—ये प्रश्न अन्ततोगत्वा केवल हमारे प्रश्न हैं। जब तक कि उत्तर हमारी शक्तियों से परे किसी अभिव्यक्ति प्रकार से परिणत नही हो जाते, तब तक वे ऐसी भाषा में होना चाहिए जिसका अभिप्राय परम सत् के लिए न हो। परन्तु यदि ऐसी अभिव्यक्ति हो, तो हम समझ सकते हैं कि उनका वह महत्त्व जाता रहेगा जो हमारे सूक्ष्म भेद-भावों के द्वारा उन्हें प्राप्त होता है। और हमारे अपने दृष्टिकोण से ये समस्याएँ अंशतः समाधान-योग्य नहीं सिद्ध हुई हैं। इन उत्तरों का मूल्य मुख्यतः यही है कि इनके द्वारा एकांगी और अधूरे सिद्धान्तों का निषेध हो जाता है।

एक ऐसा आक्षेप है जिस पर, आगे बढ़ने से पहले विचार किया जा सकता है। यह कहा जा सकता है कि आपकी दृष्टि से वस्तुतः कोई प्रकृति है ही नहीं; क्योंकि प्रकृति एक ठोस पिंड है जिसके अनेक बिंब हैं, और जो स्वयं एक रहती है। परन्तु आपके सिद्धान्त पर हमने कई इसी प्रकार के विचार-विमर्श किये हैं, और यद्यपि वे परस्पर एक-दूसरे से सहमत हो सकते हैं, उनके भीतर कोई वास्तविक वस्तु प्रकाश में नहीं

कि उन्हें ऐसा क्यों करना चाहिए। और मैं यह स्वीकार करता हूँ कि वह अनिश्चित सीमा फिर भी रह जाती है, जिसमें प्रकृति का सम्भवतः कोई आत्मा भी इन्द्रिय प्रत्यक्ष नहीं कर पाता। प्रकृति का यह अंग मुझ से परे है। परन्तु जिस रूप में हमें उसकी प्रतीत होती है उस रूप में उसका अस्तित्व नहीं। और हमने स्पष्टतः देखा कि, अभी तक सामान्य अनुभव की तृप्ति नहीं हुई। परन्तु यदि यह आक्षेप प्रामाणिक हो तो मैं नहीं जानता कि यह किसके मुख में अधिक जायगा।[1] और यदि कोई फिर यह कहे कि प्रकृति की हमारे ऊपर क्रिया और प्रतिक्रिया होती है, और हमारा मत शक्ति के इस पक्ष की उपेक्षा करता है तो हमें अधिक विस्तार में उत्तर देने की आवश्यकता नहीं, क्योंकि यदि शक्ति-जैसी किसी वस्तु के लिए अंतिम सत्ता का दावा किया जाता है, तो हमने पहली पुस्तक में उस ढाँचे का निराकरण पहले ही कर दिया है। परन्तु, यदि इस-सब का अभिप्राय केवल प्रकृति के किसी व्यवहार तथा आत्माओं में कुछ परिणामों से हैं, तो यहाँ पर एक नाम-रूपात्मक सह-अस्तित्व और क्रमभार के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। यह एक क्रम और प्रकार है, जिसके अन्तर्गत घटनाएँ घटित होती हैं और प्रकृति-विषयक हमारा जो मत है उसमें इस व्यवस्था के साथ असंगति रखने वाला कुछ भी नहीं है। ऐसे व्यवस्थित आभास के तथ्य से, आप किसी ऐसी वस्तु का निष्कर्ष नहीं निकाल सकते, जिसका व्यष्टिगत अनुभवों में स्थान हो।

अब हम एक ऐसे प्रश्न पर विचार कर सकते हैं जिसको हम कई बार स्पर्श कर चुके हैं। हम देख चुके हैं कि वस्तुतः केवल भौतिक प्रकृति का अस्तित्व सम्भव नहीं। भौतिक विज्ञान का जगत् कोई स्वतंत्र वस्तु नहीं है, अपितु एक अनुभव-समष्टि का एक अंग-मात्र है। और व्यष्टिगत आत्माओं के अतिरिक्त इस भौतिक जगत् का, यथार्थतः कोई अस्तित्व नहीं। परन्तु, यदि यह बात है तो हमारे सामने यह प्रश्न आता है कि भौतिक विज्ञान का क्या अर्थ होता है? प्रकृति को वहाँ पर एक आत्महीन वस्तु की भाँति तथा अपनी निज की शक्ति पर टिकी हुई-सी मानी जाती है। और इस प्रकार हमें देखने में विवश होकर ऐसी वस्तु से टकराना पड़ता है, जो आलोचना से परे है। परन्तु, यह टकराना भ्रामक है और उसका अस्तित्व केवल मिथ्या धारणा के कारण है, क्योंकि

---

१. यह सम्भव है कि बर्कले का कोई अनुयायी कहे कि जिस रूप में प्रकृति प्रतीत या अनुभव होती है उसी रूप में वह सब-की-सब वस्तुतः ईश्वर के भीतर विद्यमान है। परन्तु यह स्वयं एक तत्त्वज्ञान का मत नहीं। यह केवल उसके निराकरण का एक भ्रामक प्रयत्न है। ईश्वर के भीतर ऐसी जटिलताओं का बिना समझे-बूझे ढेर लगना, व्यष्टिगत केन्द्रों में उनका आंशिक रूप से दुहराना और पूर्ण इकाई इन पक्षों अथवा विभाजनों में सम्बन्ध बताना, यह निःसंदेह समस्या को सुलझाने का नहीं अपितु केवल उसे टालने का प्रयत्न है।

भौतिक विज्ञान का उद्देश्य अन्तिम सत्य का निर्धारण करना कदापि नहीं है, और उसका क्षेत्र नाम-रूप के वाहर कदापि नहीं जाता। जिन विचारों से प्रेरित होकर यह कार्य करता है, उनका उद्देश्य निःसन्देह सत के स्वरूप को स्थिर करना कदापि नहीं है और, इसलिए इन विचारों की तत्वज्ञान के विरुद्ध समीक्षा करने, अथवा दूसरी ओर से, इन्हें तत्वज्ञान के विरुद्ध लगाने का अभिप्राय है, उनके उद्देश्य और स्वरूप को समझने में भूल करना। प्रश्न यह नहीं है कि भौतिक विज्ञान के सिद्धान्तों में वह परम सत् है या नहीं जिसका कि वे दावा करते हैं। प्रश्न तो यह है कि विज्ञान में प्रयुक्त पृथक्कृति की क्रिया नियमित और लाभदायक है या नहीं? और इस प्रश्न के विषय में निःसन्देह किसी सन्देह का अवसर नहीं। नाम-रूप के सह-अस्तित्व और व्यवस्था-क्रम को समझने के लिए, भौतिक विज्ञान उनकी परिस्थितियों का एक बौद्धिक संगठन करता है। मात्रा, गति और शक्ति आदि केवल उसकी काम-चलाऊ कल्पनाएँ हैं, जिनका प्रयोग कुछ घटनाओं के घटने को समझने के लिए होता है। दिव्य नाम-रूपों के परस्पर सम्बद्ध तथा घटित होने के प्रकारों को जानने तथा उन्हें व्यवस्थित करने का कार्य ही इन कल्पनाओं का लक्ष्य है, और तत्त्व ज्ञानवेत्ता के लिए यह कहना कि ये कल्पनाएँ अपना ही विरोध करती हैं नितान्त वेतुका तथा वेमेल है। यह आक्षेप भी अन्ततोगत्वा सत्य नहीं है, वस्तुतः यह प्रकट करता है कि हम उनके उद्देश्यों को समझे नहीं।

और, इस प्रकार जब मूल प्रकृति को स्वयंभू, शाश्वत तथा समान मानकर चला जाता है, तो तत्त्वज्ञान को इससे कोई प्रयोजन नहीं, क्योंकि, एक वर्ग के नाम-रूपों का अध्ययन करने के लिए, इन नाम-रूपों को केवल स्वतः सिद्ध समझा जाता है। एक गौण तत्व के रूप में, आत्माओं के भीतर प्रकृति के अभिप्राय को अस्वीकार नहीं किया गया है, परन्तु व्यवहार में और व्यवहार के निमित्त, उसकी उपेक्षा की गयी है। और जब हम अंगियों के अस्तित्व से पूर्व के समय की वात सुनते हैं, तो प्रथम तो उसका अभिप्राय केवल उन अंगियों से है जिनको हम जानते हैं, और यह वात केवल विश्व के एक अंग के विषय में कही जानी चाहिए। अन्यथा, वह किसी प्रकार से भी, अन्तिम सत् के वास्तविक इतिहास का निरूपण नहीं, अपितु अन्य तथ्यों से पृथक् कुछ अन्य तथ्यों पर विचार करने का एक सुविधाजनक ढंग है। और, इस प्रकार, जब कि तत्त्वज्ञान तथा प्राकृतिक विज्ञान अपने अपने कार्य में रत हैं, कोई मुठभेड़ असम्भव है। दोनों में से किसी को दूसरे से प्रतिरक्षा की आवश्यकता नहीं, जब तक कि एक मिथ्या धारणा के कारण न हो।

परन्तु, इस वात को सम्भवतः कोई अस्वीकार नहीं कर सकता कि मिथ्या धारणाएँ दोनों ओर से उभाड़ी गयी हैं। शुद्ध प्रकृति का विज्ञान, अपनी निजी सीमाओं को भूलकर,

और अपने सच्चे लक्ष्यों से विमुख होकर, प्रायः मूल सिद्धान्तों की बात करने का प्रयत्न करता है। तब वह अतीन्द्रिय होकर एक कट्टरपंथी तथा असम्मिश्रित तत्त्वज्ञान प्रस्तुत करता है। इस प्रकार सामान्य विश्व के इतिहास में, मूल प्रकृति के आगमन को मन से पहले मानने का अभिप्राय यह है, कि परम सत् के भीतर विकास और क्रम-भाव का समावेश है, (अध्याय २६) और पूर्ण इकाई के बाहर का सत् उसी की सत्ता का केवल एक अंग है। और इस प्रकार के सिद्धान्त में न केवल प्राकृतिक विज्ञान का नितान्त अभाव है, अपितु, यदि हम अन्यथा भी उसका कोई मूल्य समझें, तो भी कम-से-कम उस विज्ञान के लिए वह नितान्त अनुपयोगी है। क्योंकि मान लीजिए शक्ति, मूल प्रकृति, और गति केवल कामचलाऊ कल्पनाओं से कुछ अधिक हैं और वे असंगत होते हुए भी उपयोगी हैं, तो क्या वे, ऐसी कल्पना कर लेने पर, अधिक काम के सिद्ध होंगे ? अन्ततोगत्वा यदि आप उसका प्रयोग एक-मात्र घटनाओं की व्यवस्था में करने वाले हैं, तो उनका परम सत् होना आपके किसी काम का नहीं। इस परम सत् का उपयोग नाम-रूपात्मक घटनाओं के केवल उपाधि तंत्र के रूप में करेंगे, और इस प्रयोजन के लिए, वही काम करने वाली कोई भी वस्तु वही काम करेगी। परन्तु मेरे अनुमान में जहाँ तक प्राकृतिक विज्ञान अपनी स्थिति को सुरक्षित रखने में असफल रहता है, वहाँ तक उसकी इस असफलता को समझना कठिन नहीं है। वह एक से अधिक कारणों की उपज प्रतीत होता है। प्रथम तो एक अस्पष्ट विचार यह है कि प्रत्येक प्रकार के विशेष विज्ञान को परम सत् अपना लक्ष्य बनाना चाहिए। यह नहीं समझा जाता कि इस प्रकार के विज्ञान में परम सत् से कुछ न्यून वस्तु का ही हम उपयोग कर सकते हैं और इसलिए हमें इसी की आवश्यकता होनी चाहिए। परन्तु दुर्भाग्यवश यही सब-कुछ नहीं है, क्योंकि स्वयं तत्त्वज्ञान ने भौतिक विज्ञान में हस्तक्षेप करने के कारण उसको आत्मरक्षा के लिए प्रेरित किया है। और ऐसा करने में उसके भौतिक विज्ञान को तत्त्व-ज्ञानात्मक बना दिया है। और तत्त्वज्ञान के हस्तक्षेप को एक अत्यन्त हानिकारक मिथ्या धारणा के परिणाम और जनक के रूप में पश्चातापपूर्वक स्वीकार करूँगा। न केवल निरर्थक मनगढंत के प्रयत्न हुए हैं, अपितु विज्ञानों पर ऐसे आक्रमण भी किये गये हैं, जिन्होंने एक न्यायसंगत कार्य को भी दुरुपयोग में ढकेल दिया है। क्योंकि, प्राकृतिक विज्ञान के विपरीत, तत्त्वज्ञान का कर्त्तव्य सीमित है। जब तक वह विज्ञान केवल नाम-रूपों के क्षेत्र तथा उनको घटना-नियमों तक सीमित रहता है, तब तक तत्त्वज्ञान को आलोचना का एक शब्द भी कहने का अधिकार नहीं है। आलोचना का प्रारम्भ तब होता है जब जो सापेक्षिक है—केवल-मात्र आभास का प्रकार है, उसे जाने या अनजाने कुछ अधिक कहकर प्रस्तुत किया जाता है, और मुझे इसमें सन्देह नहीं कि विज्ञान में आज कुछ ऐसे सिद्धान्त

प्रयुक्त होते हैं जिनके कारण इसमें तत्त्वज्ञानीय सुधार की आवश्यकता पड़ती है और जिसकी चर्चा करना यहाँ लाभप्रद हो सकता है। परन्तु योग्यता के अभाव में तथा स्थानाभाव से और सबसे अधिक सम्भवतः मिथ्याधारणा के भय से, मैं इसको छोड़कर आगे बढ़ना अधिक पसन्द करता हूँ। प्रकृति के विषय में कुछ अन्य प्रश्न हैं, जो हमारी सामान्य गवेषणा के लिए अधिक महत्त्व के हैं।

क्या सम्प्रसारित जगत् एक है, और यदि यह बात है तो किस अर्थ में ? अठा-रहवें अध्याय में हमने काल की एकता के विषय में चर्चा की, और यहाँ पर वहाँ के प्राप्त निष्कर्ष की चर्चा करना अनावश्यक है। हम इस बात से सहमत हो गये कि परम सत् के भीतर सभी समय एकीभूत हो जाते हैं। परन्तु जब यह प्रश्न हुआ कि वह एकता स्वयं कालात्मक होगी अथवा नहीं, तो हमारा उत्तर नकारात्मक था। हमने देखा कि बहुत-से समय शृंखलेय काल के अन्तर्गत सम्बद्ध नहीं है। वे एक शृंखला के और सम्पूर्ण पूर्वापरता के अंग नहीं हैं, अपितु, इसके विपरीत, उनका पारस्परिक सम्बन्ध तथा एकता, काल के बहिर्गत हो जाते हैं। और, सम्प्रसारण के अन्तर्गत समान विचारधाराओं का समान परिणाम ही होता है। भौतिक जगत् एक भौतिक इकाई होने के अर्थ में एक नहीं है। ऐसे अनेक भौतिक जगत् हो सकते हैं जो दिक् के भीतर सम्बद्ध न हों और जो परिणामतः एक-दूसरे से बहिर्गत तथा विरोधी न हों।

पहले तो सम्पूर्ण सम्प्रसारण दिक् का एक अंग प्रतीत होता है, क्योंकि सभी दिक् और तदनुसार सभी भौतिक पदार्थ दिक् के अन्तर्गत सम्बद्ध प्रतीत होते हैं। और इस प्रकार का कोई पारस्परिक सम्बन्ध, निःसन्देह उन्हें एक संप्रसारित परिपूर्णता का अंग बना देता है। परन्तु जब हम विचार करते हैं तो इस प्रकार का विश्वास तुरन्त ही तिरोहित होने लगता है। उदाहरण के लिए मेरे स्वप्नों में प्रकृति संप्रसारण रखती है, और फिर भी दिक् की दृष्टि से वह मेरे भौतिक जगत् के साथ तादात्म्य नहीं रखती। हमारे कल्पना और विचार में, असंख्य भौतिक और संप्रसारित अस्तित्व होते हैं जिनका परस्पर अथवा दृष्ट-जगत से कोई दिक् सम्बन्ध नहीं होता। और यह कहना व्यर्थ होगा कि ये पिंड और उनके ये व्यवस्था तंत्र अवस्तु हैं, जब तक कि हमें यह विश्वास न हो जाय कि सत् से हमारा क्या अभिप्राय है, क्योंकि यह बात तो स्पष्ट है कि इनका अस्तित्व है, और, यदि उनमें सम्प्रसारण नहीं है, तो कम-से-कम वे सभी उसके साथ प्रकट हो सकते हैं, वे और उसको प्रकट कर सकते हैं। संक्षेप में, उनका संप्रसारण और उनकी भौतिकता जहाँ एक ओर एक स्थूल तथ्य है, वहाँ उनके अनेक व्यवस्था तंत्रादिक के भीतर परस्पर-सम्बद्ध नहीं हैं। और, परम सत् के भीतर उनके निःसन्देह एकता होने से, हम इस निष्कर्ष पर अवश्य पहुँचेंगे, कि यह

एकता भौतिक नहीं है। एकीभूत होने में उनकी संप्रसारणात्म विशेषता नष्ट हो जाती है। ऐसे अनेक तंत्र होते हैं जो एक अन्य तंत्र के भीतर विलीन होने पर एक-दूसरे से स्वतंत्र होते हुए भी प्रत्येक अपने से परे हो जाता है। इस प्रकार एकता की दृष्टि से दिक् और काल में समान विशेषताएँ हैं (पृष्ठ १८५-९)।

जिसको हम साधारण उद्देश्य से वास्तविक प्रकृति कहते हैं वह वस्तुतः मेरे शरीर से सम्बन्धित होने की सीमा तक संप्रसारित जगत है; जो उस शरीर के साथ एक तंत्र में सम्मलित है; उसमें वास्तविक सम्प्रसारण है। परन्तु "मेरा शरीर" भी अस्पष्ट है, क्योंकि जिस शरीर की मैं कल्पना करता हूँ, सम्भव है उसका मेरे दृष्ट पिंड से कोई विशेष सम्बन्ध न हो। और प्रतीत भी भ्रामक हो सकती है, क्योंकि स्वप्नों में मेरा जो शरीर होता है, वह मेरे सच्चे वास्तविक शरीर से तादात्म्य नहीं रखता, और न वह किसी एक दिश्य व्यवस्था तंत्र में ही प्रविष्ट होता है। और अंत में हमें जो शरीर प्राप्त है, उससे मैं एक दिश्य-सम्बन्ध के एकतंत्र में सम्मिलित होने वाले सम्प्रसारण को मैं वास्तविक कहता हूँ।[1] और पारस्परिक सम्बन्ध के इस एक-तंत्र के बाहर जो भी संप्रसारण है उसको मैं काल्पनिक कहता हूँ। और केवल एक गौण दृष्टिकोण के रूप में, एक बहुत अच्छा उपयोगी हो सकता है। परन्तु इस आधार पर परम सत् में किसी भी अन्य दिश्य तंत्र के अस्तित्व का विरोध करना एक दूसरी बात है; क्योंकि हमारे पास काल्पनिक सम्प्रसारण एक तथ्य के रूप में है, जोकि अव-शिष्ट रह जाता है, और जो हमें हिचकिचाने को बाध्य कर सकता है। और, जब हम विचार करते हैं, तो हमें स्पष्ट पता चलता है कि क्योंकि भौतिक व्यवस्था तंत्रों की एक व्यवस्था दिश्य पारस्परिक सम्बन्धों-जैसी किसी वस्तु के बिना भी रह सकती है। परिपूर्ण इकाई में उनकी एकता होगी, परन्तु मूल प्रकृति के उसके निजी-तंत्र के बाहर कोई दिश्य सम्बन्ध नहीं होगा और प्रकृति को इसलिए ठीक-ठीक एक जगत् तथा एक ही दिश्य एकता रखने वाले अर्थ में नहीं कहा जा सकता।

इस प्रकार परस्पर दिश्य-सम्बन्धों से स्वतंत्र रहने वाले अनेक भौतिक तंत्र हो

---

१. मेरे वास्तविक शरीर और उसके भूत और वास्तविक जगत के भविष्य के सम्बन्ध में, यह कहना कठिन है कि वर्त्तमान के साथ उनका दिश्य सम्बन्ध समझा जाता है या नहीं; और यदि समझा जाता है तो किस अर्थ में ? हम जो कुछ इस विषय पर सामान्यतः सोचते हैं, वह केवल एक असंगति—पुंज और सूत्र है जिस पर इस पुस्तक के सिद्धान्त को इस प्रश्न द्वारा विक-सित करना मनोरंजक होगा कि हम अपनी जागृतावस्था को किस प्रकार पृथक समझते हैं। परन्तु मेरा अनुमान है; इस प्रश्न के उत्तर की यहाँ आवश्यकता नहीं। मैंने प्रमाद तथा अन्य असाधारण अवस्थाओं का उल्लेख नहीं किया। परन्तु यहाँ उनका सम्बन्ध स्पष्ट है।

सकते हैं, और हम इसके पश्चात् एक दूसरे रुचिकर विषय पर विचार प्रारम्भ कर सकते हैं। मूल प्रकृति के ऐसे विविध-संगति एक-दूसरे पर किसी सीमा तक अपना प्रभाव डाल सकते हैं, परन्तु संकीर्ण दृष्टि से विचार करने, पर, उनको किसी भी विन्दु पर एक दूसरे में प्रविष्ट होने वाला नहीं कहा जा सकता। उनका परस्पर प्रभाव कितना ही अव्यक्तिगत या प्रत्यक्ष क्यों न हो, उनका अन्तर्प्रवेश चाहे एक सवन्तर एकता क्यों न रखता हो; उनके दिश्य सम्पर्क असम्भव होंगे। परन्तु प्रत्येक जगत् के भीतर अन्तर-प्रवेश के सम्बन्ध में अन्तर प्रवेश सम्भवतः सामान्य भी हो, और मैं संक्षेप में यह दिखाने का प्रयत्न करूँगा कि इससे कोई कठिनाई उत्पन्न नहीं होती।

मेरा अनुमान है कि एक परम रिक्तता को बीच-बीच में लिए हुए ठोस सामग्री की बनी हुई एक प्रकृति की कल्पना यूनानी तत्वज्ञान से आयी है। और मेरा अनुमान है कि हम प्रायः यह समझते भी नहीं कि यह मत किस प्रकार समीक्षा का मोहताज है। मैं भौतिक विज्ञान अथवा भौतिक विज्ञान में प्रयुक्त सिद्धान्त की बात नहीं करता, अपितु उसकी बात करता हूँ जिसको साहित्यिक बाजार का तत्वज्ञान कहा जा सकता है। और वहाँ पर एक सम्प्रसारित वस्तु का दूसरी में अन्तर-प्रवेश न हो सकने की सामान्य कल्पना मुख्यतः पूर्वाग्रह पर अवलम्बित है, क्योंकि सामग्री-तत्त्व सम्भवतः और वस्तुतः दूसरे सामग्री-तत्व में अन्तर प्रवेश कर सकती है या नहीं; यह बात पूर्णतः उस अभिप्राय पर आधारित है, जिसमें कि सामग्री को ग्रहण किया जाय। अन्तर-प्रवेश का अभिप्राय है, सामग्री दिश्य-तत्व भेद-भाव का निराकरण। और इसलिए हमने मूल तत्व की परिभाषा इस प्रकार नियत की, कि दिश्य भेद-भाव के निराकरण के साथ-साथ वह स्वयं भी समाप्त हो जाय। अर्थात्, यदि मूलतत्त्व के खंड अपने सम्प्रसारणों के साथ इतना तादात्म्य रखते हैं कि उनसे पृथक् कोई व्यक्तिगत भेद-भाव रह ही न जाय, तो ये खंड स्पष्टतः एक दूसरे में प्रवेश अंतर-प्रवेश नहीं कर सकते, परन्तु अन्यथा वे सम्भवतः कर सकें। मुझे यह स्पष्ट प्रतीत होता है, और मैं इसकी व्याख्या शीघ्र करूँगा। प्रथम तो यह निश्चित है कि एक ही दिक् के दो खंड एक-दूसरे के भीतर पैठ नहीं सकते, क्योंकि यद्यपि इन दोनों खंडों में उनके केवल सम्प्रसारण के अतिरिक्त कुछ गुण होना आवश्यक है (अध्याय ३), ऐसे शुद्ध गुण-मात्र पर्याप्त नहीं हैं। यदि आप यह मान भी लें कि किसी परिवर्तन से विवश होकर दो प्रकार के गुणों का एक ही सम्प्रसारण में सम्बन्धित होना पड़ा है तो भी आपको दो सम्प्रसारित वस्तुएँ नहीं मिल सकतीं, क्योंकि एक का लोप हो जायेगा। इसलिए, दोनों के अस्तित्व को स्वीकार करने वाला अन्तर-प्रवेश कोई अर्थ नहीं रखता, परन्तु यदि हम दिक् की अपेक्षा किसी अधिक स्थूल तत्त्व के दो खंडों पर विचार करें तो

बात बदल जाती है। अच्छा तो पहले हम यह मान लें कि उनको विभाजित और भिन्न करने वाले उनके अन्य गुण फिर भी सम्प्रसारण पर निर्भर करते हैं—तो, इतने तक ये वस्तुएँ फिर भी एक दूसरे में प्रवेश नहीं कर सकतीं। क्योंकि पहले की तरह आप एक दिक् में दो वस्तुएँ नहीं रख सकते, क्योंकि (कल्पना-द्वारा) एक वस्तु अपने-अपने अस्तित्व को खो चुकती है। परन्तु अब सम्पूर्ण प्रश्न यह है कि मूल तत्व के प्रसंग में यह कल्पना सच है या नहीं, अर्थात् प्रकृति में गुणों का सम्प्रसारण के साथ वस्तुतः तादात्म्य होता है या नहीं। और मैं स्वयं तो ऐसा कोई कारण नहीं देखता जिससे मैं यह समझूं कि ऐसी बात है। यदि एक सम्प्रसारित के दो खंडों में व्यष्टित्व प्रदान करने के लिए और साथ ही इन दोनों वस्तुओं, उनके भिन्न दिकों के चले जाने पर भी, उनको दो बनाये रखने के लिए पर्याप्त भेद-भाव हो, तो स्पष्ट ही ये दोनों वस्तुएँ एक-दूसरे में अंतर्प्रवेश करने के योग्य हो सकती है क्योंकि दिक् में तादात्म्य होते हुए भी अस्तित्व भेद बने रहने का नाम ही अंतर्प्रवेश है। और इस प्रकार सम्पूर्ण प्रश्न इस प्रकार के भेद-भाव अवशिष्ट रहने की सम्भावना पर आ टिकता है। दूसरे शब्दों में क्या दो वस्तुओं के सम्प्रसारण एकीभूत हो जाने पर भी, क्या वे फिर भी दो-की-दो ही बनी रह सकती हैं ?

तो जब तक इस सम्भावना से छुटकारा नहीं मिल जाता, तब तक हमें प्रत्येक भौतिक जगत् के अंगों को तत्त्वतः अनन्य और पृथक् नहीं मानना चाहिए। हम बिना किसी खंडन के पिंडों को अन्य पिंडों का विरोध न करने वाला मान सकते हैं। हम उन्हें किन्हीं विशेष परिस्थितियों में एक-दूसरे के प्रति सापेक्षिक रिक्तताओं के रूप में और स्वतन्त्रतापूर्वक एक-दूसरे में अन्तर्प्रवेश करने योग्य मान सकते हैं। और यदि इस प्रकार हमें कोई स्पष्ट लाभ नहीं होता, तो हम कम-से-कम एक परम रिक्तता की बेतुकी और निन्दनीय अवस्था से तो बच जाते हैं।[1]

हम देख चुके हैं कि जिस परम सत् में प्रकृति विलीन हो जाती, है उसको छोड़-कर अन्यत्र हमें यह कहने का कोई अधिकार नहीं कि सम्पूर्ण प्रकृति में एकता है। अब मैं कुछ शब्द किन्हीं अन्य उल्लेखनीय विषयों पर कहूँगा। उदाहरण के लिए,

---

१. मैं इस बात को फिर दोहराता हूँ कि उपर्युक्त चर्चा में से भौतिक विज्ञान में प्रयुक्त कल्पनाओं तथा 'कुछ' और 'कुछ-नहीं' के बीच बाहरी समझौते के विरुद्ध कुछ भी कहने का मैं प्रयत्न नहीं कर रहा हूँ। एक नाम-रूपात्मक विज्ञान में स्पष्टतः एक सापेक्षिक रिक्तता से अधिक की आवश्यकता नहीं। यह मानकर कि वस्तुतः अधिक का अस्तित्व है, अधिक का सम्भवतः उपयोग नहीं किया जा सकता। किसी भी अवस्था में, तत्वज्ञान के लिए परम रिक्तता का कोई भी अर्थ नहीं होता।

प्रश्न हो सकता है कि प्रकृति सान्त है या अनन्त, और सर्वप्रथम हम इसी विषय पर अपने विचारों को स्पष्ट करने का प्रयत्न करेंगे। जैसा कि हम जानते हैं, दोनों ओर निःसन्देह बहुत बड़ी बड़ी कठिनाई है। यदि प्रकृति अनन्त है, तो हमें एक ऐसी वस्तु के बेतुकेपन को मानना पड़ता है जिसका अस्तित्व होते हुए भी अस्तित्व नहीं होता, क्योंकि वास्तविक अस्तित्व स्पष्ट रूप से सब-का-सब सान्त है। परन्तु दूसरी ओर, यदि प्रकृति सान्त है, तो प्रकृति का अंत होना चाहिए, और यह बात फिर असम्भव है, क्योंकि सम्प्रसारण की एक सीमा का आश्रय लेने से हमारा तनिक भी काम नहीं चलता, क्योंकि यह (स्वयं एक बेतुकापन है) उसी साँप-छछूँदर-न्याय को एक अतिशयोक्ति के रूप में दुहराता है। वह स्वयं कुछ है और कुछ-नहीं भी है; वह स्वयं तत्त्वतः सीमित होते हुए भी, दूसरी ओर, अनन्त है।

परन्तु हम इस निष्कर्ष से नहीं भाग सकते कि प्रकृति अनन्त है। और यह बात केवल हमारे भौतिक तंत्र के विषय में सच नहीं है, अपितु ऐसे प्रत्येक अन्य सम्प्रसारित जगत् के विषय में भी सत्य है जिसका कि सम्भवतः अस्तित्व हो। जब तक कोई ऐसा अंत न हो जिस पर पहुँच कर कोई वस्तु निरन्तर व्यतीत होने की अवस्था में न हो, तब तक कोई भी वस्तु सीमित नहीं हो सकती। यह बात केवल वर्त्तमान अस्तित्व के विषय में ही चरितार्थ नहीं होती, क्योंकि इन जगतों के भूत और भविष्यत् की भी दिक् के अन्तर्गत कोई निश्चित सीमा नहीं। और न फिर यह विशेषता केवल संप्रसारण में ही पायी जाती है। गुणों और सम्बन्धों के अपने अपूर्ण संयोग के साथ कोई भी सान्त पूर्णता अपने अन्तर्गत सांत रूपान्तर की एक प्रक्रिया को अपनी सीमाओं के बाहर भी एक परिणाम के रूप में रखती है। परन्तु अन्य किसी वस्तु की अपेक्षा सम्प्रसारित में यह आत्मातिक क्रांति स्पष्ट होती है। प्रत्येक भौतिक जगत्-तत्वतः और अनिवार्यतः अनन्त होता है।

परन्तु, ऐसा कहने में हमारा यह अभिप्राय नहीं कि किसी क्षण-विशेष पर, ऐसे जगतों में किसी अस्तित्व की एक नियत से अधिक मात्रा होती है। इस प्रकार के कथन का एक बार फिर कोई अर्थ नहीं। एक बार फिर यह 'कुछ' होते हुए भी 'कुछ-नहीं' होने का, और एक अस्तित्व-पूर्ण अस्तित्व को ढूँढ़ने का प्रयत्न है। और इस प्रकार हमें यह मानने के लिए विवश होना पड़ता है कि प्रत्येक प्रकृति को सान्त होना चाहिए। यह साँप-छछूंदर-न्याय हमारे सामने है, और हमें यह बात बतलाता है कि समस्त प्रकृति वस्तुतः एक असत्य आभास है। यह एक ऐसा ढंग जिससे सत् का एक अंग-मात्र अपने को प्रकट करता है; यह एक ऐसा ढंग है तो, एक पूर्णतर समग्रता के द्वारा रूपान्तरित और अन्तर्गत समझा जाने पर, अनिवार्य तथा सत्य है; परन्तु

अपने निज रूप में ग्रहण किये जाने पर, असंगत तथा निज सत्ता के परे विलीन होने वाला है। प्रकृति की अनन्तता पर सम्भवतः और विचार करने की आवश्यकता नहीं।

और, इसके पश्चात् सादृश्य के प्रश्न पर आकर, मैं इसको लगभग तुरन्त ही विसर्जित कर दूंगा, क्योंकि अंशतः तत्व विज्ञान को उस पर विचारने की कोई आवश्यकता नहीं, और अंशतः हम इसी विषय पर अगले अध्याय में फिर आयेंगे। परन्तु, सादृश्य को किसी प्रकार भी क्यों न समझा जाय, हमें मुख्यतः संशयालु और उदासीन रहना चाहिए। मैं नहीं जानता कि इस बात को कैसे दिखाया जाय कि एक अथवा सभी जगतों के मूल तत्व और गति की मात्रा सदा एक ही रहती है। और न मैं यही समझता हूँ कि किसी जगत् को अपने इन्द्रियगोचर गुणों में एकरूपता रखने वाला कैसे जाना जा सकता है। एक ओर, जब तक कि परम सत् अपनी एकरूपता को सुरक्षित रखता है; और, दूसरी ओर जब तक नाम-रूपों का जगत् व्यवस्थित रहता है, तब तक हमारी सभी कल्पनाएँ और मान्यताएँ पूरी हो सकती हैं। जगत् की इस व्यवस्था का अर्थ यह नहीं कि प्रत्येक प्रकृति में, एक ही विशेषता बनी रहती है। प्रथम तो इसका अभिप्राय यह है कि सारे परिवर्तन एक सत् की एकरूपता को सुरक्षित रखते हुए होते हैं। परन्तु वह स्वयं विभिन्न जगतों के लगभग अनन्त परिवर्तन के साथ सुसंगत प्रतीत होता है। और, दूसरे, व्यवस्था के अन्तर्गत सांत विषयियों में अनुभव की सम्भावना होना आवश्यक है। इसलिए व्यवस्था में ऐसे समस्त परिवर्तन को स्थान नहीं, जो स्थिरता के अभाव में प्रत्येक जगत् को दुर्बोध बना दें। परन्तु अन्ततोगत्वा, इस स्थिरता के लिए घटित होने वाले आलोचनों में पायी जाने वाली एकरूपता की सीमित मात्रा की कोई अपेक्षा नहीं प्रतीत होती। और, तीसरे नाम-रूपात्मक पूर्वापरता में, कार्य-कारण का नियम अटूट रहना चाहिए। परन्तु यह बात फिर बहुत कम महत्त्व की है, क्योंकि कार्य-कारण नियम यह नहीं कहता कि अस्तित्व में सदैव एक ही से कारण और कार्य होंगे, उसमें केवल इसी बात का आग्रह कि यदि एक होगा तो दूसरे का होना अनिवार्य है। और इस प्रकार प्रकृति का सादृश्य इस कल्पना की पुष्टि नहीं कर सकता कि इन्द्रिय-गोचर जगत् एक-सा है। उस दिशा में इसकी गारन्टी अंशतः असत् है और अंशतः काल्पनिक है[1]।

प्रकृति के विषय में ऐसे और भी प्रश्न हैं जिन पर हम आगे चलकर विचार करेंगे; और यहाँ पर प्रस्तुत अध्याय को समाप्त कर सकते है। हमने देखा कि स्वयं प्रकृति में कुछ भी सत् नहीं है। वह केवल परम सत् के भीतर एक आभास के रूप में

---

१. इन विषयों की और अधिक चर्चा के लिए देखिए अध्याय २३।

विद्यमान है। समस्त मनोभाव और अनुभव से अलग होने में, वह एक असत्य पृथक्कृति है, और जीवन में प्रकृति का यह संकीर्ण स्वरूप नियमित रूप से नहीं रखा जा सकता। परन्तु, भौतिक विज्ञान के लिए परिपूर्ण इकाई में से एक तत्त्व का पृथक्करण औचित्य-पूर्ण और आवश्यक दोनों हैं। दिक् के भीतर नाम-रूपों के सह-अस्तित्व तथा पूर्वा-परत्व को समझने के लिये इनकी परिस्थितियों को स्वतंत्र अध्ययन का विषय बनाया जाता है। परन्तु ऐसी परिस्थितियों को स्वयंसिद्ध ठोस सत् मान लेने का अभिप्राय आलोचनाहीन तथा बर्बर तत्वज्ञान में उतर आना है।

परम सत् से पृथक् और बाहर प्रकृति कुछ भी नहीं है। उसकी सत्ता आंतरिक विभाजन की एक ऐसी प्रक्रिया में है जिसके द्वारा आभास का सम्पूर्ण जगत् उपस्थित होता है। और इस जगत् में, जहाँ पर अंग छिन्न-भिन्न हो जाते हैं और जहाँ सत्ता को विचार से तथा आत्म का अनात्म से भेद होता है, वहाँ प्रकृति एक दूसरे ही सिरे पर खड़ी है और ऐसे पक्ष को उपस्थित करती है जो आत्म-निर्भरता तथा एकता के नितांत विरुद्ध है। वह उन विशिष्टताओं का जगत् है जो व्यष्टि को रखने में सबसे दूर है; और हम उसे बाह्यत्व तथा संयोग का क्षेत्र कह सकते हैं। बाहरी परवशता तथा एक ऐसी गति जो उनकी अपनी नहीं है, यही उसके तत्त्वों का नियम है, और उसकी घटनाएँ एक आंतरिक अर्थ से रहित प्रतीत होती हैं। अस्तित्व रखने के लिए और घटित होने के लिए, और फिर भी किसी अंत को न प्राप्त करने के लिए, अथवा एक सदस्य के रूप में किसी आदर्श परिपूर्णता में समान होने के लिए, हमने देखा (अध्याय १९) कि यह आवश्यक है कि आवागमनशील हुआ जाय। और केवल भौतिक जगत् में इस विशेषता का निकटतम रूप प्राप्त हो सकता है। परन्तु इस प्रकार के प्रश्नों को हम एक अगले प्रसंग में ग्रहण करेंगे। अब मैं आत्मा और शरीर के सम्बन्ध तथा प्रकृति में उद्देश्यों के एकतंत्र के अस्तित्व का विवेचन करूँगा। यदि इस अध्याय में हम प्रकृति को, एक परिपूर्ण इकाई के भीतर, एक तत्त्व के रूप में समाश्रित दिखा सकें, तो इस अध्याय का उद्देश्य पूर्ण हुआ समझा जाना चाहिए।

तेईसवाँ अध्याय

देह और देही (आत्मा)

इस अध्याय के विषय को लेकर हम एक विकट कठिनाई का सामना करते हुए प्रतीत होते हैं। देह और आत्मा का सम्बन्ध एक ऐसी समस्या उपस्थित करता है, जिसका कोई हल वस्तुतः अनुभव में आता नहीं दिखायी देता, और मैं यह तुरन्त कह सकता हूँ कि यह परिणाम मुझे स्वीकार है और मैं इसका समर्थन करता हूँ। मुझे ठीक-ठीक यह बतलाना असम्भव प्रतीत होता है कि अन्ततोगत्वा, अस्तित्व के ये दोनों स्वरूप एक-दूसरे के साथ क्या सम्बन्ध रखते हैं। परन्तु इस असमर्थता में मुझे सत् के स्वरूप-विषयक अपने महान् सिद्धान्त की पुष्टि प्राप्त होती है, क्योंकि देह और आत्मा पूरी इकाई के भीतर आभास-मात्र हैं, वे ऐसे भेद हैं जो उसके अन्तर्गत उद्भूत होकर पृथक्-पृथक अस्तित्व बनाये हुए हैं। और उनके बीच का सम्बन्ध पूरी तरह से समझने के लिए अन्ततोगत्वा यह जानना पड़ेगा कि वे एकत्र कैसे हुए और, हमारी समझ में यह असम्भव होने से, उनके सम्बन्ध के विषय में कोई भी मत अपूर्ण रह जाता है।

परन्तु इस प्रतीति की असमर्थता से हमारे परम सत् के विरुद्ध कोई आक्षेप का कारण नहीं उपस्थित होता। इस बात को मै फिर दोहराना चाहूँगा कि देह और आत्मा के सम्बन्ध में उपस्थित होने वाले प्रश्नों के उत्तर में यदि चुप रहना पड़ता है, तो इससे हमारे सिद्धान्त की कोई अप्रामाणिकता सिद्ध नहीं होती, क्योंकि जब तक आपको कोई असंगति नहीं मिलती, तब तक किसी मत पर आप सन्देह नहीं करते। यदि सामान्य विवरण ऐसा है कि उससे इस या उस समस्या का समाधान हो जाता है, तो उससे बहिर्गत रहने वाली ऐसी कोई भी समस्या एक गम्भीर आक्षेप का कारण बन जाती है; और जहाँ पर मुख्य निष्कर्ष से स्पष्ट टक्कर लेने वाले कुछ पक्ष होते हैं, वहाँ पर तो वस्तु-स्थिति और भी बुरी हो जाती है। परन्तु आक्षेप के कोई भी आधार हमारे विरुद्ध लागू नहीं होते। परम सत् के विषय में हमने जिस मत को सत्य पाया, उसके अनुसार हम देख सकते हैं कि कुछ प्रश्नों का उत्तर क्यों और किस प्रकार सम्भव नहीं है, और विशेषकर के देह और आत्मा का सम्बन्ध ऐसी कोई बात उपस्थित नहीं करता, जो हमारे सामान्य सिद्धान्त से असंगत हो। यहाँ पर मेरा मुख्य उद्देश्य

इस अन्तिम बात को चरितार्थ करना होगा। और हम देखेंगे, न तो देह, न आत्मा और न उन दोनों का परस्पर सम्बन्ध ही हमारे परम सत् के विरुद्ध आपत्ति का कोई कारण उपस्थित कर सकते हैं।

जो कठिनाइयाँ उठ खड़ी हुई हैं, उनका मुख्य कारण केवल एक है। देह और आत्मा स्वतन्त्र सत्ताओं के बीच में रखे गये हैं, उनको ऐसी वस्तु माना गया है, जिनके प्रकार भिन्न हैं; और जिनमें से प्रत्येक का अपना अस्तित्व है, और वह भी स्वयं रूप में। और ऐसी अवस्था में उनका सम्बन्ध निःसन्देह अगम हो जाता है और यह जानने का हमारा प्रयत्न व्यर्थ हो जाता है कि एक का प्रभाव दूसरे पर कैसे पड़ सकता है; और अन्त में अपनी असफलता से खिन्न होकर हम सम्भवतः इस प्रभाव के अस्तित्व का पूर्ण निषेध करने का कृत-संकल्प हो जाते हैं। हम उदासीन घटनाओं की ऐसी दो शृंखलाएँ मान सकते हैं जो एक-दूसरे को प्रभावित करती हुई भी वस्तुतः केवल पास-पास चल रही हैं। और उनका यह संयोग बड़ी कठिनाई से, एक दैवयोग-मात्र होने के कारण, हमको अन्ततोगत्वा एक प्रकार का सम्बन्ध स्वीकार करना पड़ता है। सम्बन्ध को प्रत्यक्ष, तथा किसी ऐसी अन्य वस्तु पर अवलम्बित माना जाता है जिससे दोनों शृंखलाओं का सम्बन्ध हो। परन्तु जब प्रत्येक पक्ष अपनी सत्ता और और अस्तित्व को बनाये रखता है तो निःसन्देह उनका मिलन नहीं हो सकता, और, दूसरी ओर, यदि उनका मिलन होता है, तो इसलिए कि उनका रूपान्तर हो गया है, और वे वस्तुएँ नहीं, अपितु आभास हैं। फिर भी यह अन्तिम निष्कर्ष एक ऐसा निष्कर्ष है जिसके लिए हम जैसे बहुत-से लोग तैयार नहीं हैं। यदि आत्मा और देह दो वस्तुएँ नहीं हैं, तो मेरे विचार में, त्रुटि, पूर्णतः आत्मा के पक्ष में हो गयी, क्योंकि देह सर्वथा एक वस्तु प्रतीत होती है जबकि आत्मा अवस्तु है। और इसलिए प्रभाव का नितान्त परित्याग करते हुए, हम आत्मा को एक प्रकार का देहाश्रित विशेषण बना देते हैं। और सभी विशेषण अपने विशेष्यों की विशेषता प्रकट करते हैं, इसलिए हम अन्ततोगत्वा आत्मा को एक प्रकार का ऐसा तत्वहीन रेचन बना डालते हैं जो बहिर्गत होकर, 'बाहर' होने के कारण अंग में कोई परिवर्तन उपस्थित नहीं करता; और न हम सदा इस मत को छोड़ ही सकते हैं, जबकि प्रकृति-तत्त्व स्वयं केवल प्रतीयमान नाम-रूप सिद्ध हुआ है। प्रथम तो यह स्वीकार करना कि शरीर केवल आलोचन तथा प्रत्यय-मात्र है, और फिर भी आत्मा को उसका अभौतिक तथा निरर्थक रेचन मानते हुए, उसको आत्मा से पूर्णतः स्वतन्त्र मानना साधारण बात हो गयी है।

परन्तु मैं देह और आत्मा के स्वरूप तथा उनके सम्बन्धों के विषय में विभिन्न मतों को दिखलाने का प्रयत्न नहीं करूँगा, और मैं विस्तारपूर्वक उन मतों की आलो-

चना नहीं करूँगा, जिनमें से अधिकांश हमें कुछ भी ज्ञान नहीं कराते। पिछले अध्यायों के निष्कर्षों से यह वात एकदम स्पष्ट हो जायेगी कि न तो देह और न आत्मा ही आभास से कुछ अधिक है और मैं अब प्रत्येक के विचित्र स्वभाव और उनके परस्पर सम्वन्ध होने तथा एक दूसरे के प्रभावित होने के ढंग को वतलाने का प्रयत्न करूँगा। दूसरे प्रयत्न को छूना तव तक व्यर्थ होगा जव तक कि हम प्रथम के विषय में अपने विचारों को स्पष्ट करने का प्रयत्न नहीं कर लेते।

देह क्या है ? इस प्रश्न का उत्तर इस प्रश्न की अपेक्षा हमने प्रथम अध्याय में भी की थी। देह भौतिक जगत का एक अंग है। और हम देख चुके हैं कि प्रकृति स्वयं पूर्णतः अवस्तु है। वह पृथक्करण के द्वारा अलग किया हुआ परिपूर्ण इकाई का एक पक्ष है जो किसी उद्देश्य से एक स्वतन्त्र सत्ता माना जाता है। अतः एक देह को प्रकृति का एक खंड कह कर, हमने एकदम दिखा दिया कि वह आभास से अविक और कुछ भी नहीं है। वह एक ऐसी सामग्री की बौद्धिक सृष्टि है जो स्वाश्रित नहीं है। यह भौतिक पक्ष में उसका सामान्य रूप है, परन्तु जहाँ तक प्राकृतिक विज्ञान-द्वारा प्रकृति को एक विशेष स्थिति देने का प्रश्न है, मैं इस विषय में चुप रहना ही पसन्द करूँगा। हमारे लिए वह एक कालात्मक निरन्तरता से युक्त एक अनिरुक्त व्यवस्था है और गुणात्मक एकरूपता की कुछ मात्रा है, जिसकी सत्ता और प्रकृति को निश्चित करने का मैं प्रयत्न नहीं कर सकता। और मेरे अनुमान से तत्व-ज्ञान के लिए, यह अच्छा भी है कि शरीर के लिए आत्मा से सम्वन्वित होना अनिवार्य हो (अध्याय २२)। परन्तु इस क्षण हमें जिस वात से सम्वन्घ है वह तो यह है कि, उसके नाम-रूपात्मक स्वरूप पर आग्रह किया जाय। जिस सामग्री का वह वना हुआ है वह अभिन्न रूप से आलोचन और मनोभाव के साथ जुड़ी हुई है। इस प्रस्तुत पूर्णता से उनका पार्थक्य जिस प्रक्रिया-द्वारा होता है वह आवश्यक होते हुए भी विरोधों से भरी हुई है। पृथक-रूप में ग्रहण किये जाने पर, भौतिक जगत् के अन्तर्गत अज्ञात से अज्ञात का सम्वन्ध आता है, और इन अस्थायी सामग्री से देह-विशेष का निर्माण होता है। यह एक ऐसी सृष्टि है जो असंगतियों के कारण जटिल वनी हुई है, एक ऐसा दृष्टिकोण है जो अत्यन्त अनिवार्य होते हुए भी आभास की सीमा से परे पहुँचने का दावा प्रमाणित नहीं कर सकता।

और आत्मा स्पष्टतः शरीर की अपेक्षा अधिक स्वाश्रित नहीं है। वह स्वयं भी केवल एक शुद्ध नाम-रूपात्मक अस्तित्व है, एक अपूर्ण और असंगतिपूर्ण आभास है, जिसमें अपने को एक स्वतन्त्र 'वस्तु' के रूप में रखने की शक्ति नहीं। हमारी प्रथम पुस्तक में जो आलोचना की गयी है, उसने आत्मा के अस्तित्ववान होने, अथवा

चना नहीं करूँगा, जिनमें से अधिकांश हमें कुछ भी ज्ञान नहीं कराते। पिछले अध्यायों के निष्कर्षों से यह बात एकदम स्पष्ट हो जायेगी कि न तो देह और न आत्मा ही आभास से कुछ अधिक है और मैं अब प्रत्येक के विचित्र स्वभाव और उनके परस्पर सम्बन्ध होने तथा एक दूसरे के प्रभावित होने के ढंग को बतलाने का प्रयत्न करूँगा। दूसरे प्रयत्न को छूना तब तक व्यर्थ होगा जब तक कि हम प्रथम के विषय में अपने विचारों को स्पष्ट करने का प्रयत्न नहीं कर लेते।

देह क्या है ? इस प्रश्न का उत्तर इस प्रश्न की अपेक्षा हमने प्रथम अध्याय में भी की थी। देह भौतिक जगत का एक अंग है। और हम देख चुके हैं कि प्रकृति स्वयं पूर्णतः अवस्तु है। वह पृथक्करण के द्वारा अलग किया हुआ परिपूर्ण इकाई का एक पक्ष है जो किसी उद्देश्य से एक स्वतन्त्र सत्ता माना जाता है। अतः एक देह को प्रकृति का एक खंड कह कर, हमने एकदम दिखा दिया कि वह आभास से अधिक और कुछ भी नहीं है। वह एक ऐसी सामग्री की बौद्धिक सृष्टि है जो स्वाश्रित नहीं है। यह भौतिक पक्ष में उसका सामान्य रूप है, परन्तु जहाँ तक प्राकृतिक विज्ञान-द्वारा प्रकृति को एक विशेष स्थिति देने का प्रश्न है, मैं इस विषय में चुप रहना ही पसन्द करूँगा। हमारे लिए वह एक कालात्मक निरन्तरता से युक्त एक अनिरुक्त व्यवस्था है और गुणात्मक एकरूपता की कुछ मात्रा है, जिसकी सत्ता और प्रकृति को निश्चित करने का मैं प्रयत्न नहीं कर सकता। और मेरे अनुमान से तत्व-ज्ञान के लिए, यह अच्छा भी है कि शरीर के लिए आत्मा से सम्बन्धित होना अनिवार्य हो (अध्याय २२)। परन्तु इस क्षण हमें जिस बात से सम्बन्ध है वह तो यह है कि, उसके नाम-रूपात्मक स्वरूप पर आग्रह किया जाय। जिस सामग्री का वह बना हुआ है वह अभिन्न रूप से आलोचन और मनोभाव के साथ जुड़ी हुई है। इस प्रस्तुत पूर्णता से उनका पार्थक्य जिस प्रक्रिया-द्वारा होता है वह आवश्यक होते हुए भी विरोधों से भरी हुई है। पृथक-रूप में ग्रहण किये जाने पर, भौतिक जगत् के अन्तर्गत अज्ञात से अज्ञात का सम्बन्ध आता है, और इन अस्थायी सामग्री से देह-विशेष का निर्माण होता है। यह एक ऐसी सृष्टि है जो असंगतियों के कारण जटिल बनी हुई है, एक ऐसा दृष्टिकोण है जो अत्यन्त अनिवार्य होते हुए भी आभास की सीमा से परे पहुँचने का दावा प्रमाणित नहीं कर सकता।

और आत्मा स्पष्टतः शरीर की अपेक्षा अधिक स्वाश्रित नहीं है। वह स्वयं भी केवल एक शुद्ध नाम-रूपात्मक अस्तित्व है, एक अपूर्ण और असंगतिपूर्ण आभास है, जिसमें अपने को एक स्वतन्त्र 'वस्तु' के रूप में रखने की शक्ति नहीं। हमारी प्रथम पुस्तक में जो आलोचना की गयी है, उसने आत्मा के अस्तित्ववान होने, अथवा

वास्तविक सत्ता के अनुकूल होने का प्रत्येक दावा समाप्त कर दिया है। और हमारे सामने स्वीकार करके एक आत्मा के अभिप्राय को स्पष्ट रूप से निश्चित कर दिया है। प्रथम मैं एक संक्षिप्त सूत्र रखूंगा, और फिर उसकी व्याख्या करने तथा उसके विरुद्ध आक्षेपों का उत्तर देने का प्रयत्न करूँगा। आत्मा अव्यवहित अनुभव का एक केन्द्र है, जिसमें अस्तित्व की एक कालात्मक निरन्तरता है और स्वरूप की एक समान-रूपता। और यहाँ पर 'अव्यवहित' शब्द आग्रहपूर्ण है। जहाँ तक मानसिक घटनाएँ केवल कालगत घटनाएँ मानी जाती हैं, वहाँ तक आत्मा मानसिक घटनाओं का एक संघात-विशेष है। जहाँ तक यह सत्ता (वह चाहे विचार में हो या संकल्प अथवा मनोभाव में) किसी वस्तु को इन घटनाओं के क्रमिक अस्तित्व के परे विशिष्ट बनाती है, वहाँ तक इसके अन्तर्गत उनकी सत्ता की मीमांसा नहीं आती। किसी एक क्षण के सम्पूर्ण अनुभव, यदृच्छा प्राप्त समग्र इदम्-अद्य को लीजिए, उस अनुभव को काल के भीतर परिवर्तित तथा क्रमागत मानिए, उसके स्वरूप को केवल घटित होता हुआ तथा उसके निजी परिवर्तनों को आगे प्रभावित करता हुआ समझिए, तो संभवतः यह एक आत्मा की परिभाषा देने का सुगमतम ढंग होगा।[१] परन्तु मुझे इसे व्यक्त करने तथा संक्षेप में इसकी व्याख्या करने का प्रयत्न अवश्य करना है।

इतना ही स्पष्ट होना पर्याप्त नहीं है कि आत्मा, वास्तविक सत्ता को प्राप्त करने में न पा सकने वाली किसी वस्तु के अर्थ में, नाम-रूपात्मक है। क्योंकि जब तक कि हम किसी हद तक यह प्रतीति नहीं कर पाते, कि वह विश्व के अन्य पक्षों से क्या सम्बन्ध रखता है, तब तक संभवतः हम नितान्त अज्ञान में ही पड़े रहेंगे। और प्रायः त्रुटि यह हो जाती है कि हम जिसको 'आध्यात्मिक' कहते हैं उसकी परिभाषा इतनी विस्तृत कर देते हैं कि उससे किसी तर्क-संगत परिणाम को प्राप्त करने का अवसर ही नहीं रह जाता है। क्योंकि जो उद्देश्य और लक्ष्य हमारे सामने आते हैं, वे सब-के-सब एक अर्थ में हमारे आत्मा की ही अवस्थाएँ होती हैं। अतः यदि इस अर्थ को न छोड़ा जाय तो मेरा शरीर और सम्पूर्ण जगत 'आध्यात्मिक' नाम-रूप के बन जाते हैं; और इस भूल-भुलैया में स्वयं मेरा आत्मा भी अपनी ही किसी अवस्था के रूप में एक अबुद्धिगम्य स्थान को खोजता फिरता है। सबसे अधिक महत्त्व की बात यह है कि आत्मा के अस्तित्व को उससे पृथक् किया जाय, जो उसके भीतर भरा हुआ

---

१. अभी मैंने दैहिक सम्बन्ध को छोड़ दिया है। कई कारणों से किसी शरीर के भीतर अव्यवहित रूप से अनुभव किये जाने वाले तथ्यों के रूप में आत्मा की परिभाषा बताना ठीक नहीं। मैं विषय पर पुनः आऊँगा।

है; और तिस पर भी कुछ ऐसी बातें हैं जिनके विषय में सम्भवतः उपेक्षावृत्ति अधिक प्रचलित है। हम प्रश्न को इस प्रकार स्पष्ट कर सकते हैं—यदि हमें यह कल्पना (अध्याय २७) करना पड़े कि विश्व में आत्माओं के परे कुछ भी नहीं है, तो भी इन आत्माओं के भीतर उसी समस्या के समाधान की फिर भी आवश्यकता रह जायगी। हमें फिर भी आत्मा के अस्तित्व के लिए एक ऐसे स्थान को ढूँढ़ना पड़ेगा जो शरीर तथा विश्व के अन्य पक्षों से पृथक् हो।

यदि हम प्रश्न को अस्तिवादी या नास्तिवादी दृष्टिकोणों से समझने का प्रयत्न करें, तो हमें उसके द्वारा यह समझने में भी सहायता मिलेगी कि आत्मा क्या है और यह भी कि आत्मा क्या नहीं है। आइए, पहले हम व्यष्टिगत अनुभव की दृष्टि से और फिर उसी बात को बाहर से तथा स्वीकृत-पुरुष-बहुत्व की दृष्टि से विचार करें।

अच्छा तो अन्तर्जगत से प्रारम्भ कर लें। मैं एक क्षण-विशेष पर प्रस्तुत अपने समस्त अनुभव को लेता हूँ और यदि मैं एकमात्र 'इदम्-अंश' को मनोभाव में यदृच्छा प्राप्त वस्तु तथा मन के रूप में ग्रहण करूँ, तो क्या मैं यह कल्पना कर सकता हूँ कि इतने में मुझे अपना वास्तविक आत्मा मिल गया? स्पष्टतः, ऐसी बात नहीं, क्योंकि यदि हम अधिक न कहें तो इतना कहना पर्याप्त है कि ऐसा अस्तित्व अत्यधिक क्षण-भंगुर है। मेरा उत्तर है कि मेरा आत्मा केवल किसी क्षण-विशेष की एक वस्तु मात्र नहीं है, अपितु उसे कुछ काल तक स्थायी रहना चाहिए और अपनी एकरूपता को सुरक्षित रखना चाहिए। मेरा यह अभिप्राय नहीं कि उसको अपनी एकरूपता की स्वयं आत्मचेतना होना चाहिए, क्योंकि ऐसा कहने से हम दूसरी ओर अत्यधिक बहक जायेंगे। जहाँ तक आवश्यक निरन्तरता तथा एकरूपता की मात्रा का प्रश्न है, मैं यहाँ कुछ भी नहीं कह रहा हूँ। मैं आगे चलकर इन दोनों ही प्रश्नों को जितनी आवश्यकता होगी उतना ही स्पर्श करूँगा, और इस समय केवल सामान्य निष्कर्ष तक ही सीमित रहूँगा। आत्मा का अस्तित्व एक उपस्थापना-काल से अधिक देर तक रहना चाहिए; और इसलिए यदि अनुभव अव्यवहित और प्रस्तुत हो तथा उस क्षण को अतिक्रान्त न करे, तो वह मेरी आत्मा नहीं हो सकता।

परन्तु अनुभव की बात को और भी आगे बढ़ाते हुए, यदि हम उसे एक दूसरे अर्थ में लें, तो हमें फिर भी बाधा उपस्थित होती है, क्योंकि अनुभव जिस प्रकार पहले अति संकीर्ण था, उसी प्रकार अत्यधिक विस्तृत हो गया।

जब तक मेरा आत्मा समस्त विश्व के समान विशाल न हो तब तक मेरे अनुभव की समस्त इयत्ताएँ सम्भवतः मेरा आत्मा नहीं बन सकतीं, इस प्रसंग में इसमें कोई अन्तर नहीं पड़ता कि अनुभव की इन इयत्ताओं पर मैं स्वयं अनुभव करता

हूँ, अथवा कोई दूसरा व्यक्ति, क्योंकि अन्य शरीर और आत्मा तथा स्वयं ईश्वर भी (जहाँ तक मैं उन्हें जानता हूँ) सभी मेरे मन की अवस्थाएँ हैं। और इस अर्थ में मेरी सत्ता-विशेष के अंग-मात्र हैं। हम एकदम फिर उसी भेद-भाव पर पहुँच जाते हैं जो हमने पहले अध्याय (अध्याय २१) में इयत्ता के विविध पक्षों तथा आध्यात्मिक तथ्यों के विविध तथ्यों के बीच देखा था। संक्षेप में, हमारा अनुभव तत्वतः तथा मुख्यतः प्रत्यात्मक है। यह एक ऐसी प्रत्यात्मक प्रक्रिया को प्रकट करता है जो मनोभाव की इकाई से प्रारम्भ होकर आत्म और अनात्म में भेद उत्पन्न करता है और जगत के विभागों को स्वयं उन से तथा मुझ से पृथक् करता है।[1] इसका अभिप्राय यह है कि यह सम्पूर्ण समृद्धि अस्तित्व तथा स्वरूप के पक्षों के बीच जो पार्थक्य है, उसके द्वारा ठहरी रहती है। मेरे जगत् के अंगों में से किसी एक का जो अभिप्राय है वह निःसन्देह अनुभव का एक तथ्य-मात्र नहीं है। यदि आप उसको उसी रूप में समझें, जिस रूप में उसका वहाँ अस्तित्व है तो सदैव वहाँ 'कुछ-न-कुछ' है, परन्तु यह 'कुछ-न-कुछ' विवाद का विषय कदापि नहीं हो सकता। यदि आप चाहें तो हम अपने घोड़े अथवा अपने शरीर का उदाहरण ले सकते हैं, कम-से-कम मेरे लिए ये दोनों ही अनुभव के अतिरिक्त और कुछ भी न होंगे; क्योंकि जिसका मैं 'अनुभव' नहीं करता, वह मेरे लिए कुछ भी नहीं है, और यदि आप उनके प्रस्तुत अस्तित्व के लिए प्रश्न उपस्थित करें, तो, आप अपनी आत्मा की एक अवस्था के अतिरिक्त अन्यत्र नहीं पा सकेंगे। जब उनकी मुझे प्रतीति होती है अथवा जब कल्पना करते हैं तो, अभी तक, ऐसे कोई भी अन्वेषणीय 'तथ्य' नहीं है; जो मेरी आध्यात्मिक परिस्थिति के बाहर हों, परन्तु इस प्रकार का कोई 'तथ्य' मेरे लिए मेरे घोड़े अथवा मेरे शरीर का तथ्य नहीं है। उनका वास्तविक अस्तित्व वह नहीं है, जो मेरे मन में विद्यमान है अपितु (संभवतः हम यह कह सकते हैं) उसके सम्मुख विद्यमान है। उनका अस्तित्व एक ऐसी इयत्ता है जो अपनी निजी आध्यात्मिक सत्ता से पृथक कार्य करती है और उसके साथ समन्वय स्थापित नहीं कर पाती। यह एक ऐसा 'किम्' है जो 'तद्' से असंगत है तथा उसको अतिक्रान्त करता है। हम उसको इस प्रकार रख सकते हैं कि वास्तविक तथ्य तभी तक तथ्य है जब तक कि वह प्रत्यात्मक तथ्य है। अतः विश्व और उसके विषयों को मेरे आत्मा की अवस्थाएँ नहीं कही जानी चाहिए। निःसन्देह, जहाँ तक आध्यात्मिक अवस्थाओं का अस्तित्व नहीं है, वहाँ तक यह प्रतिपादन करना अधिक ठीक होगा कि इस विषय का अस्तित्व है क्योंकि विषयों का

१. मैंने इस मुख्य विकास को उपर्युक्त स्थल पर 'माइंड' में देने का प्रयत्न किया है।

ऐसा अनुभव उसी हद तक सम्भव है, जिस हद तक प्रस्तुत अस्तित्व से अभिप्राय पृथक् नहीं हो जाता, और इस रूप में समझे जाने पर इस अस्तित्व को खंड-खंड नहीं कर देता है। और हम इस परिणाम को इस प्रकार व्यक्त कर सकते हैं। यदि मेरी आध्यात्मिक अवस्था का अस्तित्व है तो विषय नष्ट हो जाता है, परन्तु जब तक मेरी अवस्था अपने निज रूप में नष्ट नहीं हो जाती, तब तक किसी भी विषय का अस्तित्व नहीं हो सकता। तथ्य के दोनों पक्ष, और उस तथ्य से पृथक् कार्य करने वाली सत्ता के दोनों पक्ष, एक-दूसरे के लिए अनिवार्य हैं। परन्तु दूसरे का सार यही है कि वह एक 'तद्' में से एक 'किम्' को छिन्न-भिन्न कर दे; जबकि इन पक्षों की एकता में पहले का जीवन अस्तित्व में आता है।

आत्मा अपनी अवस्थाओं में प्रकट होने वाली इयत्ताएँ नहीं है, परन्तु, इसके विपरीत वह उनके बिना अपने निज रूप में रह नहीं सकता, क्योंकि वह उन्हीं इयत्ताओं के अस्तित्व से तत्वतः विशिष्ट होता है। हम कह सकते हैं कि इस प्रकार कोई मनुष्य वह नहीं है जो वह अपने को समझता है, परन्तु फिर भी वह जो है उसका कारण वही है, जो वह अपने को समझता है और इयत्ता की प्रत्यात्मक प्रक्रियाओं में अनिवार्यतः आध्यात्मिक परिवर्तन का एक पक्ष होता है। जिन सम्बन्धों के अन्तर्गत ऐसी कोई वस्तु नहीं आती, जो मेरी अपनी व्यक्तिगत हो, तो उन सम्वन्धों से उस समय मेरी अवस्थाओं का व्यवस्था-क्रम बन जाता है, जिस समय वे मेरे भीतर घटित होती हैं। यह सिद्धान्त निश्चित रूप से मेरी आत्मा का एक अंग नहीं है; और फिर भी मेरी अवस्थाओं के क्रम में इससे बहुत अन्तर पड़ता है। मैं आगे चलकर इस विषय पर फिर आऊँगा, परन्तु इस विषय को विस्तार के साथ पल्लवित करना, मनोविज्ञान का कार्य है। वहाँ हमें आध्यात्मिक नाम-रूपों के क्रम को प्रभावित करने वाले कारणों का निरूपण तथा वर्गीकरण करना चाहिए।[१] यहाँ पर एक आवश्यक भेद पर बल देना पर्याप्त होगा। प्रत्यात्मक इयत्ताएँ मेरे अस्तित्व में प्रकट होती हैं, और उसे प्रभावित करती हैं, परन्तु यह सब होते हुए भी हम उन्हें अपनी आत्मा नहीं कह सकते। अब हम दो निष्कर्षों पर आ पहुँचे हैं। आत्मा निःसन्देह मेरे अनुभव में स्थित सभी तत्वों की समष्टि नहीं है और न इसके विपरीत, वह स्वयं-अनुभव ही है। वह वास्तविक मनोभाव अथवा 'इदम्' के अन्तर्गत (अध्याय १९) आने वाली सत्ता और गुणों की अव्यवहित एकता ही है। ये वस्तुएँ आत्मा नहीं हैं, और अब हमें यह बताने का प्रयत्न करना चाहिए कि वह क्या है? वह इन्हीं व्यक्तिगत केन्द्रों में से एक है, जो किसी विशेष पर ग्रहण नहीं किए जाते,

---

१, मैंने इस विषय में कुछ 'माइंड', ७ पृ० ३६२–६३ में लिखा है।

अपितु जो एक 'वस्तु' के रूप में समझे जाते हैं। वह एक संवेदनशील पूर्णता है, जो काल के भीतर क्रमागत तथा एकरूपता रखती हुई मानी जाती है। इसलिए आत्मा एक उपस्थापित तथ्य नहीं है, अपितु प्रस्तुत को अतिक्रान्त करने वाली एक प्रत्ययात्मक सृष्टि है। वह आग्रहपूर्वक एक प्रत्ययात्मक प्रक्रिया का परिणाम है, परन्तु, दूसरी ओर, यह प्रक्रिया एक बहुत नीचे स्तर पर निरंकुश रूप से रोक दी गयी है। अपने 'प्रस्तुत' का एक परिवर्तनशील क्षण लीजिए, और फिर मनोभाव के एक व्यक्तिगत एकरूपता के आधार से इस क्षण को अन्य क्षणों से संप्रसारित कीजिए और एक 'वस्तु' का निर्माण कीजिए। 'अनुभव' की इस रूप में कल्पना कीजिए कि उसके भूत और वर्त्तमान की एक सत्ता हो जाय और उसके इतिहास को एक निश्चित काल-क्रम में स्थान प्राप्त हो सके। उसकी आकस्मिकता को इतना दूर कीजिए कि वह भीतर-बाहर कार्य-क्रमण-सम्बन्ध रखने वाली घटनाओं की एक शृंखला के रूप में देखी जा सके। परन्तु इतनी दूर जाकर ठहरिए, और अपनी प्रक्रिया को बंद कीजिए, अन्यथा, आप एक आत्मा को पाकर भी उसको शीघ्रता में छोड़ जायेंगे, और अपनी आत्मा को बनाये रखने के लिए आपको एक असंगति की स्थिति में अटल रहना पड़ेगा, क्योंकि अन्य किसी भी कालगत 'वस्तु' की तरह आत्मा अनिवार्यतः प्रत्यय रूप है। वह प्रस्तुत क्षण को अतिक्रान्त कर चुका है, और अपने अस्तित्व को 'वास्तविक' अथवा अनुभवगम्य तत्व के परे संप्रसारित कर चुका है। और सह-अस्तित्व तथा क्रमागति के अपने सम्बन्धों तथा बन्धनों द्वारा और 'नियमों' पर अपने अवलम्बन-द्वारा उसने अपने को शाश्वत सत्य के जगत् में पहुँचा दिया है। परन्तु जीवन की इस प्रक्रिया को बनाये रखना आत्महत्या होगी। उसका आगे बढ़ना, आपको 'अस्तित्व' से पूरी तरह तिलांजलि देने, तथा, उस हानि द्वारा, व्यक्तिगत स्वत्व को छोड़ने के लिए विवश होना पड़ेगा। और इसलिए, दूसरी ओर आत्मा अपनी कालगत सत्ता से आसक्त रहता है, और फिर भी सत् के साथ इयत्ता की अटूट एकता पर पहुँच जाता है। अतः उसकी इयत्ताएँ कालगत घटनाओं को केवल विशिष्ट ही कर पाती हैं; और परिणाम केवल एक समझौता-मात्र है। अतः आत्मा एक योजना-द्वारा और एक उद्देश्य विशेष के लिए मूल तत्व के प्रयोग द्वारा आत्मा बना रहता है। और इस प्रयोग के किसी सिद्धान्त पर आश्रित अथवा आबद्ध न होने के कारण आत्मा को अन्ततोगत्वा योजनाबद्ध मानना पड़ेगा। वह एक ऐसी शृंखला है, जो प्रत्यात्मक अतिक्रांति पर निर्भर है, और फिर भी एक इन्द्रिय-गम्य तथ्य के रूप में ग्रहण किये जाने के लिए इच्छुक है उसकी असंगति अपनी इयत्ताओं के निजी प्रयोग में प्रकट होती है। हम देख चुके हैं कि ये इतनी विस्तृत हैं जितना कि स्वयं विश्व, और इस कारण से, वे आत्मा को विशिष्ट करने में असमर्थ हैं। और फिर भी,

इसके विपरीत, यदि आत्मा को निज रूप ग्रहण करानेवाली विशेषता प्राप्त करनी है, तो उनको ऐसा करना पड़ेगा। अतः इन इयत्ताओं को उनकी सत्ता के एक पक्ष से हटना पड़ेगा और दूसरे पक्ष को एक उद्देश्य-विशेष से दूर करना पड़ेगा। आत्मा के अस्तित्व को रखने के लिए, 'अनुभव' की तोड़-मरोड़ करनी पड़ेगी। एक आत्मा के रूप में ग्रहण की जाने वाली घटना-शृंखला में जहाँ तक वह कोई भेद उपस्थित करता है, वहाँ तक उस पर विचार करना पड़ेगा, उसको उसी सीमा तक समझना चाहिए, जिस तक वह एक कालात्मक शृंखला के विशेषण के रूप में काम आ सके——एक विशेष प्रकार की शृंखला की 'इदमता' को बनाने में, तथा उसकी भूत और भावी 'इदमता' को बदलने में काम आ सके। परन्तु, इसके आगे अनुभव को केवल आत्मा के लिए उपस्थित, और उसके भीतर सक्रिय माना जाता है। और आत्मा का अस्तित्व ठीक उसी सीमा तक रहता है, जिस तक पृथक्करण बना रहता है। उसका जीवन केवल तभी तक स्थिर रहता है, तब तक कि एक उद्देश्य-विशेष बना रहता है। और इस प्रकार उसके अन्तर्गत तथ्यों का सुविधाजनक, परन्तु एकांगी प्रतिनिधित्व रहता है, और उसका एक उपयोगी आभास से अधिक अन्य कोई दावा नहीं होता।

संक्षेप में, आत्मा का अस्तित्व न तो अनुभव किया जाता है और न प्रस्तुत होता है, वह 'वर्त्तमान' की अतिक्रांति के द्वारा और उसके परिणाम-स्वरूप होता है, और उसकी इयत्ता स्पष्टतः कदापि उसकी सत्ता के साथ तादात्म्य नहीं रखती। उसका 'किम्' सदैव उसके 'तद्' से एक स्पष्ट असंगति रखता है——इसलिए उसकी सम्पूर्ण स्थिति सर्वदा असंगत तथा अस्थिर-प्रायः है। यह एक स्वाभाविक और आवश्यक व्यवस्था-तंत्र है, परन्तु यह-सब होते हुए भी वास्तविक सत् नहीं है। और स्वयं की दृष्टि से, आत्मा एक पृथक्कृति तथा विकृति है। वह एक उद्देश्य-विशेष के लिए सामग्री का एक निरंकुश उपयोग है। और अपने निजी अस्तित्व को अवलम्बन देने वाले की अपेक्षा अपने में अधिक तत्त्व को अस्वीकार करके ही वह स्थिर रहता है।

आगे बढ़ने से पहले इसी प्रश्न पर परम सत् के पक्ष से विचार करना लाभप्रद हो सकता है। तर्क के लिए हम यह मान लें कि पूर्ण इकाई में ऐसी कोई सामग्री नहीं, जो किसी आत्मा की एक अवस्था न हो (अध्याय २७)। इस निमित्त, हम यह निष्कर्ष निकालने के लिए प्रलुब्ध हो सकते हैं कि ये आत्मा सत् हैं, अथवा कम-से-कम उनको वास्तविक होना चाहिए। परन्तु यह निष्कर्ष असत्य होगा, क्योंकि आत्मा आभास और त्रुटि के क्षेत्र में आ जायेंगे। वे होंगे अवश्य, परन्तु उनके उस रूप में सत् वस्तु नहीं होगी। उनको एक ऐसे निराकरण और एक पुनर्गठन की आवश्यकता होगी, जिसमें उनकी वैयक्तिकताएँ रूपान्तरित और विलीन हो जायेंगी (अध्याय १६), क्योंकि

हम देख चुके हैं कि परम सत् इयत्ता और अस्तित्व का योग है, वह मनोभाव की अपूर्ण एकता को क्षीण करने वाले भेदों और सम्बन्धों का समावेश करते हुए उनसे एक ऊपर के धरातल पर स्थिर है। अच्छा तो हम इन 'इदम्-अवों' के अनिश्चित बहुत्व अथवा अव्यवहित अनुभवों को आधार तथा प्रारम्भ विन्दु मानें, और दूसरी ओर परम सत् को लक्ष्य मानें तथा दोनों के मध्यवर्ती क्षेत्र को एक से दूसरे तक चलने वाली प्रक्रिया समझें। वह एक ऐसा संघर्ष-क्षेत्र होगा जिसमें इयत्ता सत्ता के साथ अपनी एकता खोकर पुनः उसको प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील होगी। आंशिक रूप में हमारी कल्पना झूठी होगी, क्योंकि (जैसा कि हम देख चुके हैं) जो अव्यवहित रूप से प्रस्तुत है वह पहले से ही असंगत हैं।[1] परन्तु, अपने समझने के लिए, हम यहाँ मान लें कि अनुभव का 'तथ्य' वास्तविक है और उसके ऊपर एक वार फिर परम सत् को उच्चत्तर सत्ता प्राप्त होती है,—परन्तु फिर भी आत्मा कहाँ है? आत्मा अव्यवहित अनुभव नहीं है, क्योंकि वह एक क्षण पर प्रस्तुत होता है, और आत्मा के लिए इससे भी कम यह सम्भव है कि वह समस्त सत्ता और इयत्ता का परिपूर्ण संगम हो सके। यह स्पष्ट है, और, यदि यह वात है, तो आत्मा का अस्तित्व त्रुटि और आभास के वीच में होना चाहिए। वह एक ऐसे आत्यंतिक छोर का आदर्श निर्माण है जिसके द्वारा दूसरे छोर तक पहुँचा जा सके। यह एक ऐसा निर्माण है जो एक वहुत नीचे स्तर पर टिका हुआ है, और ठहरा हुआ किसी अकाटच आधार पर नहीं। अतः परम सत् में आत्माओं का वहुत्व एक आभास है, और उनका अस्तित्व वास्तविक नहीं है। परन्तु आदर्शपूर्णता तक पहुँचने के लिए इयत्ता का उर्ध्वगामी प्रयत्न इन आत्माओं का निर्माण कर चुकने पर भी उनके भीतर और उनके ऊपर उठता है, इसलिए वे स्वयं नीची सत्ता के स्तर से अधिक निकट हैं। आत्माओं के प्रसंग में अस्तित्व और इयत्ता की प्रथम तथा क्षणिक एकता कम गम्भीरता से विशीर्ण तथा विनष्ट होती है। अतः समय-शृंखला के भीतर स्थान-प्राप्त वस्तुओं के रूप में समझे जाने वाले आत्मा तथ्य कहे जाते हैं और वस्तुतः अस्तित्व रखने वाली वतायी जाती है। यही नहीं, एक अर्थ में उनके अस्तित्व पर समस्त सत्ता अवलम्वित है, क्योंकि यह ऊँची प्रक्रिया इन नीचे परिणामों से एक विशेष सम्बन्ध रखते हुए चलायी जाती है, और इस प्रकार अपने मार्ग में चलती हुई, वह आत्माओं को उनके अपने मार्ग में प्रभावित करती है, और इस प्रकार सव-कुछ आत्माओं के भीतर घटित होता है, और वह सव-कुछ उनकी अवस्थाओं के रूप में होता है। और यह व्यवस्था-क्रम आवश्यक प्रतीत होता है, परन्तु दूसरी ओर, यदि हम परम सत् की ओर से देखें तो वह स्पष्ट ही

१. तु० क० अध्याय १५, १९, २१।

स्वयं-असंगत है। संगति तथा सत्यता प्राप्त करने के लिए, उसको एक ऐसे परिणाम में विलीन और पुनर्गठित होना चाहिए, जिसमें उसकी विशेषता नष्ट हो जाय। शरीरों की भाँति स्वयं आत्मा भी आभास-मात्र ही हैं।

और इस बात की और स्पष्ट अवगति करने के लिए, हम एक भँवर-जाल में पड़ गये हैं। जिस प्रकार शरीर प्रकृति के लिए था, और दूसरी दृष्टि से प्रकृति का अस्तित्व शरीर के सम्बन्ध से ही था, उसी प्रकार का चक्र अब दूसरे ढंग से आत्मा के विषय में उपस्थित हो गया है, क्योंकि, विचार आत्माओं की एक अवस्था है, और इसलिए उनके द्वारा निर्मित है, जब कि अपने पक्ष में आत्मा स्वयं विचार की उपज है। काल में स्थित और 'अवस्थाओं' से युक्त 'वस्तु' वही बन जाती है, जो वह प्रत्ययात्मक निर्माण द्वारा बनी है। परन्तु यह निर्माण स्वयं एक आध्यात्मिक केन्द्र पर आश्रित तथा केवल एक 'अवस्था' के रूप में अस्तित्ववान् प्रतीत होता है। और, यह एक विकट चक्र बन गया प्रतीत होता है। और फिर, शरीर आत्मा पर निर्भर है, क्योंकि उसकी समस्त सामग्री आलोचन के द्वारा प्राप्त होती है और उसकी एकरूपता प्रत्ययात्मक निर्माण द्वारा बनती है। फिर भी यह निर्माण किसी आत्मा के अन्तर्गत एक घटना के रूप में उपस्थित होता है, और यह आत्मा शरीर के सम्बन्ध से ही अस्तित्ववान् है।[1] परन्तु, जब हम इस प्रकार के चक्रों में पड़ जाते हैं, और जब हम अपनी गवेषणाओं को आगे बढ़ाते हुए, केवल अज्ञात और अज्ञात का सम्बन्ध ही पाते हैं तो यह निष्कर्ष निश्चित हो जाता है। हम आभास के क्षेत्र में सत्ता में से इयत्ता के छिन्न-भिन्न हो जाने पर जिस नाम-रूप की सृष्टि होती है, उसी के क्षेत्र में हैं, और ये ऐसे व्यवस्था-तंत्र हैं जो प्रतीक हो सकते हैं, परन्तु यथार्थ नहीं। विश्व के स्वरूप ने हमें ऐसी बोध-पद्धतियों को अपनाने के लिए बाध्य किया है और परम सत् के लिए उनका अपना महत्त्व है (अध्याय २४)। परन्तु निजी रूप में, तथा जिस रूप में वे हमें प्राप्त होते हैं उस रूप में; उनका आभास होना कम निश्चित नहीं है। जहाँ तक हम उनको जानते हैं, वे केवल असंगत रचनाएँ है, और हमारे ज्ञान के बाहर, वे एकदम अपने से परे पहुँच जाते हैं, प्रत्येक अवस्था में आधार-भूत और श्रेष्ठ सत्ता को एक शरीर अथवा आत्मा कहने का हमें कोई अधिकार नहीं है, क्योंकि कुछ अधिक बनाने में, प्रत्येक को अपनी सत्ता का अधिकार छोड़ना पड़ता है। शरीर और आत्मा, संक्षेप में, ऐसे नाम-रूपात्मक व्यवस्था-तंत्र हैं जिनका निश्चित स्थान संगठित घटना-शृंखला में होता है, और उस रूप में वे दोनों ही समान रूप से

१, मै यहाँ पर शरीर बिना आत्मा के अस्तित्व को अस्वीकार नहीं करता। देखिए आगे पृष्ठ ३००।

अकाट्य और आवश्यक होते हैं। परन्तु अन्ततोगत्वा दो में से कोई भी वास्तविक नहीं है, प्रत्येक केवल नाम-रूपात्मक है, और एक को ऐसे किसी तथ्य का अधिकार नहीं है, जो इसी के अधिकार-क्षेत्र में आता हो।

अभी तक हमने देखा कि आत्मा और शरीर दोनों ही समान रूप से नाम-रूपात्मक संगठन हैं, और हमें अब उनके पारस्परिक सम्बन्धों को आगे बतलाना चाहिए, परन्तु आधार को सुदृढ़ करने के लिए, मुझे पहले कुछ आक्षेपों का उत्तर देने का प्रयत्न करना चाहिए। (१) आत्मा की नाम-रूपात्मक दृष्टि के विषय में यह कहा जायगा कि इसके द्वारा आत्मा अपना स्वतंत्र अस्तित्व खो बैठता है। यदि वह आध्यात्मिक घटनाओं की एक शृंखला-मात्र है, तो वह शाश्वत शरीर का एक पुच्छलग्गा-मात्र बन जाता है; क्योंकि यह कहा जायगा कि एक आध्यात्मिक शृंखला में कोई अन्तर्निहित क्रमिकता नहीं होती और न वह वस्तुतः क्रमिक ही होती है, और न पुनः कोई ऐसी वस्तु ही प्रस्तुत करती है, जिसके विधेय के रूप में हम 'मनोदशाओं' को रख सकें। अतः नाम-रूपात्मक होने पर आत्मा शरीर का एक विशेषण-मात्र रह जाता है। (२) और दूसरी ओर से, यह कहा जायगा कि आध्यात्मिक शृंखला के लिए, अपनी उपाधि-रूप में, एक अतीन्द्रिय आत्मा अथवा अहंकार की आवश्यकता होती है, और वह वस्तुतः उसके बिना समझ में आने की वस्तु नहीं है। (३) और, तीसरा आक्षेप यह हो सकता है कि कोई ऐसा आध्यात्मिक तथ्य भी प्रस्तुत है जिसमें नाम-रूप के अतिरिक्त कुछ और भी है, और इसलिए हमारी आत्मा की परिभाषा ठीक नहीं है। मैं इन आक्षेपों के विषय में क्रमानुसार कुछ कहने का प्रयत्न करूँगा।

(१) मुझे आगे चलकर यह देखना पड़ेगा कि आत्मा को केवल देह का विशेषण-मात्र समझना असम्भव है। और इसलिए मैं इस समय इस विषय में कुछ भी नहीं कहूँगा। परन्तु आक्षेप हो सकता है कि कम-से-कम आप शरीर से ही काम क्यों नहीं लेते ? आप आत्मा को केवल आध्यात्मिक व्यंजकों द्वारा व्यक्त करने का कष्ट क्यों करते हैं ? क्या उन आध्यात्मिक तथ्यों को आत्मा कहना अच्छा नहीं होगा जो यदा-कदा किसी शरीर के भीतर अन्व किए जाते हैं ? मुझे इसका नकरात्मक उत्तर देने के लिए विवश होना पड़ता है। मनोविज्ञान में सम्भवतः ऐसी परिभाषा हमें गलत रास्ते पर तो नहीं ले जायगी, परन्तु, फिर भी, वह अशुद्ध और सुकाट्य ही रहेगी। क्योंकि विशेष करके निम्न अंग की श्रेणियों में, किसी अकेले अंगी की सीमा निर्धारित करना सरल नहीं है। और फिर हम संभवतः अंगी की परिभाषा एक अकेले आत्मा के सम्बन्ध से देना चाहें, और यदि यह बात है, तो हम एक कुचक्र में पड़ जायेंगे। और फिर यह भी निश्चित नहीं है कि आत्मा और शरीर की एकरूपताओं में तादात्म्य है, मेरा अनुभव

है कि हमें इस बात का विश्वास नही कि एक आत्मा के शरीरों की एक परम्परा नहीं हो सकती। और, किसी अवस्था में हम निश्चित रूप से यह नहीं जानते कि एक शरीर एक आत्मा से अधिक के प्रति आंगिक नहीं हो सकता। यह सम्भव है कि एक ही शरीर में, एक ही समय, एक से अधिक आध्यात्मिक केन्द्र हों, और कई शरीर किसी उच्चतर अज्ञात आत्मा के अंगरूप में हों। और यदि हम इन सम्भवों की अपेक्षा इनको सैद्धान्तिक मात्र कह दें, तो भी हमें मानसिक रोग के तथ्यों को स्वीकार करना पड़ेगा। यह बहुत कुछ संदिग्ध प्रतीत होता है कि कुछ प्रसंगों में आत्मा को परम्परित एकता रखने वाला कहा जाय अथवा उसे ठीक-ठीक अकेला कहा जाय। और फिर अन्त में एक प्रश्न (जिसको हम आगे पुनः ग्रहण करेंगे) यह रह जाता है कि आत्मा के अस्तित्व के लिए सभी अवस्थाओं में एक शरीर आवश्यक है या नहीं ? सम्भवतः इस प्रश्न के द्वारा हमें अपनी आत्मा की परिभाषा में शरीर को प्रविष्ट न करना उचित ठहरा दिया है।[1]

परन्तु इसका प्रवेश हुए बिना आत्मा का क्या होता है ? आक्षेप किया जायगा कि किसी भी समय आप आत्मा के विषय में क्या कहेंगे कि वह अमुक है; विशेष करके उन अवसरों पर जब कि किसी भी आध्यात्मिक वस्तु का अस्तित्व नहीं होता ? और आप आत्मा की मनोदशाओं तथा आश्रित मनोवृत्तियों को वहाँ रखेंगे, क्योंकि, प्रथम तो आध्यात्मिक शृंखला अटूट नहीं है, और दूसरे मनोदशाएँ आध्यात्मिक घटनाएँ नही हैं। तो क्या फिर आप शरीर को पुनः एक क्रमागत धरातल मानने के लिए बाध्य नहीं हो जाते ? यह एक गम्भीर आक्षेप है, और यद्यपि हमारा उत्तर संभवतः पर्याप्त सिद्ध हो, परन्तु मेरी समझ में कोई उत्तर पूर्णतया सन्तोषजनक नहीं हो सकता।-

सर्वप्रथम, मैं एक क्रमागती-विषयक सिद्धान्त अथवा (मेरी समझ में) एक पूर्वाग्रह का निषेध करूँगा। हमें मानना पड़ेगा कि वास्तविक अस्तित्व या तो है अथवा नहीं

१. यहाँ मै इतना कह सकता हूँ कि मैं 'व्यक्तिगत' अथवा-'वैयक्तिक-दृष्टिकोण' वाक्यांशों को 'आत्मा' की परिभाषा को निश्चित करने में क्यों अनुपयोगी समझता हूँ। वैयक्तिक दृष्टिकोण से एक अनुभव-केन्द्र को समझाने का अभिप्राय यह है कि उसको आध्यात्मिक घटनाओं की एक शृंखला माना जाय। परन्तु यदि यह बात है, तो अभिप्राय केवल अभिप्रेत है। उसकी अभिव्यक्ति निश्चित रूप से नहीं हुई है; और व्यजंक व्यक्तिगत में आधिक्य और अपूर्णता दोनों ही दोष हैं, क्योंकि उसका अभिप्राय 'अणु' अथवा 'अहंकार' भी हो सकते हैं; और इस अवस्था में नाम-रूपत्मक से कुछ अधिक हो जाती है, और हमारे पास उसके बहुत्त्व का एक अणु से सम्बन्ध हो जाता है, जो कि एक ऐसी कठिनाई है, जो (जैसा कि हम देख चुके हैं) अगम है। दूसरी ओर 'वैयक्तिक'का अभिप्राय यह हो सकता है कि आत्मा की इयताएँ किसी भी अर्थ में अपने व्यक्तिगत अस्तिव से ऊपर नहीं उठ सकतीं। संक्षेप में, इस व्यंजक को ठीक उसी प्रकार परिभाषा भी आवश्यकता है जिस प्रकार उस विषय को, जिसकी परिभाषा के लिए यह प्रयुक्त होता है।

है, और इसलिए मैं इस बात से भी सहमत हूँ कि यदि समय के भीतर हो तो वह समाप्त होकर पुनः प्रकट नहीं हो सकता और इसलिए उसका क्रमगत होना अनिवार्य है। परन्तु, दूसरी ओर हम सिद्ध कर चुके हैं कि सत् का अस्तित्व कालगत नहीं है, अपितु वह केवल आभास-मात्र है। काल के भीतर हम जो देखते हैं वह आभास-मात्र है, और आभास के प्रसंग में हम ऐसा कोई कारण नहीं जानते जिससे कि वह समाप्त होकर, अपनी एकरूपता को बिना खोये हुए पुनः प्रकट न हो। एक 'क' नाम-रूप किन्हीं परिस्थितियों से उत्पन्न होता है, जो स्वयं उसके उत्पन्न होते से बदल जाती हैं। तब 'क' पूर्णतया अथवा अंशतः अस्तित्व से तिरोहित हो जाता है, परन्तु किसी अन्य परिवर्तन के समय, स्वयं को अंशतः अथवा पूर्णतया प्रकट करता है। 'क' उन परिस्थितियों के रूप में विलीन हो जाता है, जिनको अपने इस रूप में भी बने रहने की आवश्यकता नहीं, परन्तु जब उपर्युक्त परिस्थितियाँ पुनः उत्पन्न हो जाती हैं, तो 'क' का अस्तित्व पुनः हो जाता है। क्या हम यह कहेंगे कि ऐसी अवस्था में 'क' की एकरूपता दूसरी हो जाती है; मैं नहीं जानता कि किस सिद्धान्त के अनुसार; अथवा क्या हम यह आग्रह करें कि कम-से-कम इस बीच में, 'क' अस्तित्ववान् नहीं रहा जा सकता? परन्तु यह नहीं स्पष्ट प्रतीत होता कि किस आधार पर? यदि हम इन्द्रधनुष, जलप्रपात अथवा हिम-रूप में जल का परिवर्तन आदि के सामान्य उदाहरण लें तो हम व्यर्थ ही, कामचलाऊ सुविधा के अतिरिक्त किसी अन्य नियम की खोज करेंगे। हमें विश्वास है कि भौतिक अणु और उनकी गति अपरिवर्तित रूप में चलती रहती है, और उनका अस्तित्व खंडित होने पर, पूर्णतया नष्ट हो जायगा। परन्तु जब यह अणु पीछे छूट जाते हैं तो क्या हम किसी नियम को पाने का बहाना भी कर सकते हैं? हम किसी शरीर को तद्रूप कह देते हैं; यद्यपि हम यह नहीं समझते हैं कि उसके अणु ज्यों-के-त्यों रहे हैं, अथवा नहीं। हम उसको तद्रूप कहते हैं क्योंकि उसका गुण न्यूनाधिक में वही रहता है, और क्योंकि वह गुण न्यूनाधिक में सदा से वही रहा है। परन्तु यह बात स्पष्टतः से निःसन्देह दूर है कि कोई अन्तराल क्यों घातक होगा। और वस्तुतः हम इस निष्कर्ष पर जा पहुँचते हैं कि हम बिना किसी तर्कपूर्ण आधार के तर्क कर रहे हैं। जैसे ही कोई कालगत अस्तित्व आभास-रूप में प्रतीत होता है, वैसे ही उसके समाप्त न हो जाने और पुनः प्रकट होने के लिए मुझे कोई कारण दिखायी नहीं पड़ता, और एक ऐसे शरीर को स्वीकार करके, जिसमें मूलतत्व एक स्थायी नहीं माना जाता, हम नियम के बहाने तक को छोड़े हुए प्रतीत होते हैं।[1]

१, एकरूपता के विषय में और विस्तार के लिए देखिए—आगे और तुलना कीजिए—अध्याय ९।

एक और भी वात है जिस पर आगे वढ़ने से पूर्व ध्यान देना अच्छा होगा। हमने पिछले अध्याय में देखा कि प्रकृति के एक अंश को वास्तविक अस्तित्व से युक्त शायद ही कहा जा सके (पृ० २४५)। उसका कुछ भाग (कम-से-कम कभी-कभी) केवल काल्पनिक अथवा केवल संभाव्य प्रतीत हुआ और यहाँ मैं इसी मीमांसा को शरीर के विषय में प्रस्तुत करूँगा। मेरा शरीर सत् है, क्योंकि उसका अस्तित्व क्रमागत है, परन्तु दूसरी ओर यदि वह अस्तित्व वास्तविक है, तो क्या हम उसको क्रमागत कह सकते हैं? जहाँ तक हम जानते हैं, मेरे शरीर के अनिवार्य गुण (ये कुछ भी क्यों न हों) सदा अवश्य ही नहीं जाने जाते। परन्तु यदि यह वात है कि कभी-कभी उनका अस्तित्व प्रतीति के लिए अपितु केवल विचार के लिए होता है तो निःसन्देह कभी-कभी उनका अस्तित्व भी नहीं होता और इसलिए क्रमागति भंग हो जाती है। इस प्रकार हमको विवश होकर दूसरी वहुत गम्भीर स्वीकृति करनी पड़ी है। कालगत क्रमागत की अनिवार्यता के विषय में हम न केवल अज्ञ हैं, अपितु जहाँ तक शरीर का प्रश्न है, हम यह भी नहीं जानते कि उसमें ऐसी कोई क्रमागति है भी या नहीं। कभी-कभी तो, उसका अस्तित्व सम्भाव्य रूप में, और केवल उसकी परिस्थितियों के वीच ही प्रतीत होता है। यह एक इस प्रकार अस्तित्व है जिस पर हम अगले अध्याय में चर्चा करेंगे, परन्तु वह किसी भी हालत में वास्तविक तथा ठीक-ठीक अस्तित्व नहीं है।

इस सामान्य चर्चा के वाद हम उन कठिनाइयों को ले सकते हैं जो आत्मा-विषयक हमारे निजी मत के विरुद्ध उठायी गयी हैं। हमने आत्मा को आध्यात्मिक घटनाओं की शृंखला कहा है। और इस विषय में यह आक्षेप किया गया है कि यदि ऐसा है, तो हम यह नहीं वता सकते कि किसी एक काल-विशेष पर आत्मा क्या है। परन्तु मेरा उत्तर यह है कि किसी एक काल-विशेप पर आत्मा का अभिप्राय उस आध्यात्मिक तथ्य की तत्काल-विशिष्ट सामग्री से है जो अपने वास्तविक अतीत और उसका प्रतिवन्ध भविष्य के सहित हो अथवा जव तक अन्तिम वाक्यांश की व्याख्या नहीं हो जाती, तव तक हम यही कह कर सन्तोष कर सकते हैं कि उन्हीं आध्यात्मिक घटनाओं को आत्मा कहा जाय जो अभी हैं, और पहले से रहे है। और मैं यह मानता हूँ कि यह विवरण किसी वस्तु को ऐसे विशेपणों के द्वारा विशिप्ट करता है जिनका अस्तित्व नहीं है, और उसको एक अन्तिम सत्य की अभिव्यक्तिकर रूप में प्रस्तुत करना पूर्णतया खंडनीय होगा। परन्तु मैं फिर कहूँगा कि ऐसी अवस्था में, आत्मा स्वयं अन्तिम तथ्य नहीं है; वहएक आभास-मात्र है। और उसके प्रत्येक वर्णन में असंगति रहना आवश्यक है। और यदि किसी को आपत्ति हो, तो उसको एक ऐसे पिंड की परिभाषा देने के लिए कहा जाय जो किसी एक चाल से गति में है और उससे ऐसी परिभाषा माँगी जाय जिसमें भूत

अथवा भविष्य को वर्त्तमान का विधेय न बनाया जाय। और, यदि वह ऐसी परिभाषा देने का प्रयत्न करेगा, तो मेरे विचार में वह सम्भवतः विश्वास खो बैठेगा।

परन्तु हमने अभी तक यह नहीं बताया कि 'मनोदशाओं' से हमारा क्या अभिप्राय है। हमको यह स्मरण कराया जायगा, आखिर आत्मा में भी कोई न कोई स्वरूप होता है, यदि मौलिक नहीं तो कम-से-कम अर्जित ही सही। और हम निःसन्देह कहते हैं कि वह है, परन्तु उसके कारण जिसकी हम उससे अपेक्षा करते हैं। आत्मा की आदतें और प्रवृत्तियाँ उसके स्वभाव के आवश्यक अंग हैं, और दूसरी ओर, वे आध्यात्मिक घटनाएँ भी नहीं हो सकते। इसलिए आक्षेप यह है कि वे आध्यात्मिक बिल्कुल हैं ही नहीं, अपितु वे केवल भौतिक तत्त्व हैं। अब इसका उत्तर यह है कि एक मनोदशा 'भौतिक' होते हुए भी, इतने पर भी, एक वास्तविक तथ्य नहीं हो सकती है। जब तक हम उसकी ऐसी परिभाषा न देखें, जिसमें न तो भूत और भविष्य का कोई उल्लेख हो; और न उपहित तथा संभावित का कोई संकेत हो, तब तक मैं यह नहीं मान सकता कि वह भौतिक तत्त्व के रूप में परिणत हो गया है। परन्तु इस अवस्था में भी, मुझे वह परिणति स्वीकार नहीं करनी चाहिए, क्योंकि मैं समझता हूँ कि सुविधा की दृष्टि से हमें 'उपहित' के प्रयोग का सर्वत्र अधिकार है। इस व्यंजक के ठीक-ठीक अर्थ की गवेषणा हम अगले अध्याय में करेंगे परन्तु मैं यहाँ संक्षेप में यह बतलाने का प्रयत्न करूँगा कि हम उसको आत्मा पर कैसे लागू करते हैं। जब हम यह कहते हैं आत्मा में किसी प्रकार की मनोदशा है, तो हम वर्त्तमान तथा भूत के आध्यात्मिक तथ्यों को उद्देश्य के रूप में लेते हैं, और हम ऐसे अन्य आध्यात्मिक तथ्यों को उस उद्देश्य का विधेय बना देते हैं, जिनके रूप में हमारी समझ से वह परिणत हो सकता है। वर्त्तमान में आत्मा ऐसा है कि वह उन परिस्थितियों का एक अंग है जो विरत हो जाने पर कुछ आध्यात्मिक घटनाओं को जन्म दे देगी; और इसलिए आत्मा की इन घटनाओं की वास्तविक सम्भावना ठीक उसी प्रकार से है, जिस प्रकार से अँधेरे में स्थित पदार्थ के रंग की संभावना होती है। जब कोई तथ्य अमुक प्रकार से हो और पहले से रहे हों, तो अपने निष्कर्ष को संक्षेप में इस प्रकार कहना अधिक सुविधाजनक है कि वे भविष्य में भी तथैव रहेंगे। परन्तु यदि हम मनोदशाओं को आत्मा के वास्तविक गुणों में परिवर्तित कर दें तो हमें उनके विषय में बोलने का कोई अधिकार नहीं। इस प्रयत्न से हम विवश हो जायेंगे कि और अधिकाधिक परिस्थितियों को स्वीकार करते हुए उद्देश्य का विस्तार करते रहा जाय, और अन्ततोगत्वा हम समस्त विश्व को ही उद्देश्य बना डालें।[1] मैं स्वीकार करता हूँ कि आत्मा के विषय

१. मैं इस बात की व्याख्या अगले अध्याय में करूँगा।

में जो अविधेय नहीं है और जो केवल अनुमेय है, उसको विधेय बनाना नितान्त निरं-कुशतापूर्ण तथा असंगतिपूर्ण है। परन्तु नाम-रूपों का निरूपण करते समय हम कहीं भी असंगति अथवा निरंकुशता से नहीं बच सकते। यदि हमने मनोदशा को आध्यात्मिक घटनाओं के संभावित प्रवाह से अधिक माना है, तो हमें इन दोषों को कम न करके और अधिक बढ़ाना चाहिए।

परन्तु मुझे फिर स्मरण कराया जायगा कि आत्मा काल के भीतर क्रमागत नहीं है; क्योंकि आध्यात्मिक शृंखला में अन्तराल तथा छेद भी हैं। मैं इसको अस्वीकार करने का प्रयत्न नहीं करूँगा। हम अज्ञात आलोचनों का अवश्य सहारा ले सकते हैं और आग्रह कर सकते हैं कि, किसी भी अवस्था में, और सदा ही वे किसी हद तक रहते ही है, और इस प्रकार की कल्पना को शायद ही असत्य ठहराया जा सके। परन्तु मैं नहीं समझता कि पर्याप्त आधार पर इसको उचित ठहराया जा सकता है, और मैं स्वीकार करूँगा कि आध्यात्मिक शृंखला या तो है, अथवा सर्वथा उसके भग्न होने की सम्भावना है।[१]

परन्तु, दूसरी ओर, यह स्वीकृति नितान्त महत्त्वहीन प्रतीत होती है। मैं ऐसा कोई कारण नहीं पा सका, जिससे एक आत्मा का अस्तित्व समाप्त तथा पूर्वारब्ध होने पर, एक रूप न रहे। स्मृति पृथक् भी, यदि ये इन विभाजित अस्तित्वों में एक ही गुण दिखायी पड़े, तो हमें उनको एक ही कहना चाहिए, अथवा, यदि हम यह न मानें, तो हमें अपनी अस्वीकृति को उचित ठहराने के लिए कोई कारण नहीं ढूँढ़ना चाहिए। हम आग्रह कर सकते है, कि कम-से-कम, अन्तराल के समय आत्मा अन्यत्र रही, अन्यथा यह कह सकते हैं कि यह अन्तराल सर्वथा, अत्यधिक लम्बा नहीं होना चाहिए। परन्तु, जहाँ तक मैं समझता हूँ दोनों ही अवस्थाओं में हमारा कथन निराधार होगा; दूसरी ओर, आध्यात्मिक एकरूपता के लिए आवश्यक। गुणात्मक सदृश्य की मात्रा किसी सिद्धान्त पर निश्चित की हुई नही प्रतीत होती (अध्याय ९) और सम्पूर्ण निष्कर्ष जो हम निकाल सकते है, वह यह है कि कालात्मक शृंखलाओं की विभूतियाँ कोई ऐसे कारण नहीं, जिनके आधार पर हम उसको एक ही आत्मा न मानें।

मुझ से प्रश्न किया जा सकता है कि तो आप आन्तरिक काल में आत्मा के अस्तित्व को क्या बतायेंगे? अपनी ओर से मेरा उत्तर यह है कि मैं कदापि उसके अस्तित्व की बात नही कर सकता, जब तक कि वह प्रकट न हो। ठीक-ठीक हम जो कुछ कह सकते

---

१. अज्ञात अवस्थाओं का प्रयोग मेरी सम्मति में 'मनोदशाओ' की व्याख्या करने के लिए भी किया जा सकता है। मैं यह भी कह सकता हूँ कि मेरी सम्मति में निश्चित सीमाओं के मध्य मनोविज्ञान को अज्ञात आध्यात्मिक तथ्यों का प्रयोग करना पड़ेगा।

हैं वह यही होगा कि वस्तुत: आत्मा नहीं है, यद्यपि वह अब तक रहा है और आगे भी उसके रहने की सम्भावना है। और हम ऊपर कह चुके हैं कि अनन्ततत्व के अन्तरालों के विरुद्ध हमें कोई प्रमाणिक आक्षेप नहीं हो सकता। परन्तु यदि मैं ठीक-ठीक नहीं, अपितु व्यावहारिक सुविधा को देख कर कहूँ तो हम सम्भवत: यह कह सकते हैं कि इन अन्तरालों में आत्मा फिर भी बनी रहती है। हम सम्भवत: यह भी कह सकते हैं कि परिस्थितियों में ही वह विलीन हो गयी है और परिस्थितियाँ ही सम्भवत: उसे पुनः उत्पन्न कर देंगी। और शरीर इन परिस्थितियों का प्रमुख अंग होने के कारण हम सम्भवत: 'संभाव्य' आत्मा का शरीर के साथ तादात्म्य स्थापित करना अधिक सुविधाजनक समझें। यह सुविधाजनक हो सकता है परन्तु हमें याद रखना चाहिए कि यह वस्तुत: गलत है, क्योंकि प्रथम तो परिस्थितियाँ एक वस्तु हैं और वास्तविक तथ्य बिल्कुल दूसरी वस्तु। इसके अतिरिक्त शरीर किसी भी कल्पना के अनुसार आत्मा के लिए आवश्यक सभी परिस्थितियों की समष्टि नहीं है। पर्यावरण के प्रभाव को पूर्णतया छोड़ना असम्भव है, और, तीसरे, एक और विचार है, जिस पर मुझे जोर देना चाहिए। यदि आत्मा किसी ऐसी वस्तु में क्षीण होकर विलीन हो सकता है, जो उसको पुनः प्रादुर्भूत कर सकती है, तो क्या शरीर के विषय में भी ठीक वही बात नहीं कही जा सकती? क्या यह कल्पना नहीं की जा सकती कि जिस अन्तराल से आत्मा 'उपहित' होता है, उस समय शरीर को भी इन्हीं परिस्थितियों में घुल-मिल जाना चाहिए, जो बाद में उसको पुनर्जन्म दे सकें? परन्तु यदि यह बात हो, तो जिन बाह्य परिस्थितियों को संभवत: हम, इस समय आत्मा मानते हैं, वे निश्चित रूप से ठीक-ठीक शरीर कदापि नहीं हो सकते। वस्तुत: यह घटना हमारी ज्ञान में नि:सन्देह नहीं घटित होती। हम नहीं देखते कि शरीर विलीन हो जाते हों और उनका एक बार पुनः निर्माण होता हो, परन्तु केवल इसी आधार पर हमें इसकी संभावना को अस्वीकार करने का अधिकार नहीं। और यदि यह संभव है तो मैं तुरन्त निम्नलिखित निष्कर्ष प्रस्तुत करूँगा। आप सुविधा की दृष्टि से को छोड़कर और किसी प्रकार भी आत्मा की परिस्थितियों को शरीर के साथ एक रूप नहीं कर सकते। और आप नहीं कह सकते कि शरीर का परंमपरित अस्तित्व आत्मा की एकरूपता और एकता के लिए वस्तुत: आवश्यक है।[1]

अब हम आत्मा की क्रमागति के विषय पर चर्चा कर चुके और उसकी मनोदशाओं पर भी कुछ कह चुके। और दूसरी प्रकार के आक्षेपों का उत्तर देने के पहले मैं यहाँ

---

१. केवल भौतिक परिस्थितियों से आत्मा कैसे उद्भूत हो सकता है, इस बात की छानबीन मैं आगे करूँगा।

पर एक मिथ्या धारणा को दूर करने का प्रयत्न करूँगा। आत्मा एक प्रत्यात्मक सृष्टि है, परन्तु एक सृष्टि किस कर्त्ता के द्वारा ? क्या हम यह मान सकते हैं कि आत्मा का अस्तित्व केवल उसके अपने लिए ही है ? यह निःसन्देह एक भूल होगी क्योंकि हम कह सकते हैं कि आत्मा का अस्तित्व स्मृति से भी पूर्व है, और उस समय भी है जब वह स्मरण नहीं करता। आत्मा का अस्तित्व सदैव किसी आत्मा के लिए है परन्तु सदा अपने लिए ही नहीं। और उसको प्रत्यात्मक सृष्टि इसलिए नहीं कहा जाता कि वह आध्यात्मिक है, अपितु इसलिए कहा जाता है कि मेरे शरीर की भाँति ही वह काल के भीतर प्रकट होने वाली एक शृंखला है। वही कठिनाई समस्त नाम-रूपात्मक अस्तित्व के साथ है, जो विचारक भूत-भविष्य तथा किसी के लिए भी अगोचर रहने वाली प्रकृति पर चिन्तन करता है। कम-से-कम उसके लिए तो इनका अस्तित्व अवश्य है, परन्तु इसका न तो यह अभिप्राय है कि इन वस्तुओं की अन्तिम सत्ता विचार का विषय होने में ही निहित है। और न इसका अभिप्राय यह है कि उनका अस्तित्व सान्त आत्माओं के वाहर है। और इसका अभिप्राय यह भी नहीं कि जो सत् है वह वास्तविक उपस्थापनाओं के विचार का समावेश कर देने से ही उत्पन्न हो जाता है। कालगत अव्यवहित अनुभव और विचार दोनों ही समान रूप से मिथ्या-आभास-मात्र हैं और एकत्र होने में प्रत्येक को अपना-अपना विशिष्ट स्वाभाव छोड़ना पड़ता है। परम सत् के भीतर न तो किसी क्षण-विशेष का अस्तित्व है और न कोई प्रत्यात्मक सृष्टि। प्रत्येक एक उच्च और सर्वात्मक सत् में विलीन हो जाता है (अध्याय २४)।

२. अभी तक हम देख चुके हैं कि आत्मा विषयक हमारी नाम-रूपात्मक दृष्टि आत्मा को शरीर पर आश्रित एक विशेषण की कोटि में नहीं परिणत कर डालती। क्या हम अन्य आधारों पर आश्रित आक्षेपों का उत्तर दे सकते हैं ? यह कहा जा सकता है--आध्यात्मिक शृंखला को एक आत्मा अथवा अहंकार-जैसी परे रहने वाली और शृंखला को एकता प्रदान करने वाली किसी अतीन्द्रिय वस्तु की आवश्यकता पड़ती है।

परन्तु मेरा उत्तर है कि इस प्रकार का आत्मा हमारी पुरानी कठिनाइयों में केवल और वृद्धि ही करता है। इसमें सन्देह नहीं कि नाम-रूपात्मक होने से शृंखला सत् का आभास-मात्र है परन्तु इसका यह निष्कर्ष नहीं कि उसका सत् एक अहं अथवा आत्मा है। हम देख चुके हैं (अध्याय १०) कि सान्त होने के कारण इस प्रकार की किसी भी सत्ता में अन्य सान्त वस्तुओं के साथ उसका सम्वन्ध होने से दोष आ जाते हैं। और घटनाओं की शृंखलाओं को एकता प्रदान करनेसे वह दूसरी सान्त इकाई की भाँति वहुत्त्व के वाहर खड़ी रहती है। आप यह नहीं दिखा सकते कि शृंखला आत्मा के भीतर किसी प्रकार एक तंत्र वन सकती है। और यदि आपके लिए हो तो भी आप का आत्मा

आध्यात्मिक शृंखला के भीतर एक स्थान और अवधि रखती है, अन्यथा वह अनुभव अनुभव का एक अंग नहीं हो सकती । परन्तु एकता स्वयं केवल घटनाओं का एक पक्ष, अथवा घटना है, और निःसन्देह प्रत्यात्मक है ।

आक्षेप हो सकता है कि, नहीं, आत्मा की एकरूपता तथा क्रमागति इससे कुछ और अधिक है । वह प्रस्तुत के अन्तर्गत नहीं आ सकती, क्योंकि सभी प्रस्तुत सावधि होते हैं । और वह एक प्रत्यात्मक इयत्ता के रूप में भी नहीं हो सकती, क्योंकि उस अवस्था में वह सत् नहीं हो सकती । अतः उसको किसी-न-किसी प्रकार नाम-रूप के साथ, इस ढंग से आना चाहिए कि वह आध्यात्मिक शृंखला के भीतर एक घटना के रूप में घटित न हो । परन्तु जैसे ही हम इस दावे पर विचार करते हैं, वैसे ही उसकी असंगति स्पष्ट हो जाती है । यदि किसी वस्तु का अनुभव अभी अथवा सदैव प्रस्तुत के साथ होता, तो वह (चाहे वह कुछ भी हो) निःसन्देह एक शृंखला के भीतर स्थान अथवा स्थानों से युक्त, एक आध्यात्मिक घटना होगी । परन्तु, दूसरी ओर, इसके विपरीत किसी भी अर्थ में, यदि मेरे इतिहास में उसको कोई स्थान अथवा अवधि नहीं प्राप्त है, तो आप हमें यह मानने को वाध्य नहीं कर सकते कि वह मेरे अनुभव का एक तनिक भी अंग है । संक्षेप में, मैं नहीं समझता कि कोई वस्तु जब तक वहाँ पर प्रवेश करने तथा अपना स्थान ग्रहण करने के लिए किसी ओर से तैयार नहीं की जाती, तब तक वह वस्तु वहाँ कैसे आ सकती है ? और, यदि उसको अनुभव का एक तथ्य नहीं होना है, तो फिर, वह कुछ भी नहीं होगी । और मुझे सन्देह है कि जब तक किसी पूर्व स्वीकृत सिद्धान्त के निमित्त अथवा उसके बचाव के लिए कोई प्रयत्नशील न हो, जब तक कोई भी घातक और बेतुके दावे को प्रस्तुत करेगा । कालगत नाम-रूप वास्तविक नहीं, इसलिए कालात्मक की अपेक्षा कुछ और अधिक होना चाहिए, परन्तु हम गलती से यह मान लेते हैं कि कोई वस्तु तब तक सत् नहीं होती, जब तक कि उसका अस्तित्व एक वस्तु के रूप में नहीं होता, इसलिए कोई कालातीत तत्त्व किसी-न-किसी प्रकार, और कहीं-न-कहीं उसके अतिरिक्त होगा । ये तत्त्व एक जगत् या एक आत्मा अथवा एक अहम है, जिसका अवतरण हमारी शृंखला में नहीं होता वह कदापि वहाँ स्वयं अवतरित नहीं होता । यद्यपि हमें, संभवतः विवश होकर, यह कहना पड़ता है, कि वह कार्यकर्त्ता है, और वह अपने को चरितार्थ करता है । परन्तु यह तर्कहीन प्रभाव और स्थिति केवल हमारी मिथ्या कल्पना से उद्भूत होती है । हम शृंखला से परे जाने का प्रयत्न करते हैं, जब कि हम वास्तव में यह बात स्वीकार नहीं करते कि कोई वस्तु, जब तक वहाँ पर एक अंग नहीं है तब तक वह सत् होगी, क्योंकि हमारा परलोक, हमारा

आत्मा और हमारा अहम् जिनका अस्तित्व कालात्मक घटनाओं के अतिरिक्त है, वे केवल सान्त वस्तुओं के रूप में जाते हैं। वे केवल नाम-रूपों की पुनरावृत्ति करते हैं, वे केवल आभास के जगत् को दोहरा करते हैं। वे हमारी प्रस्तुत समस्या को पूर्ववत उलझा हुआ और बिना कोई समाधान किये हुए छोड़ देते हैं, और इसके अतिरिक्त वे हमारे ऊपर एक और उलझन लाद देते हैं। अब हमारे पास न केवल एक ऐसा दूसरा अस्तित्व होता है जो पहले से तनिक भी अच्छा नहीं होता, अपितु हमें यह भी व्याख्या करनी पड़ती है कि इनमें से एक किस प्रकार दूसरे पर आधारित होता है अथवा उसको प्रभावित करता है; और परिणाम होता है एक स्पष्ट आत्म-विरोध अथवा अविचारपूर्ण अस्पष्टता। परन्तु इसका प्रतिकार यह है कि हम अपने को निराधार पूर्वाग्रह से मुक्त करें और सत् की खोज वस्तुओं के अस्तित्व की अपेक्षा और कहीं करें। क्रमागति और एकता, परलोक और अहम् वस्तुतः कोई अस्तित्व नहीं रखते। वे प्रत्ययात्मक हैं और इस दृष्टि से वे तथ्य नहीं हैं। परन्तु फिर भी उनकी सत्ता है जो कम-से-कम कालात्मक घटनाओं से कम नहीं हैं। हमको स्वीकार करना पड़ेगा कि पूरे अर्थ में न तो प्रत्ययात्मकता और न अस्तित्व ही वास्तविक है। परन्तु आप एक के एकांगी-निषेध से छलांग मार कर दूसरे के एकांगी-प्रतिपादन पर नहीं जा सकते। यहाँ प्रयत्न एक मिथ्या-विकल्प पर आश्रित है, और प्रत्येक अवस्था में, उसका परिणाम आत्मविरोध होता है।

अहम् के विषय में कुछ यहाँ पर कहना, नीरस होते हुए भी संभवतः आवश्यक है। क्रमागति और एकता को प्रत्ययात्मक न समझने के कारण ऐसे प्रयत्न उत्पन्न हो गये, जो अहम् को एक वास्तविक तथ्य के रूप में अस्तित्व रखते हुए देखना चाहते हैं। यह अहम्, एक ओर तो किसी प्रकार एक तत्त्व के रूप में अनुभव किया जाता है और दूसरी ओर उसका अस्तित्व एक अथवा अनेक घटनाओं के रूप में होना नहीं चाहिए ; और यह प्रयत्न स्वभावतः विफल जाता है, क्योंकि जिस रूप में हम आत्मा को पाते हैं वह निःसन्देह उस रूप में सत्तावान है। उसमें सदा ही एक इयत्ता की विशेषता होती है।[1] अहम् और अन-अहम् किसी भी समय सामान्य रूप में नहीं, अपितु एक विशिष्ट रूप में अनुभव किये जाते हैं। परन्तु, ऐसा कोई भी आभास, स्पष्ट रूप से शृंखला के भीतर एक निश्चित स्थान-प्राप्त, एक आध्यात्मिक घटना है ; और इस प्रसंग में, मैं निम्नलिखित सरपंच को प्रस्तुत करता हूँ। यदि

---

१. मुझे इतना और कहना चाहिए कि मैं अहम् को एक आहृत परिणाम मानता हूँ-(माइन्ड संख्या ४७)। परन्तु उपर्युक्त तर्क इस निष्कर्ष से नितान्त स्वतन्त्र है।

आपके अहम् में कोई सत्ता नहीं, तो वह कुछ भी नहीं है ; और इसलिए उसको अनुभव नहीं किया जा सकता। परन्तु दूसरी ओर यदि वह कुछ भी है तो वह एक कालगत नाम-रूप है। परन्तु प्रतिपक्ष कह सकता है कि कदापि नहीं, क्योंकि अहम् श्रृंखला के बाहर है, और केवल उससे सम्बद्ध-मात्र है, और सम्भवतः उसको प्रभावित करना है। मैं नहीं समझता कि इस बात से हमें क्या सहायता मिलती है। मैं तो फिर वही कहूँगा कि यदि आपके अहम् की कोई इयत्ता नहीं है, तो वह कहीं भी कुछ भी नहीं है; और इस कुछ नहीं तथा कुछ का सम्बन्ध, और पुनः किसी पर उसका प्रभाव, यह सब बातें नितान्त अर्थहीन हैं। परन्तु दूसरी ओर, यदि अहम् की कोई इयत्ता है, तो तर्क निमित्त यदि आप चाहें तो आप कह सकते हैं कि उसका अस्तित्व है ; परन्तु, किसी भी अवस्था में वह बहिर्गत रह जाता है, और अनुभव के भीतर बिल्कुल नहीं आता है। प्रतिपक्ष फिर कहेगा कि, नहीं, वह वहाँ पर स्वतः नहीं आता अथवा यों कहें कि वह कदापि स्वयं प्रकट नहीं होता, परन्तु नाम-रूपों से उसका सम्बन्ध अथवा उस पर उनका प्रभाव निश्चित रूप से किसी-न-किसी प्रकार अनुभव किया जाता है, अथवा कम-से-कम जाना जाता है। इस उत्तर में स्थिति बदली हुई-सी प्रतीत होती है परन्तु वह वस्तुतः ज्यों-की-त्यों है और वह केवल हमें फिर उसी सशपंज में डाल देती है। जब तक आपके पास कोई और ऐसा व्यंजक नहीं है, जिससे कि वह सम्बद्ध हो, तब तक आप किसी भी अर्थ में एक सम्बन्धवान् व्यंजक को जानने में, या प्रत्यक्ष करने में, अथवा अनुभव करने में समर्थ नहीं हो सकते। और यदि हम केवल इस पर विचार करें तो निःसन्देह वह स्वतः स्पष्ट हो जाता है। अच्छा तो, या तो आपको किसी वस्तु से नाम-रूपों को कोई सम्बन्ध बिल्कुल मिला नहीं, अथवा दूसरा व्यंजक आपकी वस्तु, अहम् तथा शेष वस्तुओं में अपना स्थान ग्रहण करता है। वह आध्यात्मिक घटनाओं के बीच एक दूसरी घटना बन जाता है।[1]

एक मूलतः असत्य तथा (जैसा कि हम देख चुके हैं) कुत्सित विकल्प पर आश्रित मत-प्रपंच में पड़ना व्यर्थ होगा। जो वस्तु घटना की अपेक्षा कुछ अधिक है उसको दूसरी दृष्टि से अस्तित्ववान भी होना चाहिए, और उसको कालात्मक श्रृंखला

---

१. यदि अहम् पर क्रिया का आरोप किया जाय तो वस्तु-स्थिति और भी खराब हो जाती हैं क्योंकि क्रिया में काल की क्रमागति निहित दिखलायी जा चुकी है। अध्याय -७। यहाँ पर पाठक को यह याद दिला दूँ कि नाम-रूपों और सत् के बीच सम्बन्ध की बात करना बिलकुल गलत है। सान्त वस्तुओं को छोड़कर अन्यत्र सम्बन्ध जैसी कोई वस्तु नहीं। यदि हम इसके विपरीत कहते हैं, तो यह हमारी स्वच्छन्दता होगी।

के एक सद्‌द्रव्य के रूप में अथवा उसके भीतर इस प्रकार प्रकट होना चाहिए, परन्तु जहाँ तक वह कालातीत है वह वहाँ तक प्रत्ययात्मक है, और, इस रूप में वह तथ्य नहीं है। उसको किसी प्रकार और भी अस्तित्ववान समझने का प्रयत्न उसको पुनः सान्त विशिष्टताओं के क्षेत्र में ला पटकता है। इस प्रकार, अपने सभी प्रयत्नों को करते हुए भी हम कदापि केवल घटनाओं के किसी जगत् के परे नहीं पहुँच सकते, और हम व्यर्थ ही एक ऐसे चक्र में घूमते हैं, जो हमको पुनः हमारे प्रारम्भिक स्थान को ले आता है। यदि सम्पूर्ण शृंखला का अनुभव एक बार में कर सकना और उसके विस्तार में एक अविभक्त समग्रता को ग्रहण करना सम्भव होता है, तो निःसन्देह कालातीत को एक तथ्य के रूप में अनुभव किया जाता। परन्तु इस अवस्था में एक ओर प्रत्ययात्मकता और दूसरी ओर घटनाएँ एक उच्चतर सत्ता-स्वरूप में समाप्त हो जाती हैं।

जिन आक्षेपों की चर्चा हम कर चुके हैं वे सब-के-सब निर्मूल दिखायी पड़े। निःसन्देह ऐसी कोई वस्तु अनुभव नहीं की जाती, जो एक घटना न हो। यद्यपि हम यह देख चुके हैं कि घटनाओं के भीतर उनको अतिक्रान्त करने वाला कोई तत्व होता है। सम्पूर्ण क्रमागति प्रत्ययात्मक है, और एक आध्यात्मिक शृंखला की एकता के विरुद्ध उपस्थित सभी तर्कों को हम अप्रामाणिक मान-चुके हैं, और न यह बात सिद्ध हो सकी कि आत्माविषयक हमारी नाम-रूपात्मक दृष्टि ने आत्मा को शरीर पर आश्रित एक विशेषण-मात्र बना डाला है, क्योंकि शरीर स्वयं भी नाम-रूपात्मक है। आत्मा और शरीर केवल आभास होने में समान हैं। और उनका सम्बन्ध केवल नाम-रूपात्मक सम्बन्ध है। अब हमें इस सम्बन्ध के विशेष-स्वरूप की ही आगे चर्चा करनी है।

पहले, मैं उस मत का उल्लेख करूँगा जिसे हम निःसन्देह अस्वीकार करते हैं। आत्मा और शरीर को सत् के दो पक्ष माना जा सकता है। अथवा ऐसी एक वस्तु माना जा सकता है, जो दो बार और अपनी सत्ता के दो पक्षों से समझी गयी हो, यहाँ मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचने के जो कारण हैं, उनके विषय में कुछ कहना नहीं चाहता और न उन विविध आक्षेपों की चर्चा करना चाहता हूँ, जो उनके विरुद्ध खड़े किये जाते हैं। मैं केवल संक्षेप में उस आधार का उल्लेख करूँगा जिस पर मुझे प्रस्तावित एकरूपता को अमान्य ठहराने के लिए विवश होना पड़ता। पहली बात तो यह है कि यदि हम अपना ध्यान नाम-रूपों तक ही सीमित रखें, तो मैं नहीं समझूँगा कि हम शरीर-सहित प्रत्येक आत्मा को शेष जगत् से इस प्रकार पृथक् करने में न्याय-संगत कहे जायँगे (पृष्ठ ३१६-२०); और यदि उसको आगे बढ़ाया

जाय तो इस सिद्धान्त के विरुद्ध एक भयंकर आक्षेप उपस्थित हो जाता है। यदि अन्त में आत्मा और शरीर को एक ही वस्तु होना मानें तो औचित्य कुछ भी हो परन्तु आपने अपने परम सत् के भीतर सान्त सत्ताओं के वहुत्व को मान लिया। परन्तु हम देख चुके हैं. कि ऐसा कोई भी निष्कर्ष पूर्णतः निर्मूल है, तो मैं यह समझने में असमर्थ हूँ कि प्रत्येक का विशिष्ट स्वरूप सुरक्षित रखने की क्या आवश्यकता है ?

इस वात का विश्वास होना एक वात है कि नाम-रूप का कोई तथ्य या पक्ष परम सत् में नष्ट नहीं होता, परन्तु यह मानना एक विलकुल दूसरी वात है कि प्रत्येक आभास जव वहाँ होता है तो अपना विशिष्ट स्वरूप वनाये रखता है। शरीर तथा आत्मा-जैसी वस्तुओं का यह स्वभाव है कि वे किसी उच्चतर वस्तु में एक अंग के रूप में मिल जायें अथवा विलीन हो जायँ।

और इस चर्चा के साथ-साथ हम प्रसिद्ध और अत्यन्त विवादग्रस्त प्रश्न पर आ पहुँचते हैं। क्या भौतिक और आध्यात्मिक के कोई कार्य-कारण-सम्वन्ध हैं और क्या हम यह कहें कि एक श्रृंखला दूसरे को प्रभावित करती है? सवसे पहले मैं उस मन को व्यक्त करूँगा जो सामान्यतः स्वतः ही उपस्थित होता है और फिर मैं संक्षेप में कुछ सिद्धान्तों की चर्चा करूँगा, और अन्त में एक अकाट्य निष्कर्ष को उपस्थित करने का प्रयत्न करूँगा। और सबसे पहले पूर्वाग्रह रहित पर्यवेक्षक में जो विश्वास होता है; वह यह है कि आत्मा शरीर को, शरीर आत्मा को प्रभावित करता है। मेरा अभिप्राय इससे यह नहीं कि केवल आत्मा केवल शरीर पर प्रभाव डालता हुआ प्रतीत होता; क्योंकि इस प्रकार का भेद-भाव और विशिष्टता एक और चिन्तन का परिणाम है। मेरा अभिप्राय यह है कि यदि आप विना कोई मत निर्धारित किये हुए तथ्यों को देखेंगे तो आपको पता लगेगा कि एक श्रृंखला के परिवर्तन (वह कोई भी क्यों न हो) प्रायः दूसरी श्रृंखला में परिवर्तन उपस्थित करने से सम्वन्ध रखते हैं। आध्यात्मिक और भौतिक प्रत्येक, समान रूप से एक-दूसरे में अन्तर पैदा करते हैं। यह स्पष्ट है कि आत्मा में जो परिवर्तन होते हैं, वे शरीरगत स्पन्दनों के परिणाम हैं, और यह भी कम स्पष्ट नहीं है कि शरीरगत स्पन्दन आत्मागत परिवर्तनों के परिणाम हों। हम संभवतः यह निश्चयपूर्वक कह सकते हैं कि किसी सिद्धान्त का आग्रह करने वाले व्यक्ति के अतिरिक्त कोई भी इस बात को अस्वीकार नहीं करेगा कि संकल्प-क्रिया में मस्तिष्क प्रकृति-तत्त्व को प्रभावित करता है। और दुःख और सुख के प्रसंग में इस प्रकार की अस्वीकृति तो और भी कम स्वाभाविक होगी। यह बात मानना कि व्यक्ति के भीतर सुख-दुःख गतिशील नहीं है, अपितु केवल-मात्र निष्क्रिय सहगामी हैं, और यह विश्वास करना कि अतीत विकासक्रम में उन्होंने कभी भी

किसी वस्तु में कोई परिवर्तन उपस्थित नहीं किया है, निःसन्देह एक सामान्य प्रेक्षक को जान बूझकर उपस्थित किया हुआ विरोधाभास है। और मैं स्वयं तो इसमें भी सन्देह करता हूँ कि इस सिद्धान्त को सामान्यतः स्वीकार करने वाले लोग भी इसके अर्थ को पूर्णतया समझते हैं या नहीं।

जो स्वाभाविक मत शरीर और आत्मा को परस्पर प्रभावित करने वाला मानता है उसको अन्त में हम आक्षेप-मुक्त पायेंगे। परन्तु अब हमें कुछ विरोधी निष्कर्षों पर विचार करना चाहिए। जो व्यक्ति किसी भी अर्थ में शरीर और आत्मा के पारस्परिक स्वभाव को अस्वीकार करता है, उसको अविशिष्ट संभावनाओं में से चुनाव करना पड़ेगा। हम या तो दो शृंखलाओं को स्वतन्त्र रूप से साथ-साथ चलते हुए मान सकते हैं, अथवा हम एक को दूसरे का आश्रित तथा विशेषण मान सकते हैं। और मैं पहले समानान्तर शृंखलाओं पर कुछ चर्चा करूँगा। परन्तु मैं इस मत के ऐतिहासिक विकास की अपेक्षा करके उसको केवल एक ऐसे विचार के रूप में ग्रहण करूँगा जो हमारे सामने आज ही उपस्थित हुआ हो।

प्रथम तो मैं यह कहूँगा कि यदि आप प्रदर्शन का आग्रह करते हों तो कार्य-कारण सम्बन्ध की स्वीकृति अथवा निषेध तो शायद ही सिद्ध हो सके। आप यह भले ही दिखला दें कि हम जिन सूत्रों को जानते हैं वह एक ही परिणाम की ओर संकेत करते हैं, और हमारे पास ऐसा कोई विशेष कारण नहीं जिससे कि हम परिणाम को असत्य मान लें। और इतना करने के पश्चात् आपने निःसन्देह अपने निष्कर्ष को सिद्ध कर दिया। परन्तु इसके पश्चात् भी संभावित के विषय में, एक सन्देह फिर भी रह जाता है और जब तक अन्य सभी सम्भावनाओं का निराकरण नहीं हो जाता, तब तक आप प्रदर्शन में असफल माने जायेंगे। हमारे सामने जो सिद्धान्त-विशेष प्रस्तुत हैं, उसमें मेरी समझ में इस प्रसंग की एक बात है। आत्मा और शरीर के यदृच्छा-संयोग को असम्भव नहीं दिखलाया जा सकता, परन्तु इस संभावना-मात्र को दूसरी ओर कोई ऐसा सबल कारण नहीं माना जा सकता, जिसके आधार पर इनके संयोग को तथ्य रूप में ग्रहण किया जाय। आभास, भौतिक तथा आध्यात्मिक शृंखलाओं के बीच एक कार्य-कारण की ओर संकेत करता है। और, फिर भी यह आभास सम्भवतः निम्नलिखित ढंग से उत्पन्न हुआ एक प्रदर्शन मात्र ही हो सकता है। प्रत्येक ओर कुछ ऐसी अन्य परिस्थितियाँ हो सकती हैं जो हमारी दृष्टि में नहीं आयी हों, और जो प्रत्येक शृंखला में परिवर्तनों का कारण उपस्थित करने के लिए पर्याप्त हों। और हम अपनी इस कल्पना को एक कदम और आगे भी ले जा सकते हैं। उसकी घटनाओं के बीच कोई कारण-कार्य-सम्बन्ध ही न हो,

दोनों ओर सम्भवतः अज्ञात परिस्थितियों की लीला ही एक शृंखला के आभास को उपस्थित करती हो। इस अवस्था में परम्परित तथ्य एक नियमित क्रमवद्धता दिखलायेंगे, परन्तु वे प्रस्तुत किसी जुड़ी हुई शृंखला की कड़ियाँ अथवा अंग नहीं होंगे। मैं नहीं समझता कि इस प्रकार के सुझाव को असम्भव कैसे सिद्ध किया जा सकता है, परन्तु वह निःसन्देह कोई ऐसा कारण है जिससे उसे तथ्य माना जाय। और जव हम दो समानान्तर स्तरी शृंखलाओं की कल्पना पर विचार करने लगते हैं। तव भी हम इसी परिणाम पर पहुँचते हैं। यह कल्पना निराधार प्रतीत होती है। और मैं इस विपय में और अधिक विचार करना आवश्यक नहीं समझता।[1]

इसलिए सम्भवतः हम आत्मा और शरीर को कार्य-कारण-सम्वन्ध से मुक्त मानने को प्रेरित हो जाते हैं। और अव प्रश्न यह रह जाता है कि उनके सम्बन्ध का स्वरूप क्या है? क्या यह सव-कुछ कहने को एक ही है? क्या आत्मा शरीर पर निर्भर एक विशेषण-मात्र है? क्या वह कदापि एक कार्य से भिन्न कुछ नहीं है? अथवा क्या शरीर आत्मा से उद्भूत होने वाला एक सहगामी-तत्त्व-मात्र है? परन्तु इन प्रश्नों का उत्तर एक सबल नकार है। और आत्मा से सदा उद्भूत होने वाले तथा कदापि उसे प्रभावित न करनेवाले भौतिक परिवर्तनों की कल्पना संभावित न होने के कारण, मैं उस पर विचार करने के लिए नहीं ठहरूँगा। मैं एक विपरीत एकाँगित पर एक उतने ही वेतुके सिद्धान्त पर,जो एक वार अधिक संभावित प्रतीत होता है, विचार करूँगा।

इस मत के अनुसार आध्यात्मिक परिवर्तन कदापि कारण नहीं होते, अपितु केवल कार्य ही होते हैं। वे शरीर पर निर्भर रहने वाले विशेषण होते हैं, परन्तु साथ ही इस बात से उनमें कोई अन्तर नहीं पड़ता। वे पूरी तरह से कार्य-कारण सम्वन्ध के वाहर नहीं पड़ते, क्योंकि वे ऐसी घटनाएँ हैं, जो निःसन्देह भौतिक-परि-

---

१. निःसन्देह, यदि आप उस कड़ी को अवशिष्ट विश्व के साथ होने वाले सम्बन्ध में ग्रहण करें; तो इन कल्पनाओं में भी शृंखला की एक कड़ी पूर्ववर्ती कड़ियों का कारण वन जायगी। इसलिए 'उपादानवाद' के विपय में, हम यह कह सकते हैं, कि प्रत्येक कारण न्यूनाधिक रूप मे कृत्रिम ढंग से सीमित होता है; इसलिए प्रत्येक कारण को 'उपादान' कहा जा सकता है। आप परिस्थितियों तक को स्वीकार करते चले जायें, जव तक कि आपका आंशिक कारण एक महत्त्वहीन तत्व, और इस कारण, नितान्त निरर्थक भी न प्रतीत होने लगे। और यहाँ पर हम परम त्रुटि के छोरों को छूने लगते हैं। यदि 'उपादान' को समूचे कारण-मात्र से पृथक कर दिया जाता है और इस प्रकार उसे, कार्य पर कोई भी प्रभाव न रखने वाला माना जाय, तो वह एकदम नितान्त निर्मूल होगा।

वर्तनों के द्वारा उत्पन्न होते हैं। परन्तु वे कार्य-कारण-शृंखला में केवल एकरूप में ही प्रविष्ट होते हैं। वे स्वयं उत्पादित होते हैं, परन्तु दूसरी ओर उनसे कदापि कुछ भी नहीं उत्पन्न होता। और इनका केवल यही अभिप्राय नहीं है कि कुछ उद्देश्यों के लिए आप प्रकृत गुणों को विकृत गुणों से अप्रहारित मान लें, और विकृत-गुणों को प्रकृत-गुणों से उद्भूत होने वाले निरर्थक विशेषण समझें। उसका आशय तो यह है कि सभी आध्यात्मिक परिवर्तन, जो कुछ भौतिक माना जाता है, उसके द्वारा उत्पादित कार्य हैं जब कि स्वयं नाम-रूपों की क्रमागति पर पड़ने वाले प्रभाव से सर्वथा मुक्त हैं। मुझे इस मत को अपने ही शब्दों में कहने के लिए बाध्य होना पड़ा है, क्योंकि विस्तृत मान्यता होने पर भी इसकी ठीक-ठीक अभिव्यक्ति कहीं भी मुझे देखने को नहीं मिली। उसके समर्थक केवल रूपकों से सन्तुष्ट हो जाते हैं, और अधूरी तुलनाओं पर आश्रित रहते हैं। और उनका यह समस्त विवेचन, जो-कुछ भी मेरे लिए स्पष्ट करता है, वह केवल उसको उत्पन्न करने वाला भँवर-जाल है।

इस सिद्धान्त की असत्यता को दो दृष्टियों से दिखाया जा सकता है। उसके अन्तर्गत एक विशेषण का विरोध है। जो अपने विशेष्य में कोई अन्तर नहीं उत्पन्न करता।[1] और, एक कालगत घटना का विरोध है, जो कार्य है, परन्तु कारण नहीं। संक्षिप्त होने की दृष्टि से, मैं यहाँ पर अपने को आलोचना की दूसरी पंक्ति तक ही सीमित रखूँगा। पहले तो मैं अपने ढंग से भौतिकवादी सिद्धान्त को एक उचित स्वरूप देने का प्रयत्न करूँगा और तब मैं यह बतलाऊँगा कि उसकी संगति समवेत है, और दूर नहीं की जा सकती।

यदि हम आध्यात्मिक घटनाओं को 'विकृत' अथवा 'गौण' शीर्षक के अन्तर्गत ले आने को सहमत हो जायें, तो हम सम्बन्ध के प्रस्तावित प्रकार को इस प्रकार दिखला सकते हैं:—

```
क — ख — ग
|    |    |
र — प — न
```
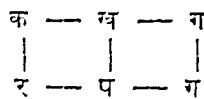
क, ख, ग, प्रकृत गुणों की परम्परा है, और इसको वास्तविक कार्य-कारण शृंखला के रूप में ग्रहण किया गया है। विकृत परिणामों, र प, न, में कोई भी कार्य-कारण सम्बन्ध नहीं है; और न उससे ख से ग और क से ख की पूर्वापरता का ही कोई अन्तर है। उनमें से प्रत्येक विशेषण हैं, जो घटित तो होता है, परन्तु

१. जिस असत्य सिद्धान्त का उपयोग आत्मा के भौतिकवादी दृष्टिकोण में हुआ था, वही वास्तविक उपस्थित के उतने ही भौतिकवादी सिद्धान्त में भी प्रकट होता है।

जिससे कोई परिणाम नहीं निकलता। परन्तु यद्यपि उनकी पूर्वापरता वस्तुतः कार्य-कारण-सम्बन्ध के अन्तर्गत नहीं आती, फिर भी उसको इसी रूप का आभास होना चाहिए क्योंकि वह नियमित है; और वह नियमित अवश्य होगा, क्योंकि वह एक ऐसी शृंखला पर अवलम्बित है जो कार्यकारण-सम्बन्ध-द्वारा अविकार्य रूप में निश्चित है। यह कहा जा सकता है, कि इस प्रकार तथाकथित असंगति का परिहार हो जाता है, और सर्वत्रसमन्वय स्थापित हो जाता है। हम इस परिणाम पर पहुँचने के लिए वाध्य नहीं हैं कि एक ही कारण से दो भिन्न कार्य उत्पन्न हो सकते हैं। यह बात नहीं है कि पहले क के पश्चात् शुद्ध ख आये और फिर प आवे, क्योंकि र वस्तुतः क से अविभाज्य है। और, न यही कल्पना करना आवश्यक है कि क-ख पूर्वापरता कभी स्वयं-घटित हो सकती है, क्योंकि क वस्तुतः क के साथ है, और ष सदा ख के साथ रहेगा। फिर भी, यह अविभाज्यता किसी प्रकार भी हमारे इस परिणाम को प्रभावित नहीं करेगी, क्योंकि यह एक सामान्य सिद्धान्त की अभिव्यक्ति तथा उपज है। क-ख-ग कार्य-कारण-सम्बन्ध का वास्तविक तथा एकमात्र सूत्र है, जब कि र, ष, ग ऐसे विशेषण हैं, जो निष्क्रिय रूप में उसे अलंकृत कर रहे हैं। और, इसलिए र, प, ग अवश्य ही वे प्रतीत होते सकते हैं, जो वस्तुतः वे नहीं हैं। वे वस्तुतः शोभा की वस्तु हैं परन्तु वे या तो सदैव या प्रायः निर्माणात्मक प्रतीत होते हैं।

यही एक सर्वोत्तम बात है, जो मैं अपने प्रतिपक्षियों के पक्ष में कह सकता हूँ और अब मुझे यह दिखलाना है कि यह आलोचना के सामने टिक नहीं सकती। परन्तु एक ऐसी बात है, जिस विषय में सम्भवतः मैं अपने निर्देशों का उल्लंघन कर गया हूँ। यह स्वीकार करना कि क-ख-ग की पूर्वापरता का निज-रूप में कोई अस्तित्व नहीं है; संभवतः सामान्यतः मत के विरुद्ध प्रतीत हो। फिर भी इसको स्वीकार किये विना ही, असंगति को और अधिक सरलता से दिखलाया जा सकता है।

कार्य-कारण का नियम एकरूपता का वह सिद्धान्त है, जो पूर्वापर के क्रम में आने वाले तत्त्वों में लागू होता है। आप पूर्वापर-शृंखला से युक्त कोई बात कहिए, तो अनिवार्यतः वह ऐसी बात होगी, जो यदि सत्य है तो सदा सत्य रहेगी। अब यदि यह बात सार्वभौम रूप से सच है कि ख,क के बाद आता है, तो यह पूर्वापरता का ही वस्तुतः एक कार्य-कारण का नियम है; क्योंकि इस अवस्था में ख अवश्य ही किसी ऐसी वस्तु के बाद आया होगा जो क से न्यून या अधिक है और इसलिए क-ख निर्णय निश्चित रूप से असत्य है। इस प्रकार पूर्वापरता का प्रतिपादित तथ्य

उस समय तक असत्य रहेगा, जब तक कि उसको कार्य-कारण-नियम के तथ्य के रूप में ग्रहण न किया जाय और कार्यकारण-नियम का एक तथ्य ऐसा सत्य है, जो सार्वभौम है और रहना चाहिए।[1] यह एक पृथक्कृत सम्बन्ध है, जो या तो सदा असत्य होता है अथवा सदा सत्य होता है। परन्तु फिर भी यदि हम कभी यह कह सकें कि ख केवल क के पश्चात् आता है तो वह क-ख निर्णय शाश्वत सत्य होगा, परन्तु फिर एक सत्य निजरूप में होते हुए, साथ ही कोई भिन्न वस्तु नहीं हो सकता। और इसलिए आप एक बार क ख कह दीजिए, और, फिर आप यह भी तथा उसी प्रकार क-ख-प नहीं कह सकते, बशर्ते कि (यदि यह कह दें कि)दोनों अवस्थाओं में आपका अभिप्राय एक ही क से है क्योंकि यदि किसी भेद अथवा किसी अन्तर से उत्पन्न न होते हुए घटना प अनुगमन करती है तो आपको केवल क के विषय में "—ख" तथा"—खप" कहना पड़ेगा। परन्तु उन दोनों प्रतिपत्तियों में कोई संगति नहीं। इसी प्रकार यदि क क का पश्चात् गामी केवल ख है, तो यह असम्भव है कि केवल क के पश्चात् भी वही पश्चात्गामी हो। यदि स्थिति इसके विपरीत प्रतीत होती हो, तो निःसन्देह क केवल नहीं था, अथवा क असंगत था। और अन्य कोई भी निष्कर्ष निकालने का अभिप्राय यह होगा, कि ख के विषय में दो परस्पर असंगत प्रतिपत्तियाँ हैं।[2]

इसलिए हम इस मत के विषय में उस प्रथम निर्णय पर पहुँच सकते हैं जो आत्मा को एक निष्क्रिय-विशेषण-मात्र बना देता है। यदि यह कहा जाय कि ये विशेषण अकारण ही घटित होते भी हैं और नहीं भी; यदि यह प्रतिपादन किया जाय कि, उनके होते हुए और उनके न होते हुए भी भौतिक पूर्वापरता ठीक वैसी ही रहती है, तो इस प्रकार का मत स्पष्टतया स्वयं-विरोधी है, क्योंकि वह न केवल ऐसे भेदों की बेतुकी कल्पना करता है, जिनसे कोई अन्तर ही नहीं पड़ता, अपितु वह एक ऐसे अलंकरण में भी विश्वास करता है, जो कभी तो उसके साथ रहता है, और कभी उसके संगठन से दूर रह जाता है, और जो दोनों अवस्थाओं में समान

---

१. 'अनउपहित' को जोड़ना व्यर्थ होगा। —तुलना करो—'प्रिन्सिपल्स आफ लॉजिक पृष्ठ० ५३६।

२. "ख का उद्भव क से होता है", और "ख का उद्भव कक ख से होता है"—के निर्णय यदि शुद्ध हैं, तो उनमें समन्वय सम्भव नहीं। एक ही कार्य के दो कारण तब तक नहीं माने जा सकते, जब तक कि 'कारण' शब्द का शिथिलता के साथ प्रयोग न किया जाय। देखिए :—बोसांके की 'लॉजिक' पुस्तक—एक; अध्याय—६। मैंने इसी विषय पर और आगे अध्याय २४ में कहा है।

रूप से एक अकारण घटना होती है ।[१] और इतना कहकर संभवतः हम आगे बढ़ सकते हैं ।

आइए, हम विषय के उस विवरण को पुनः देखें, जो हमें अधिक ठीक प्रतीत हुआ । उसमें एक शृंखला है ।

क—ख—ग

क—ष—ग

और इसके भीतर विकृत-गुण प्रकृत गुणों से विभाजनीय हैं । क-ख-ग वस्तुतः निज रूप में कदापि प्राप्त नहीं होते, परन्तु फिर भी वही सत्य और एकमात्र कार्य-कारण-परम्परा है । फिर भी हम देखेंगे कि इस प्रकार के विवरण में फिर वही भूल छिपी हुई है, जो पहले प्रकट थी । उपर्युक्त परम्परा में, जब तक वस्तुतः जितना हमें ग्राह्य हो सकता है उससे अधिक नहीं है, और जब तक कि क, ष, ग किसी बाह्य वस्तु से सम्बद्ध नहीं है, तब तक हमें फिर वही पुरानी असंगति मिलेगी । यदि क-ख-ग सत्य है तो यह प्रस्तुत शृंखला वस्तुतः असम्भव है और यदि इस क्रम-शृंखला को बदल दिया जाय तो क-ख-ग सम्भवतः सत्य नहीं हो सकते । मैं यह नहीं कहूँगा कि यदि वह सच होता, तो वह कम-से-कम अप्राप्य होता, क्योंकि, प्रतिज्ञा के अनुसार क को क से पृथक् नही किया जा सकता । मैं यह स्वीकार कर सकता हूँ कि जहाँ हमको प्रमाणित करना अथवा प्रत्यक्ष प्रेक्षण करना संमत नहीं है, वहाँ हम कभी-कभी अनुमान कर सकते हैं; और मैं यहाँ यह दिखलाना पसन्द करूँगा कि इस प्रकार का अनुमान यहाँ स्वयं-विरोधी है । यह कल्पना की जाती है कि क एक ऐसा विशेषण है, जो क से पृथक् नहीं हो सकता, परन्तु साथ ही वह एक ऐसा विशेषण भी है जिससे उसकी सत्ता में कोई अन्तर नहीं आता, अथवा कम-से-कम क के द्वारा क के प्रभाव में कोई अन्तर उपस्थित नहीं होता अपितु क पूर्णतया निष्क्रिय रहता है । परन्तु यदि यह बात है, तो पहले की भाँति ही क के दो ऐसे विधेय हो जायेंगे जिनका एक-दूसरे से मेल नहीं बैठता । पहले की भाँति ही क के दो ऐसे विधेय हो जायेंगे जिनका एक-दूसरे से मेल नहीं बैठता । पहले की भाँति, हम निःसन्देह यह नहीं कह सकते कि वस्तुतः उसके पश्चात् शुद्ध ख आता है, और फिर ख प आता है । परन्तु फिर भी हमको ऐसे कथन मानने हैं, जो कि परस्पर टकराते हैं । हम मानते हैं कि क से ख उत्पन्न होता है, और क से ख ष भी उत्पन्न होता है;

---

१. यदि कोई कारण होता तो केवल क फिर कदापि ख तथा प का कारण नहीं हो सकता । मैं इसी विषय की चर्चा फिर आगे करूँगा ।

और इन दोनों में से एक निर्णय अवश्य असत्य होगा क्योंकि यदि क से केवल ख उत्पन्न होता है तो फिर उनसे ख प नहीं उत्पन्न हो सकता। इसलिए प या तो एक ऐसी घटना है जो एक आकस्मिक संयोग है अथवा क ने किसी प्रकार (प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में) ख में अन्तर उपस्थित कर दिया है। परन्तु यदि यह बात है तो क निष्क्रिय नहीं है; अपितु ख का एक कारणांग है, और इसलिए क से ख का आगमन असत्य है।[1] हमारे कथन की युक्ति केवल भ्रामक सिद्ध हुई।

मैं प्रश्न को ऐसी सूक्ष्मताओं द्वारा उलझाना नहीं चाहता जो वस्तुतः हमें आगे बढ़ने में सहायता नहीं दे सकतीं, परन्तु मैं प्रश्न से भागने की एक संभावित अवस्था पर विचार करूँगा। यह कहा जा सकता है कि विकृत गुणों में से प्रत्येक एक प्रकृत गुण पर निर्भर नहीं है, अपितु वे सब-के-सब एक प्रकार से उनके बीच स्थित सम्बन्धों के विशेषण हैं। वे सम्बन्धों से लगे हुए तो हैं, परन्तु फिर भी उनसे जो प्रसूत होता है, उसमें कोई अन्तर नहीं डालता, परन्तु यहाँ पर वही पुराना और अमिट अन्तर्विरोध फिर रह जाता है। यह सत्य नहीं हो सकता कि कोई सम्बन्ध (मान लीजिए क से लेकर ङ तक का) जो एक-दूसरे सम्बन्ध (मान लीजिए ख से लेकर च तक का) उत्पन्न करता है, इस दूसरे सम्बन्ध को नग्न रूप में भी उत्पन्न करे, और फिर एक विशेषण, प के सहित भी। इन दोनों कथनों में से एक असत्य है; और उसके साथ ही असत्य है आपका निष्कर्ष। संक्षेप में, ऐसे भेदों को मानना असम्भव है, जो बिना किसी भेद के आ जाते हैं, अथवा जो पश्चात् आने वाले में कोई भेद उत्पन्न नहीं करते। इस प्रयत्न में अवश्य अन्तर्विरोध है, जो चाहे स्पष्ट हो या गुप्त; प्रत्येक अवस्था में इसको स्वीकार करने वाले मन के लिए घातक है।

अब हम भ्रामक मतों पर अपनी चर्चा को समाप्त कर चुके।[2] हम देख चुके

---

१. पाठकों को याद होगा कि प्रतिज्ञा के अनुसार प का आगमन सीधे क से नहीं हो सकता। वह पूर्णयता ख पर आश्रित माना जाता है।

२. इस सम्बन्ध में, सम्भावना मुझसे यह की जा सकती है कि मैं शक्ति-संरक्षण के विषय में कुछ कहूँ। ऐसा करने के लिए मैं अत्यन्त अनिच्छुक हूँ। मेरे समान जो व्यक्ति इस कल्पना को अपनाने वाले विज्ञानों के क्षेत्र से बाहर है, वह उसको ठीक समझने में शायद ही सफल हो सके। वह एक शुद्ध काम चलाऊ कल्पना और एक तथ्य में भेद-भाव करने में निःसंदेह असमर्थ रहता है। उदाहरण के लिए इस प्रकार 'स्थित की शक्ति' और 'संभावित-शक्ति' ऐसे दो फिकरे हैं; जो अपने वास्तविक विनियोग में निःसंदेह उपयोगी तथा सुनिश्चित है। परन्तु ठीक-ठीक पूछिए तो, वे मूर्खतापूर्ण हैं। यदि कोई वस्तु ऐसी परिस्थितियों में विलीन हो जाती है जो आगे चलकर उसको उत्पन्न करेगी तो निःसंदेह यह केवल एक स्वच्छन्दता होगी कि आप असत्य वस्तु को 'एक संरक्षण की अवस्था' में कहें। और इसलिए इसको यहीं छोड़कर, मैं आगे शक्ति-

हैं कि शरीर और आत्मा के बीच सक्रिय सम्बन्ध को अस्वीकार करना या तो घातक है या असम्भव। जब तक कि हम स्वयं अपना ही विरोध करने को तैयार न हों,

संरक्षण से यही समझूँगा कि किसी क्षण पर वास्तविक मूल तत्त्व तथा वास्तविक गति एक अविकारी मात्रा है। और यह एकरूपता या तो प्रत्येक भौतिकतंत्र में लागू होगी, अथवा फिर प्रकृति की समष्टि में (अध्याय २२)। अब यदि इस कल्पना को एक कामचलाऊ प्रतिज्ञा के रूप में ही प्रस्तुत किया जाय, तो मैं ऐसी वस्तु पर कोई भी आलोचना नहीं करना चाहता, जो मेरे बूते के बाहर है। परन्तु दूसरी ओर यदि उसको एक तथ्य-निरूपण की शक्ल में प्रस्तुत किया जाय, तो मैं तुरन्त कहूँगा कि मुझे ऐसा कोई कारण नहीं प्रतीत होता, जिससे मैं उसको सत्य मानूँ। और मेरा पूर्ण विश्वास है, कि उसको सिद्ध नहीं किया जा सकता। यदि फिर भी तर्क के लिए हम मूलतत्व और—गति की परिमाणात्मक एकरूपता को स्वीकार कर लें तो मैं नहीं देखता कि इससे आत्मा की स्थिति के विषय में कुछ भी पता चलता है, क्योंकि यद्यपि मन शरीर को प्रभावित करता है और शरीर मन को बदलता है; परिमाण सर्वदा ठीक-ठीक वही रह सकता है। आध्यात्मिक और भौतिक पक्षों की हानि और लाभ, समष्टि रूप में, एक-दूसरे की पूरी तरह से क्षति-पूर्ति कर सकते हैं, और इस प्रकार उस तंत्र की भौतिक शक्ति पूर्णतया संरक्षित रह सकती है। फिर भी यदि किसी का यह आग्रह है कि गति को सदैव गति से ही प्रसूत माना जाय तो भी वह इस निष्कर्ष की उपेक्षा कर सकता है कि आध्यात्मिक धारणाएँ कारण नहीं होतीं। हम दो ऐसी समानान्तर शृंखलाओं के किसी रूपका सहारा ले सकते हैं, जो केवल परस्पर-सम्बद्ध प्रतीत होती हैं। अथवा वह एक ऐसी प्रतिज्ञा का सहारा ले सकता है जो फिर भी उनके कार्य-कारण के सम्बन्ध को स्वीकार करता है। एक ऐसी व्यवस्था सम्भव है जिसके द्वारा आत्मा और शरीर एक दूसरे में अन्तर उपस्थित करते हैं, जबकि प्रत्येक पक्ष में पूर्वा-पर शृंखला प्रकट होती है, और स्वतंत्र समझी जा सकती है। कार्य-कारण-परम्परा के विभिन्न सूत्रों के बीच प्रत्येक पक्ष में होने वाले लाभ और हानियाँ सम्भवतः एक-दूसरे की क्षति-पूर्ति कर दें। वे एक दूसरे की रुकावट अथवा सहायता इस प्रकार कर सकते हैं कि अन्ततोगत्वा सब ऐसे प्रतीत होंगे कि मानों वस्तुतः उन्होंने कुछ भी नहीं किया, और मानों प्रत्येक शृंखला को अपना निजी मार्ग अपनाने के लिए छोड़ दिया गया हो। कोई ऐसी व्यवस्था अनिषेध्य रूप में संभव हो सकती है, परन्तु मैं यह सुझाव नहीं दे सकता कि वह तथ्य है। क्योंकि मैं ऐसे सिद्धान्त को नहीं स्वीकार करता जो, अकारण ही, हमें इस प्रकार की बारीकियों को मानने के लिए बाध्य करें। संभवतः अन्त में मेरा यह कहना अनुचित न होगा कि जो लोग 'संरक्षण' के सिद्धान्त को मानते हैं, और जो आत्मा सम्बन्धी मेरे मत से किसी प्रकार से सम्बन्धित समझते हैं, उनसे यह आशा करना बहुत कुछ उचित होगा कि वे इस दिशा में कोई प्रयत्न करें। उनके लिए अनिवार्य होगा कि वे आध्यात्मिक घटनाओं की परम्पराओं का कार्य-कारण नियम के साथ समन्वय स्थापित करें। इस विषय में मेरा पूर्ण विश्वास है कि यह अनिवार्य नहीं है कि किसी व्यक्ति को उसके निजी शास्त्र के बाहर समझा जा सके। परन्तु इस प्रकार की कोई दलील उन्हीं लोगों के मुख में शोभा देती है, जो अपने शास्त्र के भीतर रहना चाहते हैं और मैं विनयपूर्वक तथा दृढ़तापूर्वक इस बात पर अटल रहने का साहस करुँगा।

तब तक आत्मा को केवल शरीर पर प्रभाव न डालने वाला विशेषण मानना असम्भव है। और, दूसरी ओर दो स्वरूप और समानान्तर शृंखलाओं को स्वीकार करने का अभिप्राय यह है कि एक ऐसे निष्कर्ष को ग्रहण कर लिया जाय तो आगाम के प्रमुख राशि के विरुद्ध हो। और न हमें संभावना के इस परित्याग के लिए, कोई अधिकार ही प्रतीत होता है। यह सामान्य मत कि, आत्मा और शरीर एक-दूसरे में विकार उत्पन्न करते हैं, अन्ततोगत्वा यह एक ऐसा मत सिद्ध होता है जिस पर कोई आपत्ति नहीं हो सकती और अब मैं उसी को एक ऐसे रूप में प्रस्तुत करने का प्रयत्न करूँगा जिसका खंडन न हो सके।

पहले मैं यह कह दूं कि मन और मूल प्रकृति के कार्य-कारण-सम्बन्ध में मेरा अभिप्राय यह नहीं, कि एक-दूसरे को उस समय प्रभावित करता है; जब वह अपने शुद्ध रूप में होता है; मेरा यह अभिप्राय भी नहीं कि आत्मा कभी भी स्वतः शरीर को प्रभावित करती है, अथवा शुद्ध शारीरिक अवस्थाएँ नग्न आत्मा पर कोई प्रभाव डालती हैं। इस प्रकार की कोई भी बात सम्भव हो सकती है या नहीं, इसकी गवेषणा मैं आगे चलकर करूँगा, परन्तु निःसन्देह उसको वास्तविक मानने के लिए मुझे कोई कारण प्रतीत नहीं होता। मैं यह समझता हूँ कि, सामान्यतः एक घटना के दो पक्ष होते हैं, और ये दोनों पक्ष संयुक्त रूप में ग्रहण किये जाने पर आगामी घटना के अभिन्न कारण होते हैं। कार्य क्या है? यह एक आत्मा की अवस्था है, जो कि एक शरीर की अवस्था की अथवा हमारे शरीर के उन अंगों की अवस्था की सहगामिनी है, जिनका मन के साथ अव्यवहित सम्बन्ध समझा जाता है। और हम कारण किसको बतायेंगे? वह एक ही प्रकार की घटना है, और उसके दोनों ही पक्ष, संयोग-अवस्था में कार्य को जन्म देते हैं। इसके परिणामस्वरूप मन का जो विकार उत्पन्न होता है, वह मन अथवा शरीर का पृथक्-पृथक् कार्य नहीं है, अपितु दोनों के एक साथ कार्य करने का परिणाम है। और उसकी सहगामिनी शारीरिक अवस्था भी दोनों प्रभावों का परिणाम है। वह न तो केवल शरीर का और न पुनः-केवल आत्मा की ही कृति है। अतः जो भेद एक पक्ष में उपस्थित होता है, वह दूसरे पक्ष में भी अन्तर डालता है, और पीछे जो आता है उसके दोनों पक्षों में भी परिवर्तन उपस्थित करता है। और यद्यपि यह कथन आगे चलकर कुछ बदलेगा (पृ० २९८) आत्मा की घटनाओं का कार्य-कारण-सम्बन्ध, सामान्यतः, अभिन्न रूप से दुहरा होता है।

शरीर-विज्ञान और मनोविज्ञान में, हम व्यवहार में इस पेचीदगी की उपेक्षा कर देते हैं। सुविधा की दृष्टि से हम उसको ही कारण अथवा कार्य समझ लेते हैं, जो

वस्तुतः केवल एक प्रमुख उपाधि अथवा परिणाम है। और नाम-रूपों में इस प्रकार के हेर-फेर या तोड़-मरोड़ प्रगति के लिए अनिवार्य है। हम एक ऐसी बौद्धिक पूर्वापरता की बात करते हैं, जिसमें एक आध्यात्मिक घटना के रूप में निष्कर्ष दलीलों का कार्य होता है। हम ऐसे बात करते हैं कि मानों पूर्वगामी-मानसिक अवस्था सचमुच कारण हो, और उसका केवल एक अंग न हो। संक्षेप में, जहाँ कहीं हम यह देखते हैं कि दोनों पक्ष में पूर्वापर श्रृंखला नियमित है, वहीं हम उसे स्वतंत्र मान लेते हैं। और जहाँ अनियमितता हमारे ध्यान में बरबस आ जाती है; हम केवल वहीं शरीर और मन को एक दूसरे में हस्तक्षेप करने वाला समझते हैं। परन्तु, इस विषय में, व्यावहारिक सुविधा ने हमें अनजान में एक कठिनाई के भीतर ला पटका है। हम अब यह समझने में कठिनाई अनुभव करते हैं कि जो स्वतंत्र था वह अपने मार्ग को छोड़ने के लिए कैसे मान गया? हम उस कारण को ढूंढ़ने लगते हैं जो उसको प्रभाव डालने तथा प्रभावित होने के लिए विवश करता है, और ऐसा करने से, हम एक असत्य सिद्धान्त तथा घातक भूल की ओर अच्छी तरह उन्मुख हो जाते हैं।

परन्तु सत्य यह है कि कोई भी शुद्ध आध्यात्मिक पूर्वापरता एक तथ्य अथवा कोई अस्तित्ववान् वस्तु नहीं है; उसके अंगों में से प्रत्येक के साथ सदा एक भौतिक घटना संयुक्त रहती है, और ये भौतिक घटनाएँ कार्य-कारण-श्रृंखला की प्रत्येक कड़ी में प्रविष्ट किये हुए होती हैं। यहाँ पर मन अथवा शरीर की अवस्था कदापि एक कारणांश अथवा एक कार्यांश से अधिक नहीं होती है। हम, दोनों में से किसी भी एक ऐसे पक्ष पर अपना ध्यान केन्द्रित कर सकते हैं, जो हमारे उद्देश्य के लिए महत्त्वपूर्ण जान पड़े, हम दूसरे पक्ष के प्रभाव की वहाँ पर उपेक्षा कर सकते हैं जहाँ पर वह एकरूप तथा नियमित हो; परन्तु हम इस बात को अस्वीकार नहीं कर सकते कि दोनों ही सचमुच कार्य उत्पन्न करने में योग देते हैं। इस प्रकार हम मनोभावों और विचारों के विषय में यह कहते हैं कि वे शरीर को प्रभावित करते हैं; और वे ऐसा करते भी हैं, क्योंकि वे भौतिक परिणाम में परिवर्तन उपस्थित करते हैं, और ये परिणाम एक शुद्ध भौतिक कारण का फल नहीं होता। परन्तु दूसरी ओर मनोभाव और विचार शरीर से स्वतन्त्र होकर, न तो कार्य करते हैं और न उनका अस्तित्व ही होता है। परिवर्तित भौतिक अवस्था ऐसी परिस्थितियों का कार्य है, जो एक साथ ही आध्यात्मिक और भौतिक दोनों ही है। हम जब आत्मा के परिवर्तनों पर विचार करते हैं, तो भी हमें इसी द्वित्व के दर्शन होते हैं। किसी आने वाले आलोचन को शरीर का कार्य माना जा सकता है; परन्तु यह मत सामान्य, एकांगी तथा ग़लत है। प्रमुख परिस्थितियों को अलग कर दिया गया है और अवशिष्ट की उपेक्षा कर

दी गयी है और यदि हम पूर्वगामी आध्यात्मिक अवस्था केप्र भाव को अस्वीकार करते हैं, तो हम एक बार पुनः अपनी अविकृत स्वच्छन्दता के ग़लती के गड्ढ़े में ढकेल देते हैं।

आत्मा और उसका शरीर में से प्रत्येक एक नाम-रूपात्मक शृंखला है। सामान्य दृष्टि से प्रत्येक दूसरे के परिवर्तनों में निहित है। अतः उनकी मानी हुई स्वतन्त्रता काल्पनिक है, और संकल्प-जैसी किसी शक्ति के आह्वान-द्वारा उसको अभिभूत करना, एक ऐसा प्रयत्न है जो भ्रान्ति के घाव को मनगढ़ंत-द्वारा भरना चाहता है। प्रत्येक आध्यात्मिक अवस्था में हम दो पक्ष पाते हैं; यद्यपि हम एक की उपेक्षा कर जाते हैं इस प्रकार विचारों की 'संशक्ति' में हमें यह भूलने का अधिकार नहीं कि एक भौतिक पूर्वापरता भी है जिसका तात्त्विक सम्बन्ध है। और संशक्ति-नियम को स्वयं ऐसा विस्तार प्रदान किया जाना चाहिए जिससे भौतिक तथा आध्यात्मिक तत्त्वों के बीच स्थित सम्बन्धों को उसके अन्तर्गत लिया जा सके। इन नाम-रूपों में से कोई भी एक, अपने पुनः घटित होने के समय, दूसरे को भी पुनः ले आये। इस प्रकार एक बार किसी भौतिक अवस्था से संयुक्त रहने वाली कोई भी आध्यात्मिक अवस्था सामान्यतः उसको पुनः ला सकती है, और इसलिए इस आध्यात्मिक अवस्था को एक कारण माना जा सकता है; वह ठीक-ठीक कारण नहीं होता क्योंकि वह सम्पूर्ण कारण नहीं होता, परन्तु वह निःसन्देह एक संशक्ति तथा सविकार परिस्थिति है। भौतिक घटना किसी शुद्ध भौतिक अवस्था का परिणाम नहीं होती। और यदि विचार अथवा मनोभाव का अभाव रहता है, अथवा यदि वह सक्रिय नहीं रहता है, तो यह भौतिक घटना घटित ही नहीं होती।

मैं इस बात को जानता हूँ कि इस प्रकार के कथन को व्याख्या नहीं माना जा सकता, परन्तु मेरा यह आग्रह है कि अन्ततोगत्वा कोई व्याख्या सम्भव नहीं है। ऐसी बहुत-सी गवेषणाएँ हैं जो कि नियमानुकूल हैं। आत्मा के 'स्थान' के विषय में, अथवा भौतिक और आध्यात्मिक पूर्वापरता तथा सह-अस्तित्व के अन्तिम स्वरूपों के विषय में, प्रश्न करना उचित और आवश्यक है। अंशतः हम इन समस्याओं को सुलझाने में असमर्थ रह सकते हैं। परन्तु अन्ततोगत्वा इन प्रश्नों का वस्तुतः उत्तर दिया जा सकता है, चाहे यहाँ हमें उनके विषय में कितना ही कम क्यों न कहना हो। परन्तु शरीर और आत्मा का सम्बन्ध वस्तुतः अनिर्वचनीय है और "कैसे" का प्रश्न तर्क-रहित तथा व्यर्थ है, क्योंकि आत्मा और शरीर वास्तविकताएँ नहीं हैं। प्रत्येक एक पूर्ण इकाई में से जान-बूझकर अलग किया गया है। और प्रत्येक, जैसा कि हम देख चुके हैं स्वयं-विरुद्ध है। अन्ततोगत्वा हम नहीं समझते कि दोनों का अस्तित्व कैसे

होता है, और हम जानते हैं कि, यदि समझे जा सकते तो दोनों ही इस रूप में न रह पाते। जब उनमें से प्रत्येक अपने-अपने असत्य-स्वरूप में स्थित हो, तो उनको समझना नितान्त असम्भव है, परन्तु यदि यह बात है, तो उनके सम्बन्ध का प्रकार अवश्य ही समझ के बाहर की वस्तु रहेगा।

और इसी निष्कर्ष पर, कार्य-कारण-शृंखलाओं पर विचार करके भी, पहुँचा जा सकता है। इसमें दोनों पक्ष साधारणतः एक-दूसरे से अभिन्न रहते हैं, और वस्तुतः एक पक्ष की उपेक्षा करना केवल एक स्वच्छन्दतावश ही सम्भव हो सका। परन्तु इस परिणाम पर पहुँचने पर भी हम अभी वास्तविक कार्य-कारण-सम्बन्ध को नहीं पा सके। केवल एक स्वच्छन्दता के द्वारा ही संयुक्त रूप में ग्रहण किये हुए दोनों पक्ष विश्व से पृथक् किये जा सकते हैं; जो कारण सम्पूर्ण कारण न हो, वह वस्तुतः वास्तविक कारण नहीं है, और वह सम्पूर्ण कारण तब तक नहीं बन सकता जब तक उसके अन्तर्गत परिपार्श्व, पृष्ठभूमि में स्थित अवशिष्ट परिस्थितियों का समस्त संघात न आ जाय। इसके बिना आपको नियम-बद्धताएँ प्राप्त हो सकती हैं, परन्तु आप एक बुद्धिगम्य आवश्यकता की सीमा तक नहीं पहुँच पाते। परन्तु परिस्थितियों का समस्त संघात केवल अव्यय ही नहीं है, अपितु अनन्य भी है, और इस प्रकार कार्य-कारण का पूर्ण ज्ञान—सैद्धान्तिक दृष्टि से अपूर्ण है।[1] हमारे ज्ञात कारण और कार्य एक स्वच्छन्दता के द्वारा अथवा अंशतः विवशता के द्वारा माने जाते हैं। नियमितताओं का पालन, यथासम्भव एक को दूसरे के अन्तर्गत लाना सर्वत्र व्यवहार में असंगत समझे जाने वाले तत्त्व को दूर करना, और इस प्रकार सामान्य तथ्यों की संख्या को कम करना;—इससे अधिक स्थूल नाम-रूप को समझाने के लिए हम कुछ नहीं कर सकते। और शरीर तथा आत्मा के सम्बन्ध में और अधिक की खोज करना एक असम्भव के पीछे पड़ना है।

परन्तु आगे बढ़ने से पूर्व, कुछ ऐसी बातें रह जाती हैं, जिन पर विचार आवश्यक है। आत्मा की कोई अवस्था, अंशतः भी, सदा एक पूर्ववर्ती अवस्था से उद्भूत नहीं होती। और केवल भौतिक परिस्थितियों का एक व्यवस्था-तंत्र किसी आध्यात्मिक जीवन-सम्पूर्ण उद्भव को प्रस्तुत करता हुआ प्रतीत होता है। और फिर, जब आत्मा बीच में—अन्तर्भूत होकर एक बार पुनः प्रकट होती है, तो पुनर्प्रकाश का एकमात्र कारण शरीरगत प्रतीत होता है। मैं इस प्रश्न पर विचार करने के लिए, सबसे पहले आत्मा के उद्भव का विवेचन करूँगा। प्रथम तो हमें यह याद रखना चाहिए कि केवल शरीर एक कृत्रिम प्रतिकृति है, और मन उसके पार्थक्यपूर्ण इकाई के भीतर

१. तुलना करो अध्याय—६।

विलीन हो जाता है। और जब पृथक्कृति को स्वीकार करके उसको आधार मान लिया जाता है तो भी यह निश्चित नहीं कि कोई भी मूल तत्त्व आत्मा से असम्बद्ध होकर रहता है (अध्याय २२)।

अब यदि हम इस विचार-विमर्श को अपने मस्तिष्क में रखें, तो हमें वह अस्वीकार करने की आवश्यकता नहीं कि भौतिक परिस्थितियाँ एक आध्यात्मिक जीवन को जन्म दे सकती हैं। एक क्षण एक भौतिक व्यवस्था-तंत्र हो सकता है और दूसरे ही क्षण हम इसी व्यवस्था-तंत्र को बदला हुआ तथा आत्मा की एक मात्रा से युक्त पा सकते हैं। यदि एक तथ्य रूप में यह भी घटित नहीं होता, तो हमें इसकी संभावना में सन्देह करने के लिए बिल्कुल कोई कारण दिखलायी नहीं पड़ता, और न वह मुझे हमारे पूर्व मत से संघर्ष रखता हुआ ही प्रतीत होता है। परन्तु हमें मिथ्या धारणा से सावधान रहना चाहिए। प्रथम तो हम इस बात में मुश्किल से विश्वास कर सकते हैं कि एक इतनी सुविकसित आत्मा इस प्रकार सहसा आ खड़ी होती है। और हमें यह भी याद रखना चाहिए कि इसके अतिरिक्त, केवल प्रकृति तत्त्व का परिणाम होने वाला एक आत्मा, इसके विपरीत उस प्रकृति तत्त्व को एक साथ ही प्रभावित तथा विशिष्टता सम्पन्न करता है। यहाँ भी केवल शरीर, कदापि नग्न मन पर प्रभाव नहीं डाल सकता। घटना एक क्षण पर अकेली होती है और दूसरे ही क्षण वह दोहरी हो जाती है, परन्तु इस द्विविध परिणाम में, पक्षों में एक-दूसरे में भेद उत्पन्न करने की शक्ति निहित होगी और वे भेद उत्पन्न भी करेंगी। वे एक संयुक्त कार्य होंगे, और सक्रिय अथवा निष्क्रय रूप में, इसके पश्चात् जो भी घटित होता है, उसके अन्तर्गत प्रत्येक पक्ष स्वतः कोई मूल्य नहीं रखता। आत्मा कदापि केवल आत्मा नहीं होता, और आत्मा के प्रादुर्भाव होने पर शरीर फिर केवल शरीर नहीं रह जाता। और, जब यह समझ लिया जाता है, तब हम मन के भौतिक उद्भव को स्वीकार कर सकते हैं। परन्तु हमें याद रखना चाहिए कि आत्मा का भौतिक कारण कदापि सम्पूर्ण कारण नहीं हो सकता। भौतिक तत्त्व सत् के एक पक्ष का एक नाम-रूपात्मक अलगाव ही है। और जो घटना किसी भौतिक व्यवस्था तंत्र से उद्भूत होती है, वह वस्तुतः परिस्थितियों की समस्त पृष्ठभूमि की पूर्व स्थिति को मानती है और उस पर आश्रित रहती है। एक संकलन के द्वारा, और एक स्वच्छन्दता के प्रयोग से ही किसी शुद्ध भौतिक कारण के अस्तित्व की हम कहीं भी कल्पना कर सकते हैं।[1]

---

१. इस बात की खोज में आगे चलकर करूँगा कि केवल आत्मा भौतिक तत्त्व को, प्रभावित अथवा उत्पन्न कर सकती है या नहीं।

और यही निष्कर्ष उस समय भी ठीक बैठता है जब हम आत्मा के अन्तर्ध्यान होने पर विचार करते हैं। उस समय शरीर के आध्यात्मिक जीवन की न्यूनाधिक समाप्ति-सी होकर पुनरागमन होता-सा प्रतीत होता है, और प्रश्न यह है कि यह पुनरागमन शुद्ध भौतिक तत्व-द्वारा होता है अथवा अन्यथा ? यहाँ हम दो प्रश्नों को अलग-अलग ले सकते हैं, जिनमें से एक असम्बन्ध तथ्य से है और दूसरे का एक अन्य सम्भावना से है। प्रथम तो, मेरे विचार में इस बात का निश्चय होना सम्भव नहीं कि कहीं भी आध्यात्मिक क्रियाओं की पूर्णतया समाग्ति हो गयी है। आप किसी परिचित नाम-रूप के अभाव को देखकर यह निष्कर्ष नहीं निकाल सकते कि उससे परिमाणतः तथा गुणतः भिन्न कोई अन्य नाम-रूप भी नहीं रहता। और मैं यह जानने का बहाना नहीं कर सकता कि एक तथ्य के रूप में आत्मा शरीर के भीतर कहीं भी पूर्णतया समाप्त होती है या नहीं। परन्तु यदि तर्क के निमित्त यह मान भी लें, तो भी इससे कोई नयी कठिनाई नहीं उपस्थित होती। यहाँ हमारे सामने एक बार फिर ऐसी स्थिति आ गयी जिसमें भौतिक अवस्थाएँ आध्यात्मिक परिणाम की जननी बतायी गयी हैं, और इस विषय पर हमने जो चर्चा की है उसमें और कोई वृद्धि करने की भी आवश्यकता नहीं। और अपने अस्तित्व के समाप्ति-काल में आत्मा का क्या स्वरूप रहता है, इस विषय में हम पहले ही पूछ-ताँछ कर चुके हैं।

और इस समाप्ति के शीर्षक में वे सभी प्रसंग आ सकते हैं जिनमें कोई आध्यात्मिक संशक्ति केवल भौतिक-मात्र हुई प्रतीत होती है। मनोविज्ञान में एसे सम्बन्ध हैं जो कभी निश्चित रूप से अथवा सामान्य रूप से सचत प्रतीत होते हैं, परन्तु जो अब अंशतः, पूर्णतः, सदैव या कभी-कभी, बिना किसी आध्यात्मिक सम्बन्धों के घटित होते प्रतीत होते हैं। परन्तु मनोविज्ञान के लिए ये प्रसंग कितन ही मनोरंजक क्यों न हो, परन्तु तत्त्वज्ञान के लिए इनका कोई महत्त्व नहीं। और मैं यहाँ पर अपनी पूर्व चेतावनियों को दुहरा कर ही सन्तुष्ट हो जाऊँगा। प्रथम तो, जब हम आत्मा के भीतर एक अचेतन प्रक्रिया का नितान्त बहिष्कार कर देते हैं, तब हमें अपनी स्थिति का निश्चय होना सरल नहीं; परन्तु उसका बहिष्कार होकर केवल शरीर शेष रहने के पश्चात् भी, शरीर अपक्षाकृत ही 'केवल' होगा। हम किसी ऐसी स्थिति पर पहुँच जायेंगें, जहाँ यह आलोच्य आत्मा नहीं होगी, परन्तु जहाँ हम आत्मा को नितान्त अनपस्थित नहीं कह सकते, क्योंकि, प्रकृति का ऐसा कोई अंग नहीं, (अध्याय २२) जो आत्मा या आत्माओं के प्रत्यक्षतः अंग न हों। और हम दख चुके हैं कि, जो केवल भौतिक कहा जाता , वह कम-से-कम एक पृथक्कृति-मात्र है। वह अनुभव समष्टि से पृथक् होते हुए भी, उस पर निर्भर है।

मैं संक्षेप में, एक दूसरी वात पर विचार करूँगा। यह आक्षेप किया जा सकता है कि हमारे मत में भौतिक तत्त्व अथवा मन के नियमों में हस्तक्षेप करना, अथवा उनकी समाप्ति कर देना अभिप्रेत है। और, यह कहा जा सकता है कि ऐसा हस्तक्षेप पूर्णतया निर्मूल है। उस आक्षेप का आवार एक मिथ्या-वारणा है। प्रत्येक नियम जो सत्य होता है वह सदा, सर्वदा सत्य होता है, परन्तु दूसरी ओर, प्रत्येक नियम, निश्चित रूप से, एक पृथक्कृति है। और इसलिए सभी नियम केवल पृथक्कृत रूप में ही सत्य होते हैं आप परिस्थितियों को वदल दीजिए। सम्वन्धों को और स्थूल वनाने के लिए कुछ अन्य तत्वों की वृद्धि कर दीजिए, तो आप नियम को अतिक्रान्त हुआ पायगे। उसमें हस्तक्षप नहीं होता; और वह स्थिर रहता है; परन्तु यह वात इस विषय में लागू नहीं होती। वह पूर्णतया सत्य रहता है, परन्तु उसके द्वारा मानी हुई परिस्थितियों का जहाँ अभाव रहता है वहाँ वह लागू नहीं होता।

मैंने विस्तारपूर्वक शरीर और आत्मा के सम्वन्ध पर विचार किया है, परन्तु इसमें एक एसी प्रश्न-शृंखला उठ खड़ी होती है, जिसकी हमने अभी तक चर्चा ही नहीं की है। मैं इसको संक्षेप में निपटाने का प्रयत्न करूँगा। क्या हम यह कह सकते हैं कि केवल आत्मा शरीर को प्रभावित करती है, और क्या भौतिक तत्व के विना आत्मा का अस्तित्व सम्भव भी है, और यदि सम्भव है तो किस अर्थ में ? हमारे अनुभव में, निःसंदेह केवल आत्मा नहीं मिलती। वहाँ पर उसका अस्तित्व तथा प्रभाव भौतिक तत्व से अभिन्न रहते हैं, परन्तु यह जो कुछ सम्भव हो सकता है उसके विषय में एक प्रश्न स्पष्टतः हो सकता है। इस विषय में मैं प्रथम तो यह कहूँगा कि यदि केवल आत्मा का अस्तित्व है, तो मेरी समझ में यह वात आना कठिन है कि उसके अस्तित्व को कैसे सिद्ध किया जा सकता है। हम देख चुके हैं (अध्याय २२) कि शरीरों की विविधता की सीमाओं को नियत नहीं किया जा सकता। परन्तु, फिर भी, एक संप्रसारित शरीर अत्यधिक विकीर्ण तथा छिन्न-भिन्न हो सकता है, और फिर शरीरों का आत्माओं में पूर्णतया अथवा अंशतः विभाजन हो जाता है। और फिर किसी भी संग्रह-सहित तत्व का कोई शरीर वना हुआ क्यों न हो, उसके संभावित कार्यो और गुणों का प्रश्न फिर भी शेप रह जाता है। दूसरी ओर मैं नहीं समझता कि मैं इनकी सीमाओं को किस प्रकार निश्चित कर सकता हूँ। परन्तु दूसरी ओर, यदि हम ऐसा करने में असमर्थ रहते हैं, तो मैं नहीं समझता कि हम केवल आत्मा के अस्तित्व का निगमन भी किस क्रिया के द्वारा आरम्भ कर सकते हैं। और हमारा अव तक का परिणाम यह होगा। हम इस वात से सहमत हो सकते हैं, कि शरीर से पृथक् रूप में क्रिया करने वाला और अस्तित्व रखने वाला आत्मा, एक ऐसी वस्तु

है, जो संभव हो सकता है, परन्तु फिर भी हमार पास ऐसा तनिक भी कारण नहीं है जिससे हम उसे वास्तविक मान सकें।

परन्तु, क्या एसा आत्मा वस्तुतः संभव है ? अथवा हम पहल यह प्रश्न कर सकते हैं कि एसे आत्मा का अभिप्राय क्या है ? क्योंकि यदि उसको सभी सम्प्रसारण से पृथक् कर दिया जाय तो फिर भी वह सम्भवतः अपने नग्न रूप में न हो। विकृत गुणों के एक ऐसे व्यवस्था-तंत्र की कल्पना की जा सकती है जो सम्प्रसारित न होकर एक रूप हो, और यह आध्यात्मिक जीवन तक सहगामी हो और एक शरीर के रूप में काम आये (पृ० २३०)। हमार पास एसा कोई कारण नहीं, जिससे हम इस विचार को गम्भीरतापूर्वक स्वीकार कर सकें, परन्तु दूसरी ओर, क्या कोई एसी दलील भी है जो इसको असम्भव सिद्ध कर सके ? और शुद्ध आत्मा के विषय में भी हम इसी निष्कर्ष पर पहुँच सकते हैं। इस प्रकार के आत्मा का अर्थ होगा एक ऐसी आध्यात्मिक श्रृंखला, जो एक शरीर के रूप में काम आने वाले प्रत्येक गुण से रहित हो। निःसंदेह यदि वह एक ऐसी चेतना हो जो अभौतिक होते हुए भी, एक साथ ही एक स्थानीय तथा सम्प्रसारणी भी हो सके, तो वह निज रूप के साथ नितान्त असंगत होगी। परन्तु ऐसे स्वयं-विरोध में पड़ने की हमें कोई आवश्यकता नहीं। मेरा अनुमान है कि दिक् के भीतर किसी भी सम्प्रसारण अथवा स्थान से रहित आध्यात्मिक श्रृंखला की कल्पना भी सम्भव है। और जहाँ तक हमें ज्ञात है यह शद्ध श्रृंखला, सामान्यतः अथवा समय-समय पर शरीर को प्रभावित भी कर सकती है। यही नहीं हम जो भी जान सकते हैं उसके अनुसार इस प्रकार का नग्न आत्मा सम्भवतः इससे कुछ अधिक भी कर सके। जिस प्रकार हमने देखा कि आत्मा भौतिक परिस्थितियों से उद्भूत हो सकती है, उसी प्रकार घटनाओं के प्रवाह में भी आत्मा से किसी भौतिक तत्व से, भौतिक तत्व स्वतः उद्भूत हो सके। ये सभी वस्तुएँ इस अर्थ में 'संभव' हैं कि, हमारी जान में उनमें से किसी को भी अवस्तु सिद्ध नहीं किया जा सकता। परन्तु वे केवल-मात्र निरर्थक सम्भावनाएँ हैं। हमार पास उन्हें स्वीकार करने के लिए कोई अन्य आधार नहीं, और संभावित कल्पना में हम उनको कोई उल्लेखनीय महत्त्व नहीं दे सकते। परन्तु निःसंदेह जिसको सत्य मानने के लिए हमारे पास कोई और कारण नहीं है, वह ऐसी कोई वस्तु नहीं जिस पर विचार करन की हमें आवश्यकता हो। वस्तुतः उसे पूर्णतया असत्य मानन के अतिरिक्त हमारे पास अन्य कोई विकल्प नहीं।[1]

---

१. इन सारहीन कल्पनाओं में वस्तुतः किसी प्रकार की भी कोई रोचक वात नहीं। मृत्यु

हमने अभी शरीर के साथ आत्मा के सामान्य सम्बन्ध की चर्चा की। हम देख चुके हैं, कि उनमें से कोई भी सत् नहीं है। प्रत्येक एक नाम-रूपात्मक शृंखला है, और उन शृंखलाओं की कड़ियाँ, कालगत घटनाओं के रूप में कार्य-कारण-रूप में सम्बन्धित हैं। एक ओर उनकी पूर्वपरता में होने वाले परिवर्तन दूसरी ओर होने वाले परिवर्तनों से अभिन्न होते हैं और प्रभावित होते हैं। जहाँ तक शरीर और आत्मा का तनिक भी सम्बन्ध है, वहाँ तक यह सामान्य वस्तु-स्थिति है। परन्तु जब हम जाँच-पड़ताल करने लगें तो हमें एक अन्तर दिखायी पड़ा। शुद्ध आत्मा का अस्तित्व और प्रभाव एक सम्भावना-मात्र है। उसमें विश्वास करने का हमें कोई और कारण दिखायी नहीं पड़ता। और यदि यह तथ्य हो, तो न मैं यही समझ पाता हूँ कि हम उसका पता कैसे लगायें। परन्तु केवल शरीर का अस्तित्व और उसके परिणाम-स्वरूप आत्मा का प्रकट होना और आध्यात्मिक शृंखलाओं का आंशिक अभाव अथवा स्थगन, इन-सब बातों को हमने संभव होने से कहीं अधिक पाया। ठीक-ठीक अर्थ लगाने पर, यद्यपि उनको तथ्य-रूप में सिद्ध नहीं किया जा सकता, परन्तु फिर भी वे बहुत-कुछ संभावित प्रतीत होते हैं। फिर यह मानने के लिए तनिक भी कारण नहीं कि केवल भौतिक तत्त्व आध्यात्मिक अवस्थाओं पर कोई प्रत्यक्ष प्रभाव डालता है। उसकी सम्पूर्ण विशेषताओं के सहित इस सम्बन्ध का कोई ठीक-ठीक अन्दाजा लगाना बहुत अधिक कठिन है। परन्तु तत्त्वज्ञान के लिए जो बात अस्पष्टतः अनुभव करना महत्त्व रखती है, वह यह है कि ऐसी बारीकियों की रोचकता गौण स्थान रखती है। किसी भी अवस्था में नाम-रूप -शृंखला का परम सत् में एकीकरण होने से और उनकी विशेषताओं के किसी अतिक्रान्त-तत्त्व में विलीन होने तथा समा जाने से, शरीर अथवा आत्मा का स्वतः अस्तित्व भ्रामक है। पार्थक्य का उपयोग किसी उद्देश्य-विशेष के लिए हो सकता है, परन्तु वह, अन्ततोगत्वा एक असत्य तथा अस्थायी पृथक्करण है।

इस अध्याय को समाप्त करने से पूर्व आत्मा और शरीर के सम्बन्ध के विषय में कुछ कहना आवश्यक है। आत्माओं के बीच में आदान -प्रदान का ढंग, और फिर उनकी एकरूपता और भिन्नता, ये ऐसी बातें हैं जिनके मूल के विषय में हमें सावधान रहना चाहिए। प्रथम तो यह निश्चित है कि अनुभव एक-दूसरे से बिल्कुल पृथक होते हैं। उनकी इयत्ताओं में कितनी ही स्वरूपता क्यों न हो, वे दूसरी ओर पृथक

के पश्चात् आत्मा के बने रहने का प्रश्न आगे चलकर लिया जायगा। संभावित के सामान्य स्वरूप के विषय में, देखिए आगे अध्याय २४—२७।

भावना-केन्द्रों के तत्त्वों के रूप में प्रकट होकर भिन्न-भिन्न हो जाते हैं। सान्त सत्ताओं के अव्यवहित अवयव सामान्यत: एकीभूत नहीं हो सकते, और किसी के मन में जो व्यक्तिगत है उस पर प्रत्यक्ष स्वत्व होना, अन्ततोगत्वा कोई अर्थ नहीं रखता। इस प्रकार, कम-से-कम एक अर्थ में, आत्माएँ पृथक्-पृथक् हैं, परन्तु, दूसरी ओर, वे एक-दूसरे को प्रभावित करने में समर्थ हैं, और मैं सबसे पहले इस बात का पता लगाऊँगा कि वे वस्तुत: किस प्रकार प्रभाव डालती हैं।

जहाँ तक हमारा ज्ञान है, वहाँ तक एक आत्मा का दूसरे आत्मा पर प्रत्यक्ष प्रभाव पड़ना सम्भव है, परन्तु साथ ही हमारे पास ऐसा कोई कारण नहीं जिससे हम उसको इससे अधिक और कुछ समझा सकें। जहाँ तक हम समझते हैं, जो प्रभाव डालता है, वह सदा ही हमारे शरीरों के बाहर होता है। यदि हम दूर स्थित असाधारण प्रत्यय और प्रभाव को स्वीकार कर लें तो भी हमें इस निष्कर्ष को बदलने की आवश्यकता नहीं, क्योंकि इस प्रसंग में स्वाभाविक निष्कर्ष यह होगा, कि एक ऐसा माध्यम है जो दिक् में सम्प्रसारित है, और जो 'आकाश' के समान पूर्णतया भौतिक है और इस प्रकार यदि असाधारण सम्बन्ध का कोई अस्तित्व है, तो तत्त्वत: वह उससे भिन्न नहीं है जो कि प्रचलित और परिचित है, और फिर मेरा अनुमान है कि एक शरीर का अन्तर्गजगत दूसरे के अन्तर्जगत को प्रत्यक्षत: प्रभावित कर सकता है, परन्तु यदि यह सम्भव है, तो इस कारण हमें उसको वास्तविक मानने की आवश्यकता नहीं। और न इस प्रकार के प्रश्नों का तत्त्वज्ञान के लिए कोई महत्त्व ही है, क्योंकि चाहे शरीर हो या आत्मा अपर 'जगत' का प्रभाव इसलिए कम सबल नहीं माना जा सकता कि वह किसी बाह्य तत्त्व के द्वारा और उसके साथ कार्य करता है, और न वह प्रत्यक्ष होकर ही कोई अधिक सत्ता प्राप्त कर सकता है। और इतना कह कर हम एक ऐसी कल्पना से छुटकारा पा सकते हैं, जिसका अन्धविश्वास ने गलत उपयोग किया है, परन्तु जिससे किसी भी महत्त्व का कोई निष्कर्ष नहीं निकल सकता। हम यह नहीं कह सकते कि आत्माओं के बीच प्रत्यक्ष सम्बन्ध संभव नहीं है, परन्तु दूसरी ओर, हमें उसके अस्तित्व की कल्पना करने के लिए कोई कारण भी नहीं दिखता। इसके अतिरिक्त यह सम्भावना पूर्णतया निरर्थक प्रतीत होती है।

तो हम यह मान सकते हैं कि आत्माएँ अपने शरीरों के अतिरिक्त अन्य माध्यम से एक-दूसरे को प्रभावित नहीं कर सकती और इसीलिए केवल इसी एक ढंग से वे परस्पर आदान-प्रदान कर सकती हैं। जिस नाम-रूपात्मक वर्ग को मैं शरीर कहता हूँ उसमें होने वाले परिवर्तन भौतिक परिपार्श्व में और परिवर्तन उत्पन्न करते हैं, और इस प्रकार प्रत्यक्षत: अथवा अप्रत्यक्षत: दूसरे शरीरों में परिवर्तन होता

है, जिनके फलस्वरूप उनकी सहगामिनी आत्माओं की गति-विधि पर प्रभाव पड़ता है। मेरे आत्मा के विषय में सत्य सिद्ध होने वाला यह विवरण दूसरे आत्माओं पर भी अच्छी तरह लागू होता है। जगत् ऐसा है कि हम एक ही प्रकार की बौद्धिक सृष्टि कर सकते हैं। हम न्यूनाधिक रूप में एक ऐसा तंत्र खड़ा कर सकते हैं जिसके अन्तर्गत प्रत्येक को एक स्थान प्राप्त हो, एक ऐसा तन्त्र जो एकरूप तथा व्यवस्थित हो और जिसमें प्रत्येक प्रेक्षक-द्वारा प्रेक्षित सम्बन्ध-स्वरूप हो सकते हैं। यह क्योंकर तथा कैसे होता है; इस बात को हम अन्ततोगत्वा नहीं समझ सकते. परन्तु प्रकृति की ऐसी ही स्वरूपता के कारण आदान-प्रदान संभव हो सकता है।[1]

परन्तु इससे हमको एक सन्देह हो सकता है। हमारे भीतर जो-कुछ है, उसको प्रकट करने के लिए यदि शारीरिक परिवर्तन ही हमारा एक साधन-मात्र है, तो क्या हम अन्ततोगत्वा निश्चयपूर्वक कह सकते हैं कि हमने निःसन्देह उसको व्यक्त कर दिया? क्योंकि यह मान लेने पर भी कि हमारी विविध आत्माओं की इयत्ताओं में मौलिक भेद है, क्या हम उसी आधार पर उनकी एकरूपता के विषय में निश्चित नहीं हो सकते? आक्षेप गम्भीर है, और अंशतः इसको ठीक माना जाना चाहिए। मैं नहीं समझता कि इस विषय में हमारा कोई निश्चित मत है कि जिन इन्द्रियगोचर गुणों की हमको प्रतीति होती है, वे प्रत्येक के लिए एक-से ही हैं। हम अपनी बनावट की ऊपरी एकरूपता से यह निष्कर्ष निकालते हैं कि यह बात ऐसी ही है, और यद्यपि हमारा निष्कर्ष अभी प्रमाणित नहीं हुआ है, फिर भी उसमें बहुत बड़ी संभावना है। और फिर वस्तुतः यह असम्भव हो सकता है, कि जब सम्बन्ध एकरूप हों, तो गुण भिन्न-भिन्न हों; परन्तु यह प्रतिपादन करने का अर्थ होगा हमारे ज्ञान-परिधि से बाहर जाना। कुछ भी हो, जिस बात का हमें विश्वास है, वह संक्षेप में, यह है कि हम समझते हैं और हमको स्वयं समझा जाता है। वस्तुतः एक सैद्धान्तिक संभावना यह है कि इन अन्य शरीरों में कोई आत्मा नहीं है।[2] अथवा यह कि जब कि वे व्यवहार में तो यह प्रकट करते हैं उन्होंने हमको समझ लिया है। उनके आत्मा वस्तुतः उन जगतों में पृथक् रहते हैं जो हमसे परोक्ष हैं। परन्तु जब इस शुद्ध संभावना को छोड़ दिया जाता है, तो प्रश्न इस प्रकार रह जाता है कि एक सार्वजनिक सम्बुद्धिस्वीकार कर लेने पर भी, उसके अन्तर्गत क्या-क्या निहित

१. तुलना करो अध्याय २२। जहाँ तक मैं समझ पाता हूँ आत्माओं के कई तंत्र हो सकते हैं, जिनमें से प्रत्येक तंत्र प्रत्येक दूसरे तंत्र का परस्पर आदान-प्रदान की कोई प्रणाली रखता हो। इस विषय में निर्णय करने का हमारे पास कोई साधन प्रतीत नहीं होता।

२. मेरा अभिप्राय यह नहीं कि मेरे आत्मा के अन्तर्गत जितना भी अनुभव हो सकता है, वह सब-का-सब समा सकता है।

होगा ? यह कौन-सी न्यूनतम एकरूपता है जिसको हमें उसके अन्तर्गत मानने की आवश्यकता है ?

अन्यत्र इस प्रश्न पर चर्चा करना एक मनोविनोद का विषय हो सकता है, परन्तु मैं यहाँ पर केवल एक संक्षिप्त उत्तर की ओर संकेत करने का प्रयत्न करके सन्तुष्ट रहूँगा। तथ्य यह है कि मुख्यत:, हम ऐसे व्यवहार करते हैं कि मानों हमारे अन्तर्जगत् एक ही हैं। परन्तु इस तथ्य का अभिप्राय: यह है कि हम में से प्रत्येक का आन्तरिक तंत्र एक स्वरूप है। अपनी सभी सूक्ष्मताओं के द्वारा इन अनेक व्यवस्थाओं का परिणाम एक ही होना चाहिए। परन्तु, यदि यह वात है तो हम और आगे वढ़ कर कह सकते हैं कि प्रत्येक वस्तुत: एक ही वस्तु है। तो फिर इस प्रकार स्वरूप-व्यवस्थाओं में विविधता की मात्रा कितनी संभव हो सकती है ? मेरा अनुमान है कि हम जो कुछ भी जानते हैं उसके आधार पर हमारा यही उत्तर हो सकता है कि चाहे वारीकियों में भेद हो परन्तु सिद्धान्तों में भिन्नता नहीं हो सकती। एक ऐसी अवस्था भी प्रतीत होती है जिसके पीछे नियमों और तन्त्रों के वस्तुत: एक होने पर उनको वास्तव में एक होना चाहिए, और इन्द्रिय-ज्ञान के तथ्यों से हम जितना ही ऊपर जायेंगे, और हमारे सिद्धान्त जितने ही अधिक विस्तृत होते जायेंगे, हम एकरूपता की इस अवस्था के उतने ही अधिक निकट पहुँच जायेंगे। इस प्रकार हम मान सकते हैं कि इन्द्रिय गोचर गुण, एक अवस्था पर वहुत-कुछ विभिन्न होते हैं, जव कि यदि हम दूसरी ओर, पर्याप्त ऊपर चले जायँ तो हमें स्वरूपता को स्वीकार करना पड़ेगा, और इन दो अत्यन्तों के बीच जैसे-जैसे हम आगे वढ़ते हैं, वैसे-वैसे ही यह सम्भाव्यता वढ़ती जाती है कि स्वरूपता एकरूपता का परिणाम है; उदाहरण के लिए अधिक सम्भव है कि हमारी सामान्य नैतिकता किसी दूसरे मनुष्य में भी हो, परन्तु यह कम सम्भव है कि हम दोनों के स्वाद और गंध एक से ही हों। और इतना कह कर मैं इस विषय को छोड़ता हूँ जो कठिन होते हुए भी मनोरंजक है, परन्तु जो तत्त्वज्ञान के लिए केवल एक गौण-मात्र का है। कितनी ही विविधता क्यों न हो उसका प्रसार मूलभूत सिद्धान्त तक नहीं हो सकता, और सम्पूर्ण अनेकता एकीभूत होकर परम सत् में रूपान्तरित हो जाती है।

परन्तु एक ऐसी स्वाभाविक त्रुटि है जिसका संभवत: मैं संक्षेप में उल्लेख कर दूँ। यह कहा जा सकता है कि हमारे अन्तर्जगत् एक-दूसरे से पृथक होते हुए भी हमारे अनुभव का वाह्य जगत् सवका एक ही है, और इसी आधार पर खड़े होकर हम सब में आदान-प्रदान संभव हो सकता है। इस प्रकार का कथन ठीक नहीं होगा, मेरे वाह्य आलोचन मेरे विचारों अथवा मेरे मनोभावों की अपेक्षा मेरे लिए कम व्यक्तिगत नहीं है। दोनों ही अवस्थाओं में मेरा अनुभव मेरे निजी क्षेत्र के भीतर ही पड़ता है, एक ऐसा क्षेत्र जो

बाहर से बन्द है, और सभी तत्त्व समान होते हुए भी, प्रत्येक क्षेत्र अपने आप-पास के अन्य क्षेत्रों के लिए अपारदर्शक है। आदान-प्रदान की योग्यता की दृष्टि से, वस्तुतः कोई प्रकार-भेद नहीं है अपितु केवल मात्रा-भेद ही है। प्रत्येक अवस्था में आदान-प्रदान अप्रत्यक्ष रूप में तथा हमारे बाह्य तत्त्वों के माध्यम के द्वारा ही होगा; जो सच बात है वह यह है कि कुछ तत्त्वों में अभिव्यक्ति-प्रकार लचुतर तथा कम दोषयुक्त होंगे, और फिर प्रतीति की एकरूपता को निश्चित करने वाली परिस्थितियाँ कुछ तत्त्वों के साथ अधिक स्थायी तथा अधिक नियंत्रण-योग्य हों। इतना तो स्पष्ट प्रतीत होता है, परन्तु यह बात सच नहीं है कि हमारे भौतिक अनुभवों में कोई ऐसी एकता है जो किसी भी अर्थ में बाह्य कहे जाने वाले जगतों पर लागू नहीं हो सकती हो और व्यवहार में भी किसी आन्तरिक अनुभव की अपेक्षा बाह्य अनुभव को अभिव्यक्त करना सदा ही अधिक सरल नहीं है। संक्षेप में, आत्मा में प्रकट होने वाले किसी अस्तित्व के रूप में समझा जाने वाला प्रत्येक का सम्पूर्ण जगत्, उस आत्मा के लिए व्यक्तिगत तथा विशिष्ट होता है। परन्तु दूसरी ओर, यदि आप इयत्ता की एकरूपता पर विचार कर रहे हों, और उस आधार पर इस प्रकार के विशिष्ट अस्तित्वों को अतिक्रान्त कर रहे हों, तो, सिद्धान्त रूप में आन्तरिक और बाह्य जगत् के बीच एकदम कोई भेद नहीं है।[1] कोई भी अनुभव बाहर से नहीं देखा जा सकता, एकरूपता की प्रत्यक्ष गारण्टी सम्भव नहीं। हमारा एकरूपता का ज्ञान और हमारे आदान-प्रदान के ढंग, ये दोनों ही अप्रत्यक्ष तथा निष्कर्ष-सिद्ध हैं। उनको शारीरिक परिवर्तन का चक्र पूरा करना तथा उसका प्रतीक का प्रयोग करना आवश्यक है। यदि आत्माओं का कोई एक सामूहिक शासक भीतर से किसी भी एक को कोई सन्देश दे सकता, तो इस प्रकार का सन्देश शरीरों के विकारों के माध्यम को छोड़कर अन्य माध्यमों मे कदापि नहीं पहुँचाया जा सकता था। प्रत्ययात्मक इयत्ता की वह वास्तविक एकरूपता, जिसके द्वारा सभी आत्मा रहते हैं और गति करते हैं, कदापि एक काम नहीं कर सकती, जब तक कि बाह्य प्राकट्य के मार्ग को न अपनाएँ।

और इतना कहने के पश्चात्, हम आत्माओं में स्थित एकरूपता के प्रश्न पर आ जाते हैं। हम अभी देख चुके हैं कि अव्यवहित अनुभव अलग-अलग हैं, और संभवतः ऐसा कोई भी नहीं है, जो इससे विपरीत सम्मति देने का इच्छुक हो। परन्तु, मेरा अनु-

---

१. वस्तुतः यह ठीक है कि बाह्य अनुभव को ठीक, ठीक बाह्य होने के लिए यह आवश्यक है कि वह केवल मनोभाव की अवस्था से परे पहुँच चुका हो, और जिसको आन्तरिक अनुभव कहा जाता है उसके लिए ऐसा आवश्यक नहीं; परन्तु आंशिक में ही प्रस्तुत प्रश्न से सम्बन्ध रखता है।

मान है कि ऐसे लोग अवश्य हैं जो दो आत्माओं को, किसी पक्ष में, वस्तुतः एक होने की संभावना को अस्वीकार करेंगे। और इसलिए बहुत संक्षेप में, हमें इस विषय पर अपने विचारों को स्पष्ट कर लेना चाहिए।

निःसन्देह यह दलील देना बेतुका होगा कि दो व्यक्ति दो नहीं है अपितु केवल एक ही हैं; अथवा यह कि सामान्य रूप में, भेद भिन्न नहीं है, अपितु केवल एक ही है; और ऐसी दलील निःसन्देह एक जान-बूझ कर बनाया हुआ विरोधाभास होगा। परन्तु जिसको हमने अदृश्यों की एकरूपता का सिद्धान्त कहा है, उसका बिल्कुल एक दूसरा अर्थ है। उसका अभिप्राय यह है कि एकरूपता का अस्तित्व भिन्नता के साथ-साथ रह सकता है अथवा यह कि जो एकरूप है वह फिर भी एक रूप रहेगा, उसमें अन्य प्रकार से कितनी ही भिन्नता के साथ-साथ रह सकता है, अथवा यह है कि जो एक रूप है वह फिर भी एकरूप रहेगा, चाहे उसमें अन्य प्रकार से कितनी ही भिन्नता क्यों न हो। मैं शीघ्र ही इस सिद्धान्त की परिभाषा और अधिक स्पष्ट रूप से करने का प्रयत्न करूँगा। परन्तु जिस पर मैं पहले आग्रह करूँगा वह यह है कि उसको अस्वीकार करना सामान्य अनुभव का विरोध करना है। वस्तुतः इसका अभिप्राय ऐसे शब्दों का प्रयोग करना है जिनका कोई अर्थ नहीं हो सकता। क्योंकि आध्यात्मिक संशक्ति की प्रत्येक प्रक्रिया इसी आधार पर टिकी है, और जो अधिक स्पष्ट है उस तक पहुँचने के लिए हमारी बुद्धि की प्रत्येक गति पूर्णतया उस पर अवलम्बित है। यदि आप यह नहीं मानते कि एकरूपता के सर्वत्र विभिन्न सन्दर्भ होते हैं, तो आप विश्व को समझने में एक कदम भी आगे नहीं बढ़ सकते। जब तक कि आप यह नहीं मान लेते कि विभिन्न वस्तुओं की एकरूपता वास्तविक है, तब तक न तो परिवर्तन सम्भव है और न स्थायित्व; और किसी स्वरूप-पिंड की दिक् में होकर, गति करना तो दूर की बात है, उस अवस्था में न आत्मा होंगे और न वस्तुएँ, और संक्षेप में, कोई भी इन्द्रिय-गोचर तथ्य, निर्माण के इस सिद्धान्त को छोड़कर, हमें एक क्षण की अनुभूति तक ही सीमित रहना चाहिए और समानता तथा सादृश्य का प्रतिपादन करना, अन्धकार में निकल भागने के समान एक निरर्थक प्रयत्न होगा क्योंकि समानता स्वयं विचारपूर्वक देखने पर, इस संसार में एक न्यूनाधिक रूप में अनिश्चित स्वरूपता के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। यहाँ मैं एक ऐसे विषय का विवेचन नहीं करना चाहता, जिसका अन्यत्र मैंने संभवतः इतना निरूपण किया है, कि जो उबाने वाला हो गया है।[1] सम्भवतः जब तक कि

---

१. 'प्रिन्सीपल आफ लाजिक' पृ० २८६—७। तुलना करो 'एथिकल स्टेडिज', पृ० १६६। मैं नहीं समझता कि इस विषय में मेरा और श्री वोसां के (नालेज ऑफ रियल्टी पृ० ९७-१०८ का कोई खास मतभेद हो। मैं केवल यही और कहूँगा कि मनोविज्ञान में सामान्य सादृश्य, द्वारा प्राप्त

सादृश्य में कोई एकरूपता के संकटों से बचने के लिए एक शरणस्थल न ढूंढ़ा जाय, तब तक कोई भी शायद उसका सहारा नहीं लेता। और यह संकट केवल मिथ्या धारणा की उपज है।

एक ऐसी धारणा है कि एकरूपता भेद को स्वीकार नहीं करती, जब कि भेद निःसन्देह एक निश्चित तथ्य है। परन्तु, वस्तुतः एकरूपता, जब कि एक क्षेत्र से भेद को नहीं मानती, दूसरे क्षेत्र में वह अनिवार्यतः उसे स्वीकार करती है। और ये दोनों क्षेत्र कल्पना में भी अविभाज्य हैं। जब तक कि एकरूपता विभिन्न वस्तुओं की स्वरूपता न हो, पृथक्-पृथक् तत्त्वों को एकत्र करने वाली हो, परन्तु उनको अविकृत रखने वाली एकता न हो, तब तक एकरूपता का कोई अर्थ नहीं। और इसी प्रकार भेद एकरूपता का निषेध करते हुए भी, उसे मान करके चलता है, क्योंकि भेद का एक सम्बन्ध पर आश्रित होना आवश्यक है, और कोई सम्बन्ध एकरूपता के ही आधार पर सम्भव हो सकता है। ऐसे सत्यों के तिरस्कार करने की कोई इच्छा रखना, और आँख मूँदकर एकरूपता-रहित भिन्नता का आश्रय लेना सामान्य समझ की बात नहीं है। साधारण विज्ञान में, गति की सत्ता में कोई सन्देह प्रकट नहीं करेगा, क्योंकि उसके द्वारा ही विभिन्न समयों और दिशाओं में कोई एकरूपता हो सकती है। वस्तुओं को एकरूप होने के लिए सदैव भिन्न होना चाहिए, यह कोई विरोधाभास नहीं; निःसन्देह जब तक कि इसको विरोधाभास के रूप में न कहा जाय। जब तक कि हम गलती से इसका अर्थ यह न निकालें कि भिन्नता तथा एकता स्वयं वस्तुतः भिन्न नहीं है, तब तक यह बात बेतुकी प्रतीत नहीं होती, और इस मिथ्या धारण के अतिरिक्त एकरूपता के विरोध के लिए कारण और आधार केवल एकांगी और असमीक्षित तत्त्वज्ञान के द्वारा प्रस्तुत किये जाते हैं।

यह दोषपूर्ण विरोध एक सत्य पर आश्रित है, ऐसा सत्य जिसको समझने में गलती करके ग़लती में बदल दिया गया है; जिसकी धुँधली प्रतीति अथवा अनुभूति की गयी है, वह वस्तुतः एक ऐसा सिद्धान्त है जो, इस ग्रन्थ में हमारे सामने प्रायः उपस्थित हुआ है। अन्ततोगत्वा, सत् स्वाश्रित और पूर्णतया सीमित है, और इसलिए उसकी सत्ता

संशक्ति में तथा सुव्यक्त आंशिक एकरूपता,द्वारा प्राप्त संशक्ति में, विकल्प झूठा है। दो वस्तुओं के सदृश्य होने की भावना का यह अर्थ नहीं कि मैं उनमें एकरुप बातें हैं; परन्तु फिर भी इस भावना का आधार सदैव ही आंशिक एकरुपता होती है। इस विषय में एक अस्पष्टता के लिए देखिए—'स्टपम टोन साइकोलोजी' १; ११२–१४ और अब (जबकि मैं प्रेस के लिए इन शब्दों को दोहरा रहा हूँ) मुझे खेदपूर्वक स्टपम के नाम के साथ प्रो० जैम्स का नाम भी जोड़ना पड़ रहा है। मैंने इस स्पष्टता की परीक्षा और अधिक विस्तारपूर्वक 'माइंड संख्या ५ में की है। जेम्स के लिए देखिये संख्या ६।

सापेक्षिक नहीं है, और न यह अस्तित्व से इयत्ता का विभाजन ही स्वीकार कर सकती है। संक्षेप में, सापेक्षिकता और स्वातिक्रान्ति अथवा प्रत्ययशीलता अन्तिम सत् का स्वभाव नहीं हो सकता। और, यहाँ तक, हम एकरूपता के विरोधियों से सहमत हैं। परन्तु प्रश्न तो वस्तुतः उस निष्कर्ष का है जो इस दलील से निकलता है। हमारा निष्कर्ष यह है कि, अन्ततोगत्वा ससीम अस्तित्व सत् नहीं हो सकता, वह केवल एक आभास-मात्र है, जो, इस रूप में, चरम सत् में रूपान्तरित हो जाता है। परन्तु, ऐसे परिणाम का स्पष्टतः यह अर्थ नहीं कि, नाम-रूपात्मक जगत् में, एकरूपता असत् हैं। और, इसलिए जो परिणाम हमारे विपक्षी न्यूनाधिक स्पष्टता के साथ निकालते हैं, वह हमारे निष्कर्म से बहुत भिन्न है। सत् के स्वाश्रित स्वभाव से उन्होंने यह निष्कर्ष निकाला है कि विविध अस्तित्वों की सत्ता है---ऐसी सत्ताएँ जो सर्वथा अनेक तथा ससीम हैं, और जिनमें कोई तात्त्विक मेल नहीं।[1] परन्तु जैसा कि हम देख चुके हैं यह निष्कर्ष पूर्णतया निर्मूल है, क्योंकि अनेकता तथा पार्थक्य का अस्तित्व स्वयं सम्बन्धों के द्वारा सम्भव है। (अध्याय ३) किसी दूसरे से भिन्न होने का अभिप्राय ही यह है कि कोई अपनी निजी सत्ता को अतिक्रान्त कर गया है। और सम्पूर्ण ससीम अस्तित्व इस प्रकार, जटिल रूप से सापेक्षिक तथा प्रत्ययशील है। अपनी विशेष 'सत्ता' के बाहर, न्यूनाधिक रूप में, उनके गुण का ह्रास हो जाता है। और चाहे उसी रूप में हो अथवा विविध रूप में-उसके रूप का मेल विभाजक तत्त्व द्वारा और विभाजन तथा संयोजन समानतः प्रत्यय-शील है। परन्तु, यदि यह बात है तो जब तक कि इस दलील का कोई उत्तर नहीं मिलता, तब तक यह अस्वीकार करना असम्भव है कि एकरूपता एक तथ्य है।[2] हम इस बात से सहमत हैं कि वह अन्ततोगत्वा वास्तविक नहीं है, परन्तु फिर यह बात भी है कि तथ्य स्वयं अन्तिम नहीं होते और यह प्रश्न केवल नाम-रूपात्मक जगत् तक सीमित है, क्योंकि भेद स्वयं केवल नाम-रूपात्मक और स्वयं निःसन्देह अंतिम नहीं है। और मेरी समझ में, मुझे इस अध्याय की समाप्ति, इसी उत्तर के साथ ही कर देनी चाहिए। हम कह सकते हैं कि हमें तथ्यों का ऐसा क्षेत्र दिखलाइए जो न तो भिन्न है और न सरूप ही; हमें यह भी बतलाइए कि सम्बन्ध-हीन गुण, अथवा केवल मात्र सत्ता किस प्रकार भिन्न हो सकती है, संकेत कीजिए कि सरूपता के पूर्ण बहिष्कार के पश्चात् भिन्नता

---

१. जिन अंग्रेजी लेखकों ने एकरुपता का विरोध किया है, उन्होंने अणुवाद और सापेक्ष-वाद को साथ-साथ रहने दिया है। और जहाँ तक मुझे ज्ञात है किसी ने सम्बन्धो की प्राग्र स्थिति की गम्भीर व्याख्या का तनिक भी प्रयत्न नहीं किया है। तु० क०..'प्रिन्सीपल्स आफ लाजिक पृ० ९६।

२. तथ्य के अभिन्न विशेषण के अर्थ में तथ्य; देखिए:--पृ० २८०।

का क्या अर्थ रह जाता है; हमें वह उपाय दिखलाइए, जिससे, सदृशता और भिन्नता के प्रत्ययात्मक न होने पर भी, उनका अस्तित्व कैसे रह सकता है, हमें यह भी समझाइए, कि यदि एकरूपता वास्तविक नहीं है, तो अनुभव-जगत् किस प्रकार, किसी भी भाग में, एकीभूत रह सकता है—कम-से-कम इतना प्रयत्न कीजिए, अन्यथा यह स्वीकार कीजिए कि एकरूपता प्रत्ययात्मक है और, साथ ही एक तथ्य है; तथा आपके आक्षेप का आधार अस्पष्टता तथा परम्परागत पूर्वाग्रह के अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं है।

परन्तु, जो सिद्धान्त यह कहता है कि एकरूपता वास्तविक है और भेदों से उसका नाश नहीं होता, उसकी, जैसा कि हम देख चुके हैं, व्याख्या की आवश्यकता है। उदाहरण के लिए, यह मानना असंगत होगा कि दो आत्मा वस्तुतः एक हैं, क्योंकि एकरूपता में सदैव भेद अभिप्रेत है, और वह उस पर आश्रित रहती है, और अब इस प्रश्न पर हुई चर्चा को पर्याप्त मान सकते हैं। परन्तु, न तो हम यही अस्वीकार करते हैं कि ये भेद, एक अर्थ में, उसको प्रभावित करते हैं, और न हम यही कह सकते हैं कि एकरूपता सदा एक कार्य-कारणात्मक सम्बन्ध है। मैं इन बातों को क्रमानुसार लूँगा।

हम यह कह सकते हैं कि जो बात एक बार सत्य होती है, वह सदैव सत्य होती है; अथवा जो बात एक सन्दर्भ में सत्य होती है, वह दूसरे सन्दर्भ में भी सत्य ही रहती है। परन्तु, ऐसा कहने में हमें एक गलती से सावधान रहना चाहिए क्योंकि यह स्पष्ट है कि परिस्थितियों की भिन्नता सदृशता में भी भिन्नता उत्पन्न करेगी, और यह निश्चित है कि सन्दर्भ अपने एकरूप तत्त्व में भी परिवर्तन ला सकते हैं। अर्थात्, यदि आप विरोधी छोर की ओर दौड़ लगाते हुए, अपने सत्यों को पूर्णतया उनकी परिस्थितियों में ही निमग्न करते चले जायँ; यदि आप समस्त अनेकता या विविधता से किसी प्रकार पृथक्करण स्वीकार नहीं करें, तो एकरूपता का सिद्धान्त लागू नहीं होता। तब आप उसी वस्तु को विभिन्न परिस्थितियों में नहीं पायेंगे, क्योंकि तब आप भेद के अतिरिक्त अन्य किसी वस्तु को देखना स्वीकार नहीं करेंगे। परन्तु, यदि हम दोनों ओर, इन भूलों का परिहार कर सकें तो सिद्धान्त स्पष्ट हो जाता है। एकरूपता स्पष्ट रूप से तत्त्वतः न्यूनाधिक रूप में सूक्ष्म होती है; और जब हम उसके विषय में कहते हैं कि अन्य पक्षों के होते हुए भी एकरूपता का वह पक्ष स्थायी रहता है और सत् है। हम यह नहीं कहते हैं कि उसका सम्प्रसारण कहाँ तक होता है अथवा वह सहगामिनी विविधता से क्या अनुपात रखती है; परन्तु जहाँ तक भी वह एकरूपता रहती है वह वस्तुतः तथा सचमुच एक ही होती है यदि किसी नियम से कोई नवीन उदाहरण प्रस्तुत किया जाय, तो सम्पूर्ण परिणाम में इस तत्त्व के उपेक्षित प्रतीत होते हुए भी वह नियम फिर भी लागू होता है। सामान्य परिणाम को बदलने में यहाँ पर अन्य परिस्थितियाँ मिल गयी हैं, परन्तु

नियम स्वयं पूरी तरह से लागू होता रहता है और अपनी एकरूपता को स्थिर रखता रहा है। और, यदि दो ऐसे व्यक्ति हों जिनकी इयत्ता का कोई अंग अज्ञेय हो, तो जब तक यह बात है तब तक, हमें उनको एकरूप मानने के लिए बाध्य होना पड़ेगा। उनकी भिन्नता कितनी ही प्रमुख क्यों न हो, प्रत्येक पृथक् योग का सम्पूर्ण प्रभाव कितना ही भिन्न क्यों न हो, फिर भी, यह सब होते हुए भी उनमें जो स्वरूप-तत्त्व है वह एक है वह एक है और एकरूप है। और, हमारे सिद्धान्त को यदि इस प्रकार समझा जाय तो वह निःसन्देह आक्षेप-योग्य नहीं रह जाता, और सम्भवतः वह विरोधाभास की अपेक्षा तुच्छ अधिक प्रतीत होता है। उसके परिणाम निःसन्देह प्रायः तुच्छ, अत्यन्त रिक्त और व्यर्थ से होंगे। उसका महत्त्व बदलती हुई परिस्थितियों के साथ बदलता है। यह कहना कि दो आत्माओं में उनकी इयत्ताओं का एक तत्त्व सर्व-साधारण है, कोई महत्त्व नहीं रखता। इस प्रकार के ज्ञान से संभवतः अत्यन्त गम्भीर तथा अत्यधिक आधारभूत सत्यों का आश्वासन प्राप्त हो सके। परन्तु सिद्धान्त स्वयं सूक्ष्म होने के कारण इन सभी बातों के विषय में कुछ भी नहीं बताता।

हमारा सिद्धान्त किन्हीं कामचलाऊ सिद्धान्तों के विषय में कुछ भी नहीं बताता। उससे हम यह नहीं जान पाते कि दो वस्तुओं का कोई स्वरूप-तत्त्व इस प्रकार अन्यथा प्रभावित करता है, कि वहीं जिससे अन्य परिवर्तन घटित हो सके, क्योंकि कोई वस्तु किस प्रकार काम करती है, यह बात उसके विशेष सम्बन्धों पर आश्रित है, जब कि, जैसा हम देख चुके हैं, यह सिद्धान्त पूर्णतया सामान्य रहता है। उदाहरण के लिए एक साथ रहने वाले दो आत्मा अपनी एकरूपता के द्वारा सक्रिय सहयोग में प्रविष्ट हो सकते हैं। यदि उन्हीं को समय की दृष्टि से अलग कर दिया जाय तो यह हमारे ज्ञान के लिए असम्भव होगा। परन्तु दूसरी अवस्था में भी एकरूपता का वस्तुतः उतना ही अस्तित्व है जितना कि पहली अवस्था में। स्वरूपता का परिमाण, स्वरूपता-प्रकार और स्वरूपता-परिणाम—ये सभी बातें हमारे सूक्ष्म सिद्धान्त के बाहर की वस्तुएँ हैं। परन्तु यदि कोई इस आधार पर अपने आक्षेप को आश्रित करता है, तो वह वस्तुतः इस प्रकार की दलील देता हुआ देखा जायगा कि, वास्तव में विभिन्न एकरूपताओं का अस्तित्व है; इसलिए एकता का तथ्य-रूप में कोई वास्तविक अस्तित्व नहीं। और इस प्रकार स्थिति तर्क-शून्य प्रतीत होती है।

हमारा अभी तक का निष्कर्ष यह है कि आत्माओं के बीच स्वरूपता एक तथ्य है। उनकी इयत्ता की एकरूपता ठीक उतनी ही वास्तविक है, जितना कि उनका पृथक् अस्तित्व। परन्तु, दूसरी ओर, इस एकरूपता का यह अभिप्राय नहीं होना चाहिए कि उनके बीच कोई अन्य सम्बन्ध भी है। जहाँ तक हम समझ सकते हैं, उसको किसी

प्रकार भी सक्रिय होने की आवश्यकता नहीं, और जहाँ वह सक्रिय होता है, वहाँ उसकी क्रिया सदैव अप्रत्यक्ष प्रतीत होती है। आत्मा एक-दूसरे को केवल अपने शरीरों के माध्यम से प्रभावित करते हुए प्रतीत होते हैं।

परन्तु, एक कामचलाऊ नियम के रूप में, एकरूपता की यह सीमित दृष्टि, उस समय अवश्य बदलनी चाहिए, जबकि हम व्यष्टि की आत्मा पर विचार कर रहे हैं। उसके आन्तरिक इतिहास में हमें यह स्वीकार करना पड़ेगा कि उसकी अवस्थाओं की एकता एक वास्तविक प्रेरक है। दूसरे शब्दों में यह आन्तरिक व्याख्या प्रकृति पर सर्वत्र लागू होती है, तो आत्माओं पर विचार करते समय कम-से-कम अंशतः उसे छोड़ ही देना चाहिए; और मैं इस महत्त्वपूर्ण भेद की ओर संकेत करते हुए इस अध्याय को समाप्त करूँगा।

यहाँ मेरा प्रकृति से अभिप्राय और भौतिक जगत् से है, जिसको केवल भौतिक रूप में और आत्मा से पृथक् समझा जाय (अध्याय २२)। और, प्रकृति में स्वरूपता तथा विरूपता का अस्तित्व सर्वत्र ही माना जा सकता है, परन्तु सक्रिय रूप में कहीं भी नहीं। कम-से-कम प्राकृतिक विज्ञान का यही आदर्श प्रतीत होगा; यद्यपि व्यवहार कोई तत्त्व केवल स्वरूप होने से ही अथवा विरूप होने से ही किसी दूसरे तत्त्व के लिए कुछ नहीं है। क्योंकि यह तो केवल आन्तरिक विशेषताएँ हैं जब कि जो सक्रिय तत्त्व होता है, वह प्रत्येक अवस्था में एक बाह्य तत्त्व होता है।[1] परन्तु यदि यह बात है तो प्रथम दृष्टि में स्वरूपता और विरूपक का सम्भवतः कुछ भी अर्थ न हो। वे ऐसे निरर्थक अलंकरण की भाँति प्रतीत हो सकते हैं, जिनसे सुसंगत होने का दावा करने वाले विज्ञान को मुक्त हो जाना चाहिए। फिर भी, इस प्रकार का निष्कर्ष अपरिपक्व होगा, क्योंकि यदि ये दो विशेषताएँ निकाल दी जायँ तो विज्ञान का रूप ही नष्ट हो जाता है। बिना उनके 'क्यों' अथवा 'क्योंकि' कहना कदापि संभव नहीं होगा। और यदि हम स्वरूपक और विरूपक के कार्य पर विचार करें, तो हमें वह स्पष्ट मालूम हो जायगा, क्योंकि जो बाह्य सम्बन्ध कार्य करते हैं, उनकी समदृष्टि नियमों में हो जाती है, और इसके विपरीत पृथक् तत्त्वों की आन्तरिक विशेषताएँ उन्हें सार्वभौम-शृंखलाओं अथवा

---

१. मैंने इस ग्रन्थ में, उस मत के विषय में कुछ भी कहने की आवश्यकता नहीं समझी, जो 'प्रभाव' में ही समस्त गुत्थियों का हल प्राप्त कर लेता है। क्योंकि प्रथम तो यह बात समझना सरल नहीं प्रतीत होता, कि केवल आदत को छोड़कर, अन्य प्रकार से प्रभाव की क्रिया क्यों स्वयं-स्पष्ट न हो और, दूसरे यह समझना बिलकुल अविचार-शीलता होगी कि प्रभाव के द्वारा हम सार्वभौम से छुटकारा पा सकते हैं। सम्पूर्ण सापेक्ष तथा विशेषातीत एक प्रत्यात्मक एकता के प्रभाव के लिए उतनी ही आवश्यक है, जितनी किसी अन्य वस्तु के लिए।

संयोगों से सम्बद्ध कर देती हैं। इस प्रकार निष्क्रय होते हुए भी स्वरूपता और विरूपता फिर भी अप्रत्यक्ष रूप में सक्रिय तथा वस्तुतः अनिवार्य है। यांत्रिक दृष्टि का यही सारांश प्रतीत होता है। परन्तु मैं यह कहने में असमर्थ हूँ कि अभी तक व्यवहार में इसका प्रयोग प्रकृति के उच्चतर क्षेत्रों में कहाँ तक हुआ है, और मैं यह भी नहीं जानता कि उदाहरण के लिए, दिक् के भीतर क्रमागत गति की एकरूपता के प्रतीयमान रूप का अर्थ ठीक-ठीक किस प्रकार लगाया जाय। सामान्यतः यांत्रिक दृष्टि सिद्धान्त रूप में अर्थहीन है, क्योंकि नियमों की स्थिति नितान्त असंगत तथा अवुद्धिगम्य है। यह वस्तुतः एक ऐसा दोष है जो अनिवार्यतः प्रत्येक विज्ञान में है (अध्याय ११); परन्तु प्रकृति के क्षेत्र में यह कम-से-कम है। इस प्रकार भौतिक तत्त्वों की एकरूपता उनकी अपनी सत्ता से वहिर्गत कही जा सकती है; और उनकी सार्वभौमता का वहिष्कार होकर केवल मात्र नियमों में स्थिति अवशिष्ट हुई प्रतीत होती है। और ये नियम, एक ओर तो भौतिक नहीं हैं, और दूसरी ओर वे प्रकृति के लिए अनिवार्य प्रतीत होते हैं। इसलिए प्रकृति का सार-तत्त्व उसके लिए एक वाह्य वस्तु वन गया है, और दोनों ओर अस्वाभाविक रूप से पृथक्कृत प्रतीत होता है। फिर भी वाह्य विवशता एक ऐसा कामचलाऊ सिद्धान्त है, जो कि भौतिक जगत् में लायक समझा जाता है। और कम-से-कम यदि हम अपने आदर्श के प्रति सच्चे हैं तो, प्रकृति में न तो एकरूपता और न भिन्नता ही कार्य कर सकती है।

जब हम मनोविज्ञान को देखते हैं, तो यह वात वदली हुई प्रतीत होती है। मेरा अभिप्राय यह नहीं कि वहाँ पर यांत्रिक दृष्टि पूर्णतया समाप्त हो जाती और न मेरा अभिप्राय यह है कि जहाँ पर उसका उल्लंघन होता है, जैसा कि सुख और दुःख की क्रिया में; वहाँ पर जो सक्रिय है, वह अवश्य ही प्रत्ययात्मक होगा।[१] परन्तु न्यूनाधिक सीमा में सम्पूर्ण मनोविज्ञान व्यवहार में एकरूपता की सक्रिय शक्ति को स्वीकार करने के लिए वाध्य होता है। कोई मनोवैज्ञानिक इस शक्ति का उपयोग अनजाने कर सकता है, और इस वात को अस्वीकार कर सकता है कि वह उसका उपयोग करता है। परन्तु, उसके विना उसको उस विषय में कुछ भी करना सम्भव नहीं। मैं यहाँ पर सायुज्य अथवा सारूप्य के सिद्धान्त को स्पर्श करना नहीं चाहता जिसका अंग्रेजी मनोवैज्ञानिक तिरस्कार कर चुके हैं। मैं एकदम आकलन अथवा आसन्नता से होने वाली 'संशक्ति' को लेता हूँ। यहाँ हमें यह कहने के लिए वाध्य होना पड़ता है कि इस समय आत्मा के भीतर जो घटित हो रहा है, उसका कारण वहाँ पर उससे पूर्व घटित होने वाली कोई अन्य वस्तु है। और फिर, वर्त्तमान को भूत से सम्बन्ध करने वाली एकरूपता

१. इस विषय के लिए, और आने वाले विषय के लिए—तुलना करो-'माइन्ड', पृ० ३६०।

के प्रसंग से भी वह घटित होता है।[1] इसका अभिप्राय यह है कि आत्मा के अन्तर्गत अतीत-संयोग उसकी सत्ता का एक नियम हो गया है। वहाँ उसका वास्तविक अस्तित्व होने का कारण पुनः यह है कि वह पुनः एक बार घटित हुआ और वर्त्तमान तथा भूत में इयत्ता का एक तत्त्व वही है। इस प्रकार आत्मा में हम आदतें पा सकते हैं। जब कि केवल-मात्र भौतिक होने वाली आदतें उसमें केवल संदिग्ध-रूपक के द्वारा ही कही जा सकती हैं। जहाँ पर वर्त्तमान और भूतकाल की क्रिया एकरूपता के किसी आन्तरिक आधार पर अवलम्बित न हो, वहाँ पर यदि आदत शब्द का प्रयोग किया जाय तो उसका फिर कोई अर्थ नहीं रह जाता।[2] अतः हम यह कह सकते हैं कि बहुत हद तक आत्मा स्वयं अपनी नियामक है, अपने वर्त्तमान तथा भूत की एकरूपता में स्वयं को निहित रखती है, और (प्रकृति के विपरीत) उसमें अपना निजी प्रत्यय-तत्त्व होता है, जो कि इससे नितान्त बहिर्गत नहीं होता। यह सर्वथा एक ऐसी दृष्टि है, जो कितनी ही गलत होने पर भी प्रत्येक व्यावहारिक मनोवैज्ञानिक द्वारा प्रयुक्त की जायगी।

परन्तु यहाँ मैं शीघ्र ही यह कह दूँ कि इस दृष्टि में गम्भीर अपूर्णता रह जाती है। अन्ततोगत्वा यह मानना असम्भव है कि किसी भी वस्तु का अस्तित्व इसलिए है कि वह पहले से रहा है। और आत्मा के सम्बन्ध में इस प्रकार किसी आक्षेप को दो ओर से घसीटा जा सकता है। पहले यह मान लीजिए कि मेरे शरीर के सदृश कोई अन्य शरीर बनाया गया तो क्या मैं इस बात को अस्वीकार कर सकता हूँ कि इस शरीर में भी वह प्रत्येक वस्तु होनी चाहिए जिसको मैं अपना 'स्व' कहता हूँ ; जब तक कि आत्मा को एक निष्क्रय लगाव की स्थिति में रख दिया जाता है, तब तक के लिए सिद्धान्त रूप में मैं इस परिणाम को पहले ही स्वीकार कर चुका हूँ। मेरा अनुमान है कि ऐसी किसी भी अवस्था में वही संशक्तियाँ और निःसन्देह एक वही स्मृति रहेगी। परन्तु हम फिर इस बात को नहीं कह सकते कि इस तथ्य समय आत्मा का अस्तित्व है, क्योंकि वह पहले से रहा है; अपितु एक अर्थ में हम यह कहने के लिए विवश हो सकते हैं कि आत्मा पहले से भी रहा है। क्योंकि वह इस समय है इस काल्पनिक प्रसंग से हम वस्तुतः फिर मनो-दशाओं की समस्याओं पर आ गये हैं; जिनको हमने पहले समाधान-सहित पाया। जहाँ तक हम समझते हैं, उसके समाधान में शरीर तथा आत्मा कहे जाने वाले सृजनों में से प्रत्येक मिट जायगा।

---

१. मैं अपने 'प्रिन्सिपल्स आफ लाजिक' में दिखला चुका हूँ कि आसन्नता को केवल सादृश्य-द्वारा नहीं समझाया जा सकता, वहाँ पर विचार-'संशक्ति' विषयक अध्याय देखिए।

२. प्रश्न का सम्बन्ध आन्तरिक एकता की उस मात्रा से सम्बन्धित होता प्रतीत होता है, जिसको हम एक भौतिक वस्तु का गुण मानने को तैयार है।

और दूसरी ओर आन्तरिक दृष्टि से विचार करने पर एकरूपता की मनोवैज्ञानिक दृष्टि को किसी कम-रूप में एक समझौता नहीं कहा जा सकता। हम सम्भवतः इस वात के स्मृति के विविध रूपों पर विचार करके समझ सकें। दूसरी ओर हमको स्मरण इसलिए रहता है, कि हमारे अस्तित्व में पूर्ववर्ती घटनाएँ होती हैं। परन्तु इसके विपरीत स्मृति अत्यन्त स्पष्ट रूप से एक वर्त्तमान-मूलक निर्माण है, और वह पूर्णतया उस पर निर्भर है, जो कि हम इस क्षण हैं। और, इस दूसरी दिशा में यदि हम आगे बढ़ते चले जायें तो हम पूर्णतया मनोवैज्ञानिक दृष्टि के वाहर तथा स्मृति के पूर्णतया परे पहुँच जाते हैं, क्योंकि विचार के प्रमुख उद्देश्य को आत्मा के भीतर स्थित शुद्ध संयोगों से मुक्त होने का प्रयत्न किया जा सकता है। अन्ततोगत्वा एक सच्चा सम्वन्ध हमारी समझ में केवल इसीलिए सच्चा नहीं है, कि किसी-न-किसी समय उसके तत्त्व के एक साथ घटित हुए शुद्ध संशवितयाँ स्वयं सदैव प्रारम्भ से ही सार्वभौम होती हैं।[1] इसलिए वे विचार के द्वारा जान-बूझकर शुद्ध की जाती हैं। शुद्ध तथ्यों, एक असंगत संदर्भ के साथ अस्त-व्यस्त संयोग रखने वाले सम्वन्धों, से प्रारम्भ करके विचार उनको रूपान्तरित करने का प्रयत्न करता है। उसकी प्रगति एक ऐसे आदर्श जगत में समाप्त होती है, जहाँ किसी को भी किसी वाह्य तत्त्व से सम्बन्धित होने के लिए वाध्य नहीं किया जाता, अपितु जहाँ इसके विपरीत सत्य एक आत्यन्तिक सापेक्षिकता के रूप में होती है। यहाँ पर प्रत्येक तत्त्व का अस्तित्व इसलिए होगा कि कोई अन्य तत्त्व है जो कि उसे सहारा दे रहा है; और, जिस अन्य तथा परिपूर्ण में उसको अपनी एकरूपता प्राप्त होती है। मैं निःसन्देह यह वात स्वीकार करता हूँ कि इस आदर्श का पूर्ण रूप से साक्षात्कार नहीं किया जा सकता (अध्याय १५); परन्तु इसको एक ऐसी कसौटी प्राप्त होती है, जिसके द्वारा हम प्रत्येक ऐसी वस्तु को परख सकते हैं, जो कि स्वयं को सत्य के रूप में प्रस्तुत करती है। इस कसौटी से परखने पर मनोवैज्ञानिक दृष्टि निन्दा ठहरती है। एक जुड़ी हुई शृंखला के रूप में यह समस्त नाम-रूपात्मक जगत् और इस जगत् में शरीर तथा आत्मा-नामक दो सृष्टियाँ समान रूप से सत् को समझने के अपूर्ण साधन हैं। और, ये साधन प्रत्येक अवस्था में अस्थिर सिद्ध हुए हैं। वे निरंकुशतापूर्वक की हुई मान्यताएँ हैं, जो अपनी उन सीमाओं को अतिक्रान्त करती रहती हैं, जिनको हम अभ्यास के लिए वाँधने के लिए बाध्य हो जाते हैं; और इसका

---

१. मैंने इस वात को 'प्रिंसिपल्स ऑफ लॉजिक' पृ० ३४, ३०९ में सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। मैं यह अनुमान करने का साहस करता हूँ कि इस विषय में स्पष्टता न होने के कारण मनोविज्ञान की अत्यधिक हानि हो रही है।

परिणाम सर्वत्र असंगति होती है। हमने देखा कि विना एकरूपता के काम करने का प्रयत्न करने में, शरीर अबुद्धिगम्य हो जाता है। और, हमने यह भी देखा कि अपने जीवन में एकरूपता को एक कार्य मान लेने पर आत्मा भी एक समभ्रांति-मात्र में समाप्त हो गयी। ये दोनों वस्तुएँ आभास हैं, और दोनों असत्य हैं, परन्तु असत्यता की भी मात्रा होती है। और, भौतिक जगत् से तुलना करने पर आत्मा वस्तुतः कम असत्य है। वह बहुत अधिक हद तक उस स्वावलम्बन को प्रकट करती है, जो कि सत् का सार है।

परन्तु सत् की मात्राओं की चर्चा हम आगे करेंगे, अब हम यहाँ पर संक्षेप में इस अध्याय के निष्कर्ष को दोहरा लें। हम देख चुके हैं, कि शरीर और आत्मा नामरूपात्मक सृष्टियाँ हैं। उनमें से प्रत्येक असंगत पृथक्करण है, जो केवल सैद्धान्तिक सुविधा के लिए, अलग-अलग रखे जाते हैं। और, हमने देखा कि शरीर की श्रेष्ठ सत्ता एक अन्धविश्वास-मात्र है। यहाँ से हम उस सम्बन्ध पर पहुँचे, जो इन दो कामचलाऊ सृष्टियों को मिलता हुआ प्रतीत होता है। हमने उसकी परिभाषा उपस्थित करने का प्रयत्न किया।[1] हमने केवल सारूप्य की कल्पना तथा आत्मा के एकांगी आश्रय, इन दोनों का तिरस्कार कर दिया, और हमने यह कहा कि जो विशेषण किसी विशेष्य में अन्तर नहीं पैदा कर सकता, वह मूर्खतापूर्ण है। तब हमने संक्षेप में, शुद्ध आत्मा तथा शुद्ध शरीर की संभावनाओं पर विचार किया, और हम इससे उन सम्बन्धों पर जा पहुँचे जो वस्तुतः आत्माओं के बीच में पाये जाते हैं। हम इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि आत्मा वस्तुतः एक-दूसरे को प्रभावित करते हैं परन्तु, हमने इस बात का आग्रह किया, कि इतना होते हुए भी, आत्माओं के बीच की प्रत्यात्मक एकरूपता एक वास्तविक तथ्य है। सबसे अंत में हमने यह देखा

---

१. मैं उस मत के प्रति अपने दृष्टिकोण को स्पष्ट करने के लिए कुछ और शब्द कहूँगा जो आत्मा को अपने शरीर की प्रयत्नशील मानता है। यदि उस मत के द्वारा शरीर और आत्मा को संयुक्त रूप में एक अन्तिम सत्ता मान लिया जाय, तो भी मैं उसको इस आधार पर अमान्य ठहराऊँगा; अथवा मैं निःसंदेह यह मानता हूँ कि व्यक्तिगत व्यक्तित्व प्रत्यात्मक है, और आत्मा सामान्य रूप से अपने व्यक्तित्व को शरीर परे किसी स्तर पर मानता है। परन्तु मैं यह कहने में हिचकिचाता हूँ कि आत्मा और शरीर इस प्रकार संगति रखते हैं, कि आत्मा को बराबर शरीर की पूर्णता तथा आन्तरिक सत्ता कहा जा सके। और, मैं अपने इस अधिकार में भी संदेह करता हूँ कि आत्मा और शरीर को एक साथ सामान्यतः एक ही ससीम व्यक्ति का निर्माण करने वाला अथवा उसके सम्बन्ध करनेवाला मानें, और मैं इस बात को नहीं मानता कि शरीर और आत्मा का सम्बन्ध वस्तुतः या तो बुद्धिगम्य है अथवा अनिर्वचनीय। इस प्रकार इस सम्पूर्ण सिद्धान्त के प्रति मेरा दृष्टिकोण मुख्यतः—सहानुभूतिपूर्वक तटस्थ है।

कि, व्यक्ति के मनोवैज्ञानिक जीवन में, हमें एकरूपता के सक्रिय प्रभाव को स्वीकार करना पड़ा। और हमने इस अध्ययन का अंत उस विचार-विमर्श से किया, जो बाहर से हमारे समीप रहा है। हम यहाँ पर ऐसी समस्याओं पर विचार करते रहे हैं, जिनके पूर्ण समाधान में, शरीर और आत्मा का विकास निहित है। हम स्वभावतः उस तत्त्व के विचार करने को विवश हो गये, जो कि उनसे परे हैं।

चौबीसवाँ अध्याय

सत्य और सत् की मात्राएँ

पिछले अध्याय में हम सत्य और सत् की मात्राओं के प्रश्न पर पहुँच गये, और अब हमें यह स्पष्ट करने का प्रयत्न करना है कि उस कल्पना के भीतर क्या क्या है। इस बात को पूरी तरह से और विस्तार के साथ दिखाने के लिए हमें बहुत दूर तक जाना पड़ेगा। यह दिखाने के लिए कि भौतिक और आध्यात्मिक जगत् किस प्रकार विभिन्न अवस्थाओं और मात्राओं में, एक परम तत्त्व का साक्षात्कार कर पाता है, हमें एक तत्त्व-ज्ञान-तंत्र में जाना पड़ेगा। और, इस प्रकार के तंत्र का मैं सृजन करने में लगा हूँ। मैं केवल सत् की एक परिपक्व और साधारण दृष्टि को प्राप्त करके, उसके विरुद्ध कठिनाइयों तथा आपत्तियों का उत्तर देना चाहता हूँ। परन्तु, इसके लिए, पर और अपर के विधेयों को समझाना और उचित ठहराना आवश्यक है। इस विषय का विवेचन करते हुए, मैं उस स्थिति को और आगे बढ़ाऊँगा, जिसे मैंने विचार के लिए पहले ही नियत कर दिया है। (अध्याय १५ और १६)।

परम सत् में वस्तुतः कोई मात्राएँ नहीं हैं, क्योंकि वह परिपूर्ण है और परिपूर्णता में कोई न्यूनता या अधिकता सम्भव नहीं (अध्याय २०)। इस प्रकार के विधेयों का सम्बन्ध केवल हमारे अनुभव-जगत् में ही सार्थक हो सकता है। हमको यह स्मरण कराया जा सकता है कि निःसन्देह समयगत अस्तित्व में भी यही परमता प्रतीत होती है। किसी वस्तु के लिए चाहे वहाँ कोई स्थान हो या नहीं, परन्तु वह भाव और अभाव के अन्तराल में नहीं रह सकती। यह दृष्टि इस बात को मान कर चलती है कि कालगत अस्तित्व सत् है, और व्यवहार में, और किन्हीं उद्देश्यों के लिए, यह बात मानी जा सकती है। परन्तु असत्य होने के अतिरिक्त यह मान्यता स्वभावतः अपने अधिकार-क्षेत्र के बाहर चली जाती है, क्योंकि यदि कोई वस्तु कम या अधिक नहीं हो सकती, तो निःसन्देह वह अस्तित्व को न्यूनाधिक रूप में ग्रहण कर सकती है। अपनी प्रत्यक्ष उपस्थिति से, भूमि को एक बार हथियाकर, वह पुनः अपने प्रभाव तथा सापेक्षिक महत्त्व के द्वारा और हथियाकर, वह पुनः अपने प्रभाव तथा सापेक्षिक महत्त्व के द्वारा और हथिया सकती है। इस प्रकार अन्ततोगत्वा हमको यह कहना कठिन हो सकता है कि अस्तित्व

'रखने' से ठीक-ठीक हमारा क्या अभिप्राय है। हमको इस कथन में भी एक विरोधाभास मिल सकता है, कि प्रत्येक वस्तु समान-रूप से ठीक-ठीक एक ही मात्रा में अस्तित्व 'रखती' है।

परन्तु यहाँ तत्त्व-ज्ञान के क्षेत्र में हम इस एकांगी दृष्टिकोण से ऊपर बहुत पहले ही जा चुके हैं। एक ओर तो कालगत तथ्यों की शृंखला को प्रत्यात्मक सृष्टि रूप में पाया गया है। वह प्रत्ययात्मक है, निःसन्देह पूर्णतया नहीं (अध्याय २३), परन्तु फिर भी तत्वतः है। और इस प्रकार की कोई शृंखला आभास-मात्र है, वह आत्यन्तिक नहीं, अपितु सापेक्षिक है, और अन्य समस्त आभास के समान इससे कम और अधिक का भेद होता है। दूसरी ओर हम देख चुके हैं, कि सत्य, जो पुनः स्वयं आभास है, अनजान में और जान-बूझकर भी इस निरंकुश बन्धन से निकल भागना चाहता है, और कालगत तथ्यों के द्वारा उपस्थित किए हुए खंडित दावे पर बिना और कुछ विचार किये हुए, हम सामान्य रूप से सत् और सत्य की मात्राओं के प्रश्न पर विचार कर सकते हैं।

हम पहले ही चिन्तन-प्रक्रिया के प्रमुख स्वरूप को देख चुके हैं। विचार तत्वतः 'तद्' से 'किम्' के पार्थक्य का नाम है। ऐसा कहा जाता है कि वह इस विग्रह को अपने सबल सिद्धान्त के रूप में स्वीकार करता है। इस प्रकार तथ्य-निर्माण के सभी प्रयत्नों को त्याग कर अपने को इयत्ता तक ही सीमित रखता है। परन्तु इस पार्थक्य को अपना कर, और इस स्वतन्त्र विकास को उसकी चरम सीमा तक ले जाकर, विचार, अप्रत्यक्ष रूप में, इस खंडित पूर्णता को पुनः अखंड रूप में डालने के लिए प्रयत्नशील है। वह विचारों के एक ऐसे व्यवस्था-तन्त्र को पाने का प्रयत्न करता है, जो स्वसीमित तथा परमित हो, और इस विधेय के द्वारा उसे सत् को विशिष्ट तथा पूर्ण करना पड़ता है। और जैसा कि हम देख चुके हैं, अन्ततोगत्वा उसका यह प्रयत्न स्वघातक सिद्ध होगा। सत्य का वाच्यार्थ वही होना चाहिए जो उसका लक्ष्यार्थ है और लक्ष्यार्थ वही होना चाहिए जो उसका वाच्यार्थ हो। परन्तु ये दोनों पक्ष असंगत सिद्ध होते हैं। उद्देश्य और विधेय के बीच एक अन्तर होता है, जो अभी तक दूर नहीं हुआ है। और, वह अन्तर जब तक रहता है, जब तक विचार की एक असफलता प्रकट रहती है, परन्तु उसके दूर हो जाने पर, चिन्तन का एक विशेष तत्त्व ही समाप्त हो जाता है।

अन्यथा हम इसको इस प्रकार कह सकते हैं कि कोई भी अन्तिम रूप से दिया हुआ निर्णय असत्य होगा। अन्ततोगत्वा, उद्देश्य और विधेय में कोई एक, किसी दूसरे का स्थान नहीं ले सकता। फिर, यदि हम इस लक्ष्य से नीचे ठहर जाते हैं, तो इसका अभिप्राय यह है कि हमारा निर्णय सत्य तक पहुँचने में विफल रहा, जबकि

उनको या किसी रूप के अधिक और उनके सम्बन्ध समाप्त हो जायेंगे। इसलिए हमारे सभी निर्णयों को सत्य होने के लिए उपाधित अथवा उपाधि पर आधारित होना चाहिए। अर्थात् जब तक हम किसी अन्य वस्तु की सहायता न लें, तब तक विधेय का अस्तित्व ही नहीं हो सकता। और, इस अन्य किसी वस्तु को इस प्रकार नहीं कहा जा सकता कि वह किसी नये तथा अधिक के विधेय के अन्तर्गत भी आ सके।[1]

अब मैं यह मानने को बाध्य हो सकता हूँ कि यह कहना अधिक अच्छा नहीं होगा कि प्रत्येक निर्णय एक अस्थायी सत के रूप में है।[2] यह स्पष्ट है कि इस शब्द के द्वारा कुछ असंगत विचार आ जायें। निर्णय अस्थायी इस अर्थ में हो सकते हैं कि वे जिस बात का समर्थन करते हैं वह अपूर्ण है। वह स्वयं सत् का कोई गुण नहीं कहा जा सकता, और विशेष करके, तब तक जब तक उसमें आवश्यक पूरक सम्मिलित न हुआ हो। इसके अतिरिक्त वह पूरक अन्ततोगत्वा अज्ञात रह जाता है। परन्तु जबकि वह अज्ञात रहता है, हम स्पष्टतः यह नहीं कह सकते कि वह यदि वर्तमान होता तो वह हमारे विधेय को किस प्रकार प्रभावित तथा रूपान्तरित कर सकता है, क्योंकि जब भिन्नता का ठीक-ठीक स्वरूप हमारे ज्ञान के बाहर की वस्तु है, तब यह कहना कि उसके होने से कोई अन्तर नहीं पड़ेगा, स्पष्टतया बेतुका है। परन्तु, यदि यह बात है, तो हमारे विधेय का यह अज्ञात रूपान्तर सम्भवतः विविध मात्राओं में अपनी विशिष्टता को नष्ट कर दे। तत्पश्चात् इसका सम्भवतः इतनी बदल जाय, इतनी पुनर्विभाजित तथा ओतप्रोत हो जाय कि उसका नितान्त कायापलट ही हो जाय। संक्षेप में, इसी रूप का विधेय न्यूनाधिक रूप में पूर्णतया असत्य हो सकता है। अतः हमने वस्तुतः सदा ही अपने कथन को उस अज्ञात तत्व पर अवलम्बित तथा निर्भर रखा है।[3] और इसलिए हमारा निर्णय, सदैव, परन्तु विभिन्न सीमा तक, अन्ततोगत्वा सशर्त या सप्रतिबन्ध कहा जाना चाहिए।

---

१. सम्भवतः हम यहाँ अपने 'प्रिन्सिपल्स ऑफ़ लॉजिक' का उल्लेख कर सकते हैं। मैं यह और कह सकता हूँ कि परम सत् के विषय में तत्त्वज्ञानात्मक कथन भी ठीक अन्तिम नहीं कहे जा सकते। देखिए—अध्याय २७।

२. इस व्यंजक का अनिवार्य कालात्मक अस्तित्व की सत्ता होता है, और, इसके अतिरिक्त वह आपत्तिजनक भी है। देखिए श्री बोसांके की प्रशंसनीय 'लॉजिक' १ अध्याय ६।

३. इसलिए, अन्ततोगत्वा हमने यह कहा जाना चाहिए कि हमने अज्ञात तत्त्व को प्रकट किया है। फिर भी इसको एक अज्ञात गुण का अभिधान कहना ठीक नहीं होगा, ('प्रिन्सिपल्स ऑफ़ लॉजिक' पृ० ५७), क्योंकि गुण से या तो कुछ भी आविष्कृत नहीं होता अथवा उससे ऐसी वस्तु की वृद्धि होती है जो असत्य है। इस ग्रन्थ का सिद्धान्त कार्य और कारण के आधार और

परन्तु इस चर्चा के साथ हम भूल और सत्य की सन्धि तक आ पहुँचे हैं। ऐसा कोई सत्य नहीं होगा जो कि पूर्णतया सत्य हो, जिस प्रकार ऐसी कोई भूल नहीं होगी जो विल्कुल असत्य हो। सबको समान रूप से देखने पर, और संकीर्ण अर्थ में समझे जाने पर, वह केवल मात्रा का प्रश्न रह जायगा। और केवल न्यून अथवा अधिक का एक विषय होगा। हमारे विचारों को कुछ उद्देश्यों के लिए निःसन्देह, पूर्णतया असत्य समझा जा सकता है, परन्तु परम सत् के द्वारा मापे जाने पर सत्य और भूल सदा ही मात्रा पर अवलम्बित होंगे। संक्षेप में हमारे निर्णय कदापि पूर्ण सत्य के स्तर तक नहीं पहुँच सकते, और वे केवल 'प्रामाणिकता' की न्यूनता अथवा अधिकता को पाकर ही सन्तुष्ट हो जायेंगे। इस शब्द से (प्रामाणिकता) से मेरा अभिप्राय केवल यही है कि व्यवहार की दृष्टि से हमारे निर्णय स्वीकार करने-योग्य तथा काम चलाऊ हैं। मेरा अभिप्राय यह है कि उनमें वस्तुतः परम सत् के सत्य और सत् का स्वभाव और स्वरूप न्यूनाधिक रूप में होता है। वे विविध सीमाओं तक सत् का स्थान ग्रहण कर सकते हैं, क्योंकि उनमें स्वयं परम सत् के स्वभाव का न्यूनाधिक अंश होता है। वे जिस अनुपात में सत्य को न्यून अथवा अधिक अव्यवस्था द्वारा प्रभावित हुआ प्रस्तुत कर सकते हैं, उसी अनुपात में वे उसके भले अथवा बुरे प्रतिनिधि हो सकते हैं। संक्षेप में हमारे निर्णय जहाँ तक वास्तविक मान-दंड से सहमत होते हैं, और उससे भिन्न नहीं होते, वहीं तक हमारे निर्णय ठीक उतरते हैं। हम उसको दूसरे प्रकार से यों भी कह सकते हैं, कि सत्य के सत् में परिणत होने के लिए जिस परिमाण में कम अथवा अधिक सत् की आवश्यकता पड़ेगी, उसी के अनुसार उसकी सत्यता होगी।

अभी तक हम देख चुके हैं कि सत्य सापेक्षिक है, तथा सदैव अपूर्ण। अतः हमें यह देखना है कि पूर्णता की कमी होते हुए भी प्रत्येक विचार किसी मात्रा में सच होता है। एक ओर वह मानदंड से नीचे रह जाता है, और दूसरी ओर साथ ही, वह इस मानदंड तक पहुँच जाता है; परन्तु हमें सबसे पहले यह देखना है कि यह मानदंड क्या है?

सत्य और सत् की पूर्णता का अन्ततोगत्वा एक ही स्वरूप है। उसमें सुनिश्चित स्वाश्रित व्यक्तित्व होता, और, मैंने अध्याय २० में यह दिखाने का प्रयास किया

परिणाम के आदान-प्रदान पर गम्भीर प्रभाव डालता हुआ प्रतीत होता है। यहाँ मैं निःसंदेह सहमत हूँ कि यदि निर्णय सत्य है, तो सम्वन्ध दोनों पर लागू हो जाता है। (वोसांके की लाजिक-१ पृ० २६१-४)। परन्तु यदि अन्ततोगत्वा वे अशुद्ध रहते हैं, और सदा किसी अनिश्चित पृष्ठ-भूमि से प्रभावित होते रहते हैं तो परिस्थिति को ध्यान में रखा जाना चाहिए।

है कि व्यक्तित्व का क्या अर्थ है। यह मानते हुए कि पाठक को उस चर्चा की प्रमुख बातें याद हैं, मैं व्यक्तित्व के प्रकट होने के दो ढंग बतलाऊँगा। सत्य में आन्तरिक समन्वय, अथवा व्याप्ति और सर्व-समावेश के लक्षण अवश्य ही प्रकट होना चाहिए। और, ये दोनों विशेषताएँ एक ही सिद्धान्त के दो भिन्न-भिन्न पक्ष हैं। प्रथम जो स्वयं-विरोधी है वह खटकता है, क्योंकि उसके भीतर निहित परिपूर्णता अपने अंगों के बीच संघर्ष उत्पन्न कर देती है; और, जैसा कि हम देख चुके हैं समन्वय स्थापित करने का उपाय यह है कि इन असंगतियों को एक अधिक विस्तृत व्यवस्थान्तर में फिर से फैला दिया जाय। परन्तु दूसरी ओर समन्वय-नियन्त्रण और ससीमत्व में मेल नहीं खाता, क्योंकि जो वस्तु सर्व-व्यापी नहीं है, उसमें तत्त्वतः आन्तरिक असंगति होगी। और, यदि हम विचार करें, तो उसका कारण स्पष्ट हो जाता है। जिस वस्तु का अस्तित्व एक पूर्ण इकाई के भीतर है, उसके बाह्य सम्बन्ध होते हैं, जिसे वह अपनी सत्ता में सम्मिलित नहीं कर पाता, उससे वह पूर्ण इकाई द्वारा सम्बन्धित होता है। और उसका यह सम्बन्ध बाह्य सम्बन्ध होगा। ये सम्बन्ध एक ओर तो बाह्य हैं, परन्तु दूसरी ओर ऐसा सम्भव नहीं हो सकता। क्योंकि कोई भी सम्बन्ध अनिवार्यतः दोनों ओर प्रभाव डालता है, और अपने व्यंजकों की सत्ता में प्रविष्ट हो जाता है। और इसलिए, जो स्वयं ससीम है, उसका आन्तरिक तत्त्व उसको ससीम बनाने वाला सम्बन्ध होता भी है और नहीं भी। अतः उसकी प्रकृति अनिवार्यतः सापेक्षिक है, अर्थात् वह अपने से परे भी जाती है, और पुनः अपने निजी अन्तस्तल में बाह्य सम्बन्धों का एक ढेर भी ले जाती है। इस प्रकार बाहर से किसी को निरूपण करने का अभिप्राय सिद्धान्ततः भीतर से प्रत्यावर्तन करना है। और यह तत्त्व जितना भी लघु होगा, तात्त्विक क्षीणता उतनी ही अधिक विस्तृत होगी,—यह क्षीणता इतनी व्यापक होगी कि वह गम्भीर नहीं हो सकती, और न वह किसी आन्तरिक विभाजन के अधिकार का ही विभाजन कर सकेगी।[1] परन्तु इसके विपरीत, उस तत्त्व के प्रसार से समन्वय में वृद्धि होती है, क्योंकि इसके द्वारा इस आन्तरिक वस्तु के भीतर ये बाह्य सम्बन्ध आ जाते हैं। वृद्धि के द्वारा वह तत्त्व अधिकाधिक मात्रा में एक ऐसा स्थायी व्यक्तित्व बन जाता है, जिसमें स्वयं उसका अपना स्वभाव

---

१. उदाहरण के लिए, एक भौतिक कण के प्रत्यावर्तन के विषय में बात करना एक विरोधाभास प्रतीत हो सकता है। परन्तु, वह जो नहीं है, उसका बिना उल्लेख किये हुए, आप यह बतलाने का प्रयत्न कीजिए कि वह क्या है,— निस्सन्देह उसके अनुभव का प्रत्यावर्तन नहीं होता। परन्तु, विषय यह है कि यहाँ पर आत्म-बहिष्कार इतना अधिक है कि कोई भी अनुभूति अथवा आत्म-अस्तित्व सम्भव नहीं।

समा जाता है। और, वह अधिकाधिक एक ऐसी पूर्ण इकाई के रूप में परिणत हो जाता है, जिसमें सम्पूर्ण असंगतियों का समावेश होकर एक व्यवस्थित तन्त्र बन जाता है। इस प्रकार प्रसार और समन्वय के दो पक्ष सिद्धान्ततः हो जाते हैं। यद्यपि, जैसा कि हम आगे देखेंगे, हमारे काम के लिए वे कुछ अंश तक पृथक्-पृथक् हो जाते हैं, और अभी हमें उनको अलग-अलग समझने में ही सन्तोष करना चाहिए।

अतः न्यूनाधिक रूप में सच होने और न्यूनाधिक रूप में वास्तविक होने का अर्थ यह है कि किसी छोटे या बड़े अन्तराल के द्वारा सर्व-समष्टि अथवा स्वयं-सिद्धि की अवस्था से पृथक् होना है। दो प्रस्तुत आभासों में से, एक जो अधिक विस्तृत अथवा अधिक समन्वयशील है, वह अधिक वास्तविक है। वह किसी एक-मात्र, सर्वव्यापी व्यक्तित्व के अधिक निकट पहुँचता है। दूसरे शब्दों में, उसकी अपूर्णताओं को दूर करने के लिए, हमें कुछ थोड़ा-सा परिवर्तन करना पड़ेगा। जो सत्य और जो तथ्य परम सत् में परिणत होने के लिए पुनर्व्यवस्था तथा वृद्धि की कम अपेक्षा अधिक रखता है, वह अधिक वास्तविक और अधिक सत्य है।

सत् और सत्य की मात्राओं से हमारा अभिप्राय यही है। सत् के लक्षणों से अधिक युक्त होना और अपने भीतर सत् की अधिक मात्रा रखना, ये ऐसी दो बातें हैं जो एक ही वस्तु को कहने के दो ढंग हैं।

और जिस सिद्धान्त पर असत् आभास को सत्य में परिणत किया जा सकता है, उसकी स्थापना हम अपने त्रुटि-विषयक में अध्याय पहले ही कर चुके हैं। हमने देखा कि यह पूर्णता और पुनर्व्यवस्था-द्वारा सम्भव है। परन्तु, मैं यहाँ पर अपने विवेचन को यों दुहराऊँगा नहीं। पूर्ण का अभिप्राय सत् में एक ऐसी सत्ता का आरोप करना होगा जो पुनर्विभाजित और समाप्त किये जाने पर भी आत्मसात् नहीं किया जा सकता। और ऐसा कोई भी आत्यन्तिक प्रसंग सम्भव होता प्रतीत नहीं होता। कोई त्रुटि केवल इसी अर्थ में पूर्ण हो जाती है कि जब वह सत्य-रूप में परिणत हो जायगी तो उसका विशेष स्वरूप विलीन हो जायगा और उसकी वास्तविक सत्ता मिट जायगी। परन्तु यह बात पुनः सत्य के निम्नतर प्रकारों में भी होने देना चाहिये। संक्षेप में तत्व-ज्ञान के लिए, सत्यों और असत्यों के बीच कोई निश्चित और आत्यन्तिक भेद-भाव नहीं हो सकता। प्रत्येक प्रतिपादन के साथ प्रश्न यह उपस्थित होता है कि यदि हम उसको अन्तिम सत्य में परिणत हुआ मान लें, तो उस प्रतिपादन में शेष क्या रह जायेगा ? इस विशेषण के अभिधान के रूप में उसके विशेष स्वभाव में जो कुछ आता है, उस सभी में से यदि कुछ भी शेष रह जाता है, तो वह कितना होगा। जैसा कि हम पहले ही देख चुके हैं, प्रत्येक अवस्था में अवशेष की मात्रा सत्

और सत्य की मात्रा को निर्धारित करती है।

परन्तु सम्भवतः यह आक्षेप हो सकता है कि ऐसे सभी निर्णय हो सकते हैं, जिनमें कोई वास्तविक अर्थ न हो, और ऐसे भी विचार-मात्र हो सकते हैं, जो सत् में कोई भी आरोप तक करते हुए नहीं प्रतीत होते। और यह कहा जा सकता है कि इन निर्णयों में सत्य का कोई अंग अवशिष्ट नहीं रह सकता। अतः वे सत् के विशेषण हो सकते हैं; परन्तु उसके विषय में निर्णय नहीं। सम्भवतः इस आक्षेप की चर्चा हमारे ग्रन्थ के प्रमुख परिधि के बाहर की वस्तु है। परन्तु संक्षेप में, मैं यह कहना पसन्द करूँगा कि वह एक भूल पर आश्रित है। प्रथम तो प्रत्येक निर्णय चाहे स्वीकारात्मक हो या निषेधात्मक, और उसका स्वस्थ स्वरूप कितना भी निरर्थक क्यों न हो, वह सत् के विषय में कुछ-न-कुछ प्रतिपादन करता है।[1] और जैसा कि हम देख चुके हैं, प्रतिपादित की हुई इयत्ता बिल्कुल त्रुटिपूर्ण नहीं हो सकती, चाहे उसका अन्तिम सत्य अपने मूलार्थ को बिल्कुल ही क्यों न बदल चुका हो। और दूसरी ओर प्रत्येक प्रकार के विचार में, एक निर्णय, इस अर्थ में, निहित होता है कि वह प्रत्यय रूप में सत् को विशिष्ट बनाता है। सन्देह करना, शंका करना, अथवा किसी विचार पर सुझाव देना अथवा स्वीकार करना स्पष्टतः निर्णय नहीं है। इतना तक तो निश्चित तथा स्पष्ट है। परन्तु, जब हम इस बात की ओर खोज करते हैं कि इन अवस्थाओं में वस्तुतः क्या निहित है, तो हमारा निष्कर्ष दूसरा ही हो जाता है। यदि हम निर्णय का प्रयोग सत् विषयक विचार-निर्देश (कितना ही उचित और अनिश्चित क्यों न हो) के लिए करें, तो बिना किसी अपवाद के चिन्तन का अर्थ किसी रूप में निर्णय होगा। अपनी प्रारम्भिक अवस्था में, विचार किसी प्रत्यक्ष इन्द्रिय-गोचर उपस्थापना को अव्यवहित रूप से बदल देता है, और यद्यपि, एक ओर वह परिवर्तन सोपाधिक होता है, और यद्यपि, दूसरी ओर, सत् अंशतः इन्द्रियगोचर नहीं होता है, परन्तु विचार का प्रमुख स्वरूप फिर भी सुरक्षित रह जाता है। विभिन्न मात्राओं के सत् का निर्देश अनिश्चित और व्यापक हो सकता है। प्रत्ययात्मक इयत्ता का प्रयोग न्यूनाधिक परिवर्तन के साथ हो सकता है। उसका अस्थिर तथा सोपाधिक स्वरूप हमारे ध्यान के बाहर निकल सकता है, अथवा न्यूनता या अधिक सज्ञानता के साथ अनुभव किया जा सकता है। परन्तु किसी विचार को, (मानों अधर में)

---

१. यहाँ मैं पाठक से 'प्रिन्सिपल्स ऑफ लॉजिक' अथवा श्री बोसांके की 'लाजिक' की ओर निर्देश करूँगा, जो कि, अनेक बातों में, मेरे ग्रन्थ से अधिक अच्छा है। मैंने किसी हद तक, निर्णय के विषय में अपने विचारों को बदल दिया है। तुलना करो 'माइन्ड'—६०।

सत् के साथ किसी प्रकार सम्वन्धित किये हुए, उसके किसी भी पक्ष या क्षेत्र में, बनाये रखना अन्ततोगत्वा असम्भव है।[1]

मैं यह समझता हूँ कि यह कथन सम्भवतः बहुत-कुछ विरोधाभास प्रतीत होगा। यह कहा जा सकता है कि जो शुद्ध रूप में काल्पनिक है, उसका सत् से कोई सम्बन्ध नहीं। इसके विपरीत, वह सम्भवतः जान-बूझ कर अलग रखा जा सकता है। परन्तु, अधिक विचार करने पर हमें पता चलेगा कि हमारा सामान्य विवरण ठीक है। काल्पनिक को सदा ही सत् का एक विशेषण समझा जाता है। परन्तु जब हम उसका निर्देश करते हैं तो (क) हम न्यूनाधिक रूप में, जानते हुये, उन क्षेत्रों में भेद-भाव करते हैं जिसमें कि वह लागू नहीं हो सकता है, और जिनमें कि वह नहीं हो सकता। और (ख) हम, विभिन्न मात्राओं में, उस परिपूर्ण और पुनर्व्यवस्था के परिमाण को भी जानते [हैं, जो हमारे विचार को सत्य तक पहुँचने में अपेक्षित होगा। ये एक ही सिद्धान्त के दो पक्ष हैं और मैं संक्षेप में प्रत्येक का निरूपण करूँगा।

(क) प्रथम बात के विषय में, हमें जगत् में एकता के उस अभाव को याद रखना होगा जो कि हममें से प्रत्येक में है। हम निःसन्देह अनुभव करते हैं कि विश्व एक है। परन्तु, हमारा यह अनुभव उसको विभाजित तथा पृथक् क्षेत्रों और लोकों में प्रतीत होने से उसे नहीं रोक सकता। और हमारे जीवन के इन विभिन्न प्रान्तों के बीच कोई भी दृश्य सम्भवतः न हो। कला, नैतिकता, धर्म, व्यापार, राजनीति, अथवा किसी सैद्धान्तिक व्यापार में यह रूप धारण-सी वात है व्यक्ति का सम्भवतः कोई अपना एक जगत् हो। अथवा उसके सम्भवतः ऐसे कई जगत् हों जिनमें कोई तर्क-संगत एकता न हो। अपितु जो उसके अपने व्यक्तित्व के भीतर केवल सह-अस्तित्व द्वारा ही संयुक्त हो। और पार्थक्य तथा विश्रंखलता, (सम्भवतः हम इसे न देख पायें।) किसी अंश तक साधारण है। यह असम्भव होगा कि किसी मनुष्य का एक ऐसा जगत् हो जिसके विभिन्न प्रान्त, पूर्णतया तर्क-संगत रूप से, सम्बन्धित हों अथवा सदैव व्यवस्थित प्रतीत हों, परन्तु यदि यह बात है, तो विचारों को स्वीकार अथवा अस्वीकार करने में कोई भी सदैव ठीक-ठीक नहीं जान सकता कि वह किस अर्थ में स्वीकार अथवा अस्वीकार करता है। जब तब सत् से उसका अभिप्राय सत् के किसी ऐसे क्षेत्र से होता है, जिसको वह निर्णीत तथा परिभाषित करने में लगातार अभ्यस्त रहता है। भेद-भाव का यह प्रयत्न उसे केवल पूर्ण विस्मय में ही

---

१. देखिए श्री बोसांके की 'लाजिक' भूमिका, और लेखक की 'नालेज और रियलिटी'—पृ० १४८—५५।

ला पटकेगा। सम्भवतः उस दिगातंत्र को वास्तविक जगत् कहा जा सके जिसका हम निर्माण करते हैं। यह 'वास्तविक तथ्य' है, और प्रत्येक अन्य वस्तु को विचार-मात्र, अथवा केवल कल्पना, अथवा भावना के रूप में पृथक् किया जा सके, जो कि सब-के-सब समान रूप से अवस्तु हैं। परन्तु, यदि यह बात है, तो हमारी इच्छाओं के विरुद्ध, ये निर्वासित क्षेत्र, ऐसा होते हुए भी, अपने को भावना, कल्पना और विचार के जगत् के रूप में प्रस्तुत करते हैं। हम उन्हें कितना ही कम क्यों न चाहें, परन्तु वस्तुतः हमारे वास्तविक विश्व के वास्तविक निर्माण-तन्तु हैं। और इन अनेक क्षेत्रों से सम्बन्ध रखने वाले विचारों को, निःसन्देह तब तक नहीं अपनाया जा सकता जब तक उनमें से प्रत्येक का तादात्म्य (कितना ही अस्पष्ट क्यों न हो) उनके अपने-अपने सत् क्षेत्र से न हो। हम काल्पनिक को कल्पना के किसी जगत् में अथवा उप-जगत् में, किसी प्रकार स्थित मानते हैं। और हमारे निषेध के होते हुए भी, ऐसे सभी जगत् हमारे लिए, अनिवार्यतः उस पूर्ण के आभास हैं, जिसको हम एक-मात्र सत् अनुभव करते हैं।[1]

और जब हम आदेश तथा इच्छा के आत्यन्तिक प्रसंगों को लेते हैं, तब भी हमारा निर्णय स्थिर रह जाता है। इच्छा निर्णय नहीं है, परन्तु फिर भी एक अर्थ में उसमें वह निहित है। निःसन्देह यह प्रतीति हो सकती है कि जो भी आदिष्ट या इच्छित होता है, वह वस्तुतः समस्त वास्तविक सत्ता से रहित होता है। परन्तु यह प्रथम धारणा ग़लत होगी। हमें यह याद रखना चाहिये कि सम्पूर्ण निषेध सापेक्षिक है। उसके विषय-भेद होने पर, सत्ता-द्वारा तिरस्कृत विचार के विषय में फिर भी कुछ कहा जा सकता है। और उस समय भी वह अभिधेय हो सकता है, जबकि वह स्वयं (जो तत्त्वतः एक ही बात है) बदल जाता है। इस दूसरी सूक्ष्मता की उपेक्षा करते हुए, हम बता सकते हैं कि इच्छा के सम्बन्ध में हमारा विवरण किस प्रकार ठीक बैठ सकता है। एक अर्थ में इच्छित इयत्ता, निःसन्देह , सत् में नहीं रहती और हम कह सकते हैं कि उस विचार का वहाँ अस्तित्व नहीं होता। परन्तु इसके विपरीत यहाँ वास्तविक अर्थ को एक सीमित रूप में ग्रहण किया गया है। और इसलिए इस कल्पना को तिरोहित करने वाले तथ्य-क्षेत्र के बाहर, वह साथ-ही-साथ सत् से सम्बन्धित माना जा सकता है। हम कह सकते हैं कि वस्तुतः यही सम्बन्ध इच्छा के

---

१. यहाँ पर पाठक प्रकृति की एकता-विषयक २२ वें अध्याय में हुई, चर्चा से तुलना कर सकते हैं। सामान्य मनोविज्ञान द्वारा स्थापित आत्मा में एकता के अभाव को हिप्टोजिन्य के हाल के—सामान्य मनोविज्ञान-द्वारा स्थापित आत्मा में एकता के अभाव को हिप्टोजिन्य के हाल के परीक्षणों से अधिक महत्त्व प्राप्त हो गया है।

स्वयं-विरोध को असह्य बना देता है। जिसकी मैं इच्छा करता हूँ, उसका अस्तित्व जानबूझ कर नहीं मान लिया जाता, परन्तु अस्पष्ट रूप से, किसी-न-किसी प्रकार, और किसी विचित्र क्षेत्र में उसको 'वही' अनुभव किया जाता है और 'वही' होने से, उसका प्रकट न होना एक दुखद कुढ़न पैदा करता है। इस विषय को और आगे बढ़ाते हुए हमें यह देखना चाहिए कि अन्ततोगत्वा, प्रत्येक दशा में, कल्पित किये जाने का अर्थ है, सत् रूप में गृहीत एवं निर्णीत होना।

(ख) और इससे हम दूसरी बात पर पहुँच जाते हैं। हम देख चुके हैं कि प्रत्येक विचार कितना ही काल्पनिक क्यों न हो, एक अर्थ में सत् से सम्बन्धित होता है। परन्तु हमने यह भी देखा कि वास्तविक उद्देश्य के विविध अर्थों और उसके प्रकट होने के विविध प्रान्तों और क्षेत्रों के विषय में हम सब लोग न्यूनाधिक रूप में असावधान हैं। सावधानी की यही कमी विभिन्न मात्राओं में हमारी उस पद्धति में भी देखी जा सकती है जो हम विधेय के प्रयोग में अपनाते हैं।[1] एक विचार को ही सत् का सच्चा विशेषण बनाया जा सकता है, परन्तु, दूसरी ओर (जैसा कि हम देख चुके हैं), प्रत्येक विचार में परिवर्तन अवश्यम्भावी है। न्यूनाधिक रूप में, वे सभी एक अनुपूरण तथा पुनर्व्यवस्थापन की अपेक्षा रखते है। परन्तु यह संभव हो सकता है कि इस आवश्यकता तथा उसके परिमाण के विषय में हम पूर्णतया अनभिज्ञ हों। हमारे विचार किस सीमा तक सप्रतिबन्ध होते हैं, और किस हद तक वे सत् के विधेयत्व के लिए असमर्थ होते हैं, इस बात की किसी स्पष्ट कल्पना के बिना ही, हम साधारणतया विचारों को काम में लेते हैं। हमारे कथनों में जो अनुमान अभिप्रेत होते हैं उनके प्रति हम प्रायः आँख मूंदे रहते हैं। अथवा कम-से-कम उनकी निश्चित सीमा की स्पष्ट कल्पना तो हमें सर्वथा नहीं ही रहती है। यह एक ऐसा विषय है जिस पर विस्तारपूर्वक चर्चा करना मनोरंजक हो सकता है, परन्तु अपनी इस उद्देश्य-पूर्ति के लिए, मैं संभवतः पहले ही बहुत कुछ कह चुका हूँ। चाहे ऐसा

---

१. जैसा कि पहले कहा गया था कि अन्ततोगत्वा ये दोनों बातें एक ही हैं, जिनके रूप में सत् प्रकट होता है। वे विभिन्न जगत् अलग-अलग नहीं रह सकते, अपितु उनको एक-दूसरे की उपाधि बनना पड़ेगा। इसलिए जो निश्चित रूप से एक जगत् का विधेय है, वह पूर्ण इकाई पर लागू होते ही फिर भी सोपाधिक हो जायगा। और दूसरी ओर यदि सम्पूर्ण इकाई के सोपाधिक विधेय को यदि किसी ऐसे उद्देश्य का विशेषण बना दिया जाय, जो सीमित होने से सोपाधिक है, तो यह विधेय निश्चित हो जायगा। अन्ततोगत्वा भौतिक तत्व को समझने के ये ढंग केवल एकांगी हैं। और अन्ततोगत्वा सोपाधिक और उपहित में कोई अन्तर नहीं। इस विषय में देखिए आगे अध्याय २७।

प्रतीत न होता हो, परन्तु विचारने का अर्थ सदा ही यथार्थ में निर्णय करना ही होता है, और सभी निर्णय हमें, न्यूनाधिक रूप में, सत्य तथा मानदंड से विभिन्न अंशों में दूर या निकट सिद्ध हुए। इतना कह कर हम उस प्रसंग से वापस आते हैं जो एक प्रकार से सम्भवतः विषयान्तर ही हो गया।

जैसा कि हमने ऊपर देखा, हमारे एकमात्र मानदंड के अनेक पक्ष हैं, और अब मैं संक्षेप में उसके विविध स्वरूपों का उदाहरण दूँगा। (क) सबसे पहले यदि हम किसी काल्पनिक आभास को लें, और उसके सत् की मात्रा का अंदाजा लगाना चाहें, तो एक ओर तो हमें उसके समन्वित भाव पर यह विचार करना पड़ेगा कि उसकी घटनाओं के एक सत्-सम्बन्धी विवेचन के रूप में आने से पूर्व किस प्रकार उन घटनाओं की पुनर्व्यवस्था की आवश्यकता पड़ेगी। दूसरे शब्दों में, हमें यह पता लगाना पड़ेगा कि किस हद तक ये घटनाएँ आत्मसंगत और व्यवस्थित हैं, अथवा नहीं हैं। और सब दूसरी ओर, हमें काल अथवा दिक् अथवा दोनों की उस सीमा का ध्यान रखना पड़ेगा जिसका अनुकरण हमारा आभास करता है।[1] यदि और सब बातें समान हों, तो जिसका दिक् में अधिक विस्तार हो और जो अधिक काल तक रह सके, वही इसलिये अधिक सत् होगा, परन्तु (ख) घटनाओं के अतिरिक्त नियमों का ध्यान रखना आवश्यक है। ये अधिक और न्यून रूप में, सूक्ष्म अथवा स्थूल होते हैं, और यहाँ पर उनके प्रयोग-विषयक हमारा मानदंड एक बार फिर छिन्न-भिन्न हो जायगा; उदाहरण के लिए, एक ओर गणित के सूक्ष्म-सम्बन्ध और दूसरी ओर जीवन अथवा मन के अपेक्षाकृत अधिक स्थूल सम्बन्धों में से प्रत्येक एक भिन्न बाधा उपस्थित करेगा। इनमें से प्रथम प्रकार तथ्य से अधिक दूर है, और आत्म-अस्तित्व से अधिक भिन्न, तथा उसके लिए अधिक अयोग्य है, और, इसलिए वे कम सत्य हैं। परन्तु दूसरी ओर, द्वितीय प्रकार अधिक संकीर्ण है, और इस दृष्टि से, अधिक अपूर्ण है। स्पष्ट है कि वे सत् की कम परिधि में व्याप्त हैं, अथवा चरितार्थ हो सकते हैं, अथवा दूसरी ओर से अधिक सूक्ष्म होने के कारण विधि (क़ानून) उनके प्रति अपना विरोध अधिक करती है, क्योंकि उसका स्वरूप एक विस्तृत क्षेत्र में अनुपस्थित रहने से ही निर्णीत होता है। और फिर जो सामान्यीकरण अनुभव के अधिक निकट है, वह असंगति से अधिक पूर्ण होने के कारण, इस

---

[1] मेरे विचार में आनन्द की तीव्रता को हम दो दृष्टियों से देख सकते हैं, १—क्षेत्र की दृष्टि से और २—एकाग्रता की दृष्टि से। परन्तु उसकी अपनी सीमाओं के बाहर किसी वस्तु का प्रभाव एक पूर्ण पक्ष के भीतर आता, जिसका उल्लेख आगे आयेगा। पृ० ३३३।

दृष्टि से देखे जाने पर, भीतर से अधिक असामंजस्यपूर्ण होगा। संक्षेप में चाहे तन्त्र और सच्चे व्यक्ति को कालात्मक अस्तित्व में ढूंढा जाय, अथवा घटनातीत जगत् में, मानदण्ड फिर भी वही रहता है, और उसका प्रयोग सदैव समष्टि और समन्वय के द्विविध रूप में ही होगा। इन पक्षों में से, किसी में भी कमी होने का अभिप्राय यह है कि पूर्णता के पद से नीचे रहा जाय। और अन्त में किसी भी कमी का अर्थ है समान रूप से दोनों पक्षों में असफलता।

और हम देखेंगे कि जब विश्व के उच्चतर आभासों पर विचार करते हैं, तो हमारा यह विवरण ठीक उतरता है। वह जगत् अत्यन्त अधूरा होगा जिसमें केवल प्रतीयमान घटनाएँ हैं, और ऐसे नियम हैं, जो किसी प्रकार उनसे परे लागू होते हों। और हम अपने दैनिक जीवन में सिद्धान्त और तथ्य के बीच इस अस्वाभाविक वियोग से शीघ्र ही ऊपर उठ सकते हैं। (ग) हम किसी घटना को उसी अनुपात में महत्त्व-पूर्ण मानते हैं, जिस अनुपात में वह सशक्त या सफल होती है, अर्थात् जिस अनुपात में वह अपने व्यक्तिगत सीमा-क्षेत्र से बाहर अपने प्रभाव को फैला सकती है। यह स्पष्ट है कि यहाँ पर आत्म-पर्याप्ति तथा आत्मातिक्रान्ति की दो विशेषताएँ पहले ही से असंगत हैं। हम एक ऐसी उच्च अवस्था में पहुँच जाते हैं जहाँ किसी अस्तित्व में एक नियम अथवा सिद्धान्त निहित होता है, अथवा वह किसी प्रकार से उसको निज रूप में प्रस्तुत करता है। कुछ भी हो, एक सार्वभौम-सत्य के इस उदाहरण मात्र में तथ्य और नियम फिर भी तत्त्वतः एक दूसरे के विजातीय है, और उनके एकीभाव का दोषपूर्ण स्वरूप स्पष्ट दिखाई दे रहा है। हमारा मानदंड हमें फिर उस व्यक्ति की ओर ले जाता है जो एक ही अस्तित्व के प्रमुख तत्त्व का अंग है। और अपने पिछले अध्याय में, इस स्वभाव के एक अपूर्ण आभास को, हमें आत्मा की व्यक्तिगत आदतों में स्वीकार करने के लिए विवश होना पड़ा। आगे जो सौन्दर्य हमारे सामने एक अनुभूत प्रकार को उपस्थित करता है, उसके भीतर हम सिद्धान्त के साथ तथ्य के मेल का एक दूसरा स्वरूप पाते हैं, और इससे सचेतन जीवन पर पहुँच कर, हमें अपने मानदण्ड के और नये प्रयोगों तथा ताजे उपयोगों का अवसर प्राप्त होता है। व्यक्ति अथवा जाति का संकल्प यहाँ तक वाह्य तथ्य के रूप में पर्याप्त मात्रा में पूर्ण होता है और अपने को व्यक्त करता है, वहाँ तक हमें समन्वित तथा समष्टिगत सत् का एक नया दावा प्राप्त हो जाता है। और हमें प्रत्येक अवस्था में सिद्धान्त के प्रभाव-क्षेत्र के सहित उसकी सुसंगति का तथा इस मात्रा का विचार करना पड़ेगा, जिस तक उसने अस्तित्व पर अधिकार, और उसमें प्रवेश कर पाया है। और एक आंशिक दोष के द्वारा हम अपने को इससे हटकर सत्ता के उच्चतर

स्तरों पर पहुँचा हुआ पाते हैं। हम सैद्धान्तिक और व्यावहारिक लक्ष्यों के साथ व्यक्ति के ऐसे व्यक्तिगत सम्बन्धों पर पहुँच जाते हैं जिनके साक्षात्कार की आवश्यकता है, परन्तु जो अपने स्वभाव के कारण एक ससीम व्यक्तित्व में अनुभव नहीं किये जा सकते। और यहाँ एक बार फिर जब, जैसा कि आवश्यक है, हम एक तुलनात्मक अन्दाजा लगाना चाहते हैं तो हमें अपने मानदण्ड का सहारा लेना पड़ेगा, क्योंकि व्यक्तित्व के संकल्प की सफलता या असफलता को छोड़ देने पर भी, अन्तिम शिवत्व और सत् की कल्पनाओं में स्वयं ही, निःसन्देह बहुत विभिन्न मूल्य हैं। और हमें असंगति तथा ससीमता की उस मात्रा का माप करना है जो परम सत् के इन विभिन्न आभासों के लिए पृथक्-पृथक् एक स्थान नियत करती है।

जीवन के प्रान्तों में से कुछ को हमें अगले अध्याय में पुनः देखना पड़ेगा। परन्तु ऐसी कई बातें हैं, जिन पर मैं इस समय ध्यान आकर्षित करना चाहूँगा। प्रथम तो मैं फिर यह कहूँगा कि मैं पूर्णतया जगत् के विभिन्न पक्षों को नियत करने के लिए प्रयत्नशील नहीं हूँ और न मैं इनको सत् और सत्य की तुलनात्मक मात्राओं के अनुसार ही इनको क्रमबद्ध करने का प्रयत्न कर रहा हूँ। मूल सिद्धान्तों के किसी भी तर्कपूर्ण तर्क को ऐसा करने का एक गम्भीर प्रयत्न करना पड़ेगा, परन्तु इस ग्रन्थ में मैं केवल वस्तुओं की कुछ प्रमुख विशेषताओं का ही निरूपण करूँगा। परन्तु दूसरी ओर, एक ऐसी बात अवश्य है जो मैं पाठकों से निवेदन करूँगा। यदि जगत् के विषय में कोई ऐसी दृष्टि हो जो ज्ञात सत् को कालगत अस्तित्व तक ही सीमित रखे और जो सत्य को घटना-शृंखलाओं के पुनरुक्ति प्रयत्न तक ही किसी प्रकार सीमित रखें (यदि ऐसा कोई भी मत हो जिसके अनुसार किसी वस्तु का केवल अस्तित्व है, अथवा केवल अनअस्तित्व है, और जिसके अनुसार कोई विचार असत्य है अथवा सत्य है) तो यह कैसे सम्भव है कि आभास के विविध व्यवस्था-तंत्रों के प्रति न्याय किया जाय? क्योंकि यदि हम सुसंगत रहना चाहते हैं, तो हमें अपने प्रमुख मानवीय हितों की समष्टि को अनिर्णीत अधःपतन के किसी अवास्तविक गर्त में गिरा देना पड़ेगा। और, यदि हम सुसंगत नहीं रहना चाहते हैं, तो भी हम एक बौद्धिक मानदण्ड के बिना तर्क के मार्ग पर कैसे चल सकते हैं? और अनुमान है कि हम दूसरे विकल्प पर जा पहुँचते हैं। हम यहाँ वस्तुओं के सापेक्षिक महत्त्व पर एक शब्द भी नहीं कह सकेंगे, कला, विज्ञान, धर्म, सामाजिक जीवन, अथवा नैतिकता को जो स्थान जगत में मिला है और उनका जो तुलनात्मक अभिप्राय है, उसके विषय में हम कुछ भी नहीं कह सकते। हम बिल्कुल नहीं जानते कि इनमें सत्य अथवा सत् की कौन-सी मात्रा है, और हम यह तक नहीं कह सकते कि विश्व

के लिए इनमें से किसी का महत्त्व है अथवा कोई तनिक भी कुछ अन्तर उपस्थित कर सकता है, अथवा थोड़ा-सा भी किसी काम का है। या तो यह, अथवा नहीं तो हमारे एकांगी मत में क्रान्ति की आवश्यकता है। परन्तु जहाँ तक मैं समझता हूँ, उसमें दो प्रकार से ही क्रान्ति उपस्थित की जा सकती है। या तो हम सत्य के सम्बन्ध में उस मत को स्वीकार कर लें, जिसकी ओर मैं संकेत करने का प्रयत्न करता रहा हूँ, अथवा हम प्रत्येक वस्तु को मनोभाव की कसौटी पर साहसपूर्वक आश्रित कर दें। मेरा अभिप्राय यह नहीं कि अपने सत्य-विषयक अपर्याप्त आदर्श के पिछले स्वरूप के अतिरिक्त, हम साथ-साथ में मूल्यांकन के एक स्वतन्त्र मानदण्ड को भी स्थापित कर दें, क्योंकि प्रथम तो इस व्यवस्था से, एक तो सत्य अथवा सत् की मात्राओं के विषय में कोई स्पष्ट भाव नहीं रह जाता, और दूसरे, व्यावहारिक रूप में हमारे दोनों मानदण्ड सर्वत्र टकराने लगेंगे। उनकी यह टक्कर एक ऐसी नैराश्य-पूर्ण होगी कि उनसे परे हम फिर किसी एकता की कल्पना ही नहीं कर सकते। उदाहरण के लिए, किसी धार्मिक विश्वास अथवा किसी कलात्मक कृति के विषय में हम सम्भवतः यह कहने को विवश हो जायँ कि कैसी पूर्णतया असत्य, और फिर भी कितनी सत्य से श्रेष्ठ, और किसी भी सम्भावित सत् की अपेक्षा हमारे लिए कितनी कितनी अधिक ! और किसी भी सफल तथा व्यापक मत के विषय में, हम सम्भवतः कह सकते हैं कि वह पूर्णतया सत्य था और नितान्त निन्दनीय था; अथवा कुछ भौतिक तत्त्वों के विषय में भी सम्भवतः कहा जा सकता है कि उन पर कोई ध्यान देने की आवश्यकता नहीं। सत् और असत्य से मूल्य का यह पृथक्करण हमारी प्रकृति को नष्ट-भ्रष्ट कर देगा और उसका परिणाम केवल तर्क रहित समझौता अथवा संशय-मात्र होगा। परन्तु यद्यपि यह ढुलमुल दृष्टिकोण जीवन में एक साधारण वस्तु है, परन्तु यहाँ पर उसको स्वीकार नहीं किया जा सकता; और मनोभाव के समाश्रित कर देने से मेरा कदापि यह अभिप्राय न था।

मैंने एक ऐसी वस्तु की ओर संकेत किया था जो सम्भावित होते हुये भी बहुत अधिक सुसंगत थी। इसका अभिप्राय यह था कि मनोभाव को किसी ऐसे रूप में रखा जाय तो न केवल मूल्य को आँकने की, अपितु सत्य तथा सत् को परखने की भी एक चरम कसौटी हो जाय। यदि हमने यहाँ पर मनोभाव को अपना लक्ष्य माना, और उसका तादात्म्य सुख से किया, तो हम किसी तथ्य का भी प्रतिपादन करा दें, वह चाहे कितना ही स्थूल क्यों न हो। वह बिलकुल कुछ भी नहीं है, अथवा, दुःखजनक होने के कारण यह और भी गया-बीता है, और इसलिए "कुछ नहीं" से भी कम है। अथवा, कोई भी सत्य कितना भी स्पष्ट क्यों न हो वह हमारी सम्मति में सुख वृद्धि

के अनुकूल प्रतीत नहीं होता। इसलिए हमें उसको एकदम केवल असत्य अथवा त्रुटि-मात्र समझना पड़ेगा। यह दृष्टिकोण कितना ही अव्यावहारिक क्यों न हो, हमको कम-से-कम अपने जगत् में एक प्रकार की एकता और अविरोध लाने के लिए प्रयत्न अवश्य करना चाहिए था।[1]

परन्तु यदि अन्ततोगत्वा केवल मनोभाव को ही एक-मात्र मानदण्ड बनाना असम्भव हो, और यदि हम न तो किसी दोहरे मानदण्ड और नियन्त्रण की असह्य विडम्बना को ही स्वीकार कर सकें, और न हम अपने पुराने छिन्न-भिन्न मन की संकीर्णता और संगति-हीनता को ही अपना सकें, तो हमें एक दूसरी क्रान्ति को स्वीकार करने का साहस करना चाहिए। हमें इस बात को पूर्णतया अस्वीकार कर देना चाहिए कि ज्ञात सत् एक बाह्य अथवा आन्तरिक घटना-शृंखला में निहित है। और सत्य केवल अस्तित्व के ऐसे ही किसी रूप से संगति रखने का नाम है। हमें समान रूप से प्रत्येक आभास में यदि सत्य की नहीं, तो कम-से-कम अपने सत् की[2] एक मात्रा मानना चाहिए और हमें इस मात्रा का अन्दाजा सर्वत्र अपने एक मानदण्ड के प्रयोग द्वारा ही करना चाहिए। जैसा कि मैं कह चुका हूँ, यहाँ पर मैं इस अटकल को सामान्य रूप भी नहीं देना चाहता हूँ, और यह स्वीकार करता हूँ कि विस्तृत विवेचन की दृष्टि से, हमको ऐसे प्रसंग मिल सकते हैं जहाँ सम्पूर्ण तुलना व्यर्थ प्रतीत हो। परन्तु इस प्रसंग में हमारी जो असफलता है उससे हमारे सिद्धान्त के विषय में कोई शंका करना ठीक नहीं होगा। केवल हमारे अज्ञान और अपूर्णता के द्वारा ही यह मानदण्ड अनुपयोगी सिद्ध हो सकता है। पुनरुक्तिदोष होते हुए भी, मैं यहाँ पर इस प्रसंग में कुछ संक्षेप में विवेचन करना ठीक समझता हूँ। हमारा मान-दण्ड आत्म-अस्तित्व के रूप में सत् है, और अनेकता तथा सम्बन्धों को मानते हुए, यह एक व्यक्तिगत तंत्र है। हम यह दिखला चुके हैं कि सम्भवतः कोई भी पूर्णतंत्र ससीम नहीं हो सकता, क्योंकि बाहर से आने वाला कोई परिसीमन आन्तरिक इयत्ता

---

१. इस प्रकार का दृष्टिकोण अव्यवहारिक होने के अतिरिक्त भीतर से संगतिहीन होगा। सत्य को जो स्थान यह देता है, उसी में यह असफल रहता है। वस्तुओं की प्रवृत्तियों के समझने में, जिस बुद्धि का प्रयोग किया गया है, वह फिर भी आंशिक रूप में स्वतन्त्र रह जाती है। या तो हम पहले की भाँति एक दोहरे मानदण्ड को मानने के लिए पुनः बाध्य होते हैं, अथवा इन प्रवृत्तियों के विषय में भी हमें केवल मनोभाव को ही निर्णायक बनाना पड़ता है और इसका अवसान स्पष्टतः या तो क्षणिक विक्षेप-मात्र में होगा अथवा अराजकता में।

२. सत् के प्रत्येक आभास में सत्य है या नहीं, और है तो किस अर्थ में—इस बात की चर्चा आगे २५वें अध्याय में की जायगी।

में किसी विजातीय तत्त्व पर निर्भरता उत्पन्न कर देता है। और इसलिए समन्वय और प्रसार के चिन्ह एक ही सिद्धान्त के दो पक्ष हैं। यदि अन्य बातों में कोई भेद न हो, तो समन्वय के प्रसंग में, यह कहा जा सकता है कि जो बाह्य तत्त्व के किसी अधिक क्षेत्र में सम्प्रसारित हो जाता है और उसको अपने में समाविष्ट कर लेता है, तो वह भीतर से कम विभाजित हो जाता है।[1] कोई तत्त्व जितना ही अधिक सुसंग होगा, उसमें, अन्य सब बातें समान रहने पर, उतना ही अधिक क्षेत्र आ जाने की संभावना है। और विचार अथवा अनुभव के लिए जो पृथक्कृति होती है, उसके प्रसंग में यदि हम इस सत्य को भूल जाते हैं, तो हम विश्व के इन्हीं पृथक्कृति खंडों के अभिधान द्वारा उसको पुनः प्राप्त कर सकते हैं। उस अवस्था में, हमें अपने विधेयों की असंगति तथा बाह्य पूरक के विस्तार को देखने के लिए विवश होना पड़ेगा, परन्तु तभी जबकि हम उनको सत्य बनाना चाहते हों। अतः विस्तार अथवा संगति दोनों में ही सत् की मात्रा है और सत्य की भी। अथवा, उसी वस्तु को दूसरी ओर से देखने पर, आप उसके अभाव के आधार पर अंदाजा लगा सकते हैं। उसके अभावों की पूर्ति हो जाने पर जो परिवर्तन होगा उसकी मात्रा के अनुपात में ही आप किसी वस्तु की सत्ता को माप सकते हैं। अभाव-पूर्ति किये जाने में, कोई आभास जितना ही अधिक खंडित या विनष्ट होगा, उस आभास में उतना ही सत् कम होगा, अथवा, दूसरे शब्दों में, वह आभास् सत् को उतनी ही कम सच्चाई के साथ व्यक्त करेगा। और इसी सिद्धान्त के आधार पर हम उस अनिश्चित शब्द के अर्थ में कोई स्पष्टता लाने में सफल हुए हैं जिसको कि प्रामाणिकता कहा जाता है।

कम-से-कम सिद्धान्त रूप में, यह मानदंड प्रत्येक प्रकार के विषय पर लागू हो सकता है, क्योंकि प्रत्यक्षतः अथवा अप्रत्यक्षतः, और, उसकी आन्तरिक एकता को न्यूनाधिक रूप में सुरक्षित रखते हुए, प्रत्येक वस्तु का सत् के भीतर एक सापेक्षिक दिक् होता है। उदाहरण के लिए, किसी सुख अथवा दुःख की तीव्रता की मात्रा का, उसकी चेतना-व्याप्ति के अतिरिक्त, एक बाह्य क्षेत्र अथवा प्रभाव-परिधि भी होता है। और एक अर्थ में, यह प्रभाव उसकी सत्ता का एक अंग होता है, अथवा उससे सम्बन्धित होता है। और प्रत्ययात्मक तथ्यों के प्रसंग में, उनका कालगत और दिक्-सम्बन्धी प्रसार हमें उनके बीच तुलना का एक प्रसंग उपस्थित करता है। यदि हम

---

१. पाठकों को यह नहीं भूलना चाहिए कि वह असंगति और विक्षेप जो अनुभव नहीं किये जा सकते सबसे अधिक होते हैं (पृष्ठ ३२२) मनोभाव स्वयं एक इकाई और समाधान है, चाहे वह कितना ही अपूर्ण क्यों न हो।

एक ऐसे सूक्ष्म सत्य पर विचार करें जो कि इस रूप में कहीं भी अस्तित्व नहीं रखता, तो हम उसके सक्रिय प्रभाव के तुलनात्मक क्षेत्र पर विचार कर सकते हैं। और, यदि हम ऐसे सिद्धान्तों की सत्ता के विषय में कोई सन्देह करना चाहें, तो हम अपनी गलती को इस प्रकार सुधार सकते हैं। वे जिस जिस के प्रतीक हैं, उस-उसको आप विश्व से अलग हुआ मान लीजिए, और फिर यह विश्वास करने का प्रयत्न कीजिए कि इस पार्थक्य से कोई वास्तविक अन्तर नहीं पड़ा। और, जैसे ही हम आगे बढ़ते हैं, वैसे ही हमारे परीक्षण के लिए एक ऐसी सामाजिक व्यवस्था प्रस्तुत हो जाती है, जो, अपने व्यक्तिगत अंगों में एक संकल्प के पूरे किये जाने के विषय में सचेत प्रतीत होती है। यहाँ हमको एक स्पष्ट आन्तरिक एकता के उच्चतर विकास के दर्शन होते हैं, क्योंकि हमें एक ऐसा व्यक्तित्व प्राप्त होता है, जो बाह्य तथ्य को अपने आश्रित किये हुए होता है, यद्यपि वह यों उसके भीतर ठीक-ठीक दृष्टिगोचर नहीं होता। कालात्मक श्रृंखला में आभास-मात्र की अपेक्षा जो यह श्रेष्ठता है वह धर्म, कल्पना, और कला के जगत् में पदार्पण करने से, और अधिक मात्रा में दिखायी पड़ती है। यहाँ पर आन्तरिक तत्त्व में, सम्भवतः कहीं अधिक विस्तृत तथा कहीं अधिक सघन निजी एकता हो, परन्तु, कालगत अस्तित्व की ओर, वह सम्भवतः अपने को इस प्रकार नहीं दिखला सकती। वह तत्त्व जितना अधिक ऊँचा होगा, और वस्तुओं का आत्मा जितनी अधिक सबलता के साथ उसमें होगा, अनुपात में उतना ही अधिक विस्तृत वह घटनाक्षेत्र होगा, जिस पर अन्ततोगत्वा उसका नियंत्रण है। परन्तु इसी कारण, ऐसा कोई तत्व देखा या परखा नहीं जा सकता, और न उसका बाह्य अथवा आन्तरिक प्रत्यय ही हो सकता है। केवल अपेक्षाकृत सत्ताओं की अभिव्यक्ति ही कभी भी इस प्रकार हो सकती है, और उन्हीं के अनुभवगम्य तथ्यों के रूप में जाँच-पड़ताल की जा सकती है।

और हमारे जैसा कोई मानदंड ही उसको इन्द्रिय-प्रत्यक्ष के क्षेत्र में ठीक-ठीक पद या स्थान प्रदान कर सकता है। और, दूसरी ओर, एक ऐसा मत है जो कालगत आभास को कोई उदासीन वस्तु समझने का प्रयत्न करता है। वह अनुभवातीत विचार जगत् में सत् को ढूंढ़ने का प्रयत्न करता है। अन्ततोगत्वा दोनों गलतियाँ हमें एक-से ही असत्य परिणाम पर पहुँचाती हैं, और दोनों में त्रुटि का एक ही सिद्धान्त निहित है और दोनों का मूल भी वही है। अन्त में, उनमें से प्रत्येक एक ऐसे क्षीण और खंडित अंश को पूर्ण सत् मानने के लिए हमें विवश करेगा, जो, इसलिए ही, और इसके परिणामस्वरूप ही, भीतर से असंगतिपूर्ण है। और इनमें से प्रत्येक, वस्तुओं के स्वभाव-विषयक एक ही भूल पर, आश्रित है। हम देख चुके हैं कि सत् का प्रत्यय तथा अस्तित्व

में विभाजन एक ऐसा पार्थक्य है जो कि केवल आभास के जगत् में ही स्वीकार किया जा सकता है। परम सत् में, ऐसा प्रत्येक भेद मिल जाता है और विलीन हो जाता है। परन्तु हमारा आग्रह था कि प्रत्येक प्रत्यक्ष के विलीनीकरण का अर्थ यह हुआ कि उसके दावे पूरी तरह से ठीक उतर गये। और इसलिए, (यद्यपि सविस्तार यह कहना सम्भव नहीं कि कैसे), प्रत्येक पक्ष अपने विलोम के साथ पूर्ण इकाई के भीतर एकीभूत हो जाता है। वहाँ पर विचार और अनुभव दोनों ही समान रूप से एक-दूसरे में अपना पूरक ढूँढ़ लेते हैं। इसलिए मैं इस सिद्धान्त को एक मूल त्रुटि मान कर अस्वीकार करता हूँ कि आभास के इन दोनों पक्षों में से किसी एक के अन्तर्गत ही सत् अपने पूरे रूप में आ सकता है।

आइए, हम और निकट से उन दो भ्रान्तियों पर विचार करें जो इससे प्रसूत होती हैं। इनमें से एक तो यह मानती है कि घटना-श्रृंखला अनिवार्य है, और इस आधार पर इस परिणाम पर पहुँचती है कि केवल अनुभव, वाह्य अथवा आन्तरिक, एक सत् है; अथवा यदि वह इतने तक नहीं पहुँचता, तो भी वह यह दलील देता है कि सत् होने का अर्थ ही प्रत्यय-योग्य होना है। अर्थात्, कालात्मक श्रृंखला के क्षेत्र में, सत् के लिए आभास को आवश्यक समझा जाता है।[1] यह एक ठीक दलील है, परन्तु इस प्रकार, इस सत्य से हम एक अवांछनीय निष्कर्ष पर पहुँच जाते हैं। आभासित होने को, यह कहिए कि, सदा एक व्यक्तिगत आभास माना जाता है और जब तक उसको प्रत्यक्ष में प्रस्तुत नहीं किया जा सकता और जब तक श्रृंखला के किसी एक खंड में व्यक्त नहीं किया जा सकता, तब तक किसी भी वस्तु को सत् नहीं माना जा सकता। परन्तु यह परिणाम मूलतः भ्रामक है। जैसा कि हम स्पष्ट रूप से देख चुके हैं, किसी भी प्रत्यय के भीतर कभी भी कोई स्वरूप स्थित नहीं होता। यदि कोई उपस्थापना, किसी भी अंश में, तथ्य-रूप ग्रहण करना चाहे, तो उसे प्रत्यात्मकता, अथवा दूसरे शब्दों में स्वातिक्रमण दिखलाना चाहिए; और जो किसी भी क्षण प्रकट होता है वह यों स्वयं-विरोधी होता है। और, दूसरी ओर से, कोई स्वरूप यों जितना ही प्रकट होगा, अर्थात् उसकी आवश्यक अभिव्यक्ति दिक् और काल में जितनी ही अधिक सीमित होगी, उतनी ही अधिक उसमें विस्तार तथा आन्तरिक समन्वय संभव होगा। परन्तु जैसा कि हम देख चुके हैं, ये दोनों विशेषताएँ सत् के लक्षण है।

और दूसरी त्रुटि पहली के समान ही है। एक बार फिर, आभास को भूल से

---

१. यहाँ पर अध्याय १९ और २३ से तुलना कीजिए।

इन्द्रियानुभव समझ लिया जाता है, और फिर एक गलत निष्कर्ष इस आधार पर निकाल लिया जाता है। परन्तु अब यह भूल विपरीत दिशा में चलती है। यह स्पष्ट है कि सर्वोच्च तत्त्व इन्द्रियगोचर नहीं है, इसलिए उनका निवास और उनकी सत्ता शुद्ध विचार के जगत् में मानी जाती है। और न्यूनाधिक स्थायित्व के साथ, इसी जगत् के अन्तर्गत सम्पूर्ण सत् को समझा जाता है। परन्तु यदि इसको घटनाओं के शृंखलात्मक प्रवाह से पूर्णतया बाहर कर दिया जाय, तो यह विचार-जगत् बाहर सीमित भीतर से असंगतिपूर्ण हो जायेगा, क्योंकि यदि हम केवल प्रत्ययात्मक सूक्ष्मता के द्वारा विश्व को विशिष्ट करने का प्रयत्न करें, और प्रत्यक्ष में प्रकट होने वाले सत् में इस व्यक्ता को मानें, तो गड़बड़ी और भी अधिक स्पष्ट हो जाती है। इन्द्रियानुभव को सत्य का विजातीय मान कर छोड़ देने से, वह अब फलतः मुक्त हो गया और अब वह पूर्णतया निरंकुश है। और अब उसका स्थूल स्वरूप उन सभी शुद्ध विचारों को स्पष्ट रूप से बाहर से निर्णीत तथा प्रमाणित करना है जिनको हम सत् के विषय के रूप में प्रस्तुत करने का प्रयत्न करते हैं। परन्तु समस्त प्रत्यक्षण में विचार की अर्थ के साथ एकता, प्रत्ययात्मकता के साथ समस्त तथ्याभासों की सर्वत्र सह-विद्यमानता —सत्य का यही एक आधार है। और इसमें हम जब इतना और लगा देते हैं कि अस्तित्व रखने का अनिवार्यतः यह अर्थ नहीं है कि अस्तित्व है, और काल के अन्तर्गत किसी वस्तु का साक्षात् किये जाने का अभिप्राय सदैव यह नहीं होता कि वह इन्द्रिय-गोचर है, तो हम अपने को सभी भूलों से सुरक्षित कर लेते हैं। इस अवस्था से हम शीघ्र ही सत्य और सत् की मात्राओं-सम्बन्धी सिद्धान्त पर पहुँच जाते हैं। उस अवस्था में हमारे जगत् और हमारे जीवन को निरंकुश रूप से निर्मित होने की तनिक भी आवश्यकता नहीं। उनको तथ्य तथा मतगढ़न्त के द्विविध गोलार्धों में संयोग होने की आवश्यकता नहीं। और न परम सत् को अविवेकपूर्वक स्वयं को एक ऐसे अस्त-व्यस्त रूप में ही स्पष्ट करने की आवश्यकता है जिसमें तुलना और मूल्यांकन का अभाव हो। हम उच्चतर और निम्नतर के भेदों को एक तर्कपूर्ण अर्थ प्रदान कर सकते हैं।[1] और, हमें इस बात का विश्वास हो गया है कि जब प्रकट न होने का अभिप्राय असत् होना है, और जब प्राकट्य के अनुपात पर ही सत्ता की पूर्णता अवलम्बित है, तो हमारे सिद्धान्त को केवल इतना ही कहने पर, सिर्फ आधा ही कहा हुआ माना जाना चाहिए, क्योंकि व्यक्तिगत रूप में और यों इन्द्रियानुभव के क्षेत्र में, अस्तित्ववान् होने की

---

१. मूल्यांकन करने में, जो स्थान सुख और दुःख को दिया गया है, उसकी चर्चा २५वें अध्याय में की जायगी।

तुलनात्मक सामर्थ्य सर्वत्र ही, सत्ता के तारतम्य में, सामान्यतः एक पतन का लक्षण है।

अथवा, यदि हम प्रश्न को कुछ कम सूक्ष्मता के साथ देखें, तो हम एक दूसरे प्रकार से कालात्मक अस्तित्व की वास्तविक स्थिति को प्रकट कर सकते हैं। जैसा कि हम देख चुके हैं, यह सत् नहीं है, परन्तु, यह हमारे अनुभव में एक अनिवार्य तत्त्व है। और यह समझना स्पष्टतः असंगत है कि एक तथ्यहीन विचार-मात्र वास्तविक हो सकता है, अथवा वह सत्य के समीप पहुँच सकता है। निःसन्देह घटना-शृंखला हमारे ज्ञान के लिए आवश्यक है,[1] क्योंकि इस शृंखला से समस्त प्रत्ययात्मक सत्ता का स्रोत प्राप्त होता है। हम सामान्यतः और पर्याप्त निश्चय के साथ यह कह सकते हैं, कि विचार के अन्तर्गत भौतिक-तत्त्वों अथवा सम्बन्धों में से ऐसा कुछ भी नहीं है जो कि प्रत्यय द्वारा प्राप्त न होता हो। और दूसरे, प्रस्तुत हुए आधार पर ही हम दिक् और काल के भीतर अपने नाम-रूपात्मक तंत्र का निर्माण कर सकते हैं। हमने निःसन्देह देखा (अध्याय १८) कि ऐसी कोई भी गढ़ी हुई एकता केवल उपस्थापना की भूमि से एक अनुभव-संसार का निर्माण करना हमारे समस्त ज्ञान की एक उपाधि है। यह बात सच नहीं है कि कालात्मक होने पर भी, प्रत्येक वस्तु की दिक् और काल-विषयक हमारी वास्तविक व्यवस्था में एक स्थान रखती है। परन्तु प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में, प्रत्येक ज्ञात-तत्त्व अपने घटना-केन्द्र से सम्बन्धित होना चाहिए, और, कम-से-कम किसी अर्थ में, वहाँ भी प्रकट होना चाहिए। हम कह सकते हैं कि सत्य की कसौटी उपस्थापित तथ्य में निहित रहती है।

यहाँ हमें एक भयंकर भूल से बचने का प्रयत्न करना चाहिए। हम देख चुके हैं कि अस्तित्व के बिना विचार अपूर्ण है, परन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि अस्तित्व बिना शुद्ध विचार अपने निज रूप में पूरी तरह से पूर्ण होता है, और उसमें अस्तित्व एक ऐसा पूरक जोड़ देता है जो आवश्यक होते हुए भी विजातीय होता है, क्योंकि सिद्धान्त रूप में, हम देख चुके हैं कि यदि कोई वस्तु पूर्ण हो, तो बाहर से कोई अन्य वृद्धि हो जाने पर उसको कोई लाभ नहीं होता। और विशेपकर के यहाँ वास्तविक तथ्य-विषयक अपनी खोज में, विचार का सर्वप्रथम लक्ष्य निश्चित रूप से अपनी प्रत्ययात्मक इयत्ता को विस्तार तथा समन्वय प्रदान करना है। और जैसे ही हम इसके कारण पर विचार करते हैं, वैसे ही वह स्पष्ट हो जाता है। केवल विचार में

१. अपने निश्चित स्वरूप में, शृंखला निःसन्देह एक प्रत्यात्मक सृष्टि है। परन्तु हम यहाँ उसकी उपेक्षा कर सकते हैं।

अथवा कल्पना का विषय रहने पर, डोलर अपेक्षाकृत सूक्ष्म और गुणरहित है। परन्तु दिक् के भीतर परीक्षित, डोलर को, एक विशाल वस्तु-निर्माण में स्थान प्राप्त है और उसी के द्वारा वह निर्णीत होता है। और यह मानना बिल्कुल लचर होगा कि इन सम्बन्धों का स्थूल सन्दर्भ, किसी भी अर्थ में, उसकी आंतरिक इयत्ता को विशिष्ट नहीं बनाता, अथवा यह कि ये विशिष्टताएँ विचार के लिए एक उदासीनता का विषय हैं।

एक शुद्ध विचार से अभिप्राय एक ऐसी प्रत्ययात्मकता से होगा, जो अस्तित्व से पृथक् मानी जाय; परन्तु (जैसा कि हम जान चुके हैं) यदि हम कोई विचार रखते हैं, तो वह सदैव किसी-न-किसी प्रकार इच्छा के विरुद्ध भी सत् की अपेक्षा रखता है। इसलिए हमारा जो शुद्ध प्रत्यय इस समय सत् से सम्बन्धित है, वह कालगत घटनाओं के नाम-रूपात्मक तंत्र से भी सम्बन्धित होता है। वह उनसे सम्बन्धित होता है, परन्तु उनके तंत्र की व्यवस्थाओं और आन्तरिक क्रम से उनका कोई सम्बन्ध नहीं होता। परन्तु इसका अभिप्राय यह है कि हमारे शुद्ध प्रत्यय को यह तंत्र पूर्णतया बाहर से निर्णीत करती है। और इसलिए वह स्वयं भीतर से उस आकस्मिकता से ओत-प्रोत होगा जो उसकी इयत्ता के भीतर इन अस्त-व्यस्त सम्बन्धों-द्वारा प्रविष्ट कर दिया जाता है, और उसी के द्वारा वह नष्ट भी होगा। इस ओर विचार करने पर, यदि कोई विचार वस्तुतः अपने नग्न रूप में होगा, तो वह एक ऐसे स्तर पर खड़ा होगा जो तथाकथित अनुभव-तथ्यों से नीचे होगा, क्योंकि अनुभव-तथ्यों में, कम-से-कम सन्दर्भ से कुछ आन्तरिक सम्बन्ध होते हैं, और पहले से ही सार्वभौम तत्त्वों से (वे कितने ही अशुद्ध क्यों न हो) एक निश्चित सम्बन्ध होता है।

सम्पूर्ण सत् की अभिव्यक्ति का घटना-जगत् में होना आवश्यक है, और वह अत्यधिक वास्तविक होगा जो, इस प्रकार की व्यवस्था अथवा व्यवस्थाओं में, अपने लिए कम-से-कम विदेशीय प्रतीत हो। अतः यदि अन्य वस्तुएँ समान रहें, तो कालात्मक तंत्र में एक निश्चित स्थान तथा सम्बन्ध सत्ता में वृद्धि कर देता है, क्योंकि इस प्रकार अन्य तथ्यों के जो सम्बन्ध किसी-न-किसी प्रकार से निर्णीत होते ही हैं, वे कम-से-कम किसी हद तक, काल्पनिक तथ्य प्रत्यय योग्य तथ्य से नीचा रह जाता है, अथवा दूसरे शब्दों में, उसमें अनिवार्य रूप से विजातीय तथा विघातक सम्बन्धों के एक बृहत्तर क्षेत्र के द्वारा परिवर्तन प्रस्तुत कर दिये जाते हैं। मैंने यह आग्रह किया है कि अन्य वस्तुएँ समान रहें, क्योंकि यह प्रतिबन्ध महत्त्वपूर्ण है। अनुभव के किसी भी एक तथ्य की अपेक्षा एक तो कल्पना ही अधिक ऊँची, अधिक सत्य और निःसन्देह अधिक वास्तविक कही जा सकती है। और इस प्रकार हम फिर अपने उसी पुराने

भेदभाव पर वापस आ जाते हैं। प्रत्येक सत्य के लिए यह आवश्यक है कि वह प्रकट हो और अस्तित्व को गौण कर दे, परन्तु इस प्रकट होने का अभिप्राय इन्द्रियानुभव की सीमाओं के भीतर, ठीक-ठीक और इसी रूप में प्रतीयमान होना नहीं है। विज्ञान के सामान्य सिद्धान्तों की सदृश्यता से हम संभवतः इस बात को तुरन्त देख सकते हैं। और फिर कला और धर्म के आवश्यक आभासों के प्रसंग में, यही निष्कर्ष स्पष्ट रूप से होता है। प्रत्येक अवस्था में शाश्वत अस्तित्व दिक् और काल की शृंखलाओं में प्रविष्ट नहीं हो पाता, अथवा वह उन शृंखलाओं में अनुपयुक्त ढंग से प्रयुक्त होता है, और एक ऐसे-प्रदर्शन के साथ प्रविष्ट होता है जो विभिन्न प्रकार से उसके मूल तत्त्व का खंडन करता है। वस्तुओं के केन्द्र-स्थल के निकट होने का अभिप्राय यह है कि छोरों पर और अधिक विस्तार के साथ आधिपत्य जमाया जाय। परन्तु एक ऐसे अपूर्ण और आंशिक लक्षण के द्वारा, अथवा एक अवास्तविक तथा क्षणिक अभि-व्यंजन-रूप के द्वारा प्रकट होने के अतिरिक्त, और कोई ढंग नहीं है। कहीं भी कोई भी वस्तु, अनुभूत और ठोस नैतिक संकल्प तक भी, न तो पूर्णतया वास्तविक हो सकता है, जैसा कि वह काल के भीतर होता है, और न वह बिल्कुल अपने निजी अनिवार्य स्वरूप में ही प्रकट हो सकता है। परन्तु फिर भी, जिस अन्तिम सत् में समस्त आभास विलीन हो जाते हैं, वह ही अन्ततोगत्वा प्रत्ययों के अस्तित्व की वास्तविक एकरूपता है। और, व्यक्ति कुछ भी हो, परन्तु हमारा जगत् आद्योपांत अधिक वास्तविक और सत्य है, क्योंकि उसकी अपनी सीमाओं के भीतर ही, परम सत् का एक वृहत्तर क्षेत्र आ जाता है, और उसने आत्म-निर्भरता का स्वरूप और अधिक तीव्र होता है, अथवा दूसरे शब्दों में, इस प्रकार के तत्त्व और परम सत् के बीच जो अन्तराल होता है, वह अपेक्षाकृत छोटा होता है। इस उच्चतर तत्व को पूर्णतया वास्तविक बनाने के लिए, हमें कम परिवर्तन तथा अपनी निजी विशेषता का कम विनाश अपेक्षित होना चाहिए।

अब हम इस सामान्य सिद्धान्त को छोड़कर, विभिन्न रोचक बातों को ले सकते हैं। और सबसे पहले, हम कुछ ऐसी कठिनाइयों पर विचार कर सकते हैं, जो इस अध्याय तक शेष रह गयी हैं। अप्रतीत प्रकृति, आत्मा की मनोदशाएँ, संभावित अस्तित्व का सामान्य अर्थ——ये ऐसी समस्याएँ हैं जिन पर हमें ध्यान देना आव-श्यक है और मैं सर्वप्रथम एक भूल की ओर ध्यान आकर्षित करूँगा। हम देख चुके हैं कि कोई भी प्रत्यय सत् के उतना ही अधिक निकट होता है, उतना ही अधिक निकट पहुँचता है, जितना कि वह भीतर से अधिक पूर्ण होता है। और इससे हम संभवतः यह निष्कर्ष निकालें कि विचार यदि इस रूप में पूर्ण हो, तो वह स्वयं ही सत् हो

जायगा, तो उसमें और वास्तविक पूर्णता में कोई भेद नहीं होगा। परन्तु ऐसा कोई निष्कर्ष निकालना ठीक नहीं होगा, क्योंकि हम देख चुके हैं कि विचार-मात्र स्वयं कदापि पूर्ण नहीं हो सकता, और इसलिए वह भीतर से असंगतिपूर्ण तथा अपूर्ण रहता है। और, दूसरी ओर, हम देख चुके हैं कि पूर्ण हुआ विचार स्वातिक्रान्त होने के लिए विवश हो जाता है। उस अवस्था में इन्द्रियानुभव और मनोभाव एकीभूत हो जायँगे। उसकी पूर्णता की ये परिस्थितियाँ आंशिक रूप में स्वयं उसके लिए विदेशीय और विजातीय होने से, हम न तो यही कह सकते हैं कि वह स्वतः पूर्णता को प्राप्त हो सकता है, और न यही कह सकते हैं कि पूर्ण होने पर, उसका आगे कोई अस्तित्व रह सकता है।

इतने विवेचन के पश्चात्, हम संभवतः कुछ प्रश्नों पर विचार कर सकते हैं। हमने देखा (अध्याय २२) कि भौतिक जगत् के कुछ अंगों का अस्तित्व हो सकता है, और फिर भी उनका अस्तित्व हमारे लिए केवल एक विचार के रूप में ही हो सकता है। परन्तु हमने यह भी देखा कि जब परम सत् में सभी ससीम आत्माओं की इयत्ताएँ घुल-मिल जाती हैं, तो ये विचार-सत्ताएँ भी, किसी-न-किसी प्रकार, अवश्य ही इन्द्रियानुभव के साथ पुनः संयुक्त हो जायेंगी। और यही निष्कर्ष आध्यात्मिक मनोदशाओं पर भी लागू होता है (अध्याय २३)। इनका जो निश्चित स्वरूप है, उनके अनुसार, उनके विचार-जगत् के अतिरिक्त अन्यत्र कोई सत्ता ही नहीं, क्योंकि, जैसा कि हमने देखा वे सोपाधिक हैं और जो सोपाधिक है उसका वास्तविक अस्तित्व नहीं होता। परन्तु यहीं एक बार फिर, विचारों को पूर्ण इकाई के भीतर अपना पूरक मिलना आवश्यक है, यद्यपि विस्तारपूर्वक यह नहीं बताया जा सकता कि किस प्रकार। इस अन्य पक्ष के आ जाने से, वे स्थूल सत् के अंग बन जायेंगे।

सम्भवतः हमारा प्रस्तुत अध्याय हमें इन विषयों पर और अधिक स्पष्टता से समझने में सहायक हो, क्योंकि हमने देखा कि पूर्ण होने, और इस प्रकार वास्तविक बनने के लिए, प्रत्यात्मक परिस्थितियों को स्वातिक्रांत होना चाहिए। उनको 'केवल' विचार के जगत् से बाहर जाना पड़ेगा। और, दूसरी ओर, हम यह भी देख चुके हैं, कि प्रत्येक प्रत्यय में सत्य और सत् दोनों की एक मात्रा अवश्य होनी चाहिए। उनको केवल विचार के जगत् से बाहर जाना पड़ेगा। प्रत्यात्मक इयत्ता का अस्तित्व के क्षेत्र में प्रकट होना आवश्यक है। और हम देख चुके हैं, कि हमें इस आधार पर उसको अवस्तु समझने का कदापि अधिकार नहीं है, कि वहाँ पर अपने को प्रकट करने अथवा कोई स्थान ग्रहण करने में असमर्थ हैं। अब हमें इस सिद्धान्त का प्रयोग आत्माओं की क्षमताओं तथा प्रकृति के अदृश्य अंगों पर करना चाहिए। इनमें से

प्रथम का तो ठीक-ठीक अस्तित्व सम्भव नहीं, और दूसरे के (जैसा कि अभी तक हमने देखा) लिए निःसन्देह यह आवश्यक नहीं है। अतः हम, उन दोनों को प्रकट होने में असमर्थ मान सकते हैं। परन्तु जैसा कि हमें ज्ञात हो चुका है, इस बात को लेने-भर से ही उनका वास्तविक होने का दावा निर्बल नहीं हो जाता। और जब हमारे मानदंड का प्रयोग होता है, तो उनकी सत्ता की मात्रा उनके उस महत्त्व, प्रभाव और प्रतिफल पर निर्भर होगी जो उनमें से प्रत्येक विश्व में उत्पन्न कर सकता है।

उनमें से प्रत्येक 'संभावित अस्तित्व' शीर्षक के अन्तर्गत आयगा, और हम अब इसी फ़िकरे के अर्थ पर विचार कर सकते हैं। 'संभावित' और अन्तर्निहित और 'सहज', और 'वास्तविक' और 'प्रवृत्ति' जैसे शब्दों का प्रयोग प्रायः किया जाता है। उनका प्रयोग इस बात को व्यक्त करने के लिए होता है कि किसी वस्तु का अस्तित्व है, और यह भी यद्यपि या तो हमें यह जानना चाहिए अथवा हम यह जानते हैं कि उस वस्तु का निःसन्देह अस्तित्व नहीं है। दर्शन के कुछ लेखकों का इन शब्दों से जो काम चला है, उसकी अतिशयोक्ति करना शायद ही सम्भव हो। परन्तु यहाँ हमारा यह प्रयोजन नहीं। संभावित अस्तित्व से अभिप्राय उपाधियों अथवा अस्तित्वों के एक ऐसे समूह से है, जिसका एक अंश दिक् अथवा काल के किसी विन्दु पर उपस्थित होता है, जबकि दूसरा अंश प्रत्ययात्मक रह जाता है। सामान्यतः, उसका जब प्रयोग होता है, तो इस बात का कोई स्पष्ट ज्ञान नहीं रहता कि इन उपाधियों अथवा परिस्थितियों को पूर्ण करने के लिए कितने की आवश्यकता है। और तब उस पूर्ण इकाई को एक ऐसे स्थान पर अस्तित्ववान् बताया या समझा जाता है, जहाँ कि वस्तुतः उसके तत्त्व आंशिक रूप में ही विद्यमान रहते हैं। इस प्रकार का कोई दुरुपयोग उचित नहीं ठहराया जा सकता।

'संभावित अस्तित्व' का प्रयोग अच्छी तरह से निम्नलिखित अर्थ में किया जा सकता है। इससे हमारा अभिप्राय यह हो सकता है कि कोई वस्तु पहले से ही किसी प्रकार एक दिये हुए काल-विन्दु पर प्रकट होती है, यद्यपि वह अभी तक पूर्णतया अथवा अपने निजी निश्चित स्वरूप में नहीं प्रकट होती। मैं इसके प्रयोग के लिए निश्चित अवस्थाओं को दिखलाने का प्रयत्न आगे चलकर करूँगा, परन्तु सबसे पहले यह अधिक अच्छा होगा कि ऐसी स्थिति को बताया जाय जहाँ वह पूरी तरह से लागू नहीं होता। हमें वहाँ पर संभावित अस्तित्व की बात नहीं करना चाहिए जहाँ, अस्तित्व के वास्तविक बना देने पर, प्रस्तुत तथ्य बिल्कुल तिरोहित हो जायगा। वर्तमान में प्रकट होने वाली उपाधियों और परिस्थितियों का वह अंश, कार्य-कारण-

ाम के द्वारा, अवश्य 'शेप' को उत्पन्न करेगा, और इस बात के घटित होने के ए, विदेशीय भौतिक तत्व का संयोग आवश्यक है। परन्तु यदि उसका संयोग ना अधिक हो जाता है कि इस प्रथम आभास में अस्तित्व पूर्णतया नष्ट हो जाता अथवा वह अभिभूत या आक्रान्त हो जाता है, तो 'संभावित अस्तित्व लागू' नहीं सकता। इस प्रकार किसी व्यक्ति की मृत्यु चेरी की गुठली पेट में रह जाने से सकती है। परन्तु, इसलिए चेरी की प्रत्येक गुठली को मनुष्य की संभावित मृत्यु मझना, और प्रत्येक गुठली में इस प्रकार की मृत्यु के पूर्वाभास की बात करना, नःसन्देह व्यर्थ की बकवाद होगी, क्योंकि इस परिणाम को उत्पन्न करने में बाह्य रिस्थितियों या उपाधियों की इतनी बड़ी मात्रा का योग होना चाहिए कि अन्त में रिस्थिति तथा परिणाम किसी दैवयोग के द्वारा बाहर से परस्पर संयुक्त किये जायँ। हम संभवतः दुरुपयोग के एक स्थूलतर उदाहरण के द्वारा इस बात को और अच्छी तरह समझ सकते हैं। किसी कवि के द्वारा खायी हुई एक रोटी का टुकड़ा संभवतः एक गीत की सृष्टि करने के लिए एक परिस्थिति के रूप में आवश्यक हो। परन्तु क्या कोई इस प्रकार के गीत का अस्तित्व वस्तुतः पहले से ही ऐसे प्रत्येक खाद्यान्न में माना जा सकता है जिसको किसी दैवयोग से कवि के पेट में पहुँचना सम्भव माना जा सके।

इन अनुपयुक्तताओं का उपयोग सम्भवतः हमारे शब्द के ठीक-ठीक प्रयोग को बतलाने में हो सके। वह ऐसी सभी जगहों पर प्रयोग हो सकता है, जहाँ पर उपस्थित तथ्यों को अवशिष्ट के उत्पन्न करने में समर्थ माना जा सके, और यह उसे इस प्रकार करना चाहिए जिससे कि उसके वर्तमान स्वरूप का पूर्ण विनाश न हो। दूसरे शब्दों में, व्यक्तित्व सम्पूर्ण प्रक्रिया में निरन्तर रहना चाहिए, और अन्तिम परिणाम अधिकांशतः प्रारम्भिक का फल होना चाहिए। एक ही सिद्धान्त के ये दो पक्ष हैं। क्योंकि स्पष्टतः यदि बाह्य परिस्थितियों की एक नियत मात्रा से अधिक का प्रवेश किया गया, तो प्रारम्भिक और अन्तिम परिणामों की प्रत्ययात्मक एकरूपता नष्ट हो जायगी। और यदि यह बात है, तो यह स्पष्ट है कि अन्तिम परिणाम का अस्तित्व पहले से ही नहीं था। और, किसी भी तर्क-संगत अर्थ में, उसका आभास वहाँ पर पहले से ही नहीं हो सकता, बाद में पक्षी-रूप ग्रहण करने वाले अंडे का साधारण उदाहरण इस प्रकार सम्भावित अस्तित्व का एक नियमित प्रयोग है। दूसरी ओर, बिना किसी भेदभाव के प्रत्येक व्यक्ति को लाल बुखार का संभावित रोगी मान लेना कम-से-कम अयुक्तता के समीप पहुँच जाय। यह कहना भी स्पष्टतः ही अनुपयुक्त होगा कि उसमें पहले से ही ऐसे परिणाम विद्यमान हैं, जो केवल उसके निजी विघटन

से ही उत्पन्न हो सकते हैं। संक्षेप में, संभावित अस्तित्व का प्रयोग केवल वहीं हो सकता है, जहाँ पर उन्नति अथवा 'विकास' का ठीक-ठीक अर्थ लागू होता हो। और विकास के अर्थ से मेरा अभिप्राय इस शब्द के उस निरंकुश दुरूपयोग से नहीं है, जो एक तथाकथित दर्शन के द्वारा प्रतिपादित किया गया है।

इसलिए कुछ परिस्थितियों में, संभावित सत्ता की कल्पना का प्रयोग किया जा सकता है। परन्तु मुझे यहाँ एकदम यह जोड़ देना चाहिए कि उसका प्रयोग कहीं भी पूर्ण सत्य और पूर्ण युक्तता के साथ नहीं हो सकता,. क्योंकि प्रत्येक वस्तु को अपना निज का विकास करने के लिए, वाह्य परिस्थितियों का आना आवश्यक है, और अन्त में इस वाह्य तत्त्व की सीमा नियत करना आवश्यक है। वास्तविक कारण सदैव ही पूर्ण कारण होगा, और पूर्ण कारण कभी भी तब तक पूर्ण नहीं होगा, जब तक कि वह विश्व का समावेश न कर ले।[1] यह कोई काल्पनिक सूक्ष्मता-मात्र नहीं, अपितु एक व्यावहारिक कठिनाई है, और उसको हम अभी शरीर तथा आत्मा-विषयक गवेषणा करते हुए देख चुके हैं (अध्याय २३)। ठीक-ठीक तो आप यह कभी नहीं कह सकते कि कोई वस्तु उस वस्तु के कारण होगी जो कि वह है। परन्तु, जहाँ आप यह नहीं कह सकते, वहाँ पर संभावित अस्तित्व अंशतः उपयुक्त हो जाता है। उसका प्रयोजन न्यूनाधिक रूप में अस्पष्ट ही होगा, और न्यूनाधिक रूप में सहन किये जाने पर ही किया जायगा। संक्षेप में हम दो संकटों के बीच आ जाते हैं। यदि किसी भी ससीम वस्तु के प्रसंग में, आप उसके सम्बन्धों का विधान करने से पूर्णतया निषेध कर दें, और वह सम्बन्ध भी अनिवार्यतः आंशिक रूप में वाह्य, और इसलिए, अंशतः परिवर्तनशील हो, तो इस वस्तु के विषय में आपका जो विवरण होगा, वह अपर्याप्त और रिक्त होगा। परन्तु, अन्य प्रकार से, आप उस वस्तु के विषय में वही कह रहे होंगे, जो कि वह केवल हो सकती है।

और, एक बार इस मार्ग पर पहुँच कर, आप शीघ्र ही सभी सीमाओं को पार कर जाते हैं। आपको विवश होकर अपने विधेयों के विषय का इतना असीम विस्तार करना पड़ता है कि अन्ततोगत्वा वह विषय किसी बिल्कुल भिन्न वस्तु में विलीन हो जाता है। इसलिए संभावित अस्तित्व का प्रयोग करके हम, एक प्रकार से, एक ढालू धरातल पर खड़े हो जाते हैं। हम यह कहते हुए प्रारम्भ करते हैं कि क ऐसा है कि संभावित परिस्थितियों में, उसका स्वरूप विकसित होकर ख में परिणत हो जायगा और, इसलिए इसके कारण मैं पहले से ही उसको ख कहने का साहस करता हूँ।

---

१. और यह असंभव है, देखिए अध्याय ६ पृ० १८।

और हम उसका अन्त इस दावे के साथ करते हैं कि क को संभवतः एक दूसरे परिणाम ग में परिणत होना पड़े, इसलिए इस कारण से ग को पहले ही विशेष रूप में प्रस्तुत किया गया है। और हमें इसी पर स्थिर रहना होता है, यद्यपि ग, एक बहुत थोड़ी सीमा तक ही चाहे क के द्वारा उत्पन्न किया गया हो, और यद्यपि, परिणाम में, क स्वयं संभवतः पूर्णतया लुप्त हो गया हो।

अतः हमको यह स्वीकार करना पड़ेगा कि अस्तित्व में, किसी सीमा तक, एक समझौता निहित है। वस्तुतः उसके प्रयोग को एक किसी सुनिश्चित सिद्धान्त के आधार पर निर्धारित नहीं किया जा सकता। फिर भी वह फ़िकरा जिस अर्थ को व्यक्त करने का प्रयत्न करता है और जो अर्थ न्यूनाधिक रूप में इसके अन्तर्गत माना जाता है, उसको अपने मस्तिष्क में रखते हुए हम लोग, व्यवहार में, उसका सुविधा-जनक और सुरक्षित प्रयोग करने में सफल हो सकते हैं। परन्तु, अन्ततोगत्वा, वह एक अस्पष्टतः संकट का व्यापक स्रोत ही रह जायगा। जितना ही कोई लेखक इस फ़िकरे को अपनाने के लिए स्वभावतः अधिक प्रेरित होता है, उतना ही अधिक संभवतः उससे बचने का प्रयत्न करने की आवश्यकता हो जाती है।

यदि हम संभावना और संयोग के सामान्य स्वरूप पर आगे और विचार करें, तो संभवतः कई समस्याओं पर प्रकाश पड़े[1] हमने इस विषय की कुछ चर्चा उस समय की, जब हमने यह प्रश्न किया कि क्या पूर्ण संभावना और सत्ता एक ही बात है? (पृ० ३३३)। इस प्रश्न का उत्तर संक्षेप में, यह हो सकता है: संभावना में अस्तित्व से विचार का पार्थक्य निहित है, परन्तु, दूसरी ओर ये दोनों आत्यन्तिक अवस्थाएँ वस्तुतः एक ही होती हैं। जबकि प्रत्येक (दूसरे से पृथक् होने के कारण) भीतर से अपूर्ण रहती है। इसलिए यदि 'संभव' को इतना पूर्ण किया जा सकता, तो वह सत् में परिणत हो जाता। परन्तु, इस लक्ष्य तक पहुँचने में, वह सर्वथा ही शुद्ध विचार-मात्र न रह जाता, और इसलिए परिणामतः वह फिर संभावना न रहती।

जो सम्भव है उसमें सदा ही सत्ता से प्रत्यय का आंशिक भेद अभिप्रेत होता है। वस्तुतः वह एक प्रत्ययात्मक पूर्वगामी का विचारात्मक परिणाम है। वह परि-स्थितियों अथवा उपाधियों के एक संघात से, एक ऐसे तंत्र से उद्भूत होता है जो कि कदापि स्वयं पूर्ण नहीं होता, और जो कि, अपने क्षेत्रांश के माध्यम को छोड़कर अन्यथा, यों ही सत् नहीं समझा जाता। परन्तु यह अन्तिम विशेषता आवश्यक है।

---

१. संभावना पर तुलना के लिए, अध्याय २७ और 'प्रिंसिपुल्स आफ लाजिक' प्रथम पुस्तक अध्याय ७।

जो संभव है, वह स्वतः सत् नहीं होता, परन्तु उसका तत्वांश अंशतः विचारातीत हो जाता है, और जब तक कि वह वस्तुतः संभव नहीं होता, तब तक उसका बिल्कुल कुछ भी अर्थ नहीं होता। एक सत् आधार से विकसित होना, तथा उससे सम्बन्धित होना, उसके लिए आवश्यक है। और इसलिए, उपाधिहीन संभावना-जैसी कोई वस्तु नहीं हो सकती। दूसरे शब्दों में संभाव्य वस्तु सदैव सापेक्षिक होती है और यदि वह स्वतंत्र होने का प्रयत्न करती है, तो वह अपने निज रूप में नहीं रह जाती।

संभवतः, यदि हम सापेक्षिक संयोग के स्वरूप (अध्याय १९) को पुनः स्मरण करें, तो हम इस बात को समझेंगे। संयोग ऐसा प्रस्तुत तथ्य है, जो किसी प्रत्ययात्मक पूर्णता अथवा तंत्र के बाहर पड़ती है। और कोई भी तत्त्व, जो किसी ऐसे सार्वभौम तत्त्व में सम्मिलित नहीं होता, वह उस सार्वभौम के प्रसंग में, एक नग्न तथ्य होता है और इसलिए एक सापेक्षिक संयोग होता है। दूसरे शब्दों में, यदि संयोग वास्तविक संयोग की अपेक्षा कुछ अधिक नहीं है, तो वह वास्तविक संयोग भी नहीं होगा। उसको किसी प्रत्यय से निषेधात्मक रूप में सम्बन्धित माना जाता है, परन्तु जब तक कि वह स्वतः पहले से प्रत्ययात्मक न हो, तब तक उसका सापेक्षिक अस्तित्व नहीं हो सकता। और फिर, सापेक्षिक संभावना में हम एक पूरक अर्थ को भी पाते हैं। यदि संभावित और अधिक नहीं होता, और यदि वह अंशतः सत् नहीं होता, तो वह संभव भी नहीं होगा। उसको किसी प्रत्यय के निषेधात्मक रूप में सम्बन्धित माना जाता है, परन्तु जब तक कि वह स्वतः पहले से प्रत्ययात्मक न हो, तब तक उसका सापेक्षिक अस्तित्व नहीं हो सकता। और फिर, सापेक्षिक संभावना में हम एक पूरक अर्थ को भी पाते हैं। यदि संभावित और अधिक नहीं होता, और यदि वह अंशतः सत् न होता, तो वह संभव भी नहीं होता। एक ऐसा वास्तविक आधार आवश्यक है जिसमें उसकी परिस्थितियों के एक अंश का अनुभव किया जाता हो। यद्यपि संभावित द्वारा और उसके भीतर, इस वास्तविक आधार को व्यक्त होना आवश्यक नहीं, अपितु केवल उसकी कल्पना-भर की जा सकती है। और परिस्थितियों का बाहुल्य होने से तथा सत्-रूप में मान्य अंश के प्रायः परिवर्तनशील होने से, संभावना तदनुसार बदलती रहती है। संभव को पूर्ण करने का उसका ढंग और विशेषतया उसमें निहित वास्तविक आधार, इन दोनों में विविधता हो सकती है। इस प्रकार किसी तत्त्व की संभावना इन विविध सम्बन्धों के बीच जिस अनुपात में कल्पित की जाती है उसी अनुपात में वह विभिन्न होती है। हम कह सकते हैं कि संभावना और संयोग का सम्बन्ध परस्पर इस प्रकार है। कोई वास्तविक तथ्य न्यूनाधिक रूप में, उस प्रत्ययात्मक पूरक की उपेक्षा करता है, जिसको कि वह अपनी ही निजी सत्ता में ओत-प्रोत किये हुए हैं।

और इसलिए, यदि आप केवल किसी ऐसे तत्व के सम्बन्ध में उसे देखें जो उसके बाहर पड़ता है, तो वहाँ तक वास्तविक तथ्य संयोग होगा। दूसरी ओर, संभावित तत्व प्रत्ययात्मक पूरक के अंश को स्पष्टतः पृथक् कर देता है, और, साथ ही, न्यूनाधिक अस्पष्टता के साथ, अपनी वास्तविक पूर्ति की ओर इंगित करता है। अतः उसको पूर्ण करने के लिए आवश्यक समझी जाने वाली विभिन्न परिस्थितियों के साथ-साथ उसमें भी परिवर्तन होता है। परन्तु ये परिस्थितियाँ अंततः अवश्य ही वास्तविक अस्तित्व रखने वाली होंगी, अथवा इस रूप में सत् होंगी। और जब हम संभावना की निम्नतम श्रेणी पर पहुँच जाते हैं, तो भी यह विवरण फिर भी ठीक उतरता है। मैं एक ऐसे प्रत्यय को लेता हूँ, जिसको प्रथम तो, मैं अर्थ ही नहीं कह सकता और दूसरे, यह प्रत्यय स्वयं का अथवा सत् का खंडन करता हुआ नहीं दीखता। अतः मैं यह कल्पना करता हूँ कि उसमें यह दोष नहीं है। और, केवल इसी आधार पर मैं इस प्रकार के प्रत्यय को संभव कहने लगता हूँ। ऐसा प्रतीत हो सकता है कि मानो यहाँ पर हम सापेक्षिक संभावना से अनुपाधिक संभावना पर पहुँच गये, परन्तु यह दृष्टि ठीक नहीं होगी। यहाँ पर जो संभावित है, वह फिर भी ऐसी परिस्थितियों का एक परिणाम है, जो अंततः वास्तविक है, क्योंकि यद्यपि उनकी विशेष परिस्थितियों के विषय में हम कुछ भी नहीं जानते, फिर भी हम नितान्त अज्ञ नहीं हैं। हमने उसमें उस सामान्य स्वरूप का न्यूनाधिक अंश मान लिया है, जो नैतिक और रूपात्मक होता हुआ सत् में रहता है। यह स्वभाव ही उसका वास्तविक आधार और संभावना का सच्चा कारण है। और इसके बिना, वह प्रत्यय नितान्त ही संभव न रह सकेगा।

तो फिर हमें उस संभावना और उस संयोग के विषय में क्या कहना, जो कि नग्न है और जो सापेक्षिक न होकर परम और अनुपाधिक है? दोनों के विषय में हम यही कहेंगे कि वह एक ही आधारभूत भूल का एक पक्ष प्रस्तुत करता है। प्रत्येक उसी प्रमुख आत्म-खंडन को एक भिन्न प्रकार से व्यक्त करता है, और संभवतः उसको विस्तारपूर्वक दिखलाना उपयोगी सिद्ध हो। शुद्ध संभावना के प्रसंग में सत् के साथ सम्बन्ध का प्रस्तुत अभाव निश्चित अज्ञान का एक कारण मान लिया जाता है। फिर, शुद्ध संयोग हमें एक तथ्य प्रदान करता है, और इसलिए सम्बन्ध के भीतर एक ऐसे तत्त्व को उपस्थित करता है जो कि उसमें अब तक बना हुआ भी असम्बद्ध रहता है। मैं इस कथन की व्याख्या करूँगा।

मेरा एक विचार है और अपनी समझ में उसके विषय में, मैं कुछ भी नहीं जानता, इसलिए मैं उसको संभव कहता हूँ। यदि इस विचार में कोई अर्थ है, उसको स्वयं का खंडन करने वाला नहीं माना जाता, तो (जैसा कि हम देख चुके हैं) वह, उस विचार

की एक निश्चित विशेषता है। और इसके द्वारा, उसको वास्तविक मानने के लिए, अभी तक एकदम, हमें एक ज्ञात कारण प्राप्त हो जाता है। और ऐसी कोई भी संभावना सत् के किसी गुण से सम्बन्धित होती है, इसलिए वह, जैसा कि हम देख चुके हैं, केवल एक सापेक्षिक संभावना-मात्र होती है। आत्यन्तिक संभावना में, ऐसा समझा जाता है कि ऐसा कोई ज्ञान नहीं होता। वहाँ पर, मेरे विचार और सत् में केवल मुझे कोई सम्बन्ध न दिखायी देने से, मुझे, इस आधार पर, कहना पड़ता है कि मेरा विचार सुसंगत है। और यह प्रतिपादन स्पष्टतः असंगतिपूर्ण है। संगत का अभिप्राय यह है कि वह अंशतः सत्य प्रतीत हो, उसका अभिप्राय किसी ऐसी वस्तु से है जो भीतर से सत् से सम्बन्ध रखती है। इसका अर्थ है आत्मसात् कर लेना, और इसके अन्तर्गत सत् के किसी गुण अथवा गुणों द्वारा उस तत्त्व में अन्तर्प्रविष्ट होना भी आता है। यदि वह तत्त्व सुसंगत है, तो सुरक्षित रहेगा, यद्यपि उसके विशेष स्वरूप का न्यूनाधिक विनाश हो जाता है। परन्तु शुद्ध संभावना में, मैंने सुसंगत के अर्थ को, उलट-पुलट कर दिया है। मैं अपने विचार को सुसंगत इसलिए कहता हूँ, क्योंकि मैं उसमें असंगति-पूर्णता का अभाव पाता हूँ, अर्थात् मुझे उसमें कोई निश्चित प्रतीति नहीं हो पाती। दूसरे शब्दों में, अपने अज्ञान-मात्र के आधार पर ही, मैं यह समझता हूँ कि मेरे प्रत्यय का आत्मसात् होता है और, एक न्यूनाधिक सीमा में, वह सत् में अवशिष्ट रह जाता है। परन्तु ऐसी कोई भी स्थिति तर्क-शून्य है।

जो अनुपाधिक रूप में संभव है उसको सत् के सम्बन्ध से पृथक् समझा जाता है, तथा उसके द्वारा अनिर्णीत माना जाता है। ऐसे कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध, और इसलिए सम्बन्ध-मात्र, और इसलिए कोई बाह्य सम्बन्ध नहीं है जो कि मेरे कल्पित विचार में अन्तर्प्रविष्ट अथवा विलीन हो सकें। और हम इसको उस समय भी मानते रहते हैं जब कि यह विचार सत् पर लागू किया जाता है। परन्तु सत् के साथ किसी सम्बन्ध में तत्त्वतः एक ऐसा सम्बन्ध निहित है जो सत् के किसी तत्त्व के साथ होता है, और इसलिए किसी के निजी सम्बन्ध न होने का अभिप्राय यह है कि सभी सम्बन्ध बाहरी हों। अतः शुद्ध संभावना अपनी इच्छा के विरुद्ध, सापेक्षिकता की एक चरम सीमा है, क्योंकि हमारे मस्तिष्क में वह जिस रूप में विद्यमान है, उस रूप में वह वस्तुतः सत् से संयुक्त होता है, और यह संयोग बाह्य होने के कारण, सम्बद्धता बाह्य आवश्यकता के द्वारा प्रदत्त होती है। परन्तु जो बाहर है उसके साथ किसी तत्व के आवश्यक सम्बन्ध का अभिप्राय, जैसा कि हम समझते हैं, इस तत्त्व की आन्तरिक छिन्न-भिन्नता से है। यदि शुद्ध संभावित का अस्तित्व संभव हो, तो वह, इस कारण से जहाँ तक हम समझते हैं एक भूल-मात्र होगा, क्योंकि, जहाँ तक हम जानते हैं, वह एक ऐसा विचार होगा

जो किसी प्रकार भी और किसी सीमा तक भी, सत् को स्वीकृत नहीं होगा। परन्तु इस अर्थ में, संभावना अपना खंडन स्वयं कर डालेगी। संक्षेप में, जब तक सत् के भीतर कोई वास्तविक आधार न प्राप्त हो, और जब तक सत् के साथ कोई निश्चित सम्बन्ध न हो तब तक संभव को तनिक भी संभव नहीं कहा जा सकता।[1]

चरम संयोग में भी, एक ऐसी ही स्वयं-खंडनशीलता है। नितान्त आकस्मिक से अभिप्राय एक ऐसे तथ्य से होता है जो अपने सन्दर्भ के सभी आन्तरिक सम्बन्धों से मुक्त होकर प्रस्तुत होता है। उसको सम्बन्धहीन होकर, और अथवा सभी सम्बन्धों को बहिर्गत करके रहना पड़ेगा। परन्तु, कोई वस्तु जिन सम्बन्धों में स्थित होती है, उन्हीं के द्वारा वह निर्धारित होती है, अतः जो वस्तु पूर्णतया आकस्मिक है, वह तो इस प्रकार पूर्णतया बाहर से निर्धारित होगी। और इस प्रकार, इसके परिणामस्वरूप, संयोग के अन्तर्गत पूर्ण आन्तरिक हीनता आ जायगी। अतः उससे वह प्रस्तुत अस्तित्व, अव्यक्त रूप से, बहिर्गत हो जायगा, जिसकी स्थापना वह व्यक्त रूप से करता है। जब तक कि संयोग, शुद्ध संयोग से अधिक होकर, इस प्रकार, सापेक्षिक होने में ही सन्तुष्ट नहीं हो जाता, तब तक वह निज रूप में होने से असमर्थ रहता है। सापेक्षिक संयोग के अन्तर्गत, किसी आदर्श पूर्ण में समाविष्ट होना भी अभिप्रेत है, और, उसी आधार पर, वह किसी अन्य पूर्ण के साथ एक बाह्य सम्बन्ध का भी प्रतिपादन करता है। परन्तु, चरमावस्था में स्थित संयोग को एक निश्चित सम्बन्धात्मक अस्तित्व की पुष्टि करनी पड़ती है और यह आग्रह करना पड़ेगा कि सभी सम्बन्ध इस अस्तित्व के बाहर पड़ते हैं। और ऐसा कोई भी विचार अपना खंडन करता है।

अथवा, हम इसी असंगतिशीलता को इस प्रकार प्रकट कर सकते हैं। किसी प्रस्तुत तत्त्व का सम्बन्ध हम किसी तंत्र के साथ नहीं देख पाते। हम, उसकी इयत्ता में, किसी बाह्य तत्त्व के साथ उसके आन्तरिक सम्बन्ध पाने में भी असमर्थ होते हैं, ऐसे सम्बन्ध,

---

१. यह देखना उपयोगी होगा कि यदि आप संभावना को निरुपाधिक बनाने का प्रयत्न करें, तो वह अकल्पनीयता अथवा असम्भाव्यता का ही एक भाव प्रकट करेगी। वस्तुतः असंभव वह है जो निश्चित ज्ञान का खंडन करे (अध्याय २०)। यह कदापि वह वस्तु नहीं है जिसको आप सत् से सम्बन्धित करने में असफल रहें। परन्तु यदि आपने उसको गलती से इस अर्थ में समझा और यदि आपने उसको केवल एकांगिता पर आश्रित किया, तो वह अनजान में ही निरुपाधिक संभाव्य में परिणत हो जायगा क्योंकि वह वस्तुतः सत् के साथ संगति नहीं रख सकता, क्योंकि वस्तुतः सत् हमारे मस्तिष्कों में है। संक्षेप में, इन विचारों में से प्रत्येक एकांगिता पर पूरी तरह से आश्रित है और प्रत्येक एक ही स्वखंडनकारी जटिलता का एक भिन्न पक्ष है।

जो प्रत्ययात्मक होने से, आवश्यक तथा शाश्वत होते हैं। फिर, इस असमर्थता के आधार पर, हम एक निषेध पर पहुँचते हैं, और इस बात पर आग्रह करते हैं कि ऐसे कोई आन्तरिक सम्बन्ध विद्यमान नहीं होते। परन्तु जैसा कि हम जान चुके हैं, प्रत्येक सम्बन्ध अपने व्यंजकों की सत्ता में अन्तर्प्रविष्ट और इस अर्थ में समवेत होता है; अथवा, दूसरे शब्दों में, प्रत्येक सम्बन्ध निःसन्देह एक इयत्ता-सम्बन्ध होता है। और इसलिए, जो तत्त्व समस्त प्रत्ययात्मक सम्बन्धों के शुद्ध संयोगों से रहित होता है, वह फिर पूर्णतया असम्बद्ध होता है। परन्तु, असम्बद्ध तथा अनिर्णीत होने पर, वह फिर तनिक भी कोई पृथक् तत्त्व नहीं रह जाता। उसमें चरम संयोग-द्वारा आरोपित अस्तित्व नहीं हो सकता।

संयोग और सम्भावना को एक ही जटिलता के दो भिन्न पक्ष कहा जा सकता है। सापेक्षिक संयोग एक ऐसी वस्तु है, जिसका अस्तित्व है, परन्तु जो अंशतः सम्बद्ध तथा कल्पनागत नहीं होता। अतः वह एक ऐसी वस्तु है, जिसका अस्तित्व है, परन्तु अंशतः केवल येन-केन-प्रकारेण सापेक्षिक दृष्टि से जो संभव है वह, दूसरी ओर, एक ऐसी वस्तु है जो अपूर्ण रूप में समझी जाती है, और फिर भी, न्यूनाधिक रूप में केवल येन-केन-प्रकारेण ही वास्तविक होती है। इस प्रकार, प्रत्येक सत् को प्रकट करने की एक अपूर्ण विधि है। अथवा, यदि हम चाहें तो इसी भेद को एक दूसरे रूप में भी व्यक्त कर सकते हैं। शुद्ध संयोग में, किसी वस्तु को प्रस्तुत किया जाता है, और इसलिए बाह्य सम्बन्धों के एक सम्बन्ध के रूप में प्रस्तुत किया जाता है। जो सूक्ष्म रूप में सम्भव है वह, पुनः असम्बद्ध है, परन्तु वह साथ ही सत् से सम्बन्धित माना जाता है, और इसलिए अनजान में ही बाह्य सम्बन्धों से युक्त प्रस्तुत किया जाता है। हम कह सकते हैं कि संयोग अनिवार्य सम्बन्धों को भूल जाता है, और सम्भवतः उसके सत् के साथ वास्तविक सम्बन्ध, अर्थात् सन्दर्भ के साथ उसका प्रस्तुत बाह्य संयोग भूल जाता है। संयोग का सम्बन्ध अस्तित्व के जगत् से है और संभावना का विचार से, परन्तु प्रत्येक के मूल में एक ही दोष है, और प्रत्येक, अपनी इच्छा के विरुद्ध, शुद्ध रूप में ग्रहण किये जाने पर, बाह्य आवश्यकता बन जाता है।[1] यदि संभव को प्रस्तुत बनाया जा सकता, तो वह उदासीन भाव से, संयोग या नियति होता। यदि संयोग की कल्पना की जाय, तो वह केवल संभव

---

१. अन्ततोगत्वा, संभावना और संयोग का तादात्म्य तथा संयोग और बाह्य अथवा नृशंस आवश्यकता के तादात्म्य में शिक्षाप्रद परिणाम होते हैं। मूर्खतावश 'मुक्त संकल्प' कहलाने वाले तत्त्व का अन्दाजा लगाने के लिए, स्पष्टतः इससे पर्याप्त कारण प्राप्त हो जाता है। दर्शन में इस सिद्धान्त का चलन नहीं रहा है, यद्यपि साधारण आचार शास्त्र में वह पनपता रहेगा। जैसे ही उसका अर्थ हृदयंगम हो जाता है, वैसे ही उसकी समस्त संभाव्यता समाप्त हो जाती है। परन्तु, साधारण आचारशास्त्री अपने अभिप्राय को न समझता हुआ सदैव बना रहेगा।

मात्र होगा, क्योंकि जो आकस्मिक होता है, उसका सत् से पूर्ण सम्बन्ध नहीं होता।

इतना कह कर मैं अब इस विषय को छोड़ दूँगा जिस पर संभवतः मैं बहुत अधिक कह चुका हूँ। चरम संयोग अथवा शुद्ध बाह्य आवश्यकता, या अनुपाधिक संभावना जैसी कोई वस्तु नहीं है। जो सम्भव है, वह अंशतः सचमुच अर्थात् आन्तरिक रूप से आवश्यक होना चाहिए। और यही बात, पुनः आकस्मिक के विषय में सच है। प्रत्येक विचार सापेक्षिक है, और प्रत्येक विचार उसी जटिलता के एक विपरीत पक्ष पर जोर देता है। और इसलिए, प्रत्येक, किसी एकांगी छोर पर खिंचकर, पूर्णतया विलीन हो जाता है।

इस निष्कर्ष से हम इस प्रश्न पर पहुँचते हैं कि क्या संभावना और आकस्मिकता की मात्राएँ होती हैं? और इस प्रश्न के लिए हमारा उत्तर स्वीकारात्मक है। न्यूनाधिक रूप में सम्भव होना, और न्यूनाधिक रूप में सत्य होना, और समवेत रूप में आवश्यक, और, दूसरी ओर से, न्यूनाधिक आकस्मिक होना—ये सब बातें, अन्ततोगत्वा एक ही हैं। और जाते-जाते, हम यहाँ पर अपने मानदंड के द्विविध प्रयोग की परीक्षा कर लें। जो अधिक संभव होता है वह या तो भीतर से अधिक समन्वित तथा व्यापक होगा, दूसरे शब्दों में, वह इयत्ता की उस पूर्ण समग्रता के अधिक निकट होगा जिसमें, उसकी सत् में परिणति होकर, उसके साथ तादात्म्य हो जाता है, अथवा, दूसरी ओर, जो अपेक्षाकृत अधिक संभावित है, वह अंशतः अधिक प्रत्ययात्मक वर्गों में पाया जा सकता है। प्रत्येक सम्पर्क (कालात्मक शृंखला के किसी बिन्दु के साथ भी) से अभिप्राय किसी स्थूल सम्बन्ध समूह के साथ प्रत्ययात्मक सम्बन्ध से होता है। अतः अधिक विस्तारपूर्वक संभव वह होता है जिसकी इयत्ता की कम मात्रा उसके अपने क्षेत्र से पूर्ण तथा बहिर्गत होती है। दूसरे शब्दों में, वह अपेक्षाकृत अधिक वैयक्तिक, अधिक सत्य और अधिक वास्तविक होता है। और इसमें सम्बन्धों का आधिक्य होने से, उसमें स्वयं आन्तरिक आवश्यकता भी अधिक होती है। दूसरी ओर, एक ऐसे ही कारण से, आकस्मिकता की वृद्धि का अभिप्राय है, असत्यता में वृद्धि। जहाँ तक किसी वस्तु का अस्तित्व है, वहाँ तक यदि उसमें बाह्य आवश्यकता—बाहर से बुद्धिगोचर तत्वों का अधिक संयोग अधिक है, तो इसलिए, उसमें किसी से भी सम्बन्ध कम होंगे। इसलिए, वह अधिक रिक्त होगा, और इसी कारण, कम स्व-सीमित तथा समन्वय-युक्त होगा। यह संक्षिप्त विवरण सामान्य समझ की दृष्टि में, कितना ही गलत क्यों न हो, परन्तु सम्भवतः वह, हमारे प्रमुख सिद्धान्त का अंग होकर, अकाट्य सिद्ध होगा।

यदि हम शुद्ध सत्तावादी प्रमाण पर संक्षिप्त विचार करके, इस अध्याय को समाप्त करें, तो इससे उस सिद्धान्त पर कुछ प्रकाश पड़ेगा। अध्याय २४ में, हमें इसके अंश

पर विचार करना पड़ा, और यहाँ हम उसके सामान्य सत्य को आँकने का प्रयत्न कर सकते हैं। एक तर्क के रूप में, यह एक ऐसा निष्कर्ष है, जो किसी विचार के अस्तित्व से प्रसूत होकर उस विचार की इयत्ता के सत् को प्रकट करता है। यह कितना निरर्थक हो सकता है, इस बात को कोई भी एक नज़र में ही देख सकता है। यदि आप दिक् अथवा कालगत अस्तित्व को ही सत् मानें और किसी सुनिश्चित ससीम विषय के प्रत्यय का विचार स्वीकार करें, तो इस बात से स्पष्टतर अन्य कोई बात नहीं प्रतीत होती कि प्रत्यय 'मेरे मस्तिष्क' में ही हो सकता है। फिर भी, जब हम त्रुटि के सामान्य स्वरूप पर विचार करने लगते हैं, तो यह स्पष्ट लगने वाली बात अस्पष्ट हो जाती है, और हमारे सामने एक ऊलझन उपस्थित हो जाती है, क्योंकि 'मेरे सिर' में जो है, वह फिर भी निःसन्देह कहीं-न-कहीं विश्व में अवश्य होगा। और जब कोई प्रत्यय विश्व से सम्बन्धित है, तो वह सत् से बाहर कैसे हो सकता है ? इस प्रश्न का उत्तर देने के प्रयत्न में, हम सत् और ससीम अस्तित्व के एक भेद-भाव पर पहुँच जाते हैं। और इसके पश्चात् शुद्धसत्तावादी प्रमाणों को संभवतः और अच्छी तरह से परीक्षा-योग्य माना जा सके।

केवल 'मेरे मस्तिष्क में' विद्यमान कोई विचार, अथवा सत् जगत् के समस्त सम्बन्ध से पृथक् हुआ कोई शुद्ध प्रत्यय, एक असत्य पृथक्करण है, क्योंकि हम देख चुके हैं कि किसी विचार को रखने का अभिप्राय यह है कि न्यूनाधिक अस्पष्टता के साथ वह विचार सत् से सम्बन्ध रखता है। और इसलिए, यदि किसी विचार का पूर्णतया कोई सम्बन्ध न हो, तो ऐसा विचार एक आत्म-खंडन मात्र होगा। इस समान्य परिणाम का सम्बन्ध एकदम शुद्ध सत्तावादी प्रमाण से है। अतः स्पष्ट है, कि इस प्रमाण का प्रारम्भ एक ऐसे विचार से होगा जिसका सम्बन्ध सत् से हो और ऐसे सत् से जो विद्यमान भी हो और विचार की इयत्ता-द्वारा निर्णीत भी हो। और इस तर्क का सिद्धान्त केवल यह है कि ऐसे किसी पूर्ण के एक पक्ष का आश्रय लेकर , आप अनिवार्यतः उसके दूसरे पक्ष पर पहुँच जाते हैं। 'केवल' विचार अपूर्ण होने से, न्यायतः उस द्वितीय तत्त्व की ओर भी संकेत करता है जो उसमें पहले से ही अभिप्रेत है, और वह तत्त्व अस्तित्व में प्रकट होने वाला सत् है। ठीक इसी सिद्धान्त पर, परन्तु दूसरी ओर से प्रारम्भ करके, 'समष्टिवादी' प्रमाण भी सत् के स्वरूप का निरूपण करता हुआ प्रतीत हो सकता है। विचार का विषय 'सत्' होने से, यह आवश्यक है कि सत् के भीतर वह विशेषता हो, जो कि विचार के सारांश में निहित है। और, इन दलीलों का आधारभूत सिद्धान्त—कि, यदि किसी सुसंबद्धपूर्ण का एक पक्ष दिया हो, तो आप इससे अन्य पक्षों पर पहुँच सकते हैं—निःसन्देह अखंडनीय है।

शुद्ध सत्तावादी प्रमाण की असफलता अन्य बात में है, क्योंकि यह प्रमाण केवल

यही नहीं कहता कि उसका प्रत्यय निःसन्देह किसी-न-किसी प्रकार से सत् होगा। वह इस कथन से, और आगे जा कर कहता है कि वह इसी रूप में सत् होगा। और, यहाँ पर इस दलील के त्रुटिपूर्ण होने की संभावना प्रतीत होती है, क्योंकि सत् के प्रत्येक विधेय को निज रूप में सत्य स्वीकार करने वाला कोई भी सिद्धान्त, स्पष्टतः असत्य होगा। इसके विपरीत, हम यह जान चुके हैं कि सत्य और सत् में केवल मात्रा का भेद है। हम कह सकते हैं, कि, किसी भी अवस्था में, कोई विधेय अपने निज रूप में वस्तुतः सत्य नहीं होता। सभी में वृद्धि, परिवर्तन, और पुनर्व्यवस्था की गुंजायश रहती है। और उसका सत्य वह परिमाण होगा जिस तक कोई भी विधेय, सत् किये जाने पर, अपने निज स्वरूप को सुरक्षित रख सकता है। अध्याय १४ में, पूर्णता की कल्पना पर विचार करते समय, हमने आंशिक रूप में देखा कि शुद्ध सत्तावादी दलील किस प्रकार गिर जाती है। और प्रस्तुत अध्याय के सामान्य निष्कर्ष से कठिनाइयों का निराकरण हो जाना चाहिए था। 'मेरे मस्तिष्क में' स्थित किसी भी व्यवस्था-तंत्र को परम सत् की विशेषता बतलाना चाहिए। परन्तु, जब मेरा व्यक्तिगत दृष्टि के असत्य पृथक्करण की पूर्ति और क्षति-पूर्ति होती है, तो वह व्यवस्थातंत्र अपने निजरूप में पूर्णतया विलीन हो सकता है। उस अवस्था में, शुद्ध सत्तावादी प्रमाण इस सिद्धान्त पर आग्रह करने का केवल एक दूसरा उपाय हो सकता है। प्रत्येक प्रत्यय अपने निज रूप में सत् अथवा अस्तित्ववान् नहीं होगा। परन्तु, किसी विचार की पूर्णता जितनी ही अधिक होगी और उसकी सम्भावना तथा आन्तरिक आवश्यकता जितनी ही अधिक बढ़ेगी, उतना ही सत् उसमें अधिक हो जायगा। और उतने ही अधिक अनिवार्य रूप में, वह अपने को प्रकट करेगी, और किसी प्रकार अस्तित्व में व्यक्त होगी।

परन्तु, यह बात ठीक है कि शुद्ध सत्तावादी दलील प्रत्येक ससीम विषय पर लागू होने का झूठा दावा नहीं करती। वह परम सत् के विषय में प्रयुक्त होती है, और, यदि उसी तक सीमित रहे, तो निःसन्देह न्यायसंगत होगी। मेरे अनुमान में, हमें यह दावा स्वीकार करना पड़ेगा। परम सत् का प्रत्यय, एक प्रत्यय के रूप में, अपने निज रूप के साथ सुसंगत नहीं है, और हम देखते हैं कि, अपने को पूर्ण करने के लिए, उसे भीतर ही-भीतर अस्तित्व को स्वीकार करने के लिए बाध्य होना पड़ता है। परन्तु यहाँ हम फिर भी 'निजरूप में' के जोड़े जाने पर अपना विरोध प्रकट करने के लिए बाध्य होते हैं। अन्ततोगत्वा तो भी प्रत्यय, ठीक-ठीक निज रूप में, सत् तक नहीं पहुँच सकता, क्योंकि, एक प्रत्यय के रूप में, वह परिस्थितियों की आवश्यक समष्टि का समावेश अपने में नहीं कर सकता। सत् स्थूल है, परन्तु सत्यतम सत्य की न्यूनाधिक रूप में सूक्ष्म ही रहेगा। अथवा, इसी बात को हम एक दूसरे प्रकार से, इस दलील के स्वरूप पर आक्षेप

करके कह सकते हैं। दलील में माना हुआ पार्थक्य निष्कर्ष द्वारा नष्ट हो जाता है, और इसलिए, दलील स्वयं भी सत्य नहीं हो सकती थी। यह आक्षेप सच्चा है और इसकी सच्चाई में इसलिए कोई कमी नहीं आ जाती कि अन्ततोगत्वा प्रत्येक संभव दलील पर वह लागू हो सकता है। परन्तु जब हम प्रक्रिया के वास्तविक स्वरूप को स्वीकार करते हैं, तो यह आक्षेप चला जाता है। यह वास्तविक स्वरूप यह है कि परिपूर्ण इकाई के अंगों ने एकाकी होने का जो प्रयत्न किया, उसका परिपूर्ण इकाई ने परिहार कर दिया। और आप चाहे 'अस्तित्व' की ओर से प्रारम्भ करें, अथवा 'विचार' की ओर से, परन्तु प्रक्रिया तत्वतः एक ही रहेगी। प्रत्येक पक्ष में द्वितीय पक्ष के साथ एकरूप होने की आन्तरिक आवश्यकता होती है, और एक उद्देश्य और एक विधेय होता है। परन्तु, इस परिपूर्णता और परिपक्वता में, विभाजन-जैसी किसी भी वस्तु से ऊपर पहुँच जाने से, न तो उद्देश्य ही रह जाता है, और न विधेय ही। उनमें से प्रत्येक संरक्षित रहता है, परन्तु रूपान्तरित' होकर।

एक और बात है, जिस पर, अंत में, आग्रह करना अच्छा होगा। यदि सत् से हमारा अभिप्राय, किसी उपस्थित घटना के रूप में स्थित अस्तित्व से है, तो इस अर्थ में, सत् एक निम्न स्तर की सत्ता-मात्र रह जायगा। ऐसे किसी भी अस्तित्व के लिए किसी वस्तु को सर्वथा अनुपयुक्त बनाने के लिए, सत् और सत्य की सीढ़ी पर बहुत आगे चढ़ने की आवश्यकता नहीं। और मैं अपने अभिप्राय को शुद्ध सत्तावादी प्रमाण के एक हीन प्रयोग द्वारा व्यक्त करूँगा।[1]

यह निश्चित है कि प्रत्येक विचार में एक निश्चित इंद्रियगम्य पक्ष होता है। एक इयत्ता होने के साथ, दूसरे शब्दों में, वह घटना भी होना चाहिए। विचारों के विभिन्न अस्तित्वों को, आध्यात्मिक घटनाओं के रूप में, वर्णन करने का कार्य, अधिकांशतः तत्त्वज्ञान के बाहर की वस्तु है।[2] परन्तु यहाँ पर इस प्रश्न का कुछ सम्बन्ध बैठता है। किसी विचार का अस्तित्व, न्यूनाधिक मात्रा में, अपनी इयत्ता से असम्बद्ध होता है, और दूसरे को प्रथम का विधेय बनाने में असंगति की विभिन्न मात्राएँ उपस्थित हो सकती हैं। उदाहरण के लिए, किसी विगत प्रत्यय का विचार एक वर्त्तमान मनोदशा है, किसी सद्गुण का प्रत्यय एक नैतिक दुर्गुण हो सकता है, और अस्तित्वयुक्त स्वीकार

---

१. 'प्रिंसिपुल्स आफ लाजिक' पृ० ६७-९।

२. यह प्रश्न मनोविज्ञान का है, और संभवतः मुझे यह कहने की छूट हो सकती है कि, सूक्ष्म प्रत्ययों के प्रसंग में, यह बात फिर भी अत्यन्त असन्तोषजनक स्थिति में प्रतीत होती है। जब सूक्ष्म प्रत्ययों का उपयोग किया जाय, तब भाषा का प्रश्रय लेने से, आखिरकार ठीक-ठीक यह नहीं ज्ञात हो सकता कि मन में कितना क्या आता जाता है।

होने वाला अन्य वास्तविक अर्थ-बिम्ब के साथ एक ही क्षेत्र में स्थित नहीं हो सकता।[1] इसके विपरीत, कम-से-कम अधिकांश प्रसंगों में, क्षोभ का विचार करने का अभिप्राय (चाहे कितने ही अल्प रूप में क्यों न हो) क्षुब्ध होना है, और प्रायः सुख और दुःख के प्रत्यय घटनाओं के रूप में स्वयं वास्तविक सुख और दुःख ही होते हैं। जहाँ कहीं भी, प्रत्यय किसी एक उप-स्थापना का केवल एक पक्ष होता है, वहाँ हम कह सकते हैं कि प्रत्ययात्मक इयत्ता का अस्तित्व है, और वह एक वास्तविक घटना है। और ऐसे प्रसंगों में, शुद्ध सत्तावादी प्रमाण-जैसी किसी वस्तु का प्रयोग हो सकता है। प्रत्यय के लिए एक आधार और उपाधि के रूप में, तथ्य का अस्तित्व आवश्यक है, अतः हम प्रत्यय की उपस्थिति से तथ्य की उपस्थिति पर पहुँच सकते हैं। सर्वाधिक उल्लेखनीय उदाहरण हमें, 'इदम्' अथवा 'मम' के प्रत्यय में मिल सकता है। एक तथ्य के रूप में, सत् के साथ अव्यवहित सम्पर्क सदैव संभव है, और इसलिए, जब हम इस सम्पर्क के प्रत्यय का प्रयोग करते हैं, तो हम सदैव उसको, उसी तथ्य से एक ऐसे रूप में ग्रहण करते हैं जो, किसी प्रकार प्रकट हो। इसलिए यह असम्भव है कि प्रत्यय होते हुए, उसका अस्तित्व न हो।

परन्तु, जब हम किसी ऐसे प्रसंग को और भी निकट से देखते हैं, तो उनकी असत्यता और भी स्पष्ट हो जाती है। क्योंकि (क) प्रथम तो, प्रत्ययात्मक इयत्ता की गति भीतर से नहीं होती—वह स्वयं अस्तित्व से पूर्णता पाने का प्रयत्न नहीं करती, जिससे आन्तरिक आवश्यकता में उसे अभिप्रेत निहित मान लिया जाय। प्रत्यय और अस्तित्व के पक्षों में कोई समवेत सम्बन्ध नहीं है, अपितु केवल एक ढूँढ़ निकाला हुआ संयोग है। और इसलिए दलील को प्रामाणिक करने के लिए, यह आवश्यक है कि उसका आधार किसी तीसरे तत्त्व की मध्यस्थता हो—एक ऐसा तत्त्व जो दोनों पक्षों के साथ सह-अस्तित्व रखता हो, परन्तु स्वयं उन दोनों से बहिर्गत हो। परन्तु, ऐसी अवस्था में शुद्धसत्तावादी तर्क का सारांश चला जाता है। और (ख) दूसरे, जिस प्रसंग पर हम विचार कर रहे हैं, उसमें एक दूसरा और बड़ा दोष दिखायी पड़ता है। सत् के विशेष रूप में यह जिस प्रत्यय को प्रस्तुत करता है, उसमें शायद ही कोई सत्य हो, और वह शायद ही योग्यता तथा वास्तविकता के निम्नतम स्तर से ऊपर उठ पाया हो। मेरा केवल यही अभिप्राय नहीं है कि, अपने निजी अस्तित्व की तुलना में, वह प्रत्यय सूक्ष्म होने से असत्य है, क्योंकि वह आक्षेप, यद्यपि ठीक है, परन्तु फिर भी अपेक्षाकृत हलका है। मेरा आशय यह है कि, यद्यपि प्रत्यय से उठने वाला तर्क अस्तित्व को दिखा

---

१. तुलना करो 'माइन्ड', ३२, पृ० २८६–९० और ४३, पृ० ३१३–१४।

सके, परन्तु वह सत्य अथवा सत् को दिखलाने में समर्थ नहीं है। इसके विपरीत, अपनी इच्छा के विरुद्ध, वह दोनों में ही अपनी असफलता सिद्ध करता है। न तो उद्देश्य में ही वस्तुतः वह स्वरूप है जिसका आरोप उस पर किया जाता है और न विधेय में ही। उद्देश्य को केवल एक इंद्रियगोचर घटना के रूप में ग्रहण किया जाता है, और विधेय को उस तथ्य में समाविष्ट एक विशेष के रूप में ग्रहण किया जाता है। और, इन मान्यताओं में से प्रत्येक की दृष्टि से, यह तर्क अत्यन्त त्रुटिपूर्ण है, क्योंकि वास्तविक उद्देश्य सत् है, जब कि वास्तविक विधेय इसी विशेषता के उस स्वरूप का प्रतिपादन करता है जो प्रतीयमान उद्देश्य और विधेय में समाविष्ट हो। इन्द्रियगोचर घटना में अस्तित्व के रूप में, प्रत्यय एक विधेय है, अर्थात् उसी को परम सत् के विषय में प्रतिपादित किया जा सकता है। परन्तु, इस प्रकार का विधेय एक तुच्छ विधेयीकरण है, और इसलिए उसका सारांश किसी बाह्य सत्ता से निर्णीत होता है। इसलिए वह अपने स्वयं के साथ सुसंगत नहीं होता और अपने ही निश्चित उद्देश्य का खंडन करता है। संक्षेप में, असत्य शुद्ध सत्तावादी प्रमाण पर विचार करते हुए हम एक बार फिर इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि अस्तित्व सत् नहीं है।

अस्तित्व सत् नहीं है, और सत् का अस्तित्व होना चाहिए। इन सत्यों में प्रत्येक परिपूर्ण इकाई को समझने के लिए आवश्यक है और, अनिवार्यतः अन्त में, उनमें से प्रत्येक दूसरे में निहित है। दूसरे शब्दों में, अस्तित्व सत् के आभास का एक रूप है और हम देख चुके हैं कि यों एक अथवा अनेक घटनाओं में आभासित होने का अभिप्राय विकास के एक सीमित और निम्न स्वरूप को दिखलाना है। परन्तु, दूसरी ओर, कालगत श्रृंखला में बिल्कुल ही आभासित न होना, अस्तित्व के क्षेत्र में अपने स्वरूप के न दिखलाने का अर्थ है, असत्य और अवास्तविक होना। और, अधिक सत्य होना और अधिक वास्तविक होना किसी-न-किसी प्रकार से, बाह्यतः अधिक व्यक्त होना है, क्योंकि सत्यता सदैव विस्तृततर होती है। बहुत अंश तक यह मान्यता है कि कोई भी सत्य जो कि व्यवहार में नहीं दिखलाया जा सकता वह अधिकांशतः असत्य होता है। और, यह समझ कर के, हम शुद्ध सत्तावादी प्रमाण से विदा ले सकते हैं। संभवतः इसके निरीक्षण से हमारे उस सामान्य सिद्धान्त की पुष्टि में सहायता मिली है जिसको हमने अपने इस अध्याय में प्रस्तुत किया है। यह केवल एक ऐसा मत है जो सत् और सत्य की मात्राओं का प्रतिपादन करता है। और जो 'पर' और 'अवर' जैसे शब्दों के लिए तर्कसंगत अर्थ प्रस्तुत करता है। इसी प्रकार की कोई दृष्टि प्रत्यय तथा अस्तित्व, दोनों ही के पक्षों के साथ समान न्याय कर सकती है।

पच्चीसवाँ अध्याय

शिवत्व

एक पिछले अध्याय में संक्षेप में मैंने यह दिखलाने का प्रयत्न किया है कि अशिवत्व का अस्तित्व कोई ऐसा अच्छा कारण उपस्थित नहीं करता जिससे हमारे चरम तत्त्व के विरुद्ध कोई आक्षेप किया जा सके। अशिवत्व और शिवत्व भ्रान्तियाँ नहीं हैं, परन्तु वे निःसन्देह आभास हैं। वे एकाँगी पक्ष हैं, जिनमें से प्रत्येक परिपूर्ण इकाई में अतिक्रान्त और रूपान्तरित होता है। और पिछले अध्याय की चर्चा के पश्चात् उनके स्थान और मूल्य को हम और अच्छी तरह से आँकने में समर्थ हो सकते हैं। सत्य और भूल की भाँति ही शुभ और अशुभ में भी आत्यन्तिक विरोध नहीं है, क्योंकि किसी सीमा तक और किसी प्रकार से पूर्णता सर्वत्र अनुभव की जाती है, और फिर भी दूसरी ओर मात्रा-भेद का कम महत्त्व नहीं है। पर और अपर के बीच जो अंतराल है और जो दोनों को पृथक् करता है उसकी माप पूर्ण सत् के द्वारा होती है। अपर वह है, जिसको पूर्ण होने के लिए, अपने स्वभाव के पूर्ण रूपान्तर को स्वीकार करना पड़ेगा। और जो पर है—जिसको वे प्राप्त नहीं कर सकते अथवा जिसका विरोध भी नहीं कर सकते—उसकी दृष्टि से विचार करने पर, अपर-सत्य और अपर-शिवत्व शुद्ध भूल और अशिवत्व मात्र रह जाता है। चरम तत्त्व सब प्रकार से पूर्ण है : वह आद्योपान्त समान रूप से सत् और शिव है। दूसरी ओर, शिवतर और सत्यतर का प्रत्येक भेद, और सत्ता का प्रत्येक परिमाण और तुलनात्मक स्तर अनिवार्य है। एक व्यापक पूर्णता के सर्वव्यापी प्रभाव-द्वारा उसका निर्माण होता है, और उसी के द्वारा उनकी प्रामाणिकता सिद्ध होती है।

और इस द्विविध सिद्धान्त के प्रकाश में हम आभास के विविध जगतों का, बिना किसी संशय के, विचार कर सकते हैं। परन्तु इस ग्रन्थ में, मैं केवल एक सामान्य दृष्टि का समर्थन करने का प्रयत्न कर रहा हूँ, और इसलिए सामान्यतः, और यहाँ पर विशेषतया, शिवत्व के सम्बन्ध में, मैं परम सत् के किसी पक्ष का पूर्ण निरूपण करने का निर्णय नहीं कर सकता। नैतिकता अथवा धर्म के अन्तिम सत्य के रूप में जो सामान्य पूर्वाग्रह है, मुख्यतः उसी से प्रेरित होकर मैंने उनको यहाँ पर इतना स्थान दिया है, जो सम्भवतः

अनुपयुक्त हैं। परन्तु इतने पर भी मैं विषय के कुछ पक्षों का ही स्पर्श कर सकता हूँ, और मैं मुख्यतः उस पर विचार करूँगा जो हमारे सिद्धान्त के विरुद्ध आक्षेप रूप में रखे जा सकते हैं।[1]

सामान्य रूप में, शिवत्व को हम ऐसा तत्त्व मान सकते हैं, जो हमारी इच्छा को पूर्ण करता है। यह वह वस्तु है जिसका हम समर्थन करते हैं, जिसमें हम एक सन्तुष्टि की भावना के साथ आश्रय ले सकते हैं, अथवा यदि हम चाहें तो पुनः उसे मूल्य कह सकते है। उसके अन्तर्गत वे तत्त्व भी आते हैं जिनको हमने सत्यता में पाया सत्य और शिवत्व में से प्रत्येक प्रत्यय और अस्तित्व की संगति, अथवा एकरूपता है। सत्य में, हम अस्तित्व से शुरू करते हैं, जिसको हम पूर्णता का आभास मानते हैं, और हम प्रत्ययात्मक दृष्टि से उसको पूर्ण करते चले जाते हैं, जिसका अस्तित्व वस्तुतः होना चाहिए। इसके विपरीत शिवत्व में पूर्ण के प्रत्यय से आरम्भ करते हैं और फिर इस प्रत्यय का निर्माण अथवा अनुसन्धान अस्तित्ववान् के भीतर करते हैं। और इस प्रत्यय को हम वांछनीय भी मानते है। शिवत्व एक वांछनीय प्रत्ययात्मक इयत्ता है, अस्तित्व का परीक्षण है, और इस प्रकार उसके अन्तर्गत एक सांकेतिक प्रत्यय के द्वारा तथ्य-निरूपण भी आता है। अतः शिवत्व और सत्य दोनों में ही प्रत्यय का पार्थक्य होता है, और एक कालगत प्रक्रिया रहती है। और इसलिए प्रत्येक एक आभास है, और सत् का केवल एक एकाँगी पक्ष है।[2]

परन्तु यह आक्षेप किया जा सकता है कि शिवत्व के लिए किसी प्रत्यय की आवश्यकता नही। क्या सुखकर को ही शिव नहीं कह सकते? क्या जिस भावना में हम सन्तुष्टि के साथ आश्रय ले सकते हैं, वह किसी भी अंश में एकदम स्वयं शिव नहीं हो सकती?

---

१. 'माई एथिकल स्टडीज' १८०६ जो कि अब भी मुख्यतः मेरी सम्मतियों को व्यक्त करती है, और जिसमें बहुत-से विषयों पर चर्चा की गयी है। सुख, इच्छा और संकल्प के स्वरूप पर मेरा जो मत है—उसके लिए देखिए 'माइन्ड' सं० ४९ यदि मैंने उनको पुनः लिखने की इच्छा व्यक्त न की होती, तो यह पुस्तक पुनः मुद्रित हो गयी होती। परन्तु अन्य पुस्तकों के प्रकट हो जाने से, और साथ ही जिन अन्धविश्वासों के विरुद्ध यह पुस्तक लिखी गयी थी, उनका ह्रास हो जाने के कारण, मैंने इस विषय में अपनी इच्छानुसार कार्य करना ही ठीक समझा।

२. मुख्यतः जो सत्य है वह शिव है, क्योंकि शिव को इच्छा की तृप्ति करनी पड़ती है और सामान्यतः, हम अनिवार्यतः पूर्णतर को पाने की इच्छा करते हैं, जो शिव है वह मुख्यतः सत्य है, क्योंकि इच्छित प्रत्यय सामान्यतः पूर्णतर होने से अधिक सत् है। परन्तु इन पक्षों के सम्बन्ध में अगला अध्याय देखिए।

इन प्रश्नों का उत्तर मैं नकार में देता हूँ, ठीक अर्थ में शिव में इच्छा की तृप्ति निहित है। कम-से-कम यदि आप एक संकेतित प्रत्यय की अनुभूति को छोड़कर, अन्य किसी वस्तु पर विचार करें, तो वह शिवत्व के स्तर से नीचे ही होगी। ऐसे किसी भी अनुभव का अस्तित्व तो होगा, परन्तु अभी तक वह ठीक-ठीक शिव अथवा सत्य नहीं हो पायगा, और विचार करने पर, संभवतः हम इन शब्दों का प्रयोग करना पसन्द न करें, क्योंकि मानसिक जीवन के हमारे अपने स्तर पर हमें, जो सन्तुष्ट और तृप्त करता है, उसका इच्छा के साथ कुछ सम्बन्ध न होना शायद ही सम्भव हो। और यदि हम उसको ऐसी अवस्था में ग्रहण करें, जहाँ कि अभी वह कुछ भी संकेत नहीं करती, जहाँ पर हमें अपनी भावना का कोई विचार नहीं और जहाँ पर हम एक धुँधले रूप में भी यह अनुभव नहीं कर पाते कि यही शिव है, तो इस अवस्था पर भी शिवत्व जैसे नाम को अस्वीकार कर देना विरोधाभास नहीं होगा, यदि हम इस प्रकार के किसी मनोभाव को एक लक्ष्य के लिए भी शिव समझें तो वह शिव हो जायगा, क्योंकि उस अवस्था में जो सन्तुष्ट करता है, उसका विचार भी मुझमें होगा, और उस विचार को मैं तथ्य में भी प्रस्तुत पाऊँगा। परन्तु जहाँ विचारों का आभास हो, वहाँ पर हमें किसी वस्तु को वस्तुतः शिव या सत्य नहीं कहना चाहिए। शिवत्व और सत्य संभावित रूप में वहाँ हो सकते हैं, परन्तु अभी तक उनमें से किसी का अस्तित्व वहाँ न होगा। और यह बात बहुत कुछ स्पष्ट दिखायी पड़ती है कि शिवत्व के लिए प्रत्यय की अपेक्षा है, परन्तु इच्छा के सम्बन्ध में सन्देह की अधिक गुंजाइश है। एक प्रिय प्रत्यय को अनुभूत हुआ देखने के अर्थ में, मैं समर्थन कर सकता हूँ, और फिर भी कुछ अवस्थाओं में इच्छा का अभाव प्रतीत होगा, क्योंकि कुछ अवस्थाओं में, अस्तित्व मेरे प्रत्यय का विरोध नहीं करता और इसलिए इच्छा के प्रसार के लिए कोई स्थान नहीं रह जाता। इस प्रतिपत्ति का विरोध हो सकता है, परन्तु मैं स्वयं तो इसको स्वीकार करने के लिए तैयार हूँ, और इस हद तक मैं कह सकता हूँ, कि शिव की कल्पना में इच्छा का समावेश निरंकुश कहा जा सकता है, परन्तु इसमें औचित्य प्रतीत होता है क्योंकि वस्तुस्थिति को देखते हुए इच्छा का विकास होना चाहिए। इच्छा के बिना समर्थन केवल एक चरम अवस्था है और एक अस्थाई उपाधि है। मेरी अवस्था में एक अस्थिरता और इसलिए विरोध आये बिना नहीं रह सकता, और इसके साथ ही हम एकदम इच्छा के लिए अभीष्ट खिंचाव को पा जाते हैं। इस प्रकार मैं स्वीकार करता हूँ, कि इच्छा चाहे क्षण-भर के लिए समर्थन में न हो, परन्तु वह इसके बाद अनिवार्यतः आ जायगी। इसलिए मैं उसको अनिवार्य मानता हूँ, मेरी सम्मति में यह विषय फिर भी किसी महत्त्व का नहीं है। जो महत्त्वपूर्ण है, वह यह है, कि एक प्रत्यय का होना अनिवार्य है।

और, इस कारण से हमें यह नहीं मानना चाहिए कि सुखद, निज रूप में स्वयं शिव है। शिव सुखकर है, और शिवतर उसी अनुपात में सुखदतर है। और मैं यह भी कह सकता हूँ कि यदि हम निज रूप को छोड़ दें तो जो सुखद है वह सामान्यतः शिव भी होगा। परन्तु हमें यह प्रतिपादन नहीं करना चाहिए, कि जो भी सुखद होता है, वह किसी इच्छा की तृप्ति करता है, अथवा सदैव ही इसमें इच्छा अथवा समर्थन निहित होता है। और इसलिए किसी प्रत्यय के अभाव में सुखद कभी-कभी सम्भवतः ठीक-ठीक शिव भी न हो।

और शुद्ध सुख को उसके निज रूप में, शिव के साथ एकरूपता स्थापित करने के विरुद्ध सम्भवतः हम निःसंकोच घोषणा कर सकते हैं, इस प्रकार का कोई भी मत सुख के पक्ष विशेष को पृथक् करता है, और फिर इस बात को अस्वीकार कर सकता है, कि जगत् में कोई अन्य वस्तु किसी काम की भी हो सकती है। यदि वह केवल यह कहता है कि सुखदतर तथा शिवतर एक ही है, तो स्थिति वदल सकती थी, क्योंकि जो वस्तु असंगति से रहित है, अथवा जो असंगति को पूर्णतर समन्वय में विलीन कर चुकी है, उसके साथ सुख रहता है। इसलिए यह स्वाभाविक है, कि व्यक्तित्व की उच्चतर मात्रा अधिक सुखद हो।[1]

और हमने सुख को अपनी पूर्णता की कल्पना में एक अनिवार्य तत्त्व माना है (अध्याय २०)। परन्तु इसका शायद ही यह निष्कर्ष हो कि विश्व में सुख के अतिरिक्त और कुछ भी शिव नहीं है, और इसी एक पक्ष को साध्य मानकर, हम अन्य सभी को साधन-मात्र समझें। जहाँ प्रत्येक वस्तु एक पूर्ण इकाई में आबद्ध है, जहाँ आप किसी भी एक तत्त्व को पृथक् करके एकाकी कर सकते हैं, और आप अपनी सुविधानुसार सिद्ध कर सकते हैं कि विना इसके अन्य सभी कुछ अपूर्ण तथा मूल्यहीन है, और आप यह दिखला सकते हैं, कि इस एक को जोड़ देने से वे सब-के-सब एक बार फिर वास्तविकता और मूल्य को प्राप्त कर लेते हैं। और इस प्रकार आप प्रत्येक के विषय में समान रूप से निष्कर्ष निकाल सकते हैं, कि वह एक ऐसा साध्य है, जिसके लिए अन्य सभी का अस्तित्व होता है, परन्तु इस आधार पर अत्यधिक रूप में और आँख मूँद कर दलील देना न्यायसंगत नहीं, कि जगत् का कोई एक पक्ष ही सम्पूर्ण शिव है। यह तो एक ऐसे दृष्टिकोण को किसी एकांगी त्रुटि के रूप में संकीर्ण करना हुआ, जो कि केवल तभी तक ग्राह्य हो सकता है, जब तक कि वह सामान्य हो। और इस प्रकार सुख के अतिरिक्त अन्य किसी वस्तु को शिव रूप में स्वीकार न करने के विषय में, सुखवाद का स्वागत

१. इस प्रसंग में देखिए 'माइंड' — संख्या ४९।

एक निश्चित तिरस्कार द्वारा होना चाहिए।

क्या किसी वस्तु की सदैव इसलिए इच्छा की जाती है कि वह पहले सुखद है, अथवा दूसरी ओर क्या वह इसीलिए सदैव सुखद है, कि उसकी इच्छा की जाती है।[1] और अभीष्ट का शिव के साथ जो सम्बन्ध है, उसके विषय में भी हम यही प्रश्न कर सकते हैं; परन्तु क्या कोई वस्तु सत्य इसलिए है कि मैं उसका विचार करता हूँ, अथवा, क्या मैं इसका विचार इसलिए करता हूँ कि वह सत्य है ? और फिर क्या 'यह' इसलिए ठीक है; कि 'मुझे' यह चाहिए अथवा 'इसलिए' दूसरी दिशा में लागू होता है ? और क्या कोई विषय सुन्दर इसलिए है, कि वह मुझे प्रभावित करती है, अथवा उलटे मेरा मनोभाव उस सौन्दर्य का परिणाम है ? इन अवस्थाओं में से प्रत्येक में हमने प्रथम तो एक ऐसा पृथक्करण किया जो अत्यधिक अपरिवर्तनशील है, और इस आधार पर वे प्रश्न खड़े होते हैं, जो हमें असमंजस में डाल देते हैं।

प्रत्येक पक्ष में एक तथ्य और पूर्व-कल्पित के रूप में, हम एक ऐसे तत्त्व को नियत कर देते हैं, जिसका दूसरे पक्ष को छोड़कर अन्यत्र, कम-से-कम कभी-कभी कोई अस्तित्व नहीं होता। यदि शिव इच्छा की सन्तुष्टि का नाम है, तो आप इच्छा को उसकी इच्छा की उपाधि मान सकते हैं। परन्तु दूसरी ओर जब तक वह आपको पहले से ही कुछ सन्तुष्टि नहीं दे चुकी हो, तब तक आपको शायद ही किसी वस्तु की तनिक भी इच्छा हो। निःसन्देह, जैसा कि हम देख चुके हैं, कुछ समय तक और किसी निम्न स्तर पर सुखद वस्तु समर्पित अथवा अभ्यर्थित न हो। परन्तु यह प्रतिपादित करना एक दूसरी ही बात है, कि शिवत्व सुख में निहित है, और उसका परिणाम है।

सुसंगत सुखवाद में कम-से-कम, यह बात अभिप्रेत है कि अंततोगत्वा इच्छा केवल-मात्र, सुखोन्मुखी ही होती है। कोई वस्तु एक तथ्य के रूप में सुखद है, और

---

१. यदि किसी प्रत्यय के विषय को तथ्य के विरुद्ध रखा जाय तो इससे पूर्व अन्य का सुखद न रहने अथवा न होने पर भी, उसमें वांछनीयता की एक प्रवृत्ति होती है। आत्मा के विस्तार के रूप में प्रत्येक प्रत्यय सूक्ष्मतम और इस सीमा तक सुखद होता है, और किसी भी प्रत्यय की सुखदता, मेरी आध्यात्मिक दशा के रूप में उसके विषय को स्थानान्तरित की जा सकती है। हमको सदैव यह प्रश्न करना है कि तथ्य के विरुद्ध किसी प्रत्यय को नियत करने वाला क्या है ? क्या वह इस स्थिति में इसलिए है कि उसका विषय सुखद रहा है, अथवा इसलिए कि वह अथवा उसका विषय इस समय सुखद है और क्या हम कभी यह नहीं कह सकते कि वह केवल इसलिए सुखद है, कि स्थिति वह है। इन विषयों चर्चा ऐसी मनोवैज्ञानिक सूक्ष्मताओं में पहुँच सकती है, जिनकी चर्चा की हम यहाँ उपेक्षा कर सकते हैं।

एक-मात्र इसी कारण उसकी इच्छा की जाती है, और इसके साथ-साथ सम्पूर्ण प्रश्न ही का निपटारा हो जाता है। परन्तु प्रत्येक दूसरे तथ्य की भाँति स्वयं सुख भी केवल कोई घटित होने वाली वस्तु नहीं है। अपने निजी पक्ष में भी वह निःसंदेह अकारण नहीं होता, और खोज करने पर ज्ञात होता है कि सुख का सदैव उसके साथ सह-अस्तित्व होता है, जिसे हम पूर्णत्व अथवा व्यक्तित्व कहते हैं। परन्तु यदि यह बात है, तो निःसंदेह इसलिए एक ओर उसी दृढ़ता के साथ लागू हो सकता है, जिसके साथ वह दूसरी ओर होता है, और जहाँ तक मैं देखता हूँ, यदि हमें यह अस्वीकार करने का अधिकार है, कि सुख के लिए एक प्रकार का स्वरूप आवश्यक है, तो हमें यह भी अधिकार है कि हम सुख और दुःख के बीच कोई सम्बन्ध न मानें। यदि एक सह-अस्तित्व केवल आकस्मिक घटना और एक घटनीय संयोग-मात्र है, तो इस रूप में दूसरा भी क्यों नहीं ? परन्तु यदि हम यह स्वीकार कर लेते हैं, कि सम्बन्ध द्विविध है, और जिस प्रकार सुख स्वयं पूर्णता का एक तत्त्व है, उसी प्रकार सुख के लिए सापेक्षिक पूर्णता आवश्यक है। तो सिद्धान्ततः सुखवाद का एकदम खंडन हो जाता है। इच्छा का विषय यों कभी भी अपने भीतर सुख से अधिक इयत्ता नहीं रख सकता, और सुख अथवा अन्य किसी भी एक पक्ष को ही विश्व में एक-मात्र लक्ष्य मानने की कल्पना को अयुक्त ही ठहराया जाना चाहिए (अध्याय २६ में) इसी बात को संभवतः यों कह सकता हूँ कि यदि सुखवाद सत्य भी होता, तो भी ऐसा कोई संभव ढंग नहीं था, जिसके द्वारा उसकी सत्यता को दिखलाया जा सकता है।[1]

इस भूल की चर्चा करने के पश्चात् मैं एक अन्य सिद्धान्त की परीक्षा करूँगा, जिससे मैं सहमत नहीं हो सकता। प्रायः संकल्प-पूर्ति को ही शिवत्व समझ लेने की ओर प्रवृत्ति होती है, और एक कल्पना के आधार पर यह निष्कर्ष उस विस्तृत दृष्टिकोण से ठीक हो सकता है, परन्तु हम देखेंगे कि यह कल्पना ठीक नहीं है (अध्याय २६) और बिना इसके, यह निष्कर्ष निर्मूल हो जाता है। हम देख चुके हैं, कि व्यक्ति को इच्छा की तृप्ति प्राप्त भी हो जाती है। और वह स्वयं उसको करता भी है, और जहाँ पर अनुभूत-अस्तित्व सुखद भी हो, और इच्छा की तृप्ति भी करना हो, तो वहाँ पर मैं यह नहीं समझा कि उसको शिव क्यों न कहा जाय ? और

---

१. पृ० (३१३) हम ऊपर देख चुके हैं कि बुद्धि के विषय मे सुखवादी दृष्टिकोण में पूर्णता का कितना अभाव है, और देखिए पृ० सं० ३८४। इसके अतिरिक्त विस्तार से देखिए मेरी पुस्वक 'एथिकल स्टडीज'।

फिर सुख इतना सीमित भी नहीं हो सकता कि उसको केवल सन्तुष्ट संकल्प का मनोभाव कहा जा सके, क्योंकि वह स्पष्टतया संकल्पाभाव में स्थित प्रतीत होता है।[1]

संभवतः हम अपने सामान्य मत को इस प्रकार व्यक्त कर सकते हैं, कि शिवत्व समर्थन का सहगामी है। परन्तु इतना मैं और कहूँगा कि इस समर्थन को विस्तृततम अर्थ में ग्रहण करना चाहिए। समर्थन करने का अभिप्राय एक ऐसे विचार के अपनाने से है, जिसमें हमको सन्तोष होता है, और इस विचार की कल्पना अथवा धारणा अस्तित्व में करने से है। और जो अस्तित्व, वस्तुतः अथवा कल्पना में, इस विचार को अपनाने में असमर्थ रहता है, उसके प्रसंग में यह विचार एक 'भवितव्यता' एक 'संभावना' अथवा एक 'विविध वाक्य' के रूप में परिणत हो जाता है। और समर्थन का सम्बन्ध नैतिक जगत् तक भी कदापि सीमित नहीं है, अपितु कल्पना और कला के जगत् में भी, उसको उतना ही स्थान प्राप्त है, जहाँ-कहीं भी कोई वाह्य अथवा आन्तरिक परिणाम एक सुखद प्रत्यय के द्वारा प्राप्त होता है, अथवा उसके साथ संगति रखता पाया जाता है, तो हम एक विशेष अर्थ में उसका समर्थन करते हुए कह सकते हैं। और जब हम समर्थन करते हैं, तो निःसन्देह हमको शिव-परिणाम प्राप्त करने वाला कहा जा सकता है।[2]

---

१. मैं इतना यहाँ पर और कह दूँ कि यह संकल्प का विकास होने से पूर्ण हो आता है। संकल्प और प्रत्यय ठीक-ठीक तब आ पाते हैं, जब कि विषय और विषयी का भेद हृदयंगम होने लगे, और दुःख और सुख के भेद से पूर्ववर्ती और निःसंदेह उससे अत्यधिक प्रभावित होने वाले प्रतीत होते हैं। संकल्प, आत्मा अथवा अहम् पर सुख की निर्भरता के विषय में कुछ ऐसे मत हैं कि जिनसे असहमति प्रकट करते हुए मैं यह कह सकता हूँ कि मैं इनको सुख के परिणाम और अनुबंध मानता हूँ, यह तो ठीक नहीं होगा कि ये पूर्णतया सुख और दुःख की उपज है। परन्तु सुख को सदैव इनकी प्रतिक्रिया-स्वरूप मानने की अपेक्षा, यह कहना अधिक ठीक होगा।

२. सुविधा के लिए मैं यह मान लेता हूँ कि समर्थन में इच्छा निहित है। परन्तु कुछ प्रसंगों में यह कल्पना शायद ही ठीक बैठे। (पृ० संख्या ३५७)। परन्तु समर्थन का सदा यही अर्थ होगा कि वह विचार सुखद है। इसकी विशेषता के अतिरिक्त और उससे पृथक हमें, केवल अभिज्ञान-मात्र की प्राप्ति होगी। यद्यपि अभिज्ञान सदैव समर्थन में परिणत होने के लिए उत्सुक रहता है, परन्तु फिर भी दोनों की कल्पना एक नहीं है, और फिर मेरे विचार में अभिज्ञान वस्तुतः समर्थन के अभाव में भी संभव है।

निःसंदेह हम सदैव चरम दृष्टि से समर्थन नहीं करते, अपितु केवल एक दृष्टि से किया करते हैं। जहाँ परिणाम अत्यधिक अवांछनीय होता है, वहाँ पर भी यह संभव है कि हम सैद्धान्तिक दृष्टि से समर्थन करें। और चाहे हम बुरी-से-बुरी वस्तु को ही क्यों न ढूँढ रहे हों परन्तु उसको प्राप्त कर लेना एक बौद्धिक सफलता है, और इस रूप में, उसका समर्थन संभव

सामान्य शिव को प्रायः वांछनीय ही समझा जाता है, मेरे अनुमान में यह भ्रामक है, क्योंकि वाँछनीय का अभिप्राय उस वस्तु से है, जिसकी इच्छा की जाती है, अथवा जिसकी इच्छा की जानी चाहिए। इसलिए इसका अभिप्राय यह प्रतीत होता है, कि किसी शिव में शिवत्व होने पर भी वह वांछनीय नहीं हो सकता है। अथवा कोई वस्तु वांछनीय हो सकती है, परन्तु फिर भी शिव न हो और यदि शिव को सामान्य रूप से ग्रहण किया जाय, तो कम-से-कम यह कथन विवादग्रस्त हो सकता है, इसलिए उसका स्पष्ट अर्थ वहीं पर लागू होता है, जहाँ पर हम शुभतर और अशुभतर की बात कर सकते हैं। परन्तु सामान्य शिव पर वह ठीक-ठीक लागू नहीं जान पड़ता। कोई वस्तु वांछनीय तभी होती है, जब उसकी वांछा करना शुभतर हो। जब आप "उसकी वांछा करना शुभ है" इतने से अधिक कुछ न कह सकें, तो वह ठीक-ठीक वांछनीय नहीं होगा।[1]

शिव को इस अर्थ में संभवतः वांछनीय कहा जा सके, कि उसकी अनिवार्यतः इच्छा की जाती है, क्योंकि इच्छा कोई बाह्य साधन नहीं है, अपितु वह शिवत्व में निहित और सम्मिलित है, अथवा कम-से-कम वह अनिवार्यतः उससे उद्भूत होती है, हम यह कह सकते हैं, कि इच्छा से रहित होकर शिवत्व शिवत्व नहीं रह जायगा, और इसलिए यह वांछनीय नहीं होगा (पृ० ३५७)। 'वांछनीय' के प्रयोग से एक

है। इस अवस्था में जहाँ तक इस एक पक्ष में उस पर विचार किया जायगा, वहाँ तक वह अवश्य शिव कहलायगा। समर्थन को शिवत्व का सहगामी मानने के विरुद्ध वास्तविक आपत्ति यह है कि उस समर्थन में प्रायः चिन्तन की एक मात्रा होती है, और उससे ऐसा संकेत मिलता है कि एक पृथक्करण और अनासक्ति की दृष्टि से निर्णय हुआ हो। इस प्रकार उदाहरण के लिए समर्थन को, प्रेम और किसी शिवत्व के साथ भी असंगति रखने वाला कहा जा सकता है।

परन्तु यदि समर्थन के विकास के एक स्तर पर माना जाय और उसका अभिप्राय केवल सन्तोषप्रद वस्तु की प्राप्ति तक ही सीमित माना जाय, तो आपत्ति दूर हो जाय। सैद्धान्तिक समर्थन के साथ व्यावहारिक समर्थन का सम्बन्ध है। उसकी चर्चा आगे चलकर अध्याय २६ में की जायगी। निःसंदेह जहाँ पर कुछ दिये जाने की कल्पना हो, वहाँ पर समर्थन व्यावहारिक होता है।

१, यदि सुख ही ऐसी वस्तु होती, जिसकी इच्छा की जाती तो इसका अभिप्राय सीधा यह नहीं होता, कि सुख तनिक भी वांछनीय है, अथवा वह ही एक-मात्र वांछनीय है। यह निष्कर्ष संभवतः निकल सकें, परन्तु प्रत्यक्ष रूप में तो नहीं निकलते, और बीच की अवस्थाओं की स्थापना करके उनकी चर्चा की जानी चाहिए। वांछनीय शब्द का स्वाभावतः दुरुपयोग हो जाता है, और इसलिए कुछ सुखवादी लेखकों के लिए यह शब्द उपयोगी सिद्ध हुआ है। इसके अन्तर्गत 'अस्ति' से 'भवितव्य' की अवस्था में रूपान्तर होना निश्चित है।

महत्त्वपूर्ण वात की ओर ध्यान जाता है, परन्तु यह उपर्युक्त कारणों से भ्रामक सिद्ध होगी। कम-से-कम वह क्षण-भर के लिए, इच्छा को शिवत्व से अवश्य पृथक् कर देती है।

सामान्य रूप से शिवत्व के अर्थ को नियत करने के लिए प्रयत्न हो चुका है, और अव हम इस विषय को छोड़कर शिवत्व के 'स्वयं-विरोधी' स्वरूप पर ज़ोर दे सकते हैं। शिव पूर्ण नहीं है, अपितु पूर्णता का केवल एकाकी पक्ष है। उसमें निज रूप से ऊपर उठने की प्रवृत्ति है, और यदि वह पूर्ण हो जाय तो ठीक-ठीक फिर शिव नहीं रह सकेगा। प्रथम तो उसकी अपूर्णता को दिखलाने के लिए मैं यह प्रश्न करूँगा कि वह क्या है, जो कि शिव है, और फिर संक्षेप में उसका मूलभूत 'स्वयं-विरोध' वतलाऊँगा।

यदि हम यह जानना चाहें कि शिवत्व क्या है, तो वह सदैव हमें किसी अन्य वस्तु के विशेषण के रूप में मिलेगा। सौन्दर्य, सुख, सत्य और आवेश ये सव वस्तुएँ हैं, जो शिव हैं। हम इनमें से सभी को चाहते हैं; और सभी ऐसे मानदंडों के रूप में प्रयुक्त किये जा सकते हैं, जिनसे हमारे समर्थन का निर्देशन हो सके। और इस-लिए एक अर्थ में, वे सव शिव के अन्तर्गत आयेंगे और उनमें उसका समावेश होगा। परन्तु दूसरी ओर जव हम यह प्रश्न करते हैं कि क्या शिवत्व के अन्तर्गत यह सव-कुछ आ जाता है, जो इन क्षेत्रों में होता है? तो उत्तर अवश्य भिन्न होगा, क्योंकि हमको तुरन्त यह प्रतीत होता है, कि इनमें से प्रत्येक का अपना-अपना स्वभाव है, और शिव होने के लिए विश्व के अन्य पक्षों का भी अपना-अपना स्वभाव होना चाहिए। उस अवस्था में शिव निज रूप में स्पष्टतः इतना विस्तृत नहीं हो सकता, जितनी कि वस्तु-समष्टि। और, यदि हम शिवत्व के सारांश की परीक्षा करते जायँ तो हम विवश होकर एकदम उसी निष्कर्ष पर पहुँच जाते हैं। वह स्वयं में असंगत है, इसलिए यह आभास है, और सत् नहीं। शिव में अस्तित्व से प्रत्यय के विभाजन का भाव निहित है, और विभाजन भी, एक ऐसा जो कालान्तर में निरन्तर दूर होता और पुनः वनता रहता है।

और इस प्रकार की एक प्रक्रिया शिव की अन्तर्तम सत्ता में भी निहित रहती है। संक्षेप में, एक परितृप्त इच्छा अपने निज के रूप के साथ ही असंगत प्रतीत होती है, क्योंकि जहाँ तक वह पूर्ण परितृप्त हो चुकी, वहाँ तक वह एक इच्छा नहीं रही, और जहाँ, तक वह एक इच्छा है, वहाँ तक कम-से-कम अंशतः वह अतृप्त रहेगी। और जहाँ पर प्राप्त के अतिरिक्त हम अन्य किसी भी वस्तु की इच्छा करते हुए नहीं कहे जा सकते, और जहाँ पर समर्थन से इच्छा वहिष्कृत है, वहाँ पर प्रथम

तो परिवर्तन के साथ संघर्षशील स्वभाव की एक आदर्श क्रमागति होती है, परन्तु इसके अतिरिक्त, किसी भी अवस्था में, उसमें एक ऐसे प्रत्यय का संकेत भी निहित है, जो तथ्य से पृथक् होता हुआ भी उसके साथ एकरूप है। इनमें से प्रत्येक विशेषता आवश्यक है, और प्रत्येक की प्रति दूसरे के साथ संगति नहीं बैठती। और प्रत्यय तथा अस्तित्व के बीच भेद की समाप्ति, शिव के लिए अपेक्षित होते हुए भी अप्राप्त रह जाती है, वस्तुतः उसकी प्राप्ति शिवत्व के शुद्ध सारांश को ही नष्ट कर देगी। इसलिए शिव स्वतः अपूर्ण और स्वातिक्रान्त होता है। वह एक दूसरे और एक ऐसे उच्चतर स्वभाव की ओर गतिशील रहता है, जिसमें पूर्ण होकर वह समा जाता है।

अतः स्पष्ट है कि शिव पूर्ण नहीं है, और पूर्ण ही शिव नहीं, और इस प्रकार चरमतत्व के प्रसंग में देखने पर कुछ भी न तो अशुभ रह जाता है, और न ही शुभ, और न कुछ शुभतर या अशुभतर होता है, क्योंकि चरम तत्त्व और उसके आभास एक नहीं हैं, परन्तु जैसा कि हम सर्वत्र देख चुके हैं, ऐसा सत्य स्वयं आंशिक और असत्य है, क्योंकि चरम तत्त्व अपने-अपने नाम-रूपों से प्रकट होता है, और उनके बाहर वह कहीं भी सत् नहीं होता। निःसंदेह हम इसको केवल अस्वीकार ही कर सकते हैं कि वह इनमें से कोई एक है, क्योंकि वह उन सबका समष्टि रूप है, और इसलिए इस दूसरे पक्ष से विचार करने पर, चरम तत्त्व शिव है, और वह अपने को सर्वत्र शिवत्व और अशिवत्व की विभिन्न मात्राओं में विभक्त करता है। शिवत्व के जिस भावी रूप में पहुँचकर वह स्वयं समाप्त हो जायगा, उसकी सिद्धि परिपर्ण के द्वारा होती है। और उस परिपक्वता में प्रत्यय और अस्तित्व नष्ट न होकर समन्वययुक्त हो जाते हैं। अतः परिपूर्ण फिर भी शिव रहता है, और इसी प्रकार परिपूर्ण से जो सम्बन्ध है, वह सीमित तृप्तियों को उच्चतर और निम्नतर बना देता है, इसलिए चरम तत्त्व का साक्षात्कार इन सभी के भीतर विभिन्न मात्राओं में किया जाता है। मैं इस द्वितीय बात का संक्षेप में वर्णन करूँगा।

पिछले अध्याय में हमने सत् और सत्य की मात्राओं में वास्तविक अर्थ को देखा, जो पूर्णता से, अपेक्षाकृत छोटे अन्तराल के द्वारा पृथक् किया जाता है। वह अपेक्षाकृत अधिक पूर्ण होता है। और इस अन्तराल की मापपूर्व-व्यवस्था और बुद्धि की उस मात्रा से होती है, जो कि एक आभास को सत् में परिणत करने के लिए आवश्यक होती है। हमने देखा कि हमारा यह एक सिद्धान्त नाम-रूपों के दो परस्पर-विरोधी दोषों के सम्पर्क में आने से दोहरे पक्ष से युक्त हो जाता है, क्योंकि कोई तत्त्व या तो अधिक संकीर्ण होने से अथवा कम समन्वयशील होने से निम्नतर हो जाता है। और हमने आगे यह भी देखा कि किस प्रकार और किस कारण ये दोनों दोष

तत्त्वतः सम्बन्धित हो जाते हैं। शिवत्व पर विचार करते हुए, हमको इतने से ही सन्तुष्ट हो जाना चाहिए, कि सामान्यतः वही सिद्धान्त यहाँ भी लागू होता है, जो परितृप्ति अधिक सत्य और सत् है, वही शुभतर है। यहाँ हम फिर प्रसार और समन्वय के द्विविध पक्ष द्वारा माप करते हैं।[1] अन्ततोगत्वा केवल परिपूर्ण से ही हमारी इच्छाओं की तृप्ति होगी जो तृप्ति अपेक्षाकृत अधिक स्वसंगत होगी, अथवा जो विस्तृततर और पूर्णतर होगी, वही उस परिपक्वता की अपेक्षाकृत अधिक निकट पहुँचेगी, जिससे हमें विश्राम प्राप्त हो सकता है। इसके अतिरिक्त इन दोनों पक्षों का भेद स्वयं बाह्य मात्र है, और हमारी दृष्टि की एकांगी परिधि में ही निहित होता है, क्योंकि बाहर से कोई तृप्ति भीतर से समन्वित नहीं हो सकती, जबकि दूसरी ओर यदि सर्वगत हो जाय तो वह समन्वयशील भी हो जायेगी। लागू होने पर यह एक ही सिद्धान्त स्वभावतः दो मापदण्डों में विभाजित हो जाता है। फिर भी यह सब होते हुए यह तत्त्वतः और मूलतः एकरूप रहता है, और वह सर्वत्र माया के चरम-तत्त्व के समीप ही रहता है।

अतः एक अर्थ में, चरम तत्त्व वस्तुतः शिव है, और शिवत्व के जगत् में सर्वत्र उसका अनुभव तृप्ति की विभिन्न मात्राओं में किया जा सकता है। अन्तिम सत् में समस्त, अस्तित्व और समस्त विचार तथा मनोभाव एकीभूत हो जाते हैं। इसलिए हम यह भी कह सकते हैं, कि विश्व की प्रत्येक विशेषता इस प्रकार आत्यन्तिक रूप में शिव है।

अब मैंने संक्षेप में, शिवत्व के सामान्य अर्थ और अभिप्राय को निश्चित कर दिया है, और अब उस पर अपेक्षाकृत एक अधिक विशिष्ट तथा संकीर्ण अर्थ में विचार किया जा सकता है। हम देख चुके हैं, कि शिव के अस्तित्व और प्रत्यय के दो पक्ष हैं। अभी तक अस्तित्व को हमने प्रत्यय के अनुकूल पाया, परन्तु प्रत्यय स्वयं अभी तक अपने-आपको अनिवार्यतः तथ्य में उत्पन्न अथवा अनुभव नहीं कर पाया है। परन्तु जब हम शिवत्व को उसके संकीर्ण अर्थ में ग्रहण करते हैं, तो यह अन्तिम विशेषता अनिवार्य हो जाती है। संक्षेप में, शिव, सिद्ध-लक्ष्य अथवा पूर्ति या पूरित-संकल्प हो जायगा। अब वह एक ऐसा प्रत्यय हो गया, जिसकी न केवल एक सुसंगत इयत्ता तथ्य में भी है, अपितु इसके अतिरिक्त उसी ने इस सुसंगति

---

१. दुःखों और सुखों को निर्धारित करने में, हम केवल उनके परिणाम और विस्तार का ही विचार नहीं करते, अपितु उनके प्रभावों तथा उन सब गुणों का भी सामान्यतः विचार करते हैं जिनके साथ उनका अभिन्न सम्बन्ध होता है।

का निर्माण और विधान किया है। हम कह सकते हैं कि उस प्रत्यय ने अपने को सत् में परिणत अथवा रूपान्तरित कर दिया है, क्योंकि दोनों पक्षों में इयत्ता एक ही रहती है, और अस्तित्व वह रूप ग्रहण कर लेता है, जो कि प्रत्यय के प्रभाव से उत्पन्न होता है। इस प्रकार शिवत्व, लक्ष्य अथवा आत्म-साक्षात्कार के जगत् तक ही सीमित रह जायगा। दूसरे शब्दों में, जिसको सामान्यतः नैतिक क्षेत्र कहा जाता है, वह उसी तक सीमित रहेगा।

क्योंकि यहाँ आत्म-साक्षात्कार का सीमित आत्माओं को छोड़कर अन्यत्र कोई अर्थ ही नहीं, और निःसंदेह सभी आत्मायें यद्यपि मानव-आत्मा नहीं हैं, फिर भी प्रत्येक आत्मा अवश्य ही सीमित है, किसी कालगत प्रक्रिया से युक्त संकल्प का सम्बन्ध इस रूप में चरम तत्व से सम्बन्धित नहीं हो सकता, और दूसरी ओर हम भौतिक जगत् में लक्ष्यों के अस्तित्व की कल्पना नहीं कर सकते। अगले अध्याय में प्रकृतिगत वहिसन्मुखता के प्रश्न पर फिर आऊँगा, परन्तु सुविधा की दृष्टि से, हमें उसे अपनी दृष्टि से बाहर निकाल देना चाहिए। संक्षेप में, आत्माओं के आत्म-साक्षात्कार के अतिरिक्त और कोई आत्म-साक्षात्कार संभव नहीं है।

ऐसी अवस्था में, अभी उसके प्रत्यय की किसी सीमित आत्मा के द्वारा प्रतीति होना ही शिवत्व है, वह केवल पूर्णता नहीं, अपितु किसी संकल्प-द्वारा प्राप्त पूर्णता है। एक ओर तो हमें जैसा कि हम देख यह चुके हैं, भूल जाना चाहिए कि समर्थन नैतिकता से परे पहुँचना है, और अभी तक हमें उस अपेक्षाकृत सीमित अर्थ से आँख मूँद लेना चाहिए, जिसमें नैतिकता को अन्तर्मुखी समझा जाता है। यहाँ पर व्यक्ति के द्वारा अपने पूर्णता-विषयक प्रत्यय की सिद्धि ही शिवत्व है। और हमें संक्षेप में अव यह दिखाना होगा कि इस अर्थ में भी शिव किस प्रकार असंगतिपूर्ण है। यह एक ऐसा दृष्टिकोण है, जो निरन्तर अपने से परे जाने के लिए विवश होता रहता है।

यदि एक बार फिर किसी विशेष इयत्ता के एक तत्व को दृष्टि में रखकर प्रश्न करें कि शिव क्या है ? तो फिर हमें पहले की भाँति ही उत्तर देना पड़ेगा कि कुछ भी नहीं है। हम देख चुके हैं कि सुख स्वयं शिवत्व का सारांश नहीं है। और दूसरी ओर जगत् की कोई भी विशेषता उसके बाहर की वस्तु नहीं जो कि शिव हो। सौन्दर्य, सत्य, मनोभाव और आवेग तथा प्रत्येक संभव मौतिक तत्त्व को परि-पूर्णता का एक अंग होना चाहिए, क्योंकि पूर्णत्व अथवा व्यक्तित्व एक ऐसे तंत्र हैं, जो इन दोनों के समन्वयशील होने से प्रत्येक वस्तु का अपने में समावेश करता है। अव हमने शिवत्व को एक आत्मा की पूर्णता का संकलिपत सत् माना है। इसलिए

न तो स्वयं तंत्र का स्वरूप और न पूर्ण से पृथक् कोई एक भौतिक तत्त्व ही परिपूर्ण अथवा शिव हो सकता है ।[1]

परन्तु सत्य और सत् की भाँति शिवत्व के प्रसंग में हमारा एक मापदण्ड द्विविध हो जाता है, और व्यक्तित्व समन्वय तथा प्रसार के दो पक्षों में विभाजित हो जाता है। सिद्धान्ततः और वस्तुतः अन्त में, इन दोनों विशेषताओं का स्वरूप होना आवश्यक है (अध्याय २४) । परन्तु नाम-रूपों के निर्णय में, हमें उनको पृथक् लागू करने के लिए निरन्तर बाध्य होना पड़ता है। तथ्य रूप में यह द्विविध पूर्णता जिन विभिन्न स्थूलस्वरूपों में पायी गयी है, उसके विषय में मुझे कुछ कहने की आवश्यकता नहीं है। परन्तु समस्त शिवत्व के मूलभूत दोषों को व्यक्त करने की दृष्टि-मात्र से मैं प्रयोग की इस विविधता पर अवश्य जोर दूँगा। लक्ष्य में प्रसार और समन्वय के पक्ष में इकत्र हो जाते हैं परन्तु उस लक्ष्य में इस शिवत्व की भी कम संभावना नहीं है।

दूसरे शब्दों में, मैं उस ओर ध्यान आकर्षित करने जा रहा हूँ, जिसको आत्म-बलिदान कहा जा सका है। किसी व्यक्ति के द्वारा अपनी ही पूर्णता का अनुभव शिवत्व है, और जैसा कि हम देख चुके हैं वह पूर्णता समन्वय और प्रसार दोनों में निहित है, और अभी अस्थायीरूप से ये दोनों विशेषताएँ स्वयं-पूर्णता नहीं हो सकतीं। अपने स्वभाव के प्रकृत तत्व को व्यवस्था की उच्चतम सीमा तक पहुँचा देना, और प्रत्येक स्रोत से प्राप्त होने वाले हर एक पक्ष के तत्त्व को इसी उद्देश्य के एक गौण साधन के रूप में प्रयोग करना, . . .यही निःसंदेह शिवत्व की वास्तविकता दृष्टि है। दूसरी ओर यथा-संभव अनुकरणीय लक्ष्य को विस्तृत करना और इसकी प्राप्ति अपने निजी व्यक्तित्व के विशेष अथवा विध्वंस के द्वारा करना, यह भी निःसंदेह शिवत्व है, किसी-आत्मा के भीतर लक्ष्य रूप में स्थित कोई व्यक्तिगत तंत्र का होना और एक अति व्यापक लक्ष्य से अपने निजी विकास को समाश्रित कर लेना---इनमें से प्रत्येक नैतिक पक्ष का एक सिद्धान्त है। जहाँ तक ये दोनों परस्पर असंगत हैं, इनमें से एक को आत्माभिव्यक्ति तथा दूसरे को आत्म-बलिदान कहा जा सकता है। और इन दोनों में ही परस्पर कितना ही विरोध क्यों न हो, प्रत्येक नैतिक दृष्टि से शिव है, और सूक्ष्म रूप में ग्रहण किये जाने पर, आप यह नहीं कह सकते कि एक दूसरे की अपेक्षा शुभतर है।

---

१. यह बहुत अच्छी तरह से, शिवत्व अथवा नैतिकता के किसी भी विशिष्ट मनोभाव पर लागू हो सकता है।

मेरा यह सुझाव कदापि नहीं कि आचार-शास्त्र में हमको सर्वत्र ही ऐसी असंगति-पूर्ण आदर्शों में से ही चयन करना पड़ता है। यह बात नहीं है, और यदि ऐसी ही बात हो तो, जीवन शायद ही धारण किया जा सकता है। बहुत हद तक, अपनी व्यक्तिगत पूर्णता के विषय में कुछ भी न सोचकर और ऐसी वस्तु को लक्ष्य मानकर जिसमें कोई व्यक्तिगत लाभ न हो, मनुष्य अपने व्यक्तिगत कल्याण की सिद्धि करता है। संभवतः हम यहाँ तक कह सकते हैं, कि प्रमुखतः आत्मत्याग और आत्माभिचार में कोई संघर्ष नहीं है, और सामान्यतः इनमें से कोई भी निश्चित अर्थ में, आचार-आस्था को अपना लक्ष्य नहीं बनाता। परन्तु पूर्ण रूप से इन पक्षों की एकरूपता को स्वीकार करते हुए अथवा व्यक्त करते हूए भी मैं यहाँ पर इस तथ्य पर जोर दे रहा हूँ, कि वे आंशिक रूप में एक-दूसरे से भिन्न हैं। और इस बात से कोई भी बुद्धिमान प्रेक्षक असहमत नहीं हो सकता, कि ये दोनों आदर्श परस्पर-विरुद्ध हैं।

दूसरे शब्दों में, हमें यह बात स्वीकार करनी पड़ेगी, कि नैतिक शिवत्व के दो बड़े परस्पर भिन्न स्वरूप हैं। एक पूर्ण आत्मा की कल्पना को प्राप्त करने के लिए, मनुष्य को संभवतः दो ऐसी पद्धतियों में से चयन करना पड़े जो आंशिक रूप में एक-दूसरे के विरुद्ध हैं। संक्षेप में नैतिकता, संभवतः आत्म-त्याग अथवा आत्माभि-व्यक्ति को बाध्य करें। और, इनमें से प्रत्येक के अर्थ के विषय में हमें अपना स्पष्ट विचार कर लेना बहुत महत्वपूर्ण होगा। एक सामान्य ग़लती यह है कि परोपकार के जीवन को आत्म-बलिदान और अपने स्वार्थ के लिए जीवन को अहंकार कहा गया है। इस मत के अनुसार सद्गुण प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप में और दृश्य अथवा अदृश्य रूप में सामाजिक हैं। इसका अभिप्राय यह है कि व्यक्ति का विकास जब तक समाज-कल्याण की वृद्धि में सहायक नहीं होता, तब तक वह निश्चित रूप से नैतिक नहीं हो सकता। मैं इस सिद्धान्त को फिर भी एक ऐसा सत्य मानूँगा, जिसको अतिशयोक्ति के द्वारा एक भूल में परिणत कर दिया। कुछ बौद्धिक अथवा अन्य सिद्धियाँ हैं, जिनको कम-से-कम मैं सद्गुण की संज्ञा देना अस्वीकार नहीं कर सकता। परन्तु मैं यह मान नहीं सकता कि बिना किसी अपवाद के ये सब-के-सब समाज-कल्याण में योग देंगे ही। और न मैं यही समझ रहा हूँ कि इन सिद्धियों से युक्त किसी भी व्यक्ति को एक सामाजिक अंगी किस प्रकार बनाया जा सकता है? परन्तु यदि यह बात है तो यह बात स्वीकार करना असंगत है, कि समस्त सद्गुण तत्त्वतः अथवा मुख्यतः सामाजिक हैं। इसके विपरीत, अन्य उद्देश्यों की पूर्ति के लिए सामाजिक, शिवत्व की उपेक्षा भी संभवतः न केवल नैतिक अहंकार हो सकता है, अपितु दूसरी परिस्थितियों में समान रूप से नैतिक आत्मबलिदान भी हो सकता

है। हम तो यहाँ तक कह सकते हैं, कि 'परार्थ' जीवन 'स्वार्थ' जीवन की अपेक्षा संभवतः अनैतिक और स्वार्थी होगा।

और त्याग तथा अहंकार में इस आधार पर भेद नहीं किया जा सकता कि एक प्रसंग में जिस विचार का अनुगमन किया जाता है, वह व्यक्ति से परे पहुँचता है, और दूसरे प्रसंग में वह ऐसा करने में असमर्थ होता है। अथवा यदि इस प्रकार शब्दों को अनिश्चित छोड़ दिया जाय, तो उसका शायद ही कोई अर्थ हो सके। यदि व्यक्ति को उसके निम्नतम अर्थ में ग्रहण किया जाय, तो प्रत्येक प्रकार का प्रत्येक स्थायी लक्ष्य व्यक्ति के परे पहुँचता है। और उसको छोड़ देने पर किसी व्यक्ति की पूर्णता में, अनुभूत इयत्ता भी व्यक्ति के ऊपर और उससे परे भी होगी। उसकी पूर्णता अवशिष्ट विश्व से कोई पृथक् वस्तु नहीं है। और समष्टि के सामान्य तत्व को ग्रहण करके तथा उसको एक विशेष समन्वय में परिणत करके ही वह उसको प्राप्त कर पाता है। यह स्पष्ट है कि जहाँ तक वह व्यक्ति सामाजिक है, वहाँ तक उसके व्यक्तिगत कल्याण के अन्तर्गत कुछ हद तक कल्याण भी समाविष्ट होगा, और उसका बौद्धिक, सौन्दर्यात्मक और नैतिक विकास अर्थात् उसके प्रकृत स्वभाव के समस्त प्रत्ययात्मक पक्ष का निर्माण स्पष्टतया ऐसे तत्त्वों से होता है, जो अन्य आत्माओं से भी सम्बन्ध रखते हैं। अतः आत्म-विकास में व्यक्ति का लक्ष्य सदैव अपनी व्यक्तिगत सत्ता को अतिक्रान्त कर जाता है। वस्तुतः अहंकार और त्याग में जो भेद है, वह उन इयत्ताओं में निहित नहीं है, जिनका प्रयोग किया जाता है, अपितु उन विविध प्रयोगों में है, जो उनके लिये किये जाते हैं, और मैं इस बात की व्याख्या करने का प्रयत्न करूँगा।

नैतिक अहंकार में प्रयुक्त सामग्री कहीं से भी उपलब्ध की जा सकती है, और उसका सम्बन्ध किसी भी जगत् से हो सकता है, अधिकांशतः वे संभवतः ऐसे लक्ष्यों की पूर्ति अवश्य करेंगे, जो स्पष्टतः मेरे जीवन को अतिक्रान्त कर जाते हैं। परन्तु जब इन तत्वों का प्रयोग करने में, मैं अपने अन्तर्गत महत्तम तंत्र के विचार से प्रेरित होता हूँ, तो अहंकार हो जाता है। दूसरे शब्दों में यदि सामग्री के चयन और माप में मेरी व्यक्तिगत पूर्णता के विकास को मानदण्ड के रूप में प्रयुक्त किया गया हो, तो मेरा आचरण स्पष्टतया त्याग नहीं होगा, और संभवतः उसका विरोधी भी हो, परन्तु यदि किसी लक्ष्य का अनुसरण करने में मेरे व्यक्तित्व को कुछ क्षति होती है, तो वह त्याग है। इस लक्ष्य की प्राप्ति में मेरे स्व के लिए कुछ विघ्न, कुछ ह्रास अथवा क्षति प्राप्त होती है। सामाजिक उद्देश्यों के लिए यह संभव है कि मैं परोपकार में अपने कल्याण को त्याग दूँ, अथवा अपने को किसी ऐसे परोपकार के कार्य में लगा

दूँ जिससे कि मेरा स्वास्थ्य और समन्वय बिगड़ता हो, जहाँ कहीं नैतिक लक्ष्यों से व्यक्तिगत कल्याण को क्षति पहुँचती है, तो वह त्याग है, चाहे हमारा जीवन परार्थ हो या नहीं ।[१]

परन्तु, त्याग, दूसरी ओर, आत्म-साक्षात्कार का एक रूप भी है, जो एक विस्तृत लक्ष्य बनाया जाता है । वह ज्ञात अथवा अज्ञात रूप से प्राप्त होता है, और उस प्रयत्न और सिद्धि में, मैं अपने व्यक्तिगत कल्याण को पाता हूँ ।

ससीम रूप में मेरी आत्मा का यह आवश्यक स्वभाव है कि वह एक साथ ही समान रूप से अहंकार और त्याग को अपनाये हुए है, और इसलिए त्याग और स्वार्थ-सिद्धि दोनों ही लक्ष्य समान रूप से मेरे अपने हैं । यदि हम किसी रूपक को उसकी सत्य और स्वाभाविक सीमा से बहुत अधिक बाहर ले जाने के लिए तैयार हों, तो हम संभवतः इस भेद को इस प्रकार दिखा सकते हैं । अहंकार में अंगी सबसे पहले अपना विकास सोचता है, और उस उद्देश्य से वह सभी अंगों के सामान्य जीवन से सामग्री ग्रहण करता है । परन्तु त्याग में अंग का लक्ष्य यह होता है कि वह अपने निजी जीवन की अपेक्षा एक बृहत्तर जीवन के किसी तत्त्व को प्राप्त करना चाहता है । और उसकी प्राप्ति के लिए वह अपने अस्तित्व को क्षति पहुँचाने के लिए तैयार भी रहता है । वह व्यक्तिगत सीमित और स्थूल पूर्णता के विचार को छोड़ देता है । वह अपने को सूक्ष्म और खंडित, अति विशिष्ट, अथवा क्षीण अथवा नष्ट करने को भी इच्छुक रहता है । परन्तु इस क्षति की पूर्ति वह अपनी सीमाओं से बाहर सम्प्रसारण करके अथवा किसी विस्तृत सत् को ही अपना संकल्प बनाकर, आदर्श रूप में कर लेता है। निःसंदेह इस प्रकार वर्णित दोनों ही प्रयत्न मुख्यतः सरूप और एक होंगे। पूर्ण की अत्यधिक प्रगति उसके स्वार्थी अंगों के द्वारा होती है, क्योंकि परिपूर्ण केवल इन्हीं में प्रकट होकर सत् होता है । अंग पूर्ण होने के लिए जो कार्य करता है, उसके द्वारा भी उसका व्यक्तिगत विकास होता है, क्योंकि इस प्रकार उसको वह सामन्य वस्तु प्राप्त हो जाती है, जो उसको पूर्ण बनाने में आवश्यक होती है । परन्तु दूसरी ओर यह सामान्य सरूपता केवल सामान्य है, और निःसंदेह कुछ ऐसी भी अवस्थाएँ हैं, जिनमें यह समाप्त हो जाती है, और यहाँ पर अहंकार तथा त्याग एक-दूसरे से भिन्न होने लगते हैं, और प्रत्येक अपना अपना पृथक् स्वभाव बनाने लगता है ।

इन कर्म-पद्धतियों में से प्रत्येक 'स्व' का साक्षात्कार करती है, और उससे उच्च-

---

१. प्रस्तुत उद्देश्य के लिए मैं उस अनैतिकता अथवा त्याग की बात नहीं करता जो कि असफल प्रतीत होता है ।

तर तत्त्व का भी साक्षात्कार करती है, और मैं फिर कहूँगा कि वे दोनों ही समान रूप से सद्गुणात्मक तथा औचित्यपूर्ण हैं। यदि व्यक्ति का अपने प्रति कोई कर्त्तव्य नहीं है, तो वह और किसके लिए कोई कर्त्तव्य रखे? अथवा क्या यह सचमुच माना जाता है, कि परिपूर्ण तत्त्व अपनी पूर्णता में पूर्ण नहीं होता, और वह कहीं पर विश्व से पृथक्, अपने निजी लाभ को ग्रहण तथा उपभोग करता रहता है? परन्तु हम देख चुके हैं कि चरम तत्त्व और ससीम सत्ताओं के बीच ऐसा कोई भेद-भाव निरर्थक है। अथवा, दूसरी ओर क्या हमको यह विश्वास दिलाया जा सकता है, कि किसी वस्तु के लिए आत्मत्याग बुद्धि के विपरीत है? परन्तु हम देख चुके हैं कि ससीम प्राणियों की सत्ता ही स्वयं-विरोधी है। उनके निजी स्वभाव में परार्थ समाविष्ट है, और उनमें से प्रत्येक पहले से ही अपने अस्तित्व के बहिर्गत होता है, और यदि यह बात है तो यह बिल्कुल असंभव और तर्क-विरुद्ध होगा कि ससीम, आत्म-साक्षात्कार करता हुआ अपनी सीमाओं का उल्लंघन भी साथ न करें। यदि एक ससीम व्यक्ति वस्तुतः स्वयं-असंगत नहीं है तो इस बात को तर्क के द्वारा सिद्ध किया जाना चाहिए। अन्यथा यह बिल्कुल स्वाभाविक और आवश्यक होता है, कि उसको पूर्णता के दो ऐसे आदर्शों का अनुसरण करना पड़े, जो परस्पर भिन्न हैं। और इन प्रयत्नों में से प्रत्येक, समान्य और सूक्ष्म रूप में समानतः शिव है। प्रत्येक प्रसंग में विशिष्ट परिस्थितियाँ ही एक-दूसरे के पक्ष में निर्णय करती हैं।

अब यह निश्चित है कि यह भिन्नता समाप्त हो जाती है और परिणाम में एकीभूत हो जाती है, क्योंकि चरम तत्त्व के बाहर कुछ भी नहीं है, और चरम तत्त्व के भीतर कुछ भी अपूर्ण नहीं है। और प्रत्यय तथा अस्तित्व के बीच असंगति से युक्ति कोई असम्पादित विषय निःसंदेह अपूर्णता है। चरम तत्त्व के प्रत्येक ससीम को वांछित पूर्णता प्राप्त हो जाती है, परन्तु दूसरी ओर वह जैसी पूर्णता चाहता है, उसको ठीक वैसी ही प्राप्त नहीं होती क्योंकि जैसा कि हमने बराबर देखा है कि ससीम न्यूनाधिक रूप में छिन्न-भिन्न हो जाता है, और इस प्रकार सम्पन्न होते-होते ही विलीन हो जाता है। यह सामान्य भाग ध्येय ही निःसन्देह शिव का लक्ष्य है। अहंकार और त्याग दोनों के ही लक्ष्य समान रूप से अगम्य होते हैं। व्यक्ति कदापि एक समन्वित तंत्र नहीं बन सकता। और जिस विशालतर आदर्श में वह स्वयं लवलीन होता है (यह लवलीनता कितनी ही कम क्यों न हो) उसको कदापि पूर्ण आत्मसिद्धि नहीं हो सकती, क्योंकि यदि हम उस आदर्श को परिपूर्ण मान लें और किसी प्रकार उसको पूर्णरूपेण प्राप्त हुआ भी मान लें, तो भी आखिरकार वह स्वयं तो पूरी तरह से उसमें लीन नहीं हो जाता है। यदि उसका असंगतिपूर्ण तत्त्व, श्रद्धा के लिए अन्तर्हित

हो जाता है, तो भी श्रद्धा का यह अर्थ तनिक भी नहीं है, कि एक खटकने वाला आभास रह जाय। और उसके व्यक्तित्व की सम्पूर्ण देन, क्षीणता में स्वयं अवश्य ही विलीन हो जायगी। और उसके साथ-साथ शिवत्व भी स्वयं अतिक्रान्त तथा अन्तर्हित हो जायगा। यह परिणाम वही निष्कर्ष है, जिसको लेकर हमारा अध्याय प्रारम्भ हुआ है, शिवत्व एक आभास है, वह प्रतीयमान है,और इसलिए स्वयं-विरुद्ध है, और इसीलिए, सत्य और सत् की मात्राओं की भाँति ही, वह एक ही मानदंडों के ऐसे दो स्वरूपों को प्रकट करता है, जो पूर्णतः सरूप नहीं होंगे। अन्त में जब प्रत्येक असंगति समन्वय में परिणत हो जाती है, तो प्रत्येक कल्पना पूर्ण हो जाती है, परन्तु जहाँ पर कुछ भी नष्ट नहीं होता, वहाँ पर प्रत्येक वस्तु, अभिवृद्धि और पुनर्व्यवस्था के द्वारा न्यूनाधिक रूप में अपने स्वभाव को बदल देती है, और तत्त्व में किसी भी अहंकार, किसी भी त्याग, किसी भी शिवत्व अथवा नैतिकता-जैसी किसी भी वस्तु में कोई सत् नहीं होता, शिवत्व विश्व का एक गौण और इसलिए एक स्वयं-विरुद्ध पक्ष है।

इतना कहने के पश्चात्, यह ठीक होता कि हम आगे बढ़ते, परन्तु कुछ पाठकों के लिए मैं शिवत्व के सापेक्षिक स्वरूप का कुछ और अधिक विचार करूँगा। बहुत-से अंग्रेज आचार-शास्त्री आँख मूँदकर यह मान लेते हैं, कि शिवत्व अन्तिम और चरम है, क्योंकि जहाँ तक तत्त्वज्ञान का सम्बन्ध है, वे लोग अयोग्य हैं, और धर्म में, जिसके प्रति संभवतः उनकी मान्यता और श्रद्धा है, नैतिकता स्वयं गौण है। इसलिए ऐसे किसी भी तथ्य से उनको कुछ भी संकेत प्राप्त नहीं होता। वे उस मत से अनभिज्ञ हैं, जिसके अनुसार सभी ससीम वस्तुएँ विभिन्न मात्राओं में सत् और सत्य हो सकती हैं, और जिसके अनुसार साथ ही उनमें से कोई भी अन्तिम नहीं हो सकती, और जब उसको विशिष्ट करने वाले आभास एक-दूसरे से टकराते हैं, तो वे भी यह नहीं समझ सकते कि परि-पूर्ण सुसंगत हो सकता है। प्रत्येक पृथक् आभास से, उसको एक सापेक्षिक न मानकर, चरम मानते हुए, चिपके रहने के लिए, वे इनमें से प्रत्येक को उस आंशिक स्वरूप में नियत कर देते हैं, जो कि असत् और असत्य होता है। और एकीभूत होने में तत्त्वतः रूपान्तरित हो जाने वाले, इस प्रकार के एकांगी पृथक्करणों को वे अन्तिम और मूल तथ्य समझते हैं। इस प्रकार शिवत्व में, अहंकार और त्याग दोनों के ही लक्ष्य, स्वयं के साथ और दूसरे के साथ भी असंगत हो जाते हैं। वे खंड-सत्य होते हैं, जिनमें से कोई भी निज रूप में अन्तिम सत्य नहीं होता। परन्तु ठीक इन्हीं सापेक्षिक पक्षों को सामान्य आचारशास्त्री, प्रत्येक को स्वयं सत् मानता हुआ स्वीकार करता है, और इस प्रकार विस्मय और भूल की एक अन्धकारपूर्ण उलझन उत्पन्न हो जाती है। इसका विस्तार पूर्वक अनुसरण करना, मेरा काम नहीं है, और इससे भी कम मेरी इच्छा है, परन्तु

संभवतः संक्षेप में इस पर कुछ और विचार कर लेना लाभदायक हो सकता है।

सर्वप्रथम एक ऐसी वात है, जो स्पष्ट होनी चाहिए, परन्तु जो कि प्रायः भुला दी जाती है। शिवत्व अन्ततोगत्वा स्वयं-संगत और सत् हो सकता है या नहीं, इस वात की खोज करने में, हमें केवल सद्‌गुण और स्वार्थ के बीच जो सम्बन्ध है, उसी से केवल प्रयोजन नहीं, क्योंकि, मान लीजिए, केवल हमारे अन्वेषन से ही हमें इन दोनों में भेद दिखायी देता है, परन्तु वस्तुतः कोई भेद नहीं है। परन्तु इतने पर भी हम अपनी उच्चतम इच्छा को लेकर भी, अपनी मुख्य समस्या को हल नहीं कर पाते। निःसन्देह अपने पड़ोसी का भला करना मेरे लिए उपयोगी होगा, क्योंकि अन्य किसी भी मार्ग से, मैं अपने लिए शिवतर नहीं कर सकता। और क्योंकि त्याग अथवा उदारता ही वस्तुतः एक-मात्र संभव मार्ग है, जिसके द्वारा मेरा लाभ हो सकता है। परन्तु दूसरी ओर, केवल लाभाविक्य उसको प्राप्त करने का कितना ही सन्तोपजनक साधन क्यों न हो, परन्तु उसको निःसन्देह मेरी इच्छा की पूर्ति नहीं कहा जा सकता। क्योंकि यह एक निःसन्देह वात है कि मनुष्यों की इच्छा की कोई सीमा नहीं होती। दूसरे शब्दों में, शिवत्व में, पूर्णता-प्राप्ति का एक प्रयत्न निहित है और, ससीम के लिए, उस वस्तु की खोज करना स्वाभाविक है, जिसकी तृप्ति किसी भी ससीम के द्वारा नहीं हो सकती। परन्तु, यदि यह वात है, तो केवल लाभाविक्य से मेरे शिव की प्राप्ति नहीं हो पाती। और सद्‌गुण एक परिष्कृत स्वार्थपरता के अतिरिक्त जगत् में अन्य कुछ भी नहीं है— इस वात को कितना ही क्यों न कहा जाय, परन्तु इतना कहने पर भी सद्‌गुणों को, किसी असंगतिपूर्ण और असम्भव कार्य की संज्ञा मिलने में तनिक भी कमी नहीं हो सकती। और शिवत्व, अथवा इस प्रकार के किसी असंगत लक्ष्य की प्राप्ति फिर भी स्वयं-विरुद्ध है।

और फिर, यह आवश्यक प्रतीत होता है, कि मैं अतिशयोक्ति में लज्जा न अनुभव करूँ, इसलिए मैं कुछ स्पष्ट सत्यों की ओर अपने पाठकों का ध्यान आकर्पित करूँगा। ऐसा कोई भी वर्त्तमान सामाजिक संगठन नहीं है, जो अपने व्यक्तियों के लिए एक अपूर्ण शिवत्व के अतिरिक्त अन्य कुछ भी प्राप्त करता हो, और उन सभी में त्याग का लक्षण होता है, एक सैद्धान्तिक असफलता का तथ्य। परन्तु एक काल्पनिक समाज तक में (जैसा कि श्री स्पेंसर के 'न्यू जेरुसलम' में वतलाया गया है) एक विचारहीन अंध-विश्वास के लिये ही अशिव का लोप होता है, क्योंकि यह भूलना सरल नहीं है कि, ससीम प्राणी भौतिक दृष्टि से दुर्घटना के शिकार होते हैं, और न यह विश्वास करना सरल है कि उनकी यह स्वाभाविक विशेपता किसी प्रकार से दूर हो सकती है। और, इस प्रकार और किसी अवस्था में, किसी संस्था के सदस्य अनिवार्यतः न्यूनाधिक रूप

में परिपूर्ण के निमित्त बलिदान हो जायेंगे, क्योंकि वे न्यूनाधिक रूप में अपने कार्य में विशिष्ट बना दिये जायेंगे, और इसका अभिप्राय यह है कि वे, किसी हद तक, एकांगी और संकीर्ण कर दिये जायेंगे, और यदि यह बात होगी, तो उनकी व्यक्तिगत सत्ता का समन्वय अनिवार्यतः किसी अंश में क्षीण हो जायगा। और वह उस समय फिर क्षीण होगा, जब कि व्यक्ति किसी कलात्मक अथवा बौद्धिक कार्य में रत हो जाता है। दूसरी ओर, 'न्यू-जेरूसलम' में भी, किसी व्यक्ति का लक्ष्य केवल अपना ही 'शिव' होता है, तो वह, फिर भी अपूर्णता और असफलता को मानों पहले ही वरण कर लेता है, क्योंकि एक दोषपूर्ण और अस्थायी स्वाभाविक आधार पर, वह एक समन्वित तंत्र बनाने का प्रयत्न करता है, और इस कारण से निरर्थक होने वाला उसका कार्य, एक दूसरे कारण से, और भी अधिक निरर्थक हो जाता है। वह अपनी ससीम परिधि के भीतर एक समन्वयशील परिपूर्ण का निर्माण करना चाहता है, जब कि जिस सामग्री का उसे प्रयोग करना पड़ता है, उनमें कोई स्वाभाविक सीमा नहीं, अपितु वे अनिश्चित रूप से अपने से परे एक अनन्त सम्बन्ध-जगत् में प्रसारित होते हैं। और, यदि यह बात है, तो एक बार फिर हम उसी परिचित सत्य पर आ जाते हैं कि मानवीय परिपूर्णता-जैसी कोई भी संभावना नहीं है, परन्तु, यदि यह बात हो तो परिपूर्ण को अनिवार्यतः लक्ष्य बनाने के कारण, शिवत्व अपने तत्त्व रूप में स्वयं असंगत होगा और अन्ततोगत्वा असत् होगा। वह एक एकांगी और सापेक्षिक आभास है और कोई अन्तिम सत् नहीं।

परन्तु, सापेक्षिकता की यह कल्पना, चाहे शिवत्व के प्रसंग में हो अथवा किसी अन्य नाम-रूप के प्रसंग में, प्रचलित दर्शन शास्त्र इससे आँख ही मूँद लेता है। उसके लिए, प्रत्येक वस्तु या तो एक भ्रान्ति होने से कुछ भी नहीं है, अथवा, इसके विपरीत, वह एक तथ्य है, और अस्तित्ववान् होने के कारण ही सत् है। प्रचलित विचार-धारा के लिए इस सब का कुछ भी अर्थ नहीं होता, कि—सापेक्षिक सत्ताओं के तंत्र को छोड़कर अन्यत्र कहीं भी सत् का आभास नहीं हो सकता, इस तंत्र से पृथक् ग्रहण किये जाने पर, कई आभास एक-दूसरे के और स्वयं अपने भी विरुद्ध होते हैं। फिर भी, इन संघर्षयुक्त तत्त्वों के क्षेत्र से बाहर, न किसी वस्तु का अस्तित्व है और न हो सकता है। और, यदि आभास अपरिहार्य रूप से स्वयं असंगत न होते, तो वे संभवतः सत् के आभास नहीं हो पाते। सामान्य समझ किसी ऐसे तथ्य की कल्पना को नहीं स्वीकार कर सकती जो एक सत् न हो, अथवा गम्भीर आलोचना के रूप में, वह ऐसे सावधानी-पूर्ण प्रश्न और सन्देह प्रस्तुत करती, जो कट्टरता की दृष्टि से उसके स्थूलतम पूर्वाग्रह होकर सत्य में परिणत हो जाते हैं। इन दुर्बलताओं का सबसे अच्छा निर्देशन साधारण

आचार-शास्त्र के उस दृष्टिकोण में मिलता है, जो वह शिवत्व की आवश्यक असंगतियों के प्रति रखता है। इन असंगतियों का अस्तित्व इसी लिए है, कि शिवत्व आत्यंतिक नहीं है, और शिवत्व को जब तक आभास नहीं मान लिया जाता, तब तक उनका समाधान असम्भव है,—इस प्रकार दृष्टि से प्रायः आँख मूँद ली जाती है, और न यही प्रश्न किया जाता है कि परस्पर विरोधी अहंकार और त्याग में से प्रत्येक, भीतर से असंगतिपूर्ण होकर तर्कशून्य तो नहीं है? परन्तु, पद्धति यह है, कि पहले चुपचाप यह मान लिया जाय, कि प्रत्येक विपरीत-तत्त्व सुनिश्चित है, और वह अपने से परे नहीं पहुँचेगा। और इस आधार पर, दो अत्यन्तों में से एक को भ्रान्ति कह कर छोड़ दिया जाता है, अथवा दूसरा ढंग यह है, कि दोनों ही चरम और सुनिश्चित होने से, उनको बाह्य रूप में संयुक्त करने का प्रयत्न किया जाता है, अथवा किसी प्रकार उन्हें एकरूप दिखलाया जाता है। इन घटनाओं पर मैं कुछ शब्द और कहूँगा। त्याग को ही शिवत्व मानकर अहंकार को इस प्रकार पूर्णतया बहिष्कृत किया जा सकता है। परन्तु त्याग के रूप में शिवत्व स्पष्टतः आत्म-संघर्ष उपस्थित करता है, क्योंकि कोई भी आत्म-त्याग का काम किसी-न-किसी अर्थ में एक आत्म-साक्षात्कार होता है, और इस प्रकार उसमें अनिवार्यतः अहंकार का एक पक्ष आ जाता है। इसलिए केवल त्याग की प्राप्ति के रूप में, शिवत्व का वस्तुतः कोई अर्थ नहीं, क्योंकि शिवत्व का साक्षात्कार, अन्ततोगत्वा ससीम आत्माओं में ही होगा। और फिर यह कहना बिलकुल असंगतिपूर्ण मालूम पड़ता है, कि पूर्णता सदैव किसी अन्य वस्तु की पूर्णता होगी, क्योंकि इसका अभिप्राय या तो यह होगा कि कुल मिला कर शिवत्व कुछ भी नहीं है, अथवा यह कि, वह ऐसी वस्तु है जिसको प्रत्येक व्यक्ति करता है या भोगता है, फिर भी शिवत्व के रूप में नहीं, अपितु किसी अपनी बाह्य उपाधि के रूप में। दूसरे शब्दों में, इस अवस्था में शिवत्व शुभ नहीं होगा। और पहली अवस्था में, वह निश्चित कुछ भी नहीं होगा, और इसलिए 'कुछ नहीं' होगा। निःसन्देह इसका नाम शुद्ध त्याग नहीं है कि प्रत्येक व्यक्ति सर्वसाधारण-पूर्णता के लिए प्रयत्न करे, उस परिपूर्ण इकाई के हित के लिए कार्य करे, जिसका कि वह एक अंग है। अथवा, एक ऐसी राशि में वृद्धि करे जिससे उसको भी एक भाग मिलना है। हम देख चुके हैं कि यह सिद्धान्त असंगतिपूर्ण है, कि प्रत्येक व्यक्ति का लक्ष्य केवल स्वार्थ से विपरीत अपने पड़ोसी का कल्याण होना चाहिए। जब इसका अर्थ अन्ततोगत्वा एक निरर्थक प्रसंग उपस्थित करता है, तो इसको शायद ही अन्तिम अथवा औचित्यपूर्ण कहा जा सके।[1]

---

१. यह कहना भी संभवतः ठीक होगा, कि न तो इस अर्थ में और न किसी अन्य अर्थ में

२—अथवा, सम्पूर्ण आत्मक्रान्ति को एक व्यर्थ की बकवाद मानकर, सामान्य आचार-शास्त्र शुद्ध अहंकार को ही एक मात्र शिवत्व मान ले। वह संभवतः यह भी कहे कि प्रत्येक की स्वार्थपरता के द्वारा ही समष्टि का हित सम्पादन सब से अच्छा होता है, परन्तु यह स्पष्ट है कि अहंकार के अन्तर्गत यह बात नहीं आती। और इसलिए उसका समावेश ठीक नहीं है, क्योंकि यदि इसका समावेश आवश्यक हो, तो फिर तुरन्त ही लक्ष्य को भी अनिवार्यतः बदलना पड़ेगा। शुद्ध अहंकार को, न कि उसके विकृत रूप को, शिवत्व माना गया था, और हमें केवल उसी का विचार रखना चाहिए। और, जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं, प्रथम तो हम यह देखते हैं कि ऐसा कोई भी शिवत्व अप्राप्य नहीं है, क्योंकि पूर्णता की एक सीमित सत्ता में प्रतीति नहीं हो सकती। भौतिक आधार न केवल आवश्यकता से अधिक अस्थिर है अपितु इयत्ताओं का सम्बन्ध भी वस्तुतः एक ऐसे जगत् से है, जो कि 'स्व' के बाहर है, और इसलिए यह असम्भव है कि उनको उसके अन्तर्गत परिपूर्ण अथवा समन्वित किया जा सके। कोई निःसन्देह अप्राप्य के निकट पहुँचने के लिए प्रयत्नशील हो सकता है। अपने भीतर ही किसी तंत्र को लक्ष्य मानकर, कोई व्यक्ति प्रयुक्त सामग्री के आवश्यक लक्ष्यों से हठात् पृथक् कर सकता है। हम इस पर विचार करके इसका प्रयोग एकांगी रूप में, और उसके अनिवार्यतः पक्षों के एक अंश मात्र में, करने के लिए प्रयत्न कर सकते हैं। परन्तु एक दूसरा पक्ष, हमारी इच्छा के विरुद्ध अभिन्न रूप से आ जाता है, और वह हमारे प्रयत्न को असंगतिशीलता से लांछित कर जाता है। इस प्रकार अधूरे ढंग से स्वहित मात्र के लिए प्रयत्न करना भी अनौचित्यपूर्ण है, क्योंकि स्वयं-मात्र अथवा शुद्ध रूप में उसका कोई अस्तित्व ही नहीं है। जब समीक्षात्मक सामान्य अनुभव से, पहले व्यक्ति के नैतिक लक्ष्य को पृथक् करके, उसका सम्पादन करने का प्रयत्न किया, तो यह उसकी एक स्वाभाविक विशेषता थी, क्योंकि गँवार लोग बहुत कुछ इसी को आलोचना कहते हैं, कि व्यक्ति के सम्बन्धों को काट देने पर भी ज्यों का त्यों रह जाता है। परन्तु, जब इस प्रकार के प्रश्न की चर्चा हो तो इसका उत्तर बिल्कल दूसरे प्रकार से देना चाहिए। व्यक्ति की स्वार्थपरता में प्रकट होने वाली इयत्ताएँ अनिवार्यतः व्यक्तिगत सीमाओं के बाहर फैल जाती हैं। अतः जो सिद्धान्त आत्महित सम्पादन का ही प्रतिपादन करता है, वह ठीक-ठीक समझे जाने पर, असंगतिपूर्ण ही ठहरता है, और जो सिद्धान्त आत्म-

---

शिवत्व की निषेधात्मक पद्धति से परिभाषा दी जा सकती है। किसी भी परिभाषा में जहाँ किसी नकारात्मक शब्द का प्रयोग हुआ है, पाठक को वहाँ विशेष रूप से किसी दोष की खोज करनी चाहिए।

खंडन करता है, वह फिर भी औचित्यपूर्ण नहीं हो सकता।[1]

३—तीसरे, अहंकार और त्याग को समान रूप से शुभ मानकर, सामान्य विचार-धारा उनको बाहर से एकत्र करने का प्रयत्न करती है। इस अवस्था में शिवत्व को इन स्वतंत्र गुणों के स्वरूप में निहित माना जाता है। दोनों को आत्मसात् करने और विलीन करने के लिए किसी तीसरे की कल्पना नहीं की जाती। इसके विपरीत, प्रत्येक का जो स्वरूप होता है, वह अपरिवर्तित रह जाता है, और वे दोनों अवशिष्ट किसी-न-किसी प्रकार एकीभूत कर दिये जाते हैं, जैसा कि हम अपने ग्रन्थ में निरन्तर देख चुके हैं, यह बात असम्भव है। यदि दो विरोधी ससीम तत्वों को कहीं भी समन्वित करना है, तो पहली शर्त यह है, कि प्रत्येक अपने निजी स्वरूप को त्याग कर उसके परे पहुँचे। दूसरे शब्दों में, पहले से ही प्रत्येक, अपनी अन्तर्निहित असंगति का समाधान करता हुआ, आत्मातिक्रान्ति करके, अपने विरूप के साथ मिल कर एक ऐसे परिणाम को उपस्थित करता है, जो दोनों से ही उच्चतर होता है। परन्तु, सामान्य आचार-शास्त्र की दृष्टि से, ऐसी अतिक्रान्ति का कोई अर्थ नहीं। इस बात को बिना किसी परीक्षा के ही मान लिया गया है कि प्रत्येक ससीम परिणाम स्वयं अपने में ही औचित्यपूर्ण है, और इसलिए, यह अपेक्षा रखता है कि प्रत्येक के साथ ही, अपने-आप में ही, परितृप्त भी हो। और, सिद्धान्त से आँख मूँद लेता है, जो कि प्रति दिन के जीवन-द्वारा होता रहता है। वहाँ कोई मनुष्य अपने ही हित में, सार्वजनिक हित को देख सकता है, और अपने ही लक्ष्य की पूर्ति में सर्वसाधारण के लक्ष्य की पूर्ति मान सकता है, क्योंकि वहाँ पर शिवत्व पहले से ही एकांगी तत्वों के निराकरण तथा अतिक्रमण में निहित होता है। वहाँ पर पहले से ही शिव को एक बाह्य संयोग नहीं, अपितु इन विरूपों की तात्त्विक एकरूपता समझा जाता है। ये परस्पर तद्रूप नहीं होते, परन्तु प्रत्येक के प्रति दूसरे का एक पक्ष होकर उसमें रहता है। संक्षेप में, शिवत्व के भीतर, पहले से ही उस काम का अपूर्ण प्रारम्भ हो जाता है, जो कि पूर्ण होने पर, हम को शिवत्व के नितान्त बाहर पहुँचा देता है। परन्तु सामान्य आचार-शास्त्र की दृष्टि के लिए, जैसा कि हमने देखा, न केवल

---

१. यदि 'हित' के स्थान पर सुख लिख दिया तो भी निष्कर्ष वही रहता है, क्योंकि सुख अनिवार्यतः दूसरी इयत्ता से सम्बन्धित है, और एकाकी अथवा दैवयोग और यदृच्छा-द्वारा एकीभूत नहीं है। कोई निःसंदेह केवल 'अपने ही' सुख का सम्पादन इस अर्थ में कर सकता है, कि वह इस आंशिक लक्ष्य को निजरूप में ही समझने या प्राप्त करने का प्रयत्न करता है। परन्तु यदि आप यह कहें कि इस लक्ष्य का ऐसा कोई पक्ष नहीं है, जो 'केवल अपने ही' का खंडन करता हो, तो यह कथन असत्य है। मेरे अनुमान में यह एक नैतिक अतिशयोक्ति है कि स्वार्थपरता का कार्य सदैव कर्ता के अतिरिक्त अन्य लोगों से भी सम्बन्ध रखता है।

स्वयं शिवत्व, अपितु उसकी विशेषताओं में से प्रत्येक चरम तत्त्व के रूप में सुनिश्चित होती है। और इस प्रकार तर्कशून्य स्वतंत्रता के साथ और वे, इस प्रकार निर्धारित होते हैं, इसलिए उनके वाह्य संयोग में शिवत्व को ढूंढ़ने का प्रयत्न किया जाता है।

प्रकट रूप में, इस अवस्था पर दो अन्तिम भलाइयों की तद्रूपता को शिवत्व कहा जा सकता है, परन्तु इन बातों को जानना कठिन है, कि इस प्रकार का कोई भी लक्ष्य अन्तिम अथवा औचित्यपूर्ण कैसे हो सकता है। दोनों तत्त्व अनिवार्यतः एकत्र हों, और साथ ही दोनों में से किसी में भी यह सम्बन्ध न हो, अथवा कोई सम्बन्ध अन्ततोगत्वा किसी ऐसी पूर्ण इकाई में निहित न हो, जो कि दोनों व्यंजकों को आश्रित और विशिष्ट करता हो,—अन्ततोगत्वा यह सब-कुछ समझ के बाहर की बात मालूम पड़ती है, परन्तु, यदि उस सम्बन्ध और उस पूर्ण के व्यंजकों का विशेषण होना है, तो यह समझ में नहीं आता, कि उनमें से कोई भी स्वयं कभी भी अन्तिम हो सकता था।[1]

संक्षेप में, स्वतन्त्र सत्ताओं का शुद्ध सम्मिलन एक ऐसी कल्पना है जो अपना खंडन स्वयं करती है, परन्तु सामान्य अनुभव को स्वभावतः इसका बिलकुल कुछ भी ज्ञान नहीं होता, इसलिए वह अपना असम्भव कार्य आँख मूंद कर करने लगता है।

वह काम यह है कि, शिवत्व के आत्यन्तिक स्वरूप की रक्षा यह दिखाकर की जाय कि उसके द्वारा प्रस्तुत असंगतियाँ अन्त में विलीन हो जाती हैं, और ये असंगति-पूर्ण विशेषताएँ, फिर भी अपने निजी स्वरूप में बनी रहती हैं, परन्तु, साधारण आचार-शास्त्र प्रायः इस कार्य को नहीं समझ पाता। अतः वह स्वार्थपरता तथा उदारता की तद्रूपता को सिद्ध करने, अथवा दूसरे शब्दों में, यह दिखलाने में प्रकट हो जाता है, कि त्याग यदि नैतिक होगा, तो वह अनैतिक है, और, उसकी सम्मति में इस निष्कर्ष के निकल आने पर, प्रमुख समस्या सुलझ जायगी। यहाँ मैं यह प्रश्न नहीं करूँगा कि, इस प्रकार की किसी परिपक्वता में, उसके अन्तिम लक्ष्यों में एक या दोनों, किस सीमा तक, आश्रित हो जायेंगे, क्योंकि उसका निष्कर्ष, किसी भी अवस्था में प्रमुख समस्या को स्पर्श नहीं करता। हम पहले ही देख चुके हैं कि हमारी इच्छाएँ चाहे हमारे लिए हों या दूसरे के लिए, पूर्ण हुए बिना समाप्त नहीं होतीं। परन्तु जहाँ पर प्रत्येक व्यक्ति

---

१. यह कठिनाई उस समय भी उपस्थित होगी, जबकि साधारण नियम का निरूपण किया जायगा। दोनों ही लक्ष्यों को रहना है और आत्यन्तिक होना है और इसलिए किसी को भी दूसरे अथवा पूर्ण से विशिष्ट नहीं होना चाहिए, क्योंकि इस प्रकार विशिष्ट होने का अर्थ है अतिक्रान्त हो जाना। मैं इतना और कह दूँ कि, अन्यत्र की भाँति यहाँ भी किसी नकारात्मक कथन से कोई काम तो चलेगा नहीं, अपितु उलटे समस्या उलट जायगी। फिर भी यही कारण है, जिससे उसका स्वतः चयन हो सकता है।

अपने कट्टर सिद्धान्तों को चरितार्थ होने में असमर्थ देखकर, अन्ततोगत्वा यह विचार पद्धति पूर्ण संदेहवाद का भय उपस्थित कर सकती है। परन्तु यहाँ पर भी, एक बार पुनः यह पद्धति केवल ऐसे विषय में बात कर रही है, जिसका वस्तुतः उसे कोई ज्ञान नहीं, क्योंकि कोई सच्चा सन्देहवाद समझ के बाहर की वस्तु है। सच्चा और सत्य-शोधक सन्देहवाद अंत तक प्रश्न उपस्थित करता है, और इस परिणाम पर पहुँचता है, कि जिस बात को मानकर चले थे—परिणाम उसी में छिपा हुआ है। परन्तु सामान्य अनुभव का तथाकथित संशयवाद आद्योपांत कट्टरपंथी है। प्रथम तो वह बिना परीक्षा के यह बात मान लेता है, कि कुछ सिद्धान्त सत्य है, और फिर वह यह माँग करता है, कि कट्टरपंथी सिद्धान्तों के इस समूह में कोई समन्वय स्थापित हो। और, जब विश्व इस माँग को ठुकरा देता है, तो भी वह इन्हीं पुरानी मान्यताओं को दोहराने का आग्रह करता रहता है, और यही कट्टरपंथ, प्रतिहत तथा उलझनपूर्ण होने के कारण सन्देह-वाद की संज्ञा पाता है। परन्तु एक सच्चा सन्देहवाद प्रत्येक पूर्वाग्रह-विशेष की निर्भयता-पूर्वक आलोचना करते हुए इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि, स्वयं में, प्रत्येक ससीम असं-गति पूर्ण हो जाता है, और इस असंगतिशीलता (जो कि प्रत्येक अवस्था में एक आत्माति-क्रमण होता है) परारूढ़ होकर, इस प्रकार का सन्देहवाद ऊपर उठकर एक ऐसे पूर्ण की कल्पना करता है, जिसमें सारे ससीम एकीभूत हो जाते हैं। परन्तु जब प्रत्येक तथ्य और लक्ष्य अन्तिम अथवा औचित्यपूर्ण होने का अपना यह दावा छोड़ चुकता है, तो उस समय, औचित्य और समन्वय अपने सर्वश्रेष्ठ रूप में प्रकट होने लगते हैं। और अन्त में सन्देहवाद रचनात्मक तत्त्वविज्ञान का केवल एक पक्ष होकर शेष रह जाता है। इतना कह कर मैं प्रचलित सदाचार-शास्त्र के तर्क-शून्य अंधविश्वासों को छोड़ता हूँ।

इन बातों की चर्चा अरुचिकर अवश्य थी, परन्तु संभवतः अशिक्षाप्रद नहीं। इससे शिवत्व के स्वरूप-विषयक, हमारे सामान्य निष्कर्ष की पुष्टि हो जानी चाहिए थी। शिवत्व चरम अथवा अन्तिम नहीं है, वह केवल एक पक्ष है, वस्तुओं की प्रकृति का एक आंशिक पक्षमात्र। और वह अपनी सापेक्षिकता को एक असंगतिशीलता के द्वारा, एक सिद्धान्तगत आत्मखंडन के द्वारा, और सिद्धान्त के व्यवहार में प्राप्त पार्थक्य की ओर एक उन्मुखी-प्रवृत्ति-द्वारा, ऐसे प्रयत्न-सिद्ध विभाजन के रूप में प्रकट करता है, जो पुनः स्वयं असंगतिपूर्ण होता है, और आत्मनिष्ठ नहीं हो सकता। यों शिवत्व केवल एक आभास है, जो कि चरम तत्त्व में अतिक्रान्त हो जाता है। परन्तु, दूसरी ओर, उस चरम तत्त्व में किसी आभास का नाश न होने से, विश्व में शिवत्व एक प्रमुख और वास्तविक तत्त्व है। अपना रूपान्तर स्वीकार करके, वह अपने भावी स्वरूप को भी प्राप्त करता है, और परिणाम के अन्तर्गत सुरक्षित भी रह जाता है।

संक्षेप में, लक्ष्यों के संघर्ष पर विचार करके भी, संभवतः हम उसी निष्कर्ष पर पहुँचे। पूर्ण के भीतर प्रत्येक प्रत्यय सद्रूप हो जाना चाहिए, परन्तु, दूसरी ओर, लक्ष्यों का संघर्ष ऐसा है, कि उनका यांत्रिक संयोग पूर्णतया असम्भव है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि उनकी अन्तिम सिद्धि में, उनके स्वभावों का रूपान्तर पुनः आवश्यक है। हम एक ही साथ यह कह सकते हैं, कि उनमें से कोई भी शिव नहीं है, और फिर भी शिव है। और इन्हीं लक्ष्यों में उस तत्त्व का समावेश होना चाहिए, जिसको हम ठीक ही अशुभ कह कर तिरस्कृत करते हैं (अध्याय १७)। जो सुनिश्चित उद्देश्य शुभ के विरोध में अपनाया जाता है, वह अन्तिम लक्ष्य की प्राप्ति में सहायक होकर उससे संयुक्त हो जायगा। और जो आचरण अशुभ-मात्र प्रतीत होता है, और जिसमें किसी सुनिश्चित इयत्ता का अनुसरण और किसी प्रकार की व्यवस्था नहीं दिखायी पड़ती, वह भी उसी प्रकार शुभ हो जायगा। अपने समर्थन और अपने निषेध, दोनों के ही द्वारा वह एक चरम लक्ष्य का साधन बन जायगा। शुभ और अशुभ उसी प्रमुख परिणाम को पुनः ले आते हैं, जिसको हमने सत्य और भूल की परीक्षा करने पर पाया। अन्ततोगत्वा विरोध असत् है, परन्तु फिर भी वह निःसन्देह वास्तविक तथा प्रामाणिक है। भूल और बुराई दोनों ही तथ्य हैं और निःसन्देह प्रत्येक की मात्राएँ हैं, और कोई वस्तु शुभतर है, अथवा अशुभतर, इसका निःसन्देह चरम तत्त्व पर प्रभाव पड़ता है। और निःसन्देह जो वस्तु जितनी ही अधिक शुभतर होगी, अन्ततोगत्वा, उसकी सत्ता उतनी ही कम पूर्णतया अभिभूत होगी। परन्तु कोई भी वस्तु कितनी ही शुभ क्यों न हो, वह अन्त में ठीक वैसे ही सत् नहीं हो सकती, जैसे कि वह आभासित होती है, संक्षेप में, अशुभ और शुभ चरम तत्त्व नहीं हैं, वे सापेक्षिक तत्त्व हैं, जो पूर्ण के भीतर अपने-अपने विशिष्ट स्वभाव को सुरक्षित नहीं रख सकते। और संभवतः अब हम इस स्थापना को निश्चित मानने का साहस कर सकते हैं।

परन्तु, इन विषयों पर प्रचलित विचारधारा की असन्तोषजनक अवस्था को ध्यान में रखकर, मैं इस गवेषणा को अधिक विस्तार के साथ अनुसरण करना ठीक समझता हूँ। एक और भी अधिक परिष्कृत भाव है, जिसमें हमने अभी तक शिवत्व का निरूपण नहीं किया।[1]

---

१. नैतिकता की यह दृष्टि निःसन्देह एक परवर्ती उपज है, परन्तु मैं उसके उद्भव के विषय में कुछ भी नहीं कहना चाहता। सामान्यतः नैतिकता के उद्भव के विषय में, मैं केवल यही कहूँगा कि उसके प्रत्यक्ष सामाजिक पक्ष पर संभवतः अत्यधिक जोर दिया जा सकता है। निःसन्देह व्यक्ति को एक एकाकी बना देना नितान्त असम्भव है। परन्तु, दूसरी ओर, व्यक्तिगत संकल्प और सामाजिक संकल्प के प्रत्यक्ष तादात्म्य में ही नैतिकता का मात्र मूल समझना

यह कहा जा सकता है कि शिवत्व नैतिकता है, और नैतिकता आन्तरिक है। केवल किसी फल की प्राप्ति में ही, चाहे वह फल आत्मा के बाहर हो या भीतर, नहीं है, क्योंकि किसी भी फल के लिए यह आवश्यक है कि वह स्वभावतः प्रस्तुत तत्त्व पर अवलम्बित हो और उससे उपहित हो, और स्वाभाविक दोषों अथवा हानियों के लिए मनुष्य उत्तरदायी नहीं है। और इसलिए, अभी तक नैतिकता के सम्बन्ध में कोई भी प्राप्त परिणाम एक दैवयोग-मात्र है, क्योंकि न्यूनाधिक रूप में, अनैतिक उपाधियों-द्वारा, उसका लांछित तथा परिवर्तित होना निश्चित है। संक्षेप में, वह स्वयं मनुष्य से उद्भूत होने वाली ही एक वस्तु है, जो कि उसकी प्रशंसा अथवा निन्दा क रसकती है, और उसकी मनोदशा तथा परिस्थितियाँ उससे उद्भूत नहीं होतीं। व्यक्ति के संकल्प को, उसके पूर्णता-विषयक विचार के साथ एकरूप होने को ही नैतिकता कहते हैं। नैतिक पुरुष वह पुरुष है, जो अपने ज्ञान के अनुसार श्रेष्ठतम कर्म करने का प्रयत्न करता है। यदि जिसको वह श्रेष्ठतम समझता है, वह श्रेष्ठतम नहीं है, तो यह बात, आचार-शास्त्र की दृष्टि से यहाँ पर अनर्गल व अप्रासंगिक है। यदि वह उसके सम्पादन में अस-फल रहता है और एक प्रयत्न में ही समाप्ति कर देता है, तो यह फिर आचार-शास्त्र की दृष्टि से अप्रासंगिक है। और इसलिए हम कह सकते हैं कि ऐसे किसी निश्चित अर्थ को पा सकना कठिन होगा जिसमें विभिन्न युगों की नैतिक दृष्टि से तुलना की जा सके, अथवा जिसमें किसी काल-विशेष अथवा व्यक्ति-विशेष की नैतिकता अन्य सबकी

गलत है। जैसा कि हम कह चुके हैं, नैतिकता अपने लक्ष्य में उस तक ही सीमित नहीं है, और उसी प्रकार हम यह भी कह सकते हैं कि वह अपने प्रारम्भ में भी वही नहीं हैं। यहाँ मैं आत्म सम्मान तथा आत्मसन्तोष और आत्म-असन्तोष की ओर संकेत कर रहा हूँ। यह भावना उस समय प्रारम्भ हो जायगी जबकि प्राणी अपने विषय में, किसी अभीष्ट को माँगने या करने वाले रूप में एक धारणा बन सकता है, और इस धारणा को अपनी वास्तविक सफलता और असफलता से सम्बद्ध कर सकता है। उदाहरण के लिए अपने शिकार को पाने में असफलता, किसी पशु की असन्तोषजन्य चिन्ता, निःसंदेह, फिर भी नैतिक नहीं कही जा सकती। परन्तु फिर भी उसके अन्तर्गत तत्त्वतः व्यक्ति की वह आत्मधारणा अवश्य आ जायगी जो नैतिकता का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण तत्त्व है। और यह भावना उदासीन भाव से ऐसे किसी भी कर्म अथवा सम्प्रदान की कल्पना से अपने को सम्बद्ध कर लेती है जिसमें कि सफलता वांछनीय हो। यदि मैं ऐसी किसी भी कल्पना के अनुरूप अपने को समझता या अनुभव करना चाहता हूँ, और, यदि यह बात ताश के खेल तक ही सीमित हो, तो भी मैं अपना अनुमोदन और सम्मान करता हूँ, क्योंकि, जैसा कि हम देख चुके हैं, अनुमोदन सर्वदा नैतिक नहीं होता और, मूलतः भी, वह प्रत्यक्ष रूप से सर्वथा सामाजिक नहीं होता, परन्तु इस विषय की जिस विस्तार के साथ चर्चा करना योग्य है वह यहाँ संभव नहीं।

नैतिकता से ऊपर हो, क्योंकि जो भी श्रेष्ठतम प्रतीत हो उसके साथ एक संकल्पात्मक तादात्म्य की तीव्रता में शिवत्व का ठीक-ठीक तत्त्व समाविष्ट तथा समाप्त होता हुआ प्रतीत होता है, इसी पर नैतिक उत्तरदायित्व और त्याग आश्रित है, और संभवतः इसी पर हम अपने अमरत्व की एक आशा को खड़ा करने में समर्थ हो सकते हैं।

यह एक ऐसी दृष्टि है जिसकी ओर नैतिकता अगम्य भाव से आकर्षित होती हुई प्रतीत होती है। यह बात अन्ततोगत्वा अस्वीकार-योग्य नहीं प्रतीत होती, कि किसी मनुष्य की एक-मात्र कसौटी उसका आन्तरिक संकल्प है। और यदि ऐसा कोई सिद्धान्त आत्मखंडन करता है और शिवत्व की कल्पना से ही उसकी संगति नहीं बैठती, तो इससे एक दूसरा संकेत और मिलता है कि शिवत्व एक आभास-मात्र है। हम तो यहाँ तक कह सकते हैं कि प्रस्तुत दृष्टि को अपनी असंगतियों पर अभिमान है। हम यह मान सकते हैं कि वह संभवतः और अधिक खुल्लमखुल्ला आत्मखंडन करें, क्योंकि इसके अनुसार सम्भवतः अस्तित्व उस तत्त्व के प्रत्यक्ष निषेध में ही निहित हो, जिसके बिना वह वस्तुतः कुछ भी नहीं रह जाता।[1] परन्तु वही असंगति अधिक गुप्त होते हुए भी हमारे सिद्धान्त में फिर भी निहित है, क्योंकि आखिरकार संकल्प कुछ-न-कुछ अवश्य करेगा, और जो करेगा, वही उसका लक्षण होगा, जब कि दूसरी ओर, वह जो कुछ करता है उसका स्वरूप उस पर निर्भर होता है, जो उसके सामने प्रस्तुत होता है। और हमें दो घातक परिणामों में से एक को चुनना पड़ेगा, क्योंकि या तो कोई जो-कुछ करता है, उससे कोई वास्ता नहीं होगा, अथवा शुभ 'संकल्प' के अतिरिक्त और ऊपर किसी अन्य तत्त्व को शिव मानना पड़ेगा।

पहले मैं कुछ शब्द नैतिक सदाचार (Moral desert) के विषय में कहूँगा। यदि इसका अर्थ यह है कि इनसे परे कहीं अन्यत्र शुभाशुभ का कोई फल मिलता है तो यह वाक्य असंगतिपूर्ण है, क्योंकि यदि पुण्य और सुख में कोई तात्त्विक सम्बन्ध है, तो पुण्य की पुनः ऐसी परिभाषा होनी चाहिए जिसके अन्तर्गत उसका समस्त सारांश आ जाय। परन्तु दूसरी ओर, यदि सम्बन्ध केवल बाह्य है तो ठीक-ठीक किस अर्थ में, हम उसे नैतिक कह सकते हैं? या तो हमें सदाचार की कल्पना को छोड़ देना चाहिए, अथवा उसे बदल देना चाहिए, अन्यथा हमें नैतिक शुभत्व की अपनी आत्यंतिक कल्पना का कायापलट करना पड़ेगा।

प्रथम तो सामान्य नैतिकता से इसका एकदम विरोध है। मैं इस तथ्य की ओर

---

१. एथिकल स्टिज ऐसे—४।

संकेत नहीं करता कि हम सामान्य जीवन में उन सभी मानवीय गुणों को स्वीकार करते हैं जो हमें वांछनीय प्रतीत होते हैं। सौन्दर्य, सम्पत्ति, शक्ति, स्वास्थ्य और सौभाग्य प्रत्येक वस्तु और संभवतः प्रत्येक वस्तु से भी अधिक, हम जिसे मानवीय विशेषता कहते हैं—को हम प्रशंसनीय पाते हैं और उनको हम स्वीकार करते हैं। परन्तु ऐसी स्वीकृतियों तथा उनकी विपरीत स्वीकृतियों का नैतिक औचित्य उपस्थित करने के लिए संभवतः हम उद्यत नहीं होंगे। और इस बात को अभी यहीं छोड़कर हम पूर्णतया उन गुणों पर ध्यान देंगे जिनको सब लोग नैतिक गुण कहते हैं। ये जीवन के वे सामान्य गुण हैं जिनके आधार पर व्यक्तियों का मूल्याँकन होता है, और वे स्पष्टतः बहुत कुछ मनोदशा तथा पालन-पोषण पर निर्भर होते हैं। और, उनको व्यक्तिगत संकल्प से सम्बद्ध न कर सकने के कारण ही, अथवा केवल इसी सीमा तक अस्वीकार कर देना एक भयंकर विरोधाभास होगा। यदि यह ठीक भी हो, तो कम-से-कम यह साधारण नैतिकता के प्रतिकूल होगा।

और जब हम इस सिद्धान्त की परीक्षा करते हैं, तो हमें वह सारहीन प्रतीत होता है। इसका उद्देश्य मनुष्य को केवल उन गुणों से युक्त मानना है जो उसके संकल्प से प्रसूत होते हैं, और वह वस्तुतः कुछ भी नहीं है, क्योंकि संकल्प-प्रसूत परिणामों में ऐसी कोई सामग्री नहीं, जो किसी प्राकृतिक स्रोत से न आती हो और समस्त परिणाम चाहे उद्भव की अवस्था में हो, अथवा वास्तविक घटना अथवा अवसान की अवस्था में, प्राकृतिक तत्त्वों से सर्वत्र उपहित तथा विशिष्ट रहता है। नैतिक मनुष्य को सर्व-शक्तिमान् तथा सर्वज्ञ नहीं होने दिया जाता, यदि वह केवल उतना ही करता है जितना वह जानता है, तभी वह नैतिक दृष्टि से परिपूर्ण है। परन्तु जब शारीरिक या मानसिक दौर्बल्य या रोग उसके प्रयत्न में बाधक हो रहे हों, तो वह इसे कैसे कर सकता है? और कि 'प्राकृतिक' देन का सहारा लिये बिना, वह प्रयत्न भी कैसे कर सकता है? ऐसी कोई भी कल्पना मनोवैज्ञानिक दृष्टि से बेतुकी है और यदि दो भिन्न व्यक्तियों को ले, जिनमें से एक बाहरी और भीतरी साधनों से सम्पन्न हो और दूसरा तदनुसारी बाधाओं से बोझिल हो, और इनका मूल्यांकन करने में यदि किंचित् भेद भी न करें, तो हम कहाँ पहुँचेंगे? परन्तु यदि हम कोई भेद करते हैं तो हमारे सिद्धान्त का सार तत्त्व छूटता है, क्योंकि उस अवस्था में नैतिक मनुष्य केवल वही मनुष्य नहीं होगा जो अपने ज्ञान के अनुसार ही संकल्प करता है। तो परिणाम यह होगा कि हमें नैतिकता में किसी बाह्य देन अथवा सहायता का योग मानना पड़ेगा। और जब हम नैतिक ज्ञान पर विचार करने लगते हैं तब भी हमें कोई कम कठिनाई का सामना नहीं करना पड़ता, क्योंकि एक मनुष्य को, शिक्षा अथवा स्वभाव से, दूसरे मनुष्य की अपेक्षा शुभतर

जान सकते हैं, और निःसन्देह कोई भी मनुष्य संभवतः सदैव सशुभतम[1] ज्ञान नहीं रख सकता। परन्तु एक बार फिर हम इसे स्वीकार नहीं कर सकते, हम फिर आग्रह करेंगे कि नैतिक दृष्टि से यह अप्रासंगिक है। संक्षेप में जो-कुछ कोई जानता है उससे कोई प्रयोजन नहीं और जो-कुछ कोई करता है, उससे तो और भी कोई प्रयोजन नहीं। वस्तुतः यहाँ पर शुभाशुभ का भेद जाता रहा। और नैतिक संघर्ष की तीव्रता का सहारा लेना हमारे लिए किसी काम का नहीं होगा।[2] क्योंकि एक तो वह तीव्रता प्राकृतिक परिस्थितियों के द्वारा निर्धारित होती है, और दूसरे पुण्य को निज के साथ ही एक संघर्ष करता माना जायगा। किसी मनुष्य को शुभतर बनाने के लिए आप को किसी प्रसंग में, उसकी अशुभता में वृद्धि करनी पड़ेगी, जिससे कि उसके भीतर की भिन्नता और नैतिकता और बढ़ जाय। संक्षेप में, भलाई का अभिप्राय आरम्भ में यह था कि कोई मनुष्य वही करता है जो वह कर सकता है, और अब इसका अभिप्राय केवल यह रह गया कि कोई व्यक्ति जो करता है वही करता है, अथवा यह कहो कि मनुष्य जो भी कर्म या संकल्प करता है, वह समान रूप से प्रकृति-लांछित है और नैतिकता की दृष्टि से उदासीन है। स्पष्ट शब्दों में बात यह है कि भलाई और बुराई में कोई अन्तर नहीं रह गया।

परन्तु, फिर भी संभवतः यह कहा जाय कि इस प्रकार का कोई भी निष्कर्ष नितान्त भ्रमपूर्ण होगा, क्योंकि, यद्यपि भलाई का समस्त तत्त्व बाहर से आता है, परन्तु फिर भी आत्मा अथवा संकल्प शक्ति को छाँटने का अधिकार होता है। अपनी स्वरूपात्मक क्रिया के द्वारा वह उस प्रस्तुत तत्त्व को गढ़-गढ़ाकर बदल देती है, और इस प्रकार, उस अनगढ़ प्राकृतिक वस्तु को, वह अपना तथा नैतिक कर लेती है। फिर भी दूसरी ओर हमें यह आग्रह करना होगा कि प्रत्येक कर्म आध्यात्मिक परिस्थितियों का परिणाम है।[3] आप चाहे उसके उद्भव पर विचार करें अथवा उसके परिणाम पर, पर जो स्व-

---

१. सामान्य सुखवादी दृष्टि से हम कह सकते हैं कि वह ऐसा करने की अथवा करने के पश्चात् जानने की कदापि आशा नहीं कर सकता। जिसको वह 'बाह्य-औचित्य' कहता है वह अन्ततोगत्वा मनुष्य-ग्राह्य नहीं प्रतीत होती, अथवा अधिक-से-अधिक वह केवल कर्ता की सम्मति-मात्र (वह कितनी क्यों न हो) होगी। परन्तु शिवत्व तथा सत्य के बीच जो सम्बन्ध है उसकी कोई बुद्धिगम्य दृष्टि सामान्य सुखवाद में पाने की आशा नहीं करनी चाहिए (पृष्ठ ३६०)।

२. तु० क० ऐथिकल स्टडीज पृ० २३६-४१।

३. गँवारू दृष्टि से जिसे 'स्वतन्त्र संकल्पशक्ति' कहा जाता है, वह उसे नहीं स्वीकार करेगी। उसके अनुसार, आत्मा अथवा संकल्पशक्ति, स्थूल परिस्थितियों से पृथक्, आचरण

रूपात्मक कर्म अपने भौतिक तत्त्व से निर्धारित नहीं होता उसका कोई अर्थ नहीं। और फिर यदि उसके भौतिक तत्त्व का उस कर्म में नैतिक दृष्टि से समावेश नहीं है, और यदि उसके द्वारा वह निर्धारित नहीं होता, तो, फिर क्या भलाई और बुराई के बीच कोई अन्तर रह जायगा ? चाहे आप उसके आध्यात्मिक उद्भव पर विचार करें अथवा उसके तात्त्विक स्वरूप पर, तो यह कर्म, सम्भव होने की अवस्था में, केवल स्वरूपात्मक नहीं हो सकता, और, इसलिए वह मूलतः उस पर आश्रित होगा, जिसको अनैतिक कहा गया है।

निःसन्देह, भौतिक तत्त्व से स्वतंत्र रहने वाला कोई रूप कुछ भी नहीं होता, और इसलिए अवश्य ही उसे नैतिकता कहा जा सकता । अधिक-से-अधिक उसके अन्तर्गत नैतिकता-मान्य, यदृच्छा प्राप्त इयत्ता के आधार पर उसे भले ही नैतिक रूप में प्रस्तुत किया जा सके। अतः नैतिकता घटकर आत्मानुमोदन के स्तर पर आ जाती है, जिसको ही केवल रूपात्मक कहा जा सकने के कारण असत्य मानना पड़ेगा। वह अब एक प्रकार का रिक्त अन्तःकरण-मात्र है, जिसके लिए, कर्मों को शुभ मानने की एक-मात्र कसौटी उन कर्मों में उसका अपना सम्बन्ध अथवा रुचि ही है। यहाँ पर उक्ति और तथ्य के बीच में वास्तविक सम्बन्ध नहीं रहता। यह तो भलाई का चेहरा पहने हुए वह रिक्त आत्म-संकल्प तथा आत्म-आश्वासन है जो कि व्यक्तिगत भाव अथवा यदृच्छा प्राप्त इच्छा से उत्पन्न है। और इसलिए यदि नैतिक मान्य तत्त्व में पाखंड की वृद्धि से कोई अन्तर नहीं उपस्थित होता (चाहे बुराई क्यों न हो), तो वह केवल अशुभ-मात्र ही होगा।[1] क्योंकि जो अशुभ न केवल अन्यों को अपितु स्वयं को भी शुभ नहीं मानता, वह कम-से-कम सिद्धान्त-रूप में निरर्थक आत्मपर्याप्ति तथा आत्म-संकल्प को निन्द्य ठहरा देता है। स्वयं आत्मा को सामान्यतः निर्गुण मानकर, आत्मा को किसी बाह्य

का उत्तरदायी स्रोत है। परन्तु उस पार्थक्य में ग्रहण होने पर आत्मा अथवा संकल्प-शक्ति कुछ भी नहीं रह जाती, 'स्वतंत्र संकल्पशक्ति' का अर्थ केवल संयोग-मात्र रह जाता है। यदि यह वह नहीं है, तो कम-से-कम उसके प्रतिपादक लोग यह बताने में असमर्थ हैं कि वह अन्य क्या है ? और वे स्वभावतः इस बात की चर्चा करने से हिचकते हैं कि संयोग, उत्तरदायी बनने में हमारी किस प्रकार सहायता कर सकता है। (देखिये ऐथिकल स्टडीज लेख १ और श्री स्टीफ्यून की साइंस आफ एथिक्स पृष्ठ २८२–८३) सिद्धान्त अथवा व्यवहार की दृष्टि से विचार करने पर, 'स्वतन्त्र संकल्प शक्ति' असम्भव कल्पना की प्रतिध्वनि-मात्र है। निःसन्देह कोई भी आत्म-सम्मान रखने वाला लेखक अब इस पर गम्भीरता पूर्वक विचार करने के लिये तैयार नहीं किया जा सकता। (पृष्ठ ३४८)।

१—यहाँ पर यह उल्लेखनीय है कि नैतिक दर्शन के लिए माना हुआ यह हमारा देश विदेश में पाखंड और धूर्तता का गढ़ होने के लिये विख्यात है।

शुभ से गुण ग्रहण करने के लिए खुला छोड़ दिया गया है। नैतिकता को यह स्वीकार करने के लिए बाध्य होना पड़ता है कि शुभाशुभ पूर्णतया हमारे ऊपर निर्भर नहीं है; और उस स्वीकृति के पश्चात्, वह अन्त में, स्वयं से परे पहुँच जाती है। अन्त में हम उसी परिणाम पर पहुँचते हैं जहाँ पर अनैतिक होना एक नैतिक कर्तव्य बतलाया जाता है।

नैतिक न होने को एक नैतिक कर्तव्य कहना एक विरोधाभास-सा प्रतीत होता है, परन्तु इसमें एक ऐसे सिद्धान्त की अभिव्यक्ति है, जो निरन्तर सक्रिय होता हुआ अपने को प्रकट करता रहा है। यदि आप उस पर आग्रह करें, तो विश्व का प्रत्येक पृथक् पक्ष अपने से किसी उच्चतर वस्तु की अपेक्षा करता रहेगा। और प्रत्येक, अन्य आभास की भाँति, शुभत्व में एक ऐसा तत्त्व निहित है जो व्यक्त किये जाने पर उसको आत्म-सात कर लेता है। फिर भी शुभत्व का प्रत्यावर्तन सम्भव नहीं, क्योंकि यदि वह एक बार फिर अपने को अपनी ही किसी पूर्वावस्था के सरूप कर ले, तो इसका अभिप्राय यह होगा कि वह आगे बढ़कर पुनः उसी अवस्था पर आयगी, जिस पर हम पहुँच चुके हैं। समस्या तभी हल हो सकेगी, जब कि नैतिकता की सभी विभिन्न अवस्थाएँ तथा आभास किसी उच्चतर सत्ता में समाविष्ट तथा समाश्रित हो जायेंगे। दूसरे शब्दों में नैतिकता जिस परिणाम की ओर उन्मुख हो रही है वह उससे परे है और अति नैतिक है। आइए, उन नैतिक आवश्यकताओं पर एक सामान्य दृष्टि डालें, जिनकी पूर्ति होनी चाहिए।

इनमें से, सर्वप्रथम तो, नैतिकता तथा शुभता के बीच जो विच्छेद है, उसकी समाप्ति है। हम देख चुके हैं कि प्रत्येक प्रकार का मानवीय गुण (सौन्दर्य, शक्ति, और सौभाग्य तक) निर्विवाद रूप से शुभ है। यदि हम यह कहें कि ऐसे गुणों की इच्छा अथवा स्वीकृति नहीं होती, तो यह एक व्याजोक्ति-मात्र होगी। और, आखिरकार, एक नैतिक वृत्ति के लिए ही तो सौन्दर्य एक गुण है, क्योंकि यदि हम इस बात को अस्वीकार करें, और हम केवल 'सदाचार' कहे जाने वाले आचरण को ही सद्गुण कहें तो हमारी स्थिति डावाँडोल हो जाती है। तो हमारा स्वीकृत सिद्धान्त, हमें तुरन्त ही अन्य दूसरी अस्वीकृतियों के लिए विवश कर देता है, और सद्गुण का जगत् से तब तक पलायन होता जाता है, जब तक कि उसके सद्गुणत्व का ही लोप नहीं हो जाता। वह एक ऐसे आन्तरिक केन्द्र को खोजता है, जिसमें बाह्य तत्त्वों के साथ किसी सम्बन्ध से होने वाला दोष न हो, अथवा दूसरे शब्दों में हम देख चुके हैं कि वह एक निरर्थकता का अनुसरण करता है, क्योंकि जो विशेषता केवल आन्तरिक है वह वस्तुतः कुछ है ही नहीं। इसलिए या तो हमको यह स्वीकार करना चाहिए कि भौतिक विशेषताएँ शुभ होती

हैं, अथवा हमें इतने से सन्तुष्ट हो जाना चाहिए कि सद्गुण की प्राप्ति कहीं भी नहीं हो सकती।[1] इसलिए ऐसे सद्गुण होंगे जो अधिक अथवा कम बाह्य और न्यून अथवा अधिक आन्तरिक तथा आध्यात्मिक होंगे। हमें सद्गुण के विभिन्न प्रकार, परिणाम तथा स्तर को मानना पड़ेगा। और नैतिकता को सामान्य शुभत्व का एक विशेष रूप स्वीकार करना पड़ेगा। अब वह अन्य गुणों में से एक गुण होगा जिसमें न तो अन्य सब का समावेश ही होगा और न किसी पृथक् तथा स्वतन्त्र सत्ता की सामर्थ्य ही उसमें होगी। नैतिकता उस समय तक अवस्तु सिद्ध रहेगी जब तक कि उसका आधार और प्रमुख तत्त्व स्वभाविक रूप से शुभ देन न होगी। इस प्रकार हमें विवश होकर यह मानना पड़ा है कि नैतिकता एक देन है, क्योंकि, यदि भौतिक सद्गुणों के शुभत्व को स्वीकार नहीं किया जाता, तो अन्ततोगत्वा कोई शुभत्व बिल्कुल रह ही नहीं जाता। संक्षेप में, नैतिकता को यह आवश्यक प्रतीत होता है कि प्रत्येक गुण शुभ हो, और उसके अपने जगत् तथा शुभत्व के जगत् में भेद उत्पन्न करने से, नैतिकता नष्ट हो जाती है।

अतः एक नैतिक आवश्यकता है कि प्रत्येक मानवीय गुण वस्तुतः शुभ होना चाहिए जबकि आन्तरिक जीवन के लिए साथ ही, एक उच्च श्रेणी सुरक्षित रहना चाहिए। और यह एक नैतिक माँग है कि शुभत्व की सर्वदा विजय होनी चाहिए। प्रत्येक आत्मा के भीतर दोष और विरोध का निराकरण हो जाना चाहिए। और उसके स्थान पर एक पूर्ण परिपूर्ण समन्वय होना चाहिए और निःसन्देह सम्पूर्ण अशुभ को अभिभूत करके शुभ में परिणत कर देना चाहिए। परन्तु नैतिकता की माँग का एक भिन्न पक्ष भी है। क्योंकि यदि शुभत्व को निज रूप में रहना है तो विरोध की नितान्त समाप्ति नहीं हो सकती। हम देख चुके हैं कि शुभत्व के लिए एक असंगति अनिवार्य है। इस प्रकार यदि नैतिकता को होना है, तो अशुभ की नितान्त समाप्ति नहीं हो सकती। और इसी प्रकार अहंकार और त्याग के पक्ष भी रहेंगे। वे गौण अवश्य हो जायेंगे परन्तु फिर भी, उनकी अपनी निजी विशेषताएँ पूर्णतया मिटेंगी नहीं। संक्षेप में, नैतिकता को अपने पक्षों की एक अलब्ध एकता की आवश्यकता है और, उसकी तद्विषयक विशेषता में वह स्वभावतः अपनी परिधि से बाहर एक उच्चतर प्रकार के शुभत्व में पहुँच जायगी। उसका अवसान उसमें होता है जिसको हम धर्म कहते हैं।[2]

१—यदि हम साहस जैसे किसी सद्गुण को लें और उसके नैतिक शुभत्व को (जहाँ कि वह केवल भौतिक है) अस्वीकार करें तो अन्ततोगत्वा हमें मानना पड़ेगा कि उसका शुभत्व कहीं भी नहीं है। हम यह भी देख सकते हैं कि बहुत से ऐसे सद्गुण भी होंगे, जो एक अर्थ में, केवल शुभत्व से ऊपर उठ जाते हैं। शुभ नैतिकता की दृष्टि से यह बात असम्भव है।

२—धर्म की उत्पत्ति का प्रश्न यहाँ पर अप्रासंगिक है। धर्म के दो मूल प्रतीत होते हैं, एक

मैं यह नहीं कहता कि इस उच्चतर चेतना के स्वरूप में, कोई पूर्ण समाधान मिल जाता है, क्योंकि धर्म व्यावहारिक है और इसलिए वह फिर भी शिव की कल्पना से

भय और दूसरा स्तुति अथवा समर्थन। द्वितीय को किसी उच्च अथवा नैतिक अर्थ में लेने की आवश्यकता नहीं। आश्चर्य और कौतूहल को धर्म सम्बन्धी तब तक नहीं कहा जा सकता जब तक कि वह उक्त अन्य भावों का पोषक न हो। और धर्म के इन दो मूलों में से एक तो किसी देश काल में अधिक सक्रिय हो सकता है और दूसरा किसी अन्य में। यह भाव स्वभावतः विभिन्न विषयों से समबद्ध होंगे। धर्म के उद्भव के विषय में प्रश्न करना (मानों वह उद्भव सदैव एक ही होंगे) मूलतः त्रुटिपूर्ण प्रतीत होता है।

यहाँ पर इस बात का पता लगाना अधिक प्रासंगिक होगा कि हम लोगों में धर्म का क्या अर्थ है? मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि इस प्रश्न का उत्तर तब तक नहीं हो सकता जब तक कि हम इस बात का अनुभव न कर लें कि धर्म के एक से अधिक अर्थ होंगे। इस अनेकता के एक अंश का आधार निःसन्देह मिथ्या धारणा मात्र है। जो मुख्यतः बौद्धिक अथवा मुख्यतः कलात्मक है वह सम्भवतः अन्त में धर्म के बाहर माना जायगा। परन्तु अन्त में हम एक दृढ़ता-पूर्ण असंगति पर पहुँच जाते हैं। कुछ लोग ऐसे हैं जो 'परलोक' अपना सामान्यता के साथ किसी भी व्यावहारिक सम्बन्ध को धार्मिक कहेंगे। उदाहरण के लिए, मरणोपरान्त जीवन, अथवा आत्माओं के साथ संचार की संभावना किन्हीं लोगों को तत्त्वतः धार्मिक प्रतीत होती है। और वे संभवतः यह बात न मानें कि धार्मिक भावना का सम्बन्ध हमारे 'इह' लोक के किसी पदार्थ से भी हो सकता है। कुछ खोपड़ियाँ ऐसी भी हैं जो इस बात का आग्रह करेंगी कि धर्म के लिए आपको अवश्य ही एक विशिष्ट प्रकार का सम्बन्ध रखना चाहिए। वे यह भी कहेंगे कि जहाँ आपको यह सम्बन्ध मिले, चाहे वह परलोक के विषय के प्रति हो अथवा नहीं, आप वहाँ पर धर्म देखेंगे। मरणोपरान्त जीवन अथवा प्रेत सम्बन्ध या जादू-टोने की संभावना विषयक प्रश्न वस्तुतः स्वयं तनिक भी धार्मिक नहीं। और वे कहेंगे कि संयोगवश अदृष्ट के प्रति हमारी भावनाएँ प्रायः (सदैव नहीं) धार्मिक होती हैं, इसलिए धर्म को अकारण ही अंशतः संकीर्ण तथा अंशतः विस्तृत कर दिया गया है। मैं इस अन्तिम मत को पूर्णतया ठीक मानता हूँ, और यहाँ आगे से इसके विरोधी मतों की उपेक्षा करूँगा।

अच्छा तो फिर सामान्यतः धर्म क्या है? मैं धर्म को भय, आत्मसमर्पण, स्तुति अथवा समर्थन की एक ऐसी मिश्रित भावना (वह किसी भी विषय से सम्बन्ध क्यों न रखती हो) समझता हूँ जिसमें कि एक निश्चित दृढ़ता हो और कुछ परिणाम में चिन्तन की पुट हो परन्तु साथ ही मैं यह भी कह दूँ कि धर्म में, किसी हद तक भय और समर्थन सदैव संयुक्त होंगे। धर्म में हमें भय के विषय को प्रसन्न करने, अथवा कम-से-कम अपनी इच्छाओं को उसे समर्पित करने का प्रयत्न करना होगा। उस विषय के प्रति वह आचरण समर्थित हो जाता है, और वह समर्थन उस विषय का पुनः विशेषण बन जाता है। दूसरी ओर, धर्म में समर्थन का अर्थ भक्ति है। और भक्ति तब तक संभव प्रतीत नहीं होती, जब तक कि कुछ भय न हो, वह भय केवल अजनबीपन का भय क्यों न हो। परन्तु अगर हम उसे धर्म कहना चाहते हैं तो ऐसी भावना किस मात्रा में

आक्रान्त रहता है, और इस कल्पना के सार-भाग में एक असमाहित विरोध निहित है। धर्म के भीतर फिर भी ऐसे असमाहित पक्षों को रखना पड़ता है, जिनको कि इस रूप में, संयुक्त नहीं किया जा सकता, और संक्षेप में उसका अस्तित्व, एक प्रकार शाश्वत दोलन तथा सन्धि भाव के द्वारा संभव होता है। फिर भी यह देखना है कि वह केवल नैतिकता से ऊपर किस प्रकार उठता है।

धर्म की दृष्टि से, सब-कुछ किसी श्रेष्ठतम बुद्धि की परिपूर्ण अभिव्यक्ति है।[1] और इसलिए सभी वस्तुएँ शुभ होती हैं। प्रत्येक अपूर्ण और अशुभ वस्तु, स्वयं सचेतन दुस्संकल्प, इस चरम परिणाम में समाविष्ट होकर समाश्रित हो जाती है। अतः शुभत्व और अशुभत्व उसी प्रकार दोनों ही शुभ हैं जिस प्रकार, अन्त में, मिथ्यात्व और सत्य,

---

उपस्थित होनी चाहिए? क्या उस मात्रा को ठीक-ठीक नियत किया जा सकता है? मेरे अनुमान में, हमें स्वीकार करना होगा कि यह बात सम्भव नहीं। परन्तु वह सामान्यतः वहाँ पर होती है जहाँ पर हम यह अनुभव करते हैं कि हमारी निश्चित आत्माएं तुलना में नितान्त अशक्त अथवा व्यर्थ हैं। जिस विषय की तुलना में हम अपने को कुछ भी नहीं पाते, वही हमारे भीतर धार्मिक भावना को प्रेरित करती है यदि ऐसे अनेक विषय होते हैं तो हम बहुदेववादी हो जाते हैं परन्तु यदि केवल एक ही तुलना में अन्य अवशिष्टों का कोई मूल्य नहीं रहता तो हम एकेश्वरवाद पर पहुँच जाते हैं।

इसलिए कोई भी विषय जिसके प्रसंग में सर्वाधिक भय अथवा स्तुति की भावना होती है, वह हमारी भक्ति का विषय बन जाता है और हमारे लिए देव बन जाता है। और इस विषय में निःसन्देह किसी अन्य अर्थ में देवत्व होने की आवश्यकता नहीं। जीवन में यह एक सामान्य उक्ति है कि कोई इस अथवा उस पुरुष, क्रिया अथवा विषय को ईश्वर बना लेता है, और इस प्रकार के प्रसंग में हमारा जो दृष्टिकोण है वह संभवतः धार्मिक कहा जाना चाहिए। उदाहरण के लिए, काम, वासना अथवा वात्सल्य भाव में प्रायः यही बात होती है। परन्तु ठीक उस स्थान का निर्देश कर देना जहाँ पर धर्म प्रारम्भ हो जाता है और जहाँ पर उसका अन्त होता है, संभवतः असम्भव है।

इस अध्याय में मैं धर्म को केवल उसके सर्वोच्च अर्थ में ले रहा हूँ। मैं यहाँ पर एक ऐसे परिपूर्ण विषय के प्रति भक्ति के अर्थ में उसका प्रयोग कर रहा हूँ, जो कि अत्यन्त शुभ हो। किसी स्त्री अथवा उद्योग के प्रति श्रद्धा के समान जो धर्म के अपूर्ण रूप हैं, उनका अस्तित्व साथ-साथ रह सकता है। परन्तु धर्म के इस सर्वोच्च अर्थ में, केवल एक ही विषय हो सकता है। और जब धर्म पूरी तरह से विकसित होता है, तो उसका विषय अब अवश्य ही शिव होता है, क्योंकि भयभीत होते हुए भी, हम प्रत्येक वस्तु के प्रति अपने भीतर विद्रोह अरुचि और घृणा तक की भावना को अनुभव करेंगे। उसमें वह नैतिक नहीं रह जायगा जो सभी धर्मों में होता है।

१—इस विश्वास के अन्तिम सत्य के विषय में देखिए अगला अध्याय।

दोनों को सच पाया जाता है। वे दोनों ही समान रूप से शुभ हैं, परन्तु साथ ही वे बराबर शुभ नहीं हैं। जो अशुभ होता है वह रूपान्तरित होकर नष्ट हो जाता है, जब कि विभिन्न मात्राओं में, शिवत्व अपने स्वरूप को फिर भी सुरक्षित रख सकता है। हम देख चुके हैं कि सत्य की भाँति शिवत्व भी पूर्णतया अभिभूत न होकर केवल अभाव को ही पूर्ण करवाता है। और शिवत्व के परिमाण को अपने में हमें, अपने मन में आभास के पक्ष के द्वैत तथा तीव्रता और विस्तार की अन्तिम एकरूपता को ध्यान में रखना चाहिए। परन्तु फिर भी धर्म में ससीम आत्मा अपनी पूर्णता को प्राप्त करती ही है, और इन दोनों पक्षों के पार्थक्य का अन्त तथा अभिभूत होना ही है। ससीम आत्मा केवल तभी पूर्ण नहीं होती जबकि वह परिपक्व व पूर्ण के एक अनिवार्य अंग के रूप में देखी जाती है, अपितु वह स्वयं भी इस पूर्णता को अनुभव करती है। यह विश्वास ही उसका अशुभ अभिभूत हो जाता है और उसके शुभ की अभाव-पूर्ति हो जाती है, अर्थात् ज्ञान और इच्छा में एक विराट पूर्णता में तादात्म्य हो जाता है ससीम सत्ता के लिए, परिपूर्ण के रूप में अपने विषय में, यह आत्मचेतन है। और दूसरों में वह एक बार पुनः उसी पूर्णता का साक्षात्कार करती है, क्योंकि जहाँ एक ऐसी सर्वससीम सत्ताओं से पूर्ण होता है, जो अपने को उसके तंत्र के तत्त्व अथवा सदस्य समझती है, तो वहाँ पर इस प्रकार के व्यक्तियों में अपनी निजी पूर्णता की यह चेतना होती है। उनकी पूर्णता निःसन्देह एक देन के रूप में प्राप्त होती है, परन्तु दाता के बाहर कोई सत् नहीं होता, और देन का पृथक् आदाता एक मिथ्या आभास-मात्र होता है।

परन्तु दूसरी ओर, धर्म को पूर्णतया शिवत्व के परे नहीं जाना चाहिए, और इसलिए, उसमें व्यवहार के लिए आवश्यक विरोध फिर भी बना रहता है। केवल अपना सर्वोत्तम प्रयत्न करके और अपने संकल्प को शिव के साथ एकीभूत करके ही, कोई पूर्ण को प्राप्त कर सकता है। जहाँ तक यह इस एकीभाव का अभाव होता है वहाँ तक अशुभ बना रहता है, और अशुभ रहने का अर्थ यह है कि वह अभिभूत होकर इस रूप में नितान्त नष्ट हो जाय। अतः आत्मा की आदर्श पूर्णता का उपयोग अपनी निजी अपूर्णता तथा अशुभता के प्रति द्वेष-भाव की वृद्धि में ही होता है। आत्मा एकदम पूर्ण होने के लिए प्रयत्नशील होता है, और साथ ही इस बात को जानना होता है कि उसकी परिपक्वता पहले ही सम्पन्न हो चुकी है। नैतिक सम्बन्ध एक गौण परन्तु एक सक्रिय पक्ष के रूप में सुरक्षित रहता है।

संक्षेप में, नैतिक न होने का जो नैतिक कर्त्तव्य है वही धार्मिक होने का भी कर्त्तव्य है। धर्म की दृष्टि से प्रत्येक मानवीय गुण शुभ होता है, क्योंकि वह सर्वश्रेष्ठ संकल्प-शक्ति के सत् की एक अभिव्यक्ति है। केवल अशुभ स्वयं शिव नहीं होता क्योंकि अपने

अशुभ स्वरूप में वह तल्लीन रहता है, और हम कह सकते हैं कि उस स्वरूप में, वह वस्तुतः अन्य कुछ हो जाता है। अशुभ का निःसन्देह सर्व के शुभ में योग रहता है, परन्तु उसका योग कुछ इस प्रकार का होता है कि वह सर्व के भीतर अपने निजी स्वभाव से नितान्त बदला हुआ रहता है। और जब कि स्वयं अशुभता के भीतर, किसी अर्थ में, कोई मात्रा-भेद नहीं होता, परन्तु एक दूसरे अर्थ में, निःसन्देह जो वस्तु अशुभ होती है उसमें मात्रा-भेद होता है। इसी प्रकार, शुभत्व में भी, धर्म-मात्राओं और भेदों को अक्षुण्ण रूप में सुरक्षित रखता है। प्रत्येक व्यक्ति जहाँ तक शिव है, वहाँ तक पूर्ण है। परन्तु, प्रथम तो वह जिस अनुपात में प्रस्तुत विशेषता को योगदान देता है उस अनुपात में वह शिवतर होता है, और दूसरे, वह जितनी ही अधिक तीव्रता से अपने संकल्प को सर्वपूरक शिवत्व के साथ एक रूप कर लेती है, उतना ही वह शिवतर होता है।

एक दूषित रूप-रेखा में और साधारण ढंग से मैंने धर्म के इस दावे को प्रस्तुत कर दिया है कि जिसने शिव में से विरोध का बहिष्कार कर दिया है। अब हमें यह विचार करना है कि किस सीमा तक इस प्रकार के किसी दावे को औचित्यपूर्ण कहा जा सकता है। धर्म ने जीवन के प्रत्येक पक्ष को समाविष्ट तथा समन्वित कर लिया प्रतीत होता है। वह एक ऐसा 'सर्व' प्रतीत होता है जिसमें प्रत्येक पृथक् इकाई समाविष्ट तथा व्याप्त है। परन्तु, अन्त में हम यह स्वीकार करने पर विवश हो जाते हैं कि विरोध बना रहता है, क्योंकि यदि सर्व फिर भी शिव हो तो भी वह समन्वित नहीं होता, और, यदि वह शिवत्व के परे चला गया है, तो वह हमें भी धर्म के परे ले गया है। सर्व को एकदम वस्तुतः शिव होना है, और साथ ही वस्तुतः अपने को शिव बनाना भी है। न तो उसका पूर्ण शिवत्व ही, और न पुनः उसका संघर्ष ही एक आभास के स्तर पर लाकर पटका जा सकता है। परन्तु दूसरी ओर इन दोनों पक्षों को सुसंगत ढंग से संयुक्त करना असम्भव है। और, यदि धर्म के विषय को अपूर्ण तथा ससीम माना जाय तो भी अन्तर्विरोध बना ही रह जाता है, क्योंकि यदि भक्ति-द्वारा वांछित लक्ष्य पूर्णतया सिद्ध हो जाता, तो भी भक्ति की आवश्यकता, और, इसी लिए, उसकी वास्तविकता समाप्त हो जाती। संक्षेप में, विषय के अतिरिक्त अन्य कोई आत्मा उस प्रमुख असंगति के पश्चात् रहता और, नहीं भी रहता जो कि तीव्र काम-वासना में प्राप्त होता है। प्रत्येक प्रकार का शिवत्व अपने निजी तत्वांश के पर पहुँचने के लिए अन्तप्रेरित होता है। वह एक ऐसा आभास होता है जिसकी स्थिरता दोलन के द्वारा और जिसकी स्वीकृति अधिकांशतः सन्धि-भाव पर निर्भर होती है।

धर्म का केन्द्र-स्थान उस भावना में है जिसको कि श्रद्धा कहते हैं। केवल श्रद्धा के लिए ही सर्व और व्यक्ति पूर्ण तथा शिवत्व है। श्रद्धा केवल एक ऐसे, सामान्य सत्य

को मानना-मात्र ही नहीं है जिसका कि सविस्तार परीक्षण न हुआ हो, क्योंकि निःसन्देह सैद्धान्तिक दृष्टि से वह दृष्टिकोण भी होता है। श्रद्धा एक व्यावहारिक वस्तु है, और संक्षेप में, यह एक विश्वास-निर्माण की क्रिया है, परन्तु व्यावहारिक होने के कारण ही, वह साथ ही ऐसी एक निर्माण क्रिया है जो मानो यह समझ कर चल रही हो कि अभी विश्वास नहीं है। उसका सिद्धान्त यह है कि इस बात का निश्चय कर लो कि शिवत्व का विरोध अभिभूत हो जाय। और इतना होने पर भी, ऐसे आचरण करो मानों वह वहाँ है अथवा वह वस्तुतः वही है, इसलिए उस पर आक्रमण करने का और अधिक साहस करो। और इस प्रकार का कोई सिद्धान्त, निःसन्देह स्वयं से संगति नहीं रखता, क्योंकि इसके दोनों पक्षों में से, यदि किसी को भी अत्यधिक गम्भीरता के साथ ग्रहण किया जाय, तो वह दूसरे पक्ष के लिए घातक सिद्ध होगा। परन्तु फिर भी यह आन्तरिक असंगति धर्म के सारे क्षेत्र में व्याप्त है। एक बार फिर, हम उसका उदाहरण कामवासना से देते हैं। कोई मनुष्य अपनी प्रेयसी में विश्वास करता हो, और यह अनुभव करता हो कि उस श्रद्धा के बिना उसका जीवन संभव नहीं, और साथ ही उस प्रेयसी को निरन्तर देखते रहना स्वाभाविक समझता हो, अथवा यदि वह उस प्रेयसी में विश्वास न करता हो अथवा संभवतः अपने में विश्वास न रखता हो तो संभवतः पुनः पुनः प्रणय-शपथों को कहने और सुनने की ओर भी अधिक इच्छा होती है। धार्मिक क्रियाओं में भी, इस प्रकार की आत्म-प्रवंचना, अपना कार्य करती है।

स्वभावतः इस आलोचना का अनन्त विस्तार हो सकता है, परन्तु यहाँ पर हमारे लिए प्रमुख सिद्धान्त का प्रतिपादन भर कर देना पर्याप्त होगा। धार्मिक चेतना का आधार असमन्वित विरोधों की अनुभूत एकता पर अवलम्बित है, और उनको सुसंगत रूप में या तो एकत्र करना अथवा दूसरी ओर उनका रूपान्तर कर देना धर्म के लिए असम्भव है। इसलिए सिद्धान्त में आत्मखंडन और भावना में दोलन उसके तत्वांश से अभिन्न है। उसके कट्टर सिद्धान्तों का अवसान या तो एकांगी त्रुटि में होता है अथवा बुद्धिहीन सन्धि भाव में होता है। और अपने व्यवहारों में भी, वह दो आसन्न संकटों से पूर्ण रहता है। और उसको, बिना किसी स्पष्ट दृष्टि के, अपने को प्रति-स्पर्द्धी संकटों के बीच सँभालना पड़ता है। संभवतः धर्म जगत् अथवा व्यक्ति में स्थित भेद-भाव पर अत्यधिक विचार करता है। पहली अवस्था में, वह अपनी पूर्णता और शान्ति को खो बैठता है जब कि साथ ही वह अपने निजी संकल्प तथा शिवत्व में जो भेद है उसको ही भूल सकता है। दूसरी ओर, यदि वह द्वितीय भेद-भाव पर जोर देता है, तो उसके नैतिकता मात्र के स्तर पर उतर आने की शंका उत्पन्न हो जाती है। परन्तु साथ ही यदि, उस भेद-भाव से भागकर धर्म केवल समन्वय की ही चिन्ता करता है तो भी उसकी

क्षति होती है। क्योंकि यह देखकर कि व्यक्ति और जगत् में सब-कुछ पहले से शिव है वह नैतिकता को बिल्कुल ही तिलांजलि देकर एकदम अधार्मिक बन सकता है। किसी ससीम विषय के प्रति जो भक्ति होती है वह हमें नैतिक नियमों से ऊपर उठा देती है, यह सत्य धर्म को असत्य और अनैतिक विकृतियों में बहका ले जाता है, क्योंकि, उसकी दृष्टि में, एक अर्थ में, समस्त सत् समान रूप से शिव है, इसलिए प्रत्येक कर्म पूर्णतया उदासीन हो सकता है। वह दिव्य निष्कर्मता के शान्त जगत् में अपने एकांगी जीवन के व्यर्थ स्वप्न देखा करता है। अथवा, आकस्मिक इच्छा से कर्म करने में विवश होकर वह भ्रष्ट-से-भ्रष्ट व्यवहार अथवा आचरण को भी अपनी भक्ति की रिक्त भावना से आलोकित करने का प्रयत्न कर सकता है। और यहाँ हमें फिर नैतिक पाखंड के पैशाचिक जन्म एक भ्रष्टतर रूप में पुनः प्रादूर्भुत होते हुए दिखाई पड़ते हैं। परन्तु हमें धार्मिक चेतना के विश्लेषण में उतरने की आवश्यकता नहीं। जो मनुष्य धार्मिक जीवन के पर्दे के पीछे थोड़ा-सा भी रह चुका होगा, उसने अवश्य ही अपने कुछ विद्रोह के क्षण देखे होंगे। उसको यह सन्देह करने के लिए अवश्य विवश होना पड़ा होगा कि क्या इतने खुल्लमखुल्ला अपराधों का रक्त-रंजित स्रोत और ऐसे आन्तरिक भ्रष्टाचार का जनक संभवतः शिव हो सकता है ? परन्तु जैसा कि हम देख चुके हैं कि यदि धर्म एक आवश्यकता है तो ऐसे सन्देह का निवारण हो सकता है। यदि धर्म ने, सब मिलाकर, लाभ की अपेक्षा हानि अधिक की है, तो, अन्ततोगत्वा हमारी यह समस्त गवेषणा निरर्थक सिद्ध होगी। मेरा लक्ष्य केवल यही बतलाना था कि नैतिकता की भाँति धर्म भी अन्तिम नहीं है। वह केवल एक आभास मात्र है, और इसलिए वह स्वयं के साथ असंगत है। इसलिए प्रत्येक ओर वह अपनी सीमाओं के परे हटा सकता है। परन्तु अत्यन्तों के बीच अपने को सँभालने में, धर्म जब किसी भी ओर को अपना संभार खो बैठता है, तो वह अधार्मिक हो जाता है। यदि धर्म के भीतर नैतिकता से अधिक कुछ और प्राप्त करना एक नैतिक कर्तव्य है, तो नैतिक होना, और अधिक आग्रहपूर्वक, एक धार्मिक कर्तव्य है। परन्तु इनमें से प्रत्येक ही किसी भिन्न स्तर पर, शिवत्व की एक शैली और एक अभिव्यक्ति है, और जैसा कि हम देख चुके हैं, शिवत्व चरम तत्त्व का एक स्वखंडन शील आभास है।

इसी असंगति को एक दूसरे दृष्टिकोण से भी प्रस्तुत करना ज्ञानवर्द्धक हो सकता है। धर्म में स्वभावतः मनुष्य और ईश्वर का एक सम्बन्ध निहित है। हम बराबर देख चुके हैं कि एक सम्बन्ध सदैव स्वखंडनशील होता है। इसमें सदैव ऐसे दो व्यंजक निहित होते हैं जो ससीम होते हैं और स्वतन्त्रता का दावा करते हैं, दूसरी ओर, एक सम्बन्ध का उस समय तक कोई अर्थ नहीं होता जब तक कि सम्बन्ध और सम्बन्धित वस्तुएँ

किसी सर्व के विशेषण न हों और इस असंगति का समाधान ढूँढ़ने का अर्थ होगा, सम्बन्धात्मक दृष्टिकोण से पूर्णतया ऊपर उठना। इस सामान्य निष्कर्ष की परीक्षा धर्म के क्षेत्र में तुरन्त ही हो सकती है।

एक ओर, मनुष्य एक ससीम विषयी है, जो ईश्वर से विपरीत और पृथक् है और केवल सम्बन्ध में स्थित है। और फिर भी दूसरी ओर, ईश्वर को छोड़ देने से मनुष्य केवल एक पृथक् कृति-मात्र रह जाता है। धर्म इस सत्य को देख लेता है, और वह कहता है कि ईश्वरीय अनुकम्पा से ही शिव और सत् है, अथवा यह कि, वह स्वतन्त्र होने का प्रयत्न करके, ईश्वरीय कोप से नष्ट हो जाता है। वह केवल सम्बन्ध में ही स्थित नहीं होता, अपितु अपने विपरीत के द्वारा भीतर-ही-भीतर प्रेरित भी होता है, और उस आन्तरिक क्रिया के अतिरिक्त वह निःसन्देह बिल्कुल स्थिर भी नहीं रह सकता। ईश्वर भी एक ससीम विषय है, जो मनुष्य से ऊपर और पृथक् रहता हुआ उसके संकल्प तथा बुद्धि के साथ समस्त सम्बन्धों से कुछ मुक्त-सा है। अतः यदि ईश्वर को कोई चिन्तनशील और अनुभवशील सत्ता के रूप में ग्रहण किया जाय तो उसका एक निजी व्यक्तित्व भी होता है। परन्तु, जिन सम्बन्धों से वह विशिष्ट है उनसे पृथक् कर देने पर ईश्वर एक असंगतिपूर्ण रिक्तता-मात्र रह जाता है और किसी 'अन्यत्' के साथ उसका जो सम्बन्ध है उससे विशिष्ट होकर, वह एक पथ भ्रष्ट ससीमता मात्र रह जाता है। अतः ईश्वर को पुनः इस बाह्य सम्बन्ध से परे माना जाता है। वह अपने-आपको स्वयं अपने संकल्प तथा ज्ञान का विषय बनाता है। और वह अपनी सत्ता और आत्मचेतना को मनुष्य के संयोग से प्राप्त करता है। इसलिए धर्म एक ऐसी प्रक्रिया है जिसके दो अभिन्न अंग एक-एक ओर प्रकट होते रहते हैं। वह मनुष्य और ईश्वर की एक ऐसी एकता है जो विभिन्न अवस्थाओं और रूपों में अपने को निरन्तर संकल्पता और जानता है। वह अपने को दो ऐसे विरोधी व्यंजकों में विभाजित कर देता है जिसके बीच एक सम्बन्ध रहता है। परन्तु इसके साथ-साथ ही, वह इस अस्थायी पार्थक्य को अस्वीकार करता है, और वह प्रत्येक व्यंजक में प्रति द्वितीय की आन्तरिक उपस्थिति को व्यक्त और अनुभव करता है। इस प्रकार धर्म एक व्यावहारिक दोलन में निहित है। और सैद्धान्तिक समझौते के द्वारा ही अपने को अभिव्यक्त करता है। वह संभवतः यह कहते हुए हिचकता है कि ईश्वर मानवीय भाव में ही आत्मस्नेह और आत्मभोग करता है, और वह इस कथन से भी पीछे हटता है कि प्रेम वहाँ भी हो सकता है जहाँ ईश्वर न हो, और एक साथ ही दोनों किनारों को हथियाने के प्रयत्न में वह विस्मयान्वित होकर ढुलमुल करने लगता है और एक प्रकोपीय 'शासक' के विरुद्ध किसी विद्रोही के विरोध को ही हम पाप कहते हैं। और फिर भी पापी के हृदय में, वह सम्पूर्ण सम्बन्ध भी अपने को

अनुभव करेगा और घृणा करता है, जब कि स्वयं शासक भी विरोधी भावों-द्वारा क्षुब्ध रहता है, परन्तु यह कहना कि दैवी आत्मचेतन में पाप एक आवश्यक तत्त्व है (ऐसा एक तत्त्व जो उद्भूत होता है परन्तु जो तुरन्त ही लीन हो जाता है और जिनकी इस रूप में कभी मुक्ति नहीं हो जाती) स्वयत्तः एक ऐसी बात प्रतीत होती है जो या तो मूर्खता है अथवा नास्तिकता। धर्म को ऐसी घोषणा करना अधिक अच्छा लगता है जिनको कि वह अग्राह्य समझता है। और जिनका सुधार वह तुरन्त ही ऐसी प्रति-घोषणाओं के द्वारा करता है जिनको की वह किसी प्रकार भी पहले से बेहतर नहीं पाता। उस अवस्था में वह दोनों के बीच में उस कुत्ते की भाँति आगे पीछे खींचा-खींचा घूमता है जो कुत्ता दो स्वामियों का अनुगमन करना चाहता है। विश्व में ईश्वर का जो स्थान है वह एक दूसरी असंगति है। हम यह कह सकते हैं कि धर्म में ईश्वर अपने से परे पहुँचता जाता है। वह अनिवार्यतः अपना अवसान उस चरम तत्त्व में पाता है जिसको कि धर्म ईश्वर नहीं मानता। ईश्वर चाहे कोई व्यक्ति हो या नहीं वह एक ओर एक ससीम सत्ता है और मनुष्य के लिए एक विषय। दूसरी ओर धार्मिक चेतना की साध्य परिपक्वता इन्हीं व्यंजकों की परिपूर्ण रूपता में है। और यदि यह बात है तो अन्ततोगत्वा ईश्वर के बाहर कुछ भी नहीं रह जायगा। परन्तु ईश्वर को निरन्तर दोलन तथा प्रक्रिया की परिवर्तनशील गति के रूप में समझने का कोई प्रश्न ही नहीं रह जाता। दूसरी ओर, जैसा कि हम दिखला चुके हैं, इन सभी विरोधों के समन्वय की यह माँग है कि उनके ससीम स्वरूप का परिवर्तन हो। एकता में इस प्रकार के सम्बन्ध की एक पूर्ण समाप्ति निहित है। परन्तु इस समाप्ति के साथ, अपने इस रूप में धर्म और शिवत्व भी नितान्त लुप्त हो जाते हैं। यदि आप चरम तत्त्व को ही ईश्वर मानें तो वह धर्म का ईश्वर नहीं होगा। और फिर यदि आप दोनों को अलग-अलग करें तो ईश्वर सर्व के भीतर एक ससीम तत्त्व-मात्र रह जाता है। और धर्म का प्रयत्न इसी सम्बन्ध को छिन्न-भिन्न करके समाप्त कर देना है---परन्तु फिर भी वह इस सम्बन्ध की पूर्वकल्पना करता है। अतः चरम तत्त्व से कम होकर, ईश्वर रह नहीं सकता और उस लक्ष्य को प्राप्त करके, वह समाप्त हो जाता है, और उसके साथ ही धर्म भी। यही कठिनाई धार्मिक आत्म चेतना की समस्या में प्रकट होती है। धर्म में ईश्वर को निःसन्देह आत्मचेतना होनी चाहिए, परन्तु ऐसी आत्मचेतना अत्यन्त अधूरी होती है।[1]

१—मानवीय दैवी आत्मचेतना में जो दो आत्यन्तिक छोर हैं वे किसी एक समन्वित आत्मा के रूप में पूर्णतया एकीभूत नहीं हो सकते। यहाँ पर इस प्रकार की अभिव्यक्तियों की तुलना करना मनोरंजक होगा।

यदि ईश्वर और मनुष्य के बाह्य सम्बन्ध पूर्णतया अन्तर्लीन हो जायें, तो विषयी और विषय का यह पार्थक्य भी उसके साथ दूर हो जायगा। परन्तु यदि संचेतन आत्मा अपने तत्वांश में दो असमन्वित व्यंजकों के बीच होने वाले सम्बन्धों को फिर भी बनाये रखता है तो उसकी आत्मता की एकता कहाँ रही ? संक्षेप में, अनुभूत शिवत्व की उच्चतर अभिव्यक्ति के रूप में, ईश्वर एक ऐसे अन्तर्विरोध को प्रकट करता है जिसको कि हमने उस सिद्धान्त में अन्तर्निहित पाया। प्रत्यय और अस्तित्व का पार्थक्य शिवत्व के लिए अनिवार्य होते हुए भी सत् के द्वारा निषिद्ध हो जाता है। और सत् के भीतर जो प्रक्रिया चल रही है वह स्वयं सत् नहीं है। हम यह कह सकते हैं कि जब तक ईश्वर सर्वेसर्वा नहीं हो जाता तब तक ईश्वर ईश्वर नहीं होता, और जो ईश्वर सर्वेसर्वा हो जाता है वह धर्म का ईश्वर नहीं रह जाता है। ईश्वर चरम तत्त्व का एक पक्ष है, और जिसका अभिप्राय केवल यह कि वह चरम तत्त्व का एक आभास-मात्र है।

इस अध्याय के अवशिष्ट भाग में मैं कुछ मिथ्या धारणाओं को दूर करने का प्रयत्न करूँगा। पहली मिथ्या धारणा जिसका मैं उल्लेख करूँगा, वह यथा तथ्य सम्बन्धी पुरानी उलझन है, और मैं यहाँ पर अपने पिछले अध्यायों के निष्कर्षों को ही आँशिक रूप में दोहराऊँगा। यह कहा जायगा कि, यदि धर्म आभास है, तो आत्मा और ईश्वर भ्रम-मात्र होंगे, क्योंकि वे लक्ष्य नहीं रहेंगे। यह एक ऐसा पूर्वाग्रह है जिसको सामान्य अनुभव सर्वत्र ही दर्शन के विरुद्ध प्रस्तुत करता है। सामान्य अनुभव यह मानने को बहक जाता है कि जिस प्रथम उद्धत ढंग से वह नाम-रूप की व्याख्या करता है वही अन्तिम सत्य है, और उसके इस विश्वास को न तो तर्क ही हिला सकता है, और न उसके निजी दैनिक अनुभव के निरन्तर विरोध ही। परन्तु हम देख चुके हैं,यह बहकना एक भयंकर भूल पर अपेक्षित है। निःसन्देह एक मनुष्य सर्वत्र उस अन्तिम सत् को जानता और अनुभव करता है और निःसन्देह वह अन्य किसी भी वस्तु को जानने तथा अनुभव करने में असमर्थ है। परन्तु उसको पूर्णतया और इसी रूप में जानना और अनुभव करना नितान्त असम्भव बात है, क्योंकि सम्पूर्ण ससीम सत्ता और ज्ञान मुख्यतः आभास में निहित है, अस्तित्व तथा इयत्ता नामक के दो पक्षों के पार्थक्य में स्थित है। इसलिए, यदि तथ्यों को अन्तिम और सत् होना है, तो कहीं भी अथवा किंचित भी कोई तथ्य नहीं हो सकते केवल एक ही एकाकी तथ्य होगा, और जो कि चरम होगा। परन्तु दूसरी ओर, यदि तथ्य वास्तविक ससीम घटनाओं के प्रतीक है अथवा ऐसी वस्तुओं के द्योतक हैं जिनका सारांश इसी एक दिक् और काल तक सीमित है, तो तथ्य आभास के निम्नतम तथा असत्यतम रूप माने जायेंगे। और अपने जीवन के सामान्यतम उद्योग

में, हम इस निम्न स्तर से ऊपर उठ जाते हैं। अतः इस अर्थ में, स्वयं तथ्यों को ही माया कहा जायगा।

धार्मिक चेतना में विशेषकर हमें इस प्रकार के तथ्यों से कोई वास्ता नहीं। उसके तथ्य यदि शुद्ध आन्तरिक अनुभव हों, तो वे एक ऐसी इयत्ता से ओत-प्रोत होंगे जो स्पष्टतया किसी एक दिक्-काल में सीमित नहीं की जा सकती। और सम्पूर्ण नरक और सम्पूर्ण स्वर्ग के किसी क्षण के भीतर प्रतीयमान केन्द्रीयकरण में, हमारे तथ्य की अपने निजी अस्तित्व के साथ असंगतिशीलता है, वह बलात् हमारी दृष्टि में आ जाती है। यही सत्य सभी बाह्य धार्मिक घटनाओं पर भी चरितार्थ होता है। जब तक कि यह किसी ऐसे भाव को प्रकट नहीं करते जो उनकी अनुभव-जन्य ससीमता के परे हो तब तक वे धार्मिक नहीं हो सकते। और सामान्य प्रश्न यह नहीं है कि मनुष्य के साथ ईश्वर का सम्बन्ध एक आभास है या नहीं, क्योंकि ऐसा कोई सम्बन्ध नहीं और न तथ्य है जो संभवतः इसके अतिरिक्त कुछ और हो सके। प्रश्न तो यह है कि आभास के जगत् में कहाँ पर इस प्रकार के तथ्य को स्थान दिया जाय, दूसरे शब्दों में उसके सत् और सत्य की क्या मात्रा है ?

इस प्रकार की गवेषणा में पूरी तरह से पैठना यहाँ असम्भव है। फिर भी यदि पिछले अध्याय में प्राप्त कसौटी का हम प्रयोग करें, तो हम तुरन्त देख सकते हैं कि, जो धर्म के अन्तर्गत आता है उससे अधिक वास्तविक और कुछ भी नहीं है। बाह्य अस्तित्व में हमें जो प्राप्त होता है, उसके साथ इस प्रकार के तथ्यों की तुलना करने का अभिप्राय यह होगा कि इस विषय के साथ खिलवाड़ किया जा रहा है। जो मनुष्य धार्मिक चेतना से किसी अधिक ठोस सत् की माँग करता है, वह वस्तुतः एक ऐसी वस्तु की खोज करता है जिसको वह स्वयं नहीं जानता कि क्या है। जिस रूप में वह मनुष्य और ईश्वर को अनुभव में व्यावहारिकता पाता है, उस रूप में उनकी सत्ता से असन्तुष्ट हुए उस मनुष्य को यह बात सुगम ढंग से कहने के लिए आमंत्रित किया जाना चाहिए कि अन्ततोगत्वा वह किस बात से सन्तुष्ट होगा, क्योंकि ईश्वर तथा मनुष्य, दोनों बुद्धिगम्य अस्तित्वों के रूप में, इतने विकृत हो चुकेंगे कि उनको पहिचाना भी नहीं जा सकेगा। हम कह सकते हैं कि जिस ईश्वर का अस्तित्व सम्भव हो सकता है वह निःसन्देह कोई ईश्वर नहीं हो सकता। व्यक्ति और अन्तिम इन दो सत्ताओं के रूप में, न मालूम कहाँ 'स्थित' और दोनों के 'बीच' एक सम्बन्ध को रखते हुए, मनुष्य और ईश्वर—यह संयोग जैसा कि हम देख चुके हैं, स्वयं-विरुद्ध होने से आभास-मात्र है। धर्म के भीतर यह एक, उस चरम तत्त्व को जकड़ रखने का उलझन पूर्ण प्रयत्न है, जो वस्तुतः प्राप्त होने पर, धर्म

को नष्ट कर डालता है।[1] और यह प्रयत्न अपनी ही असंगति तथा अपनी ही असफलता तथा अशांति से, एक बार पुनः यह बतलाता है कि धर्म अन्तिम तथा चरम नहीं है।

परन्तु, प्रश्न हो सकता है कि, यदि यह बात है, तो व्यवहार में परिणाम क्या रहता है? मेरा तुरन्त उत्तर होगा कि यह मेरा काम नहीं, और ऐसे ही किसी भी प्रश्न पर जो आग्रह किया जायगा उसका आधार एक हानिकर पूर्वाग्रह पर होगा। पुरातत्व-विदों का काम यह है कि वे अन्तिम सत्य का पता लगायें, और अन्य कोई वस्तु कितनी ही महत्त्वपूर्ण क्यों न हो, परन्तु उस पर विचार करने के लिए उसको आमंत्रित नहीं किया जा सकता। इंगलैंड में कला तथा विज्ञान के क्षेत्र में स्वतन्त्रता की भावना नहीं के बराबर है। व्यावहारिक परिणामों, अप्रासंगिक दुहाइयों की सुनवाई होने दी जाती है। और कला तथा विज्ञान के कुछ क्षेत्रों में तो, इस पाप का अपना निजी दण्ड भी मिल जाता है, क्योंकि हम, कायरतावश, तथा अनन्यता एवं सच्चाई के कारण, असफल रहते हैं। कोई मनुष्य ईश्वर और धर्म को केवल समझने के लिए, और अन्य किसी भी विचार तथा प्रलोभन के प्रभाव से रहित होकर ही अपनी चर्चा का विषय बनाये—यह बात हममें से बहुतों की समझ में नहीं आयगी और संभवतः ठेस भी पहुँचायगी। इसलिए इन विषयों पर अंग्रेजी विचारकों ने जो चिन्तन किया है उसके जिस-जिस क्षेत्र का किसी विदेशी संप्रदाय-द्वारा अध्ययन नहीं हुआ है वह उस क्षेत्र में सैद्धान्तिक दृष्टि से किसी काम का नहीं है। मेरे मस्तिष्क पर तो इस पूर्वाग्रह का जो प्रभाव पड़ा है वह व्यक्तिगत रूप से रुकावट डालने वाला सिद्ध हुआ है। यदि नैतिकता और धर्म में सैद्धान्तिक रुचि प्रकट करने को शिक्षक या प्रचारक बनने का प्रयत्न कहा जाय, तो मैं तो इन विषयों को ऐसे किसी भी व्यक्ति के लिए छोड़ सकता हूँ जो इस प्रकार के स्वभाव को अपने अनुकूल मानें। और, यदि मैंने इन विषयों को यहाँ छुआ, तो केवल इसलिए कि मुझसे रहा नहीं गया।

और इतना कहने के पश्चात् संभवतः यह अधिक अच्छा होता कि मैं अब और कुछ भी अधिक नहीं कहता। परन्तु व्यावहारिक प्रश्न के विषय में मैंने कोई उत्तर देने से इनकार कर दिया है, इसलिए मैं संभवतः यह बतलाने का अच्छी तरह से प्रयत्न कर सकता हूँ कि वह प्रश्न क्या है। यह स्पष्ट है कि, चाहे कितना ही कम क्यों न हो, परन्तु

---

१. इससे एक विकट स्थिति हो जाती है—यदि ईश्वर है, तो मैं नहीं हूँ और यदि मैं हूँ तो ईश्वर नहीं है। हम उस समय तक किसी सच्ची दृष्टि को प्राप्त नहीं कर सकते जब तक कि उसका प्रतिकूल रूप स्पष्ट नहीं हो जाता। उस समय बिना हिचकिचाहट के हमारा उत्तर होता है जब तक मैं भी नहीं होता, तब तक ईश्वर का भी अस्तित्व नहीं हो सकता, और यदि ईश्वर नहीं है। तो मैं निःसंदेह कुछ भी नहीं रहूँगा।

धर्म का कोई-न-कोई सिद्धान्त अवश्य होगा, और यह भी स्पष्ट है कि ऐसा सिद्धान्त अन्तिम सत्य नहीं हो सकता। और बहुत से लोग साफ-साफ कहते हैं कि इससे कम में काम नहीं चल सकता। यदि हम विज्ञानों पर विचार करें, तो हम एक इसी स्थिति में उसको भी पाते हैं, क्योंकि, जैसा कि हम देख चुके हैं, उनके मूल तत्त्व अन्ततोगत्वा स्वयं-विरुद्ध हैं। उनके सिद्धान्त केवल आँशिक रूप में सच हैं और फिर भी वे प्रामाणिक हैं, क्योंकि काम आते हैं। तो हम प्रश्न कर सकते हैं कि फिर ऐसे ही काम चलाऊ विचार धर्म के लिए पर्याप्त क्यों नहीं हैं ? बहुत सी गम्भीर कठिनाइयाँ हैं, परन्तु प्रमुख कठिनाई यह प्रतीत होती है। विज्ञान में हम यह जानते हैं उस लक्ष्य को हम अधिकाँशतः जानते हैं, और इस लक्ष्य को जानते हुए, हम उसके साधनों को जाँचने तथा मापने में समर्थ हो सकते हैं। परन्तु धर्म में, हम प्रमुख लक्ष्य के विषय में ही वस्तुतः कोई स्पष्ट कल्पना नहीं रखते और इस उलझन पूर्ण निर्णयाभाव के आधार पर, कोई तर्क-संगत चर्चा संभव नहीं हो सकती। हम धर्म के लिए वस्तुतः आवश्यक सिद्धान्तों के विषय में कोई कल्पना बनाना चाहते हैं, और हम उस लक्ष्य की परीक्षा किये बिना ही प्रारम्भ कर देते हैं जिसके लिए सिद्धान्तों की आवश्यकता है और जिसके द्वारा ही वस्तुतः उनका मूल्याँकन हो सकता है। कभी-कभी कोई मनुष्य यह देखता है कि कोई एक विश्वास अथवा विश्वास-समूह, उसके हृदय के निकट प्रतीत होते हैं। और, ऐसी स्थिति में वह तुरन्त ही जोर से चिल्ला पड़ता है कि, यदि ये सिद्धांत विशेष सच नहीं है, तो सम्पूर्ण धर्म का अन्त हो गया। और यही एक ऐसी वस्तु है जिसकी जनता प्रशंसा करती है और जिसको वह धर्म-रक्षा की संज्ञा देती है।

परन्तु यदि इस समस्या का समाधान नहीं तो कम-से-कम तर्क-संगत चर्चा भी करनी है, तो हमको सबसे पहले धर्म के तत्त्व और लक्ष्य की गवेषणा करना चाहिए। और मेरा अनुमान ठीक है कि इस गवेषणा के लिए दो वस्तुएँ अनिवार्य हैं। हमें सत्, शिवत्व और सत्य के समान्य स्वरूप के विषय में कोई सुसंगत दृष्टि बना लेनी चाहिए, और धर्म के ऐतिहासिक तथ्यों की ओर से हमें आँखें नहीं मूंद लेनी चाहिए। सबसे पहले हमें धार्मिक सत्यों के प्रयोजन के विषय में किसी निर्णय पर पहुँच जाना चाहिए। क्या समझाने के निमित्त ही उनका अस्तित्व है, अथवा किसी अन्य विषय में वे उपयोगी और सहायक सिद्ध हो सकते हैं। और, यदि दूसरी सच है, तो यह लक्ष और विषय जिसको हमें उनकी कसौटी के रूप में प्रयुक्त करना है क्या है ? यदि हम इस बात का निर्णय कर सके, तो हम इस निष्कर्ष पर पहुँच सकते हैं कि अपने से बाहर जाने वाले और अपने लक्ष से नीचे रह जाने वाले, धार्मिक सत्यों को अस्तित्ववान् होने का कोई भी अधिकार नहीं है। दूसरे फिर, यदि हम वैज्ञानिक सत्य के स्वरूप के विषय में कोई

स्पष्ट धारणा नहीं रखते तो क्या हम धर्म और विज्ञान के तथाकथित संघर्ष पर कोई तर्क संगत चर्चा कर सकते हैं ? वस्तुतः हम यह भी नहीं बता सकेंगे कि कोई संघर्ष है भी या नहीं, अथवा यह मानते हुए कि किसी संघर्ष का अस्तित्व है, हम यह बात बिल्कुल नहीं समझ पायेंगे कि उसके महत्व को कैसे आँका जाय ? और हमारा अब तक का परिणाम यह है। यदि अंग्रेज धर्मवेत्ता तत्व विज्ञान के प्रति सच्चाई का रुख रखना नहीं चाहते, तो उनको स्पष्टतः कुछ विषयों पर अज्ञानपूर्वक, नहीं तो कम से कम ज्ञान-प्राप्ति के लिए कोई गम्भीर प्रयत्न किये बिना ही, बात करनी पड़ेगी। परन्तु तत्वज्ञान के प्रति सच्चाई का रुख बना लेना संभवतः एक दो साल की बात नहीं है, और ऐसे विषय में न कोई व्यक्ति तब तक सफलता ही प्राप्त कर सकता है जब तक कि वह अपने को सौंप न दे और अन्त में मैं इस बात को स्पष्ट करूँगा कि इतिहास की ओर ध्यान देने से मेरा क्या अभिप्राय है। यदि धर्म एक व्यावहारिक वस्तु है, तो निरन्तर व्यापृति और अविकृति के प्रवाह की उपेक्षा करना पूर्णतया बेतुका होगा। परन्तु, दूसरी ओर, इतिहास एक दूसरे ही प्रकार की शिक्षाओं को प्रस्तुत करता है। यदि भूत और वर्तमान में हम किन्हीं विशेष सिद्धान्तों के अभाव में धर्म को फलता-फूलता सा देखते हैं, तो यह कोई मामूली बात नहीं है कि इन सिद्धान्तों को धर्म के लिए अनिवार्य घोषित कर दिया जाय। और बिना किसी वाद-विवाद के और केवल अन्ध भाव से ऐसी घोषणा कर देना, और किसी व्यक्तित्वशील ईश्वर की आवश्यकता के विषय में संभवतः कोई कोरी कल्पना करके चल देना, एक ऐसे विषय के साथ अशिष्ट खिलवाड़ करने के समान होगा जिसके प्रति कुछ आदर का भाव आवश्यक है।

संक्षेप में, आवश्यकता इस बात की है कि प्रश्न पर तटस्थ भाव से और साँगोपाँग रूप में विचार किया जाय। इस प्रकार हम निश्चित रूप से किसी तर्क-संगत वाद-विवाद पर पहुँचने की आशा कर सकते हैं, परन्तु यह मानने को मुझे कोई अधिकार नहीं कि इससे अधिक के लिए हमें कभी भी आशा करनी चाहिए। संभवतः धर्म के क्षेत्र में अनिवार्य से आकस्मिक का पार्थक्य केवल एक अपेक्षाकृत अधिक लम्बी और निरंकुश प्रक्रिया द्वारा ही सम्पन्न किया जा सकता है। संभवतः उसको प्रतिद्वन्द्वी मूल्यों की अंधप्रतिस्पर्धा तथा विरोधी सम्प्रदायों के बीच विद्यमान, साधारण अस्तित्व संघर्ष पर ही छोड़ देना चाहिए। परन्तु इस प्रकार के निष्कर्ष को भी बिना किसी गम्भीर परीक्षा के स्वीकार नहीं किया जाना चाहिए। और धर्म की इस व्यावहारिक समस्या पर मैं केवल इतना ही कहना चाहता हूँ।

इस अध्याय को समाप्त करते हुए, मैं एक भयंकर भूल के विरुद्ध कुछ चेतावनी दे देना चाहता हूँ। हम देख चुके हैं कि वह केवल आभास है और वह अन्तिम

नहीं हो सकता। और सम्भवतः इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि धर्म की पूर्ति ही दर्शन है और तब ज्ञान में हम एक ऐसे लक्ष्य पर पहुँच जाते हैं जिसमें वह अपनी परिपक्व अवस्था में पहुँच जाता है। यदि धर्म वस्तुतः ज्ञान होता, तो यह निष्कर्ष अवश्य ही ठीक बैठता। और जहाँ तक धर्म में ज्ञान का समावेश है हमें वह फिर भी मानना पड़ेगा। स्पष्ट है कि तत्त्वज्ञान का काम अन्तिम सत्य की चर्चा करना है, और इस प्रसंग में, स्पष्टतः उसको धर्म से ऊपर स्थान दिया जाना चाहिए। परन्तु दूसरी ओर हम देख चुके हैं कि धर्म का सार ज्ञान नहीं है। और इसका निःसन्देह यह अर्थ नहीं है कि उसका सारांश केवल भावना में ही निहित है। धर्म तो एक ऐसा प्रयत्न है जो शिवत्व के पूर्ण सत् को हमारी सत्ता के प्रत्येक पक्ष-द्वारा व्यक्त करना चाहता है। और जहाँ तक यह बात है, वह दर्शन की अपेक्षा एकदम कुछ अधिक और इसलिए कुछ ऊँचा है।

जैसा कि हम अगले अध्याय में देखेंगे दर्शन स्वयं एक आभास है। वह अन्यों में से केवल एक आभास है, और, यदि वह किसी एक दिशा में वह ऊपर उठ जाता है तो अन्य दूसरी दिशाओं में वह निःसन्देह नीचे रह जाता है। और उसकी दुर्बलता निःसन्देह इस तथ्य में निहित है कि वह केवल सैद्धान्तिक है। दर्शन को संभवतः निश्चयपूर्वक 'अधिक' बना दिया गया हो, और केवल दैवयोग से ही 'अधिक' हो, परन्तु उसका सार भाग स्पष्ट ही केवल बौद्धिक क्रिया तक ही सीमित रहेगा। अतः वह केवल चरम तत्त्व का कोई एकांगी तथा संगतिहीन आभास मात्र होगा। और, जहाँ तक दर्शन धार्मिक होगा, वहाँ तक हमको यह मान लेना चाहिए कि वह धर्म के क्षेत्र में चला गया और इस रूप में वह फिर दर्शन नहीं रह जायगा। जो लोग धार्मिक विश्वासों से असन्तुष्ट होकर सच्चाई के साथ ज्ञान की ओर आ गये हों, उनको मेरा यह सुझाव नहीं है कि उनको वहाँ अपनी अभीष्ट वस्तु नहीं मिलेगी। परन्तु जब तक कि वे उस वस्तु को अपने साथ नहीं लायें तब तक उनको न वहाँ मिलेगी, और न कहीं अन्यत्र ही। तत्त्व ज्ञान का वास्तविक धर्म से कोई सम्बन्ध नहीं है, और इन दोनों आभासों में से किसी एक को दूसरे की पूर्णता माना जा सकता है। प्रत्येक की पूर्णता चरम तत्व के अतिरिक्त अन्यत्र नहीं प्राप्त हो सकती।

———

छब्बीसवाँ अध्याय

चरम तत्त्व और उसके आभास

अब हम देख चुके हैं कि सत्य की भाँति शिव भी एक एकांगी आभास है। जब हम उस पर आग्रह करते हैं, तो इन पक्षों में प्रत्येक स्वयं को अतिक्रान्त कर जाता है। अपनी निजी गति के द्वारा, वह अपनी निजी सीमाओं से परे स्वयं को विकसित करता है और एक उच्चतर तथा सर्वात्मक सत् में विलीन हो जाता है। अब यह समय है जबकि हम अपने ग्रन्थ की समाप्ति, इस वास्तविक एकता के स्वभाव को और अधिक पूर्णता के साथ समझाकर, करने का प्रयत्न करें। हमने निःसन्देह नाम-रूप के विभिन्न क्षेत्रों के साथ न्याय करने का प्रयत्न किया है। हमने सत्य और शिव का जो रूप प्रस्तुत किया, वह केवल एक साधारण रूप-रेखा-मात्र है, और भौतिक प्रकृति तथा आत्मा की समस्या के प्रसंग में भी पहले ऐसी ही बात थी। परन्तु, ऐसे दोषों से हमें अपने को अवश्य समझौता करना पड़ेगा, क्योंकि इस पुस्तक का लक्ष्य केवल सत् के विषय में एक सामान्य दृष्टि को प्रस्तुत करना, और इस दृष्टि को और अधिक स्पष्ट और महत्त्वपूर्ण आक्षेपों से बचाना है। पूर्ण तथा निश्चित बचाव तो आभास के विभिन्न क्षेत्रों के एक व्यवस्थित विवरण -द्वारा होगा, क्योंकि केवल सम्पूरित तंत्र ही तत्व विज्ञान में इस सिद्धान्त का वास्तविक प्रमाण हो सकता है। परन्तु, इस प्रकार के किसी प्रयास को करने में असमर्थ होते हुए भी, मैं फिर भी चरम तत्त्व-विषयक अपने निष्कर्ष को और अधिक प्रमाणित करने का प्रयत्न करूँगा।

केवल एक ही सत् है और उसकी सत्ता अनुभवमय है। इस एक सर्व के भीतर सभी आभास एकत्र हो जाते हैं, और एकत्र होने में, वे, विभिन्न मात्राओं में, अपनी-अपनी विशिष्ट प्रकृतियों को खो बैठते हैं। सत् का सार अस्तित्व तथा इयत्ता की एकता एवं सहमति में निहित है, और दूसरी ओर, आभास इन दो पक्षों की असंगति में निहित है। और अन्ततोगत्वा सत्ता का सम्बन्ध एकमात्र सत् के अतिरिक्त और किसी से है, क्योंकि आप किसी ऐसी वस्तु को ले लीजिए (वह कोई भी वस्तु क्यों न हो) जो चरम तत्त्व से कम हो, तो आंतरिक असामंजस्य तुरन्त पुकार उठेगा कि जो वस्तु आपने ली है वह आभास है। तथाकथित सत्ता, अपना विभाजन करके, दो

विपरीत खंडों में पृथक्-पृथक् हो जाती है। 'किम्' और 'तद्' दो ऐसे पक्ष हैं जो सरूप-सिद्ध नहीं हो पाते, और प्रत्येक ससीम तथ्य में अन्तर्निहित यह तथ्य ही उसके ध्वंस को लाता है। जब तक इयत्ता अपने निजी प्रयोजन तथा अर्थ के अतिरिक्त, किसी अन्य वस्तु की द्योतक है, जब तक अस्तित्व अपने तात्त्विक अभिप्राय की अपेक्षा वस्तुतः न्यूनतर तथा अधिकतर रहता है, तब तक हमारा सम्बन्ध केवल आभास से ही रहेगा, और वास्तविक सत्ता से नहीं। और हमने प्रत्येक क्षेत्र में यही बात देखी कि विभिन्न पक्षों का यह असामंजस्य बना रहता है। प्रत्येक ससीम की आन्तरिक सत्ता किसी ऐसे तत्त्व पर आश्रित होती है जो बाहर हो। इसलिए हमने जहाँ-जहाँ किसी तथाकथित तथ्य पर आग्रह किया, वहीं-वहीं हमने देखा कि उस तथ्य का आभ्यंतरिक स्वभाव हमें किसी ऐसी वस्तु के भीतर लिये जा रहा है, जो स्वयं उससे बाह्य है। और यह स्वयं-विरोध समस्त अस्तित्वशील वस्तुओं की अशान्ति तथा प्रत्ययात्मकता इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि, यद्यपि इस प्रकार की वस्तुओं का अस्तित्व है, परन्तु उनकी सत्ता आभास-मात्र है।

परन्तु दूसरी ओर चरम तत्त्व के भीतर कोई भी आभास लुप्त नहीं हो सकता। सर्व की एकता में प्रत्येक का योग है और उसके लिए प्रत्येक अनिवार्य है। और इसलिए हम यह कह चुके हैं (अध्याय २५) कि प्रत्येक पक्ष का उसके निज रूप में, एक ऐसा लक्ष्य माना जा सकता है जिसके निमित्त दूसरे अस्तित्व हों। किसी भी एक पक्ष अथवा तत्व से रहित होने पर, चरम तत्त्व को निरर्थक कहा जा सकता है। और इस प्रकार, जबकि आप किसी एक ही महत्त्वपूर्ण तत्त्व को आधार बनाते हैं, दूसरे तत्त्व आपको केवल उसके अस्तित्व के आनुषंगिक साधन-मात्र प्रतीत होते हैं। निःसन्देह, इस प्रकार के दृष्टिकोण में आपकी स्थिति एकांगी तथा अस्थिर होती है। अन्य तत्त्व प्रथम तत्त्व के बाह्य साधन नहीं, अपितु उसी के भीतर निहित हैं, और इसलिए, आपका दृष्टिकोण केवल अस्थायी तथा अन्ततोगत्वा असत्य ठहरता है। फिर भी वह संभवतः उस सत्य की ओर संकेत करने में समर्थ हो सकता हो जिस पर मुझे यहाँ आग्रह करना है। चरम तत्त्व में ऐसी कोई वस्तु नहीं जो केवल आकस्मिक अथवा केवल साधक हो। कोई भी तत्त्व कितना ही गौण क्यों न हो, वह उस अपेक्षाकृत सर्व में सुरक्षित रह जाता है जिसमें उसका स्वरूप समाविष्ट होकर विलीन हो जाता है। विश्व के ऐसे प्रमुख पक्ष भी हैं जिनमें से किसी का भी अवशिष्ट पक्षों में विलय नहीं हो सकता है। इसलिए इस आधार पर, हम इन प्रमुख पक्षों के विषय में यह नहीं कह सकते कि कोई एक-दूसरे की अपेक्षा, उच्चतर अथवा शुभतर है। वे ऐसे तत्त्व हैं जो स्वतन्त्र नहीं कहे जा सकते, क्योंकि प्रत्येक को स्वयं

ही अपने छिद्रों को भरने के लिए किसी अन्य वस्तु की अपेक्षा रहती है, और क्योंकि वे सब के सब उस सर्व में अतिक्रान्त तथा अभिभूत हो जाते हैं जो उनको परिपूर्ण वनाता है। परन्तु यदि ये तत्व समान नहीं है, तो एक दूसरे के आश्रित भी नहीं है, और चरम तत्त्व के सम्वन्ध से वे सभी समान रूप से अनिवार्य और आवश्यक हैं।

प्रस्तुत अध्याय में, एक समष्टि के रूप में चरम तत्त्व की कल्पना पर मैं पुनः विचार करूँगा और इस दृष्टि से संक्षेप में उसके प्रमुख पक्षों का सर्वेक्षण करूंगा। अनुभव में जो दृष्टिकोण संभव हो सकते हैं, उनके विषय में, मैं यह दिखाने का प्रयत्न करूंगा कि सर्वोच्चता किसी की भी नहीं है। ऐसी एक भी पद्धति नहीं जिससे अन्य विशेषण रूप में सम्बद्ध हो सकें अथवा जिसमें वे विलीन हो सकें। और यह बात अवश्य दुर्बोध रहेगी कि इन विभिन्न पद्धतियों का किसी एक-मात्र एकता में कैसे एकीकरण हो सकता है। इस एकता के निश्चित स्वरूप का अन्तिम निरूपण अगले अध्याय के लिए छोड़कर, मैं यहाँ पर केवल एक दूसरे पक्ष पर जोर दूँगा। चरम तत्त्व एक अर्थ में अपने विशेष आभासों में से प्रत्येक में वर्त्तमान है और प्रत्येक में एक समान है। वह यद्यपि सर्वत्र विद्यमान है, फिर भी उसके मूल्यों और मात्राओं में विभिन्नता है। एक सरसरी तौर से मैं प्रकृति-सम्बन्धी कुछ प्रश्नों को स्पष्ट करने का प्रयत्न करूँगा और इस अध्याय को समाप्त करते हुए मैं प्रगति के अर्थ तथा मरणोपरांत व्यक्तिगत जीवन के बने रहने की संभावना के विषय में एक संक्षिप्त गवेषणा करूंगा।

सब कुछ अनुभव है, और अनुभव भी एक ही है। अगले अध्याय में मैं इस बात पर फिर विचार करूँगा कि इसमें सन्देह के लिए अवसर है या नहीं, परन्तु इस समय मैं उसको एक ऐसा सत्य मान लूँगा जो ठीक सिद्ध हो चुका है। तो प्रश्न यह होगा कि अनुभव किन प्रमुख पक्षों में पाया जाता है? सामान्यतः हम यह कह सकते हैं कि उसके दो प्रमुख रूप हैं, प्रत्यय और विचार एक ओर, संकल्प तथा इच्छा दूसरी ओर। इसके पश्चात् कलात्मक दृष्टिकोण है जो पूर्णतया इनमें से किसी भी शीर्षक के अन्तर्गत नहीं आता, और फिर सुख और दुःख है जो इन दोनों से कुछ पृथक् ही प्रतीत होते हैं। इसके बाद भाव है जो कि ऐसा शब्द है जिसे हम दो अर्थों में ग्रहण कर सकते हैं। प्रथम तो समस्त आत्मा की वह सामान्य अवस्था इससे व्यक्त होती है जो कि अभी तक उपर्युक्त विशेष पक्षों में बिलकुल व्याकृत नहीं हुई है। और इसके अतिरिक्त वह एक विशेष अवस्था को भी उस रूप में व्यक्त कर सकता है जिसमें कि वह फिर से अभिन्न एकता रखती है। इन आध्यात्मिक अवस्थाओं में से एक भी

ऐसी नहीं जो कि अन्यों में विलीन हो सके, और न उसकी एकता उनमें से किसी एक अथवा दूसरे अंश में निहित हो सकती है। उनमें से प्रत्येक अपूर्ण और एकांगी है और वाह्य सहायता की अपेक्षा करता है। हमने अधिकांशतः इस वात को पिछली चर्चाओं में पहले ही देख लिया है, परन्तु मैं यहाँ संक्षेप में उस पर पुनः दृष्टि डालूँगा और किन्ही-किन्हीं स्थानों पर प्रमाण में कुछ वृद्धि भी करूँगा। मैं चरम तत्व के आभासों की चर्चा मुख्यतः उनके आध्यात्मिक पक्ष से करना चाहता हूँ, परन्तु एक पूरी मनोवैज्ञानिक चर्चा असंभव है और उसकी शायद आवश्यकता भी नहीं है। जिस पाठक की दृष्टि मेरी दृष्टि से कुछ भिन्न हो, उससे मैं निवेदन करूँगा कि वह उन भेदों पर ध्यान तव तक न दें जव तक कि वे प्रमुख प्रमाण को प्रभावित करते प्रतीत न हों।

(१) यदि हम सवसे पहले सुख के समस्त पक्ष और दुःख पर विचार करें तो यह स्पष्ट है कि वह सत् का तत्त्व अथवा आभास नहीं हो सकता, क्योंकि हम अन्य तत्त्वों को एक के विशेषण अथवा आश्रित नहीं मान सकते और न हम, किसी प्रकार अथवा किसी अर्थ में उनको उसमें विलीन ही कर सकते हैं। यह स्पष्ट है कि सुख और दुःख एक सत् वस्तु नहीं है। परन्तु क्या वे इस रूप में, और अवशिष्ट से स्वतन्त्र होकर, तनिक सत् हो भी सकते हैं? इस वात को अस्वीकार करने के लिए भी, हमको विवश होना पड़ता है, क्योंकि सुख और दुःख परस्पर-विरोधी हैं, और जव वे सर्व के भीतर एक सुखावशेष के रूप में एकत्र होते हैं, तो क्या हमें यह निश्चय हो सकता है कि यह परिणाम ऐसा ही सुख होगा।[1] सुख और दुःख की सत्ता के विरुद्ध, एक दूसरा आक्षेप भी है जो इससे कहीं अधिक गम्भीर है, क्योंकि वे केवल पृथक् कृतियाँ हैं जिसको हम सुखद तथा दुखद पदार्थों से पृथक कर लेते हैं, और यह मान लेना कि वे उन अवस्थाओं अथवा प्रक्रियाओं से पृथक् नहीं हैं जिनसे कि वे सदैव संयुक्त होती हैं स्पष्टतः तर्क शून्य होगा। निःसन्देह स्वतन्त्र वस्तुओं के रूप में सुख और दुःख अपने ही स्वरूप का खंडन करेंगे। परन्तु यदि यह वात है, तो स्पष्ट है कि वे स्वयं सत् नहीं हो सकते, और उनकी सत्ता और सारांश अंशतः उनकी निजी सीमाओं के वाहर पड़ जायेंगे। वे केवल आभास और विश्व के एकांगी विशेषण हैं, और वे तभी सत् होते हैं, जव उस समष्टि में उनका आहरण और विलय हो जाता है।

(२) केवल सुख और दुःख को छोड़कर, हम भाव पर विचार कर सकते हैं, और भाव को मैं एक ससीम आध्यात्मिक केन्द्र की अव्यवहित एकता के अर्थ में ग्रहण

---

१. देखिए ऊपर अध्याय १० और नीचे अध्याय-२०।

करता हूँ। मेरे लिए प्रथम तो यह शब्द उस सामान्य अवस्था को बतलाता है, जो भेदों और सम्बन्धों के विकसित होने से पूर्व होती है और जहाँ पर अभी न तो किसी विषयी का अस्तित्व होता है और न विषय का। और दूसरे इसका अभिप्राय, किसी ऐसी वस्तु से है, जो कि मानसिक जीवन की किसी भी स्तर पर केवल वर्त्तमान और अस्तित्ववान् होने के अर्थ में विद्यमान होती है।[1] इस दूसरे अर्थ में, हम ऐसा कह सकते हैं कि प्रत्येक वास्तविक वस्तु, वह कुछ भी क्यों न हो, अवश्य भावगम्य हो सकती है, परन्तु हम उसको तब तक भाव नहीं कहते, जब तक कि उसको कुछ अधिक होने में असमर्थ नहीं पाते। इनमें से प्रत्येक अर्थ में, क्या भाव को सत् समझना अथवा सत् का कोई सुसंगत पक्ष समझना संभव है? इसका उत्तर हमें नकार में ही देना होगा।

भाव की एक इयत्ता होती है, और यह इयत्ता स्वयं में सुसंगत नहीं होती, और इस प्रकार की असंगति भाव की अवस्था को नष्ट और छिन्न-भिन्न कर डालती है। संक्षेप में, इस विषय को इस प्रकार कहा जा सकता है—ससीम इयत्ता अपने अस्तित्व की अव्यवहिति के साथ सुसंगत नहीं होती, क्योंकि ससीम इयत्ता अनिवार्यतः बाहर से निर्णीत होती है। उसके बाह्य सम्बन्ध (वे कितने ही निषेधात्मक रहना क्यों न चाहें) उसके तत्वांश में प्रविष्ट हो जाते हैं, और इस प्रकार उसको अपनी निजी सत्ता के बाहर खींच ले जाते हैं। और इसलिए समस्त भाव के 'किम्' की उसके 'तद्' के साथ असंगति होने के कारण वह एक आभास है, और इस रूप में वह सत्ता नहीं हो सकता। यह चंचल और असत्य स्वरूप, परिवर्तन के ठोस तथ्य के द्वारा, हमारे ध्यान में निरन्तर बलात् जाता रहता है। और, भीतर और बाहर दोनों ओर से, भाव को सम्बन्धात्मक चेतना में विलीन होने के लिए विवश होना पड़ता है। आगे की घटनाओं का वह मूल और आधार है, परन्तु वह एक ऐसा आधार है जो उनको स्वयं की निरन्तर क्षति करके ही धारण कर सकता है। अतः ठीक-ठीक इन परिणामों को उनका विशेषण नहीं कह सकते, क्योंकि उनका जीवन-भाव की एकता भंग होने में निहित है और इस एकता की पुनः स्थापना और पूर्ति चरम तत्त्व के अतिरिक्त अन्यत्र नहीं हो पाती।

(३) इसके पश्चात् हम प्रत्ययात्मक अथवा सैद्धान्तिक पक्ष को और फिर, दूसरी ओर व्यावहारिक पक्ष को ले सकते हैं। इनमें से प्रत्येक विगत दोनों पक्षों से

---

१. तुलना करो, अध्याय ९, १९, २० और २७, और 'माइन्ड'–६ मुझे आशा थी कि, मैं अन्यत्र मनोविज्ञान में 'भाव' को जो स्थान प्राप्त है, उस पर कुछ लिखूँ, परन्तु मेरा विश्वास है, कि सामान्यतः पर्याप्त कहा जा चुका है।

इस बात में भिन्न है कि इसमें भेद-भाव निहित है, और वह भी सर्वप्रथम कर्त्ता और कर्म का भेद।[1] प्रत्ययात्मक पक्ष में, आरम्भ में निःसन्देह कोई विशेष अस्तित्व नहीं होता, क्योंकि प्रथम तो वह व्यावहारिक पक्ष के संगम में प्रस्तुत किया जाता है, और वह केवल शनैः-शनैः व्याकृत होता है। परन्तु यहाँ हमें जिस बात से सम्बन्ध है, वह यह है कि उसके विशिष्ट स्वभाव को समझने का प्रयत्न किया जाय। भाव की जटिल संगति में से एक-आध तत्त्व पृथक् कर लिये जाते हैं, और वे इसके होते हुए भी स्वयं ही अपना अस्तित्व रखते हुए प्रतीत होते हैं। और ऐसे किसी भी विषय की विशिष्टता यह होती है कि उसका केवल अस्तित्व-मात्र प्रतीत होता है। यदि जिस संगति का वह सामना करता है उसको वह इस प्रकार प्रभावित करता हुआ प्रतीत हो कि जिससे वह उसको विभाजित और परिवर्तित करे, और यदि इस प्रकार का सम्बन्ध उसके स्वभाव को विशिष्ट बनाये, तो वह दृष्टिकोण व्यावहारिक होगा। परन्तु प्रत्ययात्मक सम्बन्ध पूर्णतया विषय की तात्त्विक सत्ता के बाहर माना जाता है। संक्षेप में, उसकी उपेक्षा कर दी जाती है, अथवा उसको कोई आकस्मिक या अप्रासंगिक वस्तु मान कर छोड़ दिया जाता है, क्योंकि सत्ता की जिस रूप में कल्पना की जाती है अथवा जिस रूप में उसकी प्रतीति होती है, उस रूप में उसका स्वयं केवल अस्तित्व होता है। वह प्रस्तुत हो सकता है अथवा उसकी गवेषणा की जा सकती है, उसका आविष्कार अथवा विमर्श हो सकता है, परन्तु यह-सब उसके विषय में कितना ही क्यों न हो, उसके लिए कुछ भी नहीं है, क्योंकि विषय किसी सम्बन्ध में स्थित होता है, और अवश्य ही किसी भी अर्थ में, स्वयं वह सम्बन्ध नहीं होता।

प्रत्यय या विचार-रूप सत् की यह प्रमुख असंगतिशीलता है। उसकी मूल सत्ता किसी ऐसे सम्बन्ध-द्वारा विशिष्ट होने पर अवलम्बित है, जिसकी वह अपेक्षा करने का प्रयत्न करता है। और यह एक असंगतिशीलता शीघ्र ही अपने को दो दृष्टि-बिन्दुओं से प्रकट करती है। जिस अनुभूत पृष्ठभूमि से यह सैद्धान्तिक विषय प्रादुर्भूत होता है, वह किसी प्रकार भी उसकी सत्ता में योग देने वाला नहीं माना जाता। परन्तु, प्रत्यय अथवा आलोचन के स्तर पर भी यह प्रतिज्ञा छिन्न-भिन्न हो जाती है। और, जब हम गम्भीर चिन्तन पर आते हैं, तो इस प्रकार की स्थिति स्पष्टतया नहीं रह पाती। जब जगत् की मूल सत्ता प्रापण-प्रक्रिया से भिन्न प्रतीत होती है, और अपने

१. मुझे इसमें कोई सन्देह नहीं कि इस भेद-भाव का विकास-काल के अन्तर्गत होता है देखो ('माइन्ड' संख्या -४७), परन्तु यदि हम उसको मौलिक भी मान लें, तो भी आगे के निष्कर्ष पर प्रभाव नहीं पड़ता।

में प्रमाण और प्रमाणक दोनों का समावेश किये बिना ही, जब वह निःसन्देह परिपूर्ण जगत् नहीं हो पाती, तो जगत् प्रमाणीय रूप में मुश्किल से ही स्थित माना जा सकता है। परन्तु इस अन्तिम पूर्णता को प्राप्त कर लेने पर, विषय फिर किसी भी सम्बन्ध में स्थित कदापि नहीं रह सकता, और, इसके साथ-साथ उसकी विविवत् सत्ता को एक साथ ही परिपूरित तथा विशिष्ट माना जा सकता है। प्रत्ययमूलक दृष्टिकोण पूर्णतया अपने परे पहुँच जायगा।

यदि हम दूसरी ओर से प्रारम्भ करें, तो भी हम पुनः उसी अन्तर्विरोध को प्रस्तुत कर सकते हैं। प्रतीत अथवा चिन्तित रूप में सत्ता का अस्तित्व है, और उसके निज रूप में भी उसका अस्तित्व है। परन्तु दूसरी ओर उसके 'स्व' में स्पष्टतः अन्यों के प्रति सम्बन्धों का समावेश होता है, और भीतर से वह उन अन्यों के द्वारा निर्णीत होता है, जिनसे उसको भिन्न ठहराया जाता है। अतः उसकी इयत्ता उसके अस्तित्व से बाहर खिसक जाती है, उसका किम् उसके 'तद्' से परे सम्प्रसारित हो जाता है। इस प्रकार वह अब 'अस्ति' न रह कर 'भवति' बन कर एक ऐसे आदर्श में बदल जाती है जिसमें सत्ता आभासित होती है। और यह आभास सत्ता के साथ एकरूप न होने के कारण, पूर्णतया सत्य नहीं हो सकता। अतः उसको तब तक सुधारा जाना चाहिए, जब तक कि वह अन्तिम रूप से अपनी इयत्ता में से असत्यता को निकाल नहीं देती। परन्तु प्रथम तो, यह परिष्कार केवल प्रत्ययात्मक है। वह एक ऐसी प्रक्रिया में निहित है जिसके अन्तर्गत इयत्ता अस्तित्व से पृथक् हो जाती है। अतः, यदि सत्य पूर्ण होता, तो वह सत्य नहीं होता, क्योंकि वह केवल आभास है, और दूसरे, जब तक सत्य आभास रहता है, तब तक वह सम्भवतः परिपूर्ण नहीं हो सकता। सैद्धान्तिक विषय एक ऐसी परिपक्वता की ओर प्रगतिशील होता है, जिसमें समस्त भेद और समस्त प्रत्ययात्मकता अवश्य समाप्त हो जाती है। परन्तु, जब उसकी प्राप्ति हो जाती है, तो सिद्धान्तगत दृष्टिकोण इस रूप में कवलित हो जाता है। वह एक ओर निरन्तर एक सम्बन्ध की पूर्व कल्पना करता है, और दूसरी ओर, वह एक स्वतन्त्रता का प्रतिपादन करता है, और यदि ये विरोधी पक्ष दूर हो जाते हैं, अथवा उनमें समन्वय हो जाता है तो उसका निश्चित स्वरूप चला जाता है। अतः प्रत्यय और विचार को या तो भाव की अव्यवहिति के अन्तर्गत पुनः आने का प्रयत्न करना चाहिए, अथवा अपने को एकांगी अथवा असत्य स्वीकार करके, उनको अपने से परे किसी पूरक और प्रतिरूप में अपनी पूर्णता की खोज करना चाहिए।

(४) इतनी चर्चा के पश्चात् हम स्वभावतः वस्तुओं के व्यावहारिक पक्ष पर विचार करने की स्थिति में हो जाते हैं। यहाँ भी, पहले की तरह ही, हमें एक विषय,

भाव की केन्द्रीय संगति से विपरीत और भिन्न, कोई वस्तु मिलना चाहिए। परन्तु, इस प्रसंग में सम्बन्ध अपने को तत्त्वीय रूप में प्रकट करता है, और फिर वह विरोध रूप में अनुभव किया जाता है। विषय को एक प्रत्ययात्मक परिवर्तन का संकेत मिलता है, और इस संकेत का भाव-केन्द्र के द्वारा वहिष्कार नहीं किया जाता, और, मेरे भीतर, इस प्रत्ययात्मक विकार के स्वयं विकृत होने और इस प्रकार स्वयं विषय-रूप में व्यावहारिक दृष्टिकोण का प्रमुख सारांश इसी प्रकार का है, और उसकी एकांगिता तथा अपर्याप्ति दोनों ही एक साथ स्पष्ट हो जाती हैं, क्योंकि वह एक ऐसे भेद के परिपूरण में निहित है जिसको उत्पन्न करने की उसमें कोई शक्ति नहीं, और जिसके एक बार परिपूरित हो जाने पर, व्यावहारिक दृष्टिकोण का पूरा परिहार हो जाता है। संकल्प से निःसन्देह न केवल प्रत्यय उत्पन्न होते हैं, अपितु वास्तविक अस्तित्व भी। परन्तु अपने प्रस्थान-विन्दु तथा तात्त्विक अस्तित्व के लिए वह प्रत्ययात्मक तथा शुद्ध आभास पर अवलम्बित है, और जिस समन्वय को वह उत्पन्न करता है वह सदैव ससीम, और, इसलिए, अपूर्ण तथा अस्थिर होता है। और यदि ऐसा न होता, और यदि प्रत्ययगत तथा अस्तित्वगत दोनों एक ही हो जाते हैं, तो उन दोनों के वीच का सम्वन्ध विलीन हो जाता, और इस रूप में संकल्प तिरोहित हो गया होता। इस प्रकार, समस्त अवशिष्ट दृष्टियों की भाँति, व्यावहारिक दृष्टि भी सत्ता न होकर केवल आभास है।[1] और इस परिणाम के साथ, संकल्प-विषयक कुछ

---

१. पिछले अध्याय में हम पहले ही शिवत्व के अन्तर्विरोधों की चर्चा कर चुके हैं। इच्छा और संकल्प के विषय में देखिए 'माइन्ड' संख्या ४९। तुलना करो, संख्या ४३, जहाँ मैंने निश्चय के अर्थ पर कुछ कहा है। निःसन्देह ऐसे अवसर होते हैं जव कि प्रत्यय अस्तित्व रूप में वस्तुतः नहीं आ पाता, और जहाँ फिर भी केवल निश्चय ही नहीं, अपितु संकल्प की वात करना ठीक होता है। ऐसे वे प्रसंग हैं, जिनमें मैं, अपनी मृत्यु के उपरान्त कुछ घटित होने की इच्छा करता हूँ अथवा जहाँ कि मैं किसी ऐसे काम को करने की इच्छा करता हूँ जिसके सम्पादन में मैं असमर्थ हूँ। यहाँ पर प्रक्रिया निःसन्देह अपूर्ण रहती है, परन्तु फिर भी उसको ठीक ही संकल्प कहा जा सकता है, क्योंकि प्रत्यय की गति अस्तित्व की ओर वस्तुतः प्रारम्भ हो जाती है। वह अपने वाह्य अथवा आन्तरिक मार्ग पर इस प्रकार चल पड़ती है कि उसकी स्मृति तुरन्त हो जाती रहती है। इसी प्रकार जव वन्दूक के घोड़े को दवाया जाता है, और संभवतः जव वह गिर भी पड़ता है, तो एक झूठा फायर कार्य को अधूरा छोड़ देती है, परन्तु हम फिर भी यह कहते हैं कि हमने फायर किया। दूसरी ओर केवल निश्चय-मात्र में, प्रत्यय की निजी इयत्ता की वर्त्तमान साक्षात्कार के साथ असंगतिशीलता स्वीकार की जाती है। और इसलिए वर्त्तमान तथ्य का सीधा लक्ष्य न रखने वाले, अपितु उसकी कल्पना के किसी प्रत्ययात्मक परिपूर्णन से ही सन्तुष्ट होने वाले निश्चय को संकल्प नहीं कहा जाना चाहिए। प्रक्रिया न केवल अधूरी रह

मूलों की चर्चा को किसी अन्य स्थान के लिए छोड़कर, हम आगे बढ़ सकते हैं, क्योंकि संकल्प के अन्तर्गत वह भेद निहित और पूर्व-कल्पित है जो कि प्रत्यय और विचार में किया जाता है, इसलिए हमें यह प्रश्न करने की शायद ही आवश्यकता हो कि उसमें इनकी अपेक्षा अधिक सत्ता है अथवा कम।

(५) सौन्दर्यवादी दृष्टिकोण में, अन्त में हम अस्तित्व से प्रत्यय के विरोध को अतिक्रान्त करते हुए, और सम्बन्धात्मक चेतना को अभिभूत करके उसके ऊपर उठते हुए प्रतीत हो सकते हैं, क्योंकि सौन्दर्यवादी दृष्टि भाव की अव्यवहिति को बनाए रखती हुई प्रतीत होती है और उसमें एक निश्चित स्वरूप वाला विषय भी होता है, परन्तु फिर भी वह एक स्वयं-भू विषय होता है और केवल प्रत्ययात्मक नहीं। जगत् का यह पक्ष हमें एक ऐसे ढंग से सन्तुष्ट करता है जो, सिद्धान्त अथवा व्यव-हार-द्वारा, अप्राप्य होता है, और यह स्पष्ट है कि उसको किसी अन्य पक्ष में परिणत और विलीन नहीं किया जा सकता। फिर भी, जब उसको और संकीर्ण रूप में विचार-रते हैं, तो उसके दोष पक्के हो जाते हैं। यह समस्याओं का कोई हल नहीं, क्योंकि न तो यह सत्ता के दावे को ही पूरा कर पाता है और न अपने ही।

जो कलात्मक है उसको सामान्य रूप में स्वयंभू-भावात्मक कहा जा सकता है। वह सब-का-सब, ठीक, सुन्दर तथा असुन्दर के दो शीर्षकों के अन्तर्गत मुश्किल से आ सकेगा, परन्तु प्रस्तुत प्रयोजन के लिए उसको ऐसा हो सकने वाला मानना ही सुविधाजनक होगा। चरम तत्त्व के भीतर, भूल और बुराई के समान, असुन्दरता के भी अभिभूत एवं आत्मसात् हो जाने के कारण, हम यहाँ अपने ध्यान को पूर्णतया सौन्दर्य पर ही केन्द्रित कर सकते हैं।

सौन्दर्य स्वयंभू सुखद है। निःसन्देह अपने निजी सुख को भोगने वाला यह स्वयंभू नहीं है, क्योंकि, जहाँ तक समझ में आता है वहाँ तक उसे सुन्दर होने की बिलकुल आवश्यकता नहीं। परन्तु, सुन्दर को स्वयंभू होना आवश्यक है, और उसकी सत्ता यथार्थतः स्वतन्त्र होना चाहिए। इसलिए उसका अस्तित्व एक व्यक्ति के रूप में होना चाहिए, और केवल प्रत्यय में नहीं। विचार और विचार-प्रक्रियाएँ तक सुन्दर हो सकती हैं, परन्तु तभी, जब वे स्वयं-सीमित-सी हों, और, एक प्रकार से, अनुभवार्य आभासित हों। परन्तु, सुन्दर को पुनःएक विषयक होना चाहिए।

जाती है, अपितु वह अस्तित्व के प्रत्यक्ष मार्ग से जान-बूझ कर पीछे और विमुख हो जाती है यदि आप निश्चय को किसी मनोदशा की अवतारणा-मात्र मानें, तो उसको आन्तरिक संकल्प की एक अवस्था माना जा सकता है। परन्तु इस अवस्था में संकल्प निश्चय की उत्पत्ति है, न कि स्वयं निश्चय।

उसका मेरे मन से कुछ सम्बन्ध होना चाहिए, और पुनः उसमें एक व्याकृत प्रत्ययात्मक इयत्ता होनी चाहिये। हम यह नहीं कह सकते कि केवल भाव सुन्दर होता है, यद्यपि किसी मिश्रित सर्व में हम भाव तथा सौन्दर्य के एकीभूत पक्ष पा सकते हैं। और सबसे अन्तिम बात यह है कि सौन्दर्य को वस्तुतः सुखद होना चाहिए। परन्तु, यदि यह बात है, तो फिर उसकी सुखदता किसी-न-किसी के निमित्त होना चाहिए।[१]

स्वभावों की ऐसी एकता असंगतिपूर्ण है, और इसकी असंगति को बतलाने के लिए हमें बहुत स्थान की आवश्यकता नहीं। आइए, पहले हम सुखदता में से और मेरे प्रति सम्बन्ध में से पृथक्करण करें, और यह कल्पना करें कि सुन्दर का अस्तित्व स्वतन्त्र भी है। फिर यहाँ भी हम उसको स्वयं-खंडनशील पायेंगे, क्योंकि अस्तित्व और इयत्ता के पक्ष समन्वयशील तथा एकीभूत होने चाहिए, परन्तु, दूसरी ओर, विषय के ससीम होने से, ऐसा कोई समन्वय सम्भव नहीं। और, जिस प्रकार सत्य और शिवत्व के प्रसंग में था, उसी प्रकार यहाँ भी प्रसार तथा समन्वय के दो पक्षों की एक आंशिक भिन्नता होती है। अभिव्यक्ति अपूर्ण होती है, अथवा जो व्यक्त किया जाता है वह अत्यधिक संकीर्ण होता है। और दोनों ही प्रकारों में, अन्ततोगत्वा समन्वयशीलता का अभाव होता है, एक आन्तरिक असंगति तथा सत्ता-क्षति होती है। क्योंकि इयत्ता––किसी भी अवस्था में, स्वयं सदैव ससीम, और इसलिए, सदैव, निज रूप में असंगत––स्पष्ट रूप में अपनी वास्तविक अभिव्यक्ति से परे पहुँचकर केवल प्रत्ययगत हो सकता है। और दूसरी ओर, वर्तमान अभिव्यक्ति, विभिन्न प्रकारों, और मात्राओं में, वास्तविकता से नीचे रह जायगी। वह बाहर से निर्णीत होती है, और इसलिए वह अवश्य ही भीतर से स्वयं-विरुद्ध रहेगी। इस प्रकार सुन्दर, विषय, स्वतन्त्र मान लेने पर, आभास से अधिक नहीं रह जाता।[२]

परन्तु, सौन्दर्य को एक स्वतन्त्र अस्तित्व के रूप में मानना असंभव है, क्योंकि उसके तत्वांश में सुख है, और यह कल्पना करना निराधार होगा कि सुख अथवा कोई भाव किसी आत्मा से पृथक् रह सकता है। अतः सुन्दर मेरे अन्तर्गत गुण द्वारा निर्णीत होगा। और, जैसा कि हम देख चुके हैं, यह एक प्रतीति का विषय है, इसलिए प्रत्येक

---

१. सभी ससीम केन्द्रों के बाहर किसी सुख-प्रान्त तक पहुँचने की संभावना बहुत कम प्रतीत होती है (अध्याय २७)। जहाँ तक वह सुख एक विषय है, वहाँ तक वह सम्बन्ध निःसंदेह अनिवार्य है।

२. सत्य और शिवत्व की मात्राओं के समान, सौन्दर्यगत मात्राओं का प्रश्न मनोरंजक होगा। परन्तु इस विषय में यहाँ पड़ना शायद ही आवश्यक हो।

अवस्था में प्रत्यय-साधक सम्बन्ध उसकी सत्ता के लिए अनिवार्य होना चाहिए। तो या तो, प्रत्ययगत और भावगत रूपों में सौन्दर्य के आन्तरिक स्वभाव का निर्णय बहिर्गत तत्त्वों से होगा, और स्पष्टतः ऐसी हालत में वह आभास-रूप में परिणत हो जायगा, अथवा, दूसरी ओर, उसकी अपनी ही सीमाओं के भीतर उसके जीवन की इस बाह्य परिस्थिति का भी समावेश हो जायगा। परन्तु, प्रत्ययशील और चेतन आत्मा के पूर्ण विलीनीकरण से, समस्त सम्बन्ध, और उसके साथ ही स्वयं सौन्दर्य भी तिरोहित हो जायगा।

सुन्दर विषय में एकीभूत विभिन्न पक्षों को अलग-अलग होते देखा जा चुका है। सौन्दर्य वस्तुतः स्वयं अव्यवहित, या स्वतन्त्र या समन्वयशील नहीं है। और, इन आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए, उसे अपने निजी स्वभाव से परे जाना पड़ेगा। अतः अन्य पक्षों की भाँति इसको भी आभास दिखला दिया गया है।

अब हमने अनुभव के विभिन्न क्षेत्रों का सर्वेक्षण करके उनमें से प्रत्येक को अपूर्ण देख लिया है। हम निःसन्देह यह नहीं कह सकते कि चरम तत्त्व इनमें से कोई एक हो सकता है। दूसरी ओर, प्रत्येक को अपर्याप्त और असंगत देखा जा सकता है, क्योंकि उसके अन्तर्गत अवशिष्ट क्षेत्र नहीं होते, और न वह स्वयं अवशिष्ट क्षेत्रों के सदृश होता है। प्रत्येक पक्ष के अस्तित्व में, किसी हद तक वस्तुतः पहले से ही, अन्यों का समावेश है, और सत्ता होने के लिए उसे उन-सबको पूर्णतया समाविष्ट करना पड़ेगा। और इसलिए, सत्ता की इयत्ता अपने इन्हीं विविध क्षेत्रों की समष्टि में बिखरी प्रतीत होती है, और ये क्षेत्र स्वयं पृथक्-पृथक् विश्व के आंशिक आभास प्रतीत होते हैं। आइए, एक बार फिर, संक्षेप में, हम उन पर निगाह डाल लें।

सुख अथवा दुःख के विषय तुरन्त जान सकते हैं कि उसका स्वरूप विशेषणात्मक है। सुख और दुःख के विषय में हमारा जो ज्ञान है उसके आधार पर, हम निःसन्देह यह नहीं कह सकते कि उसमें प्रत्यक्षतः जगत के अवशिष्ट पक्ष भी अभिप्रेत हैं। हमें इतने ही ज्ञान से सन्तुष्ट हो जाना चाहिए कि दुःख और सुख विशेषण हैं—ऐसे विशेषण जो, हमारी जान में, अनुभव के प्रत्येक अन्य पक्ष से सम्बद्ध हैं। इन विशेषणों की परिस्थितियों में पूर्ण प्रवेश अलभ्य हैं, परन्तु, यदि हम उसको पा सकें तो, उसके भीतर निःसन्देह विश्व के प्रत्येक पक्ष का समावेश हो जायगा। परन्तु, सुख और दुःख को छोड़कर भाव को लें, तो हम तुरन्त ही वहाँ सार-रूप में, विरोध और विकास के सिद्धान्त का मिलान कर सकते हैं। इयत्ता और अस्तित्व के पक्ष अभी से अलग होने के लिए प्रयत्नशील हैं। और इसलिए भाव केवल बाह्य शक्ति के द्वारा ही नहीं, अपितु आंतरिक दोष के कारण भी विकृत होता है। वस्तुओं के सैद्धान्तिक, व्यावहारिक तथा

सौन्दर्यात्मक पक्ष, अस्तित्व और प्रत्यक्ष के इस भेद-भाव को निरूपित और पूरित करने के प्रयत्न मात्र हैं। इस प्रकार प्रत्येक को भाव की किसी एकांगी तथा विशिष्ट सृष्टि के रूप में माना जाना चाहिए। और भाव फिर भी इन भेदों की एकता के रूप में, ऐसी एकता के रूप में जो किसी एक में या सब में अपनी पूर्ण अभिव्यक्ति नहीं कर पाता, पृष्ठभूमि में रह जाता है। सौन्दर्यवादी दृष्टिकोण का दोप एकदम स्पष्ट है। सौन्दर्य अव्यवहित सत्ता को पाने के लिए प्रयत्न भी करता है और उसमें असफल भी रहता है, क्योंकि यदि आप किसी प्रेक्षक के सम्बन्ध की उपेक्षा करके उसको सत् रूप में ग्रहण भी कर लें, तो भी पूर्णता और समन्वय की माँगों के बीच पूरा सामंजस्य कदापि नहीं होता। जो तथ्य रूप में व्यक्त होता है वह अत्यन्त संकीर्ण रह जाता है, और जो विस्तृत होता है वह पूरी तरह व्यक्त नहीं हो पाता। और इसलिए, पूरी तरह से सुन्दर होने के लिए, विषय को पूर्णतया शिव तथा सर्वथा सत्य भी होना चाहिए। उसकी कल्पना को स्वयं-सीमित तथा सर्वात्मक होने, और समान रूप से आत्म-पर्याप्ति के अस्तित्व में पूर्ण होने की आवश्यकता होगी। परन्तु, यदि यह बात है, तो सत्य, सौन्दर्य और शिवत्व की विशिष्टताएँ विलीन हो जायेंगी। यदि हम जगत् के सिद्धान्तवादी पक्ष की ओर जायें, तो भी हम उसी परिणाम पर पहुँचते हैं। यदि प्रत्यय अथवा सिद्धान्त सत्य होता, तो वह शिव भी होता क्योंकि तथ्य को इस रूप में ग्रहण करना पड़ेगा कि उसमें विचार में कोई भेद न दिखायी पड़े। परन्तु प्रत्यय और अस्तित्व का ऐसा सामंजस्य निःसन्देह शिव भी हो जायगा और साथ ही, व्यक्तिगत होने के कारण, उसका सुन्दर होना भी इतना ही निश्चित है। परन्तु दूसरी ओर, इन सभी विभिन्नताओं के विलीन हो जाने से, सत्य, सुन्दर और शिव का इस रूप में कोई अस्तित्व ही नहीं रह जायगा। जब हम व्यावहारिक पक्ष से प्रारम्भ करते हैं, तब भी हम उसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं। समन्वय तथा विस्तार की सम्पूर्ण एकता के अतिरिक्त हमें अन्ततोगत्वा किसी से सन्तोष नहीं हो सकता। जो सत्ता सदा किसी ऐसे प्रत्यय की ओर संकेत करे जिसका अस्तित्व वस्तुतः अपनी सीमाओं के भीतर न हो, तो वह पूर्णतया शिव नहीं हो सकती। परिपूर्ण शिवत्व में इस प्रकार प्रत्ययात्मक पक्ष का समस्त और चरम अस्तित्व निहित होगा। परन्तु यदि वर्तमान हो, तो वह परिपूर्ण और चरम सत्य होगा। और वह सुन्दर भी होगा, क्योंकि उसमें इयत्ता के साथ अस्तित्व का व्यक्तिगत समन्वय भी हो जायगा। परन्तु पुनः विशिष्ट भेदों के दूर हो जाने से, हम सौन्दर्य, सत्य या शिवत्व के बिलकुल परे पहुँच जायेंगे।[1]

---

१. यहाँ मैंने यह बतलाने की आवश्यकता नहीं समझी कि अपने वास्तविक अस्तित्व में यह

हम देख चुके हैं कि अनुभव के विभिन्न पक्ष एक-दूसरे में निहित होते हैं, और वे सब एक ऐसी एकता की ओर संकेत करते हैं जो उनको आत्मसात् करके परिपूर्ण कर देती है। और फिर मैं यह प्रतिपादन करूँगा कि इन पक्षों की एकता अज्ञात है। इसके द्वारा, निःसन्देह न मानें, परन्तु यह एक ऐसा अनुभव है जिसका, इस रूप में, हमें कोई प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं। हमारे पास अथवा हममें कोई ऐसी अवस्था नहीं है जो समस्त पक्षों की परिपूर्ण एकता हो, और हमें यह स्वीकार करना पड़ेगा कि अपने विशिष्ट स्वरूपों में वे अनिवर्चनीय रह जाते हैं। किसी व्याख्या का अभिप्राय यह होगा कि उनकी अनेकता को एकता में इस प्रकार परिणत कर दिया जाय कि एकता और अनेकता के सम्बन्ध को समझा जा सके। और इस प्रकार की व्याख्या अन्ततोगत्वा सर्वत्र हमसे परे होगी। यदि हम अनुभव के एक अथवा अधिक पक्षों को पृथक् करके, इस ज्ञात तत्त्व को अन्यों का एक आधार मानें, तो हमारी असफलता स्पष्ट है, क्योंकि यदि अवशिष्टों को इसी आधार पर विकसित किया जाय जैसा कि वस्तुतः संभव नहीं है, तो अपनी भिन्नताओं के सहित वे उसके फिर भी विधेय नहीं बन सकते। परन्तु, यदि यह बात है, तो अन्त में, सारी अनेकता को विशेषणों के रूप में एक ऐसी इकाई पर आरोपित किया जायगा जिसका हमें ज्ञान नहीं। इस प्रकार संभवतः कोई भी पृथक् पक्ष दूसरों की व्याख्या-स्वरूप नहीं हो सकता। और फिर, जैसा कि हम देख चुके हैं कोई पृथक् पक्ष स्वयं बुद्धि-गम्य नहीं हो सकता, क्योंकि प्रत्येक स्वयं के साथ असंगत होता है, और इसलिए दूसरों को अपने में समाविष्ट करने के लिए विवश हो जाता है। अतः व्याख्या केवल तभी संभव होगी जब कि पूर्ण स्वयं में समाविष्ट हो जायगा। और हम देख चुके हैं कि इस प्रकार वास्तविक और विस्तृत समावेश संभव नहीं है।

ऐसी अवस्था में, हम सामान्य निष्कर्ष को आधार मानकर, तुरन्त आगे बढ़ सकते हैं। हम यह कल्पना करते हैं कि अनुभव के विशिष्ट रूपों में से एक या दो में चरम तत्त्व को परिणत कर देना संभव नहीं है। और हम एकदम उसकी प्रकृति और एकता की अन्तिम चर्चा करने का प्रयत्न कर सकते हैं। परन्तु फिर भी इस प्रकार की एक प्रस्तावित

पक्ष एक दूसरे से किस प्रकार मिले हुए हैं और दूसरे पक्ष, न्यूनाधिक रूप में संकल्प के विषय होते हैं और उसी से उद्भूत होते हैं, और अवशिष्टों के सहित, स्वयं संकल्प भी विचार का एक विषय होता है। विचार अपनी सामग्री के लिए इन-सभी पर अवलम्बित होता है, और संकल्प इन-सब पर अपने विचारों के लिए निर्भर होता है। और जिस दृष्टि से आप देखें उसी के अनुसार, वही आध्यात्मिक अवस्था उदासीन भाव से संकल्प अथवा विचार बन सकती है (पृ० ४१९–४२०)। प्रत्येक अवस्था को पुनः किसी सीमा तक विचार करके भावना रूप में ग्रहण किया जा सकता है।

परिणति पर और निकट से विचार करना लाभदायक हो सकता है। तो आइए, हम यह प्रश्न करें कि, क्या सत्ता को विचार और संकल्प की एकरूपता कहकर ठीक-ठीक समझाया जा सकता है? परन्तु पहले हमें कुछ ऐसी बातों का स्मरण कर लेना चाहिए जो कि एक पूर्ण व्याख्या में होनी ही चाहिए।

विश्व को समझने के लिए, हमें यह जानना आवश्यक है कि इन्द्रियगत विशिष्ट भौतिक तत्त्व का सर्वत्र उसके सम्बन्धों और रूपों के साथ क्या सम्बन्ध है, और इन रूपों और गुणों से सुख तथा दुःख किस प्रकार सम्बद्ध हैं? और फिर हमें सम्बन्धात्मक चेतना के समस्त सारांश तथा विविक्त व्यंजकों-सम्बन्धी उसकी अनेकता तथा एकता के बीच स्थित सम्बन्ध को हृदयंगम करना पड़ेगा। हम को यह भी जानना होगा कि प्रत्येक वस्तु (अथवा प्रत्येक वस्तु के अतिरिक्त अन्य सब कुछ) व्यवहित भावना के ससीम केन्द्रों में क्यों आती है, और एक-दूसरे के लिए ये केन्द्र प्रत्यक्षतः प्रवेश्य क्यों नहीं होते। फिर एक ऐसी कालगत-प्रक्रिया होती है जिसके अनुसार अनुभव में से निरंतर इयत्ता-परिवर्तन होता रहता है—और यह एक ऐसी घटना है जो निःसन्देह पूर्णतया संकल्प और विचार के अन्तर्गत नहीं आती। भौतिक जगत् कुछ समस्याएँ प्रस्तुत करता है। क्या वस्तुतः प्रकृति के भीतर कुछ कल्पनाएँ और कुछ प्रयोजन कार्य कर रहे हैं? और ऐसा क्यों है कि, हमारे भीतर और हमारे बाहर, एक व्यवस्था है—एक ऐसी व्यवस्था जिसको प्रत्यय के उत्तर में अस्तित्व प्रस्तुत करता है। और ऐसा क्यों है कि आत्माओं की व्यक्तिगत एकरूपता तथा उनके बीच एक संचरण व्यवस्था है? संक्षेप में, एक ओर तो, हमें एक अनेकता और ससीमता मिलती है, और दूसरी ओर हम एक एकता पाते हैं। और जब तक हम समस्त विश्व में यह नहीं जानते कि इन पक्षों में परस्पर क्या सम्बन्ध है, तब तक विश्व की व्याख्या नहीं हो पाती।

परन्तु यहाँ हमसे यह कहा जा सकता है कि कोई भी व्याख्या न होने से यह अच्छा है कि आंशिक व्याख्या हो। मेरा उत्तर यह है कि प्रस्तुत प्रसंग में, यह एक गम्भीर भूल होगी। आप अनुभव-समष्टि में से किसी तत्त्व अथवा तत्त्वों को एक सिद्धान्त के रूप में मान कर, मेरे अनुमान में, यह स्वीकार करते हैं कि सर्व के भीतर कोई पक्ष अनिरुक्त तथा अवशिष्ट रह जाता है। इस प्रकार के किसी भी पक्ष का सम्बन्ध विश्व से है, और इसलिए, ऐसे में उसको किसी ऐसी एकता का विधेय बनाना चाहिए जो आपके तत्त्वों में समाविष्ट नहीं है। परन्तु यदि यह बात है, तो आपके तत्त्वों की तुरन्त अवनति हो जाती है, क्योंकि वे इस अज्ञात एकता के विशेषण बन जाते हैं। इसलिए आक्षेप यह नहीं है कि आपकी व्याख्या अधूरी है, अपितु यह है कि उसका सिद्धान्त ही अपरिपक्व है। आपने एक ऐसी वस्तु को अन्तिम तत्त्व के रूप में प्रस्तुत किया है

जो अपनी कार्य-प्रणाली में स्वयं को आभास घोषित किया करती है। और आंशिक व्याख्या में वस्तुत: एक मिथ्या ज्ञानाभिमान निहित होता है।

इस परिणाम की जाँच, हम जगत के अन्य पक्षों की, बुद्धि और संकल्प के रूप में, प्रस्तावित परिणति के द्वारा कर सकते हैं। इसके विषय में कुछ भी सविस्तार मीमाँसा करने से पूर्व, हम पहले ही उसके आवश्यक तथा प्रमुख दोष को बतला दें। मान लीजिए कि विश्व की प्रत्येक विशेषता का अच्छी तरह समावेश इन दो पक्षों में हो चुका है, परन्तु विश्व फिर भी अनिरुक्त रह जाता है, क्योंकि दो पक्षों में से एक कितना ही दूसरे में निहित अथवा दूसरे के साथ एक रूप क्यों न हो, वे किसी न किसी रूप में दो ही रहेंगे। और जब तक कि हम यह ग्रहण कर सकें कि जहाँ वे अनेक हैं, वहाँ पर उनकी अनेकता का उनकी एकता से क्या सम्बन्ध है, जो वहाँ पायी जाती है, जहाँ वे एक हैं, तो हमें असफलता ही मिली समझनी चाहिए। आखिरकार हमारे सिद्धान्त अन्तिम नहीं होंगे, अपितु स्वयं एक ऐसी एकता के विविध आभास-मात्र होंगे जिसको अव्याख्यात छोड़ दिया गया है। परन्तु फिर भी प्रस्तावित परिणति की और परीक्षा करने से हमें लाभ हो सकता है।

इसकी लोकप्रियता बहुत-कुछ उसकी अस्पष्टता में निहित है और उसकी शक्ति उस अनिश्चित अर्थ में है जो संकल्प और बुद्धि को प्रदान कर दिया गया है। हम इन व्यंजकों को इतनी अच्छी तरह जानते प्रतीत होते हैं कि उनका प्रयोग करने में हमें कोई संकट नहीं उपस्थित होता, और फिर हम अज्ञात रूप से एक ऐसे प्रयोग में लग जाते हैं जहाँ उनका अर्थ ही बदल जाता है। हमें जगत् की व्याख्या करनी पड़ती है और वहाँ हमें जो मिलता है वह एक-दो पक्षों वाली प्रक्रिया होती है। यहाँ पर तथ्य से प्रत्यय का एक निरन्तर शिथिल भाव होता है तथा इस निरन्तर असंगति के नये अस्तित्व में एक पुनः क्षतिपूर्ति की क्रिया होती है। हमें कहीं भी ध्रुव तथा अविकारी तत्त्व नहीं मिलते। वे प्रत्ययात्मक इयत्ता के ऐसे सापेक्षिक 'सर्व' होते हैं जो द्विविध परिवर्तन के एक निरन्तर नवीभूत आधार पर स्थिति होते हैं। एकरूपता, स्थायित्व तथा निरन्तरता सर्वत्र प्रत्ययात्मक होते हैं। वे ऐसी इकाइयाँ हैं जिनको सदैव, अस्तित्व के निरन्तर प्रवाह के द्वारा बनाया और बिगाड़ा जाता है—एक ऐसे प्रवाह के द्वारा जिसको वे स्वयं प्रादुर्भूत करती हैं और जो स्वयं उनको आश्रय देता है और उनके जीवन के लिए आवश्यक है। अब विश्व को इस दृष्टि से देखते हुए, जहाँ कहीं प्रत्यय अपने तथ्यगत अस्तित्व से विश्रृंखलित हो जाय, वहाँ हम विचार की मीमाँसा कर सकते हैं, और अभी यह एकता पुनः स्थापित हो जाय, तभी हम संकल्प की चर्चा कर सकते हैं। और स्वतः स्पष्ट लगने वाली इस भूमिका के साथ, ऐसा प्रतीत होने लगता है कि जगत् के दो पक्षों की व्याख्या

मिल गयी। अथवा हम संभवतः एक अन्य अस्पष्टता के द्वारा इसी परिणाम तक पहुँचने में अपनी सहायता कर सकते हैं, क्योंकि सभी अवस्थाओं में प्रत्येक वस्तु का या तो अस्तित्व कालगत होता है अथवा उसकी घटना। उस अवस्था में हम कह सकते हैं कि, जहाँ तक वह घटित होता है वहाँ तक वह संकल्प की उपज है, और जहाँ तक उसका अस्तित्व है, वहाँ तक वह प्रत्यय अथवा विचार का विषय है। परन्तु बिना किसी चर्चा के, इसको छोड़ते हुए, हम जगत् की प्रक्रिया को दो पक्ष वाला मान सकते हैं। विचार को इस प्रक्रियां का प्रत्यय-विधायक पक्ष माना जा सकता है, और, दूसरी ओर संकल्प को प्रत्ययों को सत् बनाने वाला पक्ष समझा जा सकता है। और इस समय हम यह भी मान सकते हैं कि संकल्प और विचार स्वयं न्यूनाधिक रूप् में स्वयं स्पष्ट हैं। वस्तुतः हम इस बात को स्वीकार करने के लिए प्रयत्नशील प्रतीत होते हैं कि जगत् के ऐसे अन्य पक्ष भी हैं जिनको संकल्प तथा विचारकी एकरूपता के विशेषण बतलाया जा सकता है, जब कि संकल्प अथवा विचार में उसका समावेश अनिश्चित रह जाता है। परन्तु यह वस्तुतः यह स्वीकार करना हुआ कि विचार और संकल्प विश्व का साराँश नहीं है।

अब आइए, आन्तरिक कठिनाइयों पर विचार करें। संकल्प और विचार में से प्रत्येक को स्वतः स्पष्ट होना है, परन्तु, दूसरी ओर, प्रत्येक स्पष्टतः, दूसरे से अलग, अपनी विशिष्ट सत्ता खो चुका है, क्योंकि संकल्प में प्रत्यय का तथ्य से विभाजन निहित है—एक ऐसा विभाजन जिसको एक प्रक्रिया वास्तविक कर देती है और जो संभवतः स्वयं संकल्पजन्य होता है। और विचार को एक ऐसे अस्तित्व से प्रारम्भ होना पड़ता है जिसको केवल संकल्प ही सृजता है। इसीलिए, यद्यपि संकल्प स्वयं विचार पर अव-लम्बित है, विचार संकल्प की पूर्वस्थिति मानता है, और एक वर्त्तमान प्रक्रिया के रूप में संकल्प जन्य प्रतीत होता है। मेरी समझ में, हमें इस आक्षेप का उत्तर एकता के पक्ष पर जोर देकर देना चाहिए। हमारे द्वारा प्रतिपादित दोनों कार्य अभिन्न हैं, और इसलिए यह स्वाभाविक है कि एक-दूसरे की अपेक्षा करें और उसके पूर्वभाव को मानों। निःसन्देह अभी तक हमने सर्वत्र यही देखा कि इस प्रकार का अविराम चक्र आभास का एक लक्षण है, परन्तु यहाँ हमें आगे जाने में ही सन्तोष करना पड़ेगा। अच्छा तो, संकल्प और विचार सर्वत्र एक दूसरे के साथ समवेत हैं। विचार-रहित संकल्प और संकल्प-हीन विचार में से कोई भी स्वरूपस्थ नहीं रह सकता। अतः किसी सीमा तक, संकल्प अवश्य ही विचार है, और, ठीक उसी अनिवार्य रूप में, जिसमें विचार संकल्प होता है। पुनः विचार का अस्तित्व एक ऐसा परिणाम है जिसकी सत्ता संकल्पजन्य है, और, सिद्धान्त की मीमांसा और सृष्टि के लिए संकल्प एक विषय है। अतः वे एकीभूत हुई

पूर्वापरता को प्रत्यक्ष के ही पक्ष में रख देना, और यह कहने से काम चलाना कठिन है कि संकल्प स्वयं वस्तुतः कोई प्रक्रिया नहीं है, क्योंकि यदि संकल्प की कोई इयत्ता है, तो वह इयत्ता प्रत्यय-योग्य होगी और उसके अन्तर्गत कालावधि होगी, और संकल्प अन्ततोगत्वा निःसन्देह संकल्पित से उच्चतर नहीं हो सकता। और किसी प्रत्यात्मक इयत्ता के बिना, संकल्प अज्ञात के प्रति एक अंधप्रतिवेदन के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं रह जाता। वह स्वयं अज्ञात है, और इस अज्ञात किंचित् के विधेय विशेषण रूप में, हमें अव्याख्यात प्रत्यय-जगत् को रखने के लिए विवश होना पड़ता है। इस प्रकार, अन्त में, संकल्प और विचार आभास के दो भेदों के नाम हैं। उनमें से कोई भी इस रूप में, अन्तिम सत्ता से सम्बन्धित नहीं हो सकता, और, अन्त में, उनकी एकता और उनकी अनेकता दोनों ही अनिर्वचनीय रह जाती है। उनको आँशिक और सापेक्षिक रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है, परन्तु अन्तिम व्याख्यानों के रूप में नहीं।

परन्तु इस प्रकार, यदि उनकी एकता अज्ञात रह जाती है, तो क्या हम उसको उनकी एकता कहेंगे? क्या आभास के समस्त क्षेत्र को अपने में समाविष्ट करने का अधिकार है? यदि हम विचार और संकल्प की कल्पना वहाँ करें जहाँ वे दिखायी नहीं पड़ते, तो कम-से-कम हमें कोई प्रलोभन तो होना चाहिए। और यदि अन्ततोगत्वा हमारे जगत् की व्याख्या करने में वे असफल रहे, तो प्रलोभन भी समाप्त हुआ प्रतीत होगा। यदि, उनको बलात् वहाँ ले आने पर, नाम-रूप-सहित ये दोनों पक्ष अव्याख्यात रह जाते हैं, तो समस्त नाम-रूप को दो पक्षों में विभाजित करने का कष्ट क्यों किया जाय? निःसन्देह यह अधिक अच्छा होगा कि आभासों के दो से अधिक प्रकार तथा पक्ष स्वीकार कर लिये जाएँ, और यह मान लिया जाय कि उनकी एकता अनुभव की एक ऐसी अवस्था है जिस तक प्रत्यक्ष की पहुँच नहीं हो सकती। और, यदि हम पिछली कठिनाइयों का सिंहावलोकन करें, तो इस परिणाम की पुष्टि हो जाती है। सुख और दुःख, मनोभाव, और सौन्दर्य-भावना को बुद्धि तथा संकल्प की किसी इकाई-मात्र में समाविष्ट करना कठिन है और अनुभव-योग्य गुणों का उनके व्यवस्था-तन्त्रों से जो सम्बन्ध है, अथवा भौतिक तत्त्व का रूप के साथ जो योग है वह पुनः पूर्णतया अनिर्वचनीय रह जाता है। संक्षेप में, यदि विचार और संकल्प की एकता अपने-आप ही स्पष्ट होती, तो भी जगत् के विभिन्न पक्ष कठिनाई से ही उसमें परिणत हो पाते। और दूसरी ओर, यदि यह परिणति सम्पन्न भी हो जाती, तो संकल्प तथा विचार की एकरूपता, और उनकी विविधता, फिर भी समझ में नहीं आती। यदि ससीमता और कालगत प्रक्रिया को उनकी भिन्नता में परिणत कर दिया जाय, तो फिर उनमें भिन्नता किस कारण उपस्थित होती है? जब तक इस प्रकार के प्रश्न का उत्तर कहीं उससे बाहर रहता

है, तब तक यह परिणति अन्तिम नहीं हो सकती।

जगत् को दो प्रतिरूप क्रियाओं का आभास नहीं कहा जा सकता, और इसी परिणाम को लेकर हम आगे बढ़ सकते हैं। परन्तु, किसी भी अवस्था में, ऐसी प्रक्रियाएँ बुद्धि और संकल्प-जैसे तत्त्वों के साथ एकरूप नहीं हो सकतीं, और संभवतः कुछ देर तक इस विषय में चर्चा करना अधिक अच्छा होगा। हम ऊपर मान चुके हैं कि संकल्प और विचार स्वयं ही स्वतः व्यक्त हैं। हमने देखा कि इस विषय में फिर भी एक शंका थी कि इन दोनों क्रियाओं की पहुँच कितने क्षेत्र तक है। फिर भी एक प्रत्यय-विधायिनी और एक वस्तु-विधायिनी-क्रिया (प्रत्येक स्वतन्त्र और मूलभूत) के अस्तित्व की हमने स्वतः ही कल्पना कर ली, परन्तु, अब यदि हम विचार और संकल्प में प्राप्त होने वाले तथ्यों पर विचार करें, तो हमको यह स्वीकार करना पड़ेगा कि अभीष्ट शक्तियों का अस्तित्व नहीं है। क्योंकि, क्षेत्र मर्यादा के प्रश्न को छोड़ देने पर भी, संकल्प और विचार कहीं भी स्वतः व्यक्त अथवा मूलभूत नहीं है। प्रत्येक अपनी कार्यविधि में पूर्ववर्ती सम्बन्धों पर अवलम्बित है—ऐसे सम्बन्धों पर जो एक अर्थ में सदैव बाह्य और उधार लिए हुए होते हैं। मैं संक्षेप में इसको समझाने का प्रयत्न करूँगा।

विचार और संकल्प में निःसन्देह युगान्तर होते हैं, और ये युगान्तर ऊपर स्वतः व्यक्त माने जा चुके हैं। उनको ऐसा माना गया है कि वे इन क्रियाओं से सारांश में ही स्वभावतः ओत-प्रोत हैं और इसीलिए हमने उनके आधार के विषय में किसी दूसरे प्रश्न को स्वीकार नहीं किया। परन्तु, यदि हम अपने अनुभवगत विचार और संकल्प पर ध्यान दें, तो ऐसी किसी भी कल्पना का खंडन हो जाता है, क्योंकि वास्तविक विचार-क्रिया में, हम विशिष्ट सम्बन्धों पर अवलम्बित होते हैं, और, इस प्रस्तुत विषय के बिना हम अवश्य ही चिन्तन में असमर्थ रह जाते हैं। ये सम्बन्ध विचार की तात्त्विक सत्ता-मात्र में अन्तर्निहित नहीं माने जा सकते, क्योंकि उनमें से अधिकांश परीक्षाणात्मक तथा बाहर से प्राप्त प्रतीत होते हैं। और मैं यह बिलकुल नहीं समझ पाता कि उनको स्वतः व्यक्त कैसे समझा जा सकता है? जब हम भेदों के निर्माण पर विचार करते हैं, तो इस परिणाम की पुष्टि हो जाती है, क्योंकि प्रथम तो भेद अधिकांशतः हमारी यथार्थ विचार-क्रिया से उत्पन्न होते प्रतीत होते हैं और, दूसरे, जहाँ कहीं एक विवेचनीय विचार-शक्ति होती है, वहाँ पर वह पूर्ववर्ती भेद पर आश्रित तथा उससे प्रेरित होकर काम करने वाली प्रतीत होती है। इस प्रकार यह एक अर्जित तथा परीक्षणात्मक सम्बन्धों से उद्भूत परिणाम है।[1] संक्षेप में, विचार-क्रिया के वास्तविक युगान्तर स्वतः व्यक्त

१. इस विषय में देखिए 'माइन्ड' संख्या—४७।

नहीं है, अथवा, यदि दूसरे शब्दों में कहें तो, उनको विचार-व्याप्त नहीं कहा जा सकता। और यदि हम संकल्प-क्रिया पर विचार करें, तो भी हम उसकी प्रक्रियाओं को किसी अधिक अच्छी अवस्था में नहीं पाते, क्योंकि हमारे कर्म न तो स्वतः व्यक्त हैं और न वे संकल्प-व्याप्त ही है। आइए, हम प्रकृतिगत तथा आत्मगत घटनाओं में पृथक्करण करें जिनसे हमारा संकल्प असम्बद्ध प्रतीत होता है। आइए, हम अपने ध्यान को केवल उन प्रसंगों तक ही सीमित रखें, जहाँ हमारा विचार तथ्य-रूप में अपने अस्तित्व को बनाता प्रतीत होता है। परन्तु क्या यहाँ पर यह युगान्तर इतना स्पष्ट है कि इसकी व्याख्या की आवश्यकता नहीं? एक अवस्था में कोई अभीष्ट विचार केवल अभीष्ट रह जाता है, परन्तु दूसरी अवस्था में, वह वास्तविक अस्तित्व में आ जाता है, तो हम एक अवस्था में क्यों गवेषणा करते हैं और दूसरी में क्यों नहीं? आप उत्तर दे सकते हैं, क्योंकि दूसरे स्थान पर, एक संकल्प क्रिया होती है, और यही क्रिया उस युगान्तर का व्याख्यान और निरूपण करती है। अब मैं यहाँ इस बात का उत्तर नहीं दूँगा कि, दूसरी ओर, यह युगान्तर ही वह क्रिया है। क्षण-भर के लिए मैं आपकी बेतुकी शक्ति के अस्तित्व को मान लेता हूँ। परन्तु मैं फिर उसी प्रश्न को दोहराता हूँ कि एक वस्तु का संकल्प क्यों किया जाता है और दूसरी का क्यों नहीं? क्या यह भेद स्वतः व्यक्त, स्वतः प्रकाशवान, और संकल्प के शुद्ध सारांश में अव्यवहित रूप से व्यक्त हुई, कोई विशेषता है? क्योंकि, यदि यह बात नहीं है, तो निःसन्देह संकल्प-क्रिया भी उसका व्याख्यान नहीं कर सकती। वह क्रिया से कोई बाहर की वस्तु होगी और बाहर से ही आयी होगी। और इस प्रकार, संकल्प और विचार दोनों के प्रसंग में समान रूप से हमें इसी निष्कर्ष को स्वीकार करना पड़ेगा। विशेष क्रियाओं से पृथक् संकल्प अथवा विचार की कोई क्रिया नहीं, और ये विशेष क्रियाएँ संकल्प और विचार के रूप में स्पष्टतः स्वतः व्यक्त नहीं हैं। उनकी तात्त्विक सत्ताओं में एक बहिर्गत सम्बन्ध ओत-प्रोत होता है। और इसलिए जब निःसन्देह संकल्प और विचार रहते भी हैं, तो वे परतन्त्र और गौण होते हैं। अन्त में इन दोनों में से किसी भी एक के रूप में परिणत कर देने से, कोई बात स्पष्ट नहीं की जा सकती।

यह निष्कर्ष मनोविज्ञान पर आश्रित न होते हुए भी, मनोविज्ञान से समर्थन और पुष्टि प्राप्त करता है, क्योंकि जिस अर्थ में हम संकल्प और विचार को जानते हैं, उस अर्थ में वे स्पष्ट ही मूलभूत नहीं हैं। वे एक ऐसे आधार से विकसित किये जाते हैं, जो उनमें से कोई भी नहीं है, और जो कदापि पूर्णतया वैसा नहीं हो सकता। उनका अस्तित्व ऐसी आध्यात्मिक घटनाओं तथा घटना-विधियों के कारण होता है जो संकल्प और विचार का भेद नहीं रखती। और यह आधार कदापि उनमें से किसी में पूर्णतया आत्म-

सात् नहीं हो पाता। वे ऐसे विभाजन हैं जिनके विशिष्ट स्वरूप कदापि अपनी इयत्ताओं का पूर्ण विशेषीकरण नहीं कर पाते। दूसरे शब्दों में, सर्वत्र संकल्प और विचार ऐसी वस्तु पर निर्भर होते हैं जो उनमें से प्रत्येक से भिन्न है, और, इन आध्यात्मिक तत्त्वों के बिना जो बाह्य रहते हैं, उनकी प्रक्रियाएँ समाप्त हो जायेंगी। संक्षेप में, एक उभय-निष्ठ तत्त्व है जिसके उभयनिष्ठ नियम हैं, और इस तत्त्व के संकल्प और विकार एकाँगी विनियोग-मात्र हैं। इस जीवन को समाविष्ट करना तो दूर रहा, वे उसके भीतर आश्रित क्रियाओं के रूप में समाविष्ट होते हैं, वे उसके अन्तर्गत आश्रित और आँशिक घटनाओं के रूप में रहते हैं।

इस सत्य का पूर्ण अन्वेषण करना तो मनोविज्ञान का कार्य होगा, और यहाँ मैं कुछ प्रमुख बातों की संक्षिप्त समीक्षा करके ही सन्तुष्ट हो जाऊँगा। विचार पूर्ववर्ती प्रत्ययात्मकता की भूमि से उद्भूत एक घटना है। अस्तित्व में से इयत्ता-भेद उत्पन्न नहीं किया जाता, अपितु उद्भूत होता है। संसक्ति और संमिश्रण के नियमों में स्वयं ही प्रत्यय-तत्त्वों की क्रिया निहित है, और इन नियमों पर विचार खड़ा होता है, और इन्हीं से वह अपनी वास्तविक प्रक्रियाओं को प्राप्त करता है। परिवर्तित आलोचना का अन्ध-विश्वास संघर्ष ही, इन नियमों द्वारा एक साथ काम करता हुआ, पहले आध्या-त्मिक तथ्य से प्रत्ययात्मक इयत्ता के सम्बन्ध को शिथिल करने लगता है। और इसलिए हम कह सकते हैं कि स्वयं विचार एक उपज है, प्रत्यय विधायिनी-क्रियाओं का उत्पादक नहीं। मेरा यह अभिप्राय नहीं कि विचार के विकास की पूरी तरह से व्याख्या की जा सकती है, क्योंकि उसके लिए सम्बन्धात्मक रूप के सामान्य उद्भव की एक स्पष्ट दृष्टि चाहिए। और मुझे सन्देह है कि हम केवल भाव की अवस्था से इस अवस्था में होने वाले परिवर्तन को विस्तारपूर्वक पुनः वापस ले जा सकते हैं या नहीं। परन्तु फिर भी मैं इस बात का आग्रह करूँगा कि स्वयं विचार से पूर्व भी कुछ भेद-भाव या विभाजन होता है। संश्लेषण और विश्लेषण दोनों ही समान रूप से, आध्यात्मिक अंकुरों के रूप में प्रारम्भ होते हैं। प्रत्येक विचार क्रिया से पूर्व आता है और फिर, विशेषीकरण और संघटन के द्वारा उसी में निहित हो जाता है। परन्तु यदि यह बात है तो विचार अन्तिम नहीं हो सकता। वह एक क्षण भी प्रत्ययात्मकता का एक-मात्र जनक और स्रोत होने का दावा नहीं कर सकता।

और यदि विचार को एक मूल-क्रिया के रूप में ग्रहण किया जाय, और यदि आरम्भ ही से उसे विवेचन तथा संश्लेषण में निहित माना जाय, तो, इस भ्रान्तिपूर्ण आधार पर भी उसका आश्रित स्वरूप स्पष्ट हो जाता है, क्योंकि सम्बन्ध और भेद, प्रत्ययात्मक सम्बन्ध, जिनमें विचार की सत्ता होती है—ये सब कहाँ से आते हैं? विशेष के रूप

में, वे कम-से-कम अंशतः तो प्रत्येक की विशेषता में निहित हैं। और ये विशेषताएँ कम-से-कम आंशिक रूप में तो अवश्य ही किसी संभावित विचार-शक्ति से उद्भूत नहीं होतीं। अतः विचार के सम्बन्ध फिर भी केवल उसी पर निर्भर होंगे जो प्रयोगात्मक होगा। अंशतः वे प्रत्यय तथा केवल आध्यात्मिक प्रक्रिया के परिणाम होते हैं। इसलिए (जैसा कि हमने ऊपर देखा) विचार अवश्य ही इस बाह्य सामग्रियों पर निर्भर रहेगा, और, हम उसे कितना ही आधारभूत और मौलिक क्यों न मानें, परन्तु वह फिर भी स्वतन्त्र नहीं होता, क्योंकि वह किसी भी अवस्था में, अपनी सामग्रियों को अपनी मूल क्रियाओं में कदापि आत्मसात् नहीं कर पाता। उसके सम्बन्ध सुपरिचित तथा अज्ञात हो सकते हैं, और उसकी पूर्वापरता अविच्छिन्न रूप से प्रवाहित हो सकती है। यही नहीं, अपितु विचार करने पर भी यह विश्वास हो सकता है कि हमारी विशेष व्यवस्था एक सच्चा तन्त्र है। और किसी प्रकार से इसके सम्बन्ध केवल संयोग पर अवलम्बित नहीं हैं। परन्तु, दूसरी ओर, यदि हमारा यह प्रश्न हो कि क्या यह प्रत्ययगत तंत्र केवल विचारजन्य हो सकता है, अथवा क्या उसको विचार में निहित किया जा सकता है, तो उत्तर भिन्न होगा। सम्बन्ध-विशेष ऐसे ही क्यों हैं, और न्यूनाधिक रूप में, अन्यथा क्यों नहीं ?—यह अन्ततोगत्वा किसी विचार-शक्ति-द्वारा नहीं समझाया जा सकता है। और इस प्रकार, यदि विचार अपने उद्भव-काल में गौण नहीं होता, तो उसका सार रूप वैसा ही रहता है। अपने प्रत्ययगत भौतिक तत्त्व में, वह केवल आध्यात्मिक उपज का एक परिणाम है—उसके प्रत्ययात्मक सम्बन्ध अंशतः निरन्तर पूर्वकल्पित होंगे, स्वयं निर्मित नहीं। और जिस सम्बन्ध को निर्मित हुआ माना जायगा उसको मनगढ़न्त के रूप में भी स्वीकार नहीं किया जायगा। अतः, किसी भी मनोवैज्ञानिक दृष्टि से, ये सम्बन्ध अन्तर्निहित और आवश्यक नहीं होते। परन्तु, जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं, सत्यतर दृष्टि के लिए, विचार का विकास होता है। वह एक ऐसी प्रक्रियाओं में उद्भूत होता और निहित रहता है जो स्वयं उस पर अवलम्बित नहीं होती। और परिणाम को संक्षेप में इस प्रकार व्यक्त किया जा सकता है—निःसन्देह सभी सम्बन्ध प्रत्ययात्मक हैं, और उसी प्रकार निःसन्देह सभी सम्बन्ध विचार-क्रिया की उपज नहीं होते।[1]

यदि हम संकल्प-शक्ति की ओर आते हैं, तो मनोविज्ञान इस बात को स्पष्ट कर देता है कि यह विकसित किया हुआ और विकृत है। कोई भी प्रत्यय, अपने शुद्ध निज

१. जो एक विश्लेषण-शक्ति प्रतीत होती है, उसका विकास कैसे किया जाय, इस बात को बतलाने का प्रयत्न मैंने उपर्युक्त लेख में किया है।

रूप में, तथ्य-रूप में परिणत होने की सामर्थ्य नहीं रखता, और न उसमें कोई ऐसी शक्ति है जिसका काम यह परिणति करना हो। अथवा, तर्क के लिए, यह मान लीजिए, कि ऐसी किसी शक्ति का अस्तित्व है, परन्तु फिर भी, जैसा कि हम देख चुके हैं, कुछ प्रत्ययों को एक वाह्य सहायता की आवश्यकता पड़ेगी। संक्षेप में, जब तक कि शक्ति का विशेष रूप से आह्वान न किया जाय, तब तक वह कोई क्रिया नहीं होती। परन्तु जो संकल्प की निर्मात्री है, अथवा कम-से-कम जो उससे अपने निज रूप में व्यवहार करवाती है, वह निःसन्देह एक ऐसी उपाधि है जिस पर संकल्प की सत्ता आश्रित होती है। संक्षेप में, संकल्प आध्यात्मिक और भौतिक संसक्तियों पर एक साथ, अथवा केवल शारीरिक सम्बन्धों पर आश्रित है। वह इनके पूर्वभाव की कल्पना करता है, और व्यवहार में निरन्तर वह उनका समावेश अपने में रखता है, और इसलिए हमें विवश होकर उनको उसकी सत्ता का अंग मानना पड़ता है। मैं अच्छी तरह जानता हूँ कि संकल्प के स्वरूप पर अनेक मत हैं, परन्तु कुछ ऐसे भी मत हैं जिन पर गम्भीरतापूर्वक विचार न करना ही मुझे ठीक लगता है। किसी प्रवुद्ध मनोविज्ञान की दृष्टि में, संकल्प भौतिक तथा आध्यात्मिक संधियों पर आश्रित होता है, और ये ऐसी संधियाँ होती हैं जो निःसन्देह संकल्प-रूप नहीं हो सकतीं। और न उसकी वृद्धि की ऐसी कोई अवस्था है जिसमें संकल्प ने इन पूर्वकल्पित प्रक्रियाओं का एक विशेष सत्ता में आत्मसात् किया हो। परन्तु, यदि ऐसी बात है, तो निःसन्देह संकल्प को प्रकृत रूप में नहीं ग्रहण किया जा सकता।[1]

समष्टि रूप में विश्व को वुद्धिगम्य कहा जा सकता है। वह इस प्रकार से एकीभूत हुई मानी जा सकती है कि जिससे, सर्वत्र और सर्वथा, एक पूर्ण वुद्धि की समस्त माँगों की पूर्ति की जा सकती है। और, जगत् में प्रत्येक तत्त्व वुद्धिगम्य है, क्योंकि इस स्वरूप के सर्व में, उसका ग्रहण तथा समावेश हो जाता है।[2]

परन्तु विश्व इस रूप में वुद्धिगम्य नहीं कि उसको निरन्तर समझा जा सकता है, और न आप, केवल वुद्धि से प्रारम्भ करके, उसकी विशेषताओं की सविस्तार भावी कल्पना कर सकते हैं, क्योंकि, वुद्धि की माँगों को पूर्ण करने में, सर्व अपने लक्षणभूत दोषों की पूर्ति और परिहार इस प्रकार करता है कि इनके साथ, परिपूरित वुद्धि अपनी विशेष प्रकृति को खो वैठती है। और यह निष्कर्ष वस्तुओं के प्रत्येक अन्य पक्ष पर लागू होता है। इनमें से वस्तुतः कोई भी वुद्धिगम्य नहीं होता, क्योंकि वुद्धिगम्य होने पर,

१. मैंने उन प्रसंगों के विवरण को छोड़ दिया है जहाँ मिश्रण का ही प्रमुख हाथ रहता है। स्पष्ट है कि वही निष्कर्ष यहाँ भी लागू होता है।

२. वह वुद्धिगम्य भी होता, मैंने यह बात ऊपर अध्याय १९ में विभाजनीय तथा विवेचनीय इयत्ता के अर्थ में कही है।

इस रूप में उनका अस्तित्व भी समाप्त हो जाता है। अतः अन्ततोगत्वा जगत् के किसी भी एकाकी पक्ष का व्याख्यान नहीं किया जा सकता, और न जगत् को किसी एक अथवा सभी का परिणाम ही मान कर समझाया जा सकता है। इस सत्य की जाँच हम विचार तथा संकल्प के प्रसंग में ऊपर कर चुके हैं। विचार इसलिए बुद्धिगम्य नहीं होता, क्योंकि उसकी विशेष क्रियाएँ स्वतः व्यक्त नहीं होतीं, और क्योंकि वे स्वयं उसमें व्याप्त अंगों से उद्भूत अथवा उसमें व्याप्त नहीं होते। और यही दोष संकल्प में है। मेरा अभिप्राय: केवल यह नहीं कि संकल्प के रूपान्तर बौद्धिक नहीं होते। मेरा अभिप्राय यह है कि वे बुद्धिगम्य नहीं, और न, वे स्वयं प्रकाशमान होते हैं, और न किसी भी अर्थ में स्वतः स्पष्ट। वे न्यूनाधिक रूप में परिचित घटनाएँ हैं, परन्तु उनमें प्रत्येक निज रूप में अपना निजी साराँश तथा निर्णायक तत्त्व समाविष्ट नहीं होता। जैसा कि हम देख चुके हैं, वह साराँश एक तथ्य बना रहता है जो बाहर से उपहित होता है, और इसलिए यह सर्वत्र अंशतः विजातीय रहता है। सर्व को दो अथवा अधिक तत्त्वों की इकाई के रूप में व्याख्या करना व्यर्थ है, जब कि उनमें से कोई भी स्वतः स्पष्ट न माना जा सके, और जब कि जिस ढंग से उनकी भिन्नता को एकीभूत किया जाता है वह सविस्तार अबुद्धिगम्मय रहता है।

इस परिणाम पर पहुँचकर अब आगे बढ़ने का समय है, परन्तु सरसरी तौर से, तथाकथित संकल्प की सर्वोपरिता पर कुछ कहने के लिए मैं विवश हो जाता हूँ। प्रथम तो, यदि संकल्प सत्ता है, तो हमें यह दिखलाना आवश्यक हो जाता है कि आभास का इससे क्या सम्बन्ध है। और, हमारी असफलता पर, हम इस सम्बन्ध के पीछे एक अज्ञात एकता को पाते हैं, और संकल्प को स्वयं एक आंशिक आभास का स्थान ग्रहण करना पड़ता है। परन्तु, जब हम संकल्प के स्वरूप पर विचार करते हैं, तो वही निष्कर्ष किसी भी अवस्था में स्पष्ट हो जाता है। जिसको हम संकल्प रूप में जानते हैं, उसमें सम्बन्ध और एक प्रक्रिया तथा तत्त्वों की अनिराकृत असंगति अभिप्रेत होती है। और यही बात शक्ति या क्रिया, अथवा इस प्रकार की किसी वस्तु पर लागू होती है। निःसन्देह, मैं इस विषयक का निरूपण इतनी बार कर चुका हूँ कि अब मुझे उसको पर्याप्त समझ लेना चाहिए। फिर भी संभवतः यह कहा जाय कि यह प्रपंच-संकल्प स्वयं इससे कुछ भिन्न तथा अन्य है। परन्तु, यदि यह बात है, तो इस सत्ता और आभास का सम्बन्ध एक बार फिर हमारे सामने आ जाता है। और इसको छोड़ देने पर भी, 'संकल्प-स्वयं' की दुहाई देना व्यर्थ है, क्योंकि जिसको हम संकल्प-रूप में जानते हैं, उसमें यह प्रक्रिया विद्यमान होती है, और जिसको हम संकल्प रूप में नहीं जानते, उसको इस संज्ञा का कोई अधिकार नहीं तो वह एक भौतिक घटना-मात्र होगा अथवा उसमें कोई तत्त्व

जातीय सत्ता निहित होगी। और दोनों ही अवस्था में, हम उसका अभीष्ट निरूपण पहले ही कर चुके हैं। संक्षेप में, चाहे तत्त्वज्ञान का क्षेत्र हो अथवा मनोविज्ञान का, कहीं भी कोई दुहाई देने का अभिप्राय यह है कि अज्ञात तत्त्व के साथ खिलवाड़ करने का तर्कशून्य प्रयत्न किया जाता है। यह तो, आधार समझ में न आने पर अथवा व्याख्या-सुलभ न होने पर, किसी आधार अथवा व्याख्या का एक बहाना-मात्र है। और, जहाँ तक तत्त्वज्ञान का सम्बन्ध है, सम्भवतः ऐसी किसी निरर्थक आत्म-प्रवंचना का कारण बतलाया जा सकता है। सम्पूर्ण नाम-रूप के व्याख्यान में केवल-मात्र बुद्धि ने अपने को अनुपयुक्त सिद्ध कर दिया और, केवल मात्र बुद्धि की अपूर्णताओं की पूर्ति करने के लिए इस प्रकार आहूत यह अज्ञात सत्ता एक ऐसे पक्ष के साथ आँख मूंद कर एकरूप बतला दी जाती है जो अत्यन्त विरुद्ध प्रसिद्ध होती है। परन्तु एक अज्ञात सत्ता में बुद्धि से अधिक एक ऐसी वस्तु है जो संकल्प में और समस्त आभास में तथा स्वयं बुद्धि में भी प्रकट होती है। परन्तु ऐसी कोई भी सत्ता संकल्प अथवा वस्तुओं का कोई अन्य आंशिक पक्ष नहीं होती। हमने वस्तुतः उस पूर्ण और सर्वात्मक समष्टि को प्रस्तावित किया है जो एकांगिता तथा समस्त दोष से मुक्त हो। और हमने इसको संकल्प की संज्ञा दी है, क्योंकि संकल्प के भीतर हमें कोई विशेष प्रकार का दोष नहीं प्राप्त होता। परन्तु ऐसी कोई पद्धति तर्क-संगत नहीं है।

संकल्प की प्रमुखता का प्रतिपादन संभवतः एक दूसरी तरह भी किया जा सकता है। यह कहा जा सकता है कि सम्पूर्ण सिद्धान्त और नियम अन्ततोगत्वा व्यावहारिक होंगे और तदनुसार संकल्प की अभिव्यक्ति कहे जायेंगे। परन्तु ऐसी कोई भी उक्ति भ्रांत होगी। नियम और सिद्धान्त हमारी बहुमुखी प्रकृति की अभिव्यक्ति होते हैं, और उन सब को निःसन्देह व्यावहारिक नहीं कहा जा सकता। हमारे बौद्धिक, कलात्मक, तथा व्यावहारिक क्षेत्रों के अनेक विभिन्न दृष्टिकोणों में, अनुभव की कुछ ऐसी अवस्थाएँ होती हैं जो सन्तोष प्रदान करती हैं। इन अवस्थाओं में हमें सुख मिलता है, जबकि उनके अभाव में, हमें दुःख, अशांति, और लालसा प्राप्त होती हैं। और हम निःसन्देह इन स्वरूपों को पृथक् करके आदर्श रूप में उपस्थित कर सकते हैं, और उनको अपने संकल्प के लक्ष्य तथा विषय भी बना सकते हैं। परन्तु नैतिक लक्ष्य को छोड़ कर, अन्यत्र संकल्प के साथ इस प्रकार का सम्बन्ध उन लक्ष्यों के स्वभाव में अन्तर्निहित नहीं होता। यदि यह कहा जाय कि सिद्धान्तों की संकल्पना उनके अस्तित्व के कारण होती है, तो यह कथन इसकी अपेक्षा अधिक सच होगा कि सिद्धान्तों का अस्तित्व उनके संकल्पित होने के कारण है। एक आक्षेप यह हो सकता है कि अन्ततोगत्वा ये वस्तुएँ संकल्प का ही लक्ष्य होती हैं, और इस आक्षेप की पूर्व-कल्पना ऊपर की जा चुकी है (पृ० ४१९-

४२०)। स्पष्टतया इसी विचार-पद्धति से हम यह सिद्ध कर सकते हैं कि बुद्धि सर्वोच्च है, क्योंकि यह संकल्प तथा जगत् के प्रत्येक पक्ष पर विचार कर सकती है। इस सरसरे विचार के पश्चात्, मैं अन्त में संकल्प की इस तथाकथित सर्वोच्चता को विसर्जित कर सकता हूँ। दर्शन में संतप्त व्यक्ति के लिए, यह सदैव एक गंदा शरण-स्थान रहेगा। परन्तु उसके दावे तभी तक संभावित प्रतीत होंगे, जब तक कि अन्धकार उन्हें मलिन किये रहेगा। जहाँ तक वे केवल बुद्धिगम्य होना नहीं पसन्द करेंगे, वहाँ वे स्पष्ट रूप से बेतुके कहे जायेंगे।

हम देख चुके हैं कि अस्तित्व का कोई एक पक्ष, स्वयं सत् नहीं है। कोई भी एक, अकेला तथा मूलभूत नहीं है, और न वह अन्य पक्षों अथवा सर्व का व्याख्यान करने में ही समर्थ है। वे सभी समान रूप से आभास हैं, सभी एकांगी, और अपने से परे पहुँचने वाले। परन्तु मुझसे प्रश्न किया जा सकता है कि इतना स्वीकार कर लेने पर भी उनको आभास क्यों कहा जाय ? क्योंकि ऐसा कोई भी व्यंजक वस्तुओं के प्रत्यक्षीय पक्ष से साधिकार सम्बन्ध रखता है, और हम इस बात से सहमत हो चुके हैं कि प्रत्यक्षीय पक्ष अन्य पक्षों में से केवल एक पक्ष है। यह कहा जा सकता है कि प्रत्यक्षीय के बिना आभास होना सम्भव नहीं, और आभास में निर्णय तथा विसर्जन दोनों निहित होते हैं। दूसरी ओर निःसन्देह यह प्रश्न कर सकता हूँ कि क्या सभी अभिप्रेत रूपकों का सम्प्रसारण करना है, और यदि यह बात है, तो कितने शब्द और व्यंजक हमारे पास रह जायेंगे। परन्तु आभास-प्रसंग में मैं इस बात को तुरन्त स्वीकार करता हूँ कि इस आक्षेप में कुछ बल है। मेरा अनुमान है कि इस व्यंजक में निःसन्देह प्रत्यक्षण और निर्णयन का एक पक्ष निहित है, और ऐसा कोई भी पक्ष, मैं मानता हूँ, कहीं भी कोई अस्तित्व नहीं रखता, क्योंकि, यदि हम यह निष्कर्ष भी निकालें कि सभी नाम-रूप आध्यात्मिक केन्द्रों में होकर निकलते हैं, फिर भी उन केन्द्रों में जो कुछ भी है, वह निःसन्देह सब-का-सब प्रत्यक्षण नहीं है। और यह मान लेना फिर सुकाट्य ही होगा कि सर्व के भीतर सभी नाम-रूप निर्णीत होते हैं। संक्षेप में, हमें यह स्वीकार करना होगा कि कुछ आभास वस्तुतः प्रकट नहीं होते, और इसलिये इस व्यंजक के प्रयोग में एक स्वच्छन्दता आ जाती है।

फिर भी हमारा दृष्टिकोण तत्त्वज्ञान के क्षेत्र में सैद्धान्तिक ही रहेगा। यहाँ हमारा काम वस्तुओं के विभिन्न पक्षों का माप और निर्णय करना ही है। और इसलिए, हमारे लिए सत्ता की तुलना में जो वस्तु भी न्यून ठहरती है, वह आभास की संज्ञा पा जाती है। परन्तु इससे मेरा यह अभिप्राय नहीं कि वस्तु सदा स्वयं एक आभास ही है। हमारा अभिप्राय यह है कि उसका कुछ स्वभाव ऐसा होता है कि जैसे ही हम

उसके विषय में निर्णय करने लगते हैं, वैसे ही वह आभास बन जाती है। और हम अपने समस्त ग्रन्थ में यह देख चुके हैं कि यह स्वभाव प्रत्ययात्मक है। अस्तित्व में से इयत्ता के शिथिल होने में ही आभास आ जाता है, और इस आत्म-भेद के कारण ही, प्रत्येक ससीम पक्ष को एक आभास कहा जाता है। और हम देख चुके हैं कि जगत् में सर्वत्र ही यह प्रत्ययात्मकता निरन्तर रहती है। सर्व से जो वस्तु कम हुई वही स्वसीमित नहीं सिद्ध हुई। उसकी सत्ता में तत्वतः वहिर्गत् से सम्बन्ध निहित रहता है, और इस प्रकार वह भीतर से ही एक वहिर्मुखता से लांछित होती रहती है। सर्वत्र ससीम स्वातिक्रान्त, स्वयंभिन्न तथा स्वयं से अन्य अस्तित्व की ओर जाने वाला होता है। अतः ससीम आभास होता है, क्योंकि, एक ओर तो, वह सत्ता का एक विशेषण होता है और, दूसरी ओर, वह एक ऐसा विशेषण होता है, जो कि स्वयं सत् नहीं होता। इस व्यंजक की इस प्रकार व्याख्या कर देने के पश्चात् उसका प्रयोग निःसन्देह निर्दोष प्रतीत होता है।

इस अध्याय में अभी तक हम मुख्यतः एक निषेध में लगे रहे। सब-कुछ आभास है। और न तो कोई आभास को और न आभास-समूह को ही सत्ता कहा जा सकता है। यह केवल अर्द्ध-सत्य है, और यह स्वयं एक भयंकर भूल है। हमें तुरन्त ही इसक प्रतिरूप और पूरक को जुटाकर उसका सुधार करना चाहिए। चरम तत्त्व का अस्तित्व ही उसके आभासों में है और उनमें से प्रत्येक तथा सभी वस्तुतः चरम तत्त्व के ही रूपान्तर हैं। यह दूसरा अर्द्ध सत्य है जिस पर हम पहले ही आग्रह कर चुके हैं और जिस पर हम एक वार फिर जोर देंगे। और इस विषय में हम एक घातक भूल पर भी ध्यान दे सकते हैं। यदि आप आभासों में से किसी एक को अथवा सभी को एक साथ लेकर केवल यह कहें कि चरम तत्त्व इनमें से कोई एक ही अथवा सब-के-सब ही हैं, तो स्थिति बहुत नैराश्य-पूर्ण हो जाती है। एक बार आप उनको आभास कहते हैं, और अब फिर उनको विपरीत बतलाते हैं, क्योंकि जिसको आप चरम तत्त्व के साथ एक रूप कह देते हैं, वह कोई आभास न रह कर अपितु चरम सत्ता बन जाता है। परन्तु हम इस उलझन को सुलझा चुके हैं, और हम उस भाव और अर्थ को समझते हैं जिसमें यह अर्द्ध-सत्य एकीभूत हो सकते हैं। प्रत्येक आभास तथा सभी आभासों में उसी चरम तत्त्व की अभिव्यक्ति है, परन्तु इनमें से कोई भी स्वयं चरम तत्त्व नहीं है। इसी प्रकार सब आभास मिलकर भी चरम तत्व नहीं हो सकते, परन्तु एक आभास दूसरे आभास की अपेक्षा अधिक सत् हो सकता है। संक्षेप में, सत्ता और सत्य के मात्रा-भेद सिद्धान्त में इस समस्या का मूल उत्तर निहित है। प्रत्येक वस्तु परमावश्यक और साथ ही दूसरी वस्तुओं के साथ तुलना करने में एक वस्तु व्यर्थ सिद्ध

होती है। कोई वस्तु स्वयं में पूर्ण नहीं है, और साथ ही प्रत्येक वस्तु में अंशतः पूर्णता की एक प्रमुख क्रिया विद्यमान रहती है। अनुभव का प्रत्येक दृष्टिकोण, जगत् का प्रत्येक क्षेत्र अथवा स्तर, चरम तत्त्व के भीतर एक आवश्यक अंग होता है। जब तक किसी वस्तु की तुलना ऐसी वस्तु से न की जाय, जो स्वयं उससे अधिक हो तब तक प्रत्येक वस्तु अपने निजी ढंग से पर्याप्त होती है। अतः यदि आप चाहें, तो आभास को भूल कह सकते हैं, परन्तु प्रत्येक भूल भ्रान्ति नहीं होगी।[1] प्रत्येक अवस्था में एक उच्चतर अवस्था का तत्त्व निहित रहता है, इसलिए यह सच है कि प्रत्येक अवस्था पहले से ही असंगतिपूर्ण होती है। परन्तु, दूसरी ओर, निज रूप में ग्रहण किये जाने पर और अपनी ही कल्पनाओं के द्वारा मापे जाने पर, प्रत्येक, स्तर सत्य से युक्त सिद्ध होता है। हम कह सकते हैं कि स्वयं पर्याप्त होते हुए भी, जब उसकी तुलना किसी ऐसे तत्व से करने का प्रयत्न किया जाता है तो उससे बहिर्गत हो, तो वह असत्य सिद्ध हो जाता है। और इस प्रकार आभासों के प्रत्येक क्षेत्र में, चरम तत्व समान रूप से व्याप्त हो जाता है। मात्राओं और पदों का अस्तित्व है, परन्तु वे सब-के-सब समान रूप से अनिवार्य हैं।

जगत् का कोई ऐसा क्षेत्र नहीं जहाँ चरम तत्त्व का निवास न हो। कहीं कोई भी ऐसा क्षुद्र तथा क्षीण तथ्य नहीं है जो विश्व के काम का न हो। कोई भी विचार कितना ही असत्य क्यों न हो उसमें सत्य होता है, प्रत्येक अस्तित्व में सत्ता होती है, चाहे वह कितनी ही कम क्यों न हो, और, जहाँ हम सत्ता अथवा सत्य की ओर संकेत कर सकते हैं, वहीं पर हम चरम तत्त्व के एक अविभाजित जीवन को पाते हैं। सत्ता के अभाव में, आभास असम्भव है, क्योंकि उस अवस्था में आभास होगा किसका? और आभास के बिना सत्ता भी कुछ नहीं रह जायगी, क्योंकि आभासों के बहिर्गत निःसन्देह कुछ भी नहीं हैं क्योंकि, दूसरी ओर, सत्ता वस्तु-समष्टि नहीं है। यह एक ऐसी एकता है जिससे सभी वस्तुएँ एकीभूत होकर रूपान्तरित हो जाती हैं, जिसमें वे समान रूप से बदल जाती हैं, यद्यपि उन-सबका परिवर्तन एक-सा नहीं होता। और जैसा कि हम देख चुके हैं, इस एकता में, एकाकीपन और विरोध के सम्बन्धों की पुष्टि का पोषण और विलीनीकरण हो जाता है। वे सर्व के भीतर समन्वित हो जाते हैं, यद्यपि निःसन्देह वे अपने प्रकृत रूप में, तथा अपने पृथक्-पृथक् स्वरूप में सीमित रहते हुए समन्वित नहीं होते। अतः हमारी दृष्टि के विरुद्ध एक आक्षेप के रूप में, कुरूपता और कुत्सा में उपस्थित विरोध पर ज़ोर देने का अभिप्राय अपना अज्ञान प्रदर्शन करना,

---

१. इस भेद के लिए देखिए अध्याय २७।

होगा। विरोध की चरम-सीमा में, एक प्रगाढ़तर सम्बन्ध निहित है, और यह सम्बन्ध सर्व के भीतर आता है और उसकी एकता को समृद्ध करता है। समन्वय के भीतर, प्रातिभासिक विरोध तथा विकर्षण अभिभूत हो जाते हैं, और उसके स्थान पर एक पूर्णता तथा व्यक्तिगत विकास की अवस्था आ जाती है। परन्तु स्वयं चरम तत्त्व को हम कुरूप अथवा कुत्सित नहीं कह सकते हैं। एक अर्थ में चरम तत्त्व निःसन्देह कुत्सित, कुरूप और असत्य होता है, परन्तु जिस अर्थ में यह विधेय उस पर लागू होते हैं, वह अत्यधिक अस्वाभाविक तथा खींचा-तानी युक्त होता है। सर्व के विषय में प्रयोग किये जाने पर, प्रत्येक विधेय एक सुकाट्य विभाजन का प्रमाण होगा, और प्रत्येक एक ऐसा एकाकी अंश होगा जिससे स्वयं कोई सुसंगत अर्थ नहीं बैठेगा। कुरूपता, कुत्सा और त्रुटि अपने विभिन्न क्षेत्रों में, गौण पक्ष होते हैं। प्रत्येक प्रसंग में, कुछ ऐसे भेद-भाव निहित होते हैं जो चरम तत्त्व की परिधि के भीतर एक क्षेत्र-विशेष में आ जाते हैं, और उन-सब में एक सम्बन्ध होता है, एक ऐसा सम्बन्ध जिसमें कोई सक्रिय तत्व अपने से किसी श्रेष्ठतर, परन्तु सीमित सर्व से आबद्ध होता है। इन छोटे-छोटे सर्वों के भीतर, विरोध एक ऐसे तंत्र से अपना जीवन ग्रहण करता है और अभिभूत होता है, जो उसको आश्रय प्रदान करता है। इसलिए कुत्सित, कुरूप और असत्य, जैसे विधेय अपने विशेष्यों के ऊपर एक गौण पक्ष-मात्र होने तथा सौन्दर्य, शिवत्व अथवा सत्य के क्षेत्र से सम्बन्धित होने की छाप अवश्य लगा देते हैं। और चरम तत्त्व रूपी विभु में ऐसी स्थिति का आरोप करना स्पष्टतः बेतुका है। आप यह कह सकते हैं कि चरम तत्त्व में असौन्दर्य, भूल और बुराई रहती है, क्योंकि वह ऐसे राज्यों का अधिपति है जिनमें ये विशेषताएँ आंशिक तत्त्वों के रूप में विद्यमान रहती हैं। परन्तु उसी को आंशिक और आश्रित तत्व मानना अस्वीकार्य होगा। यदि हम आश्रित तंत्रों का सर्व मान लें, तो भी उनको सत्ता के गुण मान लेना एक स्वच्छन्दता-मात्र होगा। यदि हम विश्व को सुन्दर अथवा शिव अथवा सत्य कहें, तो यह सदैव एक सापेक्षिक और औपचारिक कथन-मात्र होगा। और इससे आगे साहस करना व्यर्थ और घातक होगा।

यदि आप चरम तत्त्व को तनिक भी नैतिक दृष्टि से देखें, तो वह चरम तत्त्व शिव होगा। वह कोई ऐसा एक तत्त्व नहीं होगा जो भीतर से स्वयं-निष्ठ होते हुए शिवत्व से अभिभूत हो। इसी प्रकार, तर्क अथवा सौन्दर्य-भावना की दृष्टि से, चरम तत्त्व केवल सत्य अथवा सुन्दर हो सकता है। जब आप उसको ऐसी संज्ञा दे देते हैं, और फिर भी जब तक इन प्रमुख विशेषताओं पर आग्रह करते रहते हैं, केवल तभी तक आप असत्य और असुन्दर की कल्पनाओं का समावेश भी कर पाते हैं। और

इस प्रकार समावेश किये जाने पर, चरम तत्व पर उनका प्रत्यक्ष लागू होना असम्भव हो जाता है। इस प्रकार सर्वोच्च विश्व की एक आंशिक तंत्र के साथ एकरूपता बतलाना, किसी लक्ष्य के लिए स्वीकार्य हो सकती है। परन्तु उसको इस तंत्र के भीतर एक अकेली विशेपता के रूप में, और एक ऐसी विशिष्टता के रूप में ग्रहण करना जो कि पहले ही अभिभूत हो चुकी हो, और इसलिए जो वहाँ पर अवसन्न है, वस्तुतः जैसा कि हम देख चुके हैं, नितान्त अग्राह्य होगा। असौन्दर्य असत्य, तथा अशिव, ये सव-के-सव चरम तत्त्व से सम्वन्धित हैं और चरम तत्त्व तत्वतः इनके द्वारा ही समृद्ध होता है। हम सामान्यतः यह कह सकते हैं कि चरम तत्त्व की आभासों के अतिरिक्त अन्य कोई सम्पत्ति नहीं है, और साथ ही, यदि उसमें केवल आभास ही है, तो चरम तत्त्व दिवालिया हो जायगा। विनाश अथवा विकार को छोड़ देने पर भी ये सव-के-सव समान रूप से सारहीन हैं। परन्तु दूसरी ओर एक वार फिर आभासों में परस्पर, सत्य और सत्ता के मात्रा-भेद से, अत्यधिक भिन्नता है। ऐसे भी विधेय हैं जो, दूसरों की तुलना में, असत्य और अवस्तु हैं।

आभासों के क्षेत्र का परिवेक्षण करना प्रत्येक को परिपूर्ण व्यक्तित्व की कल्पना के आधार पर मापना, और उनको सत्ता और गुण के तंत्र में व्यवस्थित करना—यह तत्त्व-विज्ञान का कार्य है। यह कार्य (मैं फिर दोहराता हूँ) इन पृष्ठों में नहीं किया गया है। फिर भी ऊपर की तरह, हमने मूलभूत सिद्धान्त का व्याख्यान और उस पर आग्रह करने का प्रयत्न किया। और, उससे आगे वढ़कर, मैं अव कुछ रुचिकर वातों की चर्चा करूँगा। कुछ ऐसे प्रश्न हैं, जिनको मैं इस अवस्था पर निपटाने की आवश्यकता महसूस करता हूँ।

आइए, एक वार फिर हम प्रकृति अथवा भौतिक जगत् की ओर दृष्टि डालें। क्या हम यह कहें कि विचार शक्तियाँ हैं, और लक्ष्य उनमें सक्रिय और सजग रहते हैं ? और, क्या प्रकृति सुन्दर है और संभावित पूजा का एक विषय है ? इस दूसरे विपय में, जिसका विवेचन मैं पहिले करूँगा, मुझे वहुत वड़ी उलझन दिखायी पड़ती है। जैसा कि हम देख चुके हैं, प्रकृति को विभिन्न अर्थो में समझा जा सकता है (अध्याय २२)। हम प्रकृति से सम्पूर्ण विश्व का ग्रहण कर सकते हैं, अथवा केवल दिगवच्छिन्न जगत् समझ सकते हैं, अथवा हम उसको एक वहुत ही संकीर्ण अर्थ में सीमित कर सकते हैं। सवके पहले हम ऐसे प्रत्येक तत्त्व को हटा दें जो हमारी सम्मति में, आध्यात्मिक हो, और फिर जो सूक्ष्म अवशेष प्रकृत गुण रहें, उनकी हम प्रकृति के साथ एकरूपता सिद्ध करें। ये सार भूत होंगे, जवकि समस्त अवशिष्ट तत्त्व गौण विशेषण, और, पूरे अर्थ में, अभौतिक होंगे। अव हम देख चुके हैं कि इस प्रकार समझे जाने

पर, प्रकृति की कोई सत्ता नहीं रह जाती। वह विज्ञानापेक्षित एक काल्पनिक सृष्टि-मात्र रह जाती है, और एक आवश्यक कामचलाऊ मनगढ़न्त सिद्ध होती है। और हम यह भी कह सकते हैं कि इस मनगढ़न्त को किसी परिणाम के रूप में और एक विशेष दृष्टान्त के रूप में परिणत करने के ही संकीर्ण अर्थ में एक भौतिक व्याख्यान कहा जाता है। परन्तु इस प्रकार एक बहुत बड़ी गड़बड़ी पैदा हो जाती है क्योंकि प्राकृतिक विज्ञान का विषय, अपनी समस्त अनुभवगम्य महिमा के सहित, समस्त जगत् है, जबकि प्रकृति का सारांश प्रकृत गुणों की इस तुच्छ मनगढ़न्त में रहता है, एक ऐसी मनगढ़न्त जो कि एक कल्पना नहीं अपितु ठोस तथ्य मानी जाती है। ऐसी अवस्था में, अव्याख्यात होते हुए भी, प्रकृति फिर भी अपने इन्द्रियगम्य वैभव से युक्त रह जाती है। जबकि व्याख्यात होने पर, प्रकृति इस तुच्छ पृथक्कृति में परिणत हो जाती है। एक ओर तो प्रकृत गुणों की एक नग्न रेखा के रूप में सार तत्व—अन्तिम सत्ता—रखी जाती है, दूसरी ओर जीवनकी वह असीम समृद्धि रह जाती है जो हमारी दृष्टि के सामने सर्वत्र अनन्त रूप में प्रकट होती है। और उस अवस्था में, ये चरम सीमाएँ, अस्पष्टता-मात्र से अथवा अविवेक पूर्ण मानसिक चंचलता के कारण विकृत अथवा संयुक्त हो जाती हैं। यदि व्याख्या तथ्यों को किसी ऐसी वस्तु के विशेषणों के रूप में परिणत कर देती है जिसकी वे बिलकुल विशेषता प्रकट नहीं करते, तो सम्पूर्ण सम्बन्ध तर्कहीन प्रतीत होने लगता है, और यह प्रक्रिया हम से तथ्यों को छीन लेती है। परन्तु यदि भूलभूत सार-तत्व की विशेषता प्रकट होती है, तो उसका स्वरूप बदल जाता है। स्थूल का निराकरण करने में, व्याख्या अब सूक्ष्म को भी समृद्ध तथा व्यष्टि-रूप कर देगी, और हम दर्शन और सत्य के मार्ग पर अग्रसर हो जायेंगे। परन्तु प्रस्तुत प्रसंग में, इस अनुवर्ती परिणाम के विषय में, कोई शंका नहीं हो सकती और इसलिए दृष्टि की बुद्धिगम्य एकता के लिए, कुछ भी प्रयत्न किये बिना ही हमारे प्रयत्न का अवसान एक दोलनशील स्थिति में होगा। एक ओर, प्रकृति एक ऐसा तमाशा है जिसकी सत्ता केवल प्रकृत गुणों में ही निहित है। दूसरी ओर, वह इन्द्रियगम्य जीवन का ऐसा अनन्त जगत् है जो हमारी सहानुभूति की अपेक्षा करता है और हमारे विस्मय को जाग्रत करता है। वह एक ऐसा विषय है जो कवि और प्रेक्षणशील प्रकृति-वैज्ञानिक को प्रिय है और जिसमें दोनों का जीवन है। और, जब हम प्रकृति के विषय में बात करते हैं, तो प्रायः हम ये बिल्कुल नहीं जानते कि इन चरम सीमाओं में से कौन-सी, अथवा निःसन्देह क्या-क्या अभिप्रेत है। वस्तुतः, हम अवसर के अनुकूल, अनजाने एक पराकाष्ठा से दूसरी पराकाष्ठा तक जाते रहते हैं।

मैं इस परिणाम को संक्षेप में प्रस्तुत प्रश्न पर लागू करूँगा। प्रकृति का सुन्दर

तथा पूज्य होना उस अर्थ पर पूर्णतया निर्भर है जिसमें उसको ग्रहण किया जाय। यदि प्रकृति की वास्तविक सत्ता को केवल मात्र प्रकृत गुणों में समझा जाय, तो, मेरी समझ में, ऐसे किसी प्रश्न पर गम्भीर चर्चा की आवश्यकता नहीं। संक्षेप में, प्रकृति मृत हो जायगी। अधिक-से-अधिक उसमें एक प्रकार की सम्मात्रा होगी, और वह अपने विस्तार-द्वारा अथवा हमारी दुर्बलताओं या आवश्यकताओं के साथ अपने व्यावहारिक सम्बन्ध-द्वारा, वह संभवतः हमारे भीतर एक प्रकार की भावनाओं को जाग्रत कर सकेगी। परन्तु ये भावनाएँ प्रथम तो, पूर्णतया हमारे ही भीतर होंगी, वे न्यायतः प्रकृति पर लागू नहीं हो सकेंगी, और न किसी प्रकार भी प्रकृति को विशिष्ट कर सकेंगी। और, दूसरे हमारे हृदयों में ये भावनाएँ मुश्किल से पूजा का रूप ग्रहण कर सकेंगी। अतः प्राकृतिक विज्ञान के विषय के रूप में, जब प्रकृति को या तो सुन्दर कहा जाता है अथवा उसको हमारे सामने दिव्य रूप में प्रस्तुत किया जाता है, तो हम अपना उत्तर तुरन्त दे सकते हैं। यदि इस विषय को प्रकृत गुणों तक ही सीमित कर दिया जाय, तो निःसन्देह कोई भी उन दावों का समर्थन करेगा जिनका हम उल्लेख कर चुके हैं। और फिर यदि सम्पूर्ण इन्द्रिय-गोचर जगत् और उसकी शोभा सचमुच सत् है, और यदि यह वैभव और यह जीवन ही प्रकृति का सारभूत तत्व है, तो दो प्रकार की कठिनाइयाँ उत्पन्न होंगी। प्रथम तो, इस दावे को भौतिक विज्ञान की स्वीकृति प्राप्त करनी पड़ेगी, आध्यात्मिक तत्त्व को कम-से-कम, सत्ता में भौतिक तत्व के समान मानना पड़ेगा। देह और देही के प्रति सम्बन्ध को किसी भी भौतिक विषय की प्रमुख सत्ता से समाविष्ट करना पड़ेगा। और पहली कठिनाई तो यह होगी कि इस अवस्था तक कैसे पहुँचा जाय। इस अवस्था तक पहुँचने के पश्चात् दूसरी कठिनाई उत्पन्न होगी, क्योंकि, इतनी दूर पहुँचने के पश्चात् हमें यह प्रमाणित करना पड़ेगा कि हमारा आगे न बढ़ना क्यों ठीक है? प्रकृति इन्द्रियगोचर जगत् तक ही क्यों सीमित है? यदि आध्यात्मिक और 'आन्तरिक तत्व किंचित्-मात्र भी उसकी सत्ता का एक अंग है, तो फिर आप, किस सिद्धान्त के अनुसार, उसमें उच्चतम तथा श्रेष्ठतम आत्मानुभूति को रोक सकते हैं? चित्रकार, कवि और ऋषि उस प्रकृति का दर्शन और सृजन क्यों करते हैं जो तत्वतः सत् नहीं है? परन्तु इस प्रकार प्रकृति आत्मा तथा अनात्मा दोनों तत्वों का संयुक्त विश्व बन जायगी। और अभी तक, हमारा निष्कर्ष यह होगा—प्राकृतिक-विज्ञान के विषय के सम्बन्ध में इस प्रकार के प्रश्न उठाना उस समय तक स्पष्टतया व्यर्थ है, जब तक आपने अपने मन में यह निश्चित नहीं कर लिया कि वह विषय क्या है, और जब तक आप ऐसे किसी सिद्धान्त को प्रस्तुत नहीं कर सकते जिससे कि हम यह निर्णय कर सकें कि उसकी सत्ता किसमें नियत है।

परन्तु इस गड़बड़झाले से निकल कर, और एक वार पुनः इस प्रश्न को अपेक्षाकृत अविक न्यायसंगत आवार पर तोल कर, मैं एक संक्षिप्त उत्तर देने का प्रयत्न करूँगा। प्रकृतिगत सुन्दर की विशिष्टताओं और सीमाओं में, मैं प्रवेश नहीं कर सकता। और मैं इस वात की भी चर्चा नहीं कर सकता कि किस सीमा तक, और किस अर्थ में, भौतिक जगत् वर्म के सच्चे लक्ष्य में समाविष्ट होता है। ये ऐसे विशेष प्रश्न हैं जो इस ग्रन्थ की परिवि के वाहर पड़ते हैं। परन्तु क्या प्रकृति सुन्दर अथवा पूज्य है भी, और क्या उसमें वस्तुतः और सचमुच ऐसे गुण विद्यमान हैं—इस प्रकार सामान्यतः किये जाने वाले प्रश्न के विषय में, हमारा उत्तर 'हाँ' में हो सकता है। हम देख चुके हैं कि, शुद्ध भौतिक तत्त्व के रूप में ग्रहण किये जाने पर प्रकृति केवल एक सुविवाजनक पृथक्-कृति-मात्र रह जाती है (अव्याय २२)। विकृत गुणों (देह और देही के प्रति प्रकृतिगत सम्वन्व) की योजना प्रकृति को अपेक्षाकृत अविक स्थूल वनावट, अपेक्षाकृत अविक सत् वना देती है।[1] इन्द्रियगोचर जीवन उष्णता रंग, गंव और व्वनियों के विना प्रकृति एक वौद्धिक मनगढ़न्त-मात्र रह जाती है। प्रकृति गुण एक ऐसी सृष्टि है जो विज्ञान के लिए अपेक्षित है, परन्तु विकृत गुणों से परित्यक्त होने, पर उनमें तथ्य रूप में कोई जीवन नहीं रह जाता। विज्ञान का एक यमलोक है जहाँ से वह जगत् की व्याख्या करने को वापस आता है, परन्तु उसके यमलोक के निवासी केवल छाया-मात्र हैं। और, जव विकृत गुणों की योजना कर दी जाती है, तो भी प्रकृति, अपेक्षाकृत अविक सत् होती हुई भी अपूर्ण रह जाती है। उसके सन्तानों के हर्ष और विषाद, उनके प्रेम और उनके विचार—हम कैसे कह सकते हैं कि ये सव प्रकृति की सत्ता के कोई अंग नहीं हैं? जव तक कोई अपने मन को किसी सिद्धान्त-विशेष की परिवि में आवद्ध न कर ले, तव तक परिसीमन ठीक न होगा, और, दूसरी ओर, हमारे प्रमुख सिद्धान्त का आग्रह यह है कि पूर्णतर होने पर, प्रकृति अपेक्षाकृत अविक सत् होती है। और इसी सिद्धान्त से हम एक और निष्कर्ष पर पहुँचते हैं। विचारशील देही में प्रकृति-द्वारा विभावित भाव कम-से-कम अंशतः प्रकृति से सम्वन्व रखते हैं और उसके गुणों के रूप में ग्रहण किये जा सकते हैं। यदि वहाँ कोई सौन्दर्य न हो, और यदि उसका अनुभव कहीं अन्यथा उसके वाहर होता हो, तो अन्ततोगत्वा प्रकृति में कोई गुण हो ही क्यों? और यदि, प्रकृति में किसी भावात्मक वृत्ति की विशेपता न हो, तो हम उस पर अन्य किसी वस्तु का कैसे और किस सिद्धान्त के अनु-

---

१. मैं यह आवश्यक नहीं समझता कि ऐसी किसी भी विशेपता को दोहराया जाय जो यहाँ पर प्रकृति के उन अंगों के लिए अपेक्षित हो जिनको अप्रतीत रूप में ग्रहण किया गया हो। अध्याय २२-२४ में मैं इस विषय पर पर्याप्त चर्चा कर चुका हूँ।

सार आरोप कर सकते हैं ? वहाँ पर प्रत्येक वस्तु निर्विवाद रूप में आन्तरिक होती है, परन्तु यदि हम भौतिक तत्त्व को भी ऐसा समझें तो, और, केवल इसी कारण से, भावात्मक वृत्ति को प्रकृति से बहिर्गत नहीं किया जा सकता। और अन्यथा वहाँ पर उसमें एक वास्तविक गुण के रूप में सत्ता क्यों न हो ? जहाँ तक मेरा प्रश्न है, मैं तो उसी सिद्धान्त का अनुसरण करूँगा और नवीन परिणाम को स्वीकार करूँगा। जिस प्रकृति में हम रहते हैं, और जो हमें प्रिय है, वह वस्तुतः प्रकृति है। उसका सौन्दर्य और उसकी रुद्रता तथा भव्यता कोई भ्रान्तियाँ नहीं, अपितु उसके तात्त्विक गुण हैं। और इसलिए जिसको हमें अपने सर्वोत्तम क्षणों में विश्वास करने के लिए विवश होना पड़ता है, वही वास्तविक सत्य है।

फिर भी इस परिणाम में, एक दूसरी ओर से, किसी प्रकार के परिवर्तन की आवश्यकता है। यह निश्चित है कि प्रत्येक वस्तु के जो-जो सम्बन्ध होते हैं उन्हीं के द्वारा वह निर्णीत होती है। यह निश्चित है कि निर्णयता की वृद्धि के साथ किसी वस्तु की सत्ता में भी वृद्धि होती है। इसके विपरीत, कोई वस्तु पूर्णतया निर्णीत हो जाने पर स्वयं चरम तत्त्व ही बन जायगी। एक ऐसी अवस्था होती है जहाँ सत्ता की वृद्धि का अर्थ स्वयं से परे पहुँच जाना होता है। विस्तार के द्वारा कोई वस्तु अपने निकटतम सर्व का अंग-मात्र बन जाता है, और अन्त में, सभी क्षेत्र तथा सभी सापेक्षिक सर्व अपनी-अपनी विशिष्टताओं को त्याग देते हैं। प्रकृति की सत्ता पर विचार करते समय, हमें यह न भूलना चाहिए। उस सत्ता की क्रमिक वृद्धि-द्वारा, आप एक ऐसी अवस्था पर पहुँच जाते जिसमें प्रकृति, अपने इस रूप में, विलीन हो जाती है। अथवा, आप जब प्रकृति पर विचार करते हैं, तब आपके विचार का विषय धीरे-धीरे विश्व अथवा चरम तत्व के साथ एकरूप हो जाता है। और प्रश्न यह उपस्थित होता है कि, जब हम प्रकृति में आध्यात्मिक जीवन की योजना अथवा आध्यात्मिक गुणों का आरोप करने लगते हैं, तो किस अवस्था में हम प्रकृति को उसके सच्चे अर्थ में ग्रहण करना छोड़ देते हैं। वस्तु-जगत् के एक सीमान्त प्रदेश के रूप में जो प्रकृति है उसको छोड़कर, हम उस प्रकृति पर कब पहुँच जाते हैं जो किसी उच्चतर इकाई के एक अन्तर्भूत तत्त्व के रूप में होती है ? ये प्रश्न दर्शन उठाता है, और इनके उत्तरों से हमें प्रकृति के गुणों के विषय में स्पष्टतर निष्कर्ष प्राप्त हो सकते हैं। यहाँ मैं केवल उनका उल्लेख-मात्र कर सकता हूँ, और जिस निष्कर्ष का मैं आग्रह करता हूँ उस पर अधिकांशतः स्वतन्त्र रूप से ज़ोर दिया जा सकता है। चरम तत्व में कोई ह्रास नहीं होता, और सभी आभासों में सत्ता होती है। प्रेक्षक कवि अथवा चित्रकार जिस प्रकृति का अध्ययन करता है वह अपनी सभी इन्द्रियगम्य और रागात्मक पूर्णता में एक अत्य-

विक सत् प्रकृति है। वही, अनेक अर्थों में, भौतिक विज्ञान के संकीर्ण विषय की अपेक्षा अधिक सत् है, क्योंकि प्रकृत गुणों में ही जिस जगत् का अपना वास्तविक सार अन्त-र्निहित होता है, उसमें सत्ता और सत्य की कोई ऊँची मात्रा नहीं होती। वह किसी उद्देश्य-विशेष के लिए रचित तथा अपेक्षित एक पृथक्कृति-मात्र होती है। और जो प्रकृति प्राकृतिक-विज्ञान के अध्ययन का विषय है, वह या तो यही रूप-रेखा होगी अथवा वह अस्थि-पंजर जो विकृत गुणों के रक्त-मांस-द्वारा सत् बना दिया जाता है। अतः जिन भावों का उद्रेक प्रकृति हम में करती है उसका निरूपण करने से पूर्व, यह जान लेना अच्छा होगा कि हम उसका प्रयोग किस अर्थ में कर रहे हैं। परन्तु, प्रकृति की सीमा को विकृत गुणों तक में भी मुश्किल से ही निर्धारित किया जा सकता है। अथवा, यदि हम उसको उन्हीं तक रखें, तो भी हमें निरंकुशतापूर्वक और अपनी सुविधानुसार ही निर्धारित करनी पड़ेगी। केवल इसी आधार पर, प्रकृति से आध्यात्मिक जीवन बहिर्गत किया जा सकता है, जबकि अन्यथा ग्रहण किये जाने पर, वह यह बहि-ष्कार नहीं कर पायगा। और प्रकृति में सौन्दर्यात्मिक गुणों को न मानना एक बार फिर निःसन्देह निरंकुश कार्य होगा। यह एक ऐसा विभाजन होगा जिसका समावेश केवल एक कामचलाऊ सैद्धान्तिक उद्देश्य के लिए होगा। जो सूक्ष्म है वह अवस्तु है, हमारा यह सिद्धान्त हमें निरन्तर ऊपर ले जाता है। प्रथम तो यह हमें, केवल प्रकृत गुणों के तिरस्कार करने को, विवश करता है, और अन्त में वह हमें, इस बात पर बाध्य करता है कि प्रकृति में हमारी उच्चतर भावनाओं का आरोप किया जाय। वह प्रक्रिया केवल वहीं समाप्त हो सकती है, जहाँ प्रकृति पूर्णतया आत्मा में लीन हो जाती है, और इस प्रक्रिया की प्रत्येक स्तर पर सत्ता में हम वृद्धि पाते हैं।

और इस श्रेय-व्याख्यान तथा प्रकृति की इस फलित अतिक्रान्ति के द्वारा हम एक अन्य एक ऐसे विषय की चर्चा पर पहुँच जाते हैं जिसका उल्लेख हम ऊपर कर चुके हैं। क्या ससीम आत्माओं के अतिरिक्त तथा संकल्प-क्रिया से पृथक्, कहीं अन्यत्र भी हम यह कल्पना कर सकते हैं कि प्रकृति के भीतर भी प्रयोजन कार्य करते हैं, और क्या प्रयत्नशीलता, किसी दूसरे अर्थ में, वहाँ एक सक्रिय शक्ति हो सकती है? सौन्दर्य-शास्त्र में और धर्म के दर्शन में, इस प्रकार के दृष्टिकोण को कहाँ तक स्थान दिया जा सकता है, इस बात की खोज मैं नहीं करूँगा। परन्तु, भौतिक जगत् को एक दिग्व-च्छिन्न आभास-तन्त्र-मात्र समझ कर, क्या हमें तत्वज्ञानीय आधार पर यांत्रिक दृष्टि की अनुपादेयता पर जोर देना है? यदि किसी रूप में हमें प्रकृति के किसी दर्शन का प्रतिपादन करना है, तो वह किस रूप में? इस कठिन विषय पर, अत्यन्त संक्षेप में, मैं कुछ चलते-चलते चर्चा करूँगा।

एक पूर्ण सत्य-निरूपण के रूप में, यांत्रिक दृष्टि स्पष्टत: असंगत है। इस प्रकार ग्रहण किये जाने पर भी, प्रकृति (हम यह कह सकते हैं कि) प्रत्ययपरक होने से नहीं रुकी, परन्तु उसकी प्रत्ययपरकता निरन्तर कहीं उससे बाहर की ओर संकेत करती है (अध्याय २२ और २३) और, यह बात मैं नहीं कर सकता कि कामचलाऊ उद्देश्य तक के लिए भी इस दृष्टि पर दृढ़ता से आरूढ़ रहा जा सकता है या नहीं। परन्तु, इस विषय में मुझे कोई सन्देह नहीं। प्रत्येक विशेष विज्ञान को अपनी प्रणाली अपनाने की स्वतन्त्रता होनी चाहिए, और, यदि प्राकृतिक विज्ञान ऐसी प्रत्येक व्याख्या का तिरस्कार कर देते हैं जो यांत्रिक न हो, तो इससे तत्त्वज्ञान को कोई लेना-देना नहीं। अन्य प्रणालियों के विषय में अज्ञ होने से मैं स्वयं तो यही कल्पना करने का साहस करता हूँ कि ये विज्ञान अपने निजी कार्य को समझते हैं। परन्तु, जब किसी विशेष-विज्ञान की परिधि से बिलकुल बाहर कोई बातें की जाती हैं, तो तत्त्ववेत्ता विरोध कर सकता है। वह यह आग्रह कर सकता है कि पृथक्करण-सत्ताएँ नहीं होतीं, और कामचलाऊ मनगढ़न्तें कदापि उपयोगी सत्यांशों से अधिक नहीं हो सकतीं और एक-दूसरे विषय में भी उसकी बात सुनी जा सकती है। प्रामाणिक व्याख्यान का एक ही सिद्धान्त स्वीकार कर लेना और यह कहना कि, यदि नाम-रूपों को व्याख्यातव्य होना है तो उनकी व्याख्या एक ही ढंग से होनी चाहिए—ये नि:सन्देह किसी भी विज्ञान के उपयुक्त हो सकते हैं। परन्तु नाम-रूप को ऐसी अवस्था में पूर्ण व्याख्यात घोषित करना अथवा व्याख्यातव्य कहना एक दूसरी बात है, जबकि कुछ पक्षों अथवा कुछ क्षेत्रों में वे स्पष्टतया व्याख्यात नहीं होते और जबकि संभवत: व्याख्या का प्रथम प्रयास भी नहीं हुआ होता है। अपनी निजी सीमाओं के बाहर होते इन व्यक्तियों अथवा पर्यटनों में प्राकृतिक विज्ञान को कोई अधिकार प्राप्त नहीं। परन्तु मेरे विचार में उसकी सीमाओं के भीतर उसे प्रत्येक बुद्धिमान आदमी पवित्र मानेगा। और प्रकृति में प्रयोजनों की सक्रियता का प्रश्न, मेरी सम्मति में, एक ऐसा प्रश्न है जो तत्त्व-विज्ञान को नहीं छूना चाहिए।

तो फिर क्या ऐसा कोई भी सुनिश्चित कार्य तत्त्वज्ञान के लिए नहीं बचा कि जिसके सम्पादन को प्रकृति का दर्शन कहा जा सके? मैं, संक्षेप में, उस क्षेत्र की ओर संकेत करूँगा जो उसके लिए अभी खाली प्रतीत होता है। तत्त्व-विज्ञान के लिए सभी आभासों में सत्ता की विभिन्न मात्राएँ होती हैं। पूर्णता अथवा व्यक्तित्व की हमारी एक कल्पना होती है और, जब हम यह देखते हैं कि किसी प्रकार का अस्तित्व इस कल्पना का, अधिक पूर्णता के साथ, साक्षात्कार करता है, तो हम सत्ता के सोपान में उसे उसका स्थान प्रदान करते हैं। और जैसा हम देख चुके हैं, इस सोपान में, निचली

सीढ़ी अपने दोषों का परिहार करके, अपने से परे उच्चतर सीढ़ी में समाविष्ट हो जाती है। अंतिम अथवा चरम व्यक्तित्व भी वही तत्त्व है। आदि से विद्यमान होकर, वह अपनी निचली अवस्थाओं के लिए कसौटी प्रस्तुत करती है, और जब ये पूर्णतर सर्वों में समाविष्ट हो जाती है, तो उस तत्त्व की सत्ता बढ़ जाती है। संक्षेप में, तत्त्वज्ञान पूर्णता और प्रगति को एक अर्थ प्रदान कर सकती है। और इसलिए, यदि वह विज्ञानों-द्वारा प्रस्तुत विभिन्न प्रकार के प्राकृतिक नामरूप को स्वीकार करे, यदि वह यह बतला सके कि प्रत्येक उच्चतर स्तर में निम्नतर स्तर के दोषों का किस प्रकार निराकरण होता है और निम्नतर स्तर का तत्त्व उच्चतर स्तर को किस प्रकार पहुँचता है—तो निःसन्देह तत्त्वज्ञान प्रकृति के व्याख्यान में अपनी कुछ देन प्रस्तुत कर सकेगा। और मैं स्वयं किसी ऐसे कार्य में सहायता तक के लिए पूर्णतया असमर्थ हूँ, परन्तु मेरी समझ में यह नहीं आता कि किस प्रकार और किस आधार पर उसको अवैज्ञानिक समझा जाय। व्यवस्थित सर्वज्ञता का प्रदर्शन करना निःसन्देह बेतुका होगा। संलग्न विशेषता के विस्तार और संकोच पर घृणा की बौछार करना और भी भद्दा होगा। परन्तु विज्ञानों के परिणामों को यदा-कदा तंत्र का रूप देने के लिए प्रयत्नशील होना और इनको मूल्यांकन के किसी सत्य प्रतीत होने वाले सिद्धान्त पर व्यवस्थित करना, कठिनाई से ही तर्क-विरुद्ध कहा जा सकेगा। यदि प्रकृति का ऐसा कोई भी दर्शन कम-से-कम स्वयं-सत्य होगा, तो वह भौतिक विज्ञान के क्षेत्र पर आक्रमण नहीं कर सकता, क्योंकि संक्षेप में, वह पूर्णतया तथा प्रत्येक ढंग से, उद्भव-विषयक मीमांसा से विरत हो जायगा। प्रगति की विभिन्न अवस्थाएँ काल के भीतर किस प्रकार घटित होती हैं, किस क्रम में अथवा किन क्रमों में वे आती हैं, और प्रत्येक प्रसंग में कहाँ से आती हैं—ये प्रश्न, स्वयं, दर्शन से कोई सम्बन्ध नहीं रखते संक्षेप में विकास और प्रगति के विषय में उसकी कल्पना काल-गत नहीं होनी चाहिए। और इसलिए, विकास अथवा व्यवस्था के किसी प्रश्न पर विज्ञान के साथ संघर्ष ठीक-ठीक नहीं उत्पन्न हो सकता। 'पर' और 'अवर' शब्द सदैव एक मानदंड और लक्ष्य के द्योतक हैं, परन्तु दर्शन में उनका प्रयोग, पूर्णतया एक पद को व्यक्त करने के लिए होता है। प्राकृतिक विज्ञान इस समय की भाँति ही, फिर भी, अपनी इच्छानुसार इस प्रकार के शब्दों का उपयोग अथवा दुरुपयोग तक करने के लिए, और सुविधानुसार उनमें अर्थ की किसी मात्रा का आरोप करने के लिए स्वतन्त्र होगा। दर्शन की दृष्टि में, प्रगति का कदापि कोई कालात्मक अर्थ नहीं हो सकता, और यदि इस शब्द का अन्यत्र कुछ भी अर्थ प्रतीत न हो, तो इसमें कोई हानि नहीं। इन थोड़ी-सी बातों के पश्चात् ही मुझे एक ऐसा विषय छोड़ देना पड़ेगा जिस पर बहुत अधिक ध्यान देने की आवश्यकता है।

एक परिपूर्ण दर्शन में, सम्पूर्ण आभास-जगत एक प्रगति के रूप में प्रस्तुत किया जायगा। उसमें यद्यपि कोई कालगत पूर्वापरता न होगी परन्तु फिर भी एक तत्त्व-विकास होगा। प्रत्येक अनुभव-क्षेत्र की माप चरम मानदंड से होगी, और, उसके निजी सापेक्षिक गुणों और दोषों के अनुसार उसको कोई पद दिया जायगा। इस मापदण्ड पर, शुद्ध चेतन उस चरम सीमा पर रहेगा जो अचेतन प्रकृति से सर्वाधिक दूर और पृथक् है। और, इस मापदंड के प्रति उच्चतर चिन्ह पर प्रथम स्वरूप का अधिक और द्वितीय स्वरूप का कम भाग मिलेगा। हम यह कह सकते हैं कि चेतन का आदर्श यंत्रवाद के प्रत्यक्षतः विरुद्ध है। चेतन नानात्व की एक ऐसी एकता है जिसमें नानात्व की बाह्यता नितान्त समाप्त हो जाती है। यहाँ पर सार्वभौम तत्त्व इन्हीं अंगों में व्याप्त होता है, और उसका तंत्र कहीं बाहर और इनके परस्पर सम्बन्धों में स्थित नहीं होता। वह सम्बन्धात्मक रूप से ऊपर होता है और उसको वह एक उच्चतर एकता से एक ऐसे सर्व में विलीन कर चुकता है, जिसमें तत्त्वों और नियमों के बीच भेद नहीं होता। और, नग्न यंत्रवाद की असंगतियों में प्रारम्भ से ही इस सिद्धान्त के दर्शन होने के कारण, हम यह कह सकते हैं कि चेतन, एक साथ ही, प्रकृति का साक्षात्कार तथा विलीनीकरण कर लेता है। परन्तु हमें यह भी कह देखना चाहिए कि इन पराकाष्ठाओं में से किसी का भी, तथ्य-रूप में, कोई अस्तित्व नहीं है। मृत यंत्रवाद का क्षेत्र एक पृथक्करण की एक क्रिया-द्वारा निर्णीत होता है, और वस्तुतः उसी पृथक्करण में ही उसकी स्थिति होती है। और, दूसरी ओर, शुद्ध चेतन साक्षात्कार चरम तत्व के अतिरिक्त अन्यत्र होता नहीं। अस्तित्व के सोपान में, वह कदापि इस रूप में तथा अपने पूर्ण स्वरूप में आभासित नहीं हो सकता। परिपूर्णता और व्यक्तित्व केवल उस सर्व में ही सम्भव है, जिसमें सभी विभिन्न मात्राएँ समान रूप से एक साथ विद्यमान तथा विलीन रहती हैं। अस्तित्व की यह एक सत्ता निज रूप में, नाम-रूपात्मक जगत् में कहीं भी नहीं होती। और वह विकास तथा प्रगति में प्रविष्ट होती है, परन्तु वह स्वयं विकास तथा प्रगति करने में असमर्थ होती है।

इस अन्तिम कथन की सत्यता के विषय में चर्चा करना लाभदायक सिद्ध हो सकता है। अन्त में, और कुल मिलाकर, क्या विश्व में कोई प्रगति है? क्या किसी एक समय की अपेक्षाकृत अधिक अथवा न्यून होता है? यह स्पष्ट है कि हमें इसका उत्तर नकार में देना होगा क्योंकि विकास और ह्रास की परिपूर्णता के साथ संगति नहीं बैठती। निःसन्देह जगत् में प्रगति भी है और प्रतिगति भी है, परन्तु हम यह नहीं सोच सकते कि सर्व या तो अग्रगति करता है अथवा पश्चगति। चरम तत्त्व का अपना निज का कोई इतिहास नहीं होता। यद्यपि उसके भीतर असंरूप इतिहासों का समावेश

होता है। अपने उत्थान अथवा पतन की कहानी लिये हुए, ये इतिहास ऐसी सृष्टियों के रूप में होते हैं जिनका आरम्भ और आधार किसी एक प्रस्तुत ससीमता-खंड पर होता है। कालात्मक आभास के क्षेत्र में, वे केवल आंशिक पक्ष होते हैं। विस्तार और महत्त्व में, उनके सत्य और उनकी सत्ता में बहुत-कुछ भिन्नता हो सकती है, परन्तु अन्त में वह सापेक्षिक कदापि नहीं हो सकता। और, मनुष्य अथवा जगत् का इतिहास आगे जा रहा है या पीछे, यह प्रश्न तत्त्व-विज्ञान से सम्बन्ध नहीं रखता, क्योंकि ऐसी किसी भी वस्तु में गति नहीं हो सकती जो परिपूर्ण है, जो वस्तुतः सत् है। चरम तत्त्व में ऋतुएँ नहीं होतीं, अपितु उसके पत्र, पुष्प और फल सब-के-सब एक साथ प्रगट हो जाते हैं। हमारी पृथ्वी की भाँति उनमें सदैव, ग्रीष्म तथा शरद् कदापि नहीं होते।

यदि इस प्रकार का कोई दृष्टिकोण हमें हताश करता है, तो इसके समझने में भूल हुई होगी। हमारी भूल के कारण ही, उसका व्यावहारिक मान्यता से संघर्ष होता है। यदि अपने निजी सापेक्षिक सत्य से युक्त शिवत्व के जगत् में, आप प्रत्यक्ष रूप से ऐसी कल्पनाओं को घुसेड़ेंगे जो केवल सर्व पर ही लागू होती हैं, तो अपराध निःसन्देह आपका होगा। चरम तत्त्व का स्वरूप स्वयं सापेक्ष को अपने में नहीं रख सकता, परन्तु सापेक्ष फिर भी अक्षुण्ण होकर, चरम तत्त्व में अपने स्थान को बनाये रखता है। अथवा फिर, आप क्या, अपने को अभ्यास-क्षेत्र में सीमित करके उसके मानदंडों को विश्व पर लागू करने का आग्रह करेंगे ? हमें अपने अभ्यास के लिए, निःसन्देह एक कालगत घटना और एक व्यक्तिगत ससीमता की आवश्यकता है। शुभतर होने के लिए, और, मेरी समझ में, अशुभतर होने के लिए भी, हमें एक सामर्थ्य की आवश्यकता है। और यदि ये विशेषताएँ, इस रूप में, वस्तुओं के सर्वांग में रहें, और यदि वे अन्तिम सत्ता पर भी लागू हों, तो इस ग्रन्थ के प्रमुख निष्कर्ष स्वभावतः सदोष हो जायेंगे। परन्तु, जब तक उनको एक तर्कसंगत रूप प्रदान किये जानेका प्रयत्न दिखायी नहीं पड़ता, कम-से-कम तब तक मैं अन्य निष्कर्षों को स्वीकार नहीं कर सकता। और मैं ऐसे मतों का आदर नहीं कर सकता जो मुझे बहुत-सी बातों में कृत्रिम प्रतीत होते हैं। यदि प्रगति सापेक्ष से अधिक, और आंशिक नाम-रूप-मात्र के परे कुछ है, तो जिस धर्म को हम साधारणतया मानते हैं उसका त्याग हो जाता है। यदि आप यह मानते हैं कि प्रगति अन्तिम तथा चरम है और वह पदार्थों का परम सत्य है, तो आप ईसाई नहीं रह सकते। और मैं इस विचार को निःसन्देह, निज मुख से उद्भूत एक तर्क के रूप में नहीं, अपितु कुछ व्यक्तियों को उनकी असंगतिशीलता बतलाने के प्रयत्न के रूप में प्रस्तुत करता हूँ। नैतिक दृष्टिकोण को आप आत्यंतिक बना लीजिए, और फिर आप अपनी स्थिति को देखिए। उस समय वह न केवल तर्क-विरुद्ध हो जायगी,

अपितु, मेरी समझ में, प्रत्येक विचारणीय धर्म से भी आपका नाता टूट जायगा और आप, इस स्थिति में, केवल-मात्र पूर्वाग्रह का अनुसरण करके ही, पड़ जायेगें।

मैं इससे सहमत हूँ कि दर्शन को हमारे जीवन के विविध पक्षों का औचित्य सिद्ध करना पड़ता है, परन्तु यदि किसी भी पक्ष को चरम बना दिया जाय, तो मैं तो कहूँगा कि यह असम्भव है। हमारी जीवन-दृष्टियाँ निरन्तर एक-दूसरे का स्थान लेती रहती हैं, और, यदि प्रत्येक को अपने-अपने क्षेत्र में सर्वोच्चता प्राप्त हो जाती है, तो जीवन की साध्र पूरी हो जाती है। अब एक बात यह है कि विश्व की प्रगति को अस्वीकार कर देने से नैतिकता निःसन्देह जहाँ-की-तहाँ रह जाती है। मनुष्य स्वयं अथवा उसका जगत्, अपने ही निजी प्रयत्न से, उन्नति करने वाला है (ऐसी उसे आशा है) अथवा उन्नत बनाया जाने (वह अच्छी तरह जानता है) वाला है। अभी तक, विप्लव अपनी असफलता के द्वारा अशुभतर है, अभी तक वह अपनी सफलता-द्वारा शुभतर है। और यदि वह, इतने से सन्तुष्ट न होकर, विश्व को व्यापक रूप में बदलना चाहता है, तो कम-से-कम उसे न तो तर्क की दुहाई देना चाहिए, और न धर्म अथवा नैतिकता की, क्योंकि विश्व का विकास अथवा ह्रास मूर्खतापूर्ण, अर्थहीन तथा अनस्तित्ववान् प्रतीत होता है। जबकि, दूसरी ओर, प्रगति में विश्वास अथवा हमारे भूमिवासियों के अध्यवसाय का तत्त्व-ज्ञान से कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। और मैं यह भी कह दूं कि इसका नैतिकता से भी कोई सम्बन्ध नहीं है। ऐसे विश्वास से हमारे कर्त्तव्य नहीं बदल सकते, और जिस मनोवृत्ति के साथ हम उनका सामना करते हैं, तथा जो परिवर्तन इसके द्वारा उत्पन्न होता है, वह सम्भव है कि पूर्णतया लाभदायक न हो। यदि हम हताश होने के कारण दुर्बल हो सकते हों, तो हम मूर्खतापूर्ण उत्साह तथा दुष्टतापूर्ण ताने से भी कम आतुर नहीं हो जाते। परन्तु ऐसे विषयों पर चर्चा करने के लिए, यहाँ अवसर नहीं, और हम यही जानकर सन्तोष कर लेते हैं कि हम चरम तत्त्व में किसी प्रगति का आरोप नहीं कर सकते।

एक मिलते-जुलते विषय पर कुछ चर्चा करके मैं इस अध्याय को समाप्त करूँगा। मेरा उद्देश्य उस विषय से है जिसको सामान्यतः आत्मा की अमरता कहा जाता है। यह एक ऐसा विषय है जिसके विषय में मैं कई कारणों से मौन धारण कर लेता, परन्तु, मेरा अनुमान है कि यहाँ के इस मौन का गलत अर्थ लगाया जायगा। प्रथम तो, ठीक-ठीक यह कहना सरल नहीं कि किसी भावी जीवन से क्या अभिप्राय है। व्यक्तिगत क्रमागति की अवधि को अनन्त मानने की स्पष्टतः आवश्यकता नहीं है। और फिर यह बतलाना भी सरल नहीं कि अमरता को ठीक-ठीक किस अर्थ में, और किस सीमा

तक व्यक्तिगत माना जाय। मैं यह मान कर चलता हूँ कि उससे अभिप्राय एक ऐसे मरणोपरान्त अस्तित्व से है जो हमारे वर्तमान ऐहिक जीवन से एकरूपता रखता है। और उसकी अवधि इतनी तो मानी ही जानी चाहिए जिससे इच्छा-विरुद्ध अन्त अथवा असामयिक निधन की कोई कल्पना दूर की जा सके। और यदि हम निरन्तर जीवन रखना चाहते ही हैं, तो इसके अनेक कारण प्रतीत होते हैं, और अन्यत्र इन कारणों का निरूपण तथा अस्पष्टताओं का निराकरण करना मनोरंजक हो सकता है।[1] परन्तु अभी तो तुरन्त ही हमें इसकी संभावना पर विचार करना होगा।

एक अर्थ में आत्माओं की अमरता असम्भव है। हमें यह याद रखना चाहिए कि विश्व में बढ़ने की सामर्थ्य है। और नयी-नयी आत्माओं के निरन्तर आगमन से, उनके विनाश के नितान्त अभाव में, हम स्पष्टतया अन्त में एक बड़ी कठिनाई में पड़ जायेंगे। परन्तु इस अर्थ में इस सिद्धान्त को मानना, मेरी समझ में, नितान्त आवश्यक है। और, यदि हम प्रश्न पर सामान्य दृष्टि से विचार करें, मरणोपरान्त जीवन की सम्भावना को अस्वीकार करना बिलकुल हास्यास्पद होगा। प्रथम तो यह सिद्ध करने का कोई उपाय नहीं है कि आत्मा के लिए शरीर की अपेक्षा है (अध्याय २३) और यद्यपि, जहाँ तक हम समझते हैं, देहहीन होकर संभवतः आत्मा अधिक मरणशील हो जाय, परन्तु फिर भी यह स्पष्ट है कि यहाँ हम एक अज्ञान के क्षेत्र में पदार्पण कर जाते हैं। और यह कहना कि इस क्षेत्र में व्यक्तिगत जीवन की निरन्तरता नहीं हो सकती, केवल तर्क-विरुद्ध प्रतीत होता है। और यदि हम प्रत्येक आत्मा के लिए एक शरीर को अनिवार्य मान लें, और यह आग्रह करें (जैसा कि हम कर नहीं सकते) कि यह शरीर हमारे सामान्य तत्त्व का ही बना हो, तो भी यही परिणाम रहता है। सामान्य स्थूल भौतिकवाद के आधार पर भी भावी जीवन की संभावना हो सकती है।[2] एक कालावधि (वह

---

१. अन्त हो जाने का तथाकथित भय एक भ्रम पर आश्रित है, और मैं नहीं विश्वास करता कि किसी ठीक रूप में, उसका कोई अस्तित्व भी है। वस्तुतः वह केवल पराजय, आघात तथा दुःख से पलायन-मात्र है, क्योंकि हम अपनी निजी समाप्ति के विषय में सोच सकते हैं, परन्तु हम उसकी कल्पना नहीं कर सकते। हमारी इच्छा के विरुद्ध और संभवतः अज्ञात रूप से एक अनिच्छुक तथा संघर्ष-युक्त, अथवा एक निराश, अथवा श्रान्त अथवा किसी प्रकार असन्तुष्ट आत्मा की कल्पना धीरे-धीरे आ खड़ी होती है। और यह निःसंदेह पूर्णतः निर्वाणप्राप्त आत्मा नहीं हो सकता। हम यह कह सकते हैं कि या तो संयोगवश अथवा भ्रमवश मृत्यु का भय होता है, अन्यथा नहीं।

२. मैंने इस बात को ('फोर्टनाइटली रिव्यू' दिसम्बर १८८५) में प्रकाशित अपने एवीडेन्सेज आफ स्प्रीच्अलिजम' नामक लेख में दिखलाने का प्रयत्न किया है। यहाँ पर संभवतः यह कह देना उपयुक्त होगा कि ऊपरी तौर से एक ऐसा शरीर भी संभव हो सकता है जो दुर्घ-

कितनी ही लम्बी क्यों न हो) के पश्चात्, वहुत-कुछ हमारे जैसे ही एक अन्य ज्ञानतंतु-तन्त्र का विकास हो सकता है, और इसके भीतर एक स्मृति तथा व्यक्तिगत एकरूपता अवश्य प्रादुर्भूत होगी। यह घटना आप चाहे जितनी असंगत क्यों न मान लें, परन्तु वह असम्भव नहीं हो सकती। और हम एक कदम और भी आगे जा सकते हैं। यह कल्पना करना संभव है कि ऐसे शरीरों की एक अनिश्चित संख्या, केवल पूर्वापरता की दृष्टि से नहीं, अपितु एक ही दिक् और काल में स्थिति की दृष्टि से हो। परन्तु, यदि यह वात हो, तो हमारी व्यक्तिगत निरन्तरताएँ एकरूपी न होकर वहुरूपी हो सकती हैं, और हमारा भागधेय ऐसा हो सकता है जिसका कुछ भी विस्तार करना व्यर्थ होगा। जो प्रकार ऊपर वतलाये गये हैं उनमें स्पष्टतया भावी जीवन संभव हो सकता है, परन्तु, दूसरी ओर, ऐसी सम्भावनाओं का कोई मूल्य नहीं।

जब कोई वस्तु, सत्ता के ज्ञात स्वरूप का खंडन करती है, तव वह वस्तु नितान्त असम्भव होती है।[1] जब वह किसी ऐसी कल्पना से टकराती है जिसको हम सकारण सत् मानते हैं, तो वह अपेक्षाकृत असम्भव हो जाती है। कोई वस्तु प्रथम तो तब तक सम्भव होती है जव तक वह नितान्त अर्थहीन नहीं हो जाती। इसमें कोई-न-कोई निश्चित विश्वगत गुण अवश्य होना चाहिए, और साथ ही, उसे इस गुण को तथा स्वयं को, किसी घातक वृद्धि द्वारा दूर नहीं कर देना चाहिए। कोई वस्तु उतनी ही अधिक संभव होती है जितना ही उसके अर्थ में, किसी भी असंगति के विना ही, किसी ऐसे तत्त्व का समावेश होता जिसको सत् माना जाता हो। दूसरे शब्दों में, जैसे-जैसे कोई वस्तु अधिकाधिक शक्य होती जाती है वैसे-ही-वैसे वह अधिक संभव होती जाती है। और यह ठीक ही कहा जाता है कि शक्यता हमारे जीवन की मार्गदर्शिका है। संक्षेप में, हम यह नहीं जानना चाहते हैं कि कोई वस्तु केवल तथा एकमात्र संभव है, अपितु यह कि उसकी ही आशा करने तथा अन्य किसी भी की आशा न करने के लिए हमारे पास क्या आधार है?

प्रस्तुत के समान किसी अन्य प्रसंग में, हम निःसन्देह संयोगों या दैवयोगों को नहीं रख सकते, क्योंकि यह हमारा सम्बन्ध ऐसे तत्त्वों से है जिनका मूल्य अज्ञात है। और शक्यता की दृष्टि से अज्ञात विभिन्न प्रकार का है। प्रथम तो नितान्त अज्ञात है, जो किसी भी प्रकार सम्भव नहीं हो सकता, और इसको अस्वीकार करके शून्यवत् माना जाता है। इसके पश्चात् किंचित् सम्भव होता है, जिसका पूरा स्वरूप छिपा होता है,

---

टनाओं को छोड़कर अन्यथा कदापि मरे नहीं। ऐसा प्रतीत होता है कि कम-से-कम हमारे वर्त्तमान ज्ञान के अनुसार, इस वात को सिद्धान्ततः असम्भव नहीं कहा जा सकता।

१. देखिए ऊपर, अध्याय २४, और नीचे, अध्याय २७।

परन्तु जिसका विस्तार तथा मूल्य (कुछ अन्य घटनाओं से विपरीत) स्पष्ट होता है। और यहाँ तक सब-कुछ सीधा होता है। परन्तु अज्ञात फिर भी दो अन्य दुर्गम अर्थों में शेष रह जाता है। वह एक ऐसी संभावना मात्र का ही द्योतक हो सकता है जिसके विषय में हम आगे कुछ भी न जानते हों, और जिसको स्वीकार करने के लिए हमें और कोई आधार न मिल सके। अथवा पुनः अज्ञात एक ऐसे क्षेत्र में व्याप्त हो सकता है, जहाँ हम किन्हीं सूक्ष्मताओं का निरूपण न कर सकें, परन्तु जिसको फिर भी हम संभव घटनाओं की एक महती विविधता से युक्त मान सकते हैं।

इन शुष्क भेदों के महत्त्व को हम शीघ्र ही देखेंगे। एक देहहीन आत्मा संभव है, क्योंकि वह अर्थहीन नहीं, अथवा किसी प्रकार से असम्भव नहीं माना जाता। परन्तु, इसके पक्ष में मुझे कोई अन्य हेतु नहीं दिखायी पड़ता। और, फिर, क्या देहहीन आत्मा अमर होगा? और विशेषतया मृत्यु के पश्चात्, देहहीन अस्तित्व को क्यों बनाये रखें? इस मीमांसा से, भावी जीवन की मूलभूत अल्प शक्यता में बहुत वृद्धि होती नहीं प्रतीत होती। और फिर, यदि हम शरीर को अनिवार्य मानें—एक ऐसे शरीर को जो परिचित अथवा अपरिचित भौतिक तत्त्वों का बना हो—तो, इस आधार पर, मरणोपरान्त हमारी व्यक्तिगत निरन्तरता के लिए क्या अवसर रह जाता है? आप यहाँ पर अज्ञात की दुहाई दे सकते हैं, और जहाँ हमारा ज्ञान शून्य प्रतीत होता हो, वहाँ पर आप संभवतः यह कहें कि, उसके विरोधी तथा विलोम की भाँति ही, यह घटना भी क्यों नहीं? परन्तु यह प्रश्न एक हेत्वाभास पर निर्भर होगा, और मैं अवश्य उसी भेद पर आग्रह करूँगा जिसका कि निरूपण मैं कर चुका हूँ। इस अज्ञात क्षेत्र में, हम निःसन्देह संयोगों को पृथक् करके नहीं प्रस्तुत कर सकते, परन्तु एक दूसरे अर्थ में, यह क्षेत्र सर्वथा अज्ञात नहीं।[1]

हम यह नहीं कह सकते कि, वहाँ पर सम्भव होने वाले सभी योगों में से, आधे हमारी समझ में मरणोपरान्त अस्तित्व के पक्ष में हैं, क्योंकि, वास्तविक अनुभव के आधार पर निर्णय करने से, ये योग प्रायः विपक्ष में जाते प्रतीत होते हैं। और, यद्यपि

१. किसी अज्ञात की अशक्यता को ठीक ही अर्द्ध-मात्र माना जाता है। परन्तु इस सूक्ष्म तत्त्व को लागू करते समय, हमें भूल के विरुद्ध सावधान रहना चाहिए। किसी कालगत घटना के प्रसंग में, अज्ञान कठिनता से ही परिपूर्ण हो सकता है। उदाहरणार्थ हम जानते हैं कि प्रत्येक क्षण, प्रकृति परिवर्तित घटनाओं की विविधता उत्पन्न करती रहती है। अतः, किसी स्थान विशेष में, किसी घटना विशेष की पुनरावृत्ति जैसे किसी सूक्ष्म अवसर को अर्द्ध से भी न्यून मानना पड़ेगा। दूसरी ओर, दूसरे प्रकार के विचार उत्पन्न हो जायेंगे, और वे उस मूल्य को अनन्त रूप में बढ़ा देंगे।

चाहे अनुभवातीत तत्त्व का स्वरूप अति-भिन्न हो, परन्तु फिर भी इस विषय में हमारा निर्णय, हम जो जानते हैं, उससे अवश्य प्रभावित होगा। परन्तु, यदि ऐसी बात है तो यद्यपि योगों की सम्पूर्ण विविधता अत्यधिक होगी, परन्तु बहुरूप या एकरूप निरन्तर जीवन के अनुकूल समझा जाने वाला अंश अत्यल्प मानना पड़ेगा। यदि हम इस अज्ञात क्षेत्र का निरूपण करें, तो ऐसा ही निष्कर्ष होगा। परन्तु, यदि हम इसका निरूपण न करें, तो इस आधार पर किसी भावी जीवन की संभावना नितान्त अज्ञात हो जाती है, और यदि यह बात हो, तो हमें उस पर विचार करने का कुछ भी अधिकार नहीं है। और मेरी समझ में सामान्य निष्कर्ष यह निकलता है। जब आप मरणोपरान्त जीवन —देहहीन और फिर विविध देहयुक्त जीवन की संभावनाओं को एकत्र करें, तो उनका योग बहुत नहीं होगा। विरोधी शक्यता का पलड़ा इतना अधिक भारी प्रतीत होता है कि, मेरी समझ में, दूसरी ओर का अल्पांश उल्लेखनीय नहीं ठहरता, और हम अपने निष्कर्षों की पुनरावृत्ति तथा संक्षिप्ति इस प्रकार कर सकते हैं। यदि हम रिक्त अज्ञान की दुहाई दें, तो किसी भावी जीवन का संभवतः कोई अर्थ भी न रह जाय और उसकी संभावना ही पूर्णतया नष्ट हो जाय। अथवा यदि हम इस निकृष्टतम पराकाष्ठा को बचा जायँ, तो भावी जीवन केवल संभव-मात्र ही हो। परन्तु, इस अर्थ में यह संभावना अनन्त विश्व के सामने निराधार होकर स्थित होती है। और अभी तक उसके मूल्य को कठिनाई से ही गणनीय माना जा सकता है। दूसरी ओर, यदि हम अपने उपलब्ध ज्ञान का उपयोग कर सकें, और यदि हम निर्णय के लिए उपलब्ध सभी आधारों पर भावी जीवन का समुचित मूल्यांकन करें, तो भी परिणाम बहुत कुछ नहीं बदलता। उन आधारों में, हम निःसन्देह एक ऐसा अंश पाते हैं तो निरन्तरता के पक्ष में है, परन्तु, उसके सर्वोच्च रूप को ग्रहण करने पर भी, वह अति क्षुद्र प्रतीत होता है। अतः किसी पारलौकिक जीवन को निश्चित रूप से अशक्य ही मानना पड़ेगा।

परन्तु यह आपत्ति की जायगी कि, इस प्रकार प्रश्न का समुचित निरूपण नहीं हुआ। यह कहा जायगा कि जिन आधारों का आपने उल्लेख किया है, उन पर पारलौकिक जीवन अशक्य हो सकता है, परन्तु वे आधार वस्तुतः प्रमुख विषय के बाहर पड़ते हैं। हमारे विचारों में किसी पारलौकिक जीवन का सुनिश्चित प्रमाण ही महत्त्व रखता है, और यह चर्चा का विषय नहीं कि सूक्ष्मतः क्या शक्य है ? यह आपत्ति उचित है और इस विषय में मेरा उत्तर साफ़ और सीधा है। मैंने सुनिश्चित प्रमाण की उपेक्षा कर दी, क्योंकि मेरे लिए उसका कोई महत्त्व नहीं। किसी पारलौकिक जीवन को न केवल संभव, अपितु सत् सिद्ध करने वाले प्रत्यक्ष तर्क मुझे अनुपयुक्त जँचते हैं। सामान्यतः शक्यता में वे जो वृद्धि करते हैं, मेरी समझ में तुच्छ हैं, और इन तर्कों की सविस्तार

परीक्षा किये बिना ही, मैं कुछ टिप्पणियाँ और करूँगा।[1]

मैं फिर कहूँगा कि दर्शन को हमारी प्रकृति के सभी पक्षों में औचित्य दिखाना पड़ेगा, और इसका अभिप्राय यह है कि हमारी प्रमुख लालसाओं की तृप्ति होनी चाहिए। परन्तु, प्रत्येक प्रकार की प्रत्येक इच्छा मात्र तृप्त होनी चाहिए—यह एक नितान्त भिन्न माँग है, और वह निःसन्देह तर्क-संगत नहीं है। हमारी पिछली चर्चाओं के यह सर्वथा विरुद्ध पड़ता है। हमने सर्वत्र देखा है कि ससीम का लक्ष्य चरम परिपूर्णता में पहुँच जाता है, परन्तु पूर्णतया अपने इस रूप में और अपने निजी ढंग से कदापि नहीं। और, रही पारलौकिक जीवन के प्रति इच्छा की वात, सो, इसमें ऐसी कौन-सी दिव्यता है? उसकी सिद्धि प्रकृति के तत्त्वों में ही किस प्रकार निहित हो सकती है? यही नहीं, अपितु क्या उसमें स्वतः कोई तनिक भी नैतिक अथवा किंचित् मात्र भी धार्मिक तत्त्व है? मैं कभी दुख नहीं चाहता अपितु सदा सुख चाहता हूँ और अनन्त काल तक यही चाहता हूँ। परन्तु मेरी इच्छा की अक्षरशः पूर्ति मेरे विश्वगत-स्थान से मेल नहीं खाती। मेरे निजी स्वभाव से उसका सामंजस्य नहीं होता, और इसलिए मुझे तृप्ति की उस मात्रा से सन्तुष्ट होना पड़ता है जो मेरे स्वभाव के अनुकूल होती है। और इस कारण क्या मैं

---

१. भूत-प्रेतों और अमरत्व-प्रेम पर आश्रित तर्क की चर्चा मैं अपने उपर्युक्त (पृ० ४४५) लेख में कर चुका हूँ। वहाँ इस मान्यता पर कि अति मानवीय बुद्धियाँ सिद्ध हो चुकी हैं, मैंने यह दिखलाने का प्रयत्न किया कि आध्यात्मवाद के निष्कर्ष फिर भी निराधार हैं। यहाँ यह प्रतिपादन करने के लिए स्थान नहीं है कि यह मान्यता स्वयं ही हास्यास्पद और असत्य है। अध्यात्मवादी यह समझता प्रतीत होता है कि जो कोई भी वस्तु सामान्य वस्तुओं की सामान्य गतिविधि में नहीं आती, वह उसके विशेष निष्कर्ष को प्रमाणित करती है। वह संभावित तथा वास्तविक में कोई भेद देखता प्रतीत नहीं होता। मानों अन्नत संभावनाओं के विस्तृत क्षेत्र को खोल देना और एक के अतिरिक्त सब का वहिष्कार कर देना एक ही वात है। प्रत्यक्ष अथवा प्रच्छन्न अध्यात्मवादी के विरुद्ध यह आग्रह करना अत्यधिक महत्वपूर्ण है कि चाहे मनुष्य मात्र में हो अथवा संभवतः निम्न प्राणियों में, सभी तथ्यों का निरूपण करना आवश्यक है। नाम-रूप की अटूट निरन्तरता अध्यात्मवाद के लिए घातक है। मनुष्य के असाधारण आलोचन तथा आचरण की जितनी ही अधिक परीक्षा होती है, अमानवीय प्राणियों को पाना ही उतना ही अधिक नैराश्यपूर्ण हो जाता है। आधुनिक प्रेत-गोष्ठियों के भयंकर परिणाम जितने ही अधिक स्वीकार किये जाते हैं, उतना ही, दैत्यों के ऐसे दूर द्रष्टा तथा मूर्ख जगत् में, चैतन्य की एकरूपता की कोई कसौटी ढूँढ़ निकालना असम्भव होता जाता है। जहाँ तक तथ्यों की वात है, मेरा हृदय खुला है और सदैव पूर्णतया खुला रहेगा। अध्यात्मवादी के तर्कहीन निष्कर्षों को ही मैं तिरस्कार पूर्वक ठुकराता हूँ। वे मुझे एक विश्वसनीय अन्धविश्वासी की अभिव्यक्ति, तथा उसी की व्याजोक्ति प्रतीत होते हैं।

दर्शन को केवल इसलिए दिवालिया घोषित कर दूँ कि वह निराधार माँगों पर ध्यान नहीं देती ?

परन्तु यह कहा जा सकता है कि पारलौकिक जीवन की माँग एक वास्तविक धारणा है, और उसकी पूर्ति हमारे स्वभाव के मूल में अन्तर्हित है। अब यदि इसका अभिप्राय यह है कि हमारे धर्म और सदाचार का उसके बिना काम नहीं चलेगा, तो मेरा उत्तर यह है कि हमारे सदाचार और धर्म के लिए यह और भी बुरा है। इसका प्रतिकार शिवत्व-विषयक भ्रान्त और अनैतिक विचारों के सुधार में निहित है। यह विस्मयपूर्वक कहा जायगा कि ऐसी अवस्था बड़ी भयंकर होगी। अन्ततोगत्वा वह वस्तुतः आत्म-बलिदान होगा, और सद्गुण तथा स्वार्थ फिर भी एकरूप नहीं होंगे। परन्तु, १५ वें अध्याय में मैं पहले ही स्पष्ट कर चुका हूँ कि इस प्रभावोत्पादक पुकार का मुझ पर कोई प्रभाव क्यों नहीं पड़ता। परन्तु संकीर्ण न्याय सर्वोपरि नहीं होता। नहीं, मुझे विश्वास है कि वह ऐसा नहीं होता। विश्व में निःसन्देह सदाचार-मात्र के बाहर बहुत कछ है, और मुझे यह फिर भी सीखना है कि, नैतिक जगत् में भी, सर्वोच्च नियम न्याय का है। परन्तु यदि हम मर जायँ, तो हमारे सिद्ध सभी लाभों की हानि के विषय में विचार कीजिए। परन्तु प्रथम तो यह है कि क्या किसी वस्तु की इसलिए हानि हो जाती है कि मैं उसको पाने अथवा रखने में असमर्थ हो जाता हूँ ? और दूसरे, जो हमको नितान्त क्षति प्रतीत होती है, वह बहुत हद तक विश्व की पद्धति है। हमें उसके विषय में अपने को चिन्तित करने की आवश्यकता नहीं। परन्तु अनन्त प्रकृति के बिना, पूर्णता को कैसे प्राप्त किया जाय ? और अनन्त प्रगति (यदि उसका कोई अर्थ है) के द्वारा भी उसको कैसे प्राप्त किया जाय ? निःसन्देह पूर्णता और ससीमता सिद्धान्त-रूप में एक-दूसरे से सामंजस्य नहीं रखते। यदि आपको परिपूर्ण होना है, तो आपको स्वयं विलीन तथा समाप्त होना पड़ेगा, और अनन्त प्रगति केवल पूर्णता को अनिश्चित काल तक टालने के प्रयत्न की भाँति प्रतीत होती है।[1] और दूसरी ओर परिपूर्ण विश्व की एक क्रिया के रूप में आप पहले ही परिपूर्ण हैं। परन्तु फिर भी हमारी यह इच्छा होगी ही कि दुःख और सुख का किसी प्रकार निराकरण हो जाय। सब मिलाकर और समष्टि में यदि आपका मत ठीक है, तो पूर्णतया यही बात है। मैं इस बात के लिए सहमत हूँ कि व्यक्ति के प्रसंग में यह बात लागू नहीं होती। और मैं उसको अन्यथा ही चाहता हूँ, जिसका अर्थ यह है कि एक साथी-प्राणी के रूप में मेरी प्रवृत्ति और मेरा कर्त्तव्य उस

---

१. जो पाठक इस विषय पर और आगे जाना चाहते हैं वे हिगल की 'फेनोमेनोलोजी', ४४९-६० देखें।

ओर प्रेरित करता है, और ससीम प्राणियों की इस प्रकार की इच्छाएँ और क्रियाएँ सर्व की योजनाओं को परिपूर्ण करती हैं, परन्तु इस आधार पर, मैं यह नहीं कह सकता कि व्यक्तियों के क्षतिग्रस्त होने पर सब-कुछ बिगड़ जाता है। मैं यह स्वीकार करता हूँ कि जीवन में सदैव एक दुःख की ध्वनि रहती है, परन्तु यह सर्वोपरि नहीं होना चाहिए, और न हम सचमुच यही कह सकते हैं कि वह वस्तुतः सर्वोपरि होती है। और ससीम प्राणियों के प्रति विश्व का जो दृष्टिकोण है, इस प्रसंग में, उसको खंडन नहीं अपितु एक तंत्र के रूप में समझा जाना चाहिए। परन्तु यदि आशाओं और भयों को दूर कर दिया जाय, तो हम कम सुखी और कम नैतिक रह जायेंगे। संभवतः यह ठीक है, और संभवतः यह भी ठीक है कि हम अधिक सुखी और अधिक नैतिक हो जायेंगे। प्रश्न बहुत बड़ा है, और मैं उस पर चर्चा करना नहीं चाहता, परन्तु मैं इतना अवश्य कहूँगा कि जो भी यह कहता है कि पारलौकिक जीवन में विश्वास करने से, सब मिलाकर मनुष्य-जाति को बुराई अधिक मिली है, उसका कम-से-कम एक प्रबल पक्ष है। परन्तु यहाँ यह प्रश्न असंगत प्रतीत होता है। यदि निःसन्देह यह कहा जा सके कि एक ससीम प्राणी का सार इस प्रकार है, और वह अपने आचरण का नियमन केवल परलोक तथा पारलौकिक जीवन पर दृष्टि रखकर ही कर सकता है तो मैं मानता हूँ कि यह बात बदल जायगी। परन्तु यदि इसका केवल यही अर्थ है कि मनुष्य-लोक अब ऐसी अवस्था में है कि, यदि वे संभावित असत्य में विश्वास नहीं करते, तो उनका ह्रास हो जायगा—यदि यही बात हो, तो विश्व के लिए वह एक विस्तार-मात्र होगा। यह एक नियम है कि जिन प्राणियों की जाति अपनी परिस्थितियों से सामंजस्य नहीं रख पाती, वे क्षीण हो जाते हैं, और उनके लिए यह अच्छा होगा कि वे अपेक्षाकृत अधिक बुद्धिमान् और सुखी नस्ल के लिए स्थान रिक्त कर दें, और मैं इस विषय को इसी अवस्था में छोड़ता हूँ।[1]

---

१. मैंने उस तर्क के विषय में कुछ भी नहीं कहा जो अपने प्रियजनों से पुनर्मिलन की इच्छा पर आश्रित है। कोई भी इतना सौभाग्यवान् नहीं होगा कि उसे कभी भी वियोग का दुःख नहीं हुआ हो और न कोई इतना अमानवीय होगा कि उसने मृत्यु के पश्चात् उनसे पुनः मिलने की इच्छा न की हो। परन्तु, मेरी समझ में, कोई भी किसी जीवन काल को न्यूनाधिक रूप में यह समझे बिना नहीं पहुँच सकता कि ऐसी इच्छाएँ स्वयं सुसंगत नहीं होतीं। मृत्युजन्य वियोग होते हैं, और, संभवतः उससे भी बुरे वियोग जीवन-जनित होते हैं, और ऐसे भी वियोग होते हैं जिनको जीवन और मृत्यु दोनों मिलकर हमारी आँखों से ओझल रखते हैं। और जिन मित्रों ने अपने झगड़े को किसी स्त्री की कब्र में दफना दिया है, क्यों वे पुनर्जीवन के समय मित्र हो जायेंगे? किसी भी अवस्था में, इच्छा को गम्भीर तर्क के रूप में मुश्किल से ही माना जायगा। धर्म ग्रन्थ के कठोर वाक्य के विरुद्ध आधुनिक ईसाई धर्म का जो विद्रोह है वह पर्याप्त मनोरंजक है। ऐसा लगता है कि किसी व्यक्तिगत अमरत्ता में यदि हमारे प्रेम की क्षति निहित है,

ऊपर के सभी तर्क, और कुछ और भी, ऐसी मान्यताओं पर आश्रित हैं जिनका इस पुस्तक के सामान्य निष्कर्षों से खंडन हो जाता है। मैं यह भी कहूँगा कि इन्हीं मान्यताओं के सत्य के विषय में चर्चा वांछनीय है। यह धारणा कि मैं कुछ चाहता हूँ, तब तक व्यर्थ होगी जब तक कि आप यह न दिखा सकें कि वस्तुओं के स्वभाव को भी इसकी आवश्यकता है। और जगत् के अन्तिम स्वरूप की खोज करने के अतिरिक्त, इस विशेष प्रश्न पर मीमांसा करना, निःसन्देह हानिप्रद रहेगा।

पारलौकिक जीवन एक ऐसा विषय है जिस पर बोलने की मेरी बिलकुल इच्छा नहीं थी। मैं उस समय तक चुप रहा जब तक कि विषय बरबस मेरे सामने आया हुआ नहीं प्रतीत हुआ, और जब तक कि एक प्रकार से मैंने उसमें निहित प्रमुख समस्याओं पर विचार नहीं कर लिया। जिस निष्कर्ष पर हम पहुँचे, वह एक ऐसा परिणाम प्रतीत होता है जिस पर सामान्यतः सभी शिक्षित जगत् पहुँचने का प्रयत्न कर रहा है। एक व्यक्तिगत निरन्तरता संभव है, और इससे अधिक कुछ भी नहीं। फिर भी यदि किसी को उसमें विश्वास हो सके, तो अन्ततोगत्वा वह संभव हो सकता है। दूसरी ओर किसी प्रकार के पतनकारी अंधविश्वास में पड़ने की अपेक्षा आशा और भय का परित्याग करना अधिक अच्छा है। और निःसन्देह जिन उत्तरदायित्वों को मनुष्य अपने ऊपर ले सकता है, उनमें से इस बात की घोषणा अथवा कम-से-कम संकेत कर देने की अपेक्षा अन्य कोई उत्तरदायित्व नहीं है कि अमरता के बिना समस्त धर्म एक पाखंड है और समस्त नैतिकता एक आत्म-प्रवंचना।

तो वह अमरता अधिक व्यक्तिगत नहीं होगी। ऐसे लोग भी होंगे। जो उस समय तक देवदूतों में नहीं बैठेंगे, जब तक उनको उनका कुत्ता न मिल जाय। फिर भी प्रेम-सम्बन्धों के विषय में यह सामान्य पुकार—पारलौकिक जीवन के लिए एक-मात्र ऐसी पुकार जो मुझे स्वयं-रीती नहीं दिखायी पड़ती—को कठिनाई से ही किसी प्रमाण में रूप में परिणत किया जा सकता है।

सताइसवाँ अध्याय

अन्तिम सन्देह

कितना ही असामयिक क्यों न हो, परन्तु अब इस ग्रन्थ को समाप्त करने का समय आ गया है। हम इस प्रश्न के साथ, इसका अन्त कर सकते हैं कि इसके प्रमुख परिणामों को सुनिश्चित मानने में हम कहाँ तक और किस अर्थ में स्वतन्त्र हैं ? हम देख चुके हैं, कि सत्ता एक है, जो तत्त्वतः अनुभूतिमय है और जिसमें एक सुखावशेष रहता है। सर्व के भीतर, आभास के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है, और प्रत्येक आभास-खंड सर्व को विशिष्ट करता है, जबकि दूसरी ओर, इस प्रकार एकीभूत रूप में ग्रहण किये जाने पर, आभास आभास ही नहीं रहते। विश्व की किसी वस्तु का अभाव नहीं होता और कोई भी वस्तु अद्वैत सत्ता को अपनी देन दिये बिना नहीं रहती, परन्तु प्रत्येक ससीम नानात्व का भी अनुपूरण तथा रूपान्तरण होता है। परम-तत्त्व में पहुँचकर भी प्रत्येक वस्तु वही रहती है जो वह स्वयं होती। उनका व्यक्तिगत स्वरूप बना रहता है, परन्तु अनुपूरण तथा अनुयोग के कारण प्रभावहीन हो जाता है। और इसलिए, अन्ततोगत्वा किसी भी वस्तु के निज रूप-मात्र में न रह सकने के कारण, किसी भी आभास को स्वयं अन्ततः सत् नहीं कहा जा सकता। परन्तु आभासों में सत् की कमी विभिन्न मात्राओं में रहती है, और यदि यह कहा जाय कि इनमें से सामान्यतः किसी एक का मूल्य किसी अन्य की अपेक्षा अधिक नहीं है, तो यह बात मूलतः कुत्सित होगी।

हमने देखा कि आभास तथा उसके विशिष्ट क्षेत्रों के वैविध्य का तथ्य अनिर्वचनीय है। आभास क्यों होते हैं, और ये आभास इतने विविध प्रकार के क्यों होते हैं, ये ऐसे प्रश्न हैं, जिनका उत्तर नहीं दिया जा सकता। परन्तु अस्तित्व की इस समस्त विविधता में, हमने ऐसा कुछ भी नहीं पाया जो सर्व के भीतर किसी पूर्ण समन्वय तथा तंत्र के विरुद्ध हो। उस तंत्र का सविस्तार स्वरूप हमारे ज्ञान के बाहर की वस्तु है, परन्तु हमें कहीं भी किसी विरोधी तत्त्व का कोई चिह्न नहीं मिला। हम ऐसा कुछ भी न पा सके, जिस पर सत्-विषयक हमारे मत के विरुद्ध कोई आपत्ति टिक सकती। और इसलिए हम यह निष्कर्ष निकालने का साहस करते हैं कि सत्ता के जिस सामान्य स्वभाव की

हमने कल्पना की है, वह उसमें विद्यमान है,—हाँ, हम यह नहीं जानते कि कैसे ?

मुझे यह कहा जा सकता है कि, परन्तु अन्ततोगत्वा आपका निष्कर्ष ठीक सिद्ध नहीं होता। मान लीजिए कि हमें ऐसा कोई आक्षेप नहीं मिलता जो उसको उखाड़ सके, परन्तु फिर भी खंडन के इस अभाव से वह निष्कर्ष निश्चित तो नहीं हो जाता। आपका परिणाम संभव हो सकता है, परन्तु, ऐसा होने पर भी, वह सत् तो नहीं हो जाता, क्योंकि सत् का यह ठीक ऐसा ही रूप क्यों, कोई अन्य क्यों नहीं ? संभावनाओं के अज्ञात जगत् में हम एक इसी तक सीमित क्यों रहें ? यह आपत्ति गम्भीर प्रतीत होती है, और, उस पर उचित ढंग से विचार करने के लिए, मुझे सर्वप्रथम कुछ सूक्ष्म विवेचनों में जाने का अवसर मिलना चाहिए। मैं केवल उन्हीं तक सीमित रहूँगा जो यहाँ पर परमावश्यक हैं।

१—सिद्धान्ततः आप किसी अन्तिम सन्देह के प्रसंग में सुसंगति से चिपके नहीं रह सकते। आपको स्वेच्छा से या अनिच्छा से किसी-न-किसी स्तर पर निर्विकारता की कल्पना करनी ही पड़ेगी, क्योंकि, अन्यथा, आप कोई निर्णय ही किस प्रकार करेंगे ? बुद्धि तो हमारे स्वभाव का केवल एक क्षुद्र अंश है, परन्तु फिर भी, बौद्धिक जगत् में, वह सर्वोच्च रहेगी। और, यदि वह उस आसन से उतरने का प्रयत्न करती है, तो उसके साथ ही, उसका जगत् भी छिन्न-भिन्न हो जाता है। अतः हमारा उत्तर यही होगा—सिद्धान्त के बाहर आप जो दृष्टिकोण चाहें अपना लें, परन्तु केवल यह ध्यान रखें कि आप खेल में तब तक सम्मिलित न हों, जब तक आप खेलना नहीं चाहें, परन्तु यह स्पष्ट है कि प्रत्येक उद्यम में कोई-न-कोई नियामक सिद्धान्त अवश्य होना चाहिए। सैद्धान्तिक संदेहवाद की चरम सीमा तक सत्य और तथ्य की किसी स्वीकृत कल्पना पर ही आश्रित होती है। सत्य या सत् के किसी प्रमुख स्वरूप पर आपको विश्वास होता है, इसी लिए आप प्रस्तुत होने वाले विशिष्ट सत्यों में सन्देह करने अथवा उनको तिरस्कृत करने के लिए विवश होते हैं। परन्तु, यदि यह बात है, तो आप एक चरम सिद्धान्त पर आरूढ़ हैं, और आप इसको प्रत्यक्ष या परोक्ष में, निर्विकार मानते हैं। और, सामान्य सविकारता से प्रारम्भ करके, और इस आधार पर प्रत्येक सम्भव परिणाम की संदिग्धता का प्रतिपादन करना अन्ततोगत्वा तर्क-विरुद्ध है, क्योंकि यह कथन कि मुझे विश्वास है कि मैं सर्वत्र सविकार रहता हूँ, स्वयं अपना ही खंडन करता है, और उससे एक सुपरिचित यूनानी असमंजस उठ खड़ा होता है। और यदि हम इस कथन को कुछ बदलें, और 'सर्वत्र' के स्थान पर 'सामान्यतः' लिख दें, तो अभीष्ट निष्कर्ष नहीं निकलेगा, क्योंकि जब तक कि एक बार (पुनः झूठे ही) हम यह कल्पना न कर लें कि सभी सत्य अधिकांशतः एकरूप ही होते हैं, और प्रत्येक विषय में भूल समान रूप से शक्य होती है,

तब तक सामान्य सविकारता को किसी विशेष परिणाम को प्रभावित करने की आवश्यकता नहीं।[1] संक्षेप में, बात यह है कि हमें सिद्धान्त के क्षेत्र में किसी मूलभूत भूल की संभावना पर विचार नहीं करना चाहिए। हमारा सविकारता-विषयक कथन या तो संकोच की अभिव्यक्ति के रूप में लिया जा सकता है, अथवा बुद्धि के महत्त्व-विषयक उस निम्न अनुमान की अभिव्यक्ति समझा जा सकता है, जो हमने बना रखा हो। परन्तु ऐसा कोई भी अनुमान अथवा भाव सिद्धान्त की वास्तविक प्रक्रिया के बाहर ही रहेगा, क्योंकि भीतर आ जाने पर, वे एकदम असंगतिपूर्ण तथा तर्क-विरुद्ध हो जायेंगे।

२——दूसरे, किसी भी प्रतिपादित संभावना का कोई-न-कोई अर्थ होगा, केवल एक शब्द-मात्र तो संभावना है नहीं, और न कोई व्यक्ति कदापि जान-बूझकर उसको इस रूप में प्रस्तुत करता ही है। कोई संभावना सदैव किसी-न-किसी वास्तविक विचार को ही हमारे सामने प्रस्तुत करेगी।

३——और यह विचार अपना खंडन स्वयं करके स्वघातक नहीं बनेगा। जहाँ तक वह इस प्रकार दिखायी पड़ता है, वहाँ तक उसको संभव नहीं समझा जाना चाहिए, क्योंकि कोई भी संभावना सत्[2] का विशेषण होती है, और इसलिए वह अपने विशेष्य के ज्ञात स्वरूप के विरुद्ध नहीं हो सकती। और यहाँ पर यह आपत्ति करना व्यर्थ होगा कि समस्त आभास स्वखंडनशील है। यह बात सच है, परन्तु स्वखंडनशील के रूप में और जहाँ तक वह ऐसा है, वहाँ तक, आभास सत् का कोई वास्तविक अथवा संभावित विधेय नहीं हो सकता। जो विधेय स्वयं का खंडन करता है, वह उस रूप में संभवतः सत् नहीं है। सत् होने के लिए, उसके विशिष्ट स्वभाव में परिवर्तन और सुधार आवश्यक है। और सुधार तथा परिष्कार की यह प्रक्रिया उसके स्वभाव को और भी पूर्णतया रूपान्तरित तथा नितान्त क्षीण कर सकती है (अध्याय २४)।

४——जहाँ केवल एक ही प्रत्यय हो, वहाँ पर तार्किक दृष्टि से सन्देह करना असम्भव है। यदि ऐसे दो प्रत्यय हों, जो हों तो एक परन्तु दो प्रतीत होते हों तभी मनोविज्ञान की दृष्टि से आपके लिए सन्देह करना संभव है। और इस वास्तविक भ्रान्ति के विना भी, आपको मन में बेचैनी और हिचकिचाहट हो सकती है, परन्तु सन्देह में ऐसे दो प्रश्न अन्तर्हित होते हैं, जो अपने अभिप्राय में सचमुच दो होते हैं, और, इन प्रयत्नों के विना, सन्देह का कोई तर्क-संगत अस्तित्व नहीं रहता।[3]

---

१. इस विषय में तुलना कीजिए मेरी 'प्रिन्सिपुल्स आफ लाजिक,' पृ० ५७२।

२. वही, पृष्ठ–२०२–२०३। पाठकों को इसी ग्रन्थ में संभावना-विषयक चर्चा (अध्याय २४) में, तथा श्री बोसाँके की 'लाजिक' से तुलना करनी चाहिए।

३. तुलना कीजिए, पृ० ५७०।

५—यदि आपको कोई प्रत्यय हो और आप सन्देह न कर सकें, तो आपको न्यायतः प्रतिपत्ति करनी पड़ेगी, क्योंकि प्रत्येक वस्तु (हम निरन्तर देख चुके हैं) सत् का विशेषण होती है। और यदि कोई प्रत्यय स्वयं या तो अपने निज रूप में अथवा, अन्य वस्तुओं के साथ ग्रहण किये जाने पर (अध्याय २६) अपना खंडन स्वयं नहीं करता, तो वह एकदम सत्य और सत् होता है। यहाँ यह स्पष्ट है कि सर्वोच्च संभावना इस प्रकार अपना खंडन नहीं कर सकती।[1] और इसलिए उसकी पुष्टि होनी ही चाहिए। यहाँ पर मनोवैज्ञानिक, असफलता या भ्रान्ति निःसन्देह बाधा उपस्थित कर सकती है। परन्तु सिद्धान्त रूप में, ऐसी भ्रान्ति और असफलता का कोई महत्त्व नहीं है।

६—यह आक्षेप हो सकता है कि, इस प्रकार तर्क करना अज्ञान पर ज्ञान को आश्रित करना है। यह निःसन्देह किसी प्रतिपत्ति को हमारी शुद्ध असमर्थता पर निर्भर करना है। इससे अधिक भ्रान्त और कोई आक्षेप नहीं हो सकता, क्योंकि हमारे सिद्धान्त तत्त्वतः नितान्त इसके विपरीत हैं। इसका सारांश यह है कि यह ज्ञान के प्रकोष्ठ में नग्न अज्ञान की स्थापना करना स्वीकार नहीं करता। जो व्यक्ति दो वास्तविक प्रत्ययों के अभाव में भी, सन्देह करना चाहता है, और जो एक ऐसी संभावना के विषय में बात करता है, जो सत्-विषयक वास्तविक ज्ञान पर आश्रित नहीं है, तो वही शुद्ध असमर्थता को अपना आधार बनाता है, वह ऐसा मनुष्य होता है, जो, अपनी रिक्तता को स्वीकार करता हुआ, सत्य को प्रकट करने का छद्म (छद्म) रचता है। और इसी पैशाचिक छद्म और संकोच के वेश में इसी उन्मत्त मान्यता के विरुद्ध हमारा सिद्धान्त-विरोध प्रकट करता है। परन्तु, यदि हम इस विषय पर गम्भीरता पूर्वक विचार करें, तो हमारा निष्कर्ष स्पष्ट हो जाता है। निःसन्देह किसी भी प्रत्यय का एक अर्थ होना चाहिए, निःसन्देह किसी भी तर्क-संगत सन्देह के लिए दो प्रत्ययों की आवश्यकता होती है, निःसन्देह संभव कहे जाने का अर्थ, किसी हद तक, सत् के विषय में प्रतिपादित होना है। और निःसन्देह, जहाँ आपके सामने कोई विकल्प नहीं होता, वहाँ पर ऐसे मनुष्य का दृष्टिकोण अपनाना उचित अथवा तर्क-संगत नहीं, जो विविध मार्गों के बीच हिचकिचाता हो।

७—इसके पश्चात् मैं उस सामान्य सन्देह के विषय में एक तर्क पर विचार करूँगा जो व्यक्तिगत निर्णय-सम्बन्धी मीमांसा से उद्भूत होता है।[2] इस प्रकार के निर्णय में

---

१. क्योंकि, यदि वह ऐसा करे तो वह भीतर से भिन्न हो जायगा और बाहर अपने से परे पहुँच जायगा।

२. वही, पृ० ११७-२०, ५६४-७०। और देखिए ऊपर अध्याय २४।

सत्, किसी संकेत या सुझाव को तिरस्कृत करता है, परन्तु इस तिरस्कार का आधार ज्ञात विषय का कोई निश्चित गुण नहीं होता। इसके विपरीत, उसका आधार एक अभाव होता है, और किसी भी केवल अभाव का अर्थ है विषय का विशेषीकरण, उसकी उस आध्यात्मिक व्याख्या के द्वारा जो हमारे भीतर है। अथवा हम यह कह सकते हैं कि जब ज्ञात विषय को पूर्ण मान लिया जाता है, तो उसकी कमियाँ उससे बाहर रह जाती हैं और उनकी उपस्थिति हमारी असमर्थता में ही रह जाती है। और यहाँ यह कहा जा सकता है कि सत् के प्रसंग में यही बात सदैव होती है। दूसरे शब्दों में, जिस रूप में हम विश्व को जानते हैं, वह हमारे अज्ञान के द्वारा ही पूर्ण होता है, और इसलिए, वास्तविक ज्ञान की दृष्टि से उसको सदैव अपूर्ण ही कहा जायगा। यह और कहा जा सकता है कि इस आधार पर, हम विश्व के विषय में किसी एक संभावना को प्रतिपादित करना तब भी अस्वीकार कर सकते हैं, जब कि हम किसी अन्य को पाने में असमर्थ हों।

मैंने स्वयं इस आक्षेप को उठाया है, क्योंकि उसमें एक महत्त्वपूर्ण सत्य निहित है। और यदि उसका सिद्धान्त यथोचित मर्यादा में रहे, तो वह पूर्णतया ठीक रहता है। यही नहीं, इस ग्रन्थ में, निरन्तर, मैंने सर्वत्र ज्ञान के एक अज्ञात अनुरूप की मान्यता के अधिकार का प्रयोग स्वच्छन्दतापूर्वक किया है। इसलिए यह कहा जा सकता है कि यहाँ पर फिर इस सिद्धान्त को हम कैसे छोड़ दें? सत् को सदैव हमारी कल्पना से सीमित, और इसलिए, प्रत्येक प्रकार से हमारे संभावना-क्षेत्र के बाहर फैलता हुआ क्यों न माना जाय?

परन्तु यह स्पष्ट है कि प्रस्तुत विध्वंसक आक्षेप स्वयं अपना ही खंडन करता है। जो संभव है उसका क्षेत्र यहाँ पर एक साथ ही विस्तृत और सीमित हो जाता है, और इस प्रश्न के उत्तर में एक बाधक असमंजस की व्याख्या और प्रदर्शन की जा सकती है। परन्तु, प्रस्तुत अन्तर्हित भूल को तुरन्त ही प्रकट कर देना अधिक अच्छा होगा। अन्य ज्ञानों के समान, अभाव ज्ञान भी अन्ततोगत्वा भावात्मक होता है। जब तक आप अन्यत्र किसी क्षेत्र और किसी उपस्थिति की कल्पना न कर लें तब तक आप अनुपस्थित तथा अभावयुक्त के विषय में बात नहीं कर सकते। जब तक कि आपको पहले ही किसी ऐसे क्षेत्र का ज्ञान न हो जिसको कि वह अज्ञात छिपाए हुए हो, तब तक आप ज्ञान को अपूर्ण निर्धारित करने के लिए, उससे अज्ञात को कारण रूप में प्रस्तुत नहीं कर सकते। सत् की ज्ञात परिधि के भीतर अनेक क्षेत्र होते हैं, और इसलिए, जिसका एक में अभाव हो उसको दूसरे में ढूँढ़ा जा सकता है। और जब कुछ विशेषताओं में, ज्ञान ज्ञात् जगत को अपूर्ण रूप में प्रस्तावित करता है, तो वह ज्ञात जगत को इन विशेषताओं से बाहर पहले ही सम्पादित कर चुका है। तो यहाँ पर, स्वभावतः हमें अधिकार है कि हम

उसकी सम्प्रसारित सत्ता का अपने निष्कर्षों और अनुमानों के द्वारा अनुगमन करें, और इन विवेचनों में, हमने इस विशेषाधिकार का बहुत कुछ प्रयोग किया है। परन्तु, दूसरी ओर, यह केवल गौण विषयों पर ही लागू होता है, और हमारा अधिकार तभी तक रहता है जब हम विश्व के ज्ञात क्षेत्र के भीतर रहते हैं। उससे परे जाने का प्रयत्न करना, और ऐसे क्षेत्रों की कल्पना करना जो सत् के अन्तिम स्वरूप के बहिर्गत हैं, एक मूर्खता की बात है। यदि हमारे ज्ञान के पूर्णतया बाहर कोई सत् होता, तो हम किसी भी अर्थ में उसको जान नहीं सकते थे, और, यदि हम उसके विषय में नितान्त अज्ञ होते, तो यहाँ सुझाव देना कठिन होता कि हमारा अज्ञान उसको छिपाए हुए है। और इस प्रकार अन्ततोगत्वा, जो हम जानते हैं और जो सत् है उन दोनों में सह-अस्तित्व होना चाहिए। और निःसन्देह इस क्षेत्र के बाहर कुछ भी संभव नहीं है। इसलिए यहाँ पर किसी एकाकी संभावना को एकाकी तथा सत् ही मानना चाहिए। इस ज्ञात क्षेत्र के भीतर, न कि बाहर, वह समस्त राज्य है जो अज्ञान की गुहा में छिपा है, और यहीं पर समस्त बुद्धिगम्य संदेह का विषय है, और यही वह प्रत्येक संभावना है जो कि तर्क-विरुद्ध न हो।

८—इस विषय में कुछ स्पष्टता प्राप्त करने की दृष्टि से, वस्तुओं की एक आदर्श अवस्था पर विचार करना यहाँ लाभदायक हो सकता है। यदि ज्ञात विश्व कोई परिपूर्ण तंत्र होता, तो वह कहीं भी अपनी निजी अपूर्णता की ओर संकेत न दे सकता। उस अवस्था में प्रत्येक संभव संकेत का सर्व में एक अपना स्थान होता, एक ऐसा स्थान जो उसे तंत्र के अवशिष्ट सदस्यों-द्वारा पूर्वनियत तथा प्रदत्त होता। और फिर, एक ऐसे ही सर्व के किसी तत्त्व से प्रारम्भ करके, हम उससे समस्त विश्व की सम्पूर्ण इयत्ता को ढूंढ़ निकालते। और यहाँ अभावमूलक तथा अज्ञानपरक कोई सन्देह नहीं रह जाता। न केवल स्वयं तंत्र के बाहर कोई अन्य संभावना नहीं होती, अपितु उसकी ससीम सूक्ष्मताओं में, वही परिपक्वता सिद्ध हो जायगी। वस्तुतः यहाँ 'अनुपस्थिति' तथा 'असफलता' के शब्द भी अपने सुनिश्चित अर्थ को खो बैठते। प्रत्येक प्रत्यय में अन्य सभी के साथ, उसके सम्बन्ध भी दृष्टिगोचर हो जाते, अतः सन्देह, संभावना अथवा अज्ञान का कोई क्षेत्र अवशिष्ट नहीं रह जायगा।

९—हम जानते हैं कि यह बौद्धिक आदर्श वास्तविक तथ्य नहीं है। उसका अस्तित्व हमारे जगत् में नहीं है, और, जब तक वह जगत् पूर्णतया बदल नहीं जाता, तब तक उसका अस्तित्व संभव नहीं। उसके लिए बुद्धि, जिस स्थिति में है, उसमें एक हेर-फेर की और अवशिष्ट अनुभव पक्षों में पूर्ण परिवर्तन की आवश्यकता पड़ेगी। हमें अपनी सर्वज्ञता का खंडन करने के लिए तर्क ढूंढ़ने की आवश्यकता नहीं, क्योंकि इस पुस्तक

के प्रत्येक मोड़ पर हमारी यह दुर्बलता स्वीकार की गयी है। विश्व की, विविधता को अनिर्वचनीय पाया जा चुका है, और यहाँ पर मैं पूर्व अध्याय के कथन (पृ० ४१५-१६) को नहीं दुहराऊँगा। हमारा तंत्र अपने विस्तार-पर्यन्त अपूर्ण है।

अब बात यह है कि प्रत्येक अपूर्ण तंत्र में सर्वत्र एक अज्ञान-क्षेत्र होना चाहिए। अन्त में उद्देश्य और विधेय सरूप नहीं होंगे, अतः न्यूनाधिक रूप तथा रूप-रेखा के अतिरिक्त अन्यत्र सर्वत्र एक उसका लेश-मात्र रह जाता है जो कि अज्ञात है। और यहाँ पर सन्देह, संभावना तथा सैद्धान्तिक परिशिष्ट का क्षेत्र होता है। कोई अपूर्ण तंत्र प्रत्येक भाग में असंगतिपूर्ण होता है, और इसलिए किसी बाह्य-तत्त्व की ओर संकेत करता है। परन्तु वह कहीं भी ठीक उस पूरक की ओर इंगित नहीं कर सकता जो प्रत्येक सूक्ष्मता को पूरा कर दे। और इसलिए, अपने विस्तार तथा ऐक्य दोनों में ही, वह किसी अंश में एक संघात-मात्र रह जायगा। हम कह सकते हैं, कि अन्त में उसकी प्राप्ति और समाप्ति दोनों ही हमारी अपूर्णता के द्वारा होते हैं।

१०—परन्तु यहाँ हम फिर उसी भेद-भाव को दुहरायेंगे जिसका प्रतिपादन हमने ऊपर किया। हमारे अनुभव में प्रतीयमान जगत् की भाँति किसी अपूर्ण जगत् में भी, अपूर्णता तथा अज्ञान फिर भी आंशिक होते हैं। वे प्रत्येक विशेषता पर लागू नहीं होते, परन्तु ऐसे स्थान होते हैं जहाँ किसी 'अन्यत्' का कोई भी न्यायसंगत प्रत्यय नहीं होता। और इन स्थानों में किसी सन्देह, तथा अन्य संभावनाओं की किसी खोज का कोई अर्थ नहीं होता, क्योंकि ऐसा कोई प्राप्य क्षेत्र नहीं होता जिसमें संभवतः हमारा अज्ञान आ सके। और स्पष्ट है कि इन सीमाओं के भीतर (जिनका हम पहले से ही निश्चित नहीं कर सकते) तर्क-संगत सन्देह तर्क-विरुद्ध मान्यता का रूप धारण कर लेता है। इनके बाहर भी ऐसी संभावनाएँ हो सकती हैं, जिनको हम अर्थहीन, अथवा वस्तु के स्वरूप से असंगत नहीं कह सकते, परन्तु फिर भी इनकी नग्न संभावना संभवतः विचारणीय है। परन्तु एक बार पुनः जगत् के अन्य क्षेत्रों में, परिस्थिति बदल जायगी। हमें वास्तविक पूर्णता की अपेक्षाकृत अधिक या न्यून मात्रा उपलब्ध होगी, और, इसके साथ-साथ विभिन्न मूल्य वाली संभावनाओं की एक शृंखला। मैं नहीं समझता कि इन प्रारम्भिक चर्चाओं में और अधिक पड़े रहने से कोई लाभ होगा, और अब हमें सीधे उन सन्देहों से भिड़ना चाहिए जो हमारे चरम तत्त्व के विषय में उठाये जा सकते हैं।

उस चरम तत्त्व के प्रमुख स्वरूप के विषय में, हमारी स्थिति संक्षेप में यह है। हमारा मत है कि हमारा निष्कर्ष निश्चित है, और उसमें तर्क-संगत सन्देह करना असम्भव है। यहाँ पर प्रतिपादित मत के अतिरिक्त अन्य कोई मत या कल्पना नहीं है। किसी अन्य सम्भावना के प्रश्न को तर्कपूर्ण ढंग से स्वीकार करना भी असम्भव है।

हमारे प्रमुख निष्कर्ष के बाहर, ऐसा कुछ भी नहीं जो या तो पूर्णतया निरर्थक न हो या जो जाँच करने पर वस्तुतः बहिर्गत न सिद्ध हो। इस प्रकार कल्पित 'अन्यत्' वस्तुतः वही सिद्ध होगा, अथवा उसके अन्तर्गत वही तत्त्व होंगे जो हमारी चरम तत्त्व-विषयक दृष्टि में समाविष्ट होंगे। परन्तु वे ऐसे तत्त्व होंगे जो स्थान भ्रष्ट होने से सदोष आभास के रूप में विकृत हो चुके हों, और स्वयं इस स्थान-भ्रष्टता को भी हमारे तंत्र की परिधि में स्थान प्राप्त होगा।

संक्षेप में, हमारे निष्कर्ष में सन्देह को स्थान नहीं, क्योंकि उसमें सभी संभावनाओं का समावेश है। वह यह घोषणा कर सकते हैं कि आप ऐसी कोई भी कल्पना दिखलाइए जो हमारे तंत्र के विरुद्ध प्रतीत होती हो, तो हम आपको तुरन्त एक ऐसा तत्त्व बताएँगे जो उसके भीतर होगा। और हम दिखला देंगे कि आपकी कल्पना हमारे ही तंत्र का एक स्वखंडनशील अंश है, एक आन्तरिक खंड है, जो केवल अज्ञान-मात्र के वशीभूत होकर अपने को बाहर मानता है। हम यह सिद्ध कर देंगे कि उसका स्वातंत्र्य तथा एकाकी भाव जगत् में उसके ही स्वभाव के एक पक्ष से अधिक देख सकने की असफलता के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है।

और हमारे संकोच तथा दौर्बल्य से त्रस्त दुहाई हमें नष्ट नहीं होने देगी। एक अर्थ में, इसी दुर्बलता को हमने अपना आधार बनाया है। हम विश्व को विश्व तथा अविश्व में विभक्त कर सकने में असमर्थ हैं। हम किसी भी ऐसे क्षेत्र को नहीं पाते जिसमें हम अपनी असमर्थता को रखकर अपने संकोच को व्यक्त कर सकें। यह अन्य क्षेत्र हमारे लिए छद्मपूर्ण पाखण्ड-मात्र होगा, और अपनी दुर्बलता के आधार पर हम यह मानने के लिए अपने में पर्याप्त शक्ति नहीं पाते कि यह पाखण्ड तथ्य है। दूसरे शब्दों में, हम अनुभवातीत होने के अर्थहीन प्रयत्न का विरोध करते हैं। हमारा यह आग्रह है कि एक संदेह-मात्र की स्वीकृति में वह प्रयत्न निहित हो सकता है, और यह कि हमारे प्रमुख निष्कर्ष के प्रसंग में, यह बात निःसन्देह ऐसी ही है। अतः अपनी रूप-रेखा में वह निष्कर्ष हमारे लिए निश्चित है, और आइए हम देखने का प्रयत्न करें कि यह निश्चितता कहाँ तक जाती है।

सत् एक है। वह अवश्य ही एकाकी होगा, क्योंकि अनेकता, सत् मानी जाने पर, अपना खंडन स्वयं कर डालती है। अनेकता में सम्बन्ध अभिप्रेत है, और, अपने सम्बन्धों के द्वारा, वह अनजाने सदैव एक उच्चतर एकता को ध्वनित करती है। अतः विश्व को अनेक मानने का अर्थ है आत्म-खंडन करना और, अन्त में, यह मानना है कि वह एक है। एक जगत् का दूसरे से योग कीजिए, और दोनों जगत् तुरन्त सापेक्षिक हो जायेंगे—प्रत्येक किसी उच्चतर तथा एकाकी सत्ता का ससीम आभास-मात्र रह जायगा। और

हम देख चुके हैं कि आभास के रूप में अनेकता का अन्तर्भाव उसी एकता में अवश्य होगा, उसका सम्बन्ध उसी इकाई से होगा और वह उसी का विशेषण होकर रहेगी।

हमें इस एकता की कुछ कल्पना है जो किसी हद तक धनात्मक है (अध्याय १४, २०, २६) यह सच है कि हमें यह ज्ञान नहीं कि ब्योरेवार अनेकता किस प्रकार एकीभूत होती है। और यह भी सच है कि, अपने अधिक सुनिश्चित अर्थ में, एकता का ज्ञान अनेकता से विपरीत—भिन्न होने में ही होता है। अतः जब एकता को एक ऐसे पक्ष के रूप में समझें जिसकी प्रतीति किसी अन्य पक्ष के द्वारा उसी के विलोम के रूप में हो, तो वह स्वयं आभास-मात्र रह जाती है। और, इस अर्थ में, यह स्पष्ट है कि सत् को ठीक-ठीक एक नहीं कहा जा सकता। परन्तु फिर भी यह सम्भव है कि एकता का प्रयोग एक भिन्न अर्थ में किया जाय।

प्रथम तो सत् सर्वथा अनेकता विशिष्ट होता है। वह इस अनेकता को स्वीकार करता है, जब कि वह स्वयं अनेक नहीं होता। और एक ऐसी सत्ता जो अनेकता को स्वीकार करते हुए भी स्वयं उससे परे हो, जो उससे विरुद्ध न कही जाय, अपितु उसको उस एकांगी एकता-सहित आत्मसात कर ले जो उसका विलोम है—अपनी रूप-रेखा में ऐसी सत्ता निश्चित रूप से एक धनात्मक कल्पना है।

और यह रूप-रेखा किसी सीमा तक, प्रत्यक्ष अनुभव-द्वारा भरी जाती है। यहाँ मैं अस्तित्व की उस प्राक्सम्बन्धीय अवस्था पर जोर नहीं दूंगा (पृ० ४०६-७), जिसको हम आत्मा के विकास क्रम में प्रथम आता हुआ मानते हैं। मैं उसकी ओर संकेत करूँगा जो अधिक स्पष्ट और कम संदिग्ध प्रतीत होता है, क्योंकि आप ऐसी किसी भी जटिल आध्यात्मिक अवस्था को ले लीजिए जिसमें हम द्वैत देखते हों, यहाँ हमें अनेकता का बोध हो जायगा, और फिर इससे परे हम एकता के विषय में एक स्पष्ट कल्पना प्राप्त करने का प्रयत्न कर सकते हैं। और एकता की यह कल्पना, जो स्वयं विश्लेपण का परिणाम है, भेदों-प्रभेदों के आन्तरिक बहुत्त्व के प्रति होने वाले विरोध-द्वारा निर्णीत होती है, और इसलिए पक्ष-पक्षान्तर के भेद-भाव होने से हमें इससे एकता की वह धनात्मक कल्पना नहीं मिलेगी जिसकी हम खोज करते हैं। परन्तु ऐसी किसी सुस्पष्ट कल्पना से पृथक् और उसके बिना भी, हम अपनी सम्पूर्ण आध्यात्मिक स्थित को सचमुच एक ही अनुभव करते हुए माने जा सकते हैं। जिन सम्बन्धों को हम संभवतः आगे पायें, उनके ऊपर, अथवा किसी कदर नीचे, एक ऐसी समष्टि प्रतीत होती है, जिसमें भेद पहले से ही संयुक्त रहते हैं।[1] हमारी स्थिति एक ऐसी अनुभूत पृष्ठभूमि प्रतीत होती

१. तुलना करो यहाँ अध्याय-१९।

है, जिसमें हम भेदों का प्रवेश कर देते हैं, और, साथ ही वह एक ऐसा सर्व प्रतीत होता है, जिसमें भेदों का समवाय और पूर्वास्तित्व होता है। अपनी स्थिति का इस प्रकार वर्णन करने में, हम निःसन्देह अपना ही खंडन करते हैं क्योंकि जब हम भेद के निश्चित स्वरूप को समझते और व्यक्त करते हैं, तो भेद के तथ्य में तत्त्वतः सम्बन्ध और विभाजन दोनों ही निहित होते हैं। दूसरे शब्दों में, मनोभाव का वर्णन नहीं किया जा सकता, क्योंकि विना रूपान्तर के उसको विचार में परिणत नहीं किया जा सकता और फिर यह अविवेकपूर्ण समष्टि स्वयं, असंगतिपूर्ण तथा अस्थिर है। उसकी निजी प्रवृत्ति और प्रकृति अपने से परे सम्बन्धात्मक चेतना में और एक उच्चतर अवस्था में पहुँचने की होती है। जहाँ वह स्वयं छिन्न-भिन्न हो जाती है। फिर भी, प्रत्येक क्षण हमें इस अस्पष्ट अवस्था का सचमुच अनुभव होता है। और इसलिए हम यह अस्वीकार नहीं कर सकते कि प्रपंचित इकाइयों का अनुभव एकाकी अनुभूतियों के रूप में होता है, क्योंकि, एक ओर तो ये अवस्थाएँ सरल नहीं होतीं, और दूसरी ओर वे केवल अनेक भी नहीं होती है, और न उनकी एकता ही स्पष्ट तथा उनके बहुत्व से पृथक् और सम्बन्धित होती है।

हम इसका सबसे सरल उदाहरण एक साधारण रागात्मक 'सर्व' में देख सकते हैं। वह हमें सर्वात्मक इकाई रूप में प्राप्त होता है, परन्तु फिर भी वह नहीं सरल होता, यद्यपि उसकी विविधता, कम-से-कम अंशतः अभी तक सम्बन्धों के रूप में विभाजित तथा वितरीत नहीं हो पाती। मैं फिर कहता हूँ कि ऐसी मानसिक अवस्था, निज रूप में, अस्थिर तथा चंचल होती है। वह न केवल अन्यथा परिवर्तनशील होती है, अपितु, एक विषय-रूप में परिणत हो जाने पर, वह इस रूप में विलीन ही हो जाती है। जिस भाव पर हम ध्यान देते हैं, वह संकीर्ण अर्थ में कदापि ठीक-ठीक वही भाव-वस्तु नहीं रह जाती जिसको हम अनुभव करते हैं, क्योंकि किसी हद तक, वह न केवल आन्तरिक विभाजन द्वारा रूपान्तरित हो जाती है, अपितु अब वह स्वयं एक नयी अनुभूत समष्टि का अंग वन जाती है। एक विषय के रूप में भाव, और, दूसरी ओर वह पृष्ठभूमि जिसके विरुद्ध वह चेतना में होती है—ये दोनों ही मनोभाव के एक नये आध्यात्मिक सर्व के गौण तत्त्वों के रूप में हो जाते हैं (अध्याय १९)। हमारा अनुभव यदा-कदा एक ऐसी इकाई होती है, जो एक विषय वनने में नष्ट हो जाती है। परन्तु ऐसा एक रागात्मक सर्व नष्ट होने में अनिवार्यतः एक दूसरे को स्थान दे जाता है। और इसलिए उसके जीवन-काल में, हम जो अनुभव करते हैं, वह सदैव एकात्मक अनुभूति होती है, परन्तु फिर भी न तो वह सरल ही होती है और न व्यंजकों तथा सम्बन्धों में विभक्त ही।

सम्बन्धों के नीचे जो ऐसी एकात्मक अनुभूति होती है, उससे हम एक ऐसी श्रेष्ठतर

इकाई पर पहुँच सकते हैं, जो उनसे ऊपर उठ सकती है। इस प्रकार सत् एक है, इस कथन को हम एक सुनिश्चित और सम्पन्न अर्थ प्रदान कर सकते हैं। किसी भी अवस्था में, निम्नलिखित प्रश्नों का समर्थन करने के लिए दुराग्रही आक्षेप-कर्ता निन्दनीय ठहरता प्रतीत होता है। प्रथम तो सत् धनात्मक है, और ऋणात्मकता उसके अन्तर्गत रहती है। दूसरे, वह निश्चित रूप से उस सम्पूर्ण अनेकता से विशिष्ट होती है जो उसमें आश्रित तथा संयुक्त रहती है। और फिर भी, तीसरी बात यह है कि वह स्वयं निश्चित रूप से अनेक होती है। इतनी दूर जाने के पश्चात्, न्यूनतम भ्रामक मार्ग अपनाने के रूप में, मैं स्वयं यही पसन्द करता हूँ कि मैं उसकी एकता का प्रतिपादन करूँ।

ऐसी अवस्था में यह पूर्णतया स्पष्ट हो जाता है कि सत् एक है। उसमें एकता है, परन्तु हमारा यह प्रश्न बना ही रहेगा कि एकता किसकी? हम पहले ही देख चुके हैं कि हम जो भी जानते हैं वह पूर्णतया अनुभवात्मक होता है। इसलिए सत् अवश्य ही एक अनुभव होगा, और इस निष्कर्ष पर सन्देह करना असम्भव है।

हम ऐसा कुछ भी नहीं ढूँढ़ सकते, जो या तो मनोभाव न हो अथवा विचार या संकल्प या भावना या इसी प्रकार की कोई और वस्तु न हो (अध्याय १४)। हम इसके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं पा सकते, और किसी अन्य वस्तु की कल्पना करना स्पष्टतया असम्भव है, क्योंकि कोई ऐसी मानी हुई कल्पना या तो अर्थहीन होगी, और इसलिए एक कल्पना ही न होगी, अथवा अन्यथा उसका अर्थ मूल रूप में अनुभवमय ही होगा। जिस 'अन्यत्' का वह प्रतिपादन करती है, वह जाँच करने पर वस्तुत कोई अन्यत् नहीं ठहरता। उसमें उसकी इच्छा के विरुद्ध तथा अज्ञात रूप से, अनुभव का ही कोई रूप निहित होता है, यदि आप चाहें तो यह कह सकते हैं कि वह 'अन्य कुछ' प्रतिपादित करता है, परन्तु फिर भी यह 'अन्य कुछ' उसी प्रकार का होता है। और इस 'अन्यत्' तथा विरोध के इस रूप का कोई अर्थ केवल इसी में है कि वह अपने विरोधी का एक आन्तरिक पक्ष हो। संक्षेप में, अन्त में केवल एक कल्पना रह जाती है, और वह कल्पना धनात्मक होती है। और इसलिए इस कल्पना का निषेध करना वस्तुतः उसका प्रतिपादन करना है, और उसमें सन्देह करना, वस्तुतः तथा निर्भ्रान्त रूप से संभव नहीं है।

यदि मैं इस विषय को और आगे बढ़ाने का प्रयत्न करूँ तो संभवतः मैं केवल उसको अस्पष्ट ही कर डालूँगा, आप किसी अन्यत्-विषयक अपनी कल्पना को मुझे दिखलाइए, न कि अनुभव का एक अंग, और मैं आपको तुरन्त ही यह बतला दूँगा कि वह, निरन्तर तथा पूर्णतया, 'अन्य कुछ' भी बिलकुल नहीं है। परन्तु आत्म-भ्रान्ति के प्रत्येक रूप की पूर्ण कल्पना का प्रयत्न करना तथा पूर्व-निरूपण का प्रयास करना, मेरी समझ में

हमारे लिए शायद ही कोई प्रकाश प्रदान कर सके। इसलिए मैं इस प्रमुख सिद्धान्त को स्पष्टतया सुस्थापित मानूँगा, और केवल उसको विकसित करने तथा कुछ अस्पतष्ट-ताओं से उसे मुक्त करने का ही प्रयत्न करूँगा।

सबसे पहले मैं अहमेववाद के कठिन विषय पर पुनः विचार करूँगा। संभवतः इक्कीसवें अध्याय में इसकी पर्याप्त चर्चा हो चुकी है। परन्तु किसी मात्रा में यहाँ उसको दोहराना लाभदायक हो सकता है। यह आक्षेप हो सकता है कि, यदि सत् को एक अनु-भव-सिद्ध कर दिया जाय, तो अहमेववाद उसके परिणामस्वरूप निश्चित हो जाता है पुनः यदि हम अहम् के परे तनिक भी पहुँच सकें, तो यह कहा जा सकता है कि हम किसी ऐसी वस्तु की ओर उन्मुख हो गये जो संभवतः अनुभव नहीं है। हमारा प्रमुख निष्कर्ष संक्षेप में प्रत्यक्ष तो नहीं परन्तु एक द्विविधा के द्वारा प्राप्त किया जा सकता है। उसे अपने ही स्वभाव के आत्म-खंडनशील विकास से विनाश का भय हो सकता है।

इस द्विविधा का उत्तर, मैं उसकी मान्यता को अस्वीकार कर के देता हूँ। प्रथम तो उसकी मान्यता यह है कि मेरा स्व उतना ही विस्तृत है जितना मेरा अनुभव। उसकी दूसरी मान्यता यह है कि मेरा स्व कोई ठोस तथा अनन्य वस्तु है। अतः यदि आप भीतर हैं, तो आप बाहर बिल्कुल नहीं होंगे, और, यदि आप बाहर होंगे, तो आप एकदम किसी दूसरे जगत् में होंगे। परन्तु हम दिखला चुके हैं कि ये भ्रान्त मान्यताएँ हैं (अध्याय २१ और २३) और इनका निराकरण हो जाने पर द्विविधा स्वयं समाप्त हो जाती है।

भाव के ससीम केन्द्र, अपने जीवन काल में, जहाँ तक हम समझते हैं, एक-दूसरे के पूर्ववर्ती अथवा परवर्ती नहीं होते। परन्तु, एक ओर तो, कोई स्व तथा कोई अनुभव-केन्द्र दोनों एक नहीं हैं, और दूसरी ओर, प्रत्येक केन्द्र में सर्वात्मक सत्ता उपस्थित रहती है। अपने किन्हीं भी रूपों में, ससीम अनुभव के चारों ओर कोई दीवार नहीं होती। उसके भीतर उसके स्वभाव के एक अभिन्न पक्ष के रूप में सर्वगामी सत्ता होती है। न तो कोई ऐसा समय होता है और न ऐसा समय कभी था, जब अनुभव में जगत् और आत्मा नितान्त एकरूप हों, क्योंकि, यदि हम एक ऐसी अवस्था पर पहुँच जायँ जहाँ अनुभूति के भीतर आत्मा और जगत् भिन्न-भिन्न न रह जायँ, तो उस अवस्था में दोनों में से किसी का भी अस्तित्व न होगा। परन्तु हमारे प्रथम अव्यवहित अनुभव में, सर्व-सत्ता विद्यमान रहती है। इसका अभिप्राय यह नहीं कि अनुभव का प्रत्येक अन्य केन्द्र, अपने निज रूप में, वहाँ समाविष्ट होता है। उसका अभिप्राय यही होता है कि प्रत्येक केन्द्र सर्व को विशिष्ट करता है, और 'सर्व' एक विशेष्य के रूप में अपने विशेषणों में से प्रत्येक में उपस्थित रहता है। फिर अव्यवहित अनुभव से स्व का प्रादुर्भाव होता है, और वह एक विभाजन-क्रिया के द्वारा पृथक् हो जाता है। स्व और जगत् दो तत्त्व हैं,

जिनमें से प्रत्येक अनुभव में पृथक् है, और प्रत्येक का अनुभव में समावेश है। और संभवतः सभी अवस्थाओं में स्व—और कम-से-कम सदैव आत्मा[1]—में एक बौद्धिक सृष्टि का समावेश होता है और इस सृष्टि के द्वारा ही उसका अस्तित्व होता है। इस प्रकार स्व एक ऐसी सृष्टि है जो अव्यवहित अनुभव पर आश्रित होती हुई भी, उसको अतिक्रान्त करती हुई होती है। अतः सम्पूर्ण अनुभव को एक स्व (किसी भी अर्थ में) का विशेषण मात्र कहना अकाट्य नहीं हो सकता और जहाँ तक अतिक्रान्त का सम्बन्ध है, प्रारम्भ से ही अनुभव स्व अथवा आत्मा को अतिक्रान्त करता रहता है। अथवा इसी बात को एक दूसरे ढंग से इस प्रकार कह सकते हैं। अनुभव के प्रथम अपूर्ण रूप को अतिक्रान्त करने से जो परिणाम प्राप्त होते हैं, स्व अथवा आत्मा उनमें से एक है। परन्तु परिपूर्णावस्था में, अनुभव और सत् दोनों एकीभूत हो जाते हैं, और उनका अतिक्रमण नहीं हो सकता।

इसी को मैं एक बार फिर दोहरा दूँ। अपने प्रारम्भिक रूप में, एक अव्यवहित भाव-केन्द्र की शक्ल में, अभी न तो अनुभव आत्म (स्व) होता है, और न अनात्म। वह उसकी विशेषता प्रकट करता है, जो निःसन्देह उसके भीतर विद्यमान होती है, और उसकी निजी ससीम इयत्ता अविभाज्य रूप में उसको समस्त विश्व से जोड़ देती है। परन्तु स्वयं उसके लिए—यदि वह उसके लिए हो पाता—यह ससीम केन्द्र ही जगत् हो जायगा। ऐसी अवस्था में अपनी ही अपूर्णता-द्वारा इस प्रकार का आदि अनुभव छिन्न-भिन्न हो जाता है। उसकी एकता आन्तरिक क्षोभ तथा बाह्य प्रभाव के पूर्व ही भंग हो जाती है। और एक ओर तो स्व तथा अहम् की उत्पत्ति इस विकास के द्वारा होती है, और दूसरी ओर, अन्य स्व और जगत् तथा ईश्वर प्रकट होते हैं। वे सब-के-सब एक ससीम अनुभव की इयत्ताओं के रूप में प्रकट होते हैं, और वे वस्तुतः सच्चे तथा वास्तविक अर्थ में उसमें अन्तर्निहित होते हैं। उसमें केवल आंशिक रूप में, और, उनके क्षेत्र के न्यूनाधिक अपर्याप्त भाग के द्वारा उसमें समाविष्ट होते हैं। फिर भी यह भाग यथासंभव उनका स्वरूप और सत्-रूप होता है। और एक ससीम अनुभव

---

१. ये व्यंजक सर्वत्र समान नहीं समझे जाने चाहिए। निःसन्देह किसी भाव-केन्द्र के बिना कोई स्व अथवा आत्मा नहीं हो सकता। परन्तु ऐसे भी भाव-केन्द्र हो सकते हैं जो स्व भी न हों और आत्मा भी न हों (देखो नीचे)। संभवतः कुछ ऐसे स्व भी हैं, जो इतने चंचल हैं कि उनको आत्मा नहीं कहा जा सकता, जबकि यह लगभग निश्चित है कि ऐसे आत्मा भी हैं जो यथार्थतः स्व नहीं हैं। इस दूसरे व्यंजक का प्रयोग तब तक कदापि नहीं करना चाहिए जब तक आत्म और अनात्म के विभाजन का भाव न हो। और इसको सदैव ठीक इसी अर्थ में प्रयुक्त कर सकना कठिन है। (अध्याय ९)।

पहले से ही आँशिक रूप में विश्व होता है। इसलिए यहाँ पर एक जगत् से दूसरे जगत् में जाने का कोई प्रश्न ही नहीं उपस्थित होता। अनुभव दोनों जगतों में पहले ही है, और उन दोनों के अस्तित्व के साथ उसका तादात्म्य होता है, और प्रश्न केवल यह है कि व्यवहार अथवा ज्ञान में, इस उभयगत अस्तित्व को किस सीमा तक, प्राप्त किया जा सकता है। दूसरे शब्दों में ससीम अनुभव में अपूर्णतया विद्यमान, समस्त विश्व, पूर्ण होने पर केवल इस अनुभव की ही पूर्णता-मात्र होगा। और इसलिए किसी दूसरे जगत् में अतिक्रान्ति की बात करना भ्रांतिपूर्ण है।

कुछ उद्देश्यों के लिए, हम जो कुछ अनुभव करते हैं उसको मेरे स्व अथवा मेरी आत्मा की एक दशा माना जा सकता है। उसको ऐसा माना जा सकता है, क्योंकि वह एक पक्ष में वस्तुतः ऐसा है ही। परन्तु इस एक पक्ष को उसकी सत्ता का एक अति क्षुद्र अंश माना जा सकता है। और किसी भी अवस्था में, जो मैं अनुभव करता हूँ, वह मेरे स्व अथवा आत्मा का विशेषण-मात्र नहीं बन सकता। मेरा स्व अव्यवहित नहीं है, और न वह अन्तिम सत्ता ही है। अव्यवहित सत्ता एक ऐसा अनुभव है जिसमें या तो आत्म (स्व) तथा अनात्म दोनों ही आते हैं अथवा कोई भी नहीं। और दूसरी ओर, अन्तिम सत्ता विश्व-समष्टि होगी।

पिछले अध्याय में हमने अहमेववाद के सत्यों से परिचय किया। मेरे स्व के सहित, प्रत्येक वस्तु चरम तत्त्व के लिए अनिवार्य और उससे अभिन्न है। और, केवल भावना में ही हम सत्ता को प्रत्यक्ष रूप में प्राप्त कर सकते हैं। परन्तु यहाँ सत्य के इन पक्षों का निरूपण करने की आवश्यकता नहीं है। मेरा अनुभव जगत् के लिए अनिवार्य है, परन्तु, एक विषय में छोड़कर, अन्यत्र जगत् मेरा अनुभव नहीं। विस्तृत अर्थ में जगत् और अनुभव एक ही है। और, एक अर्थ में, मेरा अनुभव और उसकी अवस्थाएँ ही वस्तुतः सम्पूर्ण जगत् हैं, क्योंकि, इसी अति सीमित अर्थ में यह एक ही सत् वस्तुतः मेरा स्व है। परन्तु इसके विपरीत, यह प्रतिपादन करना कम भ्रामक है कि सम्पूर्ण जगत् मेरा अनुभव है, क्योंकि वह आभासित होता है, और प्रत्येक आभास में उसकी एकाकी सत्ता पहले से ही अपूर्ण रूप में समाविष्ट होती है।

आइए, हम एक तर्क-विरुद्ध पूर्वाग्रह पर आश्रित आक्षेप को छोड़कर, एक रोचक विषय पर विचार करें। क्या परम सत् को आत्माओं से बना हुआ तथा आत्मामय कहा जा सकता है? यह प्रश्न अस्पष्ट है, और इस पर कई अर्थों में विचार किया जा सकता है। पहला प्रश्न यह है कि—क्या विश्व में कोई ऐसा भौतिक तत्त्व भी है, जिसका समावेश ससीम अनुभव-केन्द्रों में न होता हो? प्रथम प्रयास में इन केन्द्रों के बीच जो सम्बन्ध हैं, उनकी ओर एकदम संकेत करना स्वाभाविक प्रतीत होता है। परन्तु, विचार

करने पर हमें पता लगता है कि यह सम्बन्ध अब तक स्वयं इन केन्द्रों के प्रत्यक्षण तथा विचार में ही समाविष्ट रहे हैं। अतः जो प्रश्न उपस्थित हो सकता है वह यह है—क्या किसी भी रूप में कोई ऐसा अनुभवगम्य भौतिक तत्त्व हो सकता है जिसका समावेश एक तत्त्व के रूप में किसी ससीम केन्द्र में न होता हो।

हमारे अज्ञान को देखते हुए, इस प्रश्न का शायद कोई उत्तर न प्रतीत होता हो। हम नहीं जानते कि परम सत् अपने को केन्द्रों में क्यों अथवा कैसे विभाजित कर लेता है। न हमें यह ज्ञात है कि वह इस प्रकार विभाजित होकर भी वह एक कैसे बना रहता है। अन्त में, अनेक अनुभवों का उस एकाकी अनुभव से जो सम्बन्ध है और उन अनुभवों का जो परस्पर सम्बन्ध है, वह हमारे लिए अगोचर है। और यदि यह बात हो, तो ऐसे तत्त्व क्यों न हों जिनका अनुभव समष्टि में होते हुए भी, किसी आश्रित परिधि में न होता हो? दूसरी ओर से हम निःसन्देह इस अज्ञान तथा इस प्रश्न का सामना एक सन्देह के साथ कर सकते हैं। क्या ऐसे किसी अनासक्त तत्त्व, अथवा तत्त्वों के प्रान्त-भाग का कोई भी अर्थ हो सकता है? क्या ऐसी किसी कल्पना को तर्क-संगत मानने का हमें कोई अधिकार है, क्या हमारा अज्ञान वस्तुतः किसी ऐसे भौतिक तत्त्व की संभावना को मानने से निषेध करता है जो भाव के किसी ससीम सर्व से पृथक् अनुभव किया जाता हो? परन्तु, विचार करने के पश्चात् मुझे ऐसा नहीं लगता कि यह सन्देह तनिक भी महत्त्व का हो। निःसन्देह किसी पृथक्करण के द्वारा ही मैं इस प्रकार के अनासक्त तत्त्वों की कोई कल्पना कर सकता हूँ। और यह प्रतीत हो सकता है, कि यह पृथक्करण वैध नहीं है, यदि तत्त्वों को नितान्त शिथिल रूप में ग्रहण किया जाता, और यदि वे फिर भी, एक अनुभव-समष्टि के अभिन्न अंग न होते, तो स्पष्टतः इस पृथक्करण से एक असंगतिपूर्ण कल्पना ही हाथ लग पाती। हम इस बात से सहमत हो चुके हैं कि ऐसी किसी कल्पना को संभव नहीं माना जाना चाहिए। परन्तु, प्रस्तुत प्रसंग में किसी ससीम केन्द्र से अनासक्त तत्त्व, फिर भी सर्वात्मक इकाई के आश्रित तथा मूलभूत पक्ष होते हैं, और चूंकि यह सर्वात्मक इकाई एक अनुभव-मात्र है, अतः स्थिति बदल जाती है। किसी ससीम केन्द्र से पृथक्करण करने पर प्रकट रूप में अन्तर्विरोध की प्राप्ति नहीं होती। इसलिए मैं उसके परिणाम को संभव मानने से अस्वीकार नहीं कर सकता।

परन्तु दूसरी ओर, यह संभावना कोई महत्त्वपूर्ण प्रतीत नहीं होती। यदि हम उसको तथ्य मान लें तो भी हम देखेंगे कि इससे 'सर्व' में कोई बहुत अन्तर नहीं आता। और उसको इस रूप में मानने के लिए प्रायः कोई भी कारण प्रतीत नहीं होता। आइए, हम संक्षेप में इन दोनों बातों पर विचार करें। यदि वे तत्त्व पूर्ण तथा आत्यन्तिक रूप

में अनासक्त हों, तो अनुभव के तत्त्वों का अनासक्त होना एक गम्भीर विषय वन जाता है। परन्तु, प्रत्येक अवस्था में सवके एकत्र होने से और 'सर्व' में समाविष्ट होने से तथा इस सर्व के सर्वथा एक अनुभवरूप ही होने से, मुझे प्रमुख निष्कर्ष पर कुछ भी प्रभाव पड़ता नहीं दीखता। किसी अनुभव-तत्त्व का किसी ससीम केन्द्र से प्रत्यक्ष सम्वन्व न होना एक ऐसा तथ्य है जिससे मैं कोई और निष्कर्ष नहीं निकाल सकता। परन्तु, दूसरे इस तथ्य को स्वीकार करने के लिए सचमुच कोई अच्छा कारण नहीं है। हम जानते हैं कि ससीम केन्द्रों की संख्या और उनकी अनेकता वहुत वड़ी है, और हम यह भी कल्पना कर सकते हैं कि वह हमारे ज्ञान की परिधि के वहुत अविक परे है। और इन केन्द्रों के वीच जो सम्वन्ध है उनसे भी कोई कठिनाई उपस्थित नहीं होती। सम्वन्ध कहीं सत् के वाहर नहीं हो सकते, और, यदि वे सचमुच केन्द्रों के वीच हों, तो हमें किसी ऐसे अनुभव-तत्त्व की कल्पना करनी पड़ेगी जो इन केन्द्रों से अतिरिक्त और वहिर्गत हो। यह निष्कर्ष निकलेगा; और हम देख चुके हैं कि ठीक-ठीक समझने पर यह सम्भव है। परन्तु, वस्तु-स्थिति को देखते हुए, यह कुछ कम असम्भव नहीं प्रतीत होता। जहाँ तक हम समझते हैं ऐसा संकेत देने के लिए कुछ भी नहीं है कि किसी सम्वन्व का कोई भी पक्ष ससीम सम्वन्वों के अन्तर्गत अनुभव-तत्त्व के वाहर पड़ता है। ये सम्वन्ध, इस रूप में परम सत् के भीतर न हैं और न हो सकते हैं। अव प्रश्न यह है कि उन सम्बन्धों का समावेश तथा रूपान्तर करने वाले उस उच्चतर अनुभव के लिए क्या किसी ऐसे तत्त्व की अपेक्षा है जिसका अनुभव किसी प्रकार इन केन्द्रों के भीतर न होता हो? ऐसे किसी तत्त्व की कल्पना करने के लिए मुझे स्वयं तो कोई दिखायी नहीं पड़ता और, यदि इसकी कल्पना भी कर लें, तो भी हमारा प्रमुख निष्कर्ष अविकल रहता प्रतीत होता है। इसलिए, संभवतः सवसे अच्छी बात तो यह होगी कि उसको असत् कहकर छोड़ दिया जाय। सामान्यतः यह निष्कर्ष निकालना अविक अच्छा है कि सत् का कोई तत्त्व ससीम केन्द्रों के अनुभव से वाहर नहीं पड़ता।

तो क्या हमें यह प्रतिपादन करना है कि परम सत् आत्माओं से वना है? मेरी समझ में, दो कारणों से ऐसा करना ठीक नहीं है। प्रथम तो, एक अनुभव-केन्द्र न तो एक आत्मा ही है, और न पुनः एक स्व ही। उसके भीतर आत्म और अनात्म का विभाजन होना भी आवश्यक नहीं है, और, चाहे उसमें वह हो या नहीं, किसी भी अवस्था में वह यथार्थतः एक 'स्व' नहीं होगा। वह या तो भेद-भाव से नीचे रहेगा, अथवा वह उसकी अपेक्षा अधिक विस्तृत होगा और उसके ऊपर रहेगा। और, जैसा कि हम देख चुके हैं, एक आत्मा सदैव ही किसी वौद्धिक सृजन की कृति होता है। वह अव्यवहित अनुभव का केन्द्र-मात्र भी नहीं है। और फिर, हम यह भी नहीं कह सकते कि प्रत्येक केन्द्र में

: संगती आत्मा, किसी-न-किसी अर्थ में, निहित तथा संलग्न रहता है, क्योंकि इस
गर के केन्द्रों की अवधि संभवतः इतनी क्षणिक हो सकती है कि जब तक किसी सिद्धान्त
ा का दुराग्रह न हो, तब तक, कोई भी व्यक्ति उनको आत्मा नहीं कह सकता। अतः
यह नहीं मान सकते कि आत्माओं के अन्तर्गत वही सभी अनुभव-सामग्री आ सकती
जिससे यह जगत् भरा पड़ा है।

और दूसरी बात यह है कि, किसी भी अवस्था में, परम सत् आत्माओं से नहीं
न सकता, क्योंकि इसका, अभिप्राय आत्माओं की एक ऐसी ऐक्यावस्था से होगा,
सको हम अन्तिम अथवा चरम नहीं मान सकते। उससे यह ध्वनित होता है कि
रम तत्त्व में, ससीम केन्द्रों का संरक्षण तथा सत्कार होता है, और वहाँ हम उनको
स रूप में बने रहते हुए तथा व्यवस्थित एवं क्रमबद्ध होते हुए मान सकते हैं। परन्तु
म देख चुके हैं कि वस्तुओं का अन्तिम भागधेय तथा चरम सत्य इस प्रकार का नहीं
ो सकता। हम न केवल वस्तुओं की एक पुनर्व्यवस्था कर रहे हैं, अपितु उनके आन्तरिक
त्त्वों की भी। हम सर्व सामग्री के पुनर्मिश्रण-द्वारा किसी सर्वव्यापी सम्मिश्रण की योजना
कर रहे हैं। जब वस्तुएँ, स्वयं वहाँ रूपान्तरित हो जाती हैं और अपने-अपने व्यक्तिगत[1]
स्वरूपों को खो देती हैं, तो हमारे लिए यह कहना कठिन होगा कि चरम तत्त्व ससीम
वस्तुओं से बनता है।

तो फिर, सत् एक है और वह अनुभवरूप है। वह केवल मेरा अनुभव नहीं है,
और न पुनः हम उसे आत्माओं या स्वों का ही बना हुआ कह सकते हैं। और वह अनुभव
की एकता के अतिरिक्त किसी अन्य की भी एकता नहीं हो सकती, क्योंकि किसी अन्य
की जब हम परीक्षा करते हैं, तो वह सदैव अनुभव-सिद्ध होता है। प्रकृति के प्रसंग में
हम ऊपर (अध्याय २२ तथा २६) इसकी जाँच कर चुके हैं। 'अन्य सभी' की भाँति,
प्रकृति अनिर्वचनीय ही रहती है। अन्ततोगत्वा वह एक व्यवस्था-क्रम, सहवर्ती तथा

---

१. इस कारण, मनुष्य-जाति या आत्माओं के किसी घटक, राज्य या समाज की कोई
अंतिम कल्पना नहीं होगी। उसका अभिप्राय एक ऐसी एकता से है जो अत्यन्त अपूर्ण होती है
और वह ससीम आभास-खंडों को एक अत्यधिक ऊँचे अर्थ में, वास्तविकता प्रदान करता है।

सिद्धान्ततः ये दोनों दोष वास्तव में एक ही हैं। भूत, वर्तमान तथा भविष्य के सभी
आत्माओं का समावेश करने वाला कोई घटक या समाज स्वयं मेरे लिए एक स्पष्ट कल्पना है।
और मैं तो आचार-शास्त्र में भी यह नहीं समझ पाता कि इस प्रकार की कल्पना का आग्रह कैसे
किया जा सकता है। सर्व की पूर्णता अपना साक्षात्कार मुझ में और मेरे द्वारा करती है और
निःसन्देह यह सर्व बहुत कुछ सामाजिक होता है परन्तु मैं यह नहीं समझ पाता कि, आचार-
शास्त्र में भी, इसके अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं होता (पृ० ३६७—८)।

क्रमागत होने का एक प्रकार है, जिसके विषय में हम 'क्यों' का उत्तर देने में असमर्थ हैं। परन्तु अन्यों की भाँति, यह असमर्थता हमारे परिणाम की सत्यता को प्रभावित नहीं करती। प्रकृति अनुभव से ही उद्भूत एक पृथक्कृति है, और अनुभव में वह चैतन्य या मन का समकक्ष नहीं होती, क्योंकि, जैसा कि देख चुके हैं, मन की सत्ता प्रकृति से उच्चतर है, और भौतिक जगत् का सार पहले ही उस ओर संकेत करता है जिसमें वह विलीन तथा अतिक्रान्त हो जाता है। प्रकृति स्वयं, अनुभव-समष्टि में, केवल एक सुकाट्य विभाजन है।

मैं कह चुका हूँ कि अनुभव की यह पूर्ण एकता इस रूप में जाँची नहीं जा सकती। हम उसके स्वरूप को जानते हैं, परन्तु केवल रूप-रेखा में ही और विस्तार के साथ नहीं। जैसा कि हम देख चुके हैं, भाव से हमें असम्बन्धात्मक एकता की एक सुनिश्चित कल्पना प्राप्त होती है। कल्पना अपूर्ण है, परन्तु एक सुनिश्चित आधार के रूप में काम आने के लिए वह पर्याप्त है। और आगे, हमें, अपने सिद्धान्त के कारण, एक ऐसे सर्व में विश्वास करने के लिए विवश होना पड़ता है, जो अनुभव के प्रत्येक खंड-द्वारा विशिष्ट होता है, और विशिष्ट होता है असम्बन्धात्मक रूप में। परन्तु यदि सभी अनुभवों की यह एकता स्वयं अनुभव न हो, तो वह अर्थहीन होगी। तो वह सर्व एक अनुभव और एक ऐसी एकता है जो सभी सम्बन्धों से उच्चतर है और जिसमें वे सब समाविष्ट तथा रूपान्तरित हो जाते हैं। ऐसी एकता का एक सुनिश्चित अर्थ होता है। उसके होने के ब्यौरेवार ढंग के विषय में तो हम नितान्त अज्ञ हैं, परन्तु उसके सामान्य स्वभाव के विषय में, हमें एक सूक्ष्म परन्तु सुनिश्चित ज्ञान है। और, अपने प्राप्त किये हुए परिणाम में सन्देह रखने अथवा उसके निषेध करने का प्रयत्न करते-करते हम अपने को एक बार पुनः अज्ञात रूप से उसे स्वीकार करते हुए पाते हैं।

ज्ञात होते हुए भी, चरम तत्त्व, एक अर्थ में, हमारे अनुभव तथा ज्ञान की अपेक्षा उच्चतर है, और इस सम्बन्ध में, मेरा प्रश्न यह है कि क्या उसका व्यक्तित्व होता है। जिस अवस्था तक हम पहुँच चुके हैं, उस पर इस प्रकार के प्रश्न का उत्तर तीव्र गति से दिया जा सकता है। हम, उसका उत्तर, उसके अर्थ के अनुसार हाँ या ना में दे सकते हैं। चरम तत्त्व में सब-कुछ होता है, अतः निःसन्देह उसमें व्यक्तित्व भी होगा ही। और यदि व्यक्तित्व से हमारा अभिप्राय ससीम आध्यात्मिक विकास के सर्वोच्च रूप से है, तो निःसन्देह बहुत कुछ परिमाण में चरम तत्त्व वैयक्तिक है, क्योंकि जो उच्चतर होता है वह सदैव अधिक सत् भी होता है। और चरम तत्त्व से तो अनुभव के निम्नतम रूप तक नष्ट नहीं होते, अतः व्यक्तित्व के विषय में ऐसा प्रश्न उठाना ही बेतुका प्रतीत होता है।

परन्तु, सामान्यतः जिस अर्थ में यह प्रश्न रखा जाता है, वह अर्थ यह नहीं होता। 'वैयक्तिक' का प्रयोग वस्तुतः कुछ संकीर्ण अर्थ में होता है, क्योंकि उसका प्रयोग जिस अर्थ में होता है उसके अन्तर्गत व्यक्तित्व से ऊपर तथा नीचे होने वाले तत्त्व नहीं आते। दूसरे शब्दों में, अति-वैयक्तिक को, या तो स्पष्ट रूप से या अस्पष्ट रूप से, असम्भव माना जाता है। व्यक्तित्व को अनुभव का सर्वाधिक संभव प्रकार माना जाता है। स्वभावतः यदि ऐसा हो तो चरम तत्त्व को अति-वैयक्तिक नहीं कहा जा सकता। इस निष्कर्ष को, उसकी आधारभूत मान्यता के सहित, तुरन्त ही ठुकराया जा सकता है। वस्तुतः इसका खंडन पूर्ववर्ती चर्चाओं में पहले ही किया जा चुका है। यदि 'वैयक्तिक' शब्द को उसके सामान्य अर्थ के समान ही किसी अर्थ को व्यक्त करना है तो निःसन्देह चरम तत्त्व केवल वैयक्तिक नहीं है। वह वैयक्तिक नहीं है, क्योंकि वह वैयक्तिक होते हुए कुछ अधिक भी है। संक्षेप में, वह अति-वैयक्तिक है।

यहाँ व्यक्तित्व के संभावित अर्थों की खोज करना, अभिप्रेत नहीं है। आत्मा और आत्म-चेतना के स्वरूप पर मैं पहले ही कुछ कह चुका हूँ (अध्याय ९ और १०,२१ और २३), और मैं यहाँ केवल इतना और कहूँगा कि मेरी दृष्टि में एक व्यक्ति या तो ससीम होता है अथवा अर्थहीन। परन्तु मेरे विचार में, चरम तत्त्वके विषय में जो-कुछ प्रश्न उठाया गया है, उसको संक्षेप में निपटाया जा सकता है। यदि उसको वैयक्तिक कहने से, आपका अभिप्राय केवल यह है कि वह अनुभव के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है, ज्ञेय तथा अनुभाव्य तत्त्वों में से समस्त सर्वोत्तम तत्त्व उसमें है, और वह एक ऐसी एकता है जिसमें सभी सूक्ष्मताएँ व्याप्त तथा संसक्त होती हैं—तो इस निष्कर्ष में, मैं आपके साथ हूँ। परन्तु आपके वैयक्तिक शब्द का प्रयोग करनेके लिए हमें अति खेद है! मुझे इस प्रयोग पर मुख्यतः खेद इसलिए नहीं है कि मैं इसे ठीक नहीं समझता, परन्तु इसलिए कि यह भ्रामक है और इससे प्रत्यक्ष में असत्यता का पक्ष-समर्थन होता है।

क्योंकि जो लोग ईश्वर के व्यक्तित्व पर आग्रह करते हैं, उनमें से अधिकांश लोग बौद्धिक दृष्टि से बेईमान हैं। वे किसी निष्कर्ष को चाहते हैं, और उस तक पहुँचने के लिए, वे मीमांसा 'किसी दूसरे' के लिए करते हैं। परन्तु, यदि यह दूसरा सिद्ध भी हो जाय तो वह नितान्त भिन्न होगा, और उनका उससे केवल यही काम चलेगा कि वे उसको अस्पष्ट करके उसमें पहले मिथ्या प्रतीति कर लेते हैं। और यहाँ पर, उनके व्यावहारिक उद्देश्य-द्वारा ही परिणाम का मूल्यांकन किया जा सकता है। जिस देवता को वे चाहते हैं, वह निःसन्देह ससीम है, उनके समान ही ससीम तथा छिन्न विचारों तथा भावों से युक्त व्यक्ति है। वे व्यक्ति के एक 'स्व' के अर्थ में एक ऐसा व्यक्ति चाहते हैं जो अन्य 'स्वों' में से हो तथा उनसे विपरीत हो और अन्यों के प्रति व्यक्तिगत सम्बन्धों

तथा भावों से प्रेरित होता हो—सम्बन्ध तथा भाव भी ऐसे जो अन्यों के व्यवहार-द्वारा बदलते हों। और, उनकी दृष्टि में जो यह नहीं, वह कुछ भी नहीं। यहाँ पर स्वयं इस इच्छा से मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है। निःसन्देह, हमारी दृष्टि में, चरम तत्त्व को इस रूप में वैयक्तिक होने या न होने के विषय में प्रश्न करना मूर्खतापूर्ण है। और इस क्षण, मेरा प्रयोजन सत्य से नहीं, अपितु बौद्धिक सच्चाई से है।

पहले ईमानदारी की बात तो यह होगी कि जिस परिणाम को लक्ष्य बनाया गया हो उसको साफ-साफ कह दिया जाय, और फिर यह पता लगाया जाय कि यह परिणाम निकलता भी है या नहीं। परन्तु यह सच्चाई की बात नहीं कि वास्तविक प्रश्न को तो दाब दिया जाय, देवता के व्यक्तित्व को एक अर्थ में तो चाहा जाय, और फिर दूसरे अर्थ में उसके लिए शास्त्रार्थ किया जाय, तथा इन दोनों अर्थों के बीच जो खा है उसकी उपेक्षा कर दी जाय। यदि आप एक बार अपने ससीम तथा खंडनीय व्यक्ति को छोड़ दें तो आप उन सभी बातों को खो बैठेंगे जो, आपकी दृष्टि में, व्यक्तित्व को महत्त्व प्रदान करती हैं। आप किसी शब्द के लुढ़कते प्रसार-द्वारा इस खाई पर पुल नहीं बना सकते। आप तो एक कुहरा भले ही पैदा कर दें जिससे आप चिल्लाकर कह सकें कि आप एक साथ ही दोनों ओर हैं। और मैं इस कुहासे की वृद्धि में योग नहीं दूंगा। यदि व्यक्तित्व का कोई एक अर्थ वस्तुतः हो भी, तो ऐसे सहवास तथा वातावरण में, उस अर्थ पर विचार करना व्यर्थ होगा। मेरी दृष्टि में, एक ओर तो, यह जानना पर्याप्त है कि चरम तत्त्व एक ससीम व्यक्ति है। दूसरी ओर, यह प्रश्न बौद्धिक दृष्टि से महत्त्व हीन तथा व्यवहार की दृष्टि से तुच्छ है कि किसी अधूरे अर्थ में व्यक्तित्व का प्रयोग उसके लिए किया जा सकता है कि नहीं।

चरम तत्त्व के व्यक्तित्व के विषय में, हमें दो एकांगी ग़लतियों से सावधान रहना चाहिए। चरम तत्त्व वैयक्तिक नहीं है, और न वह भौतिक अथवा सुन्दर या सत्य ही है। और यह भी सम्भव है कि इन नकारों-द्वारा हम और त्रुटियाँ कर रहे हों, क्योंकि यह कहना तो और भी अधिक अशुद्ध होगा कि चरम तत्त्व या तो असत्य है या असुन्दर, अशुभ अथवा इन विधेयों के स्तर से और भी नीचे है। अतः चरम तत्त्व को अवैयक्तिक कहने की अपेक्षा उसके व्यक्तित्व को स्वीकार कर लेना अधिक अच्छा है। परन्तु दोनों में से किसी भी ग़लती की आवश्यकता नहीं। चरम तत्त्व अपने आन्तरिक विभाजनों से नीचे नहीं, अपितु ऊपर स्थित है। वह उनको बाहर नहीं करता, अपितु उन्हें अपनी पूर्णता के अंगभूत बनाकर अपने भीतर स्थान देता है। दूसरे शब्दों में यह कह सकते हैं कि उसमें सभी चरम सीमाओं की उदासीनता नहीं, अपितु तादात्म्य भाव होता है। परन्तु इस सम्बन्ध में उसको अति-वैयक्तिक कहना अधिक अच्छा होगा।

हम देख चुके हैं कि सत्ता एक है और वह एकमात्र अनुभव है, और हम अब इस ा छोड़कर एक कठिन प्रश्न पर विचार प्रारम्भ कर सकते हैं। क्या चरम तत्त्व सुखी ? इसका अर्थ यह हो सकता है कि सामान्य सुख चरम तत्त्व का विधेय हो सकता या नहीं। और, जैसा कि हम पिछले अध्याय में देख चुके हैं, यह बात सम्भव नहीं ै। हमने देखा कि दुःख के परे एक सुखावशेष होता है। और हम यह बात अनुभव ा जानते हैं कि एक मिली-जुली अवस्था में ऐसा कोई भी अवशेष सुखद होगा। और हमें विश्वास है कि चरम तत्त्व में किसी प्रकार यह सुखावशेष है और वह उसका भोग करता है। परन्तु आगे बढ़ना असम्भव प्रतीत होता है। अनुमानतः सुख योगदान-द्वारा इतना पूरित तथा रूपान्तरित हो सकता है कि वह ठीक सुख-जैसा कुछ रह ही न जाय। उसका सुखद अवश्य ही नष्ट नहीं होगा, परन्तु सर्व के अन्य पक्षों से वह इतना मिश्रित हो सकता है कि उसको पहचाना ही नहीं जा सके। ऐसी अवस्था में, चरम-तत्त्व संकीर्ण अर्थ में सुख अनुभव नहीं करता। परन्तु यह बात इसी लिए है कि उसके भीतर ऐसा कुछ है जिसमें सुख का समावेश है।

परन्तु इस स्थान पर हमें फिर वही संदेह होता है जिसकी चर्चा आंशिक रूप में पहले ही हो चुकी है (अध्याय १४)। क्या हमारा निष्कर्ष आखिरकार ठीक है ? क्या यह सम्भव नहीं है कि चरम तत्त्व में एक दुःख का अवशेष हो, अथवा यदि दुःख का नहीं तो किसी अन्य ऐसी वस्तु का जो सर्वथा उससे श्रेष्ठतर न हो ? इस कठिन विषय पर, मैं एकदम एक ऐसे परिणाम को बतलाऊँगा जो सत्य प्रतीत होता है। ऐसा कोई भी अवशेष उस निम्नतम अर्थ में संभव हो सकता है जिसको नग्न संभावना कहते हैं। मुझे वह अंतहीन नहीं प्रतीत होता, और न मैं उसको स्वयं-विरुद्ध ही पा सकता हूँ। यदि हम इस बात को अस्वीकार करने का प्रयत्न करें कि चरम तत्त्व एक है और वह अनुभव-तत्त्व है, तो हमारा निषेध, अर्थहीन हो जाता है, अथवा स्वयं एक स्वीकृति में बदल जाता है। परन्तु मैं यह नहीं समझता कि इसका अभिप्राय सुख का निषेध है।

यह सच है कि अपने अनुभव के अतिरिक्त, हम अन्य किसी स्रोत से दुःख अथवा सुख के विषय में कुछ भी नहीं जान सकते। यह सच है कि उस अनुभव में लगभग प्रत्येक वस्तु एक ही दिशा की ओर संकेत करती है। जहाँ तक मैं जानता हूँ ऐसा कोई भी विशेष तथ्य नहीं है जिससे यह ध्वनि निकलती हो कि दुःख एकता तथा सामंजस्य के साथ मेल नहीं खाता। और, यदि यह बात है, तो हम इसी पर आग्रह क्यों न करें, दुःख का स्वरूप इस प्रकार का है, और इसलिए इस स्वरूप का निषेध करने का अभिप्राय यह है कि अंतर्विरोध में पड़ा जाय ? संक्षेप में, ऐसी अन्य कौन-सी संभावना है जिसका समावेश नहीं हुआ है ? मैं उसको बताने का प्रयत्न करूँगा।

जिस जगत् को हम देख सकते हैं वह निःसन्देह सम्पूर्ण विश्व नहीं है, और हम यह नहीं जानते कि कितना ऐसा और है जिसको हम नहीं देख पाते, और इसलिए सर्वत्र अज्ञात् से एक अनिश्चित पूरक की प्राप्ति संभव हो सकती है। क्या ऐसी उपाधियाँ संभव नहीं हैं ? जो हमारे लिए आवश्यक प्रतीत होता है वस्तुतः वह वैसा नहीं है। वह सचमुच ऐसी अदृश्य उपाधियों से प्राप्त हो सकता है जो कि केवल आकस्मिक हों। और इसलिए आखिरकार दुःख की संगति समन्वय तथा तंत्र से बैठ सके। इसके विपरीत प्रतिपक्ष यह कह सकता है कि ऐसी कल्पना करने पर स्वयं दुख का ही निराकरण हो जायगा और उसकी दुखशीलता ही समाप्त हो जायगी। और साथ ही यह कहा जा सकता है कि जो बात किसी मानदंड से आकस्मिक है वही अनिवार्य हो गयी है—और यह अनिवार्यता भी अप्रत्यक्ष होने से कुछ कम सफलता नहीं होगी। परन्तु, यद्यपि इन आक्षेपों में कुछ बल है, परन्तु मुझे वे निर्णायक प्रतीत नहीं होते। अन्ततोगत्वा, एक दुःखद विश्व की कल्पना न तो नितान्त निरर्थक प्रतीत होती है और न प्रत्यक्ष रूप में स्वयं-विरुद्ध ही। और मैं यह कहने के लिए विवश हूँ कि संकीर्ण अर्थ में हम उसको संभव कह सकते हैं।

परन्तु दूसरी ओर, ऐसी किसी भी संभावना का लगभग कोई महत्त्व नहीं है। जहाँ तक इसका सम्बन्ध है, इसका आधार निःसन्देह धनात्मक ज्ञान है। हम जानते हैं कि कुछ सीमाओं के भीतर जगत् का स्वरूप अनिश्चित अनुपूरण को स्वीकार नहीं करता। और यहाँ पर प्रस्तावित अनुपूरण ज्ञात सत्ता के सामान्य स्वरूप के अनुकूल प्रतीत होता है। यही एक बात है जो उसके पक्ष में जाती है। यह वस्तुओं के सामान्य स्वभाव के साथ एक सूक्ष्म अनुकूलता है, और इसके ऊपर प्रमाण विशेष की रंच-मात्र भी प्रतीति नहीं होती। परन्तु इसके विरुद्ध, ऐसी प्रत्येक बात है जिसको हम विषय के विरुद्ध, विशेष रूप से जानते हैं। इस प्रकार संभावना का मूल्य इतना कम रह जाता है कि उसका अनुमान नहीं लगाया जा सकता। हम केवल यही कह सकते हैं कि उसका अस्तित्व है, और वह और अधिक मीमांसा के योग्य कठिनाई से ही हो सकता है।

इसके साथ ही हम उस रेखा को पार कर चुके, जो चरम तत्त्व को सोपाधिक ज्ञान से पृथक् करती है। वह सत् एक ऐसा तंत्र है जिसमें सम्पूर्ण अनुभव समाविष्ट होता है और साथ ही यह तंत्र स्वयं अनुभव होता है—इस बात को हम आत्यन्तिक तथा अनुपाधिक रूप में मानते हुए कहे जा सकते हैं। अभी तक हमारा निर्णय अडिग है और उसका विपरीत नितान्त असम्भव। दूसरे शब्दों में, भूल के लिए अभी तक बिल्कुल कोई गुंजाइश नहीं है। परन्तु इस सीमा के बाहर, प्रत्येक निर्णय ससीम, और इसलिए सोपाधिक है। और इसलिए प्रत्येक सत्य, अपूर्ण होने से, न्यूनाधिक रूप में भ्रामक

है। और न्यूनता की मात्रा अज्ञात रहने से, किसी भी अवस्था में, अनुमानतः वह इस सीमा तक जा सकती है कि निर्णय ही नष्ट हो जाय। इसका विपरीत चरम रूप में तब असम्भव नहीं ठहर सकता, परन्तु, इससे आगे, वह केवल सापेक्षिक तथा सोपाधिक रूप में असम्भव हो सकता है। जब किसी का सम्पूर्ण स्वभाव उसी में समाविष्ट होता है, तो किसी को चरम या परम कहा जाता है। जब उसके अस्तित्व की प्रत्येक उपाधि उसके भीतर आ जाती है तो उसको अनुपाधिक कहा जाता है। जब उसके किसी विपरीत की बिल्कुल ही कल्पना नहीं की जा सकती, तब वह भूल के अवसर से मुक्त हो जाता है। इस प्रकार की विशेषताओं का सम्बन्ध इस कथन से है कि सत् अनुभव है और वह एक है, क्योंकि यह सत्य गौण न होकर सत् के सम्पूर्ण स्वरूप के विषय में सामान्य सत्य है। इन सत्यों में उसका सम्पूर्ण स्वरूप नहीं आता, परन्तु वे उसके सारांश की रूप-रेखा अवश्य प्रस्तुत कर देते हैं। दूसरे शब्दों में, सत् इन तथ्यों से अधिक है। परन्तु सदैव उन्हीं का महत्तर रूप। ऐसा और कुछ भी नहीं है जो प्रत्यक्ष रूप में उसमें और जोड़ा जा सके और जो समझ में आने पर इन सत्यों के अन्तर्गत न आ सकता हो। इसलिए प्रत्येक सन्देह और मिथ्या प्रतीति की समस्त संभावना का कोई अर्थ नहीं रह जाता। मिथ्या प्रतीति और सन्देह का स्थान केवल गौण तथा ससीम क्षेत्रों में, तथा सर्व के स्वरूप द्वारा निर्धारित सीमाओं के भीतर ही होता है। और 'अन्य' का कोई अर्थ नहीं, जब कोई भी अन्य शून्य सिद्ध हो जाता है। और फिर यह कहना व्यर्थ है कि एक 'अन्य', चाहे उसकी भी कल्पना न हो सकती हो, आखिरकार कल्पनीय भी हो सकता है। यह आपत्ति करना व्यर्थ है कि असम्भव का अर्थ केवल वही वस्तु नहीं है जो अभी तक आपको प्राप्त नहीं हुई, क्योंकि हम देख चुके हैं कि अभाव और असामर्थ्य में सदैव सत्य का एक बहिर्गत क्षेत्र अभिप्रेत होता है, और यहाँ पर ऐसे किसी बहिर्गत क्षेत्र से कोई भी प्रयोजन नहीं। यह कहना कि संभवतः आपको वह मिल जाय कुछ संकोचपूर्ण प्रतीत हो, परन्तु वह निस्सन्देह एक ऐसे क्षेत्र की कल्पना करता है जिसमें सम्भवतः उस वस्तु की कल्पना हो सके और यहाँ पर यह कल्पना अपना खंडन स्वयं करती है, और इस खंडन के साथ ही सन्देह मूलतः विनष्ट हो जाता है। सत्य की कसौटी को विपरीत की अकल्पनीयता कहा जाता है। परन्तु यह जान लेना आवश्यक है कि ऐसी अकल्पनीयता का क्या अर्थ है। क्या वह आत्यन्तिक है या सापेक्षिक, और किस सीमा तक वह अभाव तथा असामर्थ्य के कारण उत्पन्न होती है? वस्तुतः यहाँ एक बार, फिर हमें असम्भावना के अर्थ के विषय में अपने विचार स्पष्ट कर लेना है (अध्याय २४, तथा २६) असंभावना चाहे आत्यन्तिक हो अथवा सापेक्षिक, वह कदापि प्रत्यक्ष रूप से हमारी दुर्बलता पर आश्रित नहीं हो सकती, क्योंकि कोई वस्तु सदैव इसी लिए असम्भव

होती है कि वह सुनिश्चित ज्ञान का खंडन करती है। जहाँ ज्ञान सापेक्षिक होता है, वहाँ पर वह न्यूनाधिक रूप में अवश्य ही दुर्बलता से उपहित होता है। और इसलिए, उस दुर्बलता के द्वारा, वह असम्भावना न्यूनाधिक रूप में दुर्बल तथा उपहित हो सकती है। परन्तु वह कदापि साधारण दुर्बलता से उत्पन्न अथवा उस पर निर्भर नहीं होती। अन्त में जब कोई, 'मेरा वश नहीं', कहता है, तो इसलिए नहीं कि वह असमर्थ है, अपितु इसलिए कि उसके मार्ग में कोई बाधा है ।

आत्यन्तिक रूप में असम्भव वह है जो सत् की ज्ञात प्रकृति का खंडन करता है। और इस अर्थ में असम्भव विषय खंडनशील होता है। यह वस्तुतः उस विषय का निषेध करता है, जिसको साथ ही स्पष्ट रूप से स्वीकार किया जा रहा है। हमारा धनात्मक ज्ञान समष्टिगत होने से, वह किसी बाह्य वस्तु पर आश्रित नहीं हो सकता। इस ज्ञान के बाहर इतना रिक्त स्थान है जिसमें हमारी दुर्बलता को स्थान प्राप्त हो सकता है। और प्रत्येक असामर्थ्य तथा असाफल्य पहले ही हमारे ज्ञात जगत् का पूर्ण अनुमान करता है और उससे सम्बन्धित होता है।

सापेक्षिक रूप से असम्भव वह है जो गौण ज्ञान-खंड का खंडन करता है। जब तक सत्य के स्थान पर अधिष्ठित किसी वस्तु को छोड़ नहीं दिया जाता, तब तक यह बात नहीं हो सकती। यहाँ पर असम्भावना उसी मात्रा में बदलती रहेगी जिस मात्रा में उस ज्ञान की शक्ति बदलेगी जिससे उसका विरोध है। और, यहाँ एक बार फिर वह हमारे असाफल्य तथा असामर्थ्य में निहित नहीं है। दूसरे शब्दों में, असम्भव की इसलिए उपेक्षा नहीं की जाती है कि हम उसको पाते हैं और पाते हैं धनात्मक ज्ञान के विरोध में। परन्तु दूसरी ओर जो सच है वह यह है कि हमारा अपना ज्ञान ससीम तथा सदोष है। उसको हमारे असामर्थ्य तथा दौर्बल्य के कारण सोपाधिक होना पड़ता है।

इस अन्तिम विषय पर आने से पूर्व, मैं उसी सत्य को एक दूसरी दृष्टि से दोहराऊँगा। कोई वस्तु तभी और तभी तक सत् होती है, जभी ही और जभी तक उसका विरोधी असम्भव होता है। परन्तु अन्त में उसका विरोधी इसी कारण और इसी सीमा तक असम्भव होता है कि वह वस्तु सत् है। और जिस सीमा तक और जिस मात्रा में किसी वस्तु में वास्तविकता होती है उसी मात्रा में और उसी सीमा में, उसका विरोधी अचिन्तनीय होता है। दूसरे शब्दों में कोई वस्तु संभावना के क्षेत्र को जितना ही अधिक समाप्त करती है, उतनी ही कम संभावना उस वस्तु की रह जाती है, जो वस्तुतः उसमें परिवर्तन लाती है। अब बात यह है कि जैसे सत्य को हमने आत्यन्तिक कहा है, वैसे ही के प्रसंग में संभावना का क्षेत्र समाप्त हो जाता है। वहाँ सत् होता है, और सत् का विरोधी अभाव नहीं, अपितु आत्यन्तिक शून्यता होती है। उसका कोई बाह्य जगत् नहीं होता,

क्योंकि उसका जो अन्तर्जगत् है; उसी में सब-कुछ आ जाता है। परन्तु जब हम गौण सत्यों पर आते हैं, तब स्थिति बदल जाती है। स्वाश्रित न होने के कारण उनको ऐसी उपाधि की अपेक्षा रहती है, जो अंशतः अज्ञात होती है और निःसन्देह उस सीमा तक वे हमारी असमर्थता पर आश्रित होते हैं। परन्तु, दूसरी ओर, उनके सत्य और सामर्थ्य की कसौटी सुनिश्चित होती है। वे जितने ही सुस्पष्ट और विस्तृत होते हैं—अर्थात् जितनी ही अधिक पूर्णता के साथ, वे तंत्र की कल्पना को चरितार्थ करते हैं—उतना ही अधिक वे एक साथ सत् और सत्य होते हैं।[1] और उतना ही अधिक उसका विरोध भी असम्भव होता जाता है। विपरीत की कल्पना उसी अनुपात में और उसी रूप में असम्भव होती है जिसमें वह सुनिश्चित सत् का विरोध करता है।

अब हम यह देख चुके हैं कि संदेहातीत कुछ सत्य तो निश्चित है, और शेष—केवल गौण सत्य—विभिन्न मात्राओं में त्रुटिपूर्ण होता है। और किसी भी ससीम सत्य को, नितान्त सत्य बनाये जाने के लिए, न्यूनाधिक रूप में बदलना आवश्यक है, और उसमें इस सीमा तक परिवर्तन की आवश्यकता हो सकती है कि हमें उसको नितान्त रूपान्तरित करना पड़ेगा। अध्याय २४ में हम पहले ही दिखला चुके हैं कि यह निरूपण ठीक उतरता है, परन्तु मैं ससीम विषयों में अपनी दुर्बलता पर एक बार फिर आग्रह करूँगा। और जिस सामान्य विचार का मैं प्रतिपादन करूँगा वह यह है। प्रत्येक ससीम सत्य के साथ, अज्ञात परिधि का एक बाह्य जगत होता है। जहाँ कोई ऐसा अनिश्चित बाह्य जगत हो, वहाँ पर संभाव्य उपाधियों का एक अनिश्चित जगत् भी होगा। परन्तु इसका अर्थ यह है कि कोई भी ससीम सत्य इस प्रकार उपहित हो सकता है कि वह वस्तुतः बिलकुल ही अन्यथा हो जाय। मैं संक्षेप में, इसी को लागू करता रहूँगा।

जहाँ कहीं कोई सत्य परिवेक्षण पर निर्भर होता है, वहाँ स्पष्ट है कि आप यह नहीं कह सकते कि और विशेष कितना बचा है, और जिसका आपने परिवेक्षण नहीं किया है। वह संभव है कि, आपके ज्ञान के विपरीत, विषय का अधिकांश भाग हो। परन्तु, यदि यह बात है, तो आपका सत्य (इससे कोई प्रयोजन नहीं कि उसको 'विशेष' कहा जाय अथवा सामान्य) अनिश्चित रूप से भ्रान्त हो सकता है। संभव है कि आकस्मिक तथ्य को ही इस रूप में प्रस्तुत किया गया हो कि मानों वह मूल सत्य है, और यह भूल एक ऐसी मात्रा तक हो सकती है जिसकी कोई सीमा ही न हो। आप यह सिद्ध नहीं कर सकते कि उद्देश्य और विधेय का संयोग अज्ञात तत्त्वों के अदृश्य समावेश के द्वारा

---

१. इस समस्त चर्चा में पाठक से यह आशा की जाती है कि वह अध्याय १४ के सिद्धान्त से परिचित है।

नहीं उपस्थित किया गया है। और ऐसा कोई ढंग नहीं जिसके द्वारा इस संभावना का परिहार किया जा सके।

यह कहा जा सकता है कि जहाँ पर वास्तविक पृथक्करण संभव होता है, वहाँ पर भूल की सम्भावना भी नहीं रहती। उदाहरण के लिए, कम-से-कम गणितशास्त्री सत्य के जगत् में वह नहीं होती। हमारे सामान्य मत के विरुद्ध इस प्रकार का आक्षेप ठहर नहीं सकता। निःसन्देह ऐसे क्षेत्र हैं, जहाँ एक विशेष अर्थ में पृथक्करण सम्भव है, और जहाँ पूर्ववत् चलते रह सकते हैं। और मैं इस वात से सहमत हूँ कि अन्य उद्देश्यों के लिए यह भेद वहुत महत्त्वपूर्ण भी हो सकता है, परन्तु यहाँ मुझे उसके महत्त्व से अथवा सामान्यतः उसके स्वरूप तथा सीमाओं से सम्वन्ध नहीं, क्योंकि जहाँ तक आलोच्य विषय से सम्वन्ध है, वह भेद पूर्णतया असम्वद्ध है। अन्त में कोई भी पृथक्करण (उसका मूल कुछ भी क्यों न हो) आवश्यक ठहराया जा सकता है, क्योंकि वे (उनमें से कोई एक नहीं) नितान्त सत्य होते हैं, और प्रत्येक के साथ संभावित भूल की मात्रा अवश्य ही अज्ञात रह जाती है। प्रतिपादित सत्य को सत् नहीं समझा जाता और न उसको सत् समझा ही जा सकता है। पृष्ठभूमि की उपेक्षा कर दी जाती है, क्योंकि यह मान लिया जाता है कि उससे कोई अन्तर नहीं पड़ता, और पृथक्कृत तथा अवशिष्ट उपाधि-समुच्चय को निरर्थक मान लिया जाता है। दूसरे शब्दों में विधेय को विषय से तत्त्वतः सम्वन्धित मान लिया जाता है, और किसी ऐसी वस्तु के कारण नहीं जो परिहार्य अथवा परिवर्तनशील हो। परन्तु स्पष्ट है कि इस प्रकार की कोई भी कल्पना हमारे ज्ञान के वाहर पहुँच जाती है। सत् यहाँ समाप्त नहीं होता, अपितु वह केवल इस वात से सीमित होता है कि हम और अधिक देखने या जानने में असमर्थ हैं, इसलिए सर्वत्र ऐसी अज्ञात् उपाधियों की सम्भावना होती है जिन पर हमारा निर्णय निर्भर होता है। और इसलिए, आखिरकार, हम कहीं भी ऐसी वस्तु का भी प्रतिपादन कर सकते हैं, जो केवल आकस्मिक हो।

दूसरी तरह, हम इसी वात को इस ढंग से कह सकते हैं कि ससीम सत्य अवश्य सोपाधिक होता है। ऐसा कोई भी सत्य या तथ्य कभी भी वस्तुतः स्वाश्रित तथा स्वतंत्र नहीं होता। ये सव-के-सव उपहित होते हैं, और अन्ततोगत्वा सभी किसी अज्ञात उपाधि से उपहित होते हैं। और यह वात फिर भी अनिश्चित रह जाती है कि वे इस प्रकार किस मात्रा में उपहित होते हैं। परन्तु इसका अभिप्राय यह है कि कोई ससीम तथ्य अथवा, सत्य, किसी अनिश्चित मात्रा में आकस्मिक आभास हो सकता है। दूसरे शब्दों में, यदि उसकी उपाधियों को दूर कर दिया जाता तो, वह अपनी निजी निश्चित स्वरूप में, विलीन हो गया होता। वह उस सीमा के परे परिवर्तित तथा रूपान्तरित हो जाता

जिस तक उसको, किसी भी मात्रा में, अपना निजी स्वरूप बनाये रखने वाला कहा जा सकता है। और यह परिणाम किन्हीं अवस्थाओं में कितना ही अशक्त क्यों न हों, किसी भी अवस्था में उसको आत्यन्तिक रूप में असम्भव नहीं कहा जा सकता। प्रत्येक ससीम वस्तु का अस्तित्व किसी अन्य वस्तु के कारण होता है। और जहाँ 'किसी अन्य वस्तु' के परिणाम और स्वभाव का निश्चय नहीं हो सकता, वहाँ पर 'कारण' एक 'यदि' से थोड़ा-सा भी अधिक नहीं सिद्ध होता। ऐसी कोई ससीम वस्तु नहीं जो अज्ञात उपाधियों पर आश्रित न हो।

हम यह कह सकते हैं कि ससीम सत्य और तथ्य निरन्तर 'काल्पनिक' होता है। परन्तु, इस शब्द अथवा 'सोपाधिक' शब्द के प्रसंग में, हमें मिथ्या निष्कर्षों के विरुद्ध सावधान रहना चाहिए। हमारे प्रस्तुत दृष्टिकोण के अनुसार, ऐसा एक भी ससीम क्षेत्र नहीं हो सकता जो कि सत् और वास्तविक हो, अथवा जो किसी उद्देश्य-विशेष के लिए ही ऐसा समझा जाता हो। ऐसा कोई भी अस्तित्व-क्षेत्र अथवा तथ्य नहीं हो सकता जिसके बाहर काल्पनिक मात्र ही असत् सिद्ध हो सके। एक ओर तो, सत् कोई ससीम अस्तित्व नहीं है, और दूसरी ओर, प्रत्येक विधेय (इससे कोई प्रयोजन नहीं कि वह क्या है) सत् के अन्तर्गत ही होगा और उसी की विशेपता प्रकट करेगा।[1] वे सब विभिन्न मात्राओं में हेर-फेर के साथ ही लागू हो सकते हैं, और इन मात्राओं के विषय में, अन्ततोगत्वा, हमारी सर्वथा भूल ही सिद्ध होगी। इसलिए, प्रत्येक दशा में, इस हेर-फेर का अर्थ असीमित रूपान्तर हो सकता है। इसलिए ही ससीम को उपहित न कहकर उपाधि-सापेक्ष ही कहा जाना चाहिए, क्योंकि कोई वस्तु उपहित होती हुई भी, अपनी उपाधियों के कारण अचल तथा अक्षुण्ण स्थिर रह सकती है। परन्तु हम देख चुके हैं कि ससीम की उपाधियाँ दूसरे प्रकार की होती हैं। प्रत्येक अवस्था में वे ऐसी हो सकती हैं कि वे अनिश्चित रूप में अपने स्वरूप को क्षीण और हीन कर सकती हैं।

प्रत्येक ससीम सत्य अथवा तथ्य, किसी-न-किसी मात्रा में, असत् तथा मिथ्या होता है, और अन्ततोगत्वा यह निश्चित रूप से जानना असम्भव होता है कि वह उनमें से कोई कितना मिथ्या है। हम यह बात इसलिए नहीं जान सकते कि अज्ञात तत्त्व का विस्तार असीम है, और समस्त पृथक्करण संकटापन्न तथा अपरिवेक्षित तत्त्व पर आश्रित होता है। यदि हमारा ज्ञान एक सुव्यवस्थित तंत्र होता, तो निःसन्देह बात बदल जाती। इसलिए, प्रत्येक वस्तु के सम्बन्ध में, हमें यह ज्ञात होना चाहिए कि 'सर्व' ने उसके लिए कौन सत् स्थान नियत किया है और फिर हमें उस वस्तु के सत्य और

१. तुलना करो यहाँ अध्याय—२४।

असत्य की मात्रा का ठीक-ठीक माप करना चाहिए। ऐसे व्यवस्थित तंत्र के होने पर, अज्ञान का कोई वहिर्गत क्षेत्र नहीं रह जायगा, और इसलिए उसकी इयत्ताओं के विषय में हमें एक परिपूर्ण तथा साँगोपाँग ज्ञान हो सकेगा। परन्तु इस प्रकार की कोई भी व्यवस्था, अत्यन्त निश्चित रूप से तत्त्वतः असम्भव प्रतीत होती है।

चरम तत्त्व के विषय में कुछ ऐसे सत्य हैं, जो, कम-से-कम अभी, तो, निरूपाधिक ही समझे जा सकते हैं। इस विषय में, उनको सभी गौण सत्यों से स्वरूपतः भिन्न समझा जा सकता है, क्योंकि दूसरी अवस्था के साथ केवल न्यूनाधिक सलोपता का प्रश्न है। उनमें सभी में एक संभावित वौद्धिक सुधार हो सकता है, और इस संभावना की मात्रा को निश्चित रूप से नहीं जाना जा सकता। ज्ञान के विभिन्न क्षेत्रों के प्रसंग में हमारी पृथक्करण शक्ति में बहुत अधिक विविधता आती जाती है, परन्तु कोई भी ससीम सत्य किसी भी, प्रकार प्राप्त क्यों न हुआ हो, अक्षुण्ण नहीं समझा जा सकता। उन सभी में त्रुटि एक शक्यता का विषय है और एक मात्रा-भेद का विषय है। अपेक्षाकृत उनमें अधिक शक्यता तथा दृढ़ता होती है जो परिपूर्णता के अपेक्षाकृत अधिक निकट होते हैं।

यह परिपूर्णता ही हमारा मापदंड है। व्यक्तित्व, अथवा परिपूर्ण तंत्र की कल्पना ही हमारी कसौटी है, और ऊपर, अध्याय २४ में हम उसके स्वरूप की व्याख्या पहले ही कर चुके हैं। और मैं यह सोचने का साहस करता हूँ कि प्रमुख सिद्धान्त के विषय में कोई बड़ी कठिनाई नहीं। कठिनाई तब अनुभव की जाती है जब हम उसको विस्तार-पूर्वक लागू करने लगते हैं। हमने देखा कि आन्तरिक समन्वय तथा दीर्घतम विस्तार के सिद्धान्त अन्ततोगत्वा एक ही हैं, क्योंकि वे स्थूल एकता की कल्पना के ही विविध पक्ष हैं। परन्तु ऐसी वातों की चर्चा के लिए, पाठक को हमारे पिछले अध्याय पर फिर जाना पड़ेगा।

कोई वस्तु उसी अनुपात में अधिक सत् होती है जिस अनुपात में उसका विपरीत स्वरूप और अधिक अकल्पनीय होता है। यह केवल उस सत्य का अंश-मात्र है। परन्तु दूसरी ओर, वह विपरीत तत्त्व अपेक्षाकृत अधिक अचिन्तनीय, अथवा अधिक असम्भव होता है, क्योंकि वह वस्तुतः स्वयं अपेक्षाकृत अधिक सत्, अधिक संभव तथा अधिक सत्य होता है। मैं यहाँ एक वार फिर कहूँगा कि यह कसौटी तत्त्वतः अन्वय-मूलक तथा सुनिश्चित है। ज्ञान-समष्टि जितनी ही अधिक सुदृढ़, सुव्यवस्थित तथा सुसंगठित होगी, उतना ही अधिक असम्भव उसका विरोधी तत्त्व होगा। अथवा दूसरी ओर से, हम अपने सिद्धान्त को इस प्रकार दोहरा सकते हैं। कोई प्रत्यय अथवा तथ्य ज्ञान की जितनी ही अधिक मात्रा को प्रत्यक्षतः अथवा अप्रत्यक्षतः उखाड़ने का प्रयत्न करेगा, वह सम्भवतः उतनी ही अधिक असत्य और असम्भव तथा अचिन्तनीय होगी। ऐसे

ससीम सत्य भी हो सकते हैं, जिनमें त्रुटि (और यहाँ मेरा त्रुटि से अभिप्राय बौद्धिक सुधार की अपेक्षणीयता से है) अत्यन्त अशक्य है। ऐसी सम्भावना को इतना छोटा समझा जा सकता है कि जिस पर विचार करने की आवश्यकता ही न हो। फिर भी आखिरकार उसका अस्तित्व है। सभी ससीम सत्य सोपाधिक होते हैं, क्योंकि वे सब-के-सब अवश्य ही अज्ञात तत्त्व पर निर्भर होते हैं। परन्तु पाठक को यह ध्यान रखना चाहिए कि यह अज्ञात केवल सापेक्षिक है। वह स्वयं हमारे चरम ज्ञान के आश्रित होता है और उसमें समाविष्ट होता है, और उसका स्वरूप सामान्यतः निश्चित रूप से अज्ञात रहता है, क्योंकि, यदि वह कुछ भी है, तो वह अनुभव है, और एकमात्र अनुभव का एक अंग है। हमारा वह अज्ञान, जिस पर समस्त ससीम अवलम्बित है, आत्यन्तिक अज्ञान नहीं है। हम जो-कुछ जान सकते हैं उसकी अपेक्षा, उसके अन्तर्गत और उसके भीतर, कहीं और अधिक होता है, परन्तु यह 'अधिक' पहले से ही उसी एक प्रकार का समझा जाता है। और अब हमें ससीम सत्य की विशेष मीमांसा को छोड़कर आगे बढ़ना होगा।[1]

---

१. यहाँ पर इस प्रश्न पर पूरी तरह से विचार करना असम्भव है कि, असामंजस्य की अवस्था में, हम अपने ज्ञान को किस प्रकार सुधार कर सकते हैं। हमें अनिश्चित रूप में अनुभव का विस्तार करना पड़ता है, क्योंकि, प्रस्तुत अवस्था में, ससीम होने के कारण, वह समन्वयशील नहीं हो सकता। ऐसी अवस्था में एक ओर तो किसी तथ्य अथवा प्रत्यय में, और दूसरी ओर स्वीकृत सत्य के किसी अंग के बीच, हमें एक संघर्ष प्राप्त होता है। स्वयं-विरोधी तत्त्व सत्य नहीं हो सकता, और प्रश्न यह है कि उसे समन्वयशील बनाने के लिए, पुनः क्रमबद्ध कैसे किया जाय? हमें प्रश्न करना होगा कि किसी भी प्रस्तुत विषय में ऐसा कौन-सा तत्त्व है जिसका त्याग करना पड़ता है? यह संघर्ष स्वयं सम्भवतः केवल बाह्य हो। यह संभव है कि किसी अनिवार्य तत्त्व के स्थान पर केवल किसी आकस्मिक तत्त्व को ग्रहण कर लिया गया हो, और भूल को सुधारने के पश्चात् संभवतः संपूर्ण संघर्ष ही समाप्त हो जाय। अथवा नयी कल्पना को ही संभवतः लचर पाया जाय। उसमें एक मिथ्या प्रतीति और होती है और इसलिए वह छिन्न-भिन्न होकर विलीन हो जाती है। अथवा यदि यह संभव नहीं होता, तो उसको अस्थायी रूप से एक ओर हटा दिया जाता है और उसकी उपेक्षा कर दी जाती है। यह अन्तिम रास्ता तभी उपयुक्त हो सकता है जब हम यह मान लें कि हमारा मूलभूत ज्ञान इतना सुदृढ़ है कि वह स्थिर तथा अडिग रह सकता है। परन्तु बात इसकी बिलकुल उलटी हो सकती है। यह संभव हो सकता है कि हमारे पूर्व ज्ञान को ही स्वयं हार माननी पड़ती हो, और वह नये अनुभव द्वारा परिवर्तित तथा अभिभूत होती हो। परन्तु, अन्ततोगत्वा एक और संभावना है जो फिर भी शेष रह जाती है। किसी स्तर पर और किन्हीं उद्देश्यों की पूर्ति के लिए प्रत्येक ही उपयोगी हो सकता है। हमारे संघर्षशील ज्ञानांशों में से कोई भी संभवतः सत्य न ठहर सके। और फिर भी, दोनों ही ऊपर से देखने में परस्पर विरोधी भूलें प्रतीत हो सकती हैं। अतः दोनों को ही एक

यहाँ पर एक पूर्व प्रस्तुत विभाजन की पुनः परीक्षा करना आवश्यक हो गया है। हमने देखा कि कुछ ज्ञान आत्यन्तिक अथवा चरम है और उसके विपरीत, समस्त ससीम सत्य केवल सोपाधिक है। परन्तु, जब हम और अधिक निकट से उसकी परीक्षा करते हैं, तो इस अन्तर को बनाये रखना कठिन प्रतीत होता है, क्योंकि यदि सत्य और सत् के बीच कोई अन्तर बना रहे, तो सत्य आत्यंतिक रूप से सत्य कैसे हो सकता है? सत् के विषय में कोई भी सत्य क्यों न हो, 'विषयक' शब्द का बहुत महत्त्व होता है। विधेय के अतिरिक्त तथा बाहर सदैव कुछ-न-कुछ रह ही जाता है और इस बाह्य तत्त्व के कारण अन्ततोगत्वा विधेय क्रोध सोपाधिक कहा जा सकता है। संक्षेप में, उद्देश्य तथा विधेय के बीच का जो अंतर (एक ऐसा अंतर जो सत्य के लिये अनिवार्य है) उसका कारण प्रतीत नहीं होता। वह किसी ऐंसे तत्त्व पर निर्भर होता है जो स्वयं निर्णय में समाविष्ट नहीं होता। वह एक बहिर्गत तत्त्व होने से, एक अर्थ में, अज्ञात रहता है। दूसरे शब्दों में सामान्य और सारांश कदापि सत् तक नहीं पहुँच सकते। हम यह कह सकते हैं कि साक्षात्कृत सारांश इतना अधिक होता है कि वह सत्य नहीं हो सकता है और आसाक्षात्कृत तथा सूक्ष्म निःसन्देह इतना कम है कि वह सत् नहीं हो सकता। इस प्रकार अन्त में जाकर चरम सत्य तक त्रुटिपूर्ण ठहरता है।

और अन्त में, यह स्वीकार करना पड़ेगा कि कोई संभाव्य सत्य नितान्त सच नहीं होता। वह केवल उसका एक आंशिक तथा अपर्याप्त रूपान्तर मात्र होता है जिसको वह पूर्ण रूप में प्रस्तुत करने का दावा करता है। और यह आन्तरिक असंगति अपृथक् भाव से सत्य के वास्तविक स्वरूप से सम्बन्ध रखती है। फिर भी आत्यंतिक तथा ससीम सत्य के बीच को अन्तर बताया गया है, उसकी मान्यता में कमी नहीं आनी चाहिए, क्योंकि एक शब्द में कहें, तो इनमें से पहले का बौद्धिक दृष्टि से सुधार संभव नहीं। ऐसा कोई भी बौद्धिक परिवर्तन नहीं जो, सामान्य सत्य के रूप में, उसे अंतिम सत् के अधिक निकट ला सके। हम देख चुके हैं कि इस प्रकार का कोई सुझाव केवल स्वयं

अभीष्ट स्तर तक बदलना है, और एक बृहत्तर सर्व के तत्त्वों के रूप में पुनः क्रमबद्ध करना है। यहाँ पर सारांश में से आकस्मिक तत्त्वों का पार्थक्य तब तक करना होगा, जब तक सारांश स्वयं न्यूनाधिक रूप में विलीन नहीं हो जाता। इस सामान्य कथन को स्पष्ट करने अथवा दृष्टान्त-द्वारा समझाने के लिए यह स्थान नहीं है।

१. संभवतः सत्य की आवश्यक असंगति को इस प्रकार व्यक्त किया जा सकता है। यदि किसी सत्य के वाच्यार्थ तथा व्यंग्यार्थ में कोई अंतर रहता है, तो स्पष्ट है कि उस सत्य का साक्षात्कार नहीं हुआ। परन्तु यदि ऐसा कोई अंतर न हो, तो फिर सत्य का अस्तित्व नहीं रह जाता।

विघातक होगा, और इस विषय का कोई भी सन्देह अक्षरशः अर्थहीन होगा। चरम सत्य का सुधार केवल बुद्धि के बहिर्गत होने पर ही हो सकता है। अनुभव के अवशिष्ट पक्षों को ग्रहण करके ही उसमें परिवर्तन आता है। परन्तु, इस हेर-फेर में, सत्य का निश्चित स्वरूप भी रुपान्तरित हो कर मिट जाता है। दूसरी ओर, प्रत्येक ससीम सत्य का बौद्धिक सुधार आवश्यक होता है। वह केवल इसी अर्थ में अपूर्ण नहीं कि वह, सत्य के रूप में अपने सामान्य स्वरूप के अनुसार, सर्व के भीतर एक पक्ष के रूप में सीमित रहता है, वह इस अर्थ में भी अपूर्ण होता है कि उसके ही बौद्धिक जगत् में एक ऐसा दिक् भी होता है जो उससे बहिर्गत होता है। ऐसा कोई भी प्रतिद्वन्द्वी विधेय नहीं जो अपने उद्देश्य की विशेषता प्रकट करता हुआ माना जा सके, और जो उसकी प्रतिपत्ति को उपहित तथा सीमित कर सके। यदि आप चाहें, तो चरम ज्ञान को सोपाधिक मान लें, परन्तु उसकी उपाधि कोई अन्य सत्य नहीं, चाहे वास्तविक हो या संभाव्य सत्य।

जिस सिद्धान्त को व्यक्त करने के लिए मैं प्रयत्नशील हूँ, वह वस्तुतः सरल है। सत्य अनुभव का एक पक्ष है, और इसलिए, जिसका वह समावेश करने में असमर्थ रह जाता है, वह अपूर्ण तथा ससीम बन जाता है। जहाँ तक वह चरम या आत्यंतिक है वहाँ तक वह प्रत्येक संभावित सत्य तथा सत् का सामान्य रूप तथा स्वरूप प्रस्तुत करता है। और, इस सामान्य स्वरूप में विश्व पूर्ण रूप से ज्ञात हो जाता है। उसकी समस्त सूक्ष्मताएँ कभी ज्ञात नहीं होती हैं, और न कदापि ज्ञात हो ही सकती हैं। अनुभव और सत् के रूप में ज्ञान एकरूप ही होगा, इस प्रकार के अर्थ में, न तो पूर्णतः वह ज्ञात ही है और न कदापि वह ज्ञात ही हो सकता है, क्योंकि यदि ज्ञान तथा सत्य में उस एकरूपता की कल्पना की जाय, तो वे तुरन्त ही विलीन तथा रुपान्तरित हो जायेंगे। परन्तु, दूसरी ओर विश्व का, सत्य अथवा ज्ञान के रूप में, न तो अस्तित्व है और न संभव ही है कि वह आत्यांतिक या चरम कहे जाने वाले सत्य में समाविष्ट न हो सके। क्योंकि, एक बार फिर दुहरायें तो कह सकते हैं कि कोई भी संभावना स्व-घातक होती है। हम संभवतः

---

१. यह उस प्रकार सूक्ष्म नहीं जिस प्रकार हमने देखा कि समस्त ससीम सत्य सूक्ष्म है। वह बात तो बौद्धिक दृष्टि से संकटापन्न थी, क्योंकि, न्यूनाधिक रूप में, उसने अन्य सत्य को उससे बाहर तथा उसके विरुद्ध छोड़ दिया। इस प्रकार वह सदैव सत्य जगत् के अन्य अंगों में से एक अंग था। वह तो बौद्धिक रूप से इस प्रकार जोड़ा जा सकता था कि उसका रूपान्तर हो जाय। इसके विपरीत, जो चरम सत्य है, उसमें किसी भी सत्य के मिलने से कोई परिवर्तन नहीं हो सकता। ऐसा एक भी सत्य संभव नहीं है जो उसके अन्तर्गत उसी की एक सूक्ष्मता के रूप में न आता हो। संक्षेप में, जब तक आप उसकी पूर्व-कल्पना नहीं कर लेते, तब तक कोई भी अन्य सत्य बिलकुल भी सत्य नहीं हो सकता।

यह भले ही कह सकें, परन्तु हम कम-से-कम इस बात की संभवतः कोई कल्पना या चित्र अपने मन में नहीं बना सकते, क्योंकि ऐसी कोई भी कल्पना बनते-बनते ही या तो उसकी विपरीत बन जाती है अथवा निरर्थक। चरम सत्य तभी भूल बन जाता है जब आप उससे सामान्य ज्ञान-मात्र से कुछ अधिक की आशा करते हैं। वह सूक्ष्म होता है, और अपनी निजी गौण सूक्ष्मताओं को प्रस्तुत करने में असमर्थ रहता है। वह एकांगी होता है और सर्व कोई सभी पक्षों को ज्यों-का-त्यों नहीं दे सकता। परन्तु, यथार्थतः दूसरी ओर, उसके बाहर कुछ भी नहीं जाता। वह पूर्णतया सर्वात्मक होता है, और उसके अन्तर्गत उस सबका समावेश पहले से ही है, जो कि उसके विपरीत बताया जा सकता है, क्योंकि उसके विपरीत ऐसा कुछ भी नहीं, तो रखा जा सकता जो कि बौद्धिक रूप होकर स्वयं ही सत्य के राज्य में एक आश्रित होकर न आ जाय। इस प्रकार जब आप उसके परे चले जाते हैं, तो भी आप उसके बाहर पैर नहीं रख सकते। जब आप कुछ और ग्रहण करते हैं तो यह कुछ और उसी वस्तु का ही होता है। दूसरे शब्दों में, सत्य रूप में विश्व एक स्वरूप को सुरक्षित रखता है, और उस स्वरूप का हमें निर्दोष तथा निर्विकार ज्ञान होता है।

और यदि हम दूसरी दृष्टि से विषय को देखें, तो सत् तथा सत्य में कोई विरोध ही नहीं रह जाता। पूर्ण होने के लिए, सत् को अपना यह आँशिक पक्ष ग्रहण तथा आत्म-सात् करना पड़ेगा। और सत्य स्वयं तब तक पूर्ण न होगा, जब तक वह विश्व के सभी पक्षों का ग्रहण तथा समावेश नहीं करता। इस प्रकार, अपने से परे जाने में तथा अपने उद्देश्य एवं विधेय के भेद को दूर करने में, वह केवल अपने शुद्ध स्वरूप की आवश्यकता-पूर्ति ही करता है। परन्तु मैं संभवतः यह आशा कर सकता हूँ कि यह निष्कर्ष पूरी तरह प्राप्त हो चुका है (अध्याय १५, २४, २६)। संक्षेप में——सामान्य स्वरूप में, सत् ज्ञान तथा सत्य में विद्यमान है——उस सत्य में जिसका विवेचन तथा प्रकाशन तत्त्वज्ञान में होता है। परन्तु सत् का यह सामान्य स्वरूप स्वयं सत् नहीं, और वह सत्य और ज्ञान के भी सामान्य स्वरूप से अधिक नहीं। फिर भी जहाँ तक किसी सत्य तथा किसी ज्ञान का कोई अस्तित्व है, वहाँ तक वह स्वरूप चरम या आत्यंतिक है। सत्य सोपाधिक है, परन्तु बौद्धिक रूप से उसका अतिक्रमण नहीं हो सकता। उसकी उपाधियों को जुटाने का अभिप्राय एक ऐसे सर्व में पदार्पण करना होगा जो केवल बुद्धि से परे की वस्तु है।

मेरा विश्वास है कि जिस निष्कर्ष पर हम पहुँचे हैं, वह केवल समझौते या सामं-जस्य का परिणाम नहीं है, और वह अत्यन्तों (चरम सीमाओं) में समन्वय स्थापित करने का दावा करता है। मैं नहीं जानता कि इसे आदर्शवाद कहा जाय या यथार्थवाद,

और न मैंने इस बात को खोजने का प्रयत्न किया। यह न तो आदर्शों तथा विचार को प्रभुता देता है, और न ही कहने देता है कि कोई अन्य वस्तु स्वयं अधिक सत् है। समस्त विश्व ही एक अभिन्न पक्ष में सत्य कहलाता है, यह पक्ष दर्शन में सर्वोच्च होता है, और फिर भी दर्शन के क्षेत्र में भी यह अपनी अपूर्णता के प्रति सचेत होता है। अभी तक, मेरे समझ में हमारा निष्कर्ष निर्दोषता का दावा करता हुआ भी किसी अच्छी सामान्य समझ के विरोध में नहीं आता। निस्सन्देह इसका कोई प्रश्न नहीं उठता कि तत्वविज्ञान सामान्य समझ के अनुरूप हो, क्योंकि न तो अपनी प्रक्रियाओं और न अपने परिणामों के द्वारा ही यह सामान्यतः बुद्धिगम्य होने की माँग या आशा कर सकता है। परन्तु, आध्यात्मिक व्यक्ति के अतिरिक्त, अन्य कोई भी इस बात को अच्छा नहीं समझेगा कि तत्वविज्ञान के निष्कर्ष, सामान्य समझ के लिए अपमानजनक होने ही कुत्सित किये जायें। मेरा यह अभिप्राय नहीं कि, ईश्वर का व्यक्तित्व अथवा मरणोपरान्त व्यक्ति का अवशेष आदि, गौण विषयों पर (ऐसे विषयों पर जिन पर जगत् में सामान्य सहमति नहीं पायी जाती) दर्शन को किसी-न-किसी पक्ष का प्रतिपादन करना आवश्यक है। मेरा अभिप्राय यह है कि हम अपनी प्रकृति के तत्वों को यदि इस प्रकार व्यवस्थित करें, कि निर्माण किया हुआ तंत्र, समझ में आने पर, मन को एकांगी प्रतीत हो, तो यह स्वयं छिद्रान्वेषण तथा सन्देह उत्पन्न करने के लिए पर्याप्त है। आत्म-तत्त्व इस विषय में, हमारा प्रमुख निष्कर्ष संतोषप्रद हो सकता है। जिस आत्यन्तिक अथवा परम ज्ञान का इसने दावा किया है वह एक रूपरेखा से अधिक नहीं है। एक ओर तो, स्वयं ज्ञान ही हमारी प्रकृति की प्रमुख रुचियों को आत्मसात् करने के लिए पर्याप्त प्रतीत होता है, और दूसरी ओर, यह उन सिद्धान्तों से दूर भागता है जो सभी को सन्तोषजनक नहीं प्रतीत होंगे। हमारा आग्रह है कि समस्त सत् का एक विशेष स्वरूप अवश्य होगा। उसकी रचनाएँ अवश्य ही अनुभव-रूप होंगी, वे एक व्यवस्थित तंत्र में एकत्र होंगी, और यह एकता स्वयं अनुभव-रूप होगी। उसमें अवश्य ही आभास का प्रत्येक संभव अंश समाविष्ट होगा। हमें जो ज्ञात है, उससे अधिक अथवा परे होने वाला प्रत्येक तत्व फिर भी अनिवार्यतः उसी एक रूप का होगा। हम इस निष्कर्ष पर आग्रह करते हैं और यह प्रतिपादन करते हैं कि, अपनी मर्यादाओं के भीतर, यह परम ज्ञान के बराबर है। परन्तु दूसरी ओर, मैं बता चुका हूँ कि यह निष्कर्ष बहुत दूर तक नहीं जाता। हमें यह स्वीकार करने के लिए बाध्य होना है कि हम जो कुछ जानते हैं, वह आखिरकार, हमारे अज्ञान-जगत् के अनुपात में कुछ भी नहीं है। एक अस्पष्ट रूप-रेखा के अतिरिक्त, हम नहीं जानते कि एकता क्या है, अथवा यह अनेकता के हमारे विशिष्ट रूपों में प्रकट होती ही क्यों है। हम यह भी समझ सकते हैं कि ऐसा ज्ञान असम्भव है, और हमारे

यह कारण भी जान लिया है कि ऐसा क्यों है । क्योंकि हम यह कह सकते हैं कि सत्य अपनी निजी सीमा के भीतर ही जान सकता है । और हमारी प्रकृति के सभी पक्षों की समष्टि उनको किसी भी प्रकार, अपनी निजी सीमा में नहीं रहने दे सकती । सत् होने के लिए पर्याप्त बनाये जाने पर, सत्य में इतना अनुपूरण हो जायगा कि वह कुछ और ही हो जायगा—सत्य के अतिरिक्त 'अन्य कुछ', और ऐसा अन्य कुछ जो हमारे लिए अप्राप्य है । इस प्रकार हमने संदेह और विस्मय की क्रिया के लिए पर्याप्त स्थान छोड़ दिया है । हम उस स्वस्थ संदेहवाद को स्वीकार करते हैं । जिसके लिए, एक अर्थ में, समस्त ज्ञान अज्ञान रह जाता है, और जो अपने हृदय में यह अनुभव करता है कि वास्तविक विश्व की समृद्धि के द्वारा मापे जाने पर, विज्ञान एक तुच्छ वस्तु रह जाता है । हम उस स्वाभाविक विस्मय और आश्चर्य को औचित्यपूर्ण ठहराते हैं जो हमारी जाग्रत अवस्था के जगत् के परे भटकने में तथा ऐसे मार्गों को अपनाने में आनन्द अनुभव करता है जो अर्द्ध-ज्ञात अर्द्ध-अज्ञेय क्षेत्रों में ले जाते हैं । संक्षेप में हमारे निष्कर्ष ने इस अनिवार्य धारणा की व्याख्या और पुष्टि कर दी कि सब-कुछ हम से परे है ।

सब-कुछ भूल है, परन्तु सब-कुछ भ्रान्ति नहीं है । जहाँ और जिस हद तक, हमारे विचार सत् के अनुरूप नहीं रहते, वहाँ और उस हद तक भूल रहती है, जहाँ और जिस हद तक, यह भेद हमारी प्रकृति में एक संघर्ष की ओर उन्मुख होता है, वहाँ और उस हद तक भ्रान्ति रहती है। जहाँ आन्तरिक अथवा बाह्य अनुभव हमारी दृष्टियों अथवा हमारे मतों के विरुद्ध पड़ता है, जहाँ इस प्रकार अव्यवस्था, अस्पष्टता और पीड़ा होती है, वहाँ पर हम कह सकते हैं कि भ्रान्ति है । यह हमारी विचार-संगति के विरुद्ध पड़ने वाला घटनाक्रम है । एकांकी तथा आंशिक सत्य के अर्थ में, भूल हमारी अस्तित्व के लिए आवश्यक है । निःसन्देह मानो अन्य कुछ भी हमारी आवश्यकताओं से सम्बन्ध रखने वाला अथवा सत्य के उद्देश्य की पूर्ति करने वाला नहीं हो सकता । और हमारे असंगत ससीम जीवनों के विभिन्न पक्षों के अनुरूप होने के लिए, विविध आंशिक सत्यों के रूप में एक भूलों की विभिन्नता आवश्यक है । और यदि वस्तु-स्थिति कुछ और होती तो संभवतः ससीम जीवन असम्भव होता । इसलिए भूल का सदैव रहना आवश्यक है और उसके रहने से किसी मात्रा में भ्रान्ति अवश्यम्भावी है । स्वयं अपने-आप में सुसंगत न होते हुए भी, ससीम अस्तित्वों को अपने विविध पक्षों का साक्षात्कार कालात्मक घटनाओं के आकस्मिक जगत् में करना पड़ता है । और इसलिए विचारों और अस्तित्वों में ठीक-ठीक संगति तब तक नहीं बैठ सकती, जब तक इस असंगति का अर्थ कुछ हद तक भ्रान्ति होता हो । हमें यह दुःख के साथ स्वीकार करना पड़ेगा कि ऐसी ससीम आत्माएँ हैं जिनको सब मिला कर जीवन एक निराशा और प्रवंचना सिद्ध हुआ है । संभवतः

ऐसा कोई भी नहीं होगा कि जिसको कभी-न-कभी और किसी-न-किसी प्रसंग में, इस निष्कर्ष की सत्यता सिद्ध न हुई हो। परन्तु इस बात को तर्क-संगत नहीं माना जा सकता कि जीवन सामान्य तथा प्रमुख रूप से, भ्रान्तिमय है। और यदि सामान्य रूप में और मोटे रूप में, हमारे विचारों के अनुरूप ही घटनाएँ होती हैं, तो निःसन्देह यह एक ऐसी बात है जिसकी आशा करने का, ससीम प्राणियों के रूप में, हमें अधिकार है। तो हमारा यह उत्तर होगा कि, यदि भ्रान्तियाँ यत्र-तत्र होती हैं सर्वात्मक इकाई एक भ्रान्ति नहीं है। हमें एक ऐसे आत्यन्तिक अनुभव के प्राप्त करने से कोई सरोकार नहीं जो हमारे लिए जोरदार शब्दों में वस्तुतः कुछ भी अर्थ नहीं रखता। हम वस्तुतः यह जानना चाहते हैं कि कहीं आभासों के पीछे छिपकर, विश्व हमारे साथ खिलवाड़ तो नहीं कर रहा है। हम यहाँ जो वस्तु अधिक सत्य और अधिक सुन्दर, शुभ तथा उच्च देखते हैं क्या वे सभी वस्तुएँ वस्तुतः ऐसी ही हैं अथवा वस्तुतः वे इससे नितान्त विपरीत हो सकती हैं? दूसरे शब्दों में, क्या हमारा मान दंड एक ऐसा असत्य आभास है जो विश्व में नहीं है? इसके उत्तर में, सामान्यतः हम एक उत्तर बिना किसी हिचकिचाहट के दे सकते हैं। आभास के अतिरिक्त कहीं भी ऐसी कोई सत्ता नहीं, और अपने आभास में, हम सत्ता के प्रमुख स्वरूप को देख सकते हैं। इस स्वरूप को समाप्त नहीं किया जा सकता, परन्तु उसको सूक्ष्म रूप में जाना जा सकता है। और स्वयं इस विश्व का यह सामान्य स्वरूप ही, निःसन्देह तथा वस्तुतः हमारे लिए आभासों के सापेक्षिक महत्त्व का निरूपण करता है। हम से भूलें होती हैं, परन्तु फिर भी हम जगत् के तात्त्विक स्वरूप का मूल्यांकन करने तथा सत् को पहचानने के निमित्त अपनी कसौटी बनाते हैं। उच्च-तर, सत्यतर, सुन्दरतर, शुभतर तथा अधिक सत्—इनका सामान्यतः विश्व में वही महत्त्व है जो महत्त्व इनका हमारे लिए है। और सामान्यतः अस्तित्व का हमारे विचारों के अनुरूप होना आवश्यक है, क्योंकि, सामान्यतः हमारे लिए उच्चतर का अभिप्राय एक अद्वैत सत्ता के एक ऐसे अधिकतर परिमाण से है जिसके बाहर समस्त आभास वस्तुतः कुछ भी नहीं रह जाता।

इस बात के जानने में कुछ भी कठिनाई नहीं कि अन्ततोगत्वा सत् अपरिमेय है। यह जान लेना सरल है कि सत् न होने वाला कोई भी आभास एक अर्थ में कोई अर्थ नहीं रखता। यह सत्य जिस रूप में है वह प्रत्येक मनुष्य की पहुँच के भीतर है। संभवतः आगे यह निष्कर्ष निकालना एक साधारण बात है कि सत् पृथक् रहता है और वह अपनी स्थिति अपने तक ही सीमित रख कर नाम-रूप में अवतरित नहीं होता। अथवा उसी भूल के एक अन्य पक्ष को ग्रहण करना अधिक सरल है। संभवतः सत् को उसके सभी आभासों में इस प्रकार व्याप्त माना जाता है कि वह एक ही ढंग से तथा एक समान

रूप में सभी में विद्यमान है। प्रत्येक वस्तु एक ओर इतनी व्यर्थ, और दूसरी ओर इतनी दिव्य होती है कि कोई भी वस्तु किसी अन्य वस्तु की अपेक्षा अधिक हेय अथवा अधिक प्रेय नहीं हो सकती। इसी भूल के दोनों पक्षों के विरुद्ध, इसी रिक्त अतिक्रान्ति तथा छिछले सर्वैक्यवाद के विरुद्ध यह ग्रन्थ एक निरन्तर शास्त्रार्थ कहा जा सकता है। प्रत्येक आभास का सत् के साथ निश्चित विशेषण-विषेष्य सम्बन्ध और विभिन्न मात्राओं तथा विविध मूल्यों वाले अपने आभासों के भीतर सत् की विद्यमानता—इसी दोहरे सत्य को हमने दर्शन का केन्द्र पाया। चरम तत्त्व कोई एकांतिक पृथक्करण न होकर एक सुनिश्चित स्वरूप वाला है। और यह चरम तत्त्व स्वयं ही सुनिश्चित रूप से समस्त आभासों में विद्यमान है। यही कारण है कि आभासों में स्वयं सच्चे मूल्य-भेदों का होना सम्भव है। और, इस आधार के बिना, अन्त में हम मूल्य अथवा सत्य या सत् को आँकने या जाँचने के निमित्त बिना किसी ठोस कसौटी के रह जाते हैं। इस निष्कर्ष को (एक ओर तो एक कसौटी अथवा मानदंड की आवश्यकता, और दूसरी ओर चरम तत्त्व के सुनिश्चित ज्ञान के बिना उसकी अप्राप्यता) मैं किसी भी ऐसे बुद्धिमान व्यक्ति के सामने आग्रहपूर्वक रहने का साहस कर सकता हूँ जो अज्ञान का पुजारी हो।

आभासों से पृथक् सत् बिलकुल कुछ भी नहीं है।[1] अंत में सत्ताओं अथवा अन्य किन्हीं ऐसी वस्तुओं के विषय में बात करना मूर्खतापूर्ण है जिसको यह आभास आभासित होते हों, अथवा जिनके बीच वे आभास किसी प्रकार सम्बन्धों के रूप में लटके रह सकते हों। हम देख चुके हैं कि ऐसी सत्ताएँ, स्वयं या तो आभास होंगी या कुछ नहीं क्योंकि आभासों के अतिरिक्त अन्य ऐसा कोई ढंग नहीं जिसके द्वारा सत् को विशिष्ट किया जा सके, और सत् के बाहर ऐसा कोई स्थान नहीं जिसमें आभास रह सकें। सत्ता अपने आभासों में आभासित होती है, और वे उसकी अभिव्यक्तियाँ हैं, और अन्यथा वे भी कुछ भी नहीं हो सकते। सत्ता हमारे ज्ञान में आ जाती है, और किसी वस्तु के विषय में हम जितना ही अधिक जानते हैं एक प्रकार से उतनी ही अधिक मात्रा में सत्ता हमारे भीतर आ जाती है। सत्ता अशुभतर तथा शुभतर को पहचानने के लिए, असुन्दरता तथा सुन्दरता, सत्य तथा असत्य, और सत् तथा असत् का विवेचन करने के लिए हमारी कसौटी है। संक्षेप में, यहीं पर और अवर का निर्णय देती है और इन दोनों को एक सामान्य अर्थ प्रदान करती है। इसी कसौटी के कारण आभासों में मूल्य-भेद होता है। और, बिना उसके, हम जो कुछ जानते हैं उसके अनुसार विश्व में निम्नतम उच्चतम का एक ही रूप होगा। और सत् एक अनुभव है, जो आत्मव्यापी है तथा कोरे सम्बन्धों

---

१. आभासों के अर्थ के लिए देखिए, विशेष करके, अध्याय २६।

से श्रेष्ठ है। उसका स्वरूप उस काल्पनिक पराकाष्ठा के विरुद्ध है जो केवल यांत्रिक है, और वह अन्ततोगत्वा चैतन्य का एकमात्र परिपूर्ण साक्षात्कार है। तो हम इस ग्रन्थ की साधारणतया इस आग्रह के साथ समाप्ति कर सकते हैं कि सत् चैतन्य-स्वरूप है। हीगेल का एक महत्त्वपूर्ण कथन है, एक ऐसा कथन जो बहुत प्रसिद्ध है और जिसका समर्थन मैं बिना किसी व्याख्या के नहीं कर सकता। परन्तु मैं अन्त में एक ऐसी बात कहूँगा जो बहुत भिन्न नहीं होगी, एक ऐसी बात जिसमें संभवतः हीगेल के संदेश का सार और अधिक निश्चित रूप से रहेगा। चैतन्य के बाहर कोई सत् नहीं है, और कोई सत् हो भी नहीं सकता, और कोई वस्तु जितनी ही अधिक चैतन्य-स्वरूप होती है, उतनी ही अधिक वह सत्य रूप में सत् होती है।

परिशिष्ट

परिशिष्ट

भूमिका

मेरी इस पुस्तक की बहुत-सी आलोचनाएँ हुई हैं, परन्तु इन आलोचनाओं का विस्तारपूर्वक विधिवत् उत्तर देने के बदले, मुझे पाठक के लिए यह अधिक लाभकारी लगा कि, मैं सर्वप्रथम अपनी पुस्तक के प्रमुख सिद्धान्तों की कुछ संक्षिप्त व्याख्याएँ प्रस्तुत कर दूँ, और उसके पश्चात् कुछ शंकाओं का विशेष रूप से समाधान करूँ। जिन बातों को यहाँ पर विचारार्थ चुना गया है, वे मुझे भय है, किसी हद तक, मनमाने ढंग से चुनी हुई प्रतीत होंगी, परन्तु मेरे आलोचकों को जहाँ-कहीं भी ऐसा प्रतीत हो कि उनके आक्षेपों को स्वीकार नहीं किया गया है, तो वे यह न समझें कि उनका किसी प्रकार से अनादर किया गया है।

(१) जहाँ तक मेरी पुस्तक के विषय-क्रम का सम्बन्ध है, मुझे अपने बचाव में कुछ भी नहीं कहना। एक सुव्यवस्थित ग्रन्थ लिख सकना, मेरी शक्ति के बाहर था, और ऐसी अवस्था में, मैंने यह समझा कि मैं पुस्तक को चाहे जिस ढंग से लिखूं, कोई विशेष अन्तर पड़ने वाला नहीं। पुस्तक का क्रम मेरे लिए कोई बहुत महत्त्व का प्रश्न नहीं था। जहाँ तक मैं समझा हूँ, मैं चाहे जिस ढंग से पुस्तक को लिखता, परन्तु परिणाम वही निकलता, और मुझे तो इसमें भी सन्देह है कि यदि मैं कोई अन्य ढंग अपनाता, तो भी वह अधिकांश पाठकों के लिए, अधिक अच्छा सिद्ध हो सकता। हम चाहे जहाँ से विषय को प्रारम्भ करते, आखिर हमें उन्हीं उलझनों में उलझना पड़ता, और उनसे बच निकलने के लिए हमारा रास्ता भी वही होता। इस समय पुस्तक का जो क्रम है, वह हमारे विचार-क्रम के अनुसार नहीं है, और यदि पुस्तक का कोई दूसरा क्रम भी अपना सकता, तो भी वस्तु-स्थिति यही होती। उदाहरण के लिए, मैं आत्मा को एक इकाई के रूप में मान कर चल सकता था और फिर पूछ सकता था कि अन्य वस्तुएँ अन्यथा कहाँ तक सत् हो सकती है और आत्मा भी सत्य होने की कसौटी पर कहाँ तक खरा उतरता है। अथवा मैं ज्ञान की यथार्थता को लेकर चलता और उसके अन्तर्गत

जो-जो आता है, उसकी खोज करता, अथवा मैं एक बार फिर बड़ी सुगमता से इच्छा या संकल्प के क्षेत्र से आरम्भ कर सकता था। इनमें से कोई भी ढंग मेरे लिए असुविधा-जनक नहीं होता और इन-सबका परिणाम भी वही निकलता, परन्तु प्रत्येक पाठक की व्यक्तिगत रुचि का अनुकूलन एक ही प्रयत्न-द्वारा सम्भव नहीं था, और मुझे यह भी विश्वास है कि अपनी रुचि की राह को पकड़ कर चलने वाला पाठक अन्त में कोई वास्तविक लाभ नहीं उठा पाता। मेरी पुस्तक में व्यवस्थित क्रम का जो अभाव है, वह फिर भी एक दूसरी बात है, और उसे मैं स्वीकार करता हूँ, तथा उसके लिए मुझे खेद भी है।

(२) इस पुस्तक का मूलाधार और प्रारम्भ सत्य और सत् विषयक कल्पना में निहित है। मैं यह मान कर चला हूँ कि तत्त्व-विज्ञान का लक्ष्य एक ऐसी सामान्य दृष्टि को ढूँढ़ निकालना है, जो बुद्धि-संगत हो, और इस प्रसंग में मैंने यह भी मान लिया है कि जो भी ऐसा करने में सफल हो, वही सत् है और वही सत्य है, और जो इस दिशा में असफल रहता है, वह न सत् है, न सत्य। मेरी समझ में यह एक ऐसा सिद्धान्त है जिसको न तो सिद्ध किया जा सकता है और न इसमें सन्देह ही किया जा सकता है। जो भी प्रमाण इसको सिद्ध करने के लिए प्रस्तुत किये जायेंगे और जो भी सन्देह, इसकी सत्यता में किये जायेंगे, मेरी समझ में उन दोनों में ही इस सिद्धान्त की सत्यता निहित होगी, और, यदि हम यह न मानें, तो दोनों का अस्तित्व ही नहीं रहता। इस विषय पर और अधिक कहने में, मुझे कोई लाभ नहीं दीखता।[1]

(३) परन्तु इसके साथ ही हमारे सामने एक बड़ी समस्या यह उपस्थित हो जाती है कि विचार का सत् से क्या सम्बन्ध है ? क्योंकि यदि हम इस बात को अस्वीकार करने की गलती करें भी कि समस्त सत्य विचार-मात्र है, तो कम-से-कम अधिकाँश सत्य के विषय में हम इस बात को अस्वीकार नहीं कर सकते और इस बात से तो हम मुश्किल से ही असहमत होंगे कि सत्य से बुद्धि की सन्तुष्टि होती है। यदि यह बात हो तो जैसा कि हम देख चुके हैं, सत्य को सत् मानना पड़ेगा। इसके अतिरिक्त यदि सत्य को सत् इसलिए न माना जाय कि वह वास्तविक है, अपितु इसलिए कि वह कुछ अन्य प्रकार का भी है, तो यह बात चलने वाली नहीं लगती, क्योंकि यदि ऐसा हो तो 'वास्तविक के अतिरिक्त 'कुछ अन्य प्रकार' सत्य को अधूरा कर देगा और इसलिए वह सत्य झूठ में परिणत हो जायगा। परन्तु दूसरी ओर, प्रश्न यह होता है कि क्या कोई विचार,

---

१. मेरी पुस्तक के विचार-क्रम के सम्बन्ध में, पाठक का ध्यान परिशिष्ट की टिप्पणी की ओर भी आकर्षित किया जाता है।

कितना ही पूर्ण क्यों न हो, सत् के साथ पूर्ण तादात्म्य स्थापित कर सकता है—दूसरे शब्दों में क्या पूर्ण विचार और सत् में कोई अन्तर नहीं रहेगा ? यह एक ऐसा प्रश्न है, जिसका स्वीकारात्मक उत्तर मैं कदापि नहीं दे सका। यहाँ पर यह सिद्ध करने का प्रयत्न व्यर्थ है कि सत् का सारांश और सर्वस्व विचार ही है, क्योंकि इतना सिद्ध हो जाने पर भी हम उक्त निष्कर्ष पर नहीं पहुँच पाते। और, इस प्रसंग में इस बात पर जोर देना भी व्यर्थ है कि विचार का प्रत्येक अनुभव से ऐसा अटूट सम्बन्ध है कि अन्ततोगत्वा इसके अन्तर्गत सबका समावेश हो जाता है। मुझे ऐसा लगता है कि यह फिर केवल उसी सर्वस्ववाद पर आधारित एक अनिर्णीत तर्क-मात्र है, और यदि यह बात नहीं हैं तो इस निष्कर्ष में एक दूसरा दोष यह आ जाता है कि इसके द्वारा विचार शब्द के अर्थ का अनुचित प्रसारण हो जाता है। अर्थात् अब विचार के अन्तर्गत इतने अधिक अर्थ का समावेश कर लिया गया है जितना कि सत्य के संकुचित अर्थ में भी नहीं होता और इसका परिणाम यह हुआ है कि इस अर्थ में सत्य और सत् का क्या सम्बन्ध है, यह प्रश्न न्यूनाधिक रूप में विचार के भीतर ही प्रादुर्भूत हो जायगा। इसके अतिरिक्त यह भी स्पष्ट प्रतीत नहीं होता कि हम इस-सब को 'विचार' ही क्यों कहें, क्यों नहीं भावना या संकल्प कहें, हाँ यह दूसरी बात है कि हम यह दिखलायें कि भावना आदि वस्तुतः विचार के ही प्रकार हैं और विचार उनके अन्तर्गत नहीं आता, क्योंकि यदि हम ऐसा न करें तो हमारा निष्कर्ष केवल शाब्दिक तथा मनमाना प्रतीत होगा, और साथ ही जो तर्क केवल-मात्र विचार-क्षेत्र से लिया गया हो, उससे अभीष्ट निष्कर्ष नहीं निकल सकता।

परन्तु इससे प्रतीत होता है कि हम एक दुविधा में पड़ गये। एक ओर तो सत्य अथवा विचार (अब इन दोनों में सुविधापूर्वक तादात्म्य देखा जा सकता है) और दूसरी ओर सत् के बीच अन्तर है, परन्तु इस अन्तर को प्रकट करना तब तक असम्भव है जब तक कि हम किसी-न-किसी प्रकार विचार के परे न पहुँचें या स्वयं विचार के भीतर इस अन्तर को न ले जायें, और ये दोनों ही बातें अर्थहीन प्रतीत होती हैं। इस प्रकार सत् सत्य से भिन्न एक ऐसा 'अन्यत्' प्रतीत होता है, जो भिन्न होते हुए भी वस्तुतः भिन्न रूप में ग्रहण नहीं किया जा सकता, और यह दुविधा मेरे लिए बहुत समय तक उलझन और सन्देह का प्रमुख हेतु बनी रही। निःसन्देह इसको किसी हद तक सुलझाने के लिए ही, हमने सत् का तादात्म्य अनुभव अथवा चेतना के साथ उसके विस्तृततम अर्थ में किया। इस कदम को मैंने बिना किसी हिचकिचाहट के उठाया और इसके बचाव में मैं यहाँ और कुछ भी नहीं कहूँगा। इसके विरुद्ध सबसे भयंकर आक्षेप, मेरे विचार में अहंभेदवाद की ओर से आया और इसका उत्तर हम विस्तारपूर्वक दे चुके हैं। परन्तु

हमारा यह प्रयत्न स्वयं हमारी दुविधा को वांछित रूप से सुलझाने में बहुत अधिक सहायक नहीं होता, क्योंकि अनुभव के तथ्य, उन तथ्यों का विचार और उन तथ्यों का सत्य—इन तीनों के बीच भेद अब भी बना रहता है, और साथ ही बनी रहती है वह कठिनाई जो इस भेद से जुड़ी हुई है। इस दुविधा का हल, मेरी समझ में, एक-मात्र वही सम्भव है, जो कि पन्द्रहवें अध्याय में दिया जा चुका है। उसमें इस पुस्तक की प्रमुख प्रतिपत्ति आ जाती है और जो मत इस प्रतिपत्ति के विपरीत हैं, वे मेरे विचार में उसी दुविधा में फँसकर नष्ट हो जाते हैं। इस सिद्धान्त में हमें दो प्रमुख विशेषताएँ देखने को मिलेंगी। एक ओर तो वह यह प्रतिपादन करता है कि सत्य अथवा विचार वस्तुतः अपने दावों को ही पूरा नहीं कर पाता—अर्थात् वह ऐसी वस्तु होना चाहता है (और अभी तक है भी) जो कि पूर्णतया हो नहीं सकता। इसके अनुसार यदि विचार अपनी प्रकृति के अनुकूल रहें, तो वह अपने से परे हो जायगा भी और नहीं भी जायगा, और साथ ही एक 'अन्यत' भी हो जायगा; और दूसरी ओर, विचार का इस स्वयं-परिपूर्ण (जिसके अन्तर्गत विचार-मात्र से विपरीत पक्ष भी आते हैं) को ही हम सत् कह सकते हैं, और इसके अतिरिक्त, और इससे अधिक हम किसी वस्तु को सत् नहीं कह सकते। इस सिद्धान्त की जो आलोचनाएँ मुझे देखने को मिली हैं, वे न तो इस बात की किसी गम्भीर गवेषणा पर आश्रित प्रतीत होती हैं कि वस्तुतः विचार की माँगें क्या हैं और न इस बात पर कि उन माँगों की पूर्ति के अन्तर्गत क्या क्या आता है। परन्तु यदि बुद्धि को सन्तुष्ट करना ही वास्तविक और सत् हो, तो इस प्रकार के प्रश्न को मूलभूत मानना पड़ेगा।

(४) सत्य-सम्बन्धी इस समस्या के हल के पश्चात् सत् का सम्पूर्ण रूप सामने आता है। सत् विचार से परे है और वह सत्ता के प्रत्येक आंशिक-पक्ष से भी परे है, परन्तु उसके अन्तर्गत इन सबका समावेश हो जाता है। इन में से प्रत्येक अवशिष्ट 'अन्यत्' के साथ संयुक्त होकर अपने को पूर्ण करता है, और इस प्रकार वह सम्पूर्ण अथवा सर्व को पूर्णता प्रदान करता है। और यह सम्पूर्ण या सर्व अनुभव-मात्र है, क्योंकि अनुभव से पृथक् और कोई भी वस्तु अर्थहीन होगी। इस प्रकार जो कुछ भी, किसी भी अर्थ में, 'हैं' (अस्तित्व रखता है), वह चरम सत्य की विशेषता बताता है और इसलिए स्वयं वास्तविक है। परन्तु दूसरी ओर क्योंकि प्रत्येक वस्तु को अपने को परिपूर्ण करने के लिए और अपने निज के दावों को दूसरा करने के लिए, अपने से परे जाना अनिवार्य है इसलिए चरम सत्य के अतिरिक्त, अन्त में अन्य कुछ सत् नहीं सिद्ध होता। चरम सत् के अतिरिक्त अन्य सब-कुछ आभास मात्र है। यह आभास ही ऐसा है जिसका स्वरूप उसके अपने अस्तित्व के परे जाता है, उससे असंगति रखता है और उसके ऊपर

भी उठ जाता है। और बौद्धिक दृष्टि से विचार करने पर आभास एक त्रुटि है। परन्तु एक-मात्र उपाय यही है कि उसकी कमी को एक ऐसी वस्तु के समावेश द्वारा पूरा किया जाय जो बाह्य होते हुए भी अनिवार्य हो, और चरम सत्य में इस उपाय को पूर्ण होता हुआ देखा जा सकता है। वहाँ पर कोई भी केवल-मात्र आभास या नितान्त संयोग अथवा चरम-त्रुटि नहीं रह जाती, अपितु सब-कुछ सापेक्षिक हो जाता है। और इस अवस्था में किसी वस्तु को उसी मात्रा में सत् कहा जायगा, जिस मात्रा में उसे परिपूरण की आवश्यकता होगी, और जिस सीमा तक किसी अन्य वस्तु के परिपूरण में उसका अपना विनाश हो जायगा।

(५) परन्तु यह आपत्ति की गयी है कि यह परम सत् या तो शून्य-मात्र है अथवा वह समझ के बाहर की वस्तु है। निःसन्देह वह एक समझ के बाहर की वस्तु है, परन्तु केवल इस अर्थ में कि आप उसको सांगोपांग नहीं समझ सकते, और उसके समस्त आकार-प्रकार में, विशेष रूप से, आप निरन्तर ही क्यों और कैसे का उत्तर नहीं दे सकते। इस अर्थ में इसको नहीं समझा जा सकता, यह बात मैं स्पष्ट रूप से कह चुका हूँ, परन्तु जहाँ तक उसके प्रमुख स्वभाव से सम्बन्ध है, हमें एक भिन्न उत्तर देना पड़ेगा। हम भावनागत एकता में पायी जाने वाली अनेकता से प्रारम्भ करते हैं और हम उसको आत्मा से परे आत्म-परिपूरण के सिद्धान्त-द्वारा भीतर-ही-भीतर विकसित करते हैं और अन्त में हम एक सर्वगत तथा सम्बन्धातीत अनुभूति की कल्पना पर पहुँचते हैं। मेरी समझ में यह कल्पना अपने सूक्ष्म रूप में बोधगम्य तथा निश्चयात्मक है और ऐसा ही है वह सिद्धान्त जिसके द्वारा हम इस कल्पना पर पहुँचते हैं, और जो आलोचना इन दोनों को निषेधात्मक मात्र मानती है वह मेरे विचार में मिथ्या धारणा पर आश्रित है। मैं तो यही कहूँगा कि जो आलोचना सचमुच प्रभावशाली होना चाहती है उसको यह सिद्ध करना चाहिए कि हमारे दृष्टिकोण का प्रस्थान-विन्दु निराधार है, और विकास का सिद्धान्त अपने परिणाम-सहित थोथा है। ऐसी आलोचना अभी तक मैंने नहीं देखी, परन्तु जहाँ तक अबोधगम्यता और अनिर्वचनीयता का सम्बन्ध है, हमें निःसन्देह दोनों में भेद करना होगा। किसी भी मत में एक अबोधगम्य तत्त्व का समावेश हो सकता है, जब तक कि वह तत्त्व वस्तुतः उसके अन्दर है, और अगर कोई यह नहीं जानता कि वह वस्तु उसमें कैसे है, तो इससे यह बात तो असिद्ध नहीं हो जाती कि वह वस्तु उसमें होगी और है। सार प्रश्न तो यह है कि हमारे पास कोई ऐसा सर्व सामान्य सिद्धान्त है या नहीं जिसमें कि समस्त विविधता का समावेश होता है और होना चाहिए, अथवा दूसरी ओर कहीं ऐसा तो नही है कि विविध-तत्त्व या तो उससे बाहर रह जाते हैं अथवा निषेधात्मक उदाहरणों के रूप में उस सिद्धान्त को ही उखाड़ फेंकते हैं। अब

मैं विस्तारपूर्वक यह वतला चुका हूँ कि ऐसे कोई तथ्य नहीं जो उक्त सिद्धान्त के बाहर रह जाते हों या जो कि वस्तुतः निषेधात्मक उदाहरणों के रूप में हों, और इसलिए यह सिद्धान्त अकाटच है और तथ्यों का उसके अन्तर्गत समावेश होना चाहिए, और हो सकता है, और इसी लिए होता भी है। यदि सामान्य रूप से हमें 'कैसे' का कोई ज्ञान है, तो 'कैसे' का विस्तारपूर्वक अज्ञान स्वीकार्य है और निर्दोष भी। अपने सामान्य रूप में यह तर्क उन आलोचकों को भी मालूम है जो उस पर आश्चर्य प्रकट करते हुए प्रतीत होते हैं, और जहाँ तक मैं समझ पाया हूँ, वहाँ तक इस तर्क का प्रयोग न्यायसंगत और आवश्यक है। जो लोग इसके प्रयोग के विषय में जानना चाहें, वे इस पुस्तक के प्रमुख भाग को देखें।

(६) परम सत् की एकता के विषय में, हम जानते हैं कि परम सत् एक ही हो सकता है, क्योंकि जिस वस्तु का भी अनुभव किया जाता है उसकी अनुभूति इकाई में अथवा इकाई के रूप में ही होती है और स्वतन्त्र अनेकता जैसी कोई वस्तु अथवा बाह्य सम्बन्ध बुद्धिसंगत नहीं हो सकती। वह बुद्धिसंगत इसलिए नहीं हो सकती क्योंकि वह एक स्वयं-विरुद्ध बात होगी। और इसी कारण से परम सत् को, सर्वोच्च अर्थ में एक ही व्यवस्था मानना पड़ेगा, और यदि हम उसको कोई निचला अर्थ देखें तो वह अन्ततोगत्वा स्वयं-विरुद्ध होने के कारण अवास्तविक सिद्ध होगा। वैपरीत्य और बाह्य सम्बन्धों की चर्चा परिशिष्ट में आगे चलकर टिप्पणी क और ख में की गयी है।

(७) अब मैं एक अन्य आक्षेप पर विचार करूँगा जिसको कई आलोचकों ने उठाया है। फिलोसोफिकल--रिव्यू, जि०--४, पृ० २३५ के निम्नलिखित अवतरण में इसी आक्षेप को इस प्रकार व्यक्त किया गया है--"सभी प्रतीयमान पदार्थ एक ही अन्तर्विरोध से दूषित माने गये हैं, क्योंकि उन सभी में एक और अनेक का संगठन है। इसलिए सत्य और सत् की मात्राओं की कपल्ना को लागू करना असम्भव है। यदि सभी आभास समान रूप से इस अन्तर्विरोध से दूषित हैं, तो वे सभी सत् की चरम प्रकृति से हमें अवगत कराने में समान रूप से असमर्थ सिद्ध होंगे।" इसके साथ यह भी कहा गया है कि मेरे आलोचक प्रायः सभी इस बात पर सहमत हैं।

मुझे ऐसा लगता है कि मैं इस आक्षेप के स्वरूप को ठीक-ठीक नहीं समझ पाया, क्योंकि जिस रूप में मैंने इसको समझा है, उससे तो कोई भयंकर कठिनाई उपस्थित नहीं होती। सच बात तो यह है कि यह प्रश्न, सौभाग्य या दुर्भाग्य से, इतना पुराना और मेरे मस्तिष्क के लिए इतना अधिक परिचित रहा है कि इसने मुझे किसी भी प्रकार की कठिनाई उपस्थित नहीं की, यही कारण है कि मैंने इस पर ध्यान नहीं दिया। परन्तु, मान लीजिए कि ईश्वर-विज्ञान में हम यह कहें कि ईश्वर के सामने और उसकी तुलना

में सभी मनुष्य समान रूप से पापी हैं—तो क्या फिर मैं यह नहीं मान सकता कि एक मनुष्य दूसरे की अपेक्षा अधिक बुरा या अधिक भला है? और यदि मैं नैतिकता में न्यूनता अथवा अधिकता के तथ्य को स्वीकार कर लूँ, तो फिर क्या मैं इसके अतिरिक्त यह भी और नहीं मान सकता कि नैतिकता एक और पूर्ण है और या तो तुम उसे प्राप्त कर सकते हो या नहीं ही कर सकते हो? और क्या वस्तुतः यह एक बड़ी भारी उलझन है? मान लीजिए कि किसी कार्य-विशेष के लिए मैं एक ऐसी छड़ी चाहता हूँ जो ठीक एक गज़ लम्बी हो, तो क्या मेरी यह ग़लती होगी कि मैं एक इंचीय तथा पैंतीस इंचीय दोनों छड़ियों को अथवा छत्तीस इंच से कम कितने भी इंचों वाली छड़ी को समान रूप से और समान भाव से, छोटी कह दूँ? निःसन्देह यदि आप सर्वोपरिता और सम्पूर्णता को एक ही ढंग से समझते हैं, तो आप इस अवस्था में या तो हाँ कहेंगे या ना—अर्थात् या तो आप कहेंगे कि नैतिकता प्राप्त कर ली है या कहेंगे कि नहीं कर ली है, और या तो आप उसको सदोष ही मानेंगे या निर्दोष ही।—परन्तु यदि अपूर्ण को दूसरी दृष्टि से देखा जाय, तो उसमें पहले से ही किसी गुण या विशेषता की न्यून अथवा अधिक मात्रा होती है, और उसका यही स्वभाव, सभी दोषों के दूर हो जाने पर पूर्णता को प्राप्त कर लेता है और स्वयं पूर्ण हो जाता है। जहाँ कहीं भी न्यूनाधिक मात्राओं का क्रम-सोपान होता है, वहाँ आप उसकी विभिन्न सीढ़ियों को न्यूनाधिक रूप में पूर्ण मान सकते हैं, अथवा आप पुनः यह भी कह सकते हैं कि, नहीं, उनमें से कोई भी पूर्ण नहीं, और इस दृष्टि से वे सब समान हैं, और उनमें कोई भेद नहीं। जब कभी आप उनमें से प्रत्येक के विषय में पूछेंगे कि वह पूवर्ण है या नहीं तो सचमुच यही स्थिति सामने आयगी।

हाँ और ना का यह प्रश्न मैंने सत्य के प्रसंग में आभासों के विषय में पूछा, और मैंने अपनी पुस्तक में ऐसी भाषा का प्रयोग किया जो निःसन्देह अपना खंडन स्वयं करती है, जब तक कि पाठक यह न समझ ले कि इस विषय में एक से अधिक दृष्टिकोण हैं। मैंने तो यह माना है कि पाठक इस बात को समझेंगे, और मुझे इसमें कोई सन्देह नहीं कि पाठकों ने प्रायः ऐसा ही समझा है, और मेरे विचार में यदि पाठक तत्त्व-विज्ञान में उन सभी विचारों को ले आये जिनसे वह तत्त्व ज्ञान के बाहर परिचित हुआ है, और केवल मनमाने ढंग से केवल कुछ ही विचारों को छाँटकर न लाये, तो वह सर्वदा ही इसी प्रकार समझ सकता है। और जिन विचारों को इस प्रकार वास्तविक नहीं तो, कम-से-कम सत्तावान अवश्य माना जा सकता है, उनमें से मैं विशेष रूप से ईसाई मत के कुछ प्रमुख विचारों का उल्लेख करूँगा, यथा—स्वतन्त्रता, नैतिकता का मूल्य, तथा ससीम व्यक्तियों और वस्तुओं का स्वतन्त्र स्वावलम्बन। जहाँ तक मेरा सम्बन्ध है, यद्यपि जहाँ आवश्यक हुआ वहाँ मैंने कुछ ईसाई सिद्धान्तों की असत्यता और अनैति-

कता की ओर संकेत करने में हिचकिचाहट नहीं की है, परन्तु उनका कोई अस्तित्व ही नहीं है, मैं इस व्यापक मान्यता को नहीं स्वीकार कर सकता ।

परन्तु यदि मेरे आलोचकों का उपर्युक्त अभिप्राय नहीं, अपितु कोई अन्य अभिप्राय है, और यदि उनके आक्षेप का अर्थ यह है कि मैं इस बात की व्याख्या नहीं करता कि कोई विविधता अथवा कोई सापेक्षिकता-जैसी वस्तु क्यों है और कैसे हैं, तो मेरे पास उत्तर की कमी नहीं है , मेरा उत्तर यह है कि मैं ऐसा करने का कोई दावा नहीं करता अपितु दूसरी ओर मैंने बार-बार इस पर जोर दिया है कि कोई सामान्य निष्कर्ष, किसी अपवाद-विशेष की व्याख्या में असमर्थ होने पर, तब तक सदोष नहीं होता जब तक कि उस तथ्य को एक निषेधात्मक उदाहरण नहीं सिद्ध किया जा सके ।

अन्त में, यदि 'आभास-मात्र' शब्द के प्रयोग से कोई कठिनाई उपस्थित हुई हो, तो वह मेरी समझ में, ऊपर पहले ही दूर की जा चुकी है । इस शब्द की सार्थकता परम सत् के विरुद्ध रखने में होती है । यदि आप किसी आभास के विषय में प्रश्न करें कि यह सत् है या नहीं, बिना कोई शर्त लगाये हाँ या ना में कोई उत्तर दो । तो तुमको विवश होकर नकारात्मक उत्तर देना पड़ेगा, और यह सम्भव है कि तुम इस बिना शर्त नहीं की अभिव्यक्ति 'मात्र' शब्द के प्रयोग द्वारा करो । कम-से-कम मेरे एक आलोचक विशेष के लिए तो यह अच्छा रहता कि उसने, किसी आभास-मात्र की असंभाव्यता पर मुझे उपदेश देने से पूर्व, त्रुटि शीर्षक के नीचे दी हुई मेरी विषय-सूची को देख लिया होता ।

अन्त में मैं यही कहूँगा कि, आभास तथा सत् की सापेक्षिक मात्रा के प्रश्न पर, मुझे ऐसी कोई बात भी नहीं मिली जिस पर मेरे आलोचक ईमानदारी से कोई आपत्ति उठा सकते । हाँ, यह दूसरी बात है कि वे यह कहें कि दो उचित तथा अनिवार्य दृष्टि-कोणों में से, मैंने एक पर अनुचित रूप से ज़ोर दिया है । चाहे मैंने ऐसा किया हो या न किया हो, मैं इसका निर्णय करने का प्रयत्न नहीं करूँगा, परन्तु, मेरे आलोचकों का अभिप्राय यही है, तो जिस ढंग से उन्होंने अपने अभिप्राय को व्यक्त किया है, उसके लिए मैं उनको बधाई नहीं दे सकता ।

परन्तु एक बार फिर मैं इस बात के लिए खेद प्रकट करता हूँ कि मैं आभास के विभिन्न रूपों की व्याख्या करने में असमर्थ रहा । यदि मैंने ऐसा किया होता, तो यह स्पष्ट हो जाता कि आभास का प्रत्येक प्रकार सत्य और असत्य दोनों ही है और साथ ही यह भी कि वह ऐसा जिस प्रकार है, इस तरह से यह भी प्रकट हो जाता कि सत्य का विकास होता है । उस स्थिति में हमने यह देख लिया होता कि प्रत्येक आभास वस्तुतः एक ही सिद्धान्त पर आश्रित है और उसी को चरितार्थ करने के लिए प्रयत्नशील है,

यद्यपि वह सिद्धान्त पूर्णतया किसी पर भी लागू नहीं होता और इसलिए उसकी दृष्टि में उन आभासों में से प्रत्येक उस सिद्धान्त का अपूर्ण आभास ही है।

(८) अब मैं संक्षेप में एक ऐसे विषय पर बात करना चाहता हूँ जिसमें अपेक्षाकृत अधिक कठिनाई है। प्रश्न किया गया है कि मैंने परम सत् का आत्मा के साथ तादात्म्य क्यों नहीं कर दिया। जैसा कि मैं पहले ही कह चुका हूँ, मेरा समस्त दृष्टिकोण आत्मा पर आश्रित है, और मुझे इसमें भी कोई सन्देह नहीं कि आत्मा, अथवा आत्माओं का एक तंत्र हमारे लिए सर्वोच्च वस्तु है। परन्तु जब परम सत् को आत्मा का नाम प्रस्तावित किया जाता है, तो मुझे कुछ सोचने के लिए विवश होना पड़ता है। हमारे ससीम आत्माओं को परम सत् की कल्पना तक पहुँचने के लिए अपने में इतना अधिक जोड़ना और घटना होता है कि यह बहुत बड़ा सन्देह होने लगता है कि इस जोड़ने और घटाने के परिणामस्वरूप जो रहेगा, उसको आत्मा शब्द द्वारा व्यवहित भी किया जा सकता है या नहीं। जब आप आत्मा अथवा आत्माओं के एक तंत्र की कल्पना को एक निश्चित सीमा से परे ले जाते हैं और जब आप सम्पूर्ण ससीमता, परिवर्तन, यदृच्छा तथा विकार को उसमें से बाहर कर देते हैं, तो क्या आप ऐसा करके अपनी उस कल्पना को सचमुच उसके स्वाभाविक प्रयोग-क्षेत्र से परे नहीं ले जाते? मुझे विवश होकर यही मानना पड़ता है कि आप उसको अवश्य ही उसके स्वाभाविक प्रभाव-क्षेत्र से बाहर ले जाते हैं, और मुझे ऐसा भी कोई कारण दिखायी नहीं पड़ता जिससे कि मैं यह समझूँ कि ऐसा नहीं होता, हमने यह देखा कि व्यक्ति पूर्ण है, मैं इसे बिलकुल नहीं मानता। यह दलील दी गयी है कि अगर आप आत्मा को मानते हैं, तो आपको उससे भी कोई निम्नकोटि की वस्तु मानने का अपराधी होना पड़ेगा। यह दलील मुझे बिलकुल खोखली लगती है। मैंने यह प्रतिपादन किया है कि यदि हम आत्मा के विवेचन से प्रारम्भ करें तो हम आत्मा से परे भी एक निश्चित परिणाम तक पहुँच सकते हैं, और निःसन्देह मेरी इस प्रतिपत्ति को उसकी असत्यता प्रमाणित करने वाली किसी भी कोरी तर्कशून्य कल्पना का सामना नहीं करना पड़ा है। और यदि अन्त में ऐसा हो भी, तो कोई बात नहीं, आप स्वयं यह स्वीकार करते हैं कि परम सत्य बोधगम्य नहीं है, तो फिर आपको इस कथन पर क्या आपत्ति है कि परम सत् किसी अबोधगम्य रूप में आत्मा है और आत्मा किसी अबोध्य रूप में परम सत् है? यदि आप यह कहें तो हमें कोई आपत्ति नहीं, क्योंकि, यद्यपि परम सत् ब्योरेवार रूप में अबोध्य है, सामान्य रूप में वह ऐसा नहीं है, और उसका यह सामान्य स्वरूप एक आवश्यक सिद्धान्त का परिणाम है, और इस परिणाम के विरुद्ध हम दुःख और अज्ञान के अतिरिक्त कुछ नहीं रख सकते, परन्तु आत्मा को इसी रूप में परम सत् बनाना मेरी समझ में कुछ ऐसे तथ्यों से आँख

मूँदना है जो स्पष्टत: बतलाते हैं कि आत्मा स्वभावत: सापेक्षिक है, और जब यह सापेक्षिक नहीं रहेगा, तो आत्मा अपना स्वभाव भी खो बैठेगा। मेरा तो यह आग्रह है कि यह विचार कोई सिद्धान्त ही नहीं है, यह तो एक पूर्वाग्रह और भ्रम-मात्र ही है। मेरी राय में यदि इस विचार का दावा पेश किया जाना है, तो वह खुल्लम-खुल्ला और साफ तौर से होना चाहिए। अब रही आत्मा शब्द के प्रयोग की बात, सो मैं तो यही कहूँगा कि जब तक कि हम केवल यह जानते हैं कि हमारा क्या अभिप्राय है, परन्तु उस शब्द के द्वारा हम उस अभिप्राय को व्यक्त नहीं कर रहे हैं, तब तक आप हमें समझौते के विरुद्ध बिलकुल मत समझिए, निःसन्देह मैं किसी ऐसे प्रयत्न के विरुद्ध हूँ जो ससीम आत्मा को किसी भी अर्थ में परम सत् अथवा कालगत शृंखला के बाहर किसी भी प्रकार का सत् मानने को तैयार हो। मैं ऐसे भी किसी प्रयत्न के विरुद्ध हूँ, जो 'अनुभव' तथा अनुभूत के बीच सापेक्षिकता से अधिक किसी अन्य भेद को मानने के लिए तैयार हो। परन्तु इन पर तथा ऐसे ही अन्य मुओं पर, मेरी समझ में और अधिक विस्तारपूर्वक चर्चा करना लाभदायक नहीं प्रतीत होता।

(९) अब मैं संदेहवाद के विषय में, अपनी दृष्टि को संक्षेप में प्रस्तुत करूँगा। मेरा अनुमान है कि जिन लोगों ने मेरी पुस्तक ध्यानपूर्वक पढ़ी है उनमें से अधिकाँश लोग मुझे यह श्रेय तो देंगे ही कि मेरे मन में संदेहवाद के प्रति न्याय करने की पूरी इच्छा रही है, और वास्तव में शायद मैं स्वयं भी अपने को एक प्रकार का संदेहवादी मानने का दावा कर सकता हूँ। परन्तु यह हो सकता है कि मैं अपनी सारी इच्छा के बावजूद भी असफल रहा हूँ, और मेरे लिए इससे बड़ी भारी शिक्षा मिलेगी, यदि मेरे अंतिम अध्याय की परीक्षा किसी शिक्षित और मेधावी संदेहवादी के द्वारा की जाय। अभी तक तो मेरी जान में ऐसा कोई भी प्रयत्न हुआ नहीं है, और शायद हम लोगों में संदेहवादी स्वभाव वाले लोगों को तत्त्व-विज्ञान का व्यसन भी नहीं होता। और, इस बात को मैं एक दुर्भाग्य मानने का दुःसाहस करता हूँ। यह बात ठीक है कि संदेहवादी स्वभाव और बौद्धिक संदेहवाद दोनों एक नहीं हैं, और यदि मैं पुनरुक्ति कर सकूँ तो यही कहूँगा कि यह बौद्धिक संदेहवाद 'परिश्रम तथा शिक्षा का परिणाम' होता है।

ऐसा लगता है कि 'माइन्ड' (संख्या–११) में जिस लेखक ने संदेहवादियों के सच्चे प्रतिनिधि की हैसियत से लिखा है, उसकी यह राय नहीं है। शायद जब मैं उसके प्रतिनिधित्व पर शंका करता हूँ और जब मैं सच्चे संदेहवाद के विषय में उसके अज्ञान को प्रकट करता हूँ, तो उसे आश्चर्य नहीं होगा। संक्षेप में उसकी सम्मति में संदेहवाद केवल इसी प्रश्न में है कि, "लेकिन आपका अभिप्राय क्या है ?" स्पष्ट है कि उसके दिमाग में क ी यह नहीं आया कि कोई सुबोध शंका और सन्देह करने के लिए यह आवश्यक

है कि पहले अपने-आप समझ लिया जाय। उदाहरण के लिए यदि गणित से अनभिज्ञ होते हुए भी मैं किसी कलन-गणित की पुस्तक के विषय में बार-बार तोते की तरह यह पढ़ने लगूँ कि "आपका अभिप्राय क्या है", तो इस प्रकार मैं शायद ही गणित की दृष्टि से एक संदेहवादी बन पाऊँ। इस प्रकार का सन्देहवाद केवल एक बचपन की बीमारी है और मूढ़ता का एक चिह्न माना जाता है, और निःसन्देह एक दार्शनिक दृष्टिकोण के रूप में तो इसका कोई स्थान नहीं।

यदि किसी सिद्धान्त के विषय में आपको एक सुबोध ढंग से एक प्रश्न पूछना है, "इसका क्या अभिप्राय है ?" तो, मेरे विचार में, आपको उस सिद्धान्त में प्रवेश करने के लिए तैयार होना पड़ेगा। और उसमें प्रवेश करने में, बहुत संभव है कि आप अपना सन्देह व्यक्त करने के लिए चुपचाप किसी ऐसी मान्यता का सहारा लें जिसको अमान्य ठहराने के लिए उक्त सिद्धान्त अपने तर्क उपस्थित कर चुका हो। और संदेहवादी कहलाने वाले प्रत्येक व्यक्ति के लिए यह सम्भव नहीं कि वह इस प्रकार की भोंडी मान्यताओं से दूर रह सके, और मैं फिर कहूँगा कि श्रम और शिक्षा के बिना ऐसा कर सकना किसी के लिए भी संभव नहीं।

परन्तु जिस लेख का मैंने ऊपर उल्लेख किया है उसमें सन्देहवाद की इस बेतुकी कल्पना के अतिरिक्त, और कोई ऐसी बात नहीं है जिस पर ध्यान दिया जाय। उसमें कुछ तो ऐसी साधारण-सी गलतियाँ हैं, जो न समझने के कारण हुई हैं, और उनके साथ ही एक प्रकार की ऐसी कोरी कट्टरता भी है, जो बिल्कुल नीरस है। मुझे इस बात का बहुत दुःख है कि इस मुद्दे पर मुझे मेरे आलोचकों से कोई भी सहायता नहीं मिली है, और, यदि मैं सच कहूँ तो अधिकांश संदेहवाद मुझे स्वयं ही करने के लिए विवश होना पड़ा।

(१०) इस ग्रन्थ के सिद्धान्त की भर्त्सना यह कह कर की गई है कि इससे हमारे स्वभाव के जो दावे हैं वे पूरे नहीं होते, और इस पर यह दोषारोपण किया गया है कि यह अज्ञेयवाद से अधिक और कुछ भी नहीं है। इस शब्द के अर्थ की मैं कोई व्याख्या नहीं करना चाहता क्योंकि इस विषय को मैं अधिक नहीं जानता, परन्तु फिर भी मैं जिसको महत्त्वपूर्ण मानता हूँ, उस पर जोर देना चाहता हूँ। इस पुस्तक के सिद्धान्त के अनुसार जो हमारे लिए सर्वोच्च है, वह सारे विश्व में और समस्त विश्व के लिए सर्वाधिक सत् है, और इसलिए इसकी सत्ता का किसी प्रकार खंडन होने का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता। दूसरी ओर बाजारू भौतिकवाद में, जो अन्ततोगत्वा सत्य है, उसको निःसन्देह हम सर्वोच्च नहीं मानते, क्योंकि जिसको हम सर्वोच्च समझते हैं वह एक गौण वस्तु है और जहाँ तक हम समझते हैं, वह उस भौतिकवादी सत् का एक

अनिश्चित परिणाम है। और फिर, यदि हम केवल अज्ञेयता को ही लिए बैठे रहें, तो हम एक ऐसी स्थिति में पड़ जाते हैं कि, जहाँ तक हम समझ सकते हैं, हमारे सर्वोच्च विश्वास मृगतृष्णा बन जाते हैं, अथवा कम-से-कम किसी-न-किसी क्षण वे मृगतृष्णा में परिणत हो सकते हैं, और कभी भी किसी अज्ञात वस्तु के द्वारा शून्य में बदले जा सकते हैं। मैं स्वीकार करता हूँ कि इस प्रकार के सिद्धान्तों और इस पुस्तक के सिद्धान्तों के बीच सचमुच बहुत बड़ा अन्तर है।

यदि तुमसे यह कहा जाय कि सामान्यतः इस पुस्तक के सिद्धान्तों से हमारे स्वभाव की माँगों की पूर्ति नहीं होती, तो सबसे पहले मैं एक सीधे से प्रश्न का सीधा-सा उत्तर चाहता हूँ। क्या मैं यह समझूं कि हम जो भी चाहते हैं, वह सब जैसे बने तैसे मिल जाना चाहिए, और वह भी ठीक उसी तरह से मिल जाना चाहिए जिस तरह से हम चाहते हैं ? अपनी ओर से तो इस प्रश्न का मैं यही उत्तर दूँगा कि इस प्रकार की माँग-पूर्ति असम्भव-सी प्रतीत होती है। परन्तु मुझे यह अच्छा नहीं लगता कि मैं इस माँग की कोई भी आलोचना, उसकी स्पष्ट व्याख्या से अवगत होने से पहले करूँ, अतः मैं इस समय केवल अपने प्रश्न का सीधा-सा उत्तर पाने के लिए ही आग्रह करूँगा।

और यदि वास्तविक प्रश्न यह नहीं है, और यदि उसका सम्बन्ध केवल हमारे स्वभाव की माँगों की यदृच्छापूर्ति से है, तो मैं नहीं समझता कि, विश्व-विषयक अन्य दृष्टियों की तुलना में, इस लेखक की दृष्टि ओछी है। मेरा अनुमान है कि मेरे मत की तुलना केवल उन मतों से की जायगी जिनका लक्ष्य सैद्धान्तिक संगति होगा, और न कि केवल व्यावहारिक विश्वास क्योंकि हम जानते हैं कि व्यावहारिक विश्वासों का नियमन कामचलाऊ दक्षता से होता है। वे एक स्थान पर दूसरे मुद्दे को दबोचे हैं, उन्हें सैद्धान्तिक अन्तर्विरोध से बचने की चिन्ता नहीं रहती। मेरे विचार में किसी प्रकार के कामचलाऊ विश्वास किसी भी प्रकार के सैद्धान्तिक मत के साथ या उसके अन्तर्गत न्यूनाधिक रूप में रहते ही हैं। यहाँ पर मेरी निगाह में जो तुलना है वह दूसरे प्रकार की है, और वह ऐसे सिद्धान्तों के बीच में हो सकती है, जिनमें से प्रत्येक वस्तुओं की सम्पूर्णता का एक सच्चा और संगतिपूर्ण विवरण प्रस्तुत करने का दावा करता हो। ऐसी तुलना मैं स्वयं नहीं करना चाहता, क्योंकि इसमें बहुत स्थान की आवश्यकता होगी और साथ ही शायद इससे कोई अन्य उद्देश्य तो सिद्ध होगा नहीं, परन्तु इससे दूसरों को बहुत कुछ बुरा अवश्य ही लगेगा, परन्तु किसी भी उचित तुलना के लिए मैं दो शर्तों का आग्रह करूँगा। हमारे स्वभाव की माँगों की पूर्ति के प्रश्न पर पहले हमें उस स्वभाव के सभी पक्षों का स्पष्ट निरूपण कर लेना चाहिए, न कि केवल इनके एकांगी विकृत-रूप का निरूपण या केवल उनका एक मनमाना संग्रह-मात्र। दूसरे,

जिन सिद्धान्तों की हम तुलना करें उनके प्रत्येक पक्ष का निरूपण, उनकी किसी भी विशेपता को दवाये विना किया जाना चाहिए, चाहे वह विशेपता असुविधाजनक ही प्रतीत क्यों न हो, क्योंकि विश्व के विपय में जितने मत हैं, उनमें से प्रत्येक की कुछ अपनी विशेप कठिनाइयाँ हैं---इस वात पर हम सभी सहमत होंगे। उदाहरण के लिए, मान लीजिए कि यह एक ईश्वरवादी या ईसाई दृष्टिकोण वाला लेखक भलाई और वुराई के किसी 'प्रकृतिवादी को' विवरण की भर्त्सना करता है, तो क्या वही लेखक, औचित्य और सत्य के नाम पर इस वात को याद नहीं रखेगा कि उसके अपने मत की भी नैतिकता की दृष्टि से भर्त्सना की गयी है ? क्या वह भूल जायगा कि एक सर्वज्ञ नैतिक स्रष्टा का उसकी निज की वस्तुओं से जो सम्वन्ध है उसने वौद्धिक कष्ट पहुँचाया है, और वह शायद नैतिक दृष्टि से सर्वथा 'सुखद' नहीं है ? मेरी समझ में उसका दृष्टि-कोण दूसरा ही होगा, और उसका यह निर्णय मेरी सम्मति में वही होगा जो कि प्रत्येक ईमानदार आदमी का होना चाहिए---वैसे चाहे वह किसी भी सिद्धान्त को क्यों न मानता हो। किसी सिद्धान्त पर, उसके विकल्प की पूर्ण उपेक्षा करके, एक सामान्य आक्रमण कर देना जितना सरल है उतना और कुछ भी नहीं। इसके साथ ही मैं यह और कहूँगा कि दर्शन के क्षेत्र में इससे कम काम वाली और कोई वात नहीं है। इस विवेचन के साथ अव मैं कुछ कठिन समस्याओं का विशेप निरूपण करूँगा।

टिप्पणी---अन्तर्विरोव तथा विरोवी:---यदि हमसे यह पूछा जाय कि विरोधी अथवा अन्तर्विरोवी किसे कहते हैं ? (यहाँ मैं इन दोनों में भेद करना आवश्यक नहीं समझता), तो जितना ही अविक हम इस पर विचार करते हैं, उत्तर देने में हमें उतनी ही कठिनता अनुभव होती है। कोई वस्तु एक ही वार में और एक ही विपय में दो पर-स्पर-विरोवी वस्तुओं के रूप में नहीं हो सकती और न दो परस्पर-विरोवी काम कर सकती है। यह उत्तर एक वार तो स्पप्ट-सा लगता है, परन्तु विचार करने पर वह एक निरर्थक भँवर-जाल उपस्थित करने की आशंका भी पैदा कर सकता है, क्योंकि ऐसे विशेपणों के अतिरिक्त ऐसी कौन-सी दो विरोवी वस्तुएँ हो सकती हैं जिनको कि वस्तु अपने भीतर एक साथ मिलाकर नहीं रह सकती ? इसलिए हमने इससे अविक कुछ नहीं कहा कि हमें ऐसे विवेयों की भी प्राप्ति होती है जो वस्तुतः एक साथ नहीं रह सकते, और यदि हम उनके 'परस्पर-विरोवी' स्वभाव का और समावेश कर दें, तो भी कोई हम नयी वात नहीं प्रस्तुत करते। "परस्पर विरोवी वस्तुएँ एक में नहीं मिल सकतीं, और उनका प्रकट मेल केवल एक आभास-मात्र होगा।" परन्तु यह आभास-मात्र वस्तुतः शायद उनके मौलिक विरोव में ही निहित है। और यदि किसी एक व्यवस्था ने उन्हें परस्पर-विरोवी वना दिया है, तो संभवतः कोई दूसरी विस्तृततर व्यवस्था

उनके विरोध को मिटा भी सकती है, और उन सब को एक साथ और समन्वयपूर्वक अपने में समाविष्ट भी कर सकती है। संक्षेप में क्या जिनको परस्पर-विरोधी कहा जाता है वे वस्तुतः किंचित भी परस्पर विरोधी हैं, अथवा केवल, अन्ततोगत्वा परस्पर भिन्न-मात्र हैं ? आइए हम उनको इस दूसरे स्वरूप में ग्रहण करें।

"कोई भी वस्तु किसी आन्तरिक भेद के बिना दो भिन्न वस्तुओं के रूप में नहीं हो सकती और न दो भिन्न कार्य कर सकती है, और जो भेद भी होंगे वे तब तक एक ही वस्तु से एक ही मुद्दे से सम्बन्धित नहीं हो सकते, जब तक कि उस मुद्दे में अनेकता न हो। ऐसी एकता का आभास वास्तविक हो सकता है, परन्तु विचार की दृष्टि से वह केवल एक अन्तर्विरोध-मात्र है। यह एक ऐसी प्रतिपत्ति है जो मेरी समझ में विरोधी तत्त्व के विषय में सत्य का समावेश करती हुई प्रतीत होती है। अतः मैं पाठकों के लिए इसी प्रतिपत्ति की सिफारिश करने का प्रयत्न करूँगा। इस प्रतिपत्ति के विषय में पहली बात तो यह है कि इसका अभिप्राय यह नहीं है कि हमारा लक्ष्य पुनरुक्ति प्रलाप है। निश्चित रूप से विचार को केवल एकसापन की आवश्यकता नहीं, क्योंकि उसके लिए इसका कोई अर्थ नहीं, केवल पुनरुक्ति को एक तुच्छ सत्य अथवा क्षीण सत्य भी नहीं कह सकते—यह बात हमें हिगल ने सिखलायी थी और मैं चाहता हूँ उसे हम सब लोग जान लें। इसको किसी प्रकार भी, किसी अर्थ में, अथवा किंचित्-मात्र भी सत्य नहीं कहा जा सकता। विचार में विश्लेषण और संश्लेषण का समावेश होता है, और यदि अन्तर्विरोध का नियम विविधता की मनाही कर दे, तो इससे तो पूरी विचार-क्रिया ही निषिद्ध हो जायगी। इस अत्यावश्यक चेतावनी के पश्चात्, मैं कठिनाई के दूसरे पक्ष की ओर आता हूँ। भेदों के बिना विचार का काम नहीं चल सकता, परन्तु साथ ही विचार उनकी सृष्टि नहीं कर सकता। जिस प्रकार वह उनका सृजन नहीं कर सकता उसी प्रकार वह केवल उन्हें बाहर से और बने-बनाये रूप में भी ग्रहण नहीं कर सकता। विचार एक-न एक आधार तथा तर्क को लेकर चलता है। विचार के लिए यदि क से ख तक जाने में आधार बहिर्भूत रहे तो इसका अभिप्राय यह होगा कि विचार का कोई आधार है ही नहीं। परन्तु यदि क के बहिर्भूत-तथ्य और ख के बहिर्भूत तथ्य के सायुज्य को ही तर्क के रूप में प्रस्तुत किया जाय, तो स्वयं वह सायुज्य ही उसी कठिनाई को उपस्थित करता है, क्योंकि विचार का विश्लेषण किसी का लिहाज नहीं करता, और न कोई ऐसा सिद्धान्त ही है, जिसके द्वारा वह एक निश्चित स्थल पर अपने को रोक सकता हो अथवा वह किसी अन्य के द्वारा रोका जा सकता हो। इसलिए विचार के सम्मुख प्रत्येक भेद-योग्य पक्ष एक ऐसा विविधतापूर्ण तत्त्व बन जाता है जिसमें एकता पैदा करने की आवश्यकता होती है, इसलिए विचार क अथवा ख से उनके सायुज्य

तक तर्क-विहीन होकर उसी प्रकार नहीं जा सकता, जिस प्रकार कि वह आधारहीन होकर क से ख तक नहीं जा सका। यदि केवल एक आँकड़े के रूप में कोई रूपान्तर प्रस्तुत किया जाय, अथवा उसे केवल एक तथ्य के रूप में उत्पन्न किया जाय, तो यह विचार की अपनी स्वयं की गति नहीं होगी। दूसरे शब्दों में, विचार के लिए कोई भी आधार केवल वहिर्भूत नहीं हो सकता, और इसलिए उसका एक स्थान से दूसरी ओर जाना निराधार होगा। इस प्रकार क तथा ख और उन दोनों का सायुज्य अणुओं की भाँति संयोगवश अथवा दैवयोगवश वाहर से ढकेले जाते हैं, और इनके द्वारा विचार भी क्या करे, सिवाय इसके कि वह किसी ऐसी व्यवस्था को उत्पन्न करे या स्वीकार करे जो कि उसके लिए निर्बन्ध और तर्कहीन हो—अथवा, अन्य किसी भी वस्तु के लिए किसी प्रकार का तर्क न रखने के कारण, उनमें केवल तादात्म्य स्थापित करने के लिए तर्क-विरुद्ध प्रयत्न करे ?

मुझ से कहा जायगा कि वात ऐसी नहीं है, और सारा मामला दूसरे ही ढंग का है। कुछ ऐसी पारमार्थिक गुत्थियाँ हैं जो हमें तथ्य के रूप में मिली हुई हैं, और विचार इनकी दी हुई पारमार्थिक गुत्थियों को केवल सिद्धान्तों के रूप में स्वीकार कर लेता है और विश्व के समस्त व्योरे की व्याख्या करने में उनका उपयोग करता है। और इस क्रिया से विचार सन्तुष्ट हो जाता है।

मेरी समझ में ऐसा सिद्धान्त विल्कुल गलत है, क्योंकि यह पारमार्थिक सिद्धान्त (क) विश्व की पहेली को सुवोध नहीं बना सकते, और (ख) वे दिये हुए नहीं हैं, और (ग) वे स्वयं अन्तर्विरोध से मुक्त हैं, और सत्य न होकर केवल आभास-मात्र हैं।

यह ठीक है कि अभ्यास के लिए हमें आभास तथा सापेक्षिक असत्यों से भी काम लेना पड़ेगा, और इनके विना निःसन्देह विज्ञानों का अस्तित्व ही नहीं रह सकता। मेरा अनुमान है, यहाँ पर इस विषय में कोई प्रश्न ही नहीं है, और इस-सत्र का यहाँ कोई प्रयोजन नहीं। प्रश्न तो यहाँ यह है कि इतने से वुद्धि को सन्तोष हो सकता है या नहीं, अथवा उसको अन्त में जाकर कोई दोष तथा अन्तर्विरोध मिलता है या नहीं ? पहले (क) पर विचार कर लीजिए जिसमें तथाकथित 'व्याख्या' की असमर्थता का उल्लेख किया गया है। जिन सिद्धान्तों को यहाँ लिया गया है वे न केवल तर्क की सीमा से वाहर हैं, अपितु सीमित होने के कारण वे ऐसे तथ्यों से भी वाहर रहते हैं, जिनकी व्याख्या करनी है। इसलिए इस सिद्धान्त के अन्तर्गत विविधताएँ आयेंगी ही, अथवा उनको लाना ही पड़ेगा। ये विविधताएँ उस सिद्धान्त से उद्भूत नहीं होतीं, और न वे स्वयं ही उसके अन्तर्गत अपने को ले आती हैं। अतः अन्त में इनकी जो व्याख्या उपस्थित की जाती है, वही वाह्य तत्त्वों को किसी अनिर्वचनीय ढंग से मिला देती है।

इसका स्पष्ट उदाहरण विश्व की यांत्रिक व्याख्या में देखा जा सकता है। इस प्रसंग में यदि सिद्धान्त मूलतः तर्कपूर्ण भी हों (जो कि निःसन्देह वे नहीं होते), तो भी वे जटिल सम्पूर्ण का एक अंश ही व्यक्त कर पाते हैं। इसलिए अवशिष्ट अंश जब और जहाँ सिद्धान्तों के अन्तर्गत लाया भी गया है, तो वह केवल उनके साथ केवल बाहर से जोड़ दिया गया है, और इसका कोई ज्ञात नहीं है। इसलिए इस व्याख्या में अन्ततोगत्वा न तो स्वतः—प्रामाण्य होता है और न कोई 'क्योंकि', वहाँ तो केवल वस्तुओं का नृसंशता-पूर्वक जैसे-तैसे आगमन ही होता है।

मुझ से कहा जा सकता है कि, कुछ भी हो ये जटिलताएँ दी हुई होती हैं और ये परस्पर विरोधी नहीं होती। आइए, इन मुद्दों को हम क्रमानुसार लें। (ख) यह कहा जाता है कि क से ख तक संक्रमण, (ख) और ग का क के विशेषणों के रूप में उनका समवेत होना, दिक् और काल के भीतर स्वेच्छा और क्रमागति का मेल—ये सब वस्तुएँ तथ्य हैं, ये सब ऐसी बुद्धि को उपलब्ध होते हैं, जो उनको स्वीकार करने और काम में लाने में सन्तुष्ट होती है। मेरा उत्तर यह है कि किसी अर्थ में वे सब तथ्य हो सकते हैं, परन्तु यह कहना बिल्कुल गलत है कि वे इसी रूप में स्वतः और ज्यों-के-त्यों दिए हुए होते हैं। जो दिया हुआ होता है, वह एक प्रस्तुत सम्पूर्ण, एक ऐन्द्रिक सर्व है, जिसके भीतर ये सभी विशेषताएँ पायी जाती हैं, और इन विशेषताओं के परे तथा इनके अतिरिक्त सदैव ही कुछ अन्य भी दिया हुआ होता है। निःसन्देह यह कहना व्यर्थ है कि—लेकिन कम-से-कम ये विशेषताएँ तो वहाँ होती ही हैं, क्योंकि निश्चय ही से वहाँ उस समय उसी रूप में नहीं होतीं, जिस रूप में कि वे तब होती हैं जब आप एक पृथक्करण के द्वारा उनको निकालकर अलग कर देते हैं। आपकी मान्यता यह है कि तत्त्वों के कुछ अन्तिम, समुच्चय दिये हुए होते हैं। मेरा उत्तर है कि ऐसा कोई भी कोरा समुच्चय न तो दिया हुआ होता है और न संभवतः दिया ही जा सकता है, क्योंकि पृष्ठभूमि वर्त्तमान होती है, और मेरा कहना यह है कि पृष्ठभूमि और समुच्चय दोनों ही समान रूप से तथ्य-विशेष के अभिन्न पक्ष होते हैं। अतः पृष्ठभूमि को समुच्चय-विशेष के अस्तित्व की आधारभूत उपाधि के रूप में ही होना होगा। और बुद्धि को समुच्चय-विषय की व्याख्या इसी प्रकार एक उपाधि के सन्दर्भ में ही करनी पड़ेगी। इसलिए समुच्चय स्वतन्त्र नहीं, अपितु आश्रित होता है, और वह वस्तुतः एक ऐसा सम्बन्ध होता है, जिसका स्रष्टा कोई ऐसी वस्तु होती है जो उससे बाहर हो। उदाहरण के लिए कोई भी वस्तु अपने विशेषणों-सहित कदापि केवल दी हुई नहीं हो सकती। जब वह दी हुई होती है, तो वह अन्य विशेषताओं की एक संहति के साथ अभिन्न रूप में होती है, और जब उसको सत् रूप में स्वीकार किया जाता है, तो इसी प्रस्तुत पष्ठभूमि से विशिष्ट

सत् के रूप में ही उसकी स्वीकृति होती है। यदि हम इससे आगे जायें, तो यह कह सकते हैं कि वह सत् भी अवश्य ही किसी ऐसी वस्तु से विशिष्ट होगा जो किसी भी एक प्रत्यक्ष अथवा उपस्थापन से परे होगी। इसलिए जिस प्रदत्तमात्र को बुद्धि के लिए दिया हुआ कहा जाता है, वह वास्तव में एक छाँटी हुई वस्तु होती है, जिसको वह बुद्धि स्वयं छाँटती है अथवा स्वीकार करती है। पृथक्करण क्रिया पार्श्ववर्ती ब्योरों की एक बहुति को काट-छाँट कर अलग कर देती है, और एक ऐसे अवशेष को छोड़कर प्रस्तुत कर देती है जिसको किसी दी हुई वस्तु के रूप में तथा सहायक उपाधियों से स्वतन्त्र स्वीकार किया जा सकता है। काम चलाने के लिए इस प्रकार की कोई भी तरकीब स्वाभाविक और आवश्यक है, परन्तु इसको एक अन्तिम तथ्य के रूप में उपस्थित करना मुझे भयंकर लगता है। हमारे सामने एक ऐसी बौद्धिक उपपत्ति है जिसका औचित्य, यदि सचमुच सम्भव हो, तो तर्क से सिद्ध करना है, और यह बिल्कुल निश्चय है कि हमारे पास ऐसा करने के लिए कोई वास्तविक आधार-सामग्री नहीं है। यहाँ पर हम एक महत्त्वपूर्ण परिणाम मानते रह सकते हैं। बुद्धि को तर्कहीन समुच्चय की स्वीकृति अथवा किसी दी हुई वस्तु की तिरस्कृति में से किसी एक को चुनने बाध्य ही नहीं बनाया जा सकता, क्योंकि बुद्धि सदा ही समुच्चय को स्वतन्त्र रूप में नहीं, अपितु एक ऐसे सम्मिलित रूप में स्वीकार कर सकती है जिसका बंधन अभी अज्ञात है। इसलिए उसको अपने निज रूप में एक आभास के रूप में ग्रहण किया जाता है, जिसकी अपूर्णता की न्यूनता अथवा अधिकता उन अज्ञात उपाधियों के अनुपात में होती है, जो न्यून या अधिक रूप में उपस्थित होकर उसको प्रभावित तथा रूपान्तरित कर देती हैं। इसलिए बुद्धि जहाँ अपने से बाह्य प्रत्येक वस्तु को परम सत् मानने से इन्कार कर देती है, तथापि पूर्ण अवस्था में वह उस अर्थपरिपूर्ण वस्तु को भी स्वीकार कर लेती है। परम सत्य के अतिरिक्त, आंशिक सत्य, उपयोगी सम्मति तथा औचित्य भी कोई वस्तु होती है, और इसी दूसरी दुनिया में व्यावहारिक तर्कातीत तथ्य भी सम्बन्ध रखते हैं।

(ग) आगे मैं यह कहूँगा कि कोई भी समुच्चयमात्र के विचार के लिए परस्पर-विरोधी होगा। अतएव मैं यह अनुमान कर सकता हूँ कि विचार के अन्तर्गत विश्लेषण, संश्लेषण तथा एकता में भिन्नता आती है। इसके अतिरिक्त समुच्चयमात्र पर जब विचार किया जायगा तो उसको किसी एक पवित्र वस्तु की भाँति बिल्कुल दूर से रूप नहीं दिया जायगा, अपितु उसको स्वयं अपनी तरह से और निश्चित रूप से विचार का विषय बनना पड़ेगा। ऐसा करने में हम समुच्चय के एक तत्त्व से दूसरे तत्त्व अथवा तत्त्वों तक जाना पड़ेगा। और दूसरी ओर, विचार को अपने स्वभाव के अनुसार इन सभी तत्त्वों को इकाई में रखना पड़ेगा। परन्तु यदि एक स्वतन्त्र समुच्चय की कल्पना

मान ली जाय, तो विचार को वाहर-वाहर क तत्त्व से ख तत्त्व तक दौड़ना पड़ेगा और इन दोनों में एकता स्थापित करने के लिए उसको एकता का कोई आधार नहीं मिलेगा। स्वयं विचार ऐसे किसी भी आन्तरिक वन्धन को नहीं उपस्थित कर सकता, जिससे कि उनको संयुक्त रखा जा सके, और न उसमें कोई ऐसी आन्तरिक विविधता ही है, जिसके द्वारा वह उनको अलग-अलग रख सके। इसलिए उनके भिन्न होने पर भी, यह या तो केवल उनमें तादात्म्य स्थायपित करने का प्रयत्न कर सकता है, अथवा किसी-न-किसी ढंग से दोनों विविधताओं को ऐसे स्थान पर मिलाने का प्रयत्न कर सकता है जहाँ कि भेद तथा अभेद का कोई अवसर ही न हो। इसका अभिप्राय यह नहीं कि वह सम्वन्ध केवल अज्ञात है और उसको अज्ञात रूप में स्वीकार किया जा सकता है, और साथ ही, उसको ज्ञात मान कर तर्क-संगत भी माना जा सकता है, क्योंकि यदि ऐसा हो, तो वह समुच्चय एकदम स्वतन्त्र नहीं हो सकता, परन्तु वह वस्तुतः इतना स्वतन्त्र है कि वह प्रस्तुत किया जाता है और वह भी सोपाधिक रूप में नहीं। परन्तु दूसरी ओर यदि वह स्वतन्त्र रहता है, तो विचार को उसे स्वीकार करने के लिए विना किसी आन्तरिक भेद-भाव के सभी अनेकताओं को एक में मिलाना पड़ेगा, और ऐसा करने के प्रयत्न का ही नाम अन्तर्विरोध है।

लेकिन मुझ से लोग कहेंगे कि आप बात को ग़लत तरीके से रख रहे हैं। जो प्रस्तुत किया गया है उसमें अलग-अलग तत्त्वों की वात नहीं और न वाह्य बन्धन तथा तत्त्वों की ही बात है, अपितु तत्त्वों के साहचर्य तथा सायुज्य में रहने की वात है। मेरा उत्तर है कि, हाँ, यह तो ठीक है, परन्तु प्रश्न यह है कि विचार यह कैसे जाने कि क्या प्रस्तुत किया गया है। यदि विचार के अपने निजी स्वरूप में कोई 'साहचर्य', कोई 'मध्यस्थिति', और कोई 'सर्वेकत्रता' होती, तो अपनी निजी स्वाभाविक गति में, या कम-से-कम अपने निजी रंग-ढंग में, वह वाह्य सायुज्य की संपुष्टि अवश्य करता। परन्तु यदि एकता के ये बोधगम्य सूत्र विचार भी आंतरिक प्रकृति के वाहर उसी प्रकार होते हैं जिस प्रकार उनके द्वारा वाहरी रूप में संयोजित व्यंजक होते हैं, तो निःसन्देह बात दूसरी है। उस अवस्था में, विचार को विभाजन के लिए विवश होना पड़ता है और वह स्वतः या सकारण सायुज्य स्थापित नहीं कर पाता है, परन्तु फिर भी उसको ऐसे तत्त्वों का सामना करना पड़ता है, जो मिलन का कोई मार्ग न होने पर भी परस्पर मिलने के लिए प्रयत्नशील रहते हैं। विस्तार के लिए, यह बुद्धिगम्य संयोजन संहतियों में स्थित अन्य तत्त्व-मात्र ही होते हैं, जो कि स्वयं सम्बन्ध स्थापित करने में असफल रहते हैं तथा उनकी स्थिति अन्यों से अलग तथा बाहर रहती है। दूसरी ओर आन्तरिक भेद-भाव के विना ही संयुक्त होने के लिए विवश होता हुआ, विचार इस प्रयत्न में एक अन्तर्विरोध को

रूप में, आन्तरिक विविधता अथवा बाह्य अनुपूरक के सर्वथा अयोग्य होता है। परन्तु ऐसी कोई भी व्यवस्था संभवतः उपयोगी हो सकती है परन्तु वह एक पृथक्कृति है और अन्त में जा कर आभास हो जाता है। इस प्रकार, जहाँ हमें अन्तर्विरोध मिलता है, वहाँ कुछ सीमित तथा असत्य होता है, जिससे पर जाने के लिए हमें प्रेरित किया जाता है।

स्थायी अन्तर्विरोध वहाँ प्रतीत होते हैं जहाँ विषय को कृत्रिम रूप से संकीर्ण कर दिया जाता है, और जहाँ तादात्म्य के अन्तर्गत विविधता को निर्वासित मान लिया जाता है। कोई भी वस्तु एक समय में दो स्थानों पर नहीं हो सकती, वशर्ते कि इस 'एक समय' के भीतर कोई व्यवधान न हो, और न एक ही स्थान में एक ही समय दो पिंड रह सकते हैं, वशर्ते कि दोनों ही स्वभावगत विस्तार का दावा करते हों। आत्मा, एक ही समय में स्वीकृति और अस्वीकृति दोनों को साथ-साथ नहीं कर सकती, जब तक कि (जैसा कि कुछ लोग ठीक नहीं मानते हैं) स्व को स्वयं विभाजित न किया जा सके। सामान्यतः हम विषय को जितना अधिक संकीर्ण बनायेंगे, और उसकी विविधता के लिए जितना ही कम आन्तरिक आधार होगा, उतना ही अधिक, वह हमारे लिए स्थायी अथवा अपरिहार्य अन्तर्विरोधों की आशंका उपस्थित करेगा। परन्तु हम इतना और कह दें कि किसी विषय में उतनी ही अधिक पृथक्करणीयता होगी और उतना ही कम सत्य का अस्तित्व इसमें होगा। इसके उदाहरण के लिए, हम एक ही वस्तु में स्थित, श्वेत, कठिन तथा उष्ण जैसे 'परस्पर-भिन्न'—गुणों को ले सकते हैं। "है वस्तु" एक अनिश्चित प्रपंच में स्थित एक विशेषता के रूप में उपस्थित की जाती है, और उसको प्रस्तुत के परे किसी सत् के विधेय के रूप में स्वीकार किया जाता है। अतः वह अपने प्रतीयमान स्वभाव में सब प्रकार से अनिश्चित वृद्धि करने के लिए समर्थ हो जाता है। और यह अस्वीकार करना पूर्णतया तर्कहीन प्रतीत होता है कि 'वास्तविक वस्तु' के भीतर कोई आन्तरिक विविधता तथा भेद-भूमि हो सकती है। परन्तु जब तक सुविधा अथवा अविचारशीलता के कारण यह बात अस्वीकार की जाती है और उस वस्तु सम्बन्धी हमारी जो सूक्ष्म और खंडित कल्पना है, उसको ही वास्तविक वस्तु कहा जाता है, तब तक परस्पर-विरुद्ध गुणों में तर्क-संगत संघर्ष रहेगा और वे परस्पर विरुद्ध बने रहेंगे।

अन्तर्विरोध का नियम हमें यह बतलाता है कि हमें केवल विविध में तादात्म्य ही स्थापित नहीं करना चाहिए, क्योंकि उनके मिलन में एक भेद-भूमि होती है। जिस हद तक उक्त नियम के अनुसार हम विविधताओं को विधेय रूप में नहीं रख सकते। जहाँ यह आधार-भूमि केवल अस्पष्ट या अज्ञात रहती है, वहाँ किसी प्रकार का मिश्रण या संयोजन अस्थायी तथा आकस्मिक होता है। वह प्रामाणिक तथा अच्छा हो सकता

है, परन्तु वह सत् का एक अधूरा आभास होता है, और उसका सत्य सापेक्षिक होता है। परन्तु फिर भी, जब कि वह स्वयं को केवल एक आकस्मिक सत्य तथा अधूरे आभास के रूप में उपस्थित करता है, अन्तर्विरोध के नियम को इसके विरुद्ध कुछ भी नहीं कहना होता। परन्तु सत् तथा सत्य के रूप में ग्रहण किये जाने वाले पृथक्कृत तथा तर्कहीन संयोजन, जिनको बहुत-से दार्शनिक तथ्य के रूप में ग्रहण करते हैं, इस नियम को अमान्य हैं। इस नियम की सत्यता के विषय में, (जहाँ तक यह लागू हो सकता है) मेरी सम्मति में कोई शंका नहीं की जा सकती। प्रश्न तो यह होगा कि यह नियम कहाँ तक लागू होता है और कहाँ तक यह सत्य है? परन्तु समाप्त करने से पहले, एक विषय है, जिस पर विचार करना अच्छा होगा। अन्तर्विरोध से बचने और विविधता को स्वीकार करने का प्रयत्न, मान लो कि पूरा भी हो जाय, तो भी अन्त में बुद्धि को इससे क्या सन्तोष मिलेगा? मैं यह अनुमान करने का साहस करता हूँ कि इस प्रश्न की अधिकांशतः उपेक्षा की जाती है। अधिकांशतः लेखक किसी मत की आलोचना और भर्त्सना यह कह कर कर देते हैं कि मस्तिष्क इसको स्वीकार नहीं कर सकता, जबकि सम्भवतः उसने अपने से यह कभी प्रश्न नहीं किया होगा कि बुद्धि को सन्तुष्ट करनेवाली कौन-सी वस्तु हो सकती है अथवा उसका अपना अभिप्रेत विकल्प बुद्धि को ग्राह्य होगा या नहीं? इसलिए प्रश्न यह है कि अन्ततोगत्वा बुद्धि को क्या ग्राह्य हो सकता है?

जब विविधताएँ एक-दूसरे से और अपने संघात से बाहर हों तो अंतिम सन्तुष्टि सम्भव है। जैसा कि हम देख चुके हैं, एक तादात्म्य तथा उस तादात्म्य के भीतर एक भेद तथा सम्बन्ध का आधार होना आवश्यक है। परन्तु यदि यह आधार उन तत्वों से बाहर हो जिनमें सम्मिश्रण या संयोजन का विश्लेषण किया जाता हो, तो बुद्धि के लिए वह एक नया तत्त्व बन जाता है, और उसे एक नये ऐक्य-सूत्र में संश्लिष्ट होना आवश्यक हो जाता है। परन्तु, बुद्धि के भीतर कोई भी स्वाभाविक सम्बन्ध न होने के कारण, यहाँ पर एक अनन्त प्रक्रिया प्रारम्भ हो जाती है। क्या इस दोष का कोई निराकरण है?

इसका उपाय यह है। यदि विविधताएँ सम्बन्ध और भेद की किसी प्रक्रिया के पूरक-पक्ष के रूप में हों, तो स्थिति बिल्कुल बदल जायेगी, क्योंकि यह प्रक्रिया तत्त्वों से बहिर्गत तथा बुद्धि की अपनी निजी वस्तु होगी। प्रत्येक पक्ष स्वयं दूसरे पक्ष के लिए एक संक्रमण हो जायेगा, एक ऐसा संक्रमण जो अपने लिए तथा बुद्धि के लिए एक साथ ही स्वतः सिद्ध तथा स्वाभाविक होगा। यह सर्वात्मक इकाई स्वयं बुद्धि के द्वारा स्वयं बुद्धि का ही संश्लेषण तथा विश्लेषण बन जायगी। यहाँ पर संश्लेषण केवल

संश्लेपण न रह कर आत्मानुपूरण वन जायगा। और विश्लेषण केवल विश्लेषण न रह कर आत्मविवृत्ति वन जायेगा। यहाँ पर यह प्रश्न निरर्थक हो जाता है कि अनेक एक और एक-अनेक कैसे हो जाता है ? स्वतः स्पष्ट प्रक्रिया के अतिरिक्त किसी भी 'क्यों' या 'कैसे' का अस्तित्व नहीं है, और अपने भेदों के सन्दर्भ में यह सर्वात्मक इकाई ही एक साथ ही उन भेदों का 'कैसे' और 'क्यों', उनकी सत्ता, तत्त्व और तन्त्र, उनका कारण और आधार, तथा विविधता और एकता का सिद्धान्त वन जाती है।

इस विपय में क्या कोई ऐसी वात है कि अन्तर्विरोध-नियम जिसकी भर्त्सना करे ? मुझे लगता है कि ऐसी कोई वात नहीं। ऐसा तादात्म्य कोई साधारण वस्तु नहीं, जिसके विधेय-स्वरूप विविधताएँ प्रस्तुत की जा सकें। ऐसा कोई सूत्र नहीं, जो अपने पूरक का स्वयं आन्तरिक दृष्टि से संक्रमण न होता हो, और ऐसी कोई एकता नहीं जो आन्तरिक विविधता तथा भेद-भूमि न रखती हो। संक्षेप में "परस्पर विरोधियों का तादात्म्य" का अन्तर्विरोध नियम से टकराना तो दूर रहा, अपितु वह तो यह दावा कर सकता है कि वही एक ऐसा मत है जो अन्तर्विरोध-नियम की माँगों को पूरा करता है, और यही एक मात्र सिद्धान्त है जो सर्वत्र स्थायी अन्तर्विरोध को स्वीकार करने से इनकार करता है। हम जिस निष्कर्ष पर पहुँचे, वह यदि अन्ततोगत्वा एक ऐसा स्वतः स्पष्ट तथा स्वतः पूर्ण सर्व हो जिसके अन्तर्गत समस्त विश्व व्यौरेवार अंगभूत प्रक्रियाओं के रूपों में विद्यमान हो, तो जहाँ तक मैं समझता हूँ, बुद्धि उससे पूर्णतया सन्तुष्ट हो जायेगी। अब रही वात मेरी। सो, मैं तो इस प्रकार के समाधान को कसौटी पर कसने से असमर्थ हूँ, इसलिए अन्ततोगत्वा सम्वन्ध अंशतः तो केवल-मात्र संश्लिष्ट इकाइयों के रूप में ही रह जायेंगी, जिसमें वे सभी भेद एकत्र हो जायेंगे जो एक-दूसरे से तो वाहर होते ही हैं, परन्तु साथ ही जो उनको परस्पर एक सूत्र में बाँधने वाले सम्वन्धों के भी बाहर होते हैं। इसलिए मेरे बौद्धिक जगत् की तुलना में, अन्तर्विरोध-नियमकी कुछ ऐसी माँगें हैं, जिनकी पूर्ति कहीं भी नहीं हुई। दूसरी ओर, चूँकि बुद्धि का यह आग्रह है कि ये माँगें हैं ही और उनकी पूर्ति भी होती है, इसलिए मुझे यह मानने के लिए विवश होना पड़ता है कि उनकी पूर्ति एक ऐसी सर्वात्मक इकाई के द्वारा अपने भीतर ही की जाती है, जो स्वयं वुद्धि से परे होती है। और मुझे तो यह भी लगता है कि स्वयं बुद्धि के भीतर एक आंतरिक कमी, एक दोष तथा एक माँग है कि वह स्वयं अपने से ऊपर उठकर, अपने से परे हो जाय। और इस निष्कर्ष के विरुद्ध मैंने अभी तक कोई भी ऐसा आक्षेप नहीं देखा जो ठहर सके।

यह मत जो कि मुझे सत्य प्रतीत होता है, संक्षेप में यहाँ दिया जाता है। यह

बात पूर्णतया सम्भव है कि आंशिक रूप में भी सूक्ष्म तादात्म्य बुद्धि को सन्तुष्ट कर सके। दूसरी ओर, मैं यह नहीं कह सकता कि मेरे लिए, एकता में, विविधता-सम्बन्धी कोई भी एक अथवा अनेक सिद्धान्त स्वतः स्पष्ट हो सकते हैं। एक ऐसी इयत्ता (मैं उसको गुण नहीं कहूँगा) का अस्तित्व मेरी समझ में स्वयं मूलतः असम्भव नहीं, जिसके अन्तर्गत साधारण अनुभूति और सत्ता एक-सूत्र में बँधी हुई हों। यदि मैं एकता की दृष्टि से बोलूँ तो मुझे पूरा विश्वास है कि उसको अपनी ही बुद्धि उसका निर्माण कर लेगी या स्वयं उसकी माँग कर देगी। परन्तु विविधता एक तथ्य-रूप में उपस्थित होने के कारण , ऐसी कोई भी कल्पना अवैध प्रतीत होती है। एक दिये हुए तथ्य के रूप में, हम भावना के अन्तर्गत विविधता और एकता को एक ही 'सर्व' में पाते हैं, और वह सर्व भी ऐसा जो स्वयं अन्तर्निहित होता है और जिसमें व्यंजकों तथा सम्बन्धों का प्रस्फुटन भी नहीं हुआ होता। एक और अनेक की एक यह अव्यवहित एकता एक 'अंतिम-तथ्य' है जिससे हम प्रारम्भ करते हैं, और यह मानना कि अव्यवहित होने के कारण, भावना प्रपंचहीन तथा विविधता रहित होगी, मेरी समझ में, एक ऐसा सिद्धान्त है जो बिल्कुल नहीं चल सकता। यह सचमुच बड़े आश्चर्य की बात है कि मुझे भी इस सिद्धान्त को मानने वाला समझ लिया गया है। परन्तु बात यह है कि भावना यदि एक अन्तिम तथ्य भी हो, तो भी अन्ततोगत्वा वह सत्य अथवा वास्तविक नहीं है, क्योंकि वह स्वयं आत्मातीत तथा क्षणिक है। और जब हम उसकी एकसूत्रता पर विचार करने का प्रयत्न करते हैं, तो, जैसा कि हम पहले देख चुके हैं, हमें असफल होना पड़ता है, क्योंकि स्वभावतः विचार के अन्तर्गत कोई 'सायुज्य' नहीं होता और उसको व्यंजकों तथा सम्बन्धों द्वारा आगे बढ़ने के लिए विवश होना पड़ता है, तथा इनकी एकता अन्ततोगत्वा बाह्य होती है, एवं, बाह्य होने के कारण असंगतिपूर्ण होती है। परन्तु यह निष्कर्ष, मेरी समझ में न तो कोरे तादात्म्य को स्वीकार करने का और न चिन्तन प्रारम्भ होने की पूर्वावस्था में जाने का ही व्यर्थ प्रयत्न है। मैं तो यही कहूँगा कि आत्मास्तित्व तथा आत्मा-तादात्म्य विचार से परे एक सर्वात्मक इकाई में बँधे हुए पाये जाते हैं। जिसकी ओर विचार संकेत कर सकता है और जिसके भीतर विचार का समावेश भी होता है, परन्तु जो केवल सूक्ष्म स्वरूप में ही जाना जाता है और जिसकी ब्यौरेवार जाँच नहीं की जा सकती।

मुझ पर दोषारोपण किया गया है कि मैंने ऐसी मान्यताओं को आधार बनाया है जिनको मैं स्वयं स्वीकार करने में असमर्थ हूँ, इसलिए मैं यहाँ पर उन मान्यताओं को दोहरा देना चाहता हूँ। जिनको मान कर मैं चला हूँ। पहले तो मैंने यह माना है कि सत्य को बुद्धि-संगत होना पड़ता है, और जो ऐसा नहीं होता वह न तो सत्य

है न सत् । मैं इस मान्यता का बचाव यही दिखलाकर कर सकता हूँ, कि किसी भावी आक्षेप-कर्त्ता को भी इसे मानना पड़ेगा । सर्वप्रथम मैं सत्ता अथवा अनुभव की मूल कल्पना से प्रारम्भ करता हूँ, जो युगप्रद विध्यात्मक और निषेधात्मक है । इसके पश्चात् मैं सत्ता के विषय में स्वाश्रय, सरलता अथवा अन्य किसी बात की कल्पना करना आवश्यक नहीं समझता, अपितु मैं एक-दूसरे ढंग से अग्रसर होता हूँ । मैं कुछ ऐसे तथ्यों या सत्यों (आप जो चाहें सो कह लें) को लेता हूँ, जो मेरे सामने प्रस्तुत हो जाते हैं, और मुझको इसकी चिन्ता नहीं रहती कि जो मैं ले रहा हूँ वह क्या है । मेरी बुद्धि इन प्रस्तुत हुए तथ्यों या सत्यों का तिरस्कार कर देती है और फिर मैं इस बात का पता लगाने लगता हूँ कि उसने इनका तिरस्कार क्यों किया ? तिरस्कार इसलिए होता है कि वे अपना खंडन स्वयं करते हैं, अर्थात् वे एक प्रपंच को प्रस्तुत करते हैं जिसमें विविधताएँ ऐसे ढंग से संयोजित होती हैं कि मेरी बुद्धि उनको स्वीकार नही करती, क्योंकि वह एक ऐसा ढंग होता है, कि वह न अपना समझ पाती है, और न उसे अपना करके दोहरा ही सकती है । यह एक ऐसा ढंग होता है, जिसका परिणाम मुठभेड़-मात्र होता है । सन्तुष्ट होने के लिए यह आवश्यक है कि मेरी बुद्धि उसको समझे, और समझने का अर्थ यह कदापि नहीं हो सकता कि किसी ढेर में से केवल समान रूप वस्तुओं को ले लिया जाय और असमान व भिन्न को छोड़ दिया जाय । यदि मैं एक पुराने अलंकार का प्रयोग करूँ तो यह कह सकता हूँ कि कुछ उद्देश्यों की पूर्ति के लिए, मेरी बुद्धि चाहे बिना चबाये हुए रहस्यों को निगल जाय, परन्तु इस बिना चबायी हुयी सामग्री को, अन्ततोगत्वा, पेट में रख सकना और हजम कर लेना उसके लिए असम्भव है । हिगल के कुछ विरोधियों की मान्यता के विपरीत, मेरी बुद्धि में ऐन्द्रिक सहज-प्रवृत्ति की ऐसी कोई अद्भुत-शक्ति नहीं है । इसके विपरीत मेरी बुद्धि विवेचनात्मक, और किसी बात को समझने के लिए, उसे कुछ मुद्दे से दूसरे मुद्दे तक जाना पड़ता है और अन्त में ऐसी गति से जाना पड़ता है जिसको कि वह अपनी प्रकृति के अनुकूल समझती है । इस प्रकार क ख के प्रपंच को समझने के लिए, मुझे क या ख से प्रारम्भ करना पड़ेगा । और मान लीजिए मैंने क से प्रारम्भ किया, और मुझे केवल ख मिला, तो मेरे लिए या तो क जाता रहा अथवा मुझे क के अतिरिक्त कोई दूसरी वस्तु मिली, और इन दोनों ही अवस्थाओं में मैं वस्तुतः ठीक नहीं समझ पाये । क्योंकि मेरी बुद्धि किसी विविधता को केवल एक सूत्र में नहीं बाँध सकती, और न उसमें ही एकसूत्रता का कोई रूप या ढंग है, और इसमें आपको कुछ नहीं मिलता कि आप के और ख के अतिरिक्त मेरे सामने उन दोनों का संयुक्त रूप रख दें । मेरी बुद्धि के लिए वह संयुक्त रूप भी एक अन्य

बाह्य तत्त्व के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। मेरी बुद्धि के लिए तथ्य तब तक सत्य नहीं हो सकते, जब तक वे उसे सन्तुष्ट नहीं करें। इसलिए, सत्य रूप में प्रस्तुत किये जाने वाले ये तथ्य सत्य न होने से सत् नहीं कहे जा सकते।

इससे मैं यह निष्कर्ष निकालता हूँ कि जो सत् है, वह स्वसीमित, तथा स्वाश्रित होना चाहिए और उसके लिए किसी बाह्य उपाधि की आवश्यकता नहीं होनी चाहिए, क्योंकि कोई बाहरी उपाधि केवल एक सायुज्य या संयोजन-मात्र होती है। और हम देख चुके हैं कि बुद्धि के लिए वह एक ऐसा प्रयत्न है जिसके द्वारा विविधताएँ परस्पर तादात्म्य स्थापित करने का प्रयत्न करती हैं, इस प्रकार के प्रयत्न को मैं आत्मविरोध या अन्तर्विरोध कहता हूँ। अतः जो वस्तु सत् है उसकी उपाधि उसके भीतर होनी चाहिए, और इसका अभिप्राय यह है कि, जहाँ तक उसको सत् कहा जाय, वहाँ तक वह स्व-सीमित तथा स्वाश्रित होना चाहिए, और चूँकि इन विविधताओं का अस्तित्व है, इसलिए वे किसी न किसी प्रकार से अवश्य ही सत्य और सत् होंगी, और चूँकि समझ में आने के लिए और सत्य तथा सत् होने के लिए, उनको एक सूत्र में बँधना चाहिए, अतः उनको इस ढंग से सत्य और सत् होना चाहिए कि बुद्धि क अथवा ख से उनकी अगली उपाधि तक, उन दोनों में से किसी का भी बाह्य रूप से निर्णय किये बिना ही, पहुँच सके। परन्तु इसका यह मतलब है कि क और ख में प्रत्येक स्वतः ही एक ऐसी सर्वात्मक इकाई में संयुक्त है जो दोनों की समान रूप से प्रकृति है। अतः इसका यह निष्कर्ष निकलता है कि अन्ततोगत्वा इस प्रकार की एक सर्वात्मक इकाई के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है।[1]

दूसरी ओर से प्रश्न यह है कि—मैं सत् को एक स्व-सीमित तथा स्वाश्रित अभिव्यक्ति क्यों मानता हूँ? इसलिए, क्योंकि यदि मैं किसी अन्य बाह्य निर्णायक या उपाधि को स्वीकार करूँ के, तो मेरे हाथ में एक संयोजन-मात्र रह जाता है। और

---

१. और इससे यह भी निष्कर्ष निकलता है कि इस सर्वात्मक इकाई का प्रत्येक 'भाग' भीतर से दोषपूर्ण और (विचारे जाने पर) स्वयं-विरुद्ध होगा। क्योंकि, अन्यथा, एक से अन्यों तक और अवशिष्टों तक कोई भीतरी आना-जाना कैसे हो सकता है? और इस प्रकार के किसी आने-जाने के बिना और केवल किसी बाहरी संयोग के कोई भी ही ऐसा तंत्र सर्वात्मक इकाई हो कैसे सकती है, जो बुद्धि-संगत भी हो और सत् अथवा संभव भी समझी जा सके। कम-से-कम इस प्रश्न का निषेधात्मक उत्तर देने के लिए मैंने अपना कारण दे दिया। दूसरी दृष्टियों को भूलते हुए मैं दुनिया के विषय में तो यह भी कह सकता हूँ कि,—"अतः प्रतिभाग दुःखमय है, पर पूर्ण स्वर्ग सुखमय है।"

Thus every part is full of vice, the whole mass is paradise.

वुद्धि के लिए वह एक आत्म-विरोध या अन्तर्विरोध-मात्र होता है। दूसरी ओर सत् को सरल नहीं कहा जा सकता, क्योंकि समझी जाने के लिए, उसको किसी-न-किसी प्रकार से तथ्य-रूपिणी विविधता से युक्त तथा उपहित माना जाना चाहिए। अतः एक विविधता को एक स्वनिर्णीतपूर्ण के व्यष्टितंत्र के आश्रित तथा अन्तर्गत होना चाहिए, और इसके अतिरिक्त अन्य किसी निर्णय की संगति सत् के साथ नहीं वैठ सकती। ये विचार गलत हो सकते हैं, परन्तु मेरे विचार में वे गूढ़ नहीं प्रतीत होते, और न वे नये ही हैं। परन्तु जिस प्रकार कुछ आलोचकों ने उनको समझा है, उससे तो ऐसा मालूम पड़ता है कि उनमें कोई वहुत वड़ी गूढ़ता या क्लिष्टता है। परन्तु इस वात की कोई आशंका न होने के कारण मैं दुर्भाग्यवश उसका विवेचन करने में असमर्थ हूँ।[1]

हमने देखा कि कोई वस्तु स्वयं-विरोधी नहीं होती और न एक सूत्र में वँधने से इनकार करती है। साथ ही यदि उसको ऐसे विन्दु पर एकत्र कर दिया जाय, जो किसी भी विविधता को स्वीकार नहीं करता, तो प्रत्येक वस्तु विरोधी हो जाती है। इसलिए विचार के प्रसंग में प्रत्येक संयोजन अन्तर्विरोधी होता है, क्योंकि विचार स्वभावतः संयोजन के अयोग्य होता है और उसमें केवल-मात्र 'एकसूत्रता' का कोई ढंग नहीं होता। दूसरी ओर ऐसा कोई भी संयोजन प्रस्तुत-मात्र है, जो संभवतः उपयोगी होने के कारण न्याय-संगत तथा प्रमाणिक हो सकता है, परन्तु दूसरी दृष्टि से वह त्रुटि की प्रथम भूल के रूप में भर्त्सना के योग्य है।

अन्तर्विरोध एक आभास है, जो सर्वत्र भेद-भाव तथा परिपूरण के द्वारा दूर किया जा सकता है, और, यदि केवल वुद्धि में और वुद्धि के द्वारा नहीं, तो एक ऐसी सर्वात्मक इकाई के द्वारा अवश्य ही वस्तुतः दूर किया जाता है जो उस आभास के

---

१. इस प्रसंग में मुझे यह कहने की आज्ञा मिल सकती है कि तादात्मय-नियम इस सत्य का खंडन करता है कि सत्य यदि सच हो तो उसमें वाहर से परिवर्तन नहीं लाया जा सकता, क्योंकि यदि ऐसा हो, तो या तो वह अपने ही अभाव से संयुक्त हो जायगा, अथवा किसी विध्यात्मक अन्य के साथ संयुक्त हो जायगा, और यदि हम उनको विकल्प के रूप में लें तो यह कर सकते हैं कि इन दोनों में से प्रत्येक विकल्प स्वतः-विरुद्ध होगा। अतः किसी भी सत्य को कोई सन्दर्भ-मात्र तव तक नहीं वदल सकता जव तक कि वह सत्य है। हमको कहना पड़ेगा कि वह केवल किंचित्-मात्र जोड़ देता है, जिससे सत्य स्वयम् अप्रभावित रह जाता है। दूसरे शब्दों में सत्य को केवल भीतर से ही वदला जा सकता है। इससे एक नयी समस्या पैदा होती है, क्योंकि एक और सत्य सत्य के रूप में सूक्ष्म तथा अपूर्ण प्रतीत होता है, और दूसरी ओर, यदि वह सत्य है तो वह स्वसीमित और स्वाश्रित सिद्ध होता है। तादात्मय-नियम के लिए पाठक और आगे अनुक्रमणिका को देखें।

परे पहुँचती है। दूसरी ओर अन्तर्विरोध, अथवा अन्तर्विरोध की क्षमता रखने वाले तत्त्व सर्वत्र ही, यथासम्भव आवश्यक होते हैं। ऐसे तथ्य और मत जो आंशिक और एकांगी, तथा अपूर्ण और समन्वयहीन हों--ऐसी वस्तुएँ जो अपने को एक ऐसे सत् की विशेषताओं के रूप में प्रस्तुत करती हैं, जिसको वे स्वयं व्यक्त नहीं कर पातीं और जो उनके भीतर वर्तमान होकर उनको अपने से ही संघर्ष करके अपने से परे पहुँचने के लिए प्रेरित करती हैं--संक्षेप में इन्हीं को आभास कह सकते हैं और ये ही आभास वह सामग्री है जिससे विश्व-प्रपंच का प्रादुर्भाव हुआ है। यदि हम 'उनको' उनके यथोचित स्वरूप में, ग्रहण करें, तो न तो हम उनको अतिमानित करने के लिए ही उतारू होंगे और न अवमानित ही करने को।

अब हमने असंगतों अथवा परस्पर-विरोधियों के स्वभाव को देख लिया। कोई भी जन्मजात परस्पर-विरोधी नहीं होते, और हमने देखा कि हमें ऐसा कोई भी विचार मानने की आवश्यकता नहीं। वस्तुएँ तभी विरोधी होती हैं, जब विविध होने के कारण, वे एक ऐसे बिन्दु पर एकीभूत होने के लिए प्रयत्नशील होती हैं, जिस पर कोई आन्तरिक विविधता संभव नहीं। और बुद्धि के लिए कोई भी शुद्ध संयोजन इसी प्रकार का एक प्रयत्न होता है। बुद्धि, स्वभावतः एकसूत्रता के किसी सिद्धान्त को स्वीकार नहीं कर सकती; और न किसी ऐसी वस्तु को ही स्वीकार कर सकती है जो उसके बाहर की हो। अतः तत्त्वों की कोई बाह्य एकसूत्रता बुद्धि के लिए केवल एक प्रस्तुत किया हुआ एक अन्य बाह्य तत्त्व ही हो जाता है। चूँकि बुद्धि एकता की माँग करती है, अतः किसी भी एकसूत्रता के अभिन्न पक्ष को एकरूप होना आवश्यक है। यदि अभिन्न पक्ष को एकरूप होना आवश्यक है, यदि इस एकता में बुद्धि के स्वाभावानुकूल विविधता को कोई आन्तरिक सम्बन्ध नहीं प्राप्त होता, तो हमारे पास केवल एक ऐसी विविधता ही शेष रह जाती है, जो एक अभेद-योग्य बिन्दु से सायुज्य-सम्बन्ध रखती हो। यह एक अन्तर्विरोध है, और हमने अन्ततोगत्वा देखा कि अन्तर्विरोध यही है और इसके अतिरिक्त कुछ भी नहीं। दूसरी ओर हमने इस बात पर जोर दिया कि शुद्ध तर्क-संगत संयोजन तथ्य के रूप में नहीं प्रस्तुत किये जाते। प्रत्येक प्रत्यक्षीकृत प्रपंच एक अनिश्चित पृष्ठभूमि से एक छाँटी हुई वस्तु है, और, जब उसको सत् रूप में निर्णीत किया जाता है, तो वह इस पृष्ठभूमि का भी विधेय बनता है और उस सत् का भी जिसका वह अतिक्रमण कर जाता है। अतः इस पृष्ठभूमि में और इससे परे संभवतः उस-सब का कारण तथा आन्तरिक सम्बन्ध माना जा सकता है जिसको कि हम केवल बाह्य 'एकसूत्रता' के रूप में ग्रहण करते हैं। संक्षेप में संयोजन और अन्तर्विरोध केवल हमारा दोष है, हमारी एकांगिता, और हमारी पृथक्कृति है, एक आभास है सत् नहीं। परन्तु जिस

कारण की हमें कल्पना करनी पड़ती है, वह हमारी बुद्धि की व्योरेवार पहुँच के वाहर हो सकता है।

टिप्पणी—ख,—सम्वन्ध और गुणः—

सम्वन्ध और गुण की सामान्य समस्या के कुछ ऐसे पक्ष हैं, जिन पर मैं कुछ व्याख्या के शव्द प्रस्तुत करता हूँ। विषय वड़ा और कठिन है, और मैं यहाँ इसको जितना अव-काश दे सकता हूँ उससे कहीं अधिक के लिए वह योग्य है। प्रश्न यह है, (१) कि गुण किसी पूर्ण से स्वतन्त्र होकर रह सकते हैं या नहीं, (२) गुणों से स्वतन्त्र उनकी सत्ता है या नहीं ? (३) जहाँ नये सम्वन्ध होते हैं, वहाँ नये गुणों का निर्माण होता है और पुराने वदलते हैं, अथवा कोई शुद्ध वाहरी सम्वन्ध भी सम्भव हो सकता है, और, अन्त में (४) क्या यह सच है और है तो किस अर्थ में कि, जहाँ कोई तादात्म्य होता है, वहाँ हमें एक सम्वन्ध की वात करने का अधिकार हो जाता है ?

(१,२) किसी भी अनुभूत सर्वात्मक-इकाई में (और इस शव्द के अन्तर्गत ऐसी प्रत्येक वस्तु आ जाती है जिसमें अभिन्न कोई अभिन्न विविधता हो, अथवा विभिन्न पक्षों की कोई अखंडित समग्रता हो) विविधताएँ उस पूर्ण की उपाविभूत होकर उसको उस रूप में निर्माण करने वाली समझी जाती हैं। क्या इन विविधताओं को गुण कहा जाय (पृ० २२-२३) ? यह वस्तुतः शायद एक शाव्दिक प्रश्न है। कोई भी वस्तु जिसका किंचित्-मात्र भी अस्तित्व है। वह गुण-रूप अथवा गुणयुक्त कही जा सकती हैं । परन्तु दूसरी ओर, हम संभवतः उन विविधताओं के लिए गुण का प्रेयोग करना अविक पसन्द करें जिनका विकास सर्वात्मक इकाइयों के व्यंजकों तथा गुणों के रूप में विश्लिष्ट किये जाने पर होता है। जव हम यह पूछते हैं कि सम्वन्धों के अभाव में गुण संभव है या नहीं, तो यह भेद-भाव अधिक महत्त्वपूर्ण हो जाता है। परन्तु यह दलील देना कि सभी सम्वन्ध वाह्य हैं अथवा हो सकते हैं, और यह कि कुछ गुण स्वतन्त्र रूप में होते हैं अथवा हो सकते हैं, तो यह विल्कुल तर्क-विरुद्ध होगी। ऐसी किसी भी दलील का जवाव गुणों के विभिन्न प्रकारों के वीच स्थित भेद-भाव द्वारा दिया जा सकता है।

(३) जहाँ तक मेरी वात है, मैं न तो ऐसे किसी भेद-भाव को सापेक्षिक तथा गौण के अतिरिक्त किसी अन्य रूप में करता ही हूँ और न मानता ही हूँ। मैं इस वात को स्वीकार नहीं करता कि कोई भी सम्वन्ध केवल वाहरी होकर भी अपने व्यंजकों में कोई भेद उपस्थित नहीं करता, और अव मैं इस महत्त्वपूर्ण विषय पर चर्चा करने में प्रवृत्त होता हूँ। मैं पहले एक कठिन प्रश्न के विसर्जन से प्रारम्भ करूँगा। हम देख चुके हैं कि गुणों का अस्तित्व एक तो अनुचित ढंग से उन विविध पक्षों के रूप में होता है जो किसी अनुभूतपूर्ण में पाये जाते हैं, और फिर उचित रूप से उन व्यंजकों के रूप

में होता है जिनमें भेद-भाव किया जाता है और जो सम्बन्धयुक्त होते हैं। परन्तु हम यह बात कहाँ तक कह सकते हैं, कि विभिन्न रंग आदि की विशेषताएँ भेद-भाव द्वारा बनती हैं, और, जब वे किसी अविश्लिष्ट पदार्थ के शुद्ध पक्षों के रूप में थे, तो उनमें यह गुण कदापि नहीं था ? इस प्रश्न का उत्तर देने का मैं प्रयत्न नहीं करूँगा, क्योंकि मुझे विश्वास है कि मैं इसके साथ न्याय नहीं कर सकता। इस मत के साथ मेरी सहानुभूति है कि इस प्रकार की विशेषताएँ ऐसे विकसित होती हैं जिससे कि वे एक अर्थ में भेद-भाव के द्वारा स्थापित हुई कही जा सकें; परन्तु मैं स्वयं इस मत अथवा इस तादात्म्य का समर्थन नहीं कर सकता। कम-से-कम तर्क की दृष्टि से, और अपने पक्ष की दृष्टि से, मैं स्वीकार करूँगा कि किसी भावगत गुण में पहले से ही क अथवा ख जैसी विशेषता हो सकती है, जिसको कि हम भेद-भाव-द्वारा उत्पन्न यथार्थ गुण के रूप में बाद को पाते हैं। इसी बात को दोहराते हुए मैं फिर कहूँगा कि किसी भी अवस्था में कोई गुण स्वतन्त्र-रूप में नहीं रह सकता, परन्तु जब आप एक अनुभूतपूर्ण के पक्षों से चिपके रहना चाहते हों, तो मैं कह सकता हूँ, यह सच नहीं होगा कि प्रत्येक गुण सम्बन्ध पर आश्रित हों। और दूसरी ओर ऐसे पक्षों और गुणों के बीच क अथवा ख जैसा कोई तादात्म्य हो।

इस विवेचन से एक प्रश्न हमारे सामने उपस्थित होता है, क्या जिन सम्बन्धों में गुण और सामान्यतः व्यंजक आबद्ध होते हैं, वे सम्बन्ध क्या अनिवार्यतः उन गुणों या व्यंजकों को बदल देते हैं ? दूसरे शब्दों में, क्या ऐसे कोई सम्बन्ध हैं, जो शुद्ध-रूपेण असमवेत हों ? इस प्रश्न से मेरा अभिप्राय यह पूछने का नहीं है कि सम्बन्ध किसी सर्वात्मक-इकाई के बाहर और स्वतन्त्र हो सकते हैं कि नहीं, क्योंकि इस प्रश्न का उत्तर मैं नकारात्मक ही समझता हूँ। मेरे प्रश्न का अभिप्राय यह है कि क्या, किसी सर्वात्मक इकाई के भीतर और उसका अस्तित्व होने पर ही, व्यंजक अन्य सम्बन्धों को ग्रहण करके उनसे अप्रभावित रह सकते हैं ? इस प्रश्न का अभिप्राय यह भी नहीं है कि, क्या क, ख और ग नये सम्बन्धों के व्यंजक होकर भी क, ख और ग बने रह सकते हैं, क्योंकि कोई वस्तु अंशतः बदलकर भी एक निश्चित विशेषता को बनाये रह सकती है, और एक तथा एक की विशेषता बिना बदले बनी रह सकती है, यद्यपि जिन व्यंजकों में वह विशेषता होती है वे किसी अन्य प्रकार से बदल भी जाते हैं। यह एक ऐसी बात है जिस पर वर्त्तमान प्रसंग में मुझे आगे चलकर आग्रह करना पड़ेगा, इसके अतिरिक्त मेरे प्रश्न का यह भी अभिप्राय नहीं है कि व्यंजक किसी भी अर्थ में कोई ऐसी वस्तु है या नहीं है, जो कि अपने सम्बन्धों-द्वारा विशिष्ट होते हों, क्योंकि मेरा अनुमान है कि किसी-न-किसी अर्थ में (चाहे उसको निश्चित करना कितना ही कठिन क्यों न हो),

प्रत्येक व्यक्ति इस बात को मानता है। जो प्रश्न मैं पूछ रहा हूँ वह यह है कि सम्बन्ध क, ख, ग व्यंजकों को केवल मात्र बाहर से ही, उनके भीतर बिना कोई अन्तर का प्रभाव उत्पन्न किये हुए, उनको विशिष्ट कर सकते हैं कि नहीं ? और इस प्रश्न का उत्तर मुझे विवश होकर नकारात्मक देना पड़ता है। प्रथम दृष्टि में स्पष्टतः इस प्रकार के बाह्य सम्बन्धों की संभावना ही नहीं अपितु अस्तित्व भी प्रतीत होता है। हमने देखा कि दिश्य-स्थिति के परिवर्तन तथा तुलना में वे हमको प्रस्तुत प्रतीत हुए। यह बात साधारण समझ को बिल्कुल स्पष्ट प्रतीत होती है कि आप दिक् के भीतर जिसकी तुलना अथवा पुनर्व्यवस्था करते हैं उसको आप बदलते नहीं, परन्तु दूसरी ओर कुछ ऐसी ही स्पष्ट कठिनाइयाँ भी हैं जो साधारण समझ को बिल्कुल प्रतीत नहीं होतीं। मैं इन्हीं कठिनाइयों की ओर संकेत करूँगा, जो कि सम्बन्धों को पूर्णतया बहिर्गत मानने में बाधक होती हैं। तुलना जैसी एक मानसिक क्रिया में, एक परिणामगत सम्बन्ध होता है, और हम सुनते हैं कि इस सम्बन्ध का व्यंजकों पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। परन्तु यदि यह बात है तो इसका प्रभाव किस पर पड़ता है, और उसके द्वारा व्यंजकों के किसी भी अर्थ में, विशिष्ट होने का अभिप्राय ही क्या हो सकता है ? संक्षेप में यदि वह व्यंजकों से बहिर्गत है तो वह संभवतः उनके लिए सत्य कैसे हो सकता है ? उसी बात को दूसरे प्रकार से कहें, तो इस तरह कह सकते हैं—यदि हम केवल निष्कर्ष निकालें, तो क्या वह निष्कर्ष सच होगा ? परन्तु यदि व्यंजक अपने अन्तस्तल से ही सम्बन्ध नहीं ग्रहण करते, तो क्या, जहाँ तक उनका सम्बन्ध है, क्या वे बिल्कुल अकारण ही सम्बन्धित प्रतीत होते हैं, और क्या उनका सम्बन्ध यदृच्छा-जनित होता है ? परन्तु अन्यथा व्यंजक स्वयं केवल एक बाह्य सम्बन्ध से प्रभावित प्रतीत होते हैं। वस्तुओं की सत्यता को, उनके विषय में सम्बन्ध स्थापित करके, पता लगाना सचमुच बहुत ही अद्भुत प्रक्रिया प्रतीत होती है, और मेरा अनुमान है कि, इस समस्या के उपस्थित होने पर साधारण सम्बन्ध को किन्हीं अस्पष्ट रूपकों में शरण लेनी पड़ेगी।

दिक् के भीतर स्थिति में परिवर्तन करने से, एक बार पुनः कठिनाई उपस्थित होती है। वस्तुएँ प्रथम तो दिक् में एक तरह से सम्बन्धित होती हैं और फिर उनको दूसरे प्रकार से सम्बन्धित होना पड़ता है, परन्तु फिर भी वे किसी प्रकार भी बदलती नहीं, क्योंकि सम्बन्धों को बहिर्गत-मात्र बताया जाता है। परन्तु मेरा उत्तर है कि, यदि यह बात है, तो मेरी समझ में यह नहीं आता कि व्यंजक सम्बन्धों के एक सेट को छोड़कर दूसरे नये सेट को क्यों ग्रहण करते हैं ? यह प्रक्रिया तथा व्यंजकों के निमित्त उसके द्वारा होने वाले परिणाम की यदि उसको कोई भी देन नहीं है, तो यह प्रक्रिया वस्तुतः नितान्त तर्कहीन है। परन्तु यदि उनकी कुछ भी देन है, तो निःसन्देह वे भीतर

से प्रभावित होंगे। और एक बाह्य अंकुश के प्रवेश से यह कठिनाई कम नहीं हो जाती। इस अंकुश के साथ व्यंजकों के सम्बन्ध, और उनके कारण उनमें उत्पन्न होने वाले अन्तर में इस प्रस्तावित नियम से कोई अन्तर नहीं पड़ता, और इसलिए ये दोनों एक भयंकर पहेली-से प्रतीत होते हैं। संक्षेप में, इसके द्वारा हम जिस तक पहुँचना चाहते हैं वह केवल यही स्वीकृति है कि स्वयं व्यंजकों तथा उनके सम्बन्धों में ही समस्त तथ्यों का समावेश नहीं हो जाता, और इस स्वीकृति के परे इसका कोई महत्त्व नहीं। इससे एक अन्य सन्देह बाह्य सम्बन्धों की पर्याप्ति के विषय में होता है। प्रत्येक प्रकार की सर्वात्मिक इकाई में और निश्चित रूप से दिक् के भीतर होने वाली प्रत्येक व्यवस्था में एक गुणात्मक पक्ष होता है। विभिन्न प्रकार से सर्वात्मिक इकाई एक स्वभाव होता है (इसमें उसका स्वरूप तक शामिल किया जा सकता है), जो कि केवल मात्र व्यंजकों तथा सम्बन्धों के रूप में ही समाविष्ट नहीं दिखाया जा सकता। आप कह सकते हैं कि यह स्वभाव उनका है, परन्तु फिर भी वे स्वतः जो कुछ होते हैं, उससे यह सिद्ध होता है। यदि विच्छिन्न वस्तुएँ एक नई व्यवस्था के द्वारा एक नये गुण-पक्ष का निर्माण कर सकें, तो मेरा प्रश्न यह होगा कि आप इस गुण को किसका विधेय बनाने वाले हैं? यदि इन व्यंजकों की कुछ भी देन है, तो ये व्यंजक अपनी पुनर्व्यवस्था से प्रभावित होंगे। और इन नये परिणाम को केवल-मात्र बाह्य सम्बन्धों के विधेय-रूप में ग्रहण करना कम-से-कम मुझे असंगत प्रतीत होता है। बाह्य सम्बन्धों द्वारा कहाँ तक गुणों का निर्माण हो सकता है—यह प्रश्न हमें बहुत दूर ले जायगा। यहाँ मैं इसको एक अन्य ऐसी कठिनाई समझता हूँ जो केवल बाह्य सम्बन्धों की प्रतिपत्ति के मार्ग में बाधक है। और यदि अन्त में मुझ से कहा जाय कि कठिनाइयाँ हर एक मत में होती हैं, तो मैं स्वीकार करने को तैयार हूँ। परन्तु प्रश्न यह है कि यह सिद्धान्त (जिसको कि स्पष्ट कहा जाता है) कोरी कठिनाइयों को शुद्ध अन्तर्विरोधों के रूप में परिणत करता है या नहीं, और एक सापेक्षिक दृष्टिकोण होने के अतिरिक्त क्या यह उतना अनावश्यक और सिद्धान्ततः असत्य है या नहीं जितना कि यह सिद्धान्ततः असत्य है? परन्तु यह कहा जायगा कि दिश-पुनर्व्यवस्था तथा तुलना-जैसे तथ्य आपको विवश करते हैं (चाहे आप चाहें या न चाहें) कि आप यह स्वीकार करें कि कम-से-कम कुछ सम्बन्ध बाह्य ही होते हैं। मैं यह अस्वीकार नहीं करता कि हम काम चलाने के लिए कुछ तथ्यों को केवल बाह्य रूप में मान लेते हैं और यह मानना अच्छा ही है, परन्तु वस्तुतः यहाँ पर प्रश्न यह नहीं है। संक्षेप में प्रश्न तो यह है कि आन्तरिक और बाह्य का भेद चरम है अथवा केवल सापेक्षिक है और क्या अन्ततोगत्वा सिद्धान्ततः कोई केवल बाह्य सम्बन्ध सम्भव तथा तथ्य सिद्ध हो सकता है या नहीं? मेरे विचार में, एक गौण मत के रूप में तो इसको

भले ही स्वीकार कर लिया जाय, परन्तु इसके अतिरिक्त यह प्रतिपत्ति ठहर नहीं सकती। परन्तु इस विषय के विवेचन में दुर्भाग्यवश बहुत विस्तृत और कठिन प्रश्नावली का समावेश होता है, और इसलिए यदि मैं इसको संक्षिप्त नहीं करूँगा तो मुझे भय है कि वह अधूरा न रह जाय।

यदि हम दिश्य-व्यवस्था के स्वरूप पर विचार करके प्रारम्भ करें, तो हमें सबसे पहले पूर्ण तथा वास्तविक वाह्यता दिखायी पड़ेगी। वहाँ पर सभी सूत्र हमें ऐसे व्यंजक के रूप में प्रतीत होंगे, जिनको किसी प्रकार की व्यवस्था में तटस्थ रूप में लिया जा सकता है, और वहाँ सम्बन्ध भी तटस्थ तथा वाह्य प्रतीत होंगे। परन्तु जब हम इस कथन पर विचार करेंगे, तो हमें आंशिक परिवर्तन करना पड़ेगा। व्यंजकों को उस रूप में सचाई के साथ नहीं समझा जा सकता, जिसमें कि वस्तुतः वे नहीं हैं। निष्कर्ष यह निकलेगा कि व्यंजक वस्तुतः और तथ्यतः प्रत्येक संभव ढंग से आपस में सम्बन्धित होते हैं। यदि यह बात है तो प्रत्येक दिक् एक सर्वात्मक-इकाई होगी जिसमें विभिन्न अंग सर्वत्र प्रत्येक संभव स्थिति में पहले से ही परस्पर सम्बन्धित होंगे, और एक दूसरे को इस स्थिति में निर्णीत करते होंगे। यह बात उलझन-भरी भले ही मालूम होती हो, परन्तु कम-से-कम आधार-वाक्य का तो यही अनिवार्य परिणाम प्रतीत होता है। इससे यह निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता कि व्यंजक भीतर से अपने सम्बन्धों के प्रति उदासीन या तटस्थ हैं, क्योंकि इसके विपरीत व्यंजकों का समस्त आन्तरिक स्वरूप ही वाहर आकर इनमें ही ग्रथित होता है। कोई भी सत्ता यदि परम सापेक्षिक हो, तो वह केवल वाह्यता से सम्बन्धित कैसे हो सकती है? यदि आपका यह आक्षेप हो कि प्रश्न केवल दिक्-विषयक नहीं अपितु दिक् के भीतर स्थित वस्तुओं के विषय में है, तो वस्तुतः यही मुद्दा है जिस पर मैं आपका ध्यान आकर्षित करना चाहता हूँ। स्वयं दिक् और उसके केवल दिश्य सम्बन्ध तथा व्यंजक समान रूप से पृथक्करण मात्र हैं, जो निःसन्देह उपयोगी हैं, परन्तु यदि स्वतन्त्र सत् रूप में उनको ग्रहण किया जाय तो वे असंगत और असत्य हो जाते हैं। और कुछ कम मात्रा में यही बात दिक् के भीतर रहने वाले पिंडों तथा उनके सम्बन्धों के विषय में भी कही जा सकती है।

हम देख चुके हैं कि केवल वाह्य सम्बन्धों के किसी दिक् की कल्पना एक असंगति-पूर्ण पृथक्करण है, और दिक् के अस्तित्व के लिए कोई ऐसी व्यवस्था होना आवश्यक है, जो दिक् से परे हो। गुणात्मक भेदों के विना (पृ० १४, ३२-३), दिक् के अन्तर्गत कोई भेद ही नहीं होते, न तो वहाँ स्थिति हो सकती है और न स्थिति का परिवर्तन, न वहाँ शक्ल हो सकती है न पिंड और न गति। इस अर्थ में, जिस प्रकार स्थूल व्यंजकों के अभाव में कोई दिश्य-मात्र सम्बन्ध नहीं हो सकते, उसी प्रकार दूसरे अर्थ में भी

कोई भी वस्तु केवल-मात्र स्थित नहीं हो सकती। व्यंजक तथा व्यंजकों के बीच रहने वाले सम्बन्ध भी स्वयं अंगाकृत एक स्थूल गुणात्मक एकता के पृथक्करण मात्र होते हैं। न तो स्थिति में रहने वाली वस्तुएँ, न उनकी स्थिति, और न दोनों का समुच्चय ही पूर्ण माने जा सकते हैं। वे पृथक्करण होते हैं जो किसी अंगाकृत ऐसी स्थूल पूर्णता पर आधारित होते हैं जिसको वे स्वयं व्यक्त नहीं कर सकते। और उनकी प्रातिभासिक वास्तविकता स्वयं इस बात को प्रकट करती है कि उनमें हमें आभास की प्राप्ति होती है, न कि अन्तिम सत् की।

इस प्रातिभासिक वास्तविकता के विषय में कोई सन्देह नहीं हो सकता। यह वस्तु यहाँ क्यों है और वहाँ क्यों नहीं है, अन्तर्गतता विपर्यस्थिति और उसका आधारभूत गुण के बीच में क्या सम्बन्ध है—ये बातें अज्ञात रह जाती हैं, सामान्यतः सभी दैशिक व्याख्याओं में, नियमों (यदि नियम स्वयं तर्कसंगत हों तो) के साथ तत्त्वों का सम्बन्ध अज्ञात तथा बाह्य रह जाता है, और जिस कारणवश, आधार वाक्यों से परिणाम निकाले जाते हैं वह कारण एक अवस्थाविशेष में बहिर्गत माना जाता है। यहाँ यह निश्चित करना आवश्यक नहीं है कि उस अवस्थाविशेष की स्थिति कहाँ पर मानी जाय, वह केवल प्रारम्भ में हो, अथवा केवल वहाँ, जहाँ हम विशुद्ध गुणों पर पहुँचते हैं। परन्तु ऐसी कोई तर्कहीनता और बाह्यता वस्तु-विषयक अंतिम सत्य नहीं हो सकती। कहीं न कहीं ऐसा कोई कारण अवश्य होना चाहिए जो यह बतलाये कि 'यह' और 'वह' एक साथ क्यों प्रकट होते हैं? यह कारण और सत् अवश्य ही उस पूर्ण में स्थित होना चाहिए, जिसके पृथक्करण, होकर व्यंजक तथा सम्बन्ध आते हैं, और वह एक पूर्ण ऐसा होगा जिसमें उनका आन्तरिक सम्बन्ध स्थित होगा, और जिसमें से पृष्ठभूमि में से वे नये परिणाम प्रादुर्भूत होंगे जो आधार-वाक्यों से कभी निकल ही नहीं सकते थे। संक्षेप में, जिसको हम केवल बाह्य कहते हैं, वह हमारा अज्ञान है, जिसको हम सत् रूप में प्रस्तुत करते हैं, और तथ्य के एक अंगभूत पक्ष के रूप में पाये जाने के अतिरिक्त कहीं भी उसका पाया जाना, जैसा कि हम देख चुके हैं, असम्भव है।

परन्तु साधारण समझ की ओर से यह आदेश दिया जाता कि हमें तथ्यों तक ही सीमित रहना चाहिए। मेज़ के ऊपर बिलियर्ड की गोलियों को आप जिस स्थिति में चाहें, उसमें रख दीजिए, और आप, मैं और एक कोई और व्यक्ति अपना-अपना स्थान परिवर्तित कर लें, तो उनमें से कोई भी वस्तु इन परिवर्तनों के कारण स्वयं नहीं बदल जायगी। मेरी समझ में कारण यह एक प्रातिभासिक तथ्य है कि स्थिति और काल में बाह्य परिवर्तन होने से कोई वस्तु प्रभावित होती है यह एक प्रातिभासिक तथ्य है,

और इसको इस आधार पर अमान्य ठहरा दिया जाना चाहिए कि जब आप अन्तिम तत्त्व-मीमांसा करने बैठेंगे तो वह घटित नहीं हो सकता। परन्तु यहाँ पर एक महत्त्व-पूर्ण की उपेक्षा की गयी प्रतीत होती है, क्योंकि यदि आप किसी निश्चित स्वरूप के साथ उसका तादात्म्य स्थापित करें, तो वह वस्तु अपरिवर्तित रह सकती है, परन्तु यदि आप उसको अन्यथा ग्रहण करें, तो उस वस्तु में परिवर्तन होगा। अर्थात् यदि आप एक बिलियर्ड की गोली और एक आदमी को स्थान से पृथक् करके ग्रहण करें तो वे निःसन्देह स्थान-परिवर्तन से अप्रभावित होंगे। परन्तु दूसरी ओर, यदि ऐसा समझा जाय, तो उनमें से किसी को भी एक ऐसी वस्तु नहीं माना जा सकता जो वस्तुतः हो, उनमें से प्रत्येक न्यूनाधिक रूप में एक प्रामाणिक पृथक्करण-मात्र होगा। परन्तु उनको अस्तित्ववान वस्तुओं के रूप में लीजिए और उनमें कोई परिवर्तन न होने दीजिए, और ऐसा समझ लीजिए कि वे अपने स्थानों द्वारा निर्णीत होते हैं और जिस भौतिक तंत्र में उन्होंने प्रवेश किया है उस समूचे के द्वारा वे विशिष्ट होते हैं। यदि आप इसको अस्वीकार करें, तो मैं आपसे एक बात फिर पूछूँगा कि आप इन परिवर्तनों व परिणामों को किसका विधेय बनाने जा रहे हैं? यदि मैं उसी बात को दुहराऊँ तो यह कहूँगा कि बिलियर्ड की गोली को यदि सम्पूर्ण के अन्तर्गत उसका जो स्थान और स्थिति है, उससे यदि पृथक् माना जाय, तो वह कोई अस्तित्व नहीं अपितु एक स्वभाव होगी, और यह स्वभाव, अस्तित्ववती वस्तु के, परिवर्तित अस्तित्व के सहित बदलने पर भी अपरिवर्तित रह जायगा। इस तद्रूप स्वभाव के अतिरिक्त अन्य प्रत्येक वस्तु को सापेक्षिक रूप से बाह्य कहा जा सकता है। संभवतः वह तुलनात्मक दृष्टि से महत्त्वहीन हो अथवा न हो, परन्तु वह परमार्थतः बाह्य तो नहीं हो सकती। यदि आप यह कहें कि किसी भी अवस्था में वस्तु के दिग्वच्छिन्न अस्तित्व का उस वस्तु के स्वभाव से जो सम्बन्ध है यह बुद्धिगम्य नहीं होता, और जो वस्तु हमारे पृथक्करण से बहिर्गत है उसका स्वभाव उस पूर्ण तंत्र में कोई योग कैसे दे सकता है, और जिस स्वभाव का योग भिन्न है वह कैसे भिन्न है, ये सब बातें अन्ततोगत्वा अज्ञात हैं—तो मैं आपका विरोध नहीं करूँगा। परन्तु किसी निकृष्टतर विकल्प को अपनाने की अपेक्षा मैं अज्ञान, असंगतियों तथा ऐसी अनिवार्य कठिनाइयों को अपनाना अधिक अच्छा समझूँगा जो एक निम्नतर तथा आंशिक दृष्टिकोण के लिए आवश्यक हों और जिसका निवारण आभास की अतिक्रान्ति के द्वारा होता हो, जिसके पश्चात् वह आभास एक पूर्णतर सर्वात्मक इकाई में प्रविष्ट हो जाय, और जो अतिक्रान्ति हमको संभव भी प्रतीत होती है। मैं किसी भी शर्त पर किसी चरम तत्त्व को एक पृथक्करण मात्र और एक निश्चित स्थायी असंगति के रूप में स्वीकार नहीं कर सकता। जब किसी को यह मानने के लिए विवश होना पड़ता

है कि, इस सिद्धान्त के आधार पर कोई कभी भी उन परिणामों की तनिक भी व्याख्या नहीं कर सकता जो वस्तुतः उपस्थित होते हैं, तो स्थिति निस्सन्देह बदल जाती है।

इसके पश्चात् मैं केवल बाह्य सम्बन्धों के विषय में उस दलील पर विचार करूँगा, जो कि तुलना पर आधारित है। ऐसा कहा जाता है कि वस्तुएँ वे ही रह सकती हैं, परन्तु जब तक कि तुम उनकी तुलना न करो, तब तक वे असम्बद्ध हो सकती हैं, और उस अवस्था में उनके सम्बन्ध पूर्णतया बहिरंग तथा आनुषंगिक रूप में रह सकते हैं। उदाहरण के रूप में यह कहा जा सकता है कि लाल बालों वाले दो आदमी या तो अपनी समानता के कारण सम्बन्धित नहीं होंगे, अथवा यदि उसके द्वारा सम्बन्धित होंगे, तो परिवर्तित नहीं होंगे, और इसलिए यह सम्बन्ध पूर्णतया बहिरंग होगा। अब यदि मैं यह सुझाव रखूँ कि सम्भवतः सभी लाल बालों वाले आदमियों को एक स्थान पर एकत्र किये जाने तथा विनष्ट किये जाने का आदेश दिया जाय, तो मेरा अनुमान है कि मुझे यही उत्तर मिलेगा कि उनके लाल बालों का प्रत्यक्षतः उन पर प्रभाव नहीं पड़ता। यद्यपि मैं इस उत्तर को असन्तोषजनक मानता हूँ फिर भी मैं अब आगे चलूँगा। परन्तु तुलना के विषय में मैं एक प्रश्न से प्रारम्भ करूँगा। सामान्यतः यह माना जाता है कि तुलना के द्वारा हम वस्तु-विषयक सत् को जानते हैं, परन्तु, यदि तुलना-द्वारा निर्धारित सम्बन्ध व्यंजकों से बहिरंग सिद्ध हों, तो किस अर्थ में, उन व्यंजकों को इस सम्बन्ध के द्वारा विशिष्ट कहा जायगा? और यदि व्यंजकों का नहीं तो और किसके सत्य तुलना-द्वारा प्राप्त होने पर सत्य होंगे? अन्त में मैं यह पूछूँगा कि जो सत्य वस्तुओं से केवल बहिरंग और 'तद्विषयक' हों, उनको क्या किसी भी अर्थ में सत्य कहा जा सकता है, और यदि हाँ, तो किस अर्थ में? अथवा, दूसरी ओर से, यदि सत्य सत्य है, तो क्या वह हमारे द्वारा निर्मित हो सकती है, और जो हमारे द्वारा निर्मित हो सकती है, क्या वह संभवतः सत्य हो सकती है? ये ऐसे प्रश्न हैं जिनका उत्तर, मैं फिर कहने का साहस करूँगा, उन लोगों को देना चाहिए जो केवल बाह्य सम्बन्धों के समर्थक हों।

जहाँ तक मेरा सम्बन्ध है, मुझे तो विश्वास है कि ऐसे किन्हीं सम्बन्धों का अस्तित्व नहीं है। एक सर्वात्मक इकाई के अतिरिक्त कोई भी तादात्म्य की समानता नहीं हो सकती, और ऐसी प्रत्येक सर्वात्मक इकाई अवश्य ही अपने व्यंजकों-द्वारा विशिष्ट होगी और व्यंजक उसके द्वारा विशिष्ट होंगे। और जहाँ यह सर्वात्मक इकाई भिन्न होगी, वहाँ उसको विशिष्ट करने वाले व्यंजक भी उस हद तक भिन्न होंगे, और इसलिए, उस हद तक एक नयी इकाई के तत्त्व बन कर वे व्यंजक भी अवश्य बदलेंगे। वे केवल उसी हद तक बदलते हैं परन्तु फिर भी बदलते तो हैं ही। तुम पूर्वकल्पना के द्वारा क, ख या ग जैसा कोई एक ले लो, और यह एकल एक सर्वथा अपरिवर्तित रहे, परन्तु सम्ब-

न्वित व्यंजक इस गुण की अपेक्षा कुछ अधिक ही होंगे, और वे वदल जायेंगे। और यदि आपका यह उत्तर हो कि व्यंजक और उसका गुण फिर भी एक-दूसरे से वहिर्गत ही है, तो मेरा उत्तर यह होगा कि हाँ ठीक है, परन्तु जैसा कि आप कहते हैं, वह सम्बन्ध केवल वाह्य और परमार्थतः वाह्य नहीं होगा। क्योंकि संसार में, कोई भी वस्तु इस प्रकार वहिर्गत नहीं हो सकती, हाँ अज्ञान में कुछ भी माना जा सकता है।

हमारे सामने दो वस्तुएँ हैं जो एक ही सी लगती हैं, परन्तु एक नहीं है। हम उनकी तुलना करते हैं, और तव वह एकरूपता-द्वारा सम्वन्वित होती हैं। और कहा जाता है कि उनमें केवल वाह्य सम्बन्धों के अतिरिक्त, कुछ भी वदलता नहीं। परन्तु इस निरर्थक प्रतिपत्ति के विरुद्ध, मैं अवश्य आग्रह करूँगा कि प्रत्येक अवस्था में व्यंजक अपनी सर्वात्मक इकाई-द्वारा विशिष्ट होते हैं, और दूसरी अवस्था में एक ऐसी सर्वात्मक इकाई होती है जो तर्क और मनोविज्ञान की दृष्टि से प्रथम सर्वात्मक इकाई से भिन्न होती है—और मेरा आग्रह है कि इस परिवर्तन को उपस्थित करने में, वे व्यंजक इस हद तक वदल जाते हैं, यद्यपि एक सूक्ष्म गुण की दृष्टि में वे वैसे ही रहते हैं, परन्तु फिर भी वे वदलते अवश्य हैं।

आइए, हम लाल वालों वाले दो आदमियों के उदाहरण को पुनः लें। इन आदमियों को लाल वालों के साथ पहले ही देखा जा चुका है, परन्तु इस विषय में उनमें एकरूपता स्थापित नहीं की गयी, और फिर ये दोनों आदमी इस निर्णय में इस प्रकार सम्वद्ध किये जाते हैं—ये दोनों रक्तकेशी होने से समान हैं। प्रत्येक अवस्था में एक पूर्ण है, जो व्यंजकों को विशिष्ट करता है और उनके द्वारा विशिष्ट भी होता है, परन्तु प्रत्येक पूर्ण भिन्न है। यह आदमी पहले तो एक प्रत्यक्षीकृत पूर्ण में स्थित तथा उसको विशिष्ट वनाते हुए देखे जाते हैं, और उनकी लालिमा को उनके अन्य गुणों तथा अविभाजित इन्द्रिय-ग्राह्य समग्रता के अवशेष के साथ अव्यवहित तथा अनुपहित एकता में प्रस्तुत किया जाता है। परन्तु दूसरे में, यह इन्द्रिय-ग्राह्य पूर्ण विभाजित कर दिया जाता है और स्वयं आदमियों का ही विश्लेषण कर दिया जाता है। उनमें से प्रत्येक को अन्य गुणों के साथ रक्त-केशिता के सम्बन्ध में विभाजित कर दिया जाता है, जवकि रक्त-केशिता स्वयं प्रत्येक उदाहरण की विविधताओं को मिलाने वाली एकता का एक विषय और विन्दु वन जाती है, और वे विविधताएँ भी ऐसी होती हैं जो उसकी विधेय वन जाती हैं और उसी के अन्तर्गत परस्पर सम्वन्वित हो जाती हैं। और मैं इस वात पर जोर दूँगा कि दोनों आदमियों की विविधताओं का इस सामान्य गुण के साथ तथा उसके द्वारा परस्पर जो सम्बन्ध होता है वह सत्य है और सत् है, यद्यपि वह कितना ही अपूर्ण और अशुद्ध क्यों न हो। परन्तु यह तर्कपूर्ण संश्लेषण एक ऐसी एकता है जो इन्द्रिय

ग्राह्य पूर्ण से भिन्न होती है, और इस एकता को प्राप्त करने में, मैं नहीं समझता कि इस बात को कैसे अस्वीकार किया जाय कि व्यंजक बदल गये हैं, और यह उत्तर देना निःसन्देह एक पूर्ण अज्ञान है कि, यदि आप पृथक्करण करते हैं और रक्त-केशिता की पृथक्कृति पर डटे रहते हैं, तो कोई परिवर्तन नहीं है।[१]

रक्तकेशी होने के कारण दोनों आदमी वस्तुतः सम्बन्धित हैं और उनका सम्बन्ध केवल बाह्य नहीं है। वह ऐसा पूर्णरूपेण होता, तो वह बिल्कुल सत्य अथवा सत् न होता, और, जहाँ तक वह ऐसा प्रतीत होता है, वहाँ तक वह किसी उच्चतर वस्तु का आभास है। दूसरे शब्दों में रक्तकेशिता के गुण के साथ इन दोनों मनुष्यों में पाये जाने वाली विशेषताओं तथा उनकी परिस्थितियों का सह-सम्बन्ध संभवतः निरा संयोग-मात्र होगा। और यदि आपको विश्व का एक पूर्ण सम्बन्धात्मक ज्ञान प्राप्त हो सके, तो आप रक्तकेशिता की प्रकृति से उन विशेषताओं की ओर जा सकते हैं जिनके द्वारा वह विशिष्ट है, और आप रक्तकेशिता की प्रकृति के आधार पर आप रक्तकेशित व्यक्तियों का पुनर्निर्माण कर सकते हैं। ऐसे पूर्ण ज्ञान में, आप विश्व में आन्तरिक दृष्टि से विशेषणों पर पहुँच सकते हैं। आप प्रत्येक दशा में न्यूनाधिक रूप में प्रत्यक्षतः अथवा अप्रत्यक्षतः जायेंगे, और महत्वहीन विशेषताओं के साथ अप्रत्यक्षता की मात्रा अत्यधिक होगी, परन्तु कोई भी आना-जाना बाह्य नहीं होगा। ऐसा ज्ञान हमारी पहुँच के बाहर है, और संभवतः वह ऐसे किसी भी मस्तिष्क की पहुँच के बाहर है, जिसको सम्बन्धात्मक रीति से सोचना पड़ता है। परन्तु हमारे निष्कर्ष के अनुसार, यदि परम-सत्य में ज्ञान की पूर्णता हो जाती है, तो एक उच्चतर रूप में, ऐसे ज्ञान का लक्ष्य वस्तुतः प्राप्त हो जाता है, और अज्ञान तथा संयोग के साथ-साथ बाह्यता का अन्तिम प्रदर्शन भी तिरोहित हो जाता है। और यदि आपको यह-सब बेतुका लगता हो, तो मैं आपसे कहूँगा कि आप कम-से-कम स्वयं इस बात की परीक्षा करें, और देखें कि एक केवल बाह्य सत्य और अधिक बेतुका है या नहीं ?

---

१. यहाँ मैं यह कहूँगा कि कोई भी तुलना संभवतः शून्य में विलीन नहीं हो सकती। यदि आप ऐसे दो व्यंजकों को लेते हैं जिनमें अस्तित्व तथा प्रमेयत्व के अतिरिक्त कोई अन्य दृश्य-समानता नहीं है, तो भी तुलना का कोई न कोई परिणाम होगा। आपने इस सत्य को कह दिया कि अस्तित्व अथवा प्रमेयत्व एक ऐसी समानता है जिसके अन्तर्गत किसी प्रकार ये विविधताएँ हैं, जो किसी-न-किसी प्रकार इस एकता में सम्बद्ध हैं और एकता उनसे विशिष्ट हो रही है। और मैं यह भी आग्रह करूँगा कि यह कितना ही तुच्छ क्यों न हो, परन्तु वह शून्य नहीं हो सकता, और न यह व्यंजकों की केवल-मात्र ऐन्द्रिक एकता के समकक्ष ही हो सकता है।

परन्तु कोई कह सकता है कि, मैं एक रक्तकेशी आदमी हूँ, और मैं जानता हूँ, कि मैं क्या हूँ, और जब मेरी तुलना दूसरे आदमी के साथ की जाती है तो तथ्यतः मुझ में कोई परिवर्तन नहीं होता, इसलिए यह सम्बन्ध बाह्य ही होता है। परन्तु मेरा उत्तर है कि कोई भी ससीम व्यक्ति संभवतः यह जान सकता है कि वह क्या है, और यह विचार कि उसकी समस्त सत्ता उसके ज्ञान के भीतर पड़ती है—हास्यास्पद ही है। इसके विपरीत उसकी अपनी सत्ता का, तथा उसमें समाविष्ट सभी वस्तु का अज्ञान प्रभूत कहा जा सकता है और 'वह जो है' का अर्थ अन्यों से पृथक् केवल कुछ गुणों से ही है, तो वह ऐसा कहे और स्वीकार करे कि उसका आक्षेप असम्बद्ध हो गया। यदि किसी ससीम व्यक्ति की प्रकृति और सत्ता स्वयं में पूर्ण होती, तो निःसन्देह वह अपने को पूर्णतया जानता होता और अन्य किसी भी वस्तु के साथ अपने सम्बन्ध को नहीं जान पाता। परन्तु वस्तुतः वह जिस रूप में है, उस रूप में पूर्णतः अपनी प्रकृति को जानने का अर्थ उस प्रकृति सहित अनन्त रूप से ज्ञान में बढ़ते हुए अपने से परे जाना होता। उदाहरण के लिए यदि एक रक्तकेशी मनुष्य अपने को पूर्णतया जानता है तो वह अपने अन्तर्जगत् से प्रारम्भ करके वह प्रत्येक ऐसे व्यक्ति को जानता जायगा जिसके रक्तिम-केश हों, और वह अपने को तब तक नहीं जानेगा जब तक, कि वह उनको नहीं जान लेता। परन्तु वर्त्तमान वस्तु-स्थिति में, वह यह नहीं जानता कि 'कैसे' और 'क्यों' उसके स्वयं रक्त-केश हैं और न वह यही जान पाता है कि 'कैसे' अथवा 'क्यों' एक भिन्न मनुष्य इस बात में वैसा ही है, और इसलिए, दूसरे मनुष्य के साथ अपने सम्बन्ध का आधार, प्रकार, और कारण न जानने के कारण, उसके लिए वह सापेक्षिक रूप में, बाह्य आकस्मिक तथा संयोग, सिद्ध रहता है। परन्तु उसके अज्ञान के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं भी कोई केवल बाह्यता वस्तुतः नहीं है।

हम देख चुके हैं कि तर्क और वास्तविकता के अनुसार, सभी सम्बन्धों में एक ऐसा पूर्ण अभिप्रेत होता है जिसको कि व्यंजक रोक देते हैं और, जिसके द्वारा व्यंजक विशिष्ट होते हैं। और अब मैं संक्षेप में यह संकेत करूँगा कि मनोविज्ञान की दृष्टि से वही वस्तु ठीक सिद्ध होती है। प्रथम तो, जब मैं वस्तुओं को एक अंश में एक-सी ही पाता हूँ, अथवा दूसरे शब्दों में, जब मैं दो वस्तुओं की समानता को अनुभव करता हूँ, और दूसरी ओर, जब मैं दोनों वस्तुओं की समानताओं तथा सम्बन्धों का प्रत्यक्षीकरण करता हूँ, तो प्रत्येक दशा में मेरे मस्तिष्क में एक आध्यात्मिक पूर्ण होता है। परन्तु यह पूर्ण प्रत्येक दशा में भिन्न होता है, और इस पूर्ण का स्वरूप उन तत्त्वों पर निर्भर रहता है जिनका इनमें समावेश होता है, और उनको वह प्रभावित भी करता है। एक नये पूर्ण के भीतर जाता हुआ कोई तत्त्व बदल जायगा, यद्यपि वह निःसन्देह एक सूक्ष्म

पक्ष से, वैसा-का-वैसा ही रह जायगा। परन्तु मैं इस विषय पर अधिक कुछ नहीं कहूँगा, क्योंकि वह बहुत-कुछ स्पष्ट लगता है, और एक उदाहरण होने के अतिरिक्त, संभवतः इसका कोई सम्बन्ध नहीं है। फिर भी इस तथ्य को गाँठ में बाँध लेना अच्छा होगा कि मनोविज्ञान की दृष्टि से कोई बाह्य सम्बन्ध अर्थहीन होता है।

पूर्ण के भीतर और अन्त में कुछ भी बाह्य नहीं रह जाता, और विश्व से कम कोई भी वस्तु पूर्ण की एक पृथक्कृति होगी, न्यूनाधिक रूप में एक रिक्त पृथक्कृति, जो जितनी ही अधिक रिक्त होगी उतनी ही कम स्वावलम्बी होगी। सम्बन्ध और गुण पृथक्कृत होते हैं और अपनी सत्ता के लिए सदैव एक पूर्ण पर निर्भर होते हैं, एक ऐसा पूर्ण जिसको वे अपर्याप्त रूप से व्यक्त करते हैं, और जो सदैव न्यून अथवा अधिक रूप से पृष्ठभूमि में रहता है। इसी दृष्टिकोण से हमें इस प्रश्न पर विचार करना चाहिए कि—नये गुणों का आविर्भाव और विकास होता है। मैं फिर कहता हूँ कि यह एक ऐसा प्रश्न है जिससे, विकृत गुणों के प्रसंग में हम परिचित हो चुके हैं। परन्तु व्याख्या की 'सीमाओं' की समस्या, इस स्थिति पर पहुँचने के बहुत पहले ही, तत्त्व-विज्ञान के लिए उपस्थित हो जाती है। इस विषय में मैं प्रवेश तो नहीं करूँगा, परन्तु सामान्य सिद्धान्त पर जोर देना अवश्य चाहता हूँ। जहाँ तथ्यतः ऐसे परिणाम उपस्थित होते हैं, जो हमारे आधार वाक्यों का परिणाम न हों। तो इसमें हमारे लिए कोई आश्चर्य की बात नहीं, क्योंकि हमने जिन पृथक्करणों का प्रयोग किया है उनके पीछे वह मूर्त गुणात्मक पूर्ण है, जिस पर वे निर्भर करते हैं, और इसलिए परिणाम के रूप में जो कुछ आया है वह उन उपाधियों से उद्भूत हुआ है जिनको (जान-बूझ कर अथवा अन्यथा) हमने उपेक्षित तथा तिरस्कृत करने का प्रयत्न किया है। इससे हमें यह सिद्ध हो जायगा कि जिन आधारभूत तथ्यों को लेकर हम चलते रहे वे सत्य अथवा सत् नहीं अपितु सत् के एक खंडित खंडमात्र हैं।

(४) अब मैं एक ऐसी समस्या पर विचार करूँगा, जो पहली से ही सम्बन्ध रखती है। जहाँ भी सुविधाजनक हुआ मैंने इस पुस्तक में तादात्म्य को सम्बन्ध के रूप में लिया है। मुझ से पूछा जा सकता है कि क्या मैं इसको उचित ठहराता हूँ और यदि हाँ तो कैसे, क्योंकि व्यंजक तभी सम्बन्धित होते हैं जब हम उनकी तुलना करते हैं। और यह बात पहले नहीं प्रतीत होती। मेरी अतीत अवस्थाएँ, तादात्म्य-द्वारा याद किये जाने पर ही वर्तमान से सम्बन्धित होती हैं, परन्तु प्रकट रूप में अन्यथा नहीं। मेरी अवस्था और दूसरे की अवस्था, न्यूनाधिक रूप में एक-सी हो सकती है, परन्तु दोनों अवस्थाएँ हम दोनों को सदा सम्बद्ध करती हुई नहीं प्रतीत होतीं। दूसरी ओर हमको फिर उसी पुरानी कठिनाई का सामना करना पड़ता है जिसके अनुसार जो भी सम्बन्ध प्राप्त होने

हैं, उन्हीं को मैं स्वीकार कर लेता हूँ, और ऐसी कोई भी स्थिति ग्राह्य नहीं प्रतीत होती। अतः एक ओर तो ऐसा प्रतीत होता है कि हम सभी प्रकार के तादात्म्य को एक सम्बन्ध कहें और दूसरी ओर यह असम्भव लगता है। थोड़े शब्दों में, इस समस्या का हल यह हो सकता है। तादात्म्य को विभिन्न अवस्थाओं के द्वारा विकसित हुआ माना जाना चाहिए। एक अवस्था-विशेष में कोई भी तादात्म्य सम्बन्धात्मक नहीं होता, जबकि एक उच्चतर अवस्था में समस्त तादात्म्य ऐसा ही होता है और चूँकि चरम सत् में सर्वोच्च अवस्था वस्तुतः प्राप्त हो जाती है, इसलिए जहाँ-कहीं सुविधा-जनक हो वहाँ हम तादात्म्य को अभी से एक सम्बन्ध मान सकते हैं, यद्यपि वस्तुतः वह हमारे लिए ऐसा नहीं है। इस कथन को मैं संक्षेप में समझाऊँगा। हम देख चुके हैं कि एक तथ्य के रूप में समानता, सम्बन्धों से एक नीचे स्तर पर रहती है। उसका अस्तित्व एक उस विविधता के पक्ष के रूप में भी होता है, जिसका अनुभव हमें अपने हृदय में होता है और फिर उस विविधता के पक्ष के रूप में भी, जो कि मेरी अनुभूति के परे होता है। यह पक्ष स्वतन्त्र वस्तुओं का केवल विशेषण-मात्र नहीं होता, और ऐसे किसी भी मत को मैं अमान्य समझता हूँ। स्वयं विविधता एक पूर्ण के विशेषण के रूप में ही होती है और उसी पर वह निर्भर रहती है, और इस पूर्ण के भीतर समानता का सूत्र ही उन भेदों में प्राप्त एकता तथा सार्वभौमता होती, जो उसके द्वारा ही एक समान होते हैं। परन्तु अभी तक यह एकता अव्यवहित है और सम्बन्धात्मक नहीं। और प्रश्न यह होता है कि हम इसको क्यों और कैसे एक सम्बन्ध कह सकते हैं, जो वस्तुतः हमारे लिए सम्बन्ध नहीं है। केवल बिना किसी व्याख्या के 'सम्भावित' का सहारा लेने से हमारा काम नहीं चल सकता, क्योंकि यदि इसकी कोई व्याख्या नहीं की जाती तो इसकी 'है' और 'नहीं है' के बीच एक समझौते का प्रयत्न ही कहा जायगा। परन्तु यदि 'सम्भावित' का प्रयोग ऐसी वस्तु के लिए हो रहा है, जो कि वस्तुतः है, और जो कुछ अवस्थाओं में व्यक्त नहीं होती, तो 'सम्भावित' कोरा शब्द न रह कर इस समस्या का हल हो सकता है।

जैसा कि हम देख चुके हैं, सभी सम्बन्ध किसी आधारभूत एकता की अपर्याप्त अभिव्यक्ति होते है। सम्बन्धात्मक अवस्था अव्यवहित समग्रता का एक अपूर्ण तथा खंडित विकास-मात्र है। परन्तु दूसरी ओर वह वस्तुतः एक विकास है, जो पूर्णतः सम्ब-न्धातीत है और जो सम्बन्धों के परे होते हुए भी अपने में उनका समावेश करती है उसी पूर्णता की ओर जाने वाला एक आवश्यक कदम इसको माना जा सकता है। अतः चरम तत्त्व में, जहाँ सब-कुछ पूर्ण हो जाता है, वहाँ हमको यह मानना पड़ेगा कि प्रत्येक विकास अपने लक्ष्य तक पहुँच जाता है, यह लक्ष्य कुछ भी क्यों न हो और किसी भी

अर्थ में हम वस्तु को उस तक पहुँचते हुए क्यों न कहते हों। इसलिए परम सत् के भीतर प्रत्येक प्रगति के लक्ष्य को पहले से ही प्राप्त हुआ और वर्त्तमान में विद्यमान तथा वास्तविक माना जा सकता है। मेरा यह अभिप्राय नहीं कि विना किसी अपवाद के सभी अव्यवहित समानताएँ सम्बन्धात्मक चेतना के द्वारा निकलती ही हैं। परन्तु विना अपवाद के कोई भी समानता पूर्ण के अतिरिक्त अपने सत्य और अन्तिम सत् को नहीं प्राप्त कर सकती, और यह पूर्ण सम्बन्धों से परे होता है और सम्बन्धों के प्रयत्न की पूर्ति उसमें रहती है। मुख्यतः सम्बन्धों का मार्ग अपूर्णता से पूर्णता की ओर जाने वाली प्रवृत्ति का आवश्यक ढंग है। अतः सभी प्रकार की समानता न केवल सम्बन्धात्मक हो सकती है वल्कि आवश्यक होती है। अथवा कम-से-कम उसकी प्राप्ति उसी लक्ष्य और उसी सिद्धान्त के अनुसार होगी ही, जिसके अनुसार सम्बन्धात्मक तादात्म्य के द्वारा गुजरने पर उसकी पूर्णता होती। और चूँकि परम तत्त्व के भीतर जो होना चाहिए वह पहले से ही है, इसलिए जहाँ-कहीं भी वह पहले से ही है, वहाँ इसमें कोई सन्देह नहीं कि हम तभी तक ऐसा कर सकते हैं जब तक कि जिस अर्थ में हम यह कह रहे हैं उसके विषय में हम स्पष्ट हों।

इसी प्रकार विचारने में हम जिन सम्बन्धों को स्थापित करते हैं उनका प्रकार और कारण वतला सकते हैं, क्योंकि हम जिसको विकसित करते हैं, वह परम तत्त्व में पहले से ही पूर्ण रहता है। परन्तु दूसरी ओर, इसका यह अभिप्राय नहीं कि इस प्रसंग में हम जो करते हैं वह विल्कुल ही असम्बद्ध है, और सत् पर उसका कोई प्रभाव नहीं पड़ता, और वह वाह्य होता है। इसके विपरीत किसी वस्तु की सत्ता और विकास के लिए, निर्मित होना और पाया जाना परम आवश्यक है, और प्रक्रियाओं और परिणामों मे जो सत्य है उसका सम्बन्ध सत् तत्त्व से है। जैसा अन्यत्र है वैसे ही यहाँ भी केवल यही वात है कि हमें आन्तरिक दृष्टि से जो आवश्यक है और जो आकस्मिक है, इन दोनों में भेद करना पड़ेगा। समानता के तत्त्व की विशेपता यह है कि इस पर विचार किया जाना चाहिए, और विचार किया जाना चाहिए एक निश्चित ढंग से। परन्तु, इससे उसका कोई सम्बन्ध नहीं कि उस पर विचार तुम करो या मैं करूँ, या कोई काले वालों वाला व्यक्ति करे अथवा लाल वालों वाला। यह विशेपताएँ एक अर्थ में उसको विशिष्ट करती हैं, क्योंकि वे उससे संयुक्त होती हैं, और कोई भी संयोजन, अन्ततोगत्वा एक संयोजन-मात्र और एक वाह्य-वस्तु-मात्र ही नहीं हो सकता। परन्तु यहाँ पर यह सम्बन्ध इतना अप्रत्यक्ष और इतना व्यक्तिगत है कि इसके अन्तर्गत वाह्य पृष्ठ भूमि में पड़ी हुई अन्य परिस्थितियाँ इतनी अधिक होती हैं और उसके समावेश से यह सत्य-विशेप और तथ्य-विशेप इतने अधिक वदल जायेंगे कि इन विशेपताओं

को ठीक ही बाह्य तथा आकस्मिक कहा जायगा। परन्तु निःसन्देह आकस्मिकता सदैव ही एक मात्रागत विषय रहेगा।

इससे हम इस प्रश्न पर आते हैं कि सादृश्य द्वारा सत् विशिष्ट होता है या नहीं, और यदि होता है तो किस प्रकार? सादृश्य एक आंशिक समानता का प्रत्यक्षण या अनुभूति है जो न्यून या अधिक रूप में अनिर्णीत होती है, और, जहाँ तक समानता का सम्बन्ध है, हम उस पर पहिले ही विचार कर चुके हैं। परन्तु यदि हम सदृश्य को आंशिक समानता के रूप में न ग्रहण करें, अपितु समानता जिस रूप में प्रकट होती है उसका एक प्रकार मानें, तो हम यह कैसे कह सकते हैं कि उसका सम्बन्ध सबसे है? निःसन्देह इसमें कोई सन्देह नहीं कि उसका सम्बन्ध सबसे है और होना चाहिए। संक्षेप में प्रश्न तो केवल उसकी आवश्यकता तथा आकस्मिकता की मात्रा तथा परिमाण का है। क्या जहाँ भी आंशिक समानता हो, वहीं यथोचित अर्थ में सादृश्य की बात करने का मुझे उसी प्रकार अधिकार है, जिस प्रकार उन्हीं परिस्थितियों में, एक सम्बन्ध के विषय में बात करने का मुझे अधिकार हो जाता है? वस्तुतः, सभी प्रकार की समानता सादृश्य के रूप में नहीं प्रकट होती, और इससे क्या मैं यह निष्कर्ष निकालूँ कि चरम तत्त्व के भीतर किसी-न-किसी प्रकार इस-सब का अस्तित्व होना ही चाहिए, और इसलिए उसका कोई रूप होना चाहिए, और इसलिए वह सर्वत्र उससे युक्त कहा जाना चाहिए? इस प्रश्न का उत्तर, मेरे अनुमान से, सादृश्य की उपाधियों में खोज करने से मिल सकता है। ऐसी कौन सी वस्तु है जो आंशिक समानता में जुड़ कर उसे सादृश्य की अनुभूति में परिणत कर देती है? क्या इस जुड़ी हुई वस्तु को समानता का ही एक आन्तरिक विकास कहा जाय जो कि उसकी पूर्णता के लिए एक आवश्यक कदम हो, अथवा क्या, दूसरी ओर, वह उन उपाधियों पर निर्भर है जो कि सापेक्षिक रूप से बाह्य हैं? दूसरे शब्दों में सादृश्य तथा समानता के बीच रहने वाला सम्बन्ध कितना प्रत्यक्ष है, और, समानता से सादृश्य को पाने के लिए, आपको अन्य उपाधियों की आवश्यकता किस परिमाण में होगी, और कहाँ तक अन्ततोगत्वा आप यह कह सकेंगे कि सादृश्य का उद्भव समानता से हुआ है, न कि इन अन्य उपाधियों से? जैसा कि निःसन्देह मेरे लिए सम्भव नहीं है, यदि आप यह निष्कर्ष निकाल सकें कि स्वयं सादृश्य समानता का ही एक अनिवार्य विकास है, तो, यदि आप इस बात की भी पुष्टि कर सकें कि सत् के भीतर जो होना चाहिए वह वस्तुतः पहले से ही होता है—तो कुछ उद्देश्यों के लिए आपको यह अधिकार मिल जायगा कि आप समान को सदृश्य कह सकें, चाहे सादृश्य प्रतीत होता हो या नहीं। परन्तु एक कामचलाऊ कल्पित कहानी की तो बात अलग है, अन्यथा यदि आप इससे विपरीत इस कार्य को करते हैं, तो निःसन्देह वह

अमान्य होगा ।[1]

इसके साथ सम्बन्ध तथा गुण के विषय में अपनी अत्यन्त अधूरी टिप्पणियों को मैं समाप्त करता हूँ। समानता और सादृश्य के विषय में कुछ अन्य बातों को मैं अगली टिप्पणी में ग्रहण करूँगा ।

टिप्पणी (ख) एकरूपता

पिछली टिप्पणी में हमें एकरूपता अथवा समानता के विषय में एक प्रश्न पर विचार करना पड़ा, और अब मैं कुछ अन्य प्रश्नों पर यहाँ विचार करूँगा । निःसन्देह यह अधिक अच्छा होता कि यह प्रश्न अपने उचित स्थान पर खड़े होते और वहीं उनका उत्तर दिया जाता, परन्तु एक व्यवस्थित पुस्तक के अतिरिक्त अन्यत्र यह सम्भव नहीं। यह सम्भव हो सकता है कि एकरूपता को केवल एक सीमित अर्थ में प्रयुक्त किया जाय, परन्तु किसी भी अवस्था में ऐसा कोई भी प्रतिबन्ध एक विस्तृत गवेषणा की अपेक्षा करेगा और उसी पर वह आधारित होगा । और एक प्रतिबन्ध के अतिरिक्त, एकरूपता-विषयक सम्पूर्ण प्रश्न तत्त्व-विज्ञान के समूचे क्षेत्र से सम्बन्ध रखेगा । जहाँ-कहीं भी अनेकता की एकता होगी, वहीं पर विविधता में कोई एकरूपता होगी, और भेद में एकता के जो प्रमुख रूप हो सकते हैं उनके किसी भी अध्ययन के क्षेत्र से बहुत कम बाहर रह जायगा । अतः, क्योंकि मैं एकरूपता के विभिन्न रूपों पर यथोचित रूप से विचार नहीं कर सका, मैंने उनकी स्थापना करने का कोई प्रयत्न भी नहीं किया । निःसन्देह

---

१. यह कोई व्यर्थ का प्रश्न नहीं है, अपितु इसका सम्बन्ध बहुत-कुछ एक ऐसी विचार-प्रणाली से है जो, एक दो पीढ़ी पहले, हम लोगों में बहुत प्रमुख स्थान रखती थी, और जिसके अब भी बहुत से समर्थक हैं । यह विचार-प्रणाली. एक ओर तो, इस बात को अस्वीकार कर देती है कि किसी वस्तु में सादृश्य के अतिरिक्त कोई अन्य समानता हो सकती है, और, दूसरी ओर, यह कहा जाता था कि एक अनुभव-विशेष के अतिरिक्त अन्यत्र कोई सादृश्य नहीं होता। और फिर भी, भूत तथा वर्त्तमान में स्थित मेरी मनोदशाओं के समान सादृश्यों को एक ऐसा माना जाता था जिसके लिए किसी व्याख्या की आवश्यकता नहीं होती । इसी बात पर मैंने तर्क शास्त्र-सम्बन्धी अपनी पुस्तक (२, २, १) में आकर्षित किया है, और, प्रथम तत्त्वों के विषय में जो थोथापन और दिवालियापन चल रहा है उसके अन्य प्रमाणों के साथ-साथ मैंने इसको भी एक प्रमाण के रूप में प्रस्तुत किया है । मेरी समझ में नहीं आता कि जो इस निर्णय से सहमत नहीं हैं वे कम-से-कम इस कठिनाई का सामना करने तथा उस पर विचार करने का स्वयं प्रयत्न क्यों नहीं करते ? जे० एस० मिल और उनके सम्प्रदाय की मामूली तरकीब यही है कि तथ्य के साथ सम्भावना का बेढंगा तादात्मय, और सम्भावित का वास्तविक अस्तित्व के साथ तादात्मय कर दिया जाय, और सम्भावित अस्तित्व के विषय में कोई इतना प्रश्न भी न किया जाय । यह अविचारशील तादात्मय इस सम्प्रदाय की एक विशेषता है ।

साधारण भेद-भावों की सूची तैयार करने में मैंने कोई लाभ नहीं देखा, उदाहरण के लिए, एक ही प्रकार के दो मनुष्यों में, या एक ही स्थान और काल में स्थित दो मनुष्यों में, अथवा एक ही मनुष्य के एक ही जीवन के दो कालों के बीच जो समानता है उसकी सूची से क्या लाभ ? यह मेरे दिमाग़ में नहीं आया कि इस प्रकार के भेद-भाव अपरिचित समझे जायेंगे अथवा कोई भी इनका परिचय प्राप्त करना चाहेगा। मैंने अनुमान किया कि इनका ज्ञान तो सब को योंही होगा ही, और यदि मैं कहीं भी इनको स्पष्ट कर दूँ, तो मेरे लिए कोई स्थान नहीं रहेगा। एकरूपता पर विचार करने के किसी भी गम्भीर प्रयत्न में जो समस्याएँ होंगी उनकी पूरी गवेषणा करने का मैं प्रयत्न नहीं कर सकता। फिर भी मैं यहाँ पर कुछ टीका-टिप्पणी कर रहा हूँ जिसका पाठक जिस योग्य समझें, उस प्रकार उपयोग कर लें।

(१) मेरा पहला प्रश्न यह है कि सभी एकरूपता गुणात्मक है या नहीं। इसका सम्बन्ध पूर्ववर्ती टिप्पणी के विवेचन से है, और मैं यह मान कर चलता हूँ कि उसको आपने पढ़ लिया है। मेरे प्रश्न का उत्तर इस बात पर निर्भर है कि आप गुण शब्द को किस अर्थ में ग्रहण करते हैं। निःसन्देह कोई भी यह देख सकता है कि विभिन्न कालगत एक वस्तु की समानता उसी प्रकार की उसी वस्तु से भिन्न होगी। जैसा कि हम देख चुके हैं, यदि गुण को किसी सम्बन्ध के व्यंजक तक सीमित कर दिया जाय, तो भेद-भाव से पूर्ण किसी अवस्था पर आपको कोई गुण नहीं मिलेगा। उदाहरण के लिए, एक अनुभूतपूर्ण की एकता (जो निःसन्देह कोई एकरूपता है) वस्तुतः गुणात्मक नहीं होगी, और न अनुभूत किये हुए तथा प्रत्यक्ष किये हुए के बीच ही कभी कोई गुणात्मक एकरूपता ही हो सकती है। परन्तु जैसा कि हमने देखा, समूचा प्रश्न अंशतः शब्दों का है, क्योंकि गुण एक अस्पष्ट शब्द है। अपने निम्नतम अर्थ में यह ऐसी किसी वस्तु के लिए प्रयुक्त हो सकता है जो किसी भी अर्थ में विशेषता प्रकट करता है और किसी भी वस्तु को कुछ बना देता है। अतः इसका क्षेत्र स्वयं विश्व के अतिरिक्त अन्य सब-कुछ है। इस अर्थ में सामान्यतः सम्बन्ध, या दिक्, काल, मात्रा आदि गुण हैं या नहीं, यह प्रश्न असंगत है। फिर भी जब हम किसी प्रकार के ससीम अस्तित्व, या स्वयं अस्तित्व को विस्तृत अर्थ में स्वभाव से भिन्न सत् मानने का प्रयत्न करते हैं, अथवा दूसरे शब्दों में, हम एक ससीम 'किंचित्' को ढूंढ़ निकालने का प्रयत्न करते है जो अपनी सत्ता के किसी एक पक्ष से कोई 'किंचित्' ही नहीं होता, तो यह प्रश्न कुछ सरस हो जाता है। और चूँकि किसी भी 'किंचित्' में, 'वह' और 'क्या' का भेद-भाव आत्यन्तिक नहीं अपितु सापेक्षिक होता है, इसलिए ऐसा प्रयत्न अन्ततोगत्वा भ्रामक सिद्ध होता है। अन्त में जाकर सारा आभास केवल इयत्ता और स्वभाव होता है जो कि चरम तत्त्व को विशिष्ट

करता है, और अन्त में केवल चरम तत्त्व के लिए ही गुण शब्द प्रयुक्त नहीं हो सकता। वहाँ पर हमें एक ऐसा सत् मिलेगा जो एक केवल 'क्या' के परे होगा, परन्तु न तो यहाँ और न अन्यत्र भी, हमें ऐसा सत् मिल सकता है जो केवल 'वह' हो। सत् होने के लिए दोनों पक्षों को अभिन्न रूप से एक होना चाहिए, और वस्तुतः उनका वियोग स्वयं आभास ही है। क्या सभी एकरूपता गुणात्मक है, इस प्रश्न का अर्थ यह है कि "क्या प्रत्येक समानता स्वयं गुणों की समानता है", तो हम इसका उत्तर नकार में ही देंगे। परन्तु अन्य किसी भी अर्थ में हमारा उत्तर स्वीकारात्मक होगा, क्योंकि हम ऐसे किसी भी सुझाव का विरोध करेंगे जिसके अनुसार समानता इयत्ता में नहीं, अपितु केवल अस्तित्व की एकरूपता में स्थित मानी जाती है।

इससे मैं ऐसे ही एक दूसरे प्रश्न पर आता हूँ—क्या समस्त एकरूपता प्रत्ययात्मक है? हमारा उत्तर है वह सदा ऐसी ही इस अर्थ में है कि उसमें एकरूप वस्तुओं की अतिक्रान्ति का समावेश होता है। जहाँ विविधता नहीं होती वहाँ कोई एकरूपता भी नहीं होती, क्योंकि विविधता से पृथक्करण में एकरूपता का स्वभाव समाप्त हो जाता है, परन्तु, दूसरी ओर, जहाँ पर विविधता स्वयं एकरूप नहीं होती, अपितु केवल बाहर से अथवा मार-पीट कर बनायी जाती है, तो फिर एक बार एकरूपता तिरोहित हो जाती है। संक्षेप में समानता केवल बाह्य नहीं हो सकती, परन्तु इसका अर्थ यह है कि विविध का स्वभाव तथा सत्ता अपने निज स्वरूप से परे पहुँचता है, और किसी ऐसी वस्तु का स्वभाव बन जाता है जो इस बात प्रकार परे है—और यही प्रत्ययात्मकता है। इस प्रकार इस अर्थ में किसी भी अनुभूतिपूर्ण की एकता प्रत्ययात्मक हो जाती है, और यही बात किसी भी दिक् अथवा काल-सम्बन्धी सन्तति की एकरूपता के विषय में बल देकर कही जा सकती है। वहाँ पर अंगों का अस्तित्व केवल वहीं तक है जहाँ तक वे सापेक्षिक हैं और बाहर से निर्णीत होते हैं, तथा, दूसरी ओर वे स्वयं अपने निज स्वरूप से परे जा कर पूर्ण के स्वभाव को निर्णीत करते हैं और प्रत्येक अंग के भीतर सभी भाग इसी प्रकार प्रत्ययात्मक होते हैं। वस्तुतः शृंखला से बाहर किसी एकांगी तत्त्व की निरन्तरता तथा एकता को पाने के सामान्य प्रयत्न की अपेक्षा और अधिक असंगत कोई बात नहीं हो सकती, क्योंकि यदि एकांगी तत्त्व स्वयं निरन्तरतापूर्ण न हों, तो निःसन्देह कोई अन्य वस्तु उन्हें ऐसा नहीं बना सकती। परन्तु यदि वे स्वयं निरन्तरतापूर्ण हैं, तो उनकी निरन्तरता प्रत्ययात्मक है, और यही बात अक्षरशः प्रत्येक प्रकार की एकरूपता के लिए सच ठहरती है।

(२) सभी प्रकार की एकरूपता, इसलिए, गुणात्मक इस अर्थ में है कि वह इयत्ता तथा स्वभाव के रूप में होती है। वहाँ केवल अस्तित्व-मात्र की समानता नहीं होती

क्योंकि अस्तित्व-मात्र एक कुत्सित पृथक्करण है। और सर्वत्र एकरूपता प्रत्ययात्मक होती है जिसमें एकरूप वस्तु-द्वारा अपनी स्वयं की सत्ता को अतिक्रान्त किया जाता है। और सिद्धान्ततः तथा तत्वतः एकरूपता सर्वत्र एक तथा समान होती है, यद्यपि जैसे-जैसे वह विभिन्न प्रकार की विविधताओं में दिखायी पड़ती है वैसे-वैसे ही वह भिन्न होती जाती है। और इन विविधताओं के कारण, किसी आधारभूत प्रमुख सिद्धान्त के अस्तित्व को अस्वीकार करना मुझे तर्कहीन प्रतीत होता है। परन्तु मैं फिर कहूँगा कि, मेरी समझ में, विविधता को उसी सिद्धान्त के भीतर से विकसित हुआ नहीं कहा जा सकता, और व्यवस्थित रूप से उसकी अन्यथा स्थापना करने का प्रयत्न भी मेरी शक्ति के बाहर है। फिर भी सम्भवतः यदि मैं काल, दिक् और संख्या से सम्बन्धित एकरूपता पर कुछ विचार व्यक्त करूँ, तो उससे पाठक को सम्भवतः कुछ सहायता मिल सकती है, क्योंकि यह ऐसे विषय हैं जिनमें बहुत अधिक पूर्वाग्रह विद्यमान है।

दिक् तथा काल जैसे तथ्यों के आधार पर, मूलभूत एकरूपता-सिद्धान्त के अस्तित्व को ही अस्वीकार करने की एक प्रवृत्ति दिखायी पड़ती है। इस प्रवृत्ति से टक्कर लेना कठिन है क्योंकि यह प्रायः किसी स्पष्ट सिद्धान्त पर आश्रित होने में असमर्थ रहती है। अस्तित्व तथा गुण के बीच एक मौन विकल्प की कल्पना की जा सकती है और इस पर उस कथन को आश्रित किया जा सकता है कि किसी प्रकार की समानता केवल अस्तित्व में भी होती है, और इसलिए वह एक पूर्णतया बाहरी सिद्धान्त के अन्तर्गत आती है। परन्तु क्योंकि इस शब्द के अर्थ की दृष्टि से गुणों के बीच सभी प्रकार की एकरूपता नहीं होती, इसका अभिप्राय यह नहीं कि एक विस्तृत अर्थ में कोई भी एकरूपता गुणात्मक होने में असमर्थ होती है और इस प्रकार सम्पूर्ण विकल्प तिरोहित हो जाता है। संक्षेप में, सम्भवतः इस प्रश्न पर विचार हुआ नहीं दिखायी पड़ता कि बिना कोई अन्तर हुए भी किसी में भेद-भाव हो सकता है या नहीं।

हमने अभी देखा कि दिक् और काल एकरूपता-सिद्धान्त के उदाहरण हैं, क्योंकि उनके सभी भाग स्वातिक्रान्त होते हैं और उनका निजी अस्तित्व एक सर्वात्मक इकाई के निर्माण पर ही निर्भर होता है। मैं एक बार फिर कहूँगा कि गुणात्मक कहे जाने वाले भेदों से भिन्न दिक् और काल का कोई अस्तित्व नहीं। केवल दिक् और केवल काल में न तो भेद-भाव होते है और न उनको पाने की कोई सम्भावना ही होती है। बिना किसी उतार-चढ़ाव के, बिना किसी इधर-उधर के तथा आने-जाने के, दिक् और काल विलीन हो जाते हैं, और मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि इन भेद-भावों को गुणात्मक कहा जाना चाहिए। और फिर निःसन्देह काल और दिक् सीमित दिशाओं तथा अवधियों में ही सत् होते हैं। परन्तु, अन्यत्र न समाप्त होकर यहाँ समाप्त होने

के अतिरिक्त, ऐसी कौन-सी वस्तु है जो एक दिक् अथवा काल को सीमित करती है और यह रूप प्रदान करती है, और इसके सिवाय इसका क्या अभिप्राय हो सकता है कि उसका गुण एक निश्चित बिन्दु तक जाता है और फिर दूसरे गुण के रूप में बदल कर अपना अस्तित्व खो देता है? परमार्थतः 'एक काल' का कोई अर्थ नहीं, जब तक कि वह एक 'किंचित्' का काल न हो, और कोई भी काल जो किसी एक 'किंचित्' का काल होता है वह तभी तक वर्तमान होता है और वह एक काल है। और यदि यह बात है, तो दिक् तथा काल गुण से बाहर नहीं हो सकते, और हम देख चुके हैं कि उनकी पृथकता और एकरूपता सर्वथा प्रत्ययात्मक होती है।

निःसन्देह यह कहा जा सकता है कि यह असंगत है, और मैं नहीं कह सकता कि वह ऐसा नहीं है, और अब मैं जल्दी से एक दूसरी बात पर आता हूँ। मैं समझता हूँ कि यह सम्भव है कि गुण, दिक् तथा काल के बीच स्थित तथाकथित खाई दिक् और काल की आत्यन्तिक भिन्नता पर (जो कि काल्पनिक है) आश्रित हो। यदि दो वस्तुएँ एक अथवा अनेक दिशाओं या कालों से सम्बन्धित होने के कारण दो वस्तुएँ समान या भिन्न हों, तो ये समानताएँ और भेद कुछ बिलकुल पृथक् और अद्भुत कहे जायेंगे। उनका सम्बन्ध किसी एक 'क्या' से नहीं, अपितु केवल 'अस्तित्व' से होगा। इस आक्षेप के उत्तर में मैं उन्नीसवें अध्याय के कुछ सारांश को दोहराने की धृष्टता करूँगा।

निःसन्देह दिक् तथा काल की विविक्तता में अपना एक निज का स्वभाव होता है। निःसन्देह यद्यपि यह स्वभाव, जैसा कि हम देख चुके हैं, नग्न रूप में कुछ भी नहीं होता, परन्तु दूसरी ओर, दूसरे स्वभावों के सन्दर्भ में वह केवल समान नहीं होता, और उसकी परिभाषा उनमें नहीं हो सकती। यह सब सत्य है, परन्तु इनसे यह शायद ही प्रकट होता हो कि दिक् अथवा काल का स्वभाव एक स्वभाव नहीं है, अथवा यह स्वभाव भेदगत एकरूपता के एक सिद्धान्त का एक उदाहरण नहीं है। अतः मेरे अनुमान में, जिस पर जोर देना है वह दिक् तथा काल का एकाकीपन है, दिक् और काल के भाग पूर्णतया एकाकी नहीं स्वीकार किये जाते क्योंकि वे अन्य स्वभावों को स्वीकार करके उनमें भेद-भाव करते हैं, और एक दिक् अथवा एक काल को उसमें समाविष्ट अन्य सभी स्वभावों की वास्तविक एकरूपता समझा जाता है। दिक् और काल को उन गुणों से वस्तुतः पूर्णतः बहिर्गत नहीं माना जा सकता जिनको वे और आगे विशिष्ट करते हों। सांसारिक दृष्टि से और हमारी समझ के लिए, वे ऐसे ही रह सकते हैं, जिस प्रकार एक गुणात्मक पूर्णता में गुणों का सम्बन्ध अपेक्षाकृत बाह्य रूप में रह सकता है। परन्तु हम देख चुके हैं कि एक केवल बाह्य विशेषता आभास-मात्र होती है, और अन्त में जाकर तर्क-संगत अथवा सत् नहीं ठहरती (देखिये टिप्पणी क और ख)।

अतः मेरे अनुमान में एक काल अथवा एक दिक् का एकाकीपन स्वीकार करना अन्य कालों और अन्य दिशाओं के विरुद्ध पड़ता है, और केवल इसी एक दृष्टि से भी इसको आत्यन्तिक माना जाता है। किसी अन्य भाग के विरुद्ध, दिक् अथवा काल का प्रत्येक भाग एक विघटनकारी इकाई बन जाता है, और उसकी यह एकता तथा आन्तरिक एकरूपता उसके अस्तित्व में ही निहित समझी जाती है। परन्तु प्रकट रूप से यहाँ यह भुला दिया जाता है कि एकाकीपन पूर्णता पर अवलम्बित है। इदम् के अद्वितीय होने का कारण ही यह है कि वह इदम् शृंखला के अन्तर्गत है, और यदि यह बात है, तो, जैसा कि हम देख चुके हैं, यह इदम् केवल एकाकी ही नहीं, अपितु उसमें एक आत्मातिक्रान्त स्वभाव भी है, जिससे, यदि सचमुच दिक् अथवा काल की एक ही शृंखला होती, और, यदि इस प्रकार अद्वितीयता आत्यन्तिक होती, तो मैं नहीं समझ पाता कि वह एकरूपता के विरुद्ध किसी आक्षेप का आधार कैसे बन सकता था, क्योंकि शृंखला के भीतर, अद्वितीय होने पर भी, एक ऐसी एकता और एकरूपता रहती है जो प्रत्ययात्मक होती है, और शृंखला से बहिर्गत यदि वह अद्वितीय है, तो दिक् अथवा काल के भीतर कोई एकाकीपन नहीं होगा, अपितु केवल गुण में ही होगा। यह सब फिर केवल एक अस्थायी मान्यता है क्योंकि दिक् अथवा काल के अन्तर्गत यह कहना सत्य नहीं कि वहाँ वस्तुतः एक ही शृंखला होती है, और ऐसा कोई भी विचार एक अन्धविश्वास है जिसका मैंने इस पुस्तक में खंडन करने का साहस किया है।[1] दिक् तथा काल के अन्तर्गत बहुत-सी शृंखलाएँ हैं, और इन सबकी एकता कालात्मक तथा दिगात्मक नहीं है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि, जहाँ तक हमें ज्ञात है, दिक् और काल में स्थित किसी भी वस्तु के एकाध संगति-भाग हो सकते हैं, और दिक् तथा काल की दृष्टि से विचार किये जाने पर, इन विभिन्न वस्तुओं के बीच कोई भी अन्तर या भेद नहीं होगा, और न भेद की कोई संभावना ही होगी। निःसन्देह वे एक दूसरे से भिन्न होंगे, और उनकी अपनी-अपनी शृंखलाएँ भी भिन्न होंगी, परन्तु यह भिन्नता दिक् अथवा काल में न होकर केवल गुण[2], में होगी। इसके साथ मैं अपने उस व्यक्तव्य को

१. देखिए अध्याय–१८, और तुलना के लिए 'माइन्ड' एन० एस० संख्या १४। अद्वितीयता के विषय पर, मैं अपनी पुस्तक 'प्रिन्सिपुल्स आफ लाजिक' बुक–१, अध्याय २ की ओर भी संकेत करूँगा।

२. दिक् अथवा काल के अन्तर्गत होने वाली मेरी 'सत' शृंखलाओं पर भी यह बात लागू होती है। भेदात्मक स्वाभाव मेरी उस विशिष्ट व्यक्तिगत भावना में निहित है, जो अनुमानतः गुणात्मक होती है। मैं फिर कहूँगा, कि जहाँ तक हम जान सकते हैं वहाँ तक मेरी एक-दो ठीक-ठीक प्रतिकृतियाँ हो सकती है, जो कि निःसन्देह भिन्न हो सकती है, परन्तु जिनकी भिन्नता किसी ऐसे स्वाभाव में निहित होगी जो हमारे दृष्ट-जगत के बाहर की वस्तु होगा।

समाप्त करता हूँ, जो मुझे केवल 'अस्तित्व' के अन्तर्गत किसी भेद-रूपी 'अचम्भे के बच्चे' के विपय में कहना था।

स्पष्टतः, जैसा मुझे प्रतीत होता है, जब कोई एकरूपता का विरोधी दिक् या काल में होने वाली किसी वस्तु के नैरन्तर्य को प्रस्तुत करता है, तो वह उसकी कोई नयी स्थापना नहीं होती। मेरा अनुमान है कि, पहले की तरह ही, विचार यह है कि दिक् अथवा काल में भेदगत समानता का एक रूप होता है जो किसी भी अर्थ में स्वभावगत समानता नहीं होती, अपितु केवल 'अस्तित्व' की समानता ही होती है, और कोई वस्तु इस रूप में बाह्य स्थित होने से विशिष्ट हो जाती है। परन्तु इस रूप से होने वाली केवल बाह्य विशेषता-मात्र, तथा किसी रूप अथवा अन्य किसी का ऐसा अस्तित्व जो स्वभाव न हो—ये दोनों, जैसा कि हम देख चुके हैं समान-रूप से अमान्य है, और, जब सिद्धान्त का खंडन हो जाता है, तो आगे ब्योरे पर आग्रह करना व्यर्थ प्रतीत होता है। अतः इसको यहाँ छोड़ते हुए, मैं अब एक गौण त्रुटि पर विचार करूँगा।

जैसा कि इस पुस्तक में उल्लेख किया गया है, एक वर्त्तमान वस्तु की कालगत समानता के लिए, आपको कालात्मक निरन्तरता तथा वस्तु की स्वभावगत समानता दोनों ही चाहिए। यहाँ पर कालात्मक निरन्तरता के विपय में जो सत्य है, वही दिगात्मक समानता के विपय में भी होगी, और इस बात को न देखना एक गलती होगी। किसी वस्तु की एकमात्रता के लिए काल अथवा दिक् के भीतर किसी पूर्णतया, अखंडित-निरन्तरता की आवश्यकता है या नहीं, यह एक ऐसा प्रश्न है जिसको मैं यहाँ छोड़े देता हूँ, परन्तु यदि किसी भी अवधि की आवश्यकता है, तो स्पष्टतः कोई अखंडित अवधि होनी चाहिए। साथ ही वस्तु के द्वारा निज स्वभाव को कायम रखना भी मेरी सम्मति में आवश्यक प्रतीत होता है। यह हो सकता है कि स्वभाव बदले, परन्तु यह परिवर्तन उसके बाहर होना चाहिए जिसको हम वस्तु का आवश्यक गुण मानते हैं, क्योंकि अन्यथा स्वतः ही निरन्तरता खंडित हो जायगी। यद्यपि यह बात स्वतः स्पष्ट प्रतीत होगी, परन्तु फिर भी मुझे इस विपय में अस्पष्ट लगा, उसकी ओर मैंने संकेत कर दिया है।

आइए एक प्रश्न पूछें। किसी वस्तु के निरन्तर अस्तित्व में एक खंडन का क्या अर्थ है? वह केवल 'अस्तित्व' में नहीं स्थित होता, क्योंकि उसका अर्थ कुछ भी नहीं है, और वह केवल दिगात्मक या कालात्मक भी नहीं हो सकता, क्योंकि वहाँ कोई भी खंडन असम्भव है। उदाहरण के लिए एक काल यदि सचमुच खंडित हो जाता है, तो वह एक खंडित-काल नहीं होगा, अपितु वह किसी भी कालात्मक खंडन से रहित दो शृंखलाओं में परिणत हो जायगा, और इसलिए उसमें कोई खंडन नहीं होगा। अतः खंडन केवल सापेक्षिक है, और इसके लिए एक अखंडित 'पूर्ण' होना आवश्यक है जिसमें

कि वह घटित हो। इसका अभिप्राय यह है कि एक कालात्मक खंडन के लिए, पहले एक निरन्तर अवधि होना आवश्यक है। हम देख चुके हैं कि यह अवधि केवल कालात्मक नहीं हो सकती, अपितु वह एक अवधि के रूप में होगी, क्योंकि उसमें सर्वत्र एक ही इयत्ता निरन्तर भाव से होगी—आइए इसको हम 'क' कहें। इसके भीतर एक दूसरी भी इयत्ता होगी जिसको हम 'ख' कह सकते हैं, सम्पूर्ण 'क' केवल 'ख' के द्वारा ही विशिष्ट नहीं होगी, अपितु केवल उसका एक अथवा अधिक भाग ही होगा। क का अवशिष्ट अंश, ख से विशिष्ट न होकर अपितु ख के किसी विरोधी स्वभाव से विशिष्ट होकर, अवधि का वह भाग है, जो ख के प्रसंग में एक खंडन उपस्थित कर देता है। जिस बात पर मैं जोर देना चाहता हूँ वह यह है कि, एक ही स्वभाव ख के द्वारा विशिष्ट होने, तथा पुनः ख से विपरीत किसी अन्य स्वभाव से अंशतः विशिष्ट होने के अतिरिक्त ख की अवधि की बात करने में कोई भी उसी प्रकार का अर्थ नहीं होता, जिस प्रकार किसी अन्य वस्तु की अवधि के विषय में बात करने से, अथवा ख के अस्तित्व के किसी कालगत अंत या खंडन के विषय में बात करने में होता है। जब तक कि किसी वस्तु का गुण निरन्तर भाव से, समान न हो, तब तक किसी वस्तु की अवधि वस्तुतः कोई अर्थ नहीं रखती।

मैं नहीं जानता कि उपर्युक्त बातों में पाठक को कितना अंश असंगत तथा व्यर्थ लगेगा। समस्त एकरूपता की मूलभूत समानता के विरुद्ध जो आपत्तियाँ हो सकती हैं उनके निवारण में, मैं उसकी पूरी तरह से सहायता करने की भरसक कोशिश कर रहा हूँ। मैं फिर दोहरा दूँ कि ये आपत्तियाँ मुझ को अंधविश्वासों पर आधारित प्रतीत होती हैं। उनमें से एक यह है—क्योंकि समानताएँ विविध हैं, इसलिए उनका आधारभूत स्वभाव एक नहीं हो सकता, और दूसरा यह है कि स्वभाव के बाहर एक विदेशी अस्तित्व है और दोनों के बीच एक खाई है। साधारण समझ के ऐसे भोंड़े परिचित विभाजन दर्शन के क्षेत्र में केवल अंधविश्वास मात्र हैं, और यदि मुझे यह मालूम होता कि इसकी अपेक्षा कोई अच्छी वस्तु और है, तो मैं सहर्ष उसी के विरुद्ध अपना तर्क उपस्थित करता।

सम्बद्धता के भय के बावजूद मैं कुछ शब्द 'संख्यागत' समानता तथा भेद के विषय में कुछ कहूँगा। एक दृष्टि से मैं इसको बहुत कठिन विषय मानने का साहस करता हूँ। मेरा यह अभिप्राय नहीं कि यह सिद्धान्ततः कठिन है, और इसकी कठिनाई केवल 'अस्तित्व' की समानता तथा भिन्नता की ओर, अथवा भिन्नताविहीन भेद की ओर या ऐसे ही किसी 'अचम्भे के बच्चे' की ओर खदेड़ने का प्रयत्न करती है। वस्तुतः यदि हम आँख मूंद कर अनुमान कर लें (जैसा कि प्रायः किया जाता है), कि संख्यागत

समानता मूलतः कालगत या दिक्‌गत होती है, तो, जो अभी तक कहा जा चुका है, उससे अधिक कहने को कुछ भी नहीं बचता।

संख्यागत भेद को भिन्नताहीन भेद नहीं कह सकते, क्योंकि वह फिर अर्थहीन होगा, परन्तु उसको एक ऐसा भेद कहा जा सकता है जो किसी विशेष भेद से पृथक्कृत होता है और उसकी उपेक्षा करता है। उसको भेद-भाव का वह अवशिष्ट पक्ष कहा जा सकता है जो उसके 'किम्' और 'कथम्' की अपेक्षा नहीं रखता। आधारभूत भेद कालगत, दिक्‌गत, अथवा अन्य कुछ है या नहीं, इस बात की तब तक पूर्ण उपेक्षा कर दी जाती है जब तक वह भिन्नता उपस्थित करता है। और जहाँ कहीं भी मैं इस प्रकार भिन्नता देख सकता हूँ, वहाँ तक मैं वस्तुतः गणना कर सकता हूँ, और मुझे इकाइयाँ प्राप्त होती हैं। निःसन्देह परिमाणानुभूति से पृथक् स्वयं इकाइयों का कोई अस्तित्व नहीं, परन्तु मेरे कहने का यह अभिप्राय नहीं कि परिमाण से पृथक् कोई भेद सम्भव नहीं, अथवा परिमाण का विकास किसी भी बुद्धिसंगत रूप में ऐसी वस्तु से हो सकता है जो स्वयं उसकी अपेक्षा सरलतर हो। मैंने वस्तुतः पर इसलिए जोर दिया है जिससे इन प्रश्नों को एक तरफ छोड़ दिया जाय, क्योंकि उनकी अस्थायी उपेक्षा की जा सकती है। उसी प्रकार संख्यागत समानता विविध सन्दर्भों के द्वारा ऐसे ही किसी नग्न भेद की निरन्तरता का नाम है—इससे कोई प्रयोजन नहीं कि ये सन्दर्भ क्या हैं। निःसन्देह इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि, जब तक और जहाँ तक समानता तथा भिन्नता केवल संख्यागत है, तब तक और वहाँ तक वे दोनों दिक्‌गत या कालगत नहीं हो सकते, और न किसी सीमित अर्थ में वे गुणात्मक ही हो सकते हैं। तो फिर एक समस्या उपस्थित होती है जो मुझे—चाहे ग़लत हो या सही, एक अति कठिन प्रतीत होती है। वस्तुतः इस में मेरी जो कठिनाई है उसी के कारण मैं संख्यागत समानता के विषय में बात करने से बचता रहा हूँ। किसी हद तक मैंने उन व्यक्तियों की भाँति (मेरे अनुमान में ऐसे लोग बहुत नहीं होंगे) प्रतीत होना अधिक अच्छा समझा जो इस परिचित भेद-भाव से अपरिचित हैं अथवा कम-से-कम जो व्यवहार में इसका प्रयोग नहीं कर सकते। और मेरी कठिनाई संक्षेप में यह है। स्वभावगत भेद के बिना कोई अभाव संभव नहीं, और इससे विपरीत स्थिति अर्थहीन प्रतीत होती है। तो फिर अन्त में, वह कौन-सा स्वभावगत भेद है। जो संख्यागत भेद-भाव के निर्माण के लिए पर्याप्त है? मेरा अभिप्राय यह नहीं कि, भिन्नता का भेद से अन्त में क्या सम्बन्ध है? परन्तु सामान्य प्रश्न को अलग रखते हुए, मेरा प्रश्न है कि, भेद को अस्तित्ववान होने के लिए किस अथवा किन स्वभावगत विविधता या विविधताओं की पूर्व-स्थिति मानना आवश्यक है? अथवा पुनः हम न्यूनाधिक रूप में उसी प्रश्न को इस प्रकार पूछ सकते हैं, यदि संख्यागत

भिन्नता और समानता को विस्तृततम अर्थ में ग्रहण किया जाय, तो उनके लिए कम-से-कम कितनी और किस प्रकार की विविधता आवश्यक है ? और मैं इस प्रश्न का कोई सन्तोषजनक उत्तर नहीं दे सकता ।

वस्तुतः यह उत्तर देना सरल है कि मूलतः समस्त भेद कालात्मक हैं, या फिर समस्त भेद दिगात्मक हैं, अथवा पुनः शायद समस्त भेद दोनों ही हैं । मैं इस सुझाव से बहुत दूर हूँ कि ऐसे मत तर्क-विरुद्ध तथा असाध्य हैं । जब तक वे दिक्, काल या गुण से कोई कुत्सित पृथक्करण नहीं करते, अथवा दिक् और काल को स्वभाव-रूप के स्थान पर अस्तित्व-रूप में स्थापित करने का प्रयत्न नहीं करते, तब तक ऐसे मतों में कुछ भी तर्क-विरोधी नहीं होता । परन्तु चाहे वे ठीक हों या ग़लत, दोनों ही अवस्थाओं में, जब तक कि वे मेरी कठिनाइयों की उपेक्षा करने वाले कथन रहेंगे, तब तक वे मेरे लिए निरर्थक हैं । मेरे लिए प्रमुख कठिनाई यह है । भावना में, मैं एकतागत विविधता की सर्वात्मक इकाइयाँ एक तथ्य-रूप में पाता हूँ, और इन सर्वात्मक इकाइयों में से कुछ के विषय में, मुझे कोई भी वस्तु कालात्मक अथवा दिगात्मक नहीं मिलती । निःसन्देह इसमें मेरी गलती हो सकती है, परन्तु मेरे लिए ये तथ्य इसी प्रकार उपस्थित होते हैं । और मेरा प्रश्न यह है कि यह क्यों असम्भव है कि अकालात्मक तथा अदिगात्मक भेदगत समानता के एक या अनेक स्वरूप किसी भेद-भाव के आधार पृष्ठभूमि बनें । यह उत्तर दिया जा सकता है कि कम-से-कम कालगत क्रमागति के बिना किसी को कदापि कोई भेद ही नहीं प्राप्त हो सकते । फिर भी, यदि यही तथ्य है (और मैं इसका प्रतिवाद नहीं करता), तो मुझे फिर भी इस निष्कर्ष में सन्देह है । मुझे यह विश्वास नहीं कि यह निष्कर्ष इसलिए निकलता है, कि बिना क्रमागति के कोई भेदभाव नहीं होता और न यह कि सभी भेद स्वभावतः क्रमागत होने चाहिए । कम-से-कम अकालात्मक अदिगात्मक एकतागत विविधता का अस्तित्व प्रतीत होता है । जिन भेदों को मैं इस विविधता पर आधारित कर सकता हूँ, उनमें, कम-से-कम मेरे लिए कुछ स्थितियों में काल या दिक्-सम्बन्धी कोई भी अन्वेषणीय स्वभाव नहीं प्रतीत होता । और प्रश्न यह है कि कालात्मक (अथवा, यदि आप चाहें तो, दिगात्मक स्वरूप) जिसको हम भेद-भाव के उद्भव के लिए आवश्यक मानते हैं, उसको वस्तुतः विशिष्ट करेगा या नहीं ? क्या यह सम्भव नहीं, कि (उसकी प्रथम प्राप्ति कैसे ही क्यों न हो) भेद-भाव के स्वरूप का अस्तित्व, कम-से-कम कुछ उदाहरणों में, एकतागत विविधता की अ-कालात्मक तथा सरलतर योजना के द्वारा तथा उसी पर आधारित हो सके ? यह मुझे एक कठिन प्रश्न लगता है, और मैं यहाँ पर कोई निर्णय देने का बहाना नहीं करता, और मेरे अनुमान में इसमें उसकी अपेक्षा कहीं अधिक सावधान गवेषणा की आवश्यकता है, जिसको

बहुत-से पुरुष इस विषय में करने के लिए उद्यत प्रतीत होते हैं।[1] संख्यागत एकरूपता के विषय में अच्छी तरह से, मेरे विचार में, इससे अधिक और कुछ नहीं कहा जा सकता।

प्रमुख प्रश्न पर पुनः आते हुए, मैं यह कहना चाहूँगा कि मैं किसी सन्देह के साथ उसको समाप्त नहीं कर रहा हूँ। विविधतागत एकरूपता के अनेक स्वरूप ऐसे होते हैं, जिनकी तर्कसंगत व्युत्पत्ति एक-दूसरे से नहीं हो सकती, परन्तु जो फिर भी एक ही मूलभूत सिद्धान्त के उदाहरण तथा विकास होते हैं। केवल 'अस्तित्व' कुछ हो सकता है, अथवा किसी वस्तु को वैसा ही अभिन्न बना सकता है—यह विचार एक अंधविश्वास-मात्र लगता है। गुण के किसी विशेष अर्थ में, सब-कुछ गुण नहीं है, अपितु इयत्ता तथा स्वभाव के अर्थ में ही सब-कुछ गुण होता है। एक 'किम्' से पृथक् किसी 'तद्' की खोज करना एक ऐसे माया-मृग का पीछा करने के समान है, जिसके पास आप जितना ही निकट पहुँचें वह उतना ही दूर भागता है। परन्तु यह माया-मृग भी सत्य का एक भ्रामक प्रदर्शन-मात्र है, क्योंकि चरम तत्त्व में अपने 'तद्' की पुनर्गवेषणा करने वाले तथा उससे पृथक् कोई 'किम्' नहीं होता, अपितु ये दोनों ही पक्ष अभिन्न होते हैं।

(३) यहाँ मैं सादृश्य के सम्बन्ध में कुछ टका-टिप्पणी करना ठीक समझता हूँ, यद्यपि इस विषय में मुझे कुछ भी नया नहीं कहना है। सादृश्य या समानता अथवा सरूपता, संकीर्ण अर्थ में, मेरे लिए दो भिन्न वस्तुओं की न्यूनाधिक रूप में अनिश्चित समानता का प्रत्यक्षण-मात्र है। वह निम्नतर प्रकार की उस एकरूपता से भिन्न है, जिसमें, समानता सूत्र तथा विविधता के साथ उसे भेद का कोई विशेष ज्ञान हुए बिना ही, वस्तुओं को एक समान समझ लिया जाता है, क्योंकि उसमें इस बात की स्पष्ट चेतना रहती है कि वस्तुएँ दो हैं और वे भिन्न हैं। वह एक अधिक स्पष्ट स्वरूपवाली एकरूपता से भिन्न होती है, क्योंकि सादृश्य का यह सार है कि समानता के सूत्र कम-

---

१. क्या समस्त भेद-भाव का स्वरूप कालात्मक अथवा दिगात्मक है? इस प्रश्न का अर्थ यहाँ यह नहीं कि—जो भेद हम कर सकते हैं, अथवा जो प्राचीनतम भेद-भाव हमने किये हैं, उन स्वयं में क्या ऐसा कोई स्वाभाव हमारे लिए और 'स्पष्ट रूप में' होता है? इस प्रश्न का उत्तर मैं बिना हिचकिचाहट नकारात्मक दूँगा। जिस प्रश्न के विषय में मुझे सन्देह है, उसका सम्बन्ध प्रत्यक्षतः उस विषय से नहीं है जिस पर हम विचार कर रहे हैं, अपितु भेद-भाव उस आध्यात्मिक यंत्र से है, जिसको हम देख नहीं पाते, परन्तु, जो कम-से-कम मेरे अनुमान में, अवश्य होना चाहिए और जिसके द्वारा विषय किसी न किसी अर्थ में विशिष्ट होना चाहिए। भेद के आधार-रूप दिक् पर कुछ टिप्पणियों के लिए देखिए 'माइन्ड,' एस० एन० संख्या—१४, पृ० ३३२–३३ जहाँ तक मैं समझता हूँ दिक् का पक्ष मजबूत नहीं, और कुछ भी हो सकता है।

से-कम अंशतः अव्याकृत तथा अनिर्दिष्ट रहें। इसके आगे एक विशेष भावना है, जिसका सम्बन्ध समानता की अनुभूति से है, और जो उसके निर्माण में सहायक भी होती है। इस अनुभूति का सम्बन्ध समानता की यथार्थ अनुभूति से नहीं होता। इसके विपरीत, सादृश्य सदैव आंशिक समानता पर आधारित होता है, और इस आंशिक समानता के विना, जिसको वह अपने अव्याकृत ढंग से वह देखता है, सादृश्य की कोई भी अनुभूति नहीं होती और इसके विना सादृश्य पर बात करना कोई अर्थ नहीं रखता।

इसी आंशिक एकरूपता के कारण, जो कि हमारी सादृश्यानुभूति की उपाधि है और जिसको सादृश्य व्यक्त करता है, हम, किसी हद तक 'सदृश्य' के स्थान पर 'वही' और 'वही' के स्थान पर 'सदृश्य' का प्रयोग करते हैं। परन्तु विशिष्ट सादृश्य-भावना स्वयं ही वह आंशिक एकरूपता नहीं होती, जिसका उसमें समावेश होता है। और आंशिक एकरूपता में यथार्थ सादृश्य बिल्कुल अभिप्रेत होना आवश्यक नहीं। परन्तु उसकी उपाधि तथा अभिव्यक्ति के रूप में जब तक आंशिक एकरूपता नहीं होती तब तक सादृश्य कुछ भी नहीं होता।

एक तर्कसंगत दृष्टिकोण के सादृश्य गौण होता है, परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि उसकी विशिष्ट अनुभूति तादात्म्य में परिणत हो सकती है अथवा उसके द्वारा समझायी जा सकती है। और इसका यह भी अर्थ नहीं है कि, जब आप किसी सादृश्य में विश्लेषण द्वारा समानता-सूत्र का निर्देश करें, तो सादृश्य अवश्य तिरोहित हो जाय। वस्तुओं का निर्माण ऐसी सरलता से नहीं होता। इतना आपने विश्लेषण किया, इतना सादृश्य (यथार्थ) चला गया, और इतना ही उसके स्थान पर एकरूपता का प्रत्यक्षण आ गया—परन्तु केवल उतना ही। इस नये प्रत्यक्षण के साथ-साथ, (और जहाँ तक कि उसका प्रसार नहीं होता), सादृश्य की वही अनुभूति फिर भी बनी रह सकती है। और इससे यह दलील देना कि सादृश्य समानता पर आधारित नहीं है, मेरे विचार में, समझ की अद्भुततम कमी है। और फिर इससे कोई सम्बन्ध नहीं कि एकरूपता अथवा सादृश्य की अनुभूति मनोवैज्ञानिक की दृष्टि से तथा समय की दृष्टि से प्रायः पहले से होती है या नहीं। मैं स्वयं तो स्पष्ट मानता हूँ कि निम्नतम रूप में एकरूपता पहले आती है, परन्तु हमारे वर्तमान उद्देश्य के लिए यह समूचा प्रश्न ही असंगत है। यहाँ प्रश्न तो यह है कि एक तर्कपूर्ण दृष्टिकोण से सादृश्य गौण है या नहीं, तथा वह सदैव एकरूपता पर आधारित है या नहीं, जब कि एकरूपता किसी भी अर्थ में उस पर आधारित नहीं होती।

अब मैं कुछ ऐसे आक्षेपों पर विचार करूँगा, जो इस मत के विरुद्ध उठाये गये प्रतीत होते हैं। इसके पश्चात् मैं यह प्रयत्न करूँगा कि यदि इसको अस्वीकार भी कर दिया

जाय, तो हम किस स्थिति में रह जाते हैं। इस कार्य का प्रश्न प्रथम भाग में दो कारणों से, बहुत संक्षेप में समाप्त करूँगा। कुछ आक्षेपों को मैं समाप्त हुआ मानता हूँ, और दूसरे मेरे लिए अस्पष्ट हैं। किसी भी गुणात्मक एकरूपता की संभावना के विरुद्ध जो तत्वज्ञानीय आक्षेप है, मेरी समझ में उसको यों ही छोड़ दिया जाय, और मैं अन्य दो पर आऊँगा जो कि एक मिथ्या-धारणा पर आश्रित प्रतीत होते हैं। हमसे कहा जाता है कि, तुम तब तक यह नहीं कह सकते कि दो सदृश्य वस्तुएँ एक समान हैं, जब तक कि तुम प्रत्येक में समानता-सूत्र को दिखलाने के लिए तैयार न हो। मैंने इस आक्षेप का पहले ही उत्तर दे दिया है, और यहाँ मैं प्रमुख बात को दुहराऊँगा। मैं यह जानना चाहता हूँ कि क्या यह अस्वीकार किया जा रहा है कि विश्लेषण से पूर्व, वस्तुओं के विविध पक्ष हो सकते हैं, और क्या यह कहा जाता है कि विश्लेषण जिसको प्रकट करता है उसको वह सदैव उत्पन्न करता है अथवा क्या (किसी अप्रस्तुत कारण से) क्या किसी को विश्लेषण की शक्ति में इतना विश्वास करना चाहिए कि वह यह मानने लगे कि विश्लेषण जिसको नग्नरूप में प्रकट नहीं करता, उसका कोई अस्तित्व ही नहीं है, अथवा पुनः किसी अकथित कारण से, किसी को इसे, एक सामान्य सिद्धान्त के रूप में नहीं, अपितु केवल वहीं पर मानना चाहिए जहाँ समानता से सम्बन्ध हो। जब मैं यह जानता हूँ कि मुझे किसका सामना करना है, तो मैं उसका सामना करने की कोशिश करूँगा, अन्यथा मैं असहाय हूँ।[१] एक दूसरा आक्षेप, जिस पर मैं अभी विचार करूँगा, व्याख्या करने को शेष रह जाता है। ऐसा विश्वास प्रतीत होता है कि मात्राओं की एक शृंखला के प्रत्यक्षण एक ऐसा तथ्य है जिससे यह सिद्ध होता है कि समानता के आधार के बिना भी सादृश्य हो सकता है। जहाँ तक मुझसे बन पड़ा है इस दलील का कई रूपों में सामना करने का मैंने प्रयत्न किया है, और यहाँ मैं इतना कहना चाहूँगा कि मैंने खास मुद्दे पर जो भी सफाई दी है, वह सब बेकार हो गयी है। मैं इस प्रश्न को यहाँ दोहराऊँगा कि—क्या आप किसी ऐसी मात्रा-शृंखला की कल्पना कर सकते हैं जिसमें शून्य की मात्राएँ हों, और अन्यथा क्या आपने एक आधारभूत समानता को स्वीकार नहीं कर लिया? अगर मुझसे कोई पूछे कि, "क्या सादृश्य की मात्राएँ नहीं हो सकतीं?" तो मेरा उत्तर होगा कि, हाँ, अवश्य हो सकती हैं। परन्तु यदि ऐसा हो, और इस दशा में सादृश्य स्वयं

---

१. मैं देखता हूँ कि श्री हाब हाउस इस आक्षेप को मानते हुए प्रतीत होते हैं (पृ० १०९) परन्तु जहाँ मैं समझता हूँ, वह उसकी व्याख्या करने अथवा उसको उचित ठहराने का कोई प्रयत्न नहीं करते। वह इस बात को भी अस्वीकार करने के लिए उद्यत नहीं प्रतीत होते कि समानता के मूल में सदैव सादृश्य होता है। अतः इस प्रसंग में तथा अन्य स्थानों पर भी, मुझे उनकी स्थिति बिलकुल स्पष्ट प्रतीत होती है।

समानता का सूत्र हो और सादृश्य में ही मात्राएँ हों, तो इससे यह कैसे दिखलाया जा सकता है ? या तो उसमें समानता होती ही नहीं, अथवा सादृश्य की आधारभूत कोई समानता होती ही नहीं—इस बात का अनुमान मैं नहीं कर सकता। मैं स्वीकार करता हूँ, अथवा जोर देता हूँ और आग्रह करता हूँ कि एक शृंखला का प्रत्यक्षण मनोविज्ञान में एक उतना ही कठिन मुद्दा है जितना कि वह महत्त्वपूर्ण और उपेक्षित है। परन्तु दूसरी ओर, मैं इस बात पर जोर दूँगा कि यदि आप समानता को नहीं मानते तो आप इस तथ्य की व्याख्या करने की संभावना ही समाप्त कर देते हैं, और तथ्य को एक अनिर्वचनीय मूर्खता में बदल देते हैं। मैं यह भी कहूँगा कि जिस आक्षेप का अर्थ ही न बतलाया जाय उसके उत्तर की सामान्यत: आशा नहीं की जा सकती।[1]

इस विषय से आगे चलकर, आइए हम विचार करें कि समानता का विकल्प क्या हो सकता है ? यदि हम स्वभावगत समानता को अस्वीकार करें और सादृश्य-मात्र का प्रतिपादन करें, तो हमारे पास क्या रह जाता है ? मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि हम गड़बड़ी में पड़ जाते हैं, और अन्त में हमारे हाथ मूर्खता ही लगती है। सादृश्य-युक्त व्यंजकों, को समानताहीन सादृश्य मात्र किस प्रकार विशिष्ट करें, यह एक ऐसी समस्या है जिसका सामना नहीं किया जा सकता, और फिर भी जो हल न होने पर बर्बादी की धमकी देती है। केवल सादृश्य के प्रयोग से मनोविज्ञान में हमें विशाल तथा व्यर्थ मनगढ़न्तों को अपनाना पड़ता है, और तर्कशास्त्र में इसके कारण एक ऐसा दिवालियापन तुरन्त उपस्थित हो जाता है जिसको कभी भी मिटाया नहीं जा सकता। यदि स्वभावगत समानता को समानता नहीं समझा जाता, तो हमारे निष्कर्ष छिन्न-भिन्न होकर नष्ट हो जाते हैं, और संक्षेप में हमारे ज्ञान की दुनिया समाप्त हो जाती है।

और इस दिवालियेपन को कैसे ढँका जाता है ? क्या बात है कि जो लोग स्वभाव-

---

१. मैं नहीं कह सकता कि श्री हाव हाउस इस आक्षेप के समर्थक माने जायँ या नहीं। उनकी पुस्तक के ११२ वें पृष्ट पर, जो दलील दी गयी है उसको, मुझे खेद है, मैं नहीं समझ पाया हूँ, और उससे जो अर्थ निकलता ही न हो उसे मानकर आलोचना करने से कोई लाभ नहीं। परन्तु मुझे वहाँ पर ऐसा कुछ भी नहीं मिला जिसको यहाँ के वास्तविक प्रश्न पर विचार करने का कोई प्रयत्न कहा जा सके। क्या कोई ऐसी मात्राएँ हो सकती हैं जिनको शून्य की मात्राएँ कहा जा सके, और क्या ऐसा सादृश्य हो सकता है जिसमें सादृश्य-सूत्र ही न हो ? क्योंकि परिणाम तथा मात्रा के सम्बन्ध केवल समानता में नहीं हो सकते, इसलिए वे समानता-विहीन सादृश्य-मात्र में होना ही चाहिए इस प्रतीति को, मैं नहीं समझ पाता। इनमें से किसी को भी स्वीकार करने के लिए बाध्य क्यों किया जाय ? परन्तु जहाँ मैं समझने में असमर्थ रहा, वहाँ मुझे आलोचना का प्रयत्न नहीं करना चाहिए।

गत समानता को अस्वीकार करते हैं, वे ही तर्कशास्त्र में अथवा जहाँ कहीं भी उन्हें सुविधाजनक होता है, वहाँ वे ऐसे व्यंजकों का प्रयोग करते हैं, जैसे "वही", "उनकी समानता", और एक "रीति-नीति" ? यहाँ पर ये सभी व्यंजक ठीक-ठीक समानता अथवा ठीक-ठीक सादृश्य के द्योतक हैं। जब सादृश्य इस सीमा तक पहुँच जाता है कि दृश्य-भेद समाप्त हो जाते हैं, तो मेरी समझ में आपको सचमुच समानता या एकरूपता प्राप्त नहीं होती, परन्तु आप इस तरह कह सकते हैं कि मानों आपको प्राप्त हो गयी हो, और इस प्रकार भाषा और तर्क की टक्कर बचायी या छिपायी जा सकती है।

सिद्धान्ततः "ठीक-ठीक समानता" के प्रयोग के विषय में क्या आपत्ति हो सकती है ? आपत्ति यह है कि जब आप 'ठीक-ठीक' का प्रयोग करके सभी आँतरिक भेदों को दूर कर देते हैं, तो सादृश्य केवल सादृश्य नहीं रह जाता अपितु तादात्म्य में परिणत हो जाता है। हम देख चुके हैं कि सादृश्य में दो वस्तुओं को समान होना चाहिए और साथ ही उनका समानता-सूत्र स्पष्ट नहीं होना चाहिए। एकरूपता से पृथक् और विपरीत सादृश्य के लिए यह आवश्यक है, और यही कारण हैं कि (क्योंकि आप नहीं जानते कि सादृश्य सूत्र क्या है और वह जटिल हो सकता है कि नहीं) आप तर्क में केवल सादृश्य को समानता के रूप में प्रयुक्त नहीं कर सकते। हम देख चुके हैं कि आप विश्लेषण करते हुए भी सादृश्य के प्रत्यक्ष को कायम रख सकते हैं, परन्तु, जहाँ तक आप विश्लेषण करते हैं वहाँ तक आपके पास कुछ दूसरी ही वस्तु होती है, और जब आप बहस करते हैं, तो आप सादृश्य का प्रयोग नहीं करते, अपितु, यदि आपकी दलील तर्कपूर्ण है तो आप सादृश्य-सूत्र स्पष्टतः एक तादात्म्य है। हम देख चुके हैं कि अंग्रेजी शब्द 'लाइकनेस' का दोहरा अर्थ है जिसके कारण समानता के लिए भी उसका प्रयोग हो सकता है। 'लाइकनेस' का अभिप्राय मेरी विशेष सादृश्यानुभूति से हो सकता है (और वह स्वयं तादात्म्य नहीं हो सकती), अथवा इसका अभिप्राय दो वस्तुओं की स्वभावगत वास्तविक आंशिक समानता से हो सकता है, चाहे मेरे लिए वे परस्पर सदृश्य हों या नहीं। अतः 'ठीक-ठीक सादृश्य' का प्रयोग उस तादात्म्य-भाव के लिए हो सकता है जिससे सादृश्य-सूत्र बनता है और यह आवश्यक नहीं कि उसका अभिप्राय केवल सादृश्य से हो जो कि तादात्म्य विरोधी होता है। जहाँ ठीक-ठीक सादृश्य का अर्थ तादात्म्य-भाव नहीं होता, वहाँ पर दिवालियापन एकदम पक्का हो जाता है।

हमको चेतावनी दी जाती है, आपको यह नहीं कहना चाहिए कि दोनों नोट समान हैं, अथवा दोनों मटरों का समान रंग है, क्योंकि इससे आप प्राथमिक भेद करने की अयोग्यता को सिद्ध करते हैं, अथवा हमारे साथ आप यही कहें, बशर्ते कि आपको स्पष्ट मालूम हो कि आपका अभिप्राय वह नहीं है अपितु आपका आशय केवल सादृश्य से

है। और जब हम प्रश्न करते हैं कि क्या वे नोट और रंग वस्तुतः भिन्न हैं ? तो हमें उत्तर मिलता है, सादृश्य ठीक-ठीक है। परन्तु इस उत्तर से मैं स्वयं सन्तुष्ट नहीं हो सकता। मैं तो यह जानना चाहता हूँ कि शब्दों अथवा रंगों के स्वभाव में कोई भेद वतलाया जाता है कि नहीं। जिस रूप में मैं समझा हूँ, यहाँ पर रास्ते दो हो जाते हैं। यदि आप एकरूपता को स्वीकार करते हैं, तो आपका एक सुसंगत मार्ग यह है कि आप उत्तर दें, निःसन्देह एक भेद है। मैं जानता हूँ इन शब्दों का क्या अर्थ है और जब मैंने यह कहा कि यह समान नहीं अपितु केवल सदृश्य है तो मैं आन्तरिक विविधता का प्रतिपादन करना चाहता था, यद्यपि मैं यह नहीं जानता कि वह ठीक ठीक क्या है। स्पष्ट है कि यदि मैं एक साँस में यह कह जाता कि वस्तुओं के स्वभाव में कोई भेद नहीं है, परन्तु फिर भी दोनों का स्वभाव एक नहीं है, तो यह घातक वात होती। मैं स्वीकार करता हूँ कि यह स्थिति यहाँ तक स्वसंगत है, परन्तु चारों तरह उसका अवसान एक बौद्धिक वर्वादी में होता है। जहाँ तक मैं समझ पाया हूँ, दूसरा तरीका यह है कि इस वात को स्वीकार और प्रतिपादित किया जाय कि ठीक सादृश्य में वस्तुतः कोई भेद नहीं होता और उसमें एक ऐसे सादृश्य-सूत्र का समावेश होता है जिसके भीतर किसी भी विविधता का अस्तित्व नहीं माना जा सकता, और जिसको हम तर्क में यह समझ कर प्रयुक्त करते हैं कि स्वभावगत विभिन्नता वहिर्गत हो गयी है—और दूसरी ओर इस वात पर भी आग्रह किया जाय कि यहाँ हमें फिर भी कोई समानता नहीं अपितु केवल सादृश्य मिला है। इसके साथ-साथ, जहाँ तक मैं समझता हूँ दलील समाप्त हो जाती है। मैं स्वयं इस प्रकार के दृष्टिकोण को, किसी सिद्धान्त को अस्वीकार करने के उस अज्ञात निश्चय का परिणाम मानता हूँ, जो सिद्धान्त के परिणामों से भयभीत होकर किया गया हो।

परन्तु यदि हम परिणामों पर दृष्टि डालें (और मैं इसके लिए तैयार हूँ) तो हम एक ओर से आँखें क्यों मूँद लें ? जिसको व्यक्तिगत समानता कहा जाता है, उसमें और स्वभावगत एकरूपता-मात्र में कोई भ्रम न हो, यह अत्यन्त वांछनीय है और निःसन्देह इस वात पर हम सव सहमत हैं। परन्तु यह विचार मुझे तर्क-विरोधी प्रतीत होता है कि आप एक भूल-द्वारा, एक गलती से वचें, और एक प्रकार की एकरूपता को विल्कुल अस्वीकार करके विभिन्न प्रकार की एकरूपताओं के वीच होने वाले किसी भ्रम को रोकें। जिस एकरूपता को आप अस्वीकार करेंगे, व्यवहार में वह सदा ही वापस आ जायगी। वह अपने सच्चे रूप को 'ठीक-ठीक सादृश्य' के छद्म नाम के अन्तर्गत वदलकर, विगाड़कर या अस्पष्ट करके आ जायगी। परन्तु दूसरी ओर,वह चुपके-चुपके एक भ्रामक तथा भयंकर भूल के रूप में भी आ सकती है। और इसका कोई सुन्दर

उदाहरण पाने के लिए हमें दूर जाने की आवश्यकता नहीं है। मेरा अनुमान है कि जे० एस० मिल को उन लोगों का नेता कहा जा सकता है जो इन लोगों में गुण की एक-रूपता को अस्वीकार करने वाले हैं, और साथ ही दूसरी ओर जे० एस० मिल ने सादृश्य द्वारा 'साहचर्य' के नियम का प्रतिपादन किया है। कनसैप्शन जब तक यहाँ सिद्ध नहीं हो जाता (जैसा कि विशेषों पर आश्रित दर्शन के विषय में स्पष्ट हो चुका है) कनसैप्शन तब तक हमको यह कहना पड़ेगा कि मिल के आलोचक लोग उनके अभि-प्राय से उतने ही अपरिचित हैं जितना कि वस्तुतः स्वयं मिल था। और सादृश्य-द्वारा साहचर्य का नियम, जिस प्रकार मिल तथा उसके सम्प्रदाय ने प्रतिपादित किया है, उसके अन्तर्गत (जैसा कि मैंने 'प्रिंसिपल्स आव लॉजिक' में सिद्ध किया है) व्यक्तिगत पुनर्जीवन की स्थूलतम कपोल कल्पना का वस्तुतः प्रतिपादन किया गया है। मैं नहीं समझता कि जिस प्रकार की गड़बड़ी से एकरूपता में विश्वास रखने वाले इन लोगों को विशेष रूप से चेतावनी दी जाती है, उसी प्रकार की गड़बड़ी का इससे भयंकर उदाहरण दर्शन के साहित्य में कहीं अन्यत्र भी मिल सकता है। हाँ, आप प्रकृति को निकाल कर बाहर कर सकते हैं, और प्रकृति (जैसा कि कहावत है) सदैव वापस आ जाती है, परन्तु वह सदैव प्रकृति के रूप में वापस नहीं आयेगी। और आप स्वभावतः एकरूपता को निकाल कर बाहर करने का प्रयत्न कर सकते हैं, और एकरूपता सदैव वापस लौट सकती है, परन्तु वह सदा ऐसे रूप में नहीं आयेगी, जिसको आप सहन कर सकें। इस टिप्पणी की अत्यधिक लम्बाई के लिए मेरा बहाना यही हो सकता है कि यह विषय बहुत महत्त्वपूर्ण है, और मैंने एक बार फिर ऐसे विवाद को उठाया जिसमें मुझको कोई सुख नहीं मिला, परन्तु जिसको अस्वीकार करने का मुझे कोई अधिकार नहीं है, इसके लिए भी मेरा यही बहाना है।

व्याख्यात्मक—टिप्पणियाँ

पृ० १२-१३ शरीर के एक अंग का प्रभाव दूसरे प्रत्यक्षक अंग पर निःसन्देह अप्रत्यक्ष होगा। इस दिशा में जिसका प्रत्यक्ष किया जाता है वह स्वयं अंग नहीं होता अपितु दूसरी वस्तु पर पड़ने वाला उस अंग का प्रभाव होता है। दर्पण में स्वयं अपने द्वारा देखी गयी आँख इसका एक उदाहरण है।

पृ० १५ तुलना करो अध्याय २१ की टिप्पणी।

पृ० १८-१९ 'विपरीत' के लिए देखिए टिप्पणी—क और 'वाह्य-सम्बन्ध' के लिए देखिए टिप्पणी ख।

अध्याय—३ इस अध्याय में मैंने 'सम्बन्धों' की बात ऐसी जगह भी चलने दी है, जहाँ वस्तुतः सम्बन्धों का अस्तित्व नहीं है। ये और दूसरी अन्य बातें टिप्पणी 'ख' में समझायी गयी हैं। पाठक पृष्ठ १२४-६ से तुलना करें।

पृ० २५ जिन सतों का मैंने यहाँ उल्लेख किया है वे हरबार्ट के अनुसार हैं।

पृ० ३१ यहाँ पर एक 'पिण्ड' से मेरा अभिप्राय केवल एक समूह या संहति के विपरीत एक इकाई से है।

पृ० ४०-१ गुण तथा अवधि के बीच स्थित सम्बन्ध के लिए देखिए टिप्पणी—ग।

पृ० ४३ "प्रत्यय और प्रत्ययार्थ एक नहीं होते" इस विषय पर और अधिक विवेचन के लिए देखिए 'माइंड', एन० एस०—४, पृ० २१ और पृ० २२५ और आगे।

पृ० ४५ इस अध्याय में जिस एक कठिनाई का समावेश हो सकता था वह समस्या गति की सापेक्षिकता के नाम से पुकारी जा सकती है। पिण्डों के दिगात्मक सम्बन्ध के परिवर्तन के अतिरिक्त क्या गति का कोई और भी अर्थ है? क्या पिण्ड-बहुत्व से अतिरिक्त उसका कोई क्षुद्रतम अर्थ भी होता है? और अधिक संकीर्ण दृष्टि से कहें तो पूछ सकते हैं कि क्या उसको (क) एक पिण्ड की अथवा (ख) कई पिण्डों की स्थिति कहा जा सकता है? दूसरे शब्दों में क्या गति को पिण्डों से अतिरिक्त या भिन्न किसी वस्तु का विधेय बनाया जा सकता है, और, और यदि नहीं, तो क्या हम उसको पिण्डों के विधेयत्व से बचा सकते हैं, और, यदि यह बात है, तो क्या अब उनकी स्थिति, और

इसलिए एक अर्थ में उनमें से प्रत्येक की स्थिति नहीं है। निःसन्देह इस बात को एक विरोधात्मक ढंग में इस प्रकार रखना सरल होगा—गति पिण्ड की एक स्थिति (क) है और (ख) पिण्ड की एक स्थिति नहीं है। जो पाठक इसको फैलाकर देखेगा, उसको शायद लाभ होगा।

इसका जो निष्कर्ष निकलेगा वह यह है कि दिक् और काल के भीतर न तो पिण्ड ही और न उनके सम्बन्ध ही स्वयं सत् होते हैं। वे प्रत्येक दशा में पूर्ण के एक आभास और पृथक्करण-मात्र हैं। परन्तु दूसरी ओर, उस पूर्ण में वे स्वयं बुद्धिगम्य रूप से सम्बन्वित नहीं हो सकते, और इसलिए वह पूर्ण अपने से परे सत्ता की किसी ऐसी उच्चतर विद्या की ओर संकेत करता है जिसकी तुलना में वह केवल एक आभास है।

संभवतः पदार्थ-विज्ञान में (मैं इससे अनभिज्ञ हूँ) एक ही पिंड की गति की कल्पना आवश्यक हो, और, यदि यह बात हो, तो पदार्थ-विज्ञान में निःसन्देह वह विचार तर्क-संगत और ठीक हो सकता है। परन्तु इस प्रकार की एक कामचलाऊ मनगढ़ंत के अतिरिक्त वह मुझे अनावश्यक मूढ़ता का एक सामान्य उदाहरण-सा लगता है। मुझे मूर्खता इसलिए लगता है कि मैं पिण्ड शब्द को ऐसी प्रत्येक वस्तु के लिए प्रयोग कर रहा हूँ जो स्थान घेरती है और दिक् के भीतर जिसकी स्थिति है, और क्योंकि स्पष्ट स्थितियों वाली विविधता से युक्त कोई केवल दिक् मात्र (या काल-मात्र) मुझको नितान्त अर्थहीन प्रतीत होती है। मैं इसको अनावश्यक मूर्खता इसलिए कहता हूँ कि मैं न तो इस बात को समझ पाया हूँ कि इससे क्या लाभ होता है, और न यह कि किस तरह अथवा क्यों दर्शन में इसको प्रयुक्त किया गया। पदार्थ-विज्ञान की व्याख्याओं के लिए यह विचार आवश्यक है, यह तथ्य (यदि यह तथ्य है) यहाँ पर कोई अर्थ नहीं रखता, क्योंकि ऐसा कोई आवश्यकता यह नहीं दिखला सकी कि ये विचार सचमुच बोधगम्य हैं। इतना मैं और कहूँगा कि सिद्धान्ततः यही मेरा उत्तर उन दलीलों का है जो लोत्से ने अपनी मेटाफ़िज़िक, सेक्शन १६४, १६५ में तथा लीबमान ने—त्सुर एनालसिस देर विर्कलिखाइट, पृ० १३३ तथा आगे किया है। उदाहरण के लिए, यदि हम किसी दिक्गत एकाकी शंकु के चंक्रमण तथा केन्द्रान्मुख शक्ति की बात न भी करें, तो भी तत्त्व-विज्ञान की दृष्टि से वह केवल एक कुत्सित पृथक्करण है और प्रारम्भ से ही पूर्ण तथा अमान्य है। और यदि बिना उसके तथ्य परस्पर विरोधी है, तो उसके साथ फिर भी वे और अधिक परस्पर विरोधी होंगे।

परन्तु यह स्थिति कैसी ही क्यों न हो, मुझको यह कहने के लिए क्षमा किया जायगा कि ऐसे विषयों पर संभवतः यह कोई आश्चर्यजनक बात नहीं है कि कोई मनुष्य अन्त में किसी भी परिणाम पर पहुँच सके, परन्तु फिर भी दर्शन में कोई मनुष्य किसी अकेले

गतिशील पिण्ड की कल्पना का प्रयोग इस प्रकार करें कि मानों यह बात स्वतः स्पष्टतया निर्बाध है—यह सचमुच मुझे अचम्भे में डालने वाली बात लगती है।

अध्याय ६ पर टिप्पणी—यह अध्याय जैसा था मैंने उसे वैसा ही छोड़ दिया, यद्यपि उसको बढ़ाना बहुत सरल होता, परन्तु मुझे इसमें सन्देह है कि विस्तार पर आग्रह करने से किसी भी लक्ष्य की पूर्ति हो सकती है। फिर भी मैं इस टिप्पणी में एक या दो बातों पर ध्यान दिलाऊँगा।

१—यदि कारण को एक प्रपंच के रूप में माना जाय, तो पहली समस्या यह होती है कि स्वयं कारण का निर्माण कैसे हुआ? भीतर से तत्त्व कैसे जुड़े हुए हैं, और क्या उनका संयोजन बोधगम्य रूप से हुआ है? वह बोधगम्य ढंग से इस प्रकार कैसे सीमित किया गया है जिससे कि वह समस्त विश्व से पृथक् हो? और दूसरे, वह कार्य बनने में भिन्न कैसे हो जाता है, और क्या यह किसी बोधगम्य तरीके से होता है? और यदि वह भिन्न नहीं होता है, तो जहाँ कोई परिवर्तन नहीं, क्या वहाँ पर कारण बतलाने में कोई अर्थ है? मैं आगे चलकर इस विषय पर फिर आऊँगा।

२—निरन्तरता के विषय में (पृ० ५२) बात बिल्कुल सीधी सादी है, और वह निःसन्देह एक पुरानी कठिनाई है जिस पर फिर जोर दिया गया है। यदि कारण को एक कालात्मक अस्तित्व माना जाय और उसकी एक कालगत सत्ता हो, तो, जब तक कि उसमें कोई अवधि न हो, तब तक उसमें उसका अस्तित्व कैसे हो सकता है? परन्तु यदि उसके भीतर अवधि है, तो कुछ समय के बाद, वह या तो अकारण ही काल रूप में परिणत हो जायेंगे, अथवा जिस अवधि में वह कारण नहीं हो पायी थी, या जब तक कि कारण के कालात्मक अस्तित्व का विभाजन ऐसी तत्त्व-शृंखलाओं में था जिनका निरावधि होने के कारण कोई कालात्मक अस्तित्व ही नहीं था, अथवा जब तक आप आन्तरिक परिवर्तनों की एक शृंखला को उनका विधेय बनायें और उसको उसकी स्थिति कहें—यह एक ऐसा रास्ता है जिसको हमने सदा ही तर्क की दृष्टि से इस अर्थ में असंगत पाया कि उसको बोधगम्य नहीं बनाया जा सकता। निःसन्देह यह समझा जायगा कि ये कठिनाइयाँ केवल काल्पनिक हैं, और यह आवश्यक नहीं कि इनका प्रभाव इस प्रश्न पर पड़े कि व्यवहार में कारण को कैसे ग्रहण किया जाय।

३—एकरूपता (पृ० ४९) के विषय में सिद्धान्ततः मुझे और कुछ सचमुच नहीं कहना है, परन्तु मैं कुछ थोड़ा ब्योरा और जोड़े देता हूँ। ऐसा सुझाव प्रतीत होता है कि किसी कालगत वस्तु के किसी क्षण विशेष पर स्थित अस्तित्व मात्र को ही उसके द्वितीय क्षण विशिष्ट निरन्तरता का कारण मान लिया जाना चाहिए, और इस प्रकार की स्वनिर्णीत एकरूपता स्वयं बोधगम्य हो जायगी। मेरी समझ में ऐसा कोई विचार

उलटा असंगत हो जायगा और अन्त में उसका बिलकुल कोई अर्थ नहीं होगा, इसका कारण मैं संक्षेप में बतलाने का प्रयत्न करूँगा। प्रथम तो एकरूपता (हीगल के अनुसार दोहराने में मुझे थकने की ज़रूरत नहीं) जो विविधता द्वारा विशिष्ट न हो वस्तुतः एकरूपता नहीं कही जानी चाहिए। अतः भेदों की तथा भेद-जनित विशेषण के अभाव में इस कल्पित वस्तु को किसी भी अर्थ में वही, निरन्तर अथवा बना रहने वाला नहीं कहा जाना चाहिए। इसका कोई अर्थ नहीं कि काल अथवा दिक् में भिन्नता-रहित भेदों का अस्तित्व हो सकता, और यह कथन मेरी समझ में बेतुका है कि कोई वस्तु स्वतः पूर्वापरत्वमयी होकर भी केवल एकरूप बनी रह सकती है। इसी प्रकार केवल अस्तित्व में भेद अथवा एकरूपता को स्थापित करना, जहाँ तक मैं समझता हूँ, बिलकुल व्यर्थ की बात है, क्योंकि केवल अस्तित्व स्वयं एक आत्म-विरोधी कल्पना है जिसका अन्त मूर्खता में होता है। अपरिवर्तनशील वस्तु की निरन्तर एकरूपता के विषय में बस मुझे इतना ही कहने की आवश्यकता है। परन्तु यदि उसमें परिवर्तन होता है, तो वह वस्तु अपने पहले रूप में न रहकर किसी दूसरे रूप में हो जाती है, और उस अवस्था में आपको उसका परिवर्तन अन्त में बोधगम्य बनाना पड़ता है, और यह आपके लिए सम्भव नहीं होता। यदि आप पूर्वापरता के भेदों-द्वारा वस्तु को विशिष्ट करने से इन्कार कर दें, तो वस्तु को कालगत अस्तित्व के बाहर ले जा कर आप एक बार फिर अपने मत का खंडन स्वयं करते हैं।

इसी प्रकार हम संक्षेप में इस कल्पना को भी विसर्जित कर सकते हैं कि कोई भी प्रक्रिया एक सीमा तक ही बोधगम्य हो सकती है, और इसलिए उसी स्वभाव में अपनी निरन्तरता का उसी को कारण मान लेना चाहिए। निःसन्देह यदि यह असम्भव संभव हो सकता है कि वह एक ऐसी स्वनिहित बोधगम्य प्रक्रिया होती जो कि अपनी ही निरन्तरता का कारण होती, यद्यपि ऐसा क्यों होता एक दूसरी ही बात है परन्तु जहाँ तक मैं समझता हूँ, सिद्धान्त की यह बात असम्भव है, और किसी भी स्थिति में मेरा प्रश्न यह होगा कि वह कहाँ प्राप्त हो सकती है अथवा उसका अस्तित्व किस प्रकार हो सकता है? उदाहरण में एक ही पिंड के, किसी सरल रेखा में, गति करने को रखना वस्तुतः उसको स्वनिहित तथा स्वबोधगम्य बतलाने के समान है, जिसको सम्भवतः मैं बाह्य निर्णय तथा आन्तरिक तर्कशून्यता का विरोधी प्रमाण मानने का साहस करता। इस विषय में पृष्ठ ५८५ की टिप्पणी की ओर ध्यान आकर्षित किया जाता है।

निःसन्देह जैसे-जैसे कालात्मक प्रक्रियाएँ दिक्गत केवल गति की सीमा से चल कर अधिक मूर्त रूप ग्रहण कर लेती हैं, वैसे ही वे और अधिक स्वनिहित तथा तर्कसंगत होती जाती हैं परन्तु किसी प्रकार की भी कालात्मक प्रक्रिया को स्वतः बोधगम्य बतलाना,

जहाँ तक मैं समझ सकता हूँ, एक स्पष्ट गलती है। और जो पूर्वापरता उसके भीतर किसी सीमा तक रहती है, वह यदि बोधगम्य नहीं है, तो उसको अपनी ही निरन्तरता को बोधगम्य बनाने वाले एक उपाय के रूप में कैसे प्रयुक्त किया जा सकता है? यदि हम इस विवेचन को कुछ और आगे ले जायँ, तो सम्भवतः इससे अधिक ज्ञान हो सकता है। हम देख चुके हैं कि परिवर्तन-रहित निरन्तरता अथवा स्वसीमित तथा स्वतः बोधगम्य कालात्मक प्रक्रिया जैसी कोई वस्तु नहीं होती। यह कहा जा सकता है कि किसी क्षण-विशेषपर, अथवा किसी क्षण विशेष तक, किसी वस्तु का अस्तित्व किसी-न-किसी प्रकार उसकी दूसरे क्षण तक रहने वाले निरन्तर अस्तित्व को मानने के लिए एक तर्कपूर्ण आधार हो सकता है। परन्तु मैं इसको बिलकुल गलत मानता हूँ। इसके विपरीत, मेरी धारणा है कि कोई भी आधार न तो स्वयं अधिक तर्कसंगत हो सकता है और न हमारे सामान्य व्यवहार से कम प्रभावशाली हो सकता है। सबसे पहले, भूमिका-रूप में, मैं सम्भावना की कल्पना पर आधारित सन्देह को दूर कर दूँ। हमारे जगत का स्वभाव ऐसा है कि उसमें हम प्रतिदिन ससीम वस्तुओं के अस्तित्व को समाप्त होते हुए देखते हैं। इसलिए वस्तुओं के ज्ञात स्वभाव के आधार पर यह कहा जा सकता है कि किसी भी ससीम कालात्मक अस्तित्व की समाप्ति होना सम्भव है। जगत के ज्ञात विद्यात्मक स्वभाव से प्रेरित तथा उसी पर आधारित यह एक सूक्ष्म और सामान्य सम्भावना है, और इसलिए इस सम्भावना को अर्थहीन कहकर विसर्जित नहीं किया जा सकता। इसके विपरीत, जहाँ तक इसका अक्षेत्र है, इससे निष्कर्ष के लिए आधार मिलता है कि "इस अस्तित्व की अमुक अवस्था में समाप्ति को जायगी।" और अब मैं केवल सम्भावना-विषयक सामान्य प्रश्न को विसर्जित करूँगा। जहाँ तक मैं समझता हूँ यदि किसी वस्तु की वास्तविक निरन्तरता न होती, तो उसकी केवल उपस्थिति अथवा उसकी अस्तित्व की अवधि कि केवल निरन्तरता के आधार पर कोई तर्कपूर्ण दलील नहीं चल सकती थी। यह कहना कि, क्योंकि एक वस्तु एक समय है इसलिए वह दूसरे समय भी रहेगी, अथवा यह कहना कि क्योंकि यह एक अवधि में रही है इसलिए वह दूसरी अवधि में भी रहेगी, और इस दलील को, न केवल किसी अन्य कारण से मान्य ठहराना, अपितु इसको एक सिद्धान्त की अभिव्यक्ति कहना मेरे दिमाग को आश्चर्यजनक प्रतीत होता है। मुझे तो यह ऐसा ही प्रतीत होता है जैसे कि कोई आदमी एकाएक कहने लगे, "क्योंकि यह वस्तु इस समय यहाँ है, इसलिए यह वस्तु उस समय वहाँ भी होगी," और फिर वह घोषणा करे कि किसी अन्य कारण की आवश्यकता न थी और न होनी चाहिए। यदि हम यह मान भी लें (जो कि हम नहीं मान सकते) कि केवल अस्तित्व स्वयं एक असत्य, स्वतः विरोधी, और अन्त में अर्थहीन पृथक्करण है, तो

भी यह कल्पना करना कठिन प्रतीत होता है कि केवल अस्तित्व किसी भी वस्तु का एक कारण वन सकता है।

परन्तु हम किसी वस्तु की निरन्तरता के विषय में क्यों निर्णय करते हैं (जब और जहाँ हम ऐसा निर्णय करते हैं), इसका सच्चा कारण विलकुल भिन्न है। यह एक निष्कर्ष होता है जो कि अस्तित्व पर आधारित नहीं होता, अपितु इयत्ता की प्रत्यात्मक संश्लेषण पर आधारित होता है, और इसका आधार अस्तित्व की एकरूपता नहीं, अपितु स्वभाव की एकरूपता होता है। संक्षेप में इसका आधार प्रत्ययात्मक एकरूपता का सिद्धान्त होता है। यदि कोई वस्तु मेरे जगत् से इस समय सम्बन्धित है, और यदि मैं यह मानता हूँ कि मेरा जगत् अन्यथा भी चल सकता है, तो अन्य कारणों से पृथक् मैं यह निष्कर्ष निकाल सकता हूँ कि वह वस्तु वहीं वनी रहेगी, क्योंकि अन्यथा इयत्ता का विश्लेषण सत्य और असत्य दोनों को जायगा। यदि मेरे जगत् में पूर्वापरता के कुछ सत्य हैं, तो कोई *अन्य सन्दर्भ-मात्र* उनको *असत्य* नहीं कर सकता, और इसलिए किसी विरोधी कारण के अतिरिक्त, क-ख-ग की क्रमागति अनिवार्य रूप से अपने को दोहरायगी। वशर्ते कि वह कभी भी या तो क अथवा क-ख रही होगी। यही एक तरीका है जिसके द्वारा हम प्रत्ययात्मक एकरूपता की सहायता से निरन्तरता का निर्णय तथा निष्कर्ष तर्कसंगत रूप में कर सकते हैं, और मेरी समझ में किसी दूसरे तरीके से निर्णय करना पूर्णतया तर्कहीन होगा। इस सूत्र पर विचार करने का मैंने साहस इसलिए किया कि इसके द्वारा कुछ आने जाने वाले निष्कर्षों पर प्रकाश पड़ता प्रतीत होता है, यह निष्कर्ष उस समय सामने आते हैं जब हम एकरूपता के सच्चे सिद्धान्त को विसर्जित करके, जान या अनजान में, उसके स्थान पर केवल अस्तित्व की एकरूपता का हौवा लाकर खड़ा कर देते हैं।

मैं यह भी कहूँगा कि, जब तक हम एक क्षण-विशेष में स्थिर जगत् की सम्पूर्ण स्थिति को दूसरे क्षण पर स्थिर जगत् की सम्पूर्ण स्थिति को कार्य-कारण-भाव से उत्पन्न करता हुआ मानेंगे, तब तक, हम ऐसा केवल तर्कसंगत ढंग से करेंगे, विशेषकर उस स्थिति में जब कि हम पूर्वापरता को इयत्ता के किसी सम्बन्ध पर आश्रित रखते हैं, क्योंकि अन्यथा, जैसा कि हमने इसको माना है, यह सम्बन्ध सत्य नहीं रह जायगा। फिर भी अन्ततोगत्वा इस विचार का प्रयोग घाटा खाकर ही किया जा सकता है, क्योंकि जगत् की अवस्था वस्तुतः स्वसीमित नहीं होगी, और न वह सम्बन्ध वस्तुतः बोधगम्य ही होगा। और फिर चरम तत्त्व के अन्तर्गत किसी कालात्मक प्रक्रिया को चरम तत्त्व की प्रक्रिया समझना एक आधारभूत गलती होगी।

इस टिप्पणी के साथ मैं प्रत्ययात्मक एकरूपता के सिद्धान्त पर एक चेतावनी

दे देना चाहता हूँ। निःसन्देह यह सिद्धान्त मूल सत्य अथवा किसी संश्लेषण की वोधगम्यता की गारन्टी नहीं देता, और उसको इस अर्थ में प्रयुक्त हुआ समझना बहुत गम्भीर गलतफहमी होगी। उसका केवल यही आग्रह है कि कोई भी सत् सर्वत्र अस्तित्व में तथा सन्दर्भ के समस्त परिवर्तनों में सत्य रहेगी। एकरूपता के लिए देखिए और आगे टिप्पणी ख तथा ग।

अध्याय ७ तथा ८ की टिप्पणी—मैंने इन अध्यायों को अपरिवर्तित छोड़ दिया है, परन्तु मैं पाठक से इस बात को याद रखने के लिए कहूँगा कि मैं इस बात पर जोर नहीं दे रहा कि आलोचित विचार पूर्णतया प्रामाणिक तथा वाह्यता आवश्यक है। जहाँ तक उनको (सत् क्या है) इस प्रश्न पर अन्तिम उत्तरों के रूप में ग्रहण किया जाता है, वहीं तक मैं उनकी निन्दा करता हूँ।

पृष्ठ ५५—मैं यह नहीं कह रहा कि सक्रियता के किसी प्रकार के प्रत्यक्षण के विना निष्क्रियता के किसी भाग अथवा किसी साधारण प्रत्यक्षण की सम्भावना नहीं है। पृष्ठ ८३-८४ पर जो प्रश्न सक्रियता में किसी वाह्य अनात्म के अभाव के विषय में उठाया गया है, वह पूरी तरह से अपने उत्तर सहित निष्क्रियता पर भी लागू होता है।

पृ० ६१-३। देखिए टिप्पणी पृ० ४०-४१।

पृ० ६७। इस प्रश्न पर कि व्यक्तिगत रूप में क्या आवश्यक है और क्या नहीं, सौभाग्यवश हम एक कल्याणकारी भ्रम के प्रभाव में हैं। एक आवश्यक व्यक्ति का अभिप्रायः सामान्यतः उस आवश्यकता से होता है जो कि न्यूनाधिक रूप में एक ही प्रकार के व्यक्ति के लिए होती है। एक ऐसा मत है जो अपन काल्पनिक तथा असत्य निष्कर्ष को एक ऐसे दृष्टिकोण पर आश्रित करता है जो व्यवहार में स्वभाविकता आवश्यक है, परन्तु जिसमें किसी भ्रम का समावेश होता है। इस मत का उत्तर न देना होता, तो इस विषय में कुछ भी कहने की आवश्यकता नहीं होती।

पृष्ठ ७१—स्मृति के विषय में अनुक्रमणिका में दिये हुए अवतरणों की तुलना कीजिए। सामान्य अर्थ में, मैं स्मृति को, विना किसी संशय के, पुनर्कथन का एक विशेष विकास मानता हूँ, और मेरी समझ में पुनर्कथन यथार्थता निश्चित रूप से प्रत्ययात्मक एकरूपता-द्वारा पुनः एकीकरण की क्रिया है। इसलिए एक ओर अतीत की स्मृति और दूसरी ओर उसी की कल्पना अथवा निष्कर्ष के बीच जो मनोवैज्ञानिक ध्येय है उसकी प्रकृति की समस्या एक ऐसी है, जो मेरे विचार में, अब कोई बहुत बड़ी कठिनाई नहीं रह गयी। सामान्य पुनर्कथन (जिसमें एक शृंखला का प्रत्यक्ष भी शामिल है) कि समस्या की तुलना में, मुझे यह न तो कठिन लगती है और न बहुत महत्त्वपूर्ण

हों। फिर भी यह एक ऐसा विषय है जिसमें यहाँ मैं प्रवेश नहीं कर सकता। स्मृति के विषय को मैंने 'माइन्ड', एन० एस०, संख्या ३० और ६६ में लिया है।

स्मृति की अपरिहार्यता को एक अन्तिम कल्पना के रूप में मानना असंदिग्ध तथ्यों के साथ संघर्ष तो उपस्थित ही कर देता है, परन्तु मैं तो यह भी कहूँगा कि यह मान्यता मुझे पूर्णतया थोथी लगती है। निःसन्देह एक साधारण मान्यता है कि स्मृति पर भरोसा किया जाना चाहिए। परन्तु इस सामान्य मान्यता की गारंटी अन्ततोगत्वा एक समन्वित तंत्र के मान-दंड के रूप में उपस्थित हो जाती है। इसके अनुसार जो कुछ याद होता है उसको सामान्यतः यथार्थ स्मृति मान कर विश्व को अत्यधिक समन्वित रूप से व्यवस्थित मान लिया जाता है। और स्मृति की प्रामाणिकता का यह गौण स्वभाव ही मेरी समझ में एक ऐसा मत है जिसका सामंजस्य हमारे वास्तविक तर्क-संगत व्यवहार से हो सकता है।

पृष्ठ ८२-६ पर टिप्पणी—मी स्टाउट ने अपनी सुन्दर पुस्तक, 'एन ऐनालेटिक साइकोलोजी' (१८९६), वाल्यूम–१ पृष्ठ १७३-७ में इस पुस्तक में प्रतिपादित सक्रियता-प्रत्यक्षण सम्बन्धी मत की आलोचना की है। मी स्टाउट के निजी विवरण के विषय में यहाँ पर मैं कुछ भी आलोचना करने का साहस नहीं करूँगा, क्योंकि अभी तक उस पर मैंने पर्याप्त विचार नहीं किया है, और साथ ही मैं उसको तत्वज्ञानीय सिद्धान्त के रूप में प्रस्तुत हुआ भी नहीं मानता। अतः मैं केवल अपने वक्तव्य को अपनी स्थिति के बचाव-मात्र तक ही सीमित रखूँगा।

मैं स्वीकार करता हूँ कि मेरी पुस्तक बहुत छोटी थी, परन्तु फिर भी यदि वह बड़ी हो गयी, तो मुझे भी यह भय था कि कहीं वह अत्यधिक बड़ी न हो जाय, और यह अच्छा होता कि ये पृष्ठ छोड़ दिये जाते। परन्तु जब इनकी निन्दा की जा चुकी है, तो मैं इनको वापस नहीं ले सकता, और कतिपय शाब्दिक परिवर्तनों के अतिरिक्त, मैंने उन पृष्ठों को ज्यों-का-त्यों छोड़ दिया है। मुझे उम्मीद है कि जो प्रतीक सम्भवतः भ्रामक थे, उनको बदल दिया गया। परन्तु पाठक से निवेदन है कि वह उन पर कम निर्भर रहे और इस टिप्पणी में जो कहा जा रहा है उस पर अधिक ध्यान दे।

सक्रियता का तथ्य तथा सक्रिय होने का केवल अनुभव तो एक ओर, और एक सक्रियता का प्रत्यक्षण या विचार दूसरी ओर—इन दोनों के विषय में मेरे दिमाग में जो भ्रम बताया गया है (पृष्ठ १७४), उसके विषय में मेरा अनुमान है कि यह भ्रम न तो कभी था और न अब है। दूसरी ओर, मुझे तो यह कहना चाहिए कि, इस विवाद में प्रारम्भ से लेकर अन्त तक, केवल मैंने ही अपने दिमाग में इस भेद को स्पष्ट बनाये रखा, और मैंने ही इसको मनवाने का व्यर्थ प्रयत्न किया। यह बात चाहे ठीक हो या

गलत, परन्तु कम-से-कम यही मत है जिसको अपनाने के लिए मुझे तथ्य वाध्य करते हैं। सक्रियता की वह कौन-सी इयत्ता है जो आत्मा को सर्वप्रथम उस इयत्ता से भिन्न प्रतीत होती है जो कि किसी वाह्य प्रेक्षक को दिखायी पड़ती है, अथवा जो कि आत्मा को वाद में प्रतीत होती है ? यही वह प्रश्न है जिसका वोवगम्य उत्तर पाने के लिए मैं निरन्तर असफल रहा हूँ। और हीगल के सामान्य पाठक के लिए भी जो भेद-भाव सुपरिचित हैं, उनके प्रति यदि किसी स्थान पर मैंने आँख मूँद ली है, तो कम-से-कम अभी तक मुझे वह स्थान नहीं वतलाया गया। परन्तु पीछे जाने के वदले, कम-से-कम मैं यहाँ पर और अविक स्पष्ट होने का प्रयत्न करूँगा।

(१) किसी का यह मत हो सकता है कि सक्रियता की एक ऐसी मौलिक अनुभूति होती है जिसकी इयत्ता जटिल होती है और जो छाया द्वारा विश्लेपित होने पर सक्रियता के विकसित प्रत्यय के रूप में परिणत हो जाती है। इस मत को निश्चित रूप से असत्य कहने का दुःसाहस किये विना ही मेरा यही निवेदन है कि उसको सत्य मानने के लिए कोई कारण नहीं है।

(२) किसी का यह भी मत हो सकता है कि एक ऐसी मौलिक अनुभूति होती है जो स्वयं जटिल नहीं होती और न उसकी इयत्ता में कोई आंतरिक विविवता ही होती है। आगे उसका यह भी मत हो सकता है कि यह अनुभूति उन सभी भौतिक या आध्यात्मिक परिस्थितियों में से (क-कुछ अथवा, ख-सभी के साथ) चल सकती है, जिसको कोई वाहरी प्रेक्षक एक सक्रिय अवस्था के, और जिसको आत्मा स्वयं भी वाद में ऐसा ही कह सके। और वह यह भी माना जा सकता है कि यह आलोचन या अनुभूति (अथवा आप उसे जो चाहें सो कहें) एक ऐसी भेदात्मक परिस्थिति है जिसकी वास्तविक और काल्पनिक उपस्थिति के विना कोई भी स्थिति, अथवा कोई भी मानसिक दशा विलकुल सक्रिय नहीं कही जायगी।

यह दूसरा सिद्धान्त मेरी समझ में पहले से नितान्त भिन्न है। मेरे मत में उसका सत्य या असत्य कोई सिद्धान्त का मामला नहीं अपितु व्यौरे की वात है। यही नहीं, वल्कि कुछ हद तक, मेरे विचार में यह सच भी हो सकता है। उदाहरण के लिए पेशल संकोचन, अथवा जिसको हम एक मानसिक स्थिति का विस्फोट कह सकते हैं उसके साथ कोई आलोचन क्यों नहीं होना चाहिए ? यह आलोचन सदा हमारे सक्रियता के प्रत्यय को प्रभावित क्यों नहीं करता, जिससे कि विना आलोचन के वह प्रत्यक्ष कोई भिन्न वस्तु हो जाय, और वह जिसको हम सक्रियता कहते हैं वह होने में सर्वथा असफल नहीं तो कम-से-कम इतना असफल तो अवश्य हो कि हम उसको तद्-वस्तु के रूप में फिर न पहिचान सकें। जहाँ तक मैं समझता हूँ, यह एक हद तक सच हो सकता है,

परन्तु मैं उसकी चर्चा नहीं करूँगा, और यही बात हूबहू निष्क्रियता के विषय में भी लागू होती है।

परन्तु यहाँ पर एक भेद उपस्थित होता है—मैंने ऐसा भेद जिसको श्री स्टाउट कहते हैं कि मैंने उपेक्षित कर दिया है, और इसके विपरीत, जिसको मैं व्यर्थ ही प्रतिपादित करने का दावा करता हूँ। यह भेद स्वयं मनोदशा तथा उसके विमर्शगत स्वरूप के बीच है। सक्रियता का कोई आलोचन या भावना या भाव, दूसरी दृष्टि से देखने पर कोई सक्रियता की अनुभूति ही नहीं है। यदि आप उससे चिपके रहे तो वह आपको उसी प्रकार कुछ भी नहीं बतलाती, जिस प्रकार सुख और दुःख। यह एक ऐसा आलोचन-मात्र है जिसके भीतर बन्द होकर, कितने ही चिन्तन के बाद भी, आपको सक्रियता प्रत्यय नहीं प्राप्त होगा, क्योंकि वह जटिल होता है जब कि आलोचन के भीतर पक्षों की कोई ऐसी विविधता नहीं प्रस्तुत होती जिसको विमर्श द्वारा व्यंजकों तथा सम्बन्धों में विकसित किया जा सके। और इसलिए, मेरा अनुमान है कि यह अनुभूति-काल के किसी मौलिक भाव से भिन्न होगी। यह ऐसी बात है जिसका मैंने अपनी पुस्तक के १८१ तथा १८२ पृष्ठों पर न तो प्रतिपादित किया है और न खंडन किया है। इसकी भिन्नता का कारण यह है कि इस प्रकार की कालानुभूति की इयत्ता में पहले से ही एक आन्तरिक विविधता होती है, जब कि जिस सक्रियता की अनुभूति पर हम विचार कर रहे हैं, उसमें वह विविधता बिलकुल नहीं होती है। संक्षेप में, आगे चलकर यह अनुभूति सक्रियता-विषयक प्रत्यक्षण या प्रत्यय के लिए एक आवश्यक स्वभाव है या नहीं, कम-से-कम सर्वप्रथम तो वह सक्रियता की कोई अनुभूति स्वयं नहीं होती है। पहली बार तो वह, केवल बाह्य कारणों से तथा केवल एक बाह्य प्रेक्षक के लिए ही ऐसी प्रतीत होती है।

भ्रम के विषय में मेरे विचार में यहाँ पर इतना ही कहना अच्छा है। परन्तु मेरे विरुद्ध जो असम्बद्धता का दोषारोपण किया गया है, उस पर विचार करने से पूर्व, मैं पाठक से एक प्रश्न पूछने का साहस करूँगा। क्या कोई मुझे बतला सकता है कि ऐसी विशेष परिस्थितियों के विषय में कोई प्रयोगात्मक गवेषणा कहाँ मिल सकती है, जिसमें वस्तुतः हम स्वयं अनुभव कर सकें कि हम सक्रिय हैं अथवा निष्क्रिय? उदाहरण के लिए, मैं देखता हूँ कि श्री स्टाउट जहाँ-तहाँ अनुभूत तथ्यों की बात करते हैं, जबकि कम-से-कम मैं तो निश्चित रूप से उन तथ्यों को नहीं पाता। यदि कोई मुझे इस विषय की गवेषणा की ओर प्रेरित कर सकेगा, तो मैं कृतज्ञ होऊँगा। फिलहाल तो पर्यवेक्षित तथ्यों के विषय में अधिकांश के विषयों में मुझे सन्देह रखने के लिए विवश होना पड़ रहा है। मुझे तो यह भी आश्चर्य हो रहा है कि यहाँ केवल पर्यवेक्षणों का भेद है अथवा

पर्यवेक्षकों का भी।

अब मैं असम्बद्धता के विशेष दोषारोपण पर आता हूँ। सक्रियता के लिए मैं एक प्रत्यय की उपस्थिति आवश्यक मानता हूँ, और फिर मैं यह कहता हूँ कि कुछ उदाहरणों में ऐसा कुछ भी नहीं होगा, जिसको सामान्यत: ढूँढ़कर कोई प्रत्यय कहा जाय। परन्तु मैं एक स्पष्ट प्रत्यय और अस्पष्ट प्रत्यय में भेद करता रहूँगा। नि:सन्देह यदि इससे मेरा यह अभिप्राय होता कि एक प्रत्यय वस्तुत: उपस्थित नहीं होता, अपितु केवल किसी प्रकार से सम्भावित रूप में उपस्थित होता है, तो मैंने केवल विचार की असमर्थता को केवल शब्दों से छिपाने का प्रयत्न किया होता और श्री स्टाउट की निन्दा ठीक होती। परन्तु इसके लिए मेरा अभिप्राय यह था कि कोई प्रयत्य सदैव वस्तुत: उपस्थित होता है, यद्यपि जिस प्रत्यय को बहुत से लोग (मेरी राय में ग़लती से) एक प्रत्यय नहीं कहेंगे। बहुत से लोग उसको तब तक प्रत्यय मानना स्वीकार नहीं करेंगे, जब तक कि उनको उसके अस्तित्व में कोई ऐसी वस्तु नहीं मिलेगी जो एक आलोचन से पृथक् हो और एक ऐसे बिम्ब अथवा किसी अन्य वस्तु पर आधारित हो जिसका अस्तित्व आलोचन के अस्तित्व से भिन्न हो। और इस पृथक् प्रत्यय को मैंने (संभवत: मूर्खतावश) एक स्पष्ट प्रत्यय कहा, और उसको ऐसे प्रत्यय से विरुद्ध बतलाया जो कि आलोचन या प्रत्यक्षण का एक विशेषण हो—एक ऐसा विशेषण जो अस्तित्वयुक्त आलोचन से असंगत हो, और फिर भी जिसमें किसी बिम्ब अथवा (जैसा कि शायद कुछ लोग कह सकते हैं) एक केवल शब्द का कोई अन्य मानसिक अस्तित्व न हो। और इच्छा के भीतर एक प्रत्यय की उपस्थिति के विषय में एक विवाद का उल्लेख कर चुका हूँ, जहाँ कि ऐसा ही भेद किया गया था। मैं फिर कहूँगा कि मेरी सम्मति में, ये भेद तर्क सम्बन्धी किसी मत के लिए अत्यन्त आवश्यक हैं, और वस्तुत: मन के किसी भी पक्ष पर यथोचित मत के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है। मैं स्वयं तो इसका जन्मदाता नहीं हूँ, सक्रियता के स्वरूप विषयक मेरे किसी भी सिद्धान्त की रक्षा करने के लिए विशेष रूप से इसको गढ़ा जाना तो दूर की बात है।

आइए श्री स्टाउट द्वारा दिये हुए एक दूध पीने की इच्छा वाले एक बच्चे या बछड़े का उदाहरण लें। छाती अथवा स्तन का चाक्षुष तथा अन्य प्रत्यक्षण, दूध चूसने का सुझाव देता है, परन्तु दूध चूसने को मैं एक पृथक् बिम्ब नहीं मानता, अपितु प्रत्यक्षण का विशेषण-मात्र समझता हूँ। प्रत्ययात्मक सुझाव-द्वारा वह छाती चूसी हुई छाती बन जाती है, जबकि दूसरी ओर, सामंजस्य की किसी असमर्थता से छाती को वस्तुत: चूसा नहीं जाता इसलिए प्रत्यक्षित छाती युग-पद दो बार तथा स्वयं से असम्बद्ध रूप से विशिष्ट हो जाती है, और उस पशु का स्व भी दो बार तथा असम्बद्ध रूप में विशिष्ट

हो जाता है। चूसने के प्रसंग में, वह स्व प्रत्ययात्मक सफलता के द्वारा प्रकरण भी करता है और वास्तविक असफलता-द्वारा संकोचन भी। और जहाँ तक, उपर्युक्त सभी परिस्थितियों में, प्रसरण वास्तविक हो जाता है, वहाँ तक हमें सक्रियता के भाव की प्राप्ति हो जाती है। और यहाँ पर वस्तुत: एक प्रत्यय होता है, यद्यपि वहाँ कोई भी विम्ब या अन्य कोई ऐसी वस्तु नहीं होती, जिसको यथार्थत: पूर्व-प्रत्यय कहा जा सके।

अथवा एक कुत्ते को ले लीजिए, जो कि एक घसीले स्थान पर आकर इधर-उधर दौड़ने लगता है और अपने को सक्रिय अनुभव करता है। यहाँ पर प्रत्यय कहाँ? यह कहा जा सकता है कि यहाँ पर कोई प्रत्यय नहीं है, क्योंकि यहाँ कोई पूर्व-विचार अथवा कोई विम्ब नहीं है। परन्तु मेरी राय में मन-सम्बन्धी किसी भी ठोस सिद्धान्त के लिए एक गलती ही नहीं, अपितु बड़ी भयंकर गलती होगी। और मैं संक्षेप में, कुत्ते की जटिल स्थिति के पूर्व विश्लेपण का प्रत्यन विना किये ही, बतलाऊँगा कि वह प्रत्यय कहाँ है। कुत्ते के सामने की जमीन एक प्रत्यक्ष है जो कि, एक ओर विम्बों के द्वारा नहीं, अपितु उसी की इयत्ता के प्रकार के द्वारा विशिष्ट होकर के, 'दौड़ी हुई जमीन' बन जाता है इसलिए कुत्ते के लिए वह 'दौड़ी हुई' और 'नहीं दौड़ी हुई' दोनों रूपों में युगपद प्रतीत होती है। और 'दौड़ी हुई' प्रत्ययात्मक अनुभूति है, यद्यपि वह कोई स्पष्ट प्रत्यय या कोई पूर्व-विचार अथवा किसी अर्थ में कोई पृथक् विम्ब नहीं हो सकता। फिर कुत्ता स्वयं न केवल वास्तविक दौड़ से विशिष्ट होकर अपितु अपने सामने दिखायी देने वाली वस्तु पर एक प्रत्ययात्मक दौड़ से विशिष्ट होकर भी, उपस्थित होता है। उसकी आत्मा में प्रत्ययात्मक प्रसार की एक उल्लसित प्रक्रिया होती है जो अविच्छिन्न भाव से वास्तविक परिपाक में परिणत हो जाती है, और भूमि का "न दौड़ी हुई' निषेधात्मक प्रत्यक्ष किसी सक्रियता भाव की एक लुप्यमान परिस्थिति के रूप में प्रकट होती है जिसमें असफलता का कोई कुहास या विघ्न नहीं होता। एक अस्पष्ट प्रत्यय से मेरा अभिप्राय यही था, और सम्भवत: एक बुरे नाम के अतिरिक्त, मुझे और ऐसी कोई बात नहीं मालूम पड़ती जिसके लिए मैं निन्दा का अधिकारी बनता। संभवत: यह अच्छा होता कि मैं इसका कोई नाम ही नहीं लेता। परन्तु ये भेद स्वयं मैं फिर कहूँ, मस्तिष्क के प्रत्येक क्षेत्र में निरन्तर बड़े महत्व का है।

परन्तु मेरी असफलता न केवल श्री स्टाउट की आलोचना से स्पष्ट है, अपितु साइकालोजिकल—रिव्यू, वोल्यूम—१, संख्या—४ में प्रकाशित प्रो० बाल्डविन के कुछ टिप्पणियों से भी सिद्ध होता है। इच्छा के साथ अनुभूत सक्रियता का सम्बन्ध तथा उन दोनों के स्वातन्त्र्य एवं परस्पर पूर्वापरता की संभावना—ये बातें मेरी समझ में एक बहुत कठिन प्रश्न खड़ा कर देती है, परन्तु मैं यह कहूँगा कि मेरी समझ में यह

बहुत महत्त्वपूर्ण नहीं है। मुझे उम्मीद है कि श्री स्टाउट और प्रो० बोल्डविन दोनों ही मेरे उपर्युक्त कथन से समझ जायेंगे कि मेरी असफलता किसी हद तक केवल मेरी अभिव्यक्ति में है, और हम लोगों की अलग-अलग भिन्नता इतनी बड़ी नहीं है जितनी कि पहले वह मालूम पड़ती है। और जहाँ तक कुछ मनोदशाओं में अनुभूत आत्मसक्रियता के अभाव का प्रश्न है, मैं कहता हूँ कि मैं पूर्णतया और सर्वथा प्रोफेसर बाल्डविन के साथ हूँ।

उपर्युक्त टिप्पणी मुख्यत: असम्बद्धता के दोषारोपण से बचाव के रूप में प्रस्तुत किये गये, और वह इस बात का सबूत नहीं कि सक्रियता तथा निष्क्रियता के विषय में मेरा जो मत है वह सामान्यत: सत् है। बहुत-सी निराशाओं के बावजूद, मुझे उम्मीद है कि मैं अन्यत्र, न केवल सक्रियता के प्रत्यक्ष के विषय में, अपितु निष्क्रियता के प्रत्यक्ष पर भी आगे विचार करूँगा।

पृ० १२६––इस संस्करण में, मैंने पृ० १२४–६ पुन: लिखे हैं, क्योंकि वहाँ पर कुछ विषयों में प्रतिपादन अस्पष्ट था। पुस्तक के भीतर जिस आक्षेप की ओर संकेत किया गया है, और जो सतों के बहुत्त्व का खंडन ज्ञान तथ्यों पर आधारित दलील-द्वारा किया गया है, उसकी यहाँ हम संक्षिप्त रूपरेखा प्रस्तुत करते हैं।

"अनेक" न केवल स्वतन्त्र होते हैं, अपितु ऐसे ही जाने भी जाते हैं, और अनेक के ये दोनों स्वभाव परस्पर असंगत प्रतीत होते हैं। किसी-न-किसी प्रकार ज्ञान अनेक की एक अथवा अधिक की एक स्थिति-मात्र है, एक ऐसी स्थिति जिसमें कि वे बहुत्व से युक्त जाने जाते हैं, क्योंकि अनेक के अतिरिक्त, अन्यत्र कोई ज्ञान कहाँ स्थित माना जा सकता है? यदि सम्बन्धों को किसी प्रकार अनेक के बाहर स्थित माना जाय, तो भी ज्ञान को केवल इन सम्बन्धों तक ही सीमित रखने से ऐसी कठिनाइयाँ पैदा हो सकती हैं जिनका कोई हल नहीं। चूँकि यहाँ पर अनेक को ही प्रमुख सत्ता माना गया है, भाग निकलने का ऐसा कोई प्रयत्न नहीं रह जाता। इसलिए किसी-न-किसी प्रकार ज्ञान सतों के मध्यगत ही रहेगा।

यदि प्रत्येक का ज्ञान अलग-अलग बिलकुल पृथक् रह जाय, तो प्रत्येक स्वयं एक जगत बन जाय, और कहीं भी अनेक सतों का कोई ज्ञान ही न रहे। परन्तु चाहे एक ओर अथवा अधिक, यदि वे दूसरों को जानते हैं, तो ऐसा ज्ञान आवश्यक रूप से उनको विशिष्ट बनायगा, और विशिष्ट बनायगा उनको आदान-प्रदान की दृष्टि से और ज्ञाता तथा ज्ञेय, दोनों दृष्टियों से। यदि हम ज्ञाता को ज्ञेय से पृथक् भी कर लें, तो भी ज्ञाता के भीतर ज्ञान एक ऐसा आन्तरिक परिवर्तन प्रतीत होता है जो, बाह्य प्रेरित नहीं, तो बाह्य अपेक्षित तो अवश्य होता है, और यह एक ऐसा परिवर्तन होता है,

जिसको, पूर्ण स्वसीमितत्व मानने के पश्चात्, अच्छी तरह से समझाया नहीं जा सकता। इसके अन्तर्गत निश्चय रूप से ज्ञाता का परिवर्तन समाविष्ट होता है, और ऐसा कोई भी परिवर्तन किसी आन्तरिक कारण से प्रसूत नहीं वतलाया जा सकता, और इसलिए उसको केवल स्वस्तित्व के विषय में एक दलील के रूप में लिया जा सकता है, यद्यपि इससे सिद्ध कुछ भी नहीं होता। दूसरी ओर, जव हम ज्ञान पर ज्ञेय की ओर से विचार करते हैं, तो यह दलील पूर्ण रूप से उसको असिद्ध दिखलाती प्रतीत होती है। ज्ञेय के अतिरिक्त और उसके पृथक्, ज्ञान एकांगी तथा असम्वद्ध पृथक्करण है, और ज्ञान के जिस प्रतिपादन में ज्ञाता किसी-न-किसी प्रकार और किसी-न-किसी हद तक जव तक उपस्थित न हो और जव तक कोई सम्वन्व न रखता हो, तव तक वह ज्ञान ज्ञान ही नहीं प्रतीत होता। परन्तु ऐसी उपस्थिति का अर्थ ज्ञाता तथा ज्ञेय दोनों में परिवर्तन तथा सापेक्षिकता का होना है। अन्त में ज्ञेय की सत्ता को विभाजित करने और एक ऐसी स्वयंसिद्ध सत्ता की स्थापना करना जो वहिर्गत भी हो और ज्ञान से स्वतन्त्र भी हो, व्यर्थ है। क्योंकि ज्ञेय की स्वयंसिद्ध सत्ता यदि स्वयं अनुभूत तथा ज्ञात न हुई, तो ज्ञाता के लिए वह शून्य के समान है और सम्भवतः उसका प्रतिपादन नहीं हो सकता। और जो ज्ञान गलती से ज्ञेय से वहिर्गत तथा निरपेक्ष प्रतीत होता है, वह किसी हालत में भी आत्यन्तिक नहीं हो सकता। उसका आशय एक ऐसे ज्ञेय पर होगा जिसका सार अनुभूत होने में ही निहित होगा और जो ज्ञान से वहिर्गत होकर शून्य-मात्र रह जायगा। परन्तु, यदि यह वात है, तो ज्ञेय की प्रकृति ज्ञाता पर उसी प्रकार निर्भर होगी, जिस प्रकार ज्ञाता ज्ञेय की प्रकृति से विशिष्ट होता है। प्रत्येक सापेक्षिक होता है और दोनों में कोई भी स्वसीमित नहीं होता, क्योंकि नहीं तो तथ्य रूप में माना हुआ ज्ञान असम्भव हो जाता है।

दूसरे शब्दों में, मान लो कि अनेक में से प्रत्येक का अस्तित्व केवल स्वयं के लिए है, तो वह अस्तित्व जाना नहीं जा सकता, और दूसरों के लिए वह शून्य-मात्र होगा। परन्तु जव एक सत् दूसरे के लिए वस्तु हो जाता है, तो वह प्रत्येक की सत्ता में एक परिवर्तन उपस्थित करता है, क्योंकि मेरा अनुमान है कि सम्वन्ध किसी का एक परिवर्तन है, और अस्थायी मान्यता के अनुसार अनेक के अतिरिक्त और कुछ है नहीं जिसका कि परिवर्तन उसको वतलाया जा सके। ज्ञाता में स्पष्ट रूप से परिवर्तन होता है, और, जहाँ तक ज्ञेय का सम्वन्व है, यदि वह अपरिवर्तित रह जाय, तो वह स्वयं प्रक्रिया के वाहर रह जाता है, और ज्ञाता का उसके साथ कोई सम्वन्व नहीं रह जायगा। और ज्ञाता के प्रतिपादित उसका अस्तित्व एक आत्मविरोव-मात्र रह जायगा। सतों के वहुत्व के विषय में आक्षेप की यह संक्षिप्त रूप-रेखा है जो कि ज्ञान के तथ्य पर आश्रित

हो सकती है। इसके उत्तर की आशा करना, अथवा सतों से बाहर सम्बन्धों को अस्तित्व तथा अन्तिम सत्ता प्रदान करने के इस प्रयत्न की आलोचना करना व्यर्थ होगा। परन्तु मैं अपना यह विश्वास व्यक्त करन का साहस करता हूँ कि ऐसा कोई भी प्रयत्न अन्ततोगत्वा अर्थहीन होगा। और यदि कोई मेरे सिद्धान्त का विरोध उस दलील के द्वारा करेगा जिसको,मैंने अभी ऊपर प्रस्तुत किया है, तो मैं कम-से-कम उसको एक बड़े भेद की याद दिला दूँ। मेरे लिए अनेक के भीतर प्रत्येक प्रक्रियापूर्ण के भीतर एक ऐसी स्थिति है जिसमें और जिसके द्वारा अनेक आश्रित रहता है। अनेक की प्रक्रिया, तथा अनेक की पूर्ण सत्ता, ये दोनों ही एक ही सत् के पक्ष-मात्र हैं, यह सत् उन्हीं के भीतर अपने को जानता है और विचरण करता है, और उससे पृथक् सभी वस्तुएँ, सभी परिवर्तन तथा प्रत्येक ज्ञाता और ज्ञेय सब-के-सब परमार्थ शून्य-मात्र होते हैं।

पृष्ठ १३६–४० की टिप्पणी——इन पृष्ठों में मैंने जो स्थिति अपनायी है उसकी व्याख्या कुछ शब्दों में यहाँ मैं जोड़ना चाहता हूँ, यद्यपि मेरे विचार में, यदि परिणाम असन्तोषजनक हो, तो भी प्रमुख सूत्र पर्याप्त स्पष्ट है। यदि विश्व में सुख की अपेक्षा दुःख अधिक होता, तो कम-से-कम मैं तो विश्व को पूर्ण नहीं कहता। दूसरी ओर यदि सुख अधिक होता, चाहे रंच मात्र ही यदि क्यों न होता, तो भी मैं जगत की पूर्णता का समर्थन नहीं कर सकता। मेरे विचार में जो आधार पर्याप्त है उसी पर खड़ा होकर मैं अनुमान करता हूँ कि समग्रता की स्थिति में सुख और दुःख दोनों एक दूसरे के बराबर हो जाते हैं, जिससे कि पूर्ण स्थिति अपनी समग्रता दुःखपूर्ण अथवा सुखमय हो सकते। मेरा आग्रह है कि केवल परिमाण का पूर्णता से कोई भी सम्बन्ध नहीं है। इसलिए सुख तथा दुःख का प्रश्न, और पूर्ण को उनके द्वारा गुण प्रदान करने की प्रक्रिया का प्रश्न दुःख या सुख के आधिक्य का प्रश्न समझा जाना चाहिए। इसी को मैं वह सिद्धान्त और सीमा तथा मानदंड समझता हूँ। जिसके द्वारा आशावाद या निराशावाद के पक्ष एवं विपक्ष में निर्णय दिया जा सकता है। और यही कारण है जिससे कि हम डाक्टर पंगग्लोस के मनोरम लक्ष्य का समर्थन नहीं कर सकते।

अतः यदि सम्भव हो, तो यह समझ लेना महत्त्वपूर्ण है कि सुख और दुःख दोनों की आत्यन्तिक प्रकृति, उन दोनों की परिस्थितियाँ और प्रभाव क्या हैं। क्योंकि सांत करते-करते मैं यह और कह देना चाहता हूँ कि यह अनुमान करना मुझे बिल्कुल बेतुका लगता है कि कोई वस्तु बिना कारण के हो सकती है, अथवा उसका कोई भी प्रभाव नहीं हो सकता। परन्तु दुर्भाग्यवश सुख तथा दुःख के विषय में पूर्ण ज्ञान प्राप्त करना संभव भी हो, तो भी वह प्राप्त नहीं होता। इस विषय-सम्बन्धी साहित्य से मेरा बहुत ही अधूरा परिचय है, परन्तु फिर भी उसके परिणाम को सत्य रूप में ही माना जायगा। सुख तथा

दुःख के सम्बन्ध में श्री मार्शल की रोचक पुस्तक, और श्री स्टाउट की साइकोलोजी में एक प्रशंसनीय अध्याय, इन दोनों में से विशेष कर पहला, मुझ को मार-पीट कर निष्कर्ष निकालने का प्रयत्न करते हुए दिखायी पड़ते हैं। और यदि मनोविज्ञान को छोड़-कर, हम सूक्ष्म तत्त्व-विज्ञान को अपना लें, तो मैं नहीं समझ पाता कि हम सुख या दुःख के विषय में किसी भी निष्कर्ष पर कैसे पहुँच सकते हैं। फिर भी सामान्यतः यद्यपि इस मामले में एक निश्चित सीमा तक हमें कोई सबूत नहीं मिलता, परन्तु फिर भी एक बहुत बड़ी संभाव्यता अवश्य रहती है। मन की सामान्य शान्ति तथा विश्रान्ति के साथ दुःखावशेष की संगति मुझे इतनी असम्भावित लगती है कि मैं उसको कुछ भी महत्त्व नहीं देना चाहता। यह मानने के पश्चात्, प्रश्न यह रह जाता है कि इससे हमें आगे बढ़ने में कोई सहायता मिलती है या नहीं, क्योंकि यह कहा जायगा कि, यह मान लो कि ज्ञान के लिए और उसके क्षेत्र में विश्व अपना खंडन करने में असमर्थ है, फिर इसको दुःख तथा व्यावहारिक अशान्ति के अवशेष से क्यों न लादा जाय? यही नहीं, जब आपने नरक की व्याख्या कर दी, तो स्वयं नरक भी बुद्धि के लिए परिपूर्ण बन जायगा और वह स्वयं बुद्धि का स्वर्ग बन जायगा। परन्तु एक क्षण-भर के लिए व्याख्या के प्रश्न को स्थगित करते हुए, मैं यह उत्तर प्रस्तुत करता हूँ। बुद्धि को हम प्रत्यक्षतः शुद्ध रूप में प्रयुक्त कर सकते हैं, परन्तु मेरा विश्वास है कि अप्रत्यक्षतः बुद्धि निःसन्देह शुद्ध नहीं होती, और न किसी शुद्ध बुद्धि का अस्तित्व ही है। एक केवल बौद्धिक समन्वय एक पृथक्करण मात्र, और वह एक औचित्यपूर्ण पृथक्करण है, परन्तु यदि समन्वय केवल बौद्धिक ही होता, तो वह कुछ भी नहीं होता। और जो परिस्थितियाँ प्रत्यक्षतः भौतिक नहीं हैं, उनके परिवर्तन-द्वारा, आप अप्रत्यक्ष रूप से बौद्धिक जगत् को नष्ट-भ्रष्ट कर रहे हैं। तथाकथित सुख के सम्भावित अवशेष के विषय में जो स्थिति है उसको मैं इसी रूप में ग्रहण करता हूँ। मेरे विचार में वह अवशेष अप्रत्यक्ष रूप से बुद्धि को उत्पन्न करे, और फिर उसी के भीतर प्रकट हो, यह एक स्वयं विरोधी बात है।

मुश्किल से हम यह अनुमान कर सकते हैं कि पूर्ण के भीतर दुःख तथा अविश्रान्ति का वह अवशेष अप्रत्यवेक्षित रह जायगा, और उसका अस्तित्व केवल भावना या आलोचन की किसी बाहरी दुनिया में बन्द होकर बुद्धि से सर्वथा दूर रहेगा। यदि ऐसा होता भी, तो बुद्धि स्वयं इसके द्वारा अधूरी बन जाती। क्योंकि सर्वगत होने में असमर्थ होकर, वह बाहर से सीमित होकर दोषपूर्ण हो जाती, और इसलिए परिणामतः वह आन्तरिक दृष्टि से असंगतिपूर्ण भी हो जाती। अतः दुःख को प्रत्यक्षण तथा विचार के जगत में प्रविष्ट होता हुआ माना जाना चाहिए, और, यदि ऐसा हो तो हम अनुमान कर सकते हैं कि वह अपने को अरुचि, घृणा, तृष्णा या जिज्ञासा, अथवा संक्षेप में किसी

अतिरिक्त इच्छा की विधा के रूप में प्रकट करना चाहिए। परन्तु अतिरिक्त इच्छा के अन्तर्गत एक ऐसे प्रत्यय का भी समावेश होता है और होना चाहिए जो आलोचन को युग-पद-विशिष्ट करता है और उसके साथ असामंजस्य भी प्रकट करता है। पाठकों को इसकी व्याख्या ऊपर पृ० ८२-६ की टिप्पणी में मिलेगी। उदाहरण के लिए जिस सेव को आप खाना चाहते हैं लेकिन जो आपकी पहुँच के वाहर है, वह एक स्थापना होने के साथ-साथ एक प्रत्ययात्मक विशेषण भी है जो तर्क की दृष्टि से उसके विरुद्ध पड़ता है, और यदि असंगत विशेषणों के विशेष से गत भेद-भाव के द्वारा, आप इस तर्क-सम्वन्धी विरोध को दूर भी कर सकें, तो उस हद तक इच्छा भी तिरोहित हो जायगी। एक पूर्ण विश्व के भीतर, जिसमें दुःख तथा अतिरिक्त इच्छा का अवशेष समाविष्ट होता है, मेरी समझ में इस अतिरिक्त इच्छा में समवेत विरोध सम्भवतः मिटाया जा सकता है। उसको मिटाने की यह सम्भावना उस पूर्ण के भीतर (जैसा कि हम जानते हैं) होने वाली पुनर्व्यवस्था पर निर्भर करती है, और वह इस वात को स्वीकार करती है कि अन्ततोगत्वा स्थापना के विरुद्ध प्रत्यय का कोई भी तत्त्व अवशिष्ट नहीं रह जाता। और यदि सत् प्रत्यय तथा अस्तित्व का पूर्ण तादात्म्य रूप न होता, अपितु, उसके भीतर दुःख के अवशिष्ट तत्त्व के साथ-साथ, अतिरिक्त इच्छा का एक आवश्यक अवशेष होता, तथा उसमें सव मिलाकर अवशिष्ट प्रत्यय का एक ऐसा तत्त्व होता जो आलोचन के साथ तादात्म्य नहीं लगता, तो सिद्धान्ततः इस अन्तर्विरोध को मिटाने की सम्भावना वहिर्गत प्रतीत होती। अधिक-से-अधिक एकसूत्र से दूसरे सूत्र तक पूर्ण के भीतर इस संघर्ष को इधर-उधर किया जा सकता है, परन्तु पूर्ण के लिए वह सदैव ही वना रहेगा। अतः, चूंकि एक दुःखावशेष अतिरिक्त इच्छा को जन्म देता हुआ प्रतीत होता है, और वह भी ऐसा कि जिसमें तर्कसंगत मुठभेड़ सम्भव हो सकती है, इसलिए अप्रत्यक्ष रूप से हम कम-से-कम एक ऐसी अवस्था की कल्पना कर सकते हैं जो सुखावशेष से युक्त न हो तो भी दुःख से मुक्त हो सकती है। मेरा विश्वास है कि यह निष्कर्ष पक्का है।

मुझे यह अच्छी तरह से मालूम है कि सभी ओर से आक्षेप किये जायेंगे, और वे क्या होंगे इसकी पूर्वकल्पना करने से मुझे कोई लाभ नहीं हो सकता, परन्तु एक या दो सूत्रों पर मैं व्याख्या के दो शव्द कहना चाहूँगा। सम्भवतः यह आक्षेप होगा कि इच्छा के अन्तर्गत तत्त्वतः कोई प्रत्यय नहीं होता। यद्यपि मुझे विश्वास है कि यह आक्षेप गलत है और यद्यपि मैं विस्तारपूर्वक इसका विवेचन करने को तैयार हूँ, यहाँ मैं ऐसा नहीं कर सकता। फिर भी मैं यह कहूँगा कि यदि विना प्रत्यय के कोई ज्ञान किसी अवस्था में हो भी, तो भी पूर्ण के भीतर वह अप्रत्यक्षीकृत रहता हुआ नहीं माना जा सकता। और जैसे ही उसका प्रत्यक्ष हो जाता है, वैसे ही उसमें प्रत्यय तथा अन्तर्विरोध दोनों का

समावेश हो जायगा। इस विषय में और आगे न कह कर, अब मैं दूसरे विषय पर आता हूँ। यह आपत्ति की गयी है कि जिसकी भी व्याख्या सम्भव है वह बौद्धिक दृष्टि से समन्वयशील होगी, और एक दुःखी विश्व की व्याख्या विज्ञान-द्वारा सम्भव हो सकती है, और इसलिए बौद्धिक दृष्टि से वह पूर्ण हो सकती है। परन्तु मेरा तुरन्त उत्तर यह है कि किसी भी वैज्ञानिक व्याख्या से बुद्धि के लिए तृप्त होना बहुत दूर की बात है, क्योंकि अन्ततोगत्वा वह कदापि संगतिपूर्ण नहीं हो सकती। अन्त में वह विशेषों को एक अबोधगम्य नियम-द्वारा अबोधगम्य ढंग से बाँधती है, और ऐसा कोई भी बाह्य बन्धन एक वास्तविक समन्वय नहीं हो सकता। मेरा आग्रह है कि किसी भी वास्तविक बौद्धिक समन्वय के भीतर प्रत्यय तथा अस्तित्व की पूर्ण एकरूपता निरन्तर रूप से रहती है। यदि भवितव्य तथा अभाव के प्रत्यय बहुमत में हों (जैसा कि एक दुःखी दुनिया में होना चाहिए), तो कोई बौद्धिक समन्वय सम्भव नहीं।

मैं अच्छी तरह जानता हूँ कि मेरे निष्कर्ष का प्रदर्शन नहीं हो पाया (पृ० ४७३)। अति संशयालु अथवा दुःखी व्यक्ति के द्वारा विश्व की दुःखपूर्णता पर जोर देने की संभावना रह ही जाती है। जहाँ तक मैं समझ पाया हूँ, यह सम्भावना तक तब नहीं दूर की जा सकती, जब तक सुख और दुःख दोनों के विषय में अथवा उनकी जानकारी पूरे तौर से न कर ली जाय। यदि हमें विश्व-तंत्र का किसी अन्य प्रकार से ऐसा पूर्ण ज्ञान हो सके कि उसके बाहर कुछ भी सम्भव न हो, और यदि इस पूर्ण तंत्र के अन्दर एक सुखावशेष हो, तो स्थिति बदल सकती है। परन्तु, जहाँ तक मैं समझता हूँ, फिर भी यह सुखावशेष एक बाह्य तत्त्व मात्र रहता है, और वह उस तंत्र को भीतर से विशिष्ट करने वाला नहीं समझा जाता और समझा ही जा सकता है, अतः पूर्णतम अर्थ में इस तंत्र को सर्वसमावेशी तथा सर्वतोपूर्ण होना पड़ेगा। जिस प्रकार की अज्ञात परिस्थितियों को मैंने पृष्ठ ४७४ पर माना है उनको असम्भव होना पड़ेगा। परन्तु मैं स्वयं तो यह विश्वास नहीं कर सकता कि ऐसा ज्ञान हमारे लिए सम्भव हो सकता है, और, जहाँ तक सुख का सम्बन्ध है, मुझे ऐक ऐसे परिणाम के साथ समाप्ति करनी पड़ रही है जिसका विरोधी स्वरूप भी पूर्णतया असम्भव नहीं हो सकता।

पृष्ठ १८१-२—काल के भाव के विषय में मैंने यहाँ जो कुछ कहा है, उससे मेरा अभिप्राय यह नहीं है कि उसका अस्तित्व मेरी राय में अनादि काल से है। इसके विपरीत मेरा अनुमान है कि इससे उलटे की संभावना अधिक है, परन्तु एक सम्मति व्यक्त करने में मुझे कोई लाभ नहीं दिखायी पड़ा।

अध्याय १८—इस अध्याय में और चौथे अध्याय में जिन प्रमुख सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया है उनकी आलोचना संयोगवश १८९५ के जुलाई और सितम्बर

वाले फिलोसोफिकल रिव्यू में की गयी है। मुझे खेद है कि इन लेखों में मुझ को यह जानना असम्भव हो गया कि प्रोफेसर वाटसन मेरी आलोचना कर रहे हैं अथवा किसी अन्य लेखक की, और न यह मालूम हो सका है कि कहाँ पर वह किसी ऐसी वस्तु को विकसित कर रहे हैं जिसको कि वे न्यूनाधिक रूप में हम दोनों की संयुक्त सम्पत्ति मानते हैं। और जहाँ पर उन्होंने स्पष्ट रूप से मेरी आलोचना की है, वहाँ पर सदा ही मैं किसी भी आलोचना सूत्र को नहीं पा सका हूँ। अतः यहाँ पर जो भी दिया जा रहा है वह किसी हद तक संदिग्ध रूप में ही प्रस्तुत है।

जिस प्रमुख सिद्धान्त से मैं सम्बद्ध हूँ और जिसको प्रोफेसर वाटसन निश्चित रूप से अमान्य ठहराते हैं, वह उस समय से सम्बन्ध रखता है जो सत् का अन्तिम अथवा सच्चा निर्णयात्मक रूप नहीं, अपितु एक आभास मात्र है। कुछ अन्य आलोचकों के साथ, प्रोफेसर वाटसन ने 'आभास-मात्र' शब्द को गलत समझा है। मेरा अनुमान है कि जो बात वे कहना चाहते हैं वह यह है कि प्रत्येक वस्तु अपने स्थान और परिमाण में सत् का निर्णय करती है, और इसलिए प्रत्येक वस्तु में उसका सत् विद्यमान रहता है। इस विषय पर मैंने स्वयं जोर दिया। परन्तु यहाँ तक सहमत होते हुए भी, प्रो० वाटसन और मेरे बीच निम्नलिखित मतभेद प्रतीत होता है। यद्यपि वह इस बात से सहमत हैं कि सत् के एक निर्णायक के रूप में, काल अपर्याप्त तथा आंशिक है और उसका सुझाव किसी सत्यतर वस्तु से करना चाहिए, फिर भी प्रो० वाटसन को उस वस्तु के अन्तिम अथवा सच्चे निर्णायक कहे जाने पर आपत्ति है, और वे इसको आत्म-विरोधी तथा असत्य मानने से इनकार करते हैं। यहीं पर मुझे आपत्ति है। मैं यह नहीं मानता कि समय अथवा कोई अन्य वस्तु सम्भवतः तब तक अपर्याप्त हो सकती है, जब तक वह आत्म-विरोधी न हो। मेरा प्रश्न यह है कि यदि यह अथवा कोई अन्य निर्णायक सत्य तथा सुसम्बद्ध है, तो हम उसको सुधारने का दायित्व अपने ऊपर कैसे ले सकते हैं ? जो असत्य नहीं है उसके बाह्य सुधार का यह सिद्धान्त, और निम्नतर दृष्टिकोणों की आन्तरिक असम्बद्धता को न मानना (यद्यपि इसका आरोप हमें प्रो० वाटसन पर करना पड़ रहा है), इन दोनों बातों की व्याख्या, उन्होंने निश्चित रूप से नहीं की है। फिर भी मेरे विचार में किसी व्याख्या की आवश्यकता है, और उसके अभाव में, मैं यह आग्रह करूँगा कि काल असंगतिपूर्ण है, और यदि वह ऐसा नहीं होता, तो वह अपर्याप्त नहीं होता, और मेरा यह भी आग्रह है कि कोई भी प्रत्यय तब तक अपर्याप्त नहीं होता, जब तक कि वह न्यूनाधिक रूप में असत्य न हो। यही प्रमुख बात है जिस पर प्रो० वाटसन और मेरे बीच मतभेद प्रतीत होता है।

उत्तर में, ब्योरेवार किसी ऐसी वस्तु के विषय में कुछ कहना मेरे लिए कठिन है

जिसको समझने में मैं प्रायः असफल रहता हूँ। मैं "एक शुद्ध निरन्तर परिमाण" को स्वसंगतिपूर्ण नहीं मानता, अतः जब काल ऐसा माना जाता है, तो उससे मुझे क्या वास्ता ? इसका इस बात से क्या सम्बन्ध है कि काल को "सोचा जा सकता है", जबकि प्रश्न यह है कि उस पर सुसंगत तरीके से विचार किया जा सकता है या नहीं, और न कि यह कि उस पर बिलकुल विचार सम्भव है या नहीं ? और यदि परिवर्तन के प्रत्यय के वस्तुतः असंगतिपूर्ण होने की बात को समझना इतना सरल है, तो क्या प्रो० वाटसन हम लोगों के लिए उसको इस ढंग से नहीं रख सकते, जो कि सत्य और अंतिम हो, और तब यह बतला सकें कि उसके सुधार की आवश्यकता अनुभव करने का उनको क्या अधिकार है ? दूसरे विषय को लेते हुए मैं यह कह सकता हूँ कि स्पष्ट समय-श्रृंखला के सिद्धान्त के विरुद्ध जो आपत्ति की गयी है, उसको समझने में मैं असमर्थ हूँ। यह सिद्धांत समय की स्वतन्त्र सत्ता-विषयक मत पर क्यों और किस प्रकार आश्रित है ? काल एक सत् का पक्ष मात्र होने के कारण, सभी कालगत श्रृंखलाओं में कालात्मक एकता की आवश्यकता क्यों है ? फिर सर्वत्र एक ही कार्य-कारण-व्यवस्था होने की क्या आवश्यकता है ? मुझको कहाँ और क्यों यह मानने वाला समझा जाता है कि "शुद्ध काल" में दिशा होती है ? इन आलोचनाओं के विषय में मैं केवल यही कह सकता हूँ कि मैं इनको अपनी समझ के बाहर पाता हूँ।

और मैं यह भी नहीं समझ पा रहा हूँ कि प्रो० वाटसन पूर्वापरता तथा परिवर्तन के अंतिम सत्य के विषय में क्या ख्याल करते हैं। जहाँ तक प्रो० स्वयं को व्यक्त करने वाली एक आत्म चेतना को सत् रूप में ग्रहण करने वाला मत मेरी समझ में इस प्रश्न का कोई उत्तर प्रस्तुत करता नहीं प्रतीत होता। हम जानते हैं कि अनेक आत्माएँ अपने को भूत, वर्त्तमान तथा भविष्यत की घटनाओं का एक पूर्वापरता-मात्र हैं। एक पूर्वापरता से मेरा अभिप्रायः केवल पूर्वापरता से नहीं है, परन्तु फिर भी मेरा आशय पूर्वापरता से है। ये सभी जन्म-मरण, और व्यक्तियों का आना-जाना अन्ततोगत्वा सत्य और वास्तविक है अथवा नहीं ? मेरे लिए तो, उत्तर यही है कि ऐसा नहीं है। मेरा उत्तर है कि ये पूर्वापर व्यक्ति चरम तत्व के लिए आवश्यक आभास हैं, परन्तु फिर भी ये ऐसे आभास हैं जो स्वतः असंगतिपूर्ण सत्यासत्य को मिलाने वाले (और यदि आप उसको सत्य रूप में प्रस्तुत करते हैं तो), और सत्य होकर केवल आभास मात्र हैं। मैंने इस प्रश्न का उत्तर जितना अच्छा हो सकता था दे दिया, क्योंकि मुझे यह एक ऐसा प्रश्न लगा जिसका उत्तर ऐसे किसी भी व्यक्ति को देना चाहिए, जो गम्भीरतापूर्वक चरम-तत्व तथा काल-प्रक्रिया पर विवेचन करता है। और मेरे कहने का मतलब यह नहीं कि प्रो० वाटसन ने इस प्रश्न का बिलकुल उत्तर ही नहीं दिया। परन्तु यदि उन्होंने

उत्तर दिया है, तो मैं उसमें स्वयं इस बात का पता लगाने में असमर्थ हूँ कि उनके उत्तर का मतलब क्या है।

काल-विषय पर पाठक "दी प्रोसिडिंग्ज आफ दी अरिस्टोटिलियन सोसाइटी," जिल्द—३, संख्या में २ प्रकाशित श्री. . . . बोसांके के लेख को पढ़कर लाभ उठायें।

पृ० २२३–४—"खिड़की के चौखटे में जो संभावित आक्षेप मेरे दिमाग में था वह इस उत्तर में है, परन्तु एक चौखटा निःसंदेह कम-से-कम उतना ही सत् है जितना कि एक खिड़की का शीशा "जहाँ तक मैं समझता हूँ कि ये आक्षेप किसी ने किया नहीं है। परन्तु फिर भी मैंने यह कहते हुए सुना है कि जब सीमित पारदर्शिताएँ समाप्त हो जाती हैं, तो हमारे पास केवल रिक्त स्थान बच जाता है। परन्तु मैं नहीं समझ सकता कि मेरी खिड़की से सफेद रोशनी के अलावा और कुछ भी क्यों न आये और मैं रिक्त स्थान के अतिरिक्त अन्य कुछ भी क्यों न देखूँ, जब मैं खिड़की से देखूँ, तो एक पारदर्शक खिड़की कोई रूप रहित अपारदर्शिता-मात्र क्यों हो ?.

पृ० २३६ पुनः एकीकरण के सम्बन्ध में, किसी भी निश्चित मत से बँधने की इच्छा किये बिना ही, मैंने उसी को तथ्य मान लिया है जिसको सामान्यतः माना जाता है, अर्थात् एक श्रृंखला के सदस्यों में पुनः प्रत्यक्षीकरण केवल आगे की ओर को होता है . . . दूसरे शब्दों में क से ख की ओर होता है ख से क की ओर नहीं। इसलिए श्रृंखला का प्रथम सदस्य किसी भी अगले सदस्य द्वारा प्रत्यक्षतः स्मृति पथ में नहीं लाया जा सकता। यह अप्रत्यक्ष रूप से तथा श्रृंखला के सामान्य स्वभाव तथा एकात्मकता द्वारा होना चाहिए। यह स्वभाव अंत-सहित सम्पूर्ण श्रृंखला से सम्बन्धित होने के कारण, यह संभव है कि यदि अन्त मालूम हो तो आदि को स्मरण किया जा सके। परन्तु यह स्वभाव तथा एकात्मकता किस रूप में है, यह सबसे जटिल समस्या है। फिर भी यह एक ऐसी समस्या है जिसका निर्वाह ऐसे प्रत्येक व्यक्ति को करना पड़ेगा, जो मनोविज्ञान के सिद्धान्तों का व्यवस्थित विवेचन करने के लिए प्रयत्नशील हो। यह समझ लेना चाहिए कि मैं इस टिप्पणी में केवल श्रृंखलात्मक पुनः प्रत्यक्षण के विषय में कह रहा हूँ, परन्तु दूसरी ओर मैं यह मान कर नहीं चल रहा हूँ कि पुनः प्रत्यक्षण अग्रगामी, क से ख तक अन्ततोगत्वा केवल प्रयत्क्ष समझे जा सकते है।

अध्याय २१—भाग ३, में श्री होब हाउस की पुस्तक "थ्योरी आफ नोलेज' के भीतर मुझे "आन्तरिक प्रत्ययवाद' के विरुद्ध एक दलील मिली है जिसको संक्षेप में विचारना अच्छा हो सकता है। यह दलील प्रकृत गुणों की सत्ता को शुद्ध-मात्र सिद्ध करने में (चाहे वह उस ओर न लगायी गयी हो) उपयोगी प्रतीत होती है। यद्यपि संभ-

चतः वहाँ कोई ऐसा इरादा नहीं होगा, और यद्यपि मैं इस दलील को समझने में कठिनाई अनुभव करता हूँ, फिर भी, जहाँ तक मैं इसको समझ पा रहा हूँ, मैं उसकी दोनों दृष्टियों से आलोचना करूँगा। जैसा कि स्वाभाविक है, इस प्रक्रिया का स्वरूप यही है कि क—ख सम्बन्ध की सभी परिस्थितियों को विसर्जन के द्वारा एक-एक करके तब तक निकाला जाय जब तक कि क—ख सत्य और सत् रूप में अवशिष्ट न रह जायँ। वर्तमान उदाहरण में क—ख नग्न प्रकृत गुणों का एक सम्बन्ध है, अथवा वह किसी ऐसी वस्तु का एक सम्बन्ध है जो मुझसे पृथक् तथा स्वतन्त्र है। मेरी प्रत्यक्षकारिणी चेतना के अतिरिक्त सभी अन्य तथ्यों को एक-एक कर निकालने की संभावना-विषयक प्रतिपत्ति के बाद—जो प्रतिपत्तियाँ, जहाँ तक मैं समझता हूँ, पूर्णतया अग्राह्य तथा नितान्त तथ्य-विरोधी लगती हैं—क—ख की नग्न स्वाधीनता इस प्रकार सिद्ध हुई प्रतीत होती है। एक ऐसी वस्तुस्थिति लीजिए जहाँ सम्बन्ध का एक व्यंजक दिखायी पड़ता है, और दूसरा नहीं दिखायी पड़ता। फिर भी बिना देखे ही उस व्यंजक के अस्तित्व का निष्कर्ष हमें यहाँ करना पड़ता है, परन्तु यह एक ऐसा अस्तित्व है जो अनदेखा होने के कारण, सभी विकृत गुणों से मुक्त है। परन्तु मैंने स्वयं यह सोचा होता कि जो निष्कर्ष निकलता है वह बिलकुल दूसरा ही है। मुझे कहना चाहिए था कि आधार-वाक्यों से जिसकी सिद्धि होती है वह यह नहीं है कि क—ख नग्न रूप में उपस्थित है, अपितु यह कि यदि क—ख उपाधिहीन है, तो वे असत्य तथा अवस्तु हैं, और एक उपयोगी कामचलाऊ मनगढ़न्त के अतिरिक्त किसी और रूप में उसका प्रतिपादन नहीं किया जाना चाहिए था। दूसरे शब्दों में अपने स्थान, अर्थात् प्रेक्षण-क्षेत्र से किसी व्यंजक का प्रेक्षित अभाव इस बात का सबूत नहीं है कि इस व्यंजक का अन्यत्र अस्तित्व ही नहीं है, अपितु, यदि उसको उपाधिहीन रूप में ग्रहण किया जाय, तो वह यहाँ पर कल्पित सार्वभौम क—ख को असिद्ध करने के लिए एक निषेधात्मक उदाहरण-मात्र होगा। निःसन्देह यदि आपने इस कल्पना के साथ प्रारम्भ किया है कि क—ख निरुपाधिक रूप में सत्य हैं, तो आपने प्रारम्भ में ही इस निष्कर्ष को सिद्ध मान लिया होगा।

यदि इस दलील को अहमेववाद के विरुद्ध लिया जाय, तो, जैसा कि मेरे विचार में अहमेववाद के विरुद्ध कोई भी दलील होगी, वह तब तक बहुत बुरी साबित होगी, जब तक कि वह यह न दिखलाने लगे कि अहमेववाद के आधारभूत तथ्य ही अंशतः गलत हैं। परन्तु नेति-नेति कह कर इसका विरोध करने का प्रयत्न मुझे बेतुका प्रतीत होता है, क्योंकि किसी भी प्रेक्षण में, आत्मा के समस्त मोह को और आन्तरिक अनुभूतियों के अभाव को तथ्यतः प्राप्त करना निःसन्देह बिलकुल असम्भव है। और न कोई अहमेववाद इस बात को साधारणतया स्वीकार करेगा कि उसका आत्मा उसके

वर्तमान के साथ केवल सह-अस्तित्व रखता है। और इसके आगे यदि कोई अहमेव-वादी इस वात को स्वीकार करता है कि वह वाह्य अनुभूति के मार्ग को उसी प्रकार नहीं समझा सकता जिस प्रकार कि वह अपनी आन्तरिक अनुभूतियों के क्रम को नहीं समझा सकता, और फिर यह कहता है कि वह आपके क–ख जैसे सूक्ष्म सामान्यों का प्रयोग केवल उपयोगी मनगढ़न्तों के रूप में करता है, तो आप, उपर्युक्त दलील के समान किसी दलील के द्वारा यह कैसे दिखला सकते हैं कि वह अपना खंडन स्वयं करता है? व्याख्या करने की असमर्थता का अर्थ निःसन्देह सदैव असम्वद्धता ही नहीं होता, और किसी मत को असन्तोषजनक सावित करने का नाम सदा उसको असत्य दिखाना नहीं होता। आत्मा से पृथक् क-ख की सत्ता को सिद्ध करने का श्री हाव हाउस का महत्त्व-पूर्ण उदाहरण अहमेववादी के लिए केवल एक ऐसी पूर्वापरता ही दिखला सकता था जिसकी व्याख्या करने में वे असमर्थ थे। संक्षेप में इस प्रकार आप उसको तव तक क से परास्त कर सकते हैं, (यह वात मेरी समझ में नहीं आती), जव तक कि वह अपना खंडन स्वयं करके क–ख के पृथक् अस्तित्व की संभावना को पहले ही स्वीकार न कर लें, अथवा उसको स्वतन्त्र तथा निरूपाधिक रूप में सत् या सत्य न मान लें।

जबकि अहमेववादी विश्व तथा उसके प्रत्येक भाग के लिए अपने स्व को केवल परमावश्यकता के रूप में मानता है, मेरी समझ में उसका खंडन करना संभव नहीं, और इस हद तक उसका कथन निःसन्देह ठीक है। क्योंकि एक सापेक्षिक दृष्टि के अति-रिक्त, विश्व में कोई पृथकता अथवा स्वाधीनता के लिए स्थान नहीं। अहमेववादी से निपटने में आप नेति-नेति के साधारण प्रयत्न से काम नहीं चला सकते, अपितु (जैसा कि इस अध्याय में मैने वतलाया है), आपको यह वतलाना पड़ेगा कि जिस सम्वन्ध को मानता है, वह वस्तुतः आवश्यक होते हुए भी, उस स्वभाव से युक्त नहीं है जिसका आरोप अहमेववादी उस पर करता है। यह कह कर आप उसको विश्वास दिला सकते हैं कि वह स्वयं वही गलती करता है जो कि मुझ से विलकुल पृथक् अस्तित्व रखने वाली वस्तुओं का अथवा नग्न प्रकृत गुणों का प्रतिपादन करता है। यह गलती यही है कि इसके द्वारा अनुभूति के एक केवल पृथक्करण-मात्र को एक स्वतन्त्र सत्ता के रूप में स्थापित किया जाता है। अहमेववादी का खंडन आप यही दिखलाकर कर सकते हैं कि उसने अनुभूति को किस प्रकार ग़लत तरीके से विभाजित करके एकांगी रूप में संकीर्ण कर डाला है।

पृ० २३७—मानसिक अवस्थाओं का प्रसार होता है या नहीं, और होता है तो कैसे, इस प्रश्न पर देखिए 'माइन्ड', एन० एस० संख्या १४ में प्रकाशित लेख।

पृ० २४१–२—यहाँ पर मैं लेखक का ध्यान इस तथ्य की ओर आकर्षित करूँगा

कि यद्यपि मेरे लिए आत्मा तथा सीमित केन्द्र एक ही वस्तु नहीं हैं (पृ० ४६८–९), मैं केवल उसका भेद वहीं करता हूँ जहाँ आवश्यक प्रतीत होता है।

पृ० २७७—इस पृष्ठ में ऊपर से सत्तरहवीं पंक्ति में मैंने "वही। अथवा" को बदल कर "वही, अथवा" कर दिया है। अनुमानतः पूर्ण-विराम को गलती से लगा लिया गया है। खैर, मैंने उसको दूर कर दिया, क्योंकि यदि कोई पाठक सावधान न हो, तो वह "हमें उनको वही कहना चाहिए" इन शब्दों को आत्यन्तिक अर्थ में ग्रहण कर सकता है। वस्तुतः मैंने ऐसा कर दिया है, परन्तु मेरे विचार में अर्थ वस्तुतः अस्पष्ट नहीं था। प्रथम तो मैं यह बात नहीं मानता कि किसी आत्मा अथवा अन्य वस्तु की व्यक्तिगत एकरूपता के लिए किसी निरन्तर अस्तित्व की नितान्त आवश्यकता ही नहीं है। इसके विपरीत, मैंने कई स्थानों पर इसके विरुद्ध प्रतिपादन किया है। यहाँ पर मैं केवल निरन्तर अस्तित्व के बीच होने वाले किसी अन्तराल या खंडन की बात कह रहा हूँ। और निःसन्देह मैं यह नहीं कहता कि इस खंडन अथवा अन्तराल के होते हुए भी हम सब लोग एक तथ्य के रूप में व्यक्तिगत एकरूपता का प्रतिपादन करेंगे। मैं यह कह रहा हूँ कि, चाहे हम उसको मानें या न मानें, हम प्रत्येक अवस्था में, जहाँ तक मैं देखता हूँ, किसी सुरक्षित सिद्धान्त पर नहीं खड़े हैं।

जिन अन्तरालों में कोई चेतना ही प्रतीत नहीं होती उनमें आत्मा का क्या स्वरूप होता है, इस प्रश्न का मेरा जो उत्तर है उसको पूर्णरूपेण संतोषजनक मानने की बात मैं नहीं कहता। परन्तु अपने आलोचकों से इस विषय पर शिक्षा ग्रहण करने के लिए इच्छुक और उत्सुक होने के कारण, मैं यह नहीं कह सकता कि मुझे इस विषय में आलोचकों से किंचित् मात्र भी प्रकाश प्राप्त हुआ है।

पृ० २९४–५—यहाँ विस्तार में गये बिना ही, मैं एक बात कहने का साहस करता हूँ, जो मेरी समझ में बिलकुल अनावश्यक नहीं है। "मानसिक-भौतिक-समानान्तरवाद"—अथवा किसी और लम्बे सूत्र का निर्माण करके या उसका प्रयोग करके, आप शारीरिक और मानसिक घटनाओं की कार्य-कारणगत पूर्वापरता के प्रश्न से नहीं बच सकते। उदाहरण के लिए, जब हम यह कहते हैं कि किसी पिन की भौतिक चुभन दर्द पैदा करती है, तो यह कथन किसी भी अर्थ में सच होता है अथवा वह बिलकुल ही झूठ होता है? क्या यह दर्द वस्तुतः प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में किसी हद तक चुभन का परिणाम नहीं होता? और, यदि यह नहीं होता, तो वह अन्य किस वस्तु का परिणाम है, अथवा क्या यह बिलकुल अकारण ही पुनः घटित होकर स्वयं प्रभावहीन हो सकता है? इन प्रश्नों के स्पष्ट उत्तरों की माँग तो अधिक सरल है, परन्तु प्राप्ति उतनी नहीं।

पृ० ३०७–८—भेद-सम्बन्ध पर आधारित होता है या नहीं, और यदि होता है

तो किस अर्थ में, इस प्रश्न पर, देखिए टिप्पणी—ख, और सादृश्य विषय पर चर्चा के लिए, देखिए टिप्पणी—ग। पृ० ३०८ की पाद-टिप्पणी में उल्लिखित विवाद को 'माइंड' एन० एस०, संख्या ७ और ८ में जारी रखा गया है, और जो पाठक इस विषय में रुचि रखते हों उनसे मैं उसे पढ़ने के लिए निवेदन करने का दुःसाहस करता हूँ।

पृ० ३१५—सामान्यों के बीच रहने वाले साहचर्य के विषय पर पाठक एनसाइक्लोपीडिया में हीगल शब्द को देखें।

पृ० ३२१–३—इन पृष्ठों में जो दलील पेश की गयी है उसको पाठक लोग कुछ सिद्धान्तों की सत्यता पर आधारित पायेंगे, (क) किसी केवल बाह्य सम्बन्ध का कोई अर्थ या अस्तित्व, क्योंकि किसी सम्बन्ध के लिए यह आवश्यक है कि (कम-से-कम कुछ हद तक) वह अपने व्यंजकों को विशिष्ट करें। (ख) सम्बन्धों में एक ऐसी एकता निहित होती है जिसमें वे रहते हैं और जिससे पृथक् उनका न कोई अर्थ होता है और न कोई अस्तित्व। (ग) व्यंजक तथा सम्बन्धों के रूप में प्रत्येक प्रकार की विविधता उस एक ही सत्ता के विशेषण-मात्र हैं जो उनमें रहती है और जिसके बिना वे कुछ भी नहीं होते। इन सिद्धान्तों को इस पुस्तक के भीतर तथा परिशिष्ट में पहले ही सिद्ध किया हुआ मान लिया गया है।

इस आधार से हम निम्नलिखित दलील पेश कर सकते हैं—प्रत्येक ससीम , एक पूर्ण के भीतर अन्य सभी वस्तुओं के साथ किसी-न-किसी प्रकार एकत्र होने के कारण, कम-से-कम सम्बन्धात्मक दृष्टि से समस्त अवशिष्ट वस्तु के साथ सह-अस्तित्व रख सकता है, क्योंकि यह पूर्ण केवल अनुभूति के स्तर से परे एक इकाई है। अतः किसी-न-किसी प्रकार, कम-से-कम कुछ हद तक, प्रत्येक वस्तु बाह्यतः विशिष्ट होनी चाहिए। और यह विशिष्टतः केवल सम्बन्धात्मक होने के कारण, पूर्णतया वस्तुगत नहीं हो सकती। अतः आन्तरिक दृष्टि से ससीम स्वयं के साथ भी सुसंगत नहीं होता और वह अपना खंडन-स्वयं करता है। और यह बाह्य विशिष्टता किसी अबोधगम्य ढंग से अपनी आन्तरिक प्रकृति के साथ केवल संयुक्त है या नहीं, अथवा उसके साथ उसका कोई आन्तरिक सम्बन्ध है, इन प्रश्नों की अभी उपेक्षा की जा सकती है, क्योंकि किसी भी प्रकार क्यों न हो, ससीम तथ्यतः अपना खंडन स्वयं करेगा ही।

पूर्ण की ओर से भी, वही परिणाम स्पष्ट है क्योंकि वह स्वयं एक ससीम तथा असीम से परे दोनों ही युगपद होता है। और क्योंकि कोई भी "एक सूत्रता" अन्ततोगत्वा केवल बाह्य नहीं हो सकती, इसलिए ससीम के भीतर वह पूर्ण अपने को बाहर ले जाता है।

सम्बन्धों के नीचे केवल अनुभूति-मात्र को आधार बनाने के प्रयत्न से कुछ भी

नहीं मिल सकता, क्योंकि सम्बन्धों के अभाव से और एकता के आग्रह से, विविक्तता की ओर से स्वतन्त्रता का आभास भी चला जायगा। और फिर अनुभूति स्वातिक्रामिणी होती है, और उसकी पूर्णता मुख्यतः सम्बन्धों के द्वारा होती है, तथा सदा एक ऐसे पूर्ण के भीतर होती है जो उससे परे भी होता है और उसको अपने में समाविष्ट भी करता है (पृ० ५२२–३)।

मेरा अनुमान है कि इसका खंडन निम्नलिखित बातों को बतलाकर किया जा सकता है—(क) अन्ततोगत्वा केवल बाह्य सम्बन्ध अन्तिम तथ्यों के रूप में एक अर्थ तथा सत्ता रखते हैं, और (ख) यह सम्भव है कि व्यंजकों तथा बाह्य सम्बन्धों की एकसूत्रता (मेरा अनुमान है कि वे किसी-न-किसी प्रकार एक सूत्र में होते हैं) बिना किसी आत्म-विरोध के प्रत्यक्षतः अथवा सम्बन्धों तथा व्यंजकों के बीच सम्बन्ध-गवेषणा की एक अनन्त प्रक्रिया-द्वारा व्यक्त हो सकती है।

पृष्ठ ३२४, पाद-टिप्पणी—यहाँ मैं यह कह दूँ कि मुझे यहाँ फिर भी विवश होकर यह कहना पड़ रहा है कि अन्ततोगत्वा किसी प्रत्यय की केवल धारणा-जैसी कोई वस्तु नहीं होती, और जब मैंने अपनी तर्कशास्त्र की पुस्तक में इसके अस्तित्व को माना, तो मैं गलती पर था। इसके विपरीत वह एक पक्ष का ऐसा पृथक्करण प्रतीत होता है जिसका स्वयं कोई अस्तित्व नहीं। देखिए 'माइंड', एन० एस०, संख्या—६०।

पृ० ३५८, पाद-टिप्पणी—यहाँ पर दिये हुए सन्दर्भों के अतिरिक्त देखिए 'माइंड', एन० एस०, ४, पृ० २०, २१, २२५, २२६।

अध्याय—२४—मेरे द्वारा प्रतिपादित मानदंड के सिद्धान्त की आलोचना विविध क्षेत्रों में की गयी है, परन्तु मैं यह सोचने का साहस कर सकता हूँ कि अभी तक किसी ने उसके स्वरूप को अच्छी तरह समझा नहीं। उदाहरण के लिए, श्री हॉब हाउस (थियोरी आफ नॉलेज पृ० ५१५–१६) द्वारा उठाये गये आक्षेप मुझे किसी भी अर्थ में उपयोगी नहीं प्रतीत होते। फिर भी इस सम्बन्ध में कुछ बातें कहूँगा जो संक्षिप्त परन्तु संभवतः असंगत होंगी।

(१) मैंने यह कभी नहीं माना कि मानदंड को अनुभव-द्वारा प्रदत्त आधार सामग्री पर आश्रित करने के बजाय उससे पृथक्-प्रयुक्त किया जाना चाहिए।

(२) मैं यह नहीं सिखाता कि जहाँ पर असंगतिपूर्ण सुझाव संभव हों, वहाँ हम उनमें से किसी ऐसे एक का समर्थन कर सकते हैं जिसमें हम आन्तरिक असंगति देखने में असमर्थ हों। इसके विपरीत मैं तो यह मानता हूँ कि हमें सभी उपलब्ध सामग्री को ग्रहण तथा व्यवस्थित करना चाहिए। जिससे यह-विशिष्ट सत् इस मत के द्वारा यथासंभव एक समन्वित ढंग से हमारे मानदंड के अनुकूल हो सके। इस विषय में, मैं

विशेष रूप से अध्याय १६, २४, और २७ की ओर संकेत करता हूँ, जिनमें प्रतिपादित सिद्धान्त, जहाँ मेरे मतों में संदेह व्यक्त किया गया है, अनुपस्थित नहीं माने जाने चाहिए।

(३) मैं नहीं समझता कि जहाँ पर एक अन्य विकल्प संभव हो, वहाँ पर कोई वियोजनपूर्ण हो सकता है। परन्तु मैंने हमेशा ही यह माना है और अब भी मानता हूँ कि जे० एस० मिल द्वारा प्रतिपादित "अर्थहीन" की कल्पना एक तृतीय संभावना के रूप में बिलकुल मूर्खता है।

(४) मैं यह नहीं मानता, अपितु इसको अस्वीकार करता हूँ कि यदि ज्ञान सुसंगत हो, तो वह बाहर से अपना खंडन स्वयं करने वाला भी हो सकता है।

(५) और मैं इस विचार को भी अमान्य ठहराता हूँ कि, जहाँ तक हमारा ज्ञान आत्यन्तिक है वहाँ तक हम तर्कसंगत ढंग से उसके सत्य होने अथवा हो जाने की कल्पना को मान सकें। मैंने यह दिखाने का प्रयत्न किया है कि ऐसी किसी भी कल्पना का बिलकुल कोई अर्थ नहीं है और इसके विपरीत, जहाँ तक हमारे ज्ञान में भूल के लिए गुंजायश है, वह ठीक-ठीक ऐसी ही, उसी हद तक हो सकती है जिस हद तक वह मान-दंड के अनुसार नहीं होती।

(६) अन्त में मेरा निवेदन है कि जिस अर्थ में यह अथवा वह लेखक एकरूपता तथा अर्न्तविरोध जैसे सिद्धान्तों को प्रयुक्त करते हैं, और जिस ढंग में वे उनको विकसित करते हैं, उनको सदैव ही किसी आलोचक-द्वारा पहले से ही सुरक्षित तथा सिद्ध नहीं मान लेना चाहिए।

इस सम्बन्ध में जो मेरे लिए कहना उपयोगी हो सकता है वह मेरे विचार में इतना ही है, परन्तु हाँ, मैं इस टिप्पणी को एक खेद व्यक्त करते हुए समाप्त करूँगा। श्री होब हाउस-द्वारा प्रतिपादित मानदंड के स्वभाव-सम्बन्धी मत मेरे तथा अन्य लोगों के मत से इतना अधिक मिलता-जुलता है कि मुझे इसका खेद है कि मुझे उनकी आलोचना का लाभ ऐसी किसी वस्तु पर नहीं मिला जिसको मैं किसी भी अंश में अपना मान सकूँ।

पृ० ३६०, पाद-टिप्पणी—सुखवाद के विषय पर, मैं सन्दर्भो में इन्टरनेशनल जर्नल आफ़ इथिक्स जिल्द ४, पृ० ३८४, ६, और जिल्द ५, पृ० ३८३–४ को जोड़ना चाहूँगा।

पृ० ४०६—यदि हम सुख तथा दुःख के पक्षों का पृथक्करण करें और अपने-आपको इन्हीं पृथक्करणों तक सीमित रखें तो हम प्रत्यक्ष रूप से उनके भीतर किसी आन्तरिक असम्बद्धता को उसी प्रकार नहीं पा सकते जिस प्रकार कि प्रत्येक तरह के पृथक्कृत इन्द्रिय-ग्राह्य गुण में। परन्तु क्योंकि ये पक्ष तथ्य रूप में प्रथमतः इन्द्रिय ग्राह्य गुणों के साथ एकत्र होते हैं और दूसरे समस्त जगत के साथ एकत्र होते हैं, और चूंकि किसी

प्रकार का भी सम्बन्ध या बन्धन अन्तर्जगत्‌ का केवल बाह्य नहीं हो सकता, इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि अन्तर्जगत्‌ का सुख या दुःख का स्वरूप किसी-न-किसी तरह अपने से परे पहुँचना चाहिए।

यदि हम सुख और दुःख को अथवा उनमें से एक को आलोचन के पक्ष न मान कर स्वयं उनको विशेष आलोचन मानें, तो इससे वस्तुतः में कोई वास्तविक अन्तर नहीं पड़ता। क्योंकि किसी भी अवस्था में ऐसे आलोचन अपनी मानसिक अवस्थाओं के केवल पक्ष तथा विशेषण-मात्र ही होंगे। मैं इतना और कहूँगा कि मनोविज्ञान में भी, उपर्युक्त भेद-भाव, अनन्वेषणीय मुझे किसी महत्त्व का नहीं प्रतीत होता। अतः सुख तथा दुःख के बीच तीव्र भेद-भाव करने का प्रयत्न (यदि वह सफल भी हो) मुझे यहाँ पर कोई अन्तर उपस्थित करता हुआ नहीं प्रतीत होता।

पृ० ४१०, पाद-टिप्पणी—'माइंड' संख्या ३९ में प्रकाशित संकल्प-सम्बन्धी विवरण की आलोचना श्री शांड ने ज्ञान तथा संकल्प पर एक मनोरंजक लेख लिख कर 'माइन्ड', एन० एस० संख्या १७ में की है। मैंने तुरन्त यह मान लिया कि उस विवरण में मेरा कथन दोषपूर्ण था, परन्तु सिद्धान्त रूप में मुझे कोई ऐसी वस्तु नहीं मिली जिसको मैं ठीक करता। मैं अब भी यह मानता हूँ कि संकल्प सर्वत्र किसी प्रत्यय की आत्मानुभूति है, परन्तु यह कहना आवश्यक है कि ये प्रत्यय एक विशेष अर्थ में उस वस्तु से संघर्ष नहीं करेगा जिसको एक उच्चतर अर्थ में आत्मा के साथ एकरूप माना जाता है। 'उच्चतर' से मेरा अभिप्राय 'अधिक नैतिक' नहीं है, और मेरा जो अभिप्राय है उसकी व्याख्या करने को मैं तैयार हूँ। इस प्रसंग में, मैं श्री स्टाउट के एक लेख (माइन्ड, एन० एस०, संख्या १९) का हवाला देना चाहता हूँ। फिर भी मैं भविष्य में इस विषय पर विचार करना अवश्य चाहूँगा, और यहाँ केवल अपने मुख्य निष्कर्ष को उपस्थित करूँगा। इतना तो निश्चित है कि संकल्प के भीतर ही कोई प्रत्यय अपना आत्म-साक्षात्कार करता है, बशर्ते कि वह प्रत्यय उस विषय की प्रस्तुत प्रतीति के साथ कोई अंतर्जातिक विरोध न रखता हो। परन्तु आगे एक और शर्त है जिसके बारे में सन्देह है, वह शर्त यह है—और बशर्ते कि वह प्रत्यय आत्मतत्त्व से वस्तुतः बहुत विरुद्ध न हो। संभवतः संकल्प का अर्थ वस्तुतः अनिश्चित है, इसलिए उसको एक निश्चित अर्थ देना केवल निरंकुश निर्णय द्वारा ही संभव हो सकता है।

उपर्युक्त अंश लिखने के पश्चात्, ज्ञान, सक्रियता, कर्तव्य, तथा ध्यान-सम्बन्धी बहुत से प्रश्नों की चर्चा के साथ, संकल्प के स्वरूप विषयक गवेषणा का प्रकाशन 'माइंड' में हो चुका है, देखिए, संख्या ४०, ४१, ४३, ४४, ४५, ४९ और ५१ के अंक।

को अवश्य देखा होगा कि, जब मैंने बाद में पृ० ४८२ पर यह प्रतिपादन किया कि कोई भी संभावित सत्य पूर्णतया सच नहीं होता, उस समय मैंने यह स्पष्ट कर दिया कि असत्य का यह अभाव वही नहीं है जिसको कि बौद्धिक असत्य अथवा त्रुटिशीलता कहा जाता है। जो सन्देहवादी आलोचक फिर भी यह दिखाना चाहता है कि मैं स्वयं इस दुविधा में पड़ गया हूँ, तो उसके लिए यह अच्छा होगा कि वह पृ० ४८२–५ की उपेक्षा कर दे।

यहाँ मैं यह और कह दूँ कि यदि किसी कथन की सत्यता लाखों में से एक बार भी प्रमाणित न होने की संभावना हो, तो, किसी उद्देश्य-विशेष के लिए, इसी कारण उसको एक तरफ रखकर व्यर्थ मान लेना बहुत अच्छा हो सकता है। परन्तु ऐसी कोई भी संभावना उस कथन को असत्य कहने के लिए हमें न मजबूर कर सकती है और न उस कथन को उचित ठहरा सकती है। इसको बिलकुल सन्देहवाद नहीं कह सकते, अपितु इसके विपरीत वह केवल कट्टरता है। इसके आगे मैं फिर दोहराऊँगा कि सामान्य सन्देहवाद के पक्ष में कोई भी संभावना जो मनोवैज्ञानिक आधार पर आश्रित होती है, उसको स्वयं उन आधारों से सम्बन्ध रखने वाले ज्ञान की किसी कल्पना पर आश्रित होना चाहिए। अतः यदि आप यहाँ संदेहवादी निर्णय को सार्वभौम बनाते हैं, तो आप अपने ही आधार-वाक्य को नष्ट करते हैं। और, दूसरी ओर, यदि आप किसी सार्वभौम निर्णय से कम-से-कम को स्वीकार कर लेते हैं, तो शायद जिस सिद्धान्त-विशेष पर आप सन्देह करना चाहते हैं वह आपके सामान्य मनोवैज्ञानिक आधार-वाक्यों से भी कहीं अधिक असंदिग्ध हो जाता है। मैंने स्वयं (पृ० १२०–१) भावी संदेहवाद की इस विविधता के विषय में अपने विचार व्यक्त किये हैं, और मैं देखता हूँ कि 'साइकोलोजिकल रिव्यू', जिल्द–१, संख्या–३ में एक आलोचक श्री ए० होडेर ने उन विचारों को सामान्य सन्देहवाद के खंडन के रूप में वस्तुतः माना है। संभवतः उनके ख्याल में यह नहीं आया कि इस प्रकार मेरी अयोग्यता सिद्ध करने के विजयोल्लास में वह वस्तुतः अपने ही विषय-ज्ञान की थाह दे रहा है। एक दूसरे लेखक-द्वारा जो सन्देहवादी आलोचना की गयी है उसके प्रसंग में शायद इस तथ्य पर जोर देना अच्छा होगा कि मेरे लिए जिस वस्तु का कोई अर्थ नहीं वह निश्चयपूर्वक बिलकुल असम्भव है। मैं तो यह समझता था कि इस बात के स्पष्ट प्रतिपादन में, मुझे पूरी सफलता मिल चुकी है। उदाहरण के लिए देखिए पृ० ४४६।

पृ० ४६०,—पाठक को यहाँ याद होगा कि जहाँ तक विविधता के अन्तर्गत वास्तविक सम्बन्ध नहीं आते, वहाँ तक उसके अन्तर्गत एक अनुभूत समग्रता के भीतर एक पक्ष मात्र के रूप में उपस्थित या स्थापना रहती है। देखिए पृ० १२४-६ और टिप्पणी (ख)।

पृ० ४६६–८——सीमित केन्द्रों के बाहर सत् के कुछ तत्त्वों की उपस्थिति के विषय में जो प्रश्न है उसके प्रसंग में मुझे और कुछ कहने को शेष नहीं प्रतीत होता। एक समग्र अनुभूति अथवा चरम तत्त्व के अन्तर्गत स्वतः ही एक ऐसा स्वभाव होता है, जो, अपनी गुणात्मक समग्रता के विशिष्ट पक्ष में, किसी सीमित केन्द्र के भीतर, समा जाने वाला नही समझा जाना चाहिए। परन्तु जो तत्त्व अपनी एकता में इस विशिष्ट गुण का निर्माण करते हैं और वस्तुतः स्वयं रूप धारण करते हैं, उनको, जहाँ तक मैं समझता हूँ, रंचमात्र भी ससीम केन्द्रों के बाहर रहने की आवश्यकता नहीं। केन्द्रों के बीच इस प्रकार की प्रक्रियाएँ तथा सम्बन्ध जिनका न्यूनाधिक रूप में ये केन्द्र-विशेष को अनुभव नहीं कर पाते , उनका अनुभव अच्छी तरह से दूसरे कर सकते हैं। और यह अधिक संभाव्य प्रतीत होता है कि किसी-न-किसी रूप में इस प्रकार उनका अनुभव किया जाता है। यह अधिक संभाव्य इसलिए मालूम पड़ता है कि इसके अन्तर्गत प्रस्तुत तथ्य से अन्तर कम प्रतीत होता है, और हमें उससे होने वाले किसी सैद्धान्तिक लाभ के रूप में कोई अतिरिक्त अन्तर के लिए कोई विशेष कारण नहीं दिखलाई पड़ता। अतः हम इस निर्णय पर पहुँचते हैं कि परम तत्त्व के भीतर सर्वसमन्वय की प्रक्रिया में ऐसा कोई तत्त्व नहीं जो ससीम केन्द्रों के भीतर न आता हो। जो उसके बाहर रह जाता है, और जो उसके परे होता है, वह कोई परिणाम नहीं, अपितु वह अंतिम विशिष्ट स्वभाव है जिसके कारण परिणाम का प्रस्तुत रूप संभव हो सका है। परन्तु फिर भी, मान लीजिए , चरम तत्त्व की कुछ सामग्री ससीम केन्द्रों के बाहर रह जाती है, तो मैं स्वयं यह नहीं समझ पाता कि इससे हमारे प्रमुख परिणाम पर क्या प्रभाव पड़ता है अथवा वस्तुतः आगे कौन-सा निष्कर्ष ऐसी किसी मान्यता के आधार पर निकाला जा सकता है। पाठकों को याद होगा कि चरम तत्त्व के भीतर प्रत्येक अवस्था में हम ऐसी पूर्णताओं की स्थिति मानते हैं जो हमारी किसी भी ज्ञात वस्तु के परे हो सकती है, बशर्ते कि वे पूर्णताएँ चरम-तत्त्व के सामान्य स्वभाव के अन्तर्गत आती हों। और उपर्युक्त मान्यता से आगे, जहाँ तक मैं समझता हूँ, हम एक कदम भी नहीं बढ़ सकते। यह उचित नहीं होगा कि हम चरम तत्त्व में आत्म-चेतना या संकल्प अथवा व्यक्तित्व-जैसे निम्नतर गुणों की कल्पना करें, और इससे भी कम उचित यह होगा कि हम उसमें किसी ऐसी विशेषता को मानें जो चरम तत्त्व के सामान्य स्वभाव के विरुद्ध पड़ती हो। परन्तु दूसरी ओर, उच्चतम संभव पूर्णता को चरम तत्त्व विधेय-रूप में ग्रहण करना एक ऐसा तथ्य है जिसको हम किसी भी अवस्था में स्वीकार करते हैं और जिसके लिए हम पहले ही से बँधे हुए हैं।